मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अथ पञ्चमोऽध्यायः

ध्वस्तमोहतमाः सर्वे (लोका) लोकभासकचिन्महाः ।
प्रबोधयेन्मनःपद्मं श्रीमान्मे जिनभास्करः ॥ १ ॥

ॐ नमो जिनेन्द्राय तुष्टिपुष्टिकर्त्रे

जीव तत्त्वका निरूपण कर चुकने पर अब श्रीउमास्वामी महाराज अजीव तत्त्वका निरूपण करनेके लिये पचमअध्यायके प्रारम्भ में अजीव तत्त्वके भेदोंकी संज्ञाका प्रतिपादन करनेके लिये सूत्रको कहते हैं—

अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः ॥१॥

धर्म अधर्म आकाश और पुद्गल ये चार पदार्थ अजीव होते हुये काय हैं अर्थात्–चेतना गुण से रहित होते हुये प्रदेशप्रचयात्मक ये चार पदार्थ हैं।

किमर्थमिदं सूत्रस्य प्रवृत्तिरत्रेत्याह ।

कोई शिष्य प्रश्न करता है कि इस सूत्र की प्रवृत्ति किसलिये उमास्वामी महाराजने यहां की है। ऐसी जिज्ञासा होने पर श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिक द्वारा समाधानको कहते हैं—

अथाजीवविभागादिविवादविनिवृत्तये।
अजीवेत्यादिसूत्रस्य प्रवृत्तिरुपपद्यते ॥१॥

उक्त चार अध्यायों में जीव तत्त्व का प्ररूपण करने के अनन्तर अब अजीव तत्त्व के विभाग, लक्षण, आदि में पड़े हुये विवाद की विशेषतया निवृत्ति करने के लिये सूत्रकार द्वारा "अजीव काया" इत्यादि सूत्र की प्रवृत्ति करना युक्त बन जाता है।

सम्यग्दर्शनविषयभावेन जीवोद्दिष्टे दृष्टेष्टजीवतत्त्वव्याख्यानेऽनन्तरमजीवतत्त्वव्याख्यानमर्हत्येव, तत्र च लक्षणविभागविशेषलक्षणविप्रतिपत्तौ तद्विनिवृत्त्यर्थमिदं सूत्रस्य प्रवृत्तिर्वदतएवान्यथा निःशंकमजीवतत्त्वकथनात् ।

"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" इस सूत्र द्वारा तत्त्वार्थों में श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन बताया है तहां सम्यग्दर्शन के विषयभाव रके जीवतत्त्वका उद्देश कर चुकने पर उक्त चार अध्यायों में देखे जारहे या युक्तिप्रमाणों द्वारा अभीष्ट होरहे अथवा प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण से परीक्षा किये गये

जीव तत्त्व का व्याख्यान कर चुकने पर उसके अव्यवहित पीछे अजीव तत्त्व का व्याख्यान करना उचित पड़ जाता ही है। उस अजीव तत्त्व में सामान्य लक्षण, विभेद, विशेषलक्षण, इन में अनेक प्रवादियों के नाना विवादों के उपस्थित होने पर उनकी निवृत्तिके लिये इस सूत्र की प्रवृत्ति होना घटित होजाता ही है। अन्यथा यानी-सूत्रकार इस सूत्रको नहीं कह पाते तो शंकारहित होकर अजीव-तत्त्व की व्यवस्था नहीं हो सकती थी।

अजीवनादजीवाः स्युरिति सामान्यलक्षणं।
कायाः प्रदेशबाहुल्यादिति कालाद्विशिष्टता ॥ २ ॥
धर्मादिशब्दतो बोध्यो विभागो भेदलक्षणः।
तेन नैकं प्रधानादिरूपता नाप्यनंशता ॥ ३ ॥
निःशेषाणामजीवानामिति सिद्धं प्रतीतितः।
विपक्षे बाधसद्भावाद्दृष्टेनेष्टेन च स्वयम् ॥ ४ ॥

प्राणधारण या चेतनास्वरूप जीवन नहीं होने से धर्म आदिक द्रव्य अजीव होजाते हैं इस प्रकार पांचों द्रव्यों में व्यापनेवाला अजीव का सामान्यलक्षण निरुक्तिद्वारा कहदिया गया है। प्रदेशों की बहुलता करके चारों पदार्थ काय हैं इसकारण काल द्रव्य से विलक्षणता आजाती है अर्थात् काल द्रव्य जीवन से रहित होरहा अजीव तो है किन्तु अनेक प्रदेशी नहीं है अतः अजीव होते हुए काय बन रहे ये चार पदार्थ ही हैं। धर्म आदि चार शब्दों की निरुक्ति से ही भिन्न भिन्न लक्षण वाला विभाग समझ लिया जाय तिस कारण सर्व अजीवोंको एक ही प्रकृति या शब्दब्रह्म या चित्राद्वैत आदि स्वरूपपना नहीं है और वह अजीवतत्त्व अंशों से भी रीता नहीं है अर्थात्—धरति, न धरति, आकाशन्ते अस्मिन्, पूरणगलने यस्य, इन निरुक्ति-पूर्वक अर्थों से इनका लक्षण न्यारा न्यारा सांश होजाता है। सांख्यों ने जैसे एक ही जड़ प्रकृति को मान रक्खा है वैसा हमारे यहां अजीवतत्त्व नहीं है अथवा बौद्ध जैसे निरंश स्वलक्षणों को स्वीकार कर बैठे हैं वैसा हमारा जीव द्रव्य नहीं है किन्तु अनेक प्रदेशों करके सांश है। प्रत्येक द्रव्य में अनन्त स्वभाव विद्यमान हैं, इस प्रकार सम्पूर्ण अजीव द्रव्यों के लक्षण आदिक सब प्रतीतियों द्वारा सिद्ध हो जाते हैं। इसके विपरीत विपक्ष में दृष्ट प्रमाण और इष्ट प्रमाण करके स्वयमेव बाधाओं का सद्भाव है, अतः उमास्वामी महाराज का उक्त सूत्र निर्दोष सार्थक, आवश्यक, व्यावृत्तिकारक, और अज्ञात प्रमेय का ज्ञापक है।

जीवस्योपयोगो लक्षणं जीवनमितिप्रतिपादितं ततोन्यदजीवनं गतिस्थित्यवगाहहेतुत्वरूपादिस्वरूपमन्वयिसाधारणमजीवानां लक्षणं।

उक्त तीन वार्त्तिकों का विस्तृत विवरण इस प्रकार है कि जीव का लक्षण उपयोग है यही जीवन है। मूल सूत्रकार स्वयं दूसरे अध्याय में इसका प्रतिपादन कर चुके हैं। उस जीवन से न्यारा पदार्थ पर्युदासवृत्ति द्वारा अजीवन है, जो कि गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, अवगाहहेतुत्व, रूप रसादि स्वरूप हो रहा और अन्वय-रूप से लक्ष्यों में प्रति पात वर्त रहा अजीवों का साधारण लक्षण है।

भावार्थ—धर्म द्रव्य में गति का हेतुपना है, अधर्म में स्थिति का हेतुपना है, आकाश में अवगाह का निमित्त कारणपना है और पुद्गल में रूप, रस, आदि गुण विद्यमान हैं एतत्-स्वरूप अजीवन नाम का भाव धर्म चारों अजीव द्रव्यों का लक्षण है।

त्रिकालविषयाजीवनानुभवनादजीव इति निरुक्तेऽव्यभिचाराच्च पुनर्जीवनाभावमात्रं तस्य प्रमाणागोचरत्वात् पदार्थलक्षणत्वायोगात् भावांतरस्वभावस्यैवाभावस्य व्यवस्थापनात्। काया इव कायाः प्रदेशबाहुल्यात् कालाणुवदणुमात्रत्वाभावात्। ततो विशिष्टाः पंचैवास्तिकाया इति वचनात्।

भूत, वर्तमान, भविष्य, तीनों कालों में गतिहेतुत्व आदि अजीवन धर्मों का अनुभवन करने से अजीवतत्व है। इस अजीव शब्द की निरुक्ति का कोई व्यभिचार दोष नहीं आता है, अतः निरुक्ति द्वारा ही निर्दोष लक्षण बन गया होने से सूत्रकार ने अजीव तत्व का स्वतंत्र सूत्र द्वारा कोई लक्षण नहीं कहा है। अजीव शब्द में नञ् शब्द तो सदृश को ग्रहण करने वाला पर्युदास है जो कि अनक्षर, अनंग, अनेकांत, अनुपम, अंग आदि के समान भाव--आत्मक पदार्थ है। तुच्छ हो रहा केवल जीवन का अभाव तो फिर अजीव नहीं है क्योंकि वह तुच्छ—अभाव किसी भी प्रमाण का विषय नहीं है खरविषाण के समान तुच्छ अभाव किसी भी पदार्थ का लक्षण नहीं हो सकता है। जैसे "भूतले घटाभावः यहां घट से अतिरिक्त भूतल पदार्थ जैसे घटाभाव अभीष्ट किया गया है, उसी प्रकार अधिकरण स्वरूप अन्य भाव का स्वभाव [illegible] भावार्थ–वैशेषिकों ने सातवां पदार्थ तुच्छ अभाव स्वीकार किया है उनके यहां जीव का तुच्छ-अभाव अजीव समझा जाता है किन्तु जैनों के यहां गति-हेतुत्व आदि अनेक गुणों से युक्त हो रहे जीव भिन्न पदार्थ अजीव माने गये हैं। जीव से भिन्न हो रहे किन्तु सत्त्व, द्रव्यत्व आदि धर्मों करके जीव के सदृश पदार्थ हैं। "अजीव कायाः" यहां जो काय शब्द का प्रयोग किया गया है उसमें इव शब्द का उपमा अर्थ छिपा हुआ है जिस प्रकार जीवों के शरीर पुद्गलों के पिण्ड-स्वरूप एकत्रित हो जाते हैं उसी प्रकार अनादि-कालीन धर्मादिकों के प्रदेशों की बहुलता का तदात्मक एकीभाव हो जाने से ये चार पदार्थ शरीरों के समान काय हैं, कालाणुओं के समान ये चार तत्व केवल एक-प्रदेशी अणुस्वरूप नहीं हैं। सिद्धान्त ग्रन्थों में ऐसा वचन है कि तिस कारण से अनेक प्रदेशों से विशिष्ट हो रहे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, और आकाश ये पांच ही अस्तिकाय हैं, एक प्रदेश के अतिरिक्त अन्य प्रदेशों से रहित होने के कारण कालाणु द्रव्य अस्तिकाय नहीं है।

अजीवाश्च ते कायाश्चेति समानाधिकरणवृत्तिसामर्थ्यादवसीयते, भिन्नाधिकरणायां वृत्तौ कथंचिद्भेदविवक्षायामपि कायानामेव संप्रत्ययप्रसंगात् अजीवानां विशेषणभावात् सामानाधिकरण्यायामपि वृत्तौ दोषोयमिति चेन्न, अभेदप्रतीतेः। अजीवा एव काया इति धर्मादीनामजीवत्वकायत्वाभ्यां तादात्म्यप्राधान्ये तयोः सामानाधिकरण्योपपत्तेः।

"अजीवकायाः" इस शब्द की अजीव हो रहे सन्ते जो काय हैं, इस प्रकार दोनों पदों के वाच्यार्थ के समान अधिकरण को बता रही कर्मधारय समास-वृत्ति हो रही है, यह बिना कहेही शब्द और अर्थ की सामर्थ्य से जान ली जाती है। "समर्थः पदविधिः" पद-सम्बन्धी विधियां सामर्थ्य के

आश्रित हो रही समझ ली जाती हैं। दोनों पदोंको वाच्य अर्थोंका सामानाधिकरण्य कहने वाली 'अजीवों के काय' यों षष्ठीतत्पुरुष वृत्ति करने पर तो अजीव और काय में कथंचित् भेद की विवक्षा होने पर भी केवल उत्तर पदार्थ-प्रधान मानी गयी तत्पुरुषवृत्ति में कायों की ही प्रधान रूप से भली प्रतीति होनेका प्रसंग होवेगा। अर्थात् 'अजीवोंके काय' यों तत्पुरुष करने पर अजीव अर्थ गौण पड़ जाता है और 'अजीव हो रहे जो काय' यों कह देने पर दोनों पदार्थोंकी प्रधानता रहती है। यदि यहां कोई यों आक्षेप करे "अजीवाश्च ते कायाश्च" यों विग्रह करते हुये "विशेषणं विशेष्येण" इस सूत्र द्वारा कर्म-धारय समास करने पर भी अजीवों को विशेषणपना हो जाने से समानाधिकरणपना स्थापन करने वाली कर्मधारयवृत्ति में भी यह दोष तदवस्थ है। अर्थात्-अजीव विशेषण है और काय विशेष्य है। यों समान अधिकरण होते हुए भी विशेष्य हो रहे कायों की ही समीचीन प्रतीति हो सकेगी। विशेषण हो रहा अजीवपना गौण पड़ जायगा और आप जैनों को दोनों की प्रधानता अभीष्ट है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यहां अजीव और काय दोनों की अभेद की प्रतीति हो रही है "अजीव हो रहे ही जो काय हैं" इस प्रकार धर्म, अधर्म, आदिकोंके अजीवपन और कायपन करके तदात्मकपन की प्रधानता होने पर उन दोनों का समानाधिकरणपना बन जाता है। अजीवपन को छोड़कर कायपना जीव द्रव्य में है और कायपन को छोड़कर अजीवपना काल द्रव्य में है यों व्यभिचार की रक्षा करते हुये तथा अजीव को विशेषण बनाते हुये कर्मधारयवृत्तिका निर्वाह कर दिया जाता है परन्तु अजीवपना इन चार कायों में कायपना इन चार अजीवों में अभेद अनुसार ओत प्रोत प्रतीत हो रहा है, अतः इस सूत्र में दोनों भेदों की प्रधानता रखते हुये धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गलों का उद्देश्य कर युगपत् अजीवपन और तदभिन्न कायपन का विधान कर दिया गया है।

कायाः इत्येवास्तु इति चेन्न, जीवस्यापि कायत्वात् तद्व्यवच्छेदार्थत्वादजीवग्रहणस्य। धर्मादीनामजीवत्वविधानार्थत्वाच्च सूत्रस्य युक्तमजीवग्रहणं। तर्हि जीवा इत्येवास्तु इति चेन्न, कालाणुवत्प्रदेशमात्रत्वनिराकरणार्थत्वात् कायग्रहणस्य। अन्यथा तेऽस्तिकाया इति सूत्रांतरारंभप्रसंगात्। जीवानां कायत्वविधानार्थमारंभणीयमेव सूत्रांतरमिति चेन्, नारंभणीयं, असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानामित्यत एव जीवानां प्रदेशबाहुल्यसिद्धेः कायत्वविधानात् तर्हि धर्माधर्मयोस्तत एव, आकाशस्यानंता इति वचनादाकाशस्य, संख्येयासंख्येयानंताश्च पुद्गलानामिति वचनात् पुद्गलस्य कायत्वविधानसिद्धेरनर्थकं कायग्रहणमिति चेन्न, ततो धर्मादिप्रदेशानामियत्ताविधानात्। तर्हि जीवस्यापि ततोऽसंख्येयप्रदेशत्वविधानान्न कायत्वविधिरिति चेन्न, ततो जीवस्य कायत्वानुमानात्। न चात्र धर्मादीनां कायत्वविधाने तत्र जीवस्य कायत्वमनुमातुं शक्यमिति युक्तमिह कायग्रहणं। अस्तिकायो जीवः प्रदेशोपचयाश्रयत्वाद्धर्मादिवदित्यनुमानप्रवृत्तेः अन्यथा दृष्टान्तासिद्धेः।

यहां कोई प्रतिवादी कटाक्ष करता है कि अजीव नहीं कह कर विधेय दल में 'कायाः' इतना ही एक पद रखो वृत्ति आदिका झगड़ा स्वतः मिट जायगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि जीवको भी असंख्यात-प्रदेशी होने से कायपना है, अतः अजीवों का संग्रह करते समय उस

जीव का व्यवच्छेद करने के लिये अजीव पद का ग्रहण किया गया है। दूसरी बात यह भी है कि धर्म आदिकों के अजीवपन का विधान करने के लिये यह सूत्र है, अतः अजीव का ग्रहण करना युक्तिपूर्ण है अर्थात्—ब्रह्माद्वैतवादी सबको जीव-आत्मक ही स्वीकार करते हैं उनके प्रति धर्मादिकों में अजीवपन का प्रतिपादन करना सूत्रकारको आवश्यक पड़ गया है। परोपकारी आचार्य महाराज सूत्रों द्वारा अज्ञात प्रमेयों का ज्ञापन कराते हैं। यदि वह प्रतिवादी फिर यों कहे कि तब तो 'अजीवाः' इतना ही विधेय दल रहो, काय ग्रहण की सूत्र में कोई आवश्यकता नहीं। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि धर्मादिकों में एक—प्रदेशी या अप्रदेश कालाणु के समान प्रदेशमात्रपन का निराकरण करने के लिये सूत्रकार ने काय का ग्रहण किया है अन्यथा यानी यदि यहां काय का ग्रहण नहीं किया जाता तो "ते अस्तिकायाः" वे धर्म आदिक अस्तिकाय हैं इस प्रकार एक न्यारे दूसरे सूत्र के आरम्भ करनेका प्रसंग होता, इसी सूत्र में काय कह देने से उस गौरव दोष से बच जाते हैं। यदि प्रतिवादी यहां यों कहे कि जीवों के कायपनका विधान करने के लिये निराला सूत्र तो आरम्भ करने योग्य ही है, ऐसी दशा में लाघव कहां होसकेगा ? यों कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि हमको जीवों के कायपन का विधान करनेके लिये न्यारा सूत्र नहीं आरम्भ करना है "असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानाम्" धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, और एक जीव द्रव्य के मध्यम असंख्यातासंख्यात प्रमाण असंख्याते प्रदेश हैं, इस सूत्र से ही जीवों के प्रदेशों की बहुलता की सिद्धि होजाने से कायपन का विधान होजाता है, अतः न्यारे सूत्र का आरम्भ नहीं करने से लाघव हुआ। पुनः प्रतिवादी बोल उठा कि तब तो उस ही सूत्र से धर्म और अधर्म द्रव्य के बहुत प्रदेश सिद्ध होय ही जायगे, आकाश के अनन्त प्रदेश हैं इस सूत्रकार के वचन से आकाश के बहुत प्रदेश सध जायगे। तथा पुद्गलों के संख्याते असंख्याते और अनन्ते प्रदेश हैं इस सूत्रकार के वचन से पुद्गल के कायपन का विधान होना सधजाता है, अतः इस सूत्र में काय का ग्रहण करना व्यर्थ है। लाघव करने बैठे हो तो अच्छा लाघव करना चाहिये। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उन "असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानाम्, आकाशस्यानन्ताः, संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम्,, तीन सूत्रों करके धर्म आदि द्रव्यों के प्रदेशों का इतना नियतपरिमाणपना विधान कर दिया गया है।

प्रतिवादी बुरे ढंगसे पीछे पड़कर पुनः कहता है कि तब तो उस "असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानां" सूत्र से जीव के भी असंख्यात प्रदेशीपन का विधानमात्र होजाने से कायपन की विधि नहीं होसकेगी अर्थात् उस सूत्र से धर्मादिक के समान जीवके भी असंख्यात प्रदेशों की ही सिद्धि होगी, कायपन की सिद्धि नहीं होसकेगी। धर्मादिकों के कायपनके लिये जब यह सूत्र किया है तबतो जीव के कायपन की विधिके लिये न्यारा सूत्र बनाना ही पड़ेगा, लाघवकी चर्चा उड़ गयी।

आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उस सूत्र से असंख्यात प्रदेशों की विधि होते हुये जीव के कायपनका अनुमान कर लिया जाता है। किन्तु इस सूत्र में यदि धर्म आदिकों के कायपन का विधान नहीं किया गया होता तो वहां "असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानां" इस सूत्र द्वारा जीवके कायपनका अनुमान नहीं किया जासकेगा, इस कारण यहां सूत्र में काय का ग्रहण करना उचित है।

जीव (पक्ष) अस्तिकाय है (साध्य) प्रदेशोंके बहुत से इतने परिमाण का आश्रय होने से (हेतु) धर्म, अधर्मआदि के समान (अन्वयदृष्टान्त) इस अनुमान की प्रवृत्ति होजाती है। अन्यथा यानी-यहां

काय का ग्रहण नहीं करने पर तो अस्तिकाय होरहे धर्मादि द्रव्य-स्वरूप दृष्टान्त की प्रसिद्धि हो जाने से जीव को अस्तिकाय साधने वाला अनुमान नहीं प्रवर्त सकता था अतः इस सूत्र में काय का ग्रहण करना सार्थक है, तुच्छ लाघव को हम इष्ट नहीं करते हैं।

किमर्थं धर्मादिशब्दानां वचनं ? विभागविशेषलक्षणप्रसिद्ध्यर्थं। अस्तु नाम धर्माधर्माकाशपुद्गला इति शब्दोपादानात् विभागस्य प्रसिद्धिः, विशेषलक्षणस्य तु कथं ? तन्निर्वचनस्य लक्षणाव्यभिचारात् तद्विशेषलक्षणसिद्धिः। सकृत्सकलगतिपरिणामिनां सांनिध्यधानाद्धर्मः, सकलसकलस्थितिक्रियापरिणामिनां सांनिध्याधानाद्गतिविपर्ययादधर्मः, आकाशंतेऽस्मिन् द्रव्याणि स्वयं चाकाशते इत्याकाशं, त्रिकालपूरणगलनात् पुद्गला इति निर्वचनं न प्रतिपक्षमुपयातीत्यव्यभिचारं सिद्धं।

यहां कोई प्रश्न करता है कि अजीव और काय शब्द का प्रयोग करना सूत्र में सार्थक समझ लिया, अब यह बताओ कि धर्म आदिक शब्दों का कथन सूत्रकारने किसलिये किया है ? इसका उत्तर आचार्य कहते हैं कि विभाग करके द्रव्योंके विशेष लक्षणों की प्रसिद्धिके लिये धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल इन शब्दों का सूत्रमें उपादान किया गया है।

पुनः किसीका आक्षेप है कि धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल इस प्रकार शब्दों का उपादान करदेने से अजीव काय के विभाग की प्रसिद्धि भले ही हो जाय किन्तु उनके न्यारे न्यारे विशेष लक्षणोंकी सिद्धि भला किस प्रकार हो सकती है ? किसी का नाम ले देने मात्रसे इतरव्यावर्तक लक्षण नहीं बन जाता है। आचार्य महाराज इसका समाधान करते हैं कि उन धर्म आदि शब्दों की निरुक्ति कर प्राप्त हुये यौगिक अर्थका स्वकीय लक्षण के अनुसार कोई भी व्यभिचार दोष नहीं देखा जाता है अतः उन धर्म आदि के विशेष विशेष लक्षणों की सिद्धि हो जाती है। जैसे कि सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र शब्दों की निरुक्ति द्वारा ही निर्दोष लक्षण प्रसिद्ध हैं, हां सम्यग्दर्शन का निरुक्तिद्वारा प्राप्त हुआ 'समीचीन देखना' स्वरूप अर्थ इष्ट नहीं है, अतः सूत्रकारको रूढि अर्थ या पारिभाषिक अर्थ प्रकट करने के लिये न्यारा लक्षण-सूत्र कहना पड़ा था। जब तक निरुक्ति से लक्षण अर्थ लब्ध हो जाय तब तक लम्बी परिभाषा बनाना उचित नहीं है।

उसी ढंगसे धर्म आदिकों की कुछ विशेषणों के साथ निरुक्ति इस प्रकार करलेनी चाहिये कि गमन परिणाम से युक्त होरहे जितने भी जीव या पुद्गल हैं उन सबके युगपत् सन्निधान या सहकारिपन का धारण कर देने से धर्म द्रव्य कहा जाता है। भावार्थ-गमनमें उपादान कारण या प्रेरक निमित्त तो ये जीव पुद्गल ही हैं किन्तु गमन करने वाले सम्पूर्ण जीव पुद्गलों का युगपत् उदासीन कारण धर्मद्रव्य है "धृञ् धारणे,, धातुसे मन् प्रत्यय करदेने पर धर्म शब्द बनता है।

तथा कतिपय जीव, पुद्गल और धर्म, अधर्म, आकाश, काल, इन स्थितिपरिणामवाले सम्पूर्ण द्रव्योंके एक ही काल में सान्निध्य या सन्निवपन का आधान कर देनेसे कारण अधर्म द्रव्य कहा जाता है, यह अधर्म द्रव्य उस गति से विपर्यय कर देनेके कारण अधर्म कहा जाता है। अधर्म शब्द में पड़ा हुआ नञ् शब्द विपरीत अर्थ का प्रतिपादक है, पुद्गल द्रव्य बने हुये पुण्य पापों से ये धर्म, अधर्म द्रव्य सर्वथा विलक्षण हैं। पारिभाषिक या साङ्केतिक शब्दों में आनुपूर्वी का सादृश्य मिलाते रहना ठलुआओंका अप्रासंगिक कर्तव्य है।

किन्हीं आचार्यों के मतानुसार गति पूर्वक स्थिति परिणामवाले जीव और पुद्गल ही यहां ग्रहण करने योग्य माने गये हैं। आकाश की निरुक्ति यों है कि जिसमें सम्पूर्ण द्रव्य युगपत् अवकाश पाते रहते हैं अथवा स्वयं आकाश भी जिसमें अवगाह पाजाता है, अतः वह अत्यन्त परोक्ष पदार्थ आकाश है। तथा तीनों कालों में पूर जाना या गल जाना होते रहनेसे ये पुद्गल हैं। इस प्रकार धर्म आदि चार शब्दों की निरुक्ति प्रतिपक्ष यानी विपक्ष में नहीं प्रवर्तती है, इस कारण निरुक्ति द्वारा प्राप्त हुआ अर्थ ही व्यभिचार दोष से रहित होरहा विशेषलक्षण सिद्ध हो जाता है।

यहां यह कहना है कि उदासीन कारण, प्रेरक कारण, और उपादानकारण इनकी शक्तियों में न्यूनता या अधिकता की पर्यालोचना करना व्यर्थ है, सभी अनन्त शक्तियों को धारते हैं।

कालस्याजीवत्वेनोपसंख्यानमिह कर्तव्यमिति चेन्न, तस्याग्रे वक्ष्यमाणत्वात्। ततो धर्माधर्माकाशपुद्गलाः कालश्चेति पंचैवाजीवपदार्थाः प्रतिपादिता भवंति। तेन प्रधानमेवाजीवपदार्थो धर्मादीनामशेषाणामजीवानां प्रधानरूपत्वादिति न सिद्धं तेषां पृथगुपलब्धेः।

यहां किसी प्रतिवादी का आक्षेप है कि काल द्रव्य का भी इस सूत्र में अजीवपन करके कथन करना चाहिये अन्यथा सूत्रकार की त्रुटि समझी जावेगी, सूत्रकार की भूल होजाने पर वार्तिककार को उचित है कि वे उस क्षति को पूरा करने के लिये नवीन वार्त्तिक बना देवें।

ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि स्वयं ग्रन्थकार "कालश्च" इस सूत्र द्वारा [illegible] कहनेवाले हैं तिस कारण पांचवे अध्यायका पूरा प्रकरण होजाने पर "धर्म अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल ये पांचोंही द्रव्य अजीव पदार्थ समझा दिये-गये होजाते हैं और वैसा होजाने से सांख्यों का यह मन्तव्य सिद्ध नहीं हो पाता है कि एक प्रधान (प्रकृति) ही अजीव पदार्थ है क्योंकि धर्मादिक सम्पूर्ण अजीव प्रधान स्वरूप ही हैं। बात यह है कि उन धर्म, अधर्म आदिकों की न्यारी न्यारी उपलब्धि होरही है, अतः विरुद्ध होरहे धर्मआदिक पांच द्रव्य भला एक प्रकृति रूप कथमपि नहीं हो सकते हैं।

प्रधानाद्वैते दृष्टेन स्वयमिष्टेन च बाधसद्भावात्। नहि प्रधानमेकमुपलभामहे अन्तर्बहिश्च भेदानामुपलब्धेः। न चैषा भ्रांतभेदोपलब्धिर्बाधकाभावात्। प्रधानाद्वैतग्राहक-मनुमानं बाधकमिति चेन्न, तस्य तदभेदे तद्वदसिद्धत्वात्तत्साधकत्वाभावाद् भेदोपलब्धिबाधकत्वा-योगात्। ततो भेदे द्वैतसिद्धिप्रसंगात्। पराभ्युपगमादनुमानं तत्साधकंभेदोपलब्धेश्च बाधक-मिति चेन्न, पराभ्युपगमस्याप्रमाणत्वात्। तत्प्रमाणत्वे भेदसिद्धेरवश्यंभावात्। ततः प्रधाना-द्वैते निर्बाधं दृष्टविरोधः। तथेष्टेन च महदादिविकारप्रतिपादकागमेन तद्बाधोक्ति, तस्या-विद्योपकल्पितत्वे प्रधानाद्वैतसिद्धिरपि ततो न स्यात्, न च प्रत्यक्षानुमानागमागोचरस्यापि प्रधानस्य स्वतः प्रकाशमचेतनत्वादिति न तद्रूपता धर्मादीनां।

दूसरी बात यह है कि आत्म-भिन्न सम्पूर्ण चर, अचर, पदार्थों को एक प्रधान-अद्वैत स्वरूप मानने पर तुम सांख्यों के यहां स्वयं दृष्ट और इष्ट प्रमाणों से बाधायें उपस्थित हो जावेंगी। देखिये

प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा हम तुम सब एक प्रधान को ही नहीं देख रहे हैं क्योंकि सुख, दुःख, द्वेष, प्रयत्न, आदि अन्तरङ्ग और घट, पट आदि बहिरंग भिन्न-भिन्न हो रहे पदार्थों की उपलब्धि हो रही है पदार्थों का भिन्न-भिन्न प्रतिभास करने वाली यह उपलब्धि भ्रान्ति ज्ञान नहीं है क्योंकि कोई बाधक प्रमाण सन्मुख उपस्थित नहीं है।

यदि कापिल यों कहें कि "त्रिगुणमविवेकि विषय: सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि," अविवेक्यादि: सिद्धस्त्रैगुण्यात् तद्विपर्ययाभावात्, भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च. इत्यादि ग्रन्थ द्वारा हमारे पास प्रधान के अद्वैत का ग्राहक अनुमान प्रमाण विद्यमान है जो कि तुम्हारी भेद-उपलब्धि का बाधक है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उस अनुमान को यदि उस प्रधान से अभिन्न मानोगे तो उस प्रधान के समान अनुमान की भी असिद्धि हो जाने से अनुमान को उस प्रधानाद्वैत के साधकपन का अभाव हो जावेगा, अतः यह अनुमान हमारी भेदोपलब्धि का बाधक नहीं हो सकेगा।

अर्थात्—जब प्रधानाद्वैत ही असिद्ध है तो उससे अभिन्न माना गया अनुमान भी असिद्ध है हां यदि उस प्रधान से अनुमान को भिन्न मानोगे तो उक्त दोष यद्यपि टल गया किन्तु अपसिद्धान्त हो गया, अद्वैत को साधते हुये तुम्हारे यहां प्रधान और अनुमान यों द्वैत पदार्थों की सिद्धि हो जाने का प्रसंग आवेगा। यदि तुम कापिल यों कहो कि दूसरे विद्वान् जैन या नैयायिकों के स्वीकार करने से हमारे अनुमान को उस प्रकृति अद्वैत का साधक और जैनों की भेद-उपलब्धि का बाधक कह दिया है वस्तुतः हमारे यहां अनुमान प्रकृति-आत्मक ही है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि दूसरे के स्वीकार करने को तुमने प्रमाण नहीं माना, यदि उसको प्रमाण मान लोगे तब तो तुम और दूसरे अथवा दूसरों के माने हुये अनेक तत्वों के स्वीकार करलेने से भिन्न-भिन्न पदार्थों की सिद्धि अवश्य हो जावेगी, जिस कारण प्रधान का अद्वैत मानने पर कापिलों के यहां बाधा-रहित होकर दृष्ट (प्रत्यक्ष) प्रमाणों से विरोध आया। तथा इष्ट अनुमान प्रमाण करके महत् अहंकार, तन्मात्रायें आदि विकारों के प्रतिपादक आगम प्रमाण करके भी उस प्रधानाद्वैत की बाधा है।

यदि उन भिन्न भिन्न अनुमान, आगम, या महदादि विकारों को झूठी अविद्यासे गढ़ लिया गया मान लोगे तो उस अनुमान या आगम प्रमाण से तुम्हारे अभीष्ट प्रधानाद्वैत की भी सिद्धि नहीं हो सकेगी। प्रत्यक्ष, अनुमान, और आगम प्रमाणों के विषय नहीं हो रहे भी प्रधान का स्वयं प्रकाश, स्वरूप स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष तो हो नहीं सकता है क्योंकि कापिलों ने प्रधान को अचेतन माना है किसी भी अचेतन पदार्थ का स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। इस कारण धर्म आदि द्रव्यों को उस प्रधान का स्वरूप हो जाना उचित नहीं है।

एतेन शब्दाद्वैतरूपता प्रतिषिद्धा पुरुषाद्वैतरूपतायां तु तेषामजीवत्वविरोधः। न च पुरुष एवेदं सर्वमिति शक्यव्यवस्थं पुरस्तादजीवसिद्धिविधानात्।

इस उक्त कथन करके धर्म आदिकों का शब्दाद्वैत स्वरूपपना निषेधा जा चुका समझ लेना चाहिये शब्दाद्वैत पक्ष में भी इष्ट और दृष्ट प्रमाणों से बाधा आती है अर्थात्—धर्म आदिक यदि शब्द-स्वरूप होते तो कानों से सुनने में आते किन्तु ऐसा नहीं है तथा पाषाण, अग्नि आदि शब्दों का अर्थ के साथ अभेद मानने पर कान के फूट जाने या जलजाने का प्रसंग आवेगा जब कि अर्थ से शब्द

अभिन्न माना जा रहा है। इसी प्रकार धर्म, अधर्म आदिकों को पुरुषाद्वैत स्वरूप होने पर तो उन धर्मादिकों के अजीवपन का विरोध आवेगा, आत्म-स्वरूप पदार्थ चेतनात्मक होते हैं, अजीव नहीं। ब्रह्माद्वैतवादी ये 'सब ग्राम, बाग, पर्वत, घट, पट, आदिक ब्रह्म-स्वरूप ही हैं', इस सिद्धान्त की व्यवस्था नहीं कर सकते हैं क्योंकि प्रथम अध्याय में "जीवाजीवास्रव", सूत्रका व्याख्यान करते समय पहले अजीव की सिद्धिका विधान किया जा चुका है। प्रत्यक्ष-सिद्ध हो रहे अनेक चेतन, अचेतन, पदार्थों का अपलाप करना उचित नहीं है।

पृथिव्यप्तेजोवायुमनोदिक्कालाकाशभेदरूपताप्यजीवपदार्थस्यायुक्तैव, पृथिव्यप्तेजोमनसां पुद्गलद्रव्यपर्यायत्वाज्जात्यंतरत्वासिद्धेः। पृथिव्यादयः पुद्गलपर्याया एव भेदसंघाताभ्यामुत्पद्यमानत्वात्। ये तु न पुद्गलपर्यायास्ते न तथा दृष्टाः यथाकाशादयः भेदसंघाताभ्यामुत्पद्यमानाश्च पृथिव्यादय इति न ततो जात्यंतरं। विभागसंयोगाभ्यामुत्पद्यमानेन शब्देन व्यभिचार इति चेन्न, तस्यापि पुद्गलपर्यायत्वात्। तदपर्यायत्वे तस्य बहिःकरणवेद्यत्वविरोधात् न च भेदो विभागमात्रं, स्कंधविदारणस्य भेदशब्देनाभिधानात्। नापि संघातः संयोगमात्रं, मृत्पिंडादीनां स्कंधपरिणामस्य संघातशब्दवाच्यत्वात्। न च ताभ्यामुत्पद्यमानत्वमपुद्गलपर्यायस्य ज्ञानादेरस्ति येनानैकांतिको हेतुः स्यात्।

वैशेषिक नौ द्रव्यों में से पृथिवी, अप, तेज, वायु, मन, दिक्, काल, आकाश, इन आत्म-भिन्न आठ द्रव्यों को अजीव पदार्थ मानते हैं आचार्य कहते हैं कि यों अजीव पदार्थ का पृथिवी आदि आठ भेद स्वरूप होना भी युक्तिरहित ही है क्योंकि पृथिवी, जल, तेज, वायु, और मन ये पांच स्वतंत्र द्रव्य नहीं हैं, पुद्गल द्रव्य की विशेष पर्याय होने से इनको न्यारी न्यारी जाति का द्रव्यपना असिद्ध है, इसमें युक्ति यह है कि पृथिवी आदिक (पक्ष) पुद्गल के विकार नहीं हैं (साध्य) भेद और संघात से उपज रहे होने से (हेतु) जो पुद्गल के पर्याय नहीं हैं वे तो तिस प्रकार भेद और संघात से उपज रहे नहीं देखे जा रहे हैं जैसे कि आकाश आत्मा, आदिक पदार्थ हैं (व्यतिरेकदृष्टान्त) भेद और संघात से उपजरहे पृथ्वी आदिक हैं उपनय इस कारण वे पुद्गल की पर्याय ही हैं, उस पुद्गल से न्यारी जाति के तत्वान्तर नहीं हैं (निगमन)।

इस अनुमान में कोई वैशेषिक पण्डित अनैकान्तिक हेत्वाभास उठाता है कि कणादप्रणीत वैशेषिक दर्शन का सूत्र है "संयोगादिविभागाच्च शब्द-निष्पत्तिः" बांस को चीरते समय या कपड़े को फाड़ते समय विभाग से शब्द उपजता है तथा ताली, घन्टा, घड़ियाल बजाते समय या लोहा कांसा आदि को पीटते समय संयोग से शब्द उत्पन्न होता है, शब्द तो गुण है, पुद्गल का पर्याय नहीं है, अतः विभाग और संयोगसे उपजरहे शब्द करके तुम जैनों के हेतु का व्यभिचार हुआ। हेतु रहगया साध्य नहीं रहा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि वह शब्द भी पुद्गलसे उपादेय हो रहा पुद्गल की पर्याय है। यदि उस शब्द को उस पुद्गल की पर्याय नहीं माना जावेगा तो बहिरंग श्रोत्र इन्द्रिय करके उस शब्द के जानने योग्यपन का विरोध हो जावेगा। स्पर्शन आदि पांच बहिरंग इन्द्रियों करके पुद्गलपर्याय ही जाने जाते हैं अर्थात्—फोनोग्राफ के तवा या चूड़ी पर पौद्गलिक शब्द ही जमाया जा सकता है, टेलीग्राम या टेलीफोन में पौद्गलिक शब्द ही पौद्गलिक बिजली करके

फेंका जाता है, घनगर्जन या बड़ी तोप के शब्दों से तो कान बहिरे या गर्भपात, हृदयकंप आदि विपत्तियां उपज जाती हैं, ये कृत्य पुद्गलपर्याय से ही सम्भवते हैं, गुण से नहीं। हेतु में पड़े हुये भेद का अर्थ केवल विभाग नहीं है, पुद्गल पिण्डस्वरूप स्कन्ध के विदारण को भेद शब्द करके कहा जाता है तथा संघात का अर्थ भी केवल संयोग ही नहीं है किन्तु मही, चून, के पिण्ड या तन्तु आदिके स्कन्धभूत, परिणाम को संघात शब्द करके कहा गया है, टुकड़े होजाने को और मिल जाने को स्थूल रूप से भेद और संघात का अर्थ समझ लेना चाहिये। जो ज्ञान सुख, आदिक पदार्थ पुद्गल पर्याय नहीं हैं इन को उन भेद और संघात से उपजरहापन नहीं है जिससे कि हमारा हेतु व्यभिचारी होजाय अर्थात्—भेद और संघात से उपजरहापन हेतु निर्दोष है। अपने साध्य किये गये पुद्गलपर्यायपन को सिद्ध कर ही देता है।

भेदात् पृथिव्यादीनामुत्पत्त्यसंभवादसिद्धो हेतुरिति चेन्न, घटादिभेदात्कपालाद्युत्पत्तिदर्शनात् द्व्यणुकभेदादपि परमाणूत्पत्तिसिद्धेः। यथैव हि तन्त्वादिसंघातान्वयव्यतिरेकानुविधानात् पटादीनां तन्त्वादिसंघातादुत्पत्तिरङ्गीक्रियते तथा पटादिभेदान्वयव्यतिरेकानुविधानात्तन्त्वादीनामात्मलाभात्तद्भेदादुत्पत्तिः सुशकाभ्युपगंतुम्। पटादिभेदाभावेऽपि तन्त्वादिदर्शनान्न ततस्तदुत्पत्तिरिति चेन्न, तस्यापि तन्त्वादेः कर्पासप्रवेणीभेदादेवोत्पत्तिसिद्धेः।

यहां कोई वैशेषिक प्रतिवादी उक्त हेतु को स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास बताने का प्रयत्न करता है कि स्कन्धों का विदारण करने से पृथिवी आदिकों के उपजने का असम्भव है, अतः जैनों का हेतु पक्ष में नहीं वतने से असिद्ध है अर्थात्—जैन जहां भेद से खण्डपट, कपालिका आदि की उत्पत्ति मानते हैं वहां भी अवयवी के अवयव, पंचाणुक, चतुरणुक, त्र्यणुक, द्व्यणुक, परमाणु, इस क्रम से प्रलय हो कर पुनः द्व्यणुक, त्र्यणुक, चतुरणुक आदि की सृष्टिप्रक्रिया अनुसार ही खण्डपट, कपालिका, ठिकुच्ची आदि की उत्पत्ति भी संघात से ही होती है, भेद से तो नाश भले ही हो जाय, जो कोई छोटा टुकड़ा भी उपजेगा वह अपने उपादान कारण लघु अवयवोंके संयोगसे ही उत्पन्न होगा, अतः जैनों का हेतु असिद्ध है।

ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि घट, गेहूं, डेल आदि का विदारण कर देनेसे कपाल, चून, डेली, आदि पुद्गल पर्यायों की उत्पत्ति होरही देखी जाती है। द्व्यणुक के भेदसे परमाणु की उत्पत्ति हो रही भी सिद्ध है, परमाणु की उत्पत्ति में भेदके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है जब कि परमाणु से छोटा कोई अवयव नहीं माना गया है, परमाणु नित्य द्रव्य नहीं है इसका प्रकरणवश निर्णय करा दिया जावेगा। देखो जिस ही प्रकार तन्तु, कनिक, आदि अवयवों के एकीभाव के साथ अन्वय और व्यतिरेक का अनुविधान करने से पट लूण्ड़, आदि अवयवियों की उन अवयवोंके संघातसे उत्पत्ति होना स्वीकार किया जाता है उसी प्रकार पट (थान) लक्कड़ चना, आदि अवयवियों के भेद के साथ अन्वय व्यतिरेकों का अनुविधान करने से तन्तु (सूत) चीपुटी, दौल, आदि अवयवों का आत्मलाभ होजाने के कारण उन अवयवियों के भेद से अवयवों की उत्पत्ति होना बहुत अच्छा स्वीकार किया जासकता है। कपड़ा फाड़ करके चीर चीर कर दिया जाता है, दुपट्टा काढ़ने के लिये लड़कियां कपड़े में से सूत निकाल लेती हैं।

यदि यहां वैशेषिक यों कहें कि पहिले पहिले उपजे हुये सूत की अवस्था में कपड़ा, थान,

आदि का भेद नहीं होते हुये भी तन्तु आदिक उपज रहे देखे जाते हैं, अतः उस भेदसे उन तन्तु आदिकों का उपजना नहीं बन पाता है, अतः स्वरूपासिद्ध नहीं तो भागासिद्ध दोष अवश्य लागू होगा।

ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उस प्रथम ही प्रथम के तन्तु आदि का भी कपास (रूई) की बनी हुई पौनी का भेद होजाने से ही उपजना सिद्ध है। धुनी हुयी रूई के पिण्डों को भेद कर पौनी बनाई जाती है, पुनः चर्खा या तकली द्वारा पौनी को क्रम-पूर्वक छिन्न भिन्न कर के सूत बनाया जाता है।

यथाविधानां च तंत्वादीनां पटादिभेदादुत्पत्तिरुपलब्धा तथाविधानां न तदभावे प्रतीयते इति नोपालंभः। समर्थयिष्यते च भेदात्परमाण्वादीनामुत्पत्तिः संघाताच्चेति नासिद्धो हेतुः, यतः पुद्गलपर्यायाः पृथिव्यादयो न सिद्धयेयुः।

हां, कार्यकारण भाव का सूक्ष्मरूप से विचार करने पर निर्णीत होजाता है कि जिस प्रकार चपटे या ठा रहे तन्तु आदिकों की उत्पत्ति पट आदिके भेद से ही होरही देखी गयी है उस प्रकार के होरहे कार्य भूत तन्तुओं आदि की उत्पत्ति उस पट आदि के भेद हुये बिना नहीं प्रतीत होती है, इस कारण हम जैनों के ऊपर कोई उलाहना या हेत्वाभास नहीं उठाया जा सकता है। सूत्रकार स्वयं भविष्य ग्रन्थ में कहेंगे और मुझ विद्यानन्द स्वामी करके उसका समर्थन किया जावेगा कि परमाणु की या महास्कन्धपूर्वक हुये लघुस्कन्ध आदि की उत्पत्ति भेद से ही होती है तथा लघु, महान् अनेक, पृथ्वी आदि स्कन्धों की उत्पत्ति संघात से हो रही है, इस कारण हम दोनों का हेतु असिद्ध हेत्वाभास नहीं है जिससे कि पृथ्वी, जल आदिक कार्य पुद्गल द्रव्य के पर्याय नहीं सिद्ध हो सकें अर्थात् पृथ्वी जल, तेज, वायु और मन ये स्वतन्त्र द्रव्य नहीं हैं किन्तु पुद्गल के पर्याय हैं।

दिशोपि नात्रोपसंख्यानं कार्यमाकाशेऽन्तर्भावात् ततो द्रव्यांतरत्वाप्रसिद्धेः।

वैशेषिकों ने नौ द्रव्यों में से जीव-भिन्न आठ द्रव्यों को स्वतंत्रतया अजीव द्रव्य स्वीकार-किया है इन में पृथ्वी आदि पांच का पुद्गल पर्यायपना साध दिया गया है। अब दिशा द्रव्य का विचार करते हैं। वैशेषिक की ओर से कोई कह रहा है कि स्वतंत्र अजीव द्रव्य के प्रतिपादक इस सूत्र में दिशा द्रव्य का भी निरूपण करना चाहिये था, सूत्रकार भूल जांय तो वार्त्तिककार द्वारा दिशा द्रव्य का भी उपसंख्यान करना चाहिये। आचार्य कहते हैं कि यह ठीक नहीं क्योंकि उसका आकाश में अन्तर्भाव आजाता है, अतः दिशा को उस आकाशसे निराले द्रव्यपन की प्रसिद्धि नहीं होपाती है, दिशा आकाशस्वरूप ही है।

स्यान्मतं, पूर्वापरादिप्रत्ययविशेषः पदार्थविशेषहेतुको विशिष्टप्रत्ययत्वात् दंड्यादि-प्रत्ययवत्, योऽसौ विशिष्टः पदार्थस्तद्धेतुः सा दिग्द्रव्यं परिशेषादन्यस्य प्रसक्तस्य प्रतिषेधात् ततो द्रव्यांतरमाकाशादिति। तदसत्, तद्धेतुत्वेनाकाशस्य प्रतिषेद्धुमशक्तेस्तत्प्रदेशश्रेणिष्वेवादित्यो-दयादिवशात् प्राच्यादिदिग्व्यवहारप्रसिद्धेः। प्राच्यादिदिक्संबंधाच्च मूर्तद्रव्येषु पूर्वापरादिप्रत्यय-विशेषोत्पत्तेर्न परस्परापेक्षया मूर्तद्रव्याण्येव तद्धेतवः। एकतरस्य पूर्वत्वासिद्धावन्यतरस्यापर-स्यापरत्वासिद्धेस्तदसिद्धौ चैकतरस्य पूर्वत्वायोगादितरेतराश्रयत्वात् उभयासत्वप्रसंगात्।

सम्भव है कि वैशेषिकों का यह मन्तव्य होय कि पूर्व, पश्चिम, आदिक होरहे ज्ञानविशेष (पक्ष) किसी विशिष्ट पदार्थ को हेतु मान कर उपजे हैं (साध्य) विशिष्ट प्रत्यय होने से (हेतु) दण्डी कुण्डली, आदि प्रत्ययों के समान (अन्वय दृष्टान्त)। जो कोई वह विशिष्टपदार्थ उस ज्ञान का हेतु होरहा है वह तो परिशेषन्याय से दिशा द्रव्य सिद्ध होजाता है क्योंकि प्रसंगप्राप्त होरहे अन्य आत्मा, आकाश, पृथ्वी आदि का प्रतिषेध कर दिया जाता है, तिस कारण आकाशसे निराला स्वतन्त्र द्रव्य दिशा को मानना चाहिये। अर्थात्--पूर्व, पश्चिम, आदि ज्ञानों का कारण आत्मा नहीं होसकता है क्योंकि स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष के अतिरिक्त ज्ञानों द्वारा पूर्व, पश्चिम, आदि की व्यवस्था हो रही है, यह इससे पूर्व है, यह यहां से पश्चिम है, इस ज्ञान का कारण आकाश भी नहीं है क्योंकि दिशाओं की आपेक्षिक परावृत्ति देखी जाती है। शब्द का समवायिकारण आकाश होता है, दिशा नहीं। पृथ्वी आदिक छह द्रव्य भी उक्त प्रत्यय के कारण नहीं हैं क्योंकि इन में विलक्षणता प्रतीत होरही है। अतः परिशेष से नवमा स्वतंत्र दिग्द्रव्य स्वीकार करना पड़ता है।

आचार्य कहते हैं कि वैशेषिकों का यह मन्तव्य प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि उस पूर्व, पश्चिम, आदि ज्ञानों के हेतुपने करके आकाश का निषेध करने के लिये अशक्ति है। उस आकाश की प्रदेश-श्रेणियों में ही सूर्य के उदय अस्त आदि के वश से पूर्व पश्चिम आदि दिशाओं के व्यवहार प्रसिद्ध होजाते हैं। अर्थात्—सम्पूर्ण अलोकाकाश के ठीक मध्य में लोकाकाश विराजमान है। लोकाकाश का ठीक मध्य सुदर्शन मेरु की जड़ में विराज रहे आठ प्रदेश हैं। चार बरफियों के ऊपर रक्खे हुये चार बरफियों के समान उन आठ प्रदेशोंके छह ओर परमाणु के समान नापलिये गये आकाश प्रदेशों की पंक्ति अनुसार छः दिशायें नियत होरही हैं। अथवा भ्रमण करते हुये सूर्यके उदय अस्त डेरी बाजू, सूधी लांग, ऊपर और नीचे अनुसार छह दिशायें स्वीकार करली जाती हैं, इस दूसरी व्यवस्था के अनुसार दिशाओंकी ढाई द्वीप में परावृत्ति होजाती है। बात यह है कि आकाश द्रव्य का मानना अवगाह देनेकेलिये आवश्यक ही है। आकाश के अतिरिक्त कोई निराला अनेक गुणों का पिण्ड दिशा द्रव्य नहीं है। सूर्यके उदय आदि के अधीन पूर्वदिशा, पश्चिम दिशा आदि व्यवहार प्रसिद्ध हो रहे हैं। तथा सूर्योदय की ओर बन गयी पूर्वदिशा आदि के सम्बन्ध से बनारस, पटना आदि मूर्त द्रव्यों में या सिन्धुनदी आदि में पूर्व, पश्चिम, आदि ज्ञानविशेषों की उत्पत्ति होजाती है, अतः परस्पर की अपेक्षा करके मूर्त द्रव्य ही उन एक दूसरों में पूर्व, पश्चिम, आदि ज्ञान को उपजाने के कारण नहीं हैं। क्योंकि यदि मथुरा की अपेक्षा पटना को पूर्व में और पटना की अपेक्षा मथुरा को पश्चिम में जान लेना मथुरा, पटना, इन मूर्त द्रव्यों की अपेक्षा से ही होरहा माना जावेगा तो दोनों में से एक के पूर्व पनकी नहीं सिद्धि होने पर शेष बचे हुये दूसरे का पश्चिमपना सिद्ध नहीं हो सकेगा और उस का पश्चिमपना सिद्ध नहीं होनेपर दो में से प्रकरण-प्राप्त इस एकका पूर्वपना नहीं बन सकता है, अतः अन्योन्याश्रय दोष होजाने से दोनों मूर्त द्रव्यों के पूर्व पश्चिमपन के असद्भाव का प्रसंग आवेगा इस कारण मूर्त द्रव्य से अतिरिक्त अखण्ड आकाश की प्रदेश श्रेणियों को दिशा द्रव्य मानकर मूर्त द्रव्यों में उस दिशा करके पूर्व पश्चिम आदि व्यवहारों को साध लेना चाहिये, वैशेषिकों के यहां दीधितिकार पण्डितजी तो दिशा को ईश्वर से अतिरिक्त पदार्थ नहीं मानते हैं। किन्तु अचेतन दिशा का चेतन ईश्वर में अन्तर्भाव करना कठिन है। हां आकाश में सुलभतया अन्तर्भाव हो सकता है।

नन्वेवमाकाशप्रदेशश्रेणिष्वपि कुतः पूर्वापरादिप्रत्ययः सिद्ध्येत् ? स्वरूपत एव

प्रसिद्धौ तस्य परावृत्त्यभावप्रसंगात्। परस्परापेक्षयता तत्सिद्धावितरेतराश्रयणादुभयासत्त्वप्रसक्ते रिति चेत्, दिक्प्रदेशेष्वपि पूर्वापरादिप्रत्ययोत्पत्तौ समः पर्यनुयोगः। द्रव्यांतरपरिकल्पनायामन-वस्थाप्रसंगश्च। यथैव हि मूर्तद्रव्यमवधिं कृत्वा मूर्तेष्वेवेदमस्मात्पश्चिमेनेत्यादिप्रत्यया दिग्द्रव्यहेतुकास्ततो दिग्भेदमवधिं कृत्वा दिग्भेदेष्वेवेदमितः पूर्वं पश्चिममित्यादिप्रत्यया द्रव्यांतरहेतुकाः सन्तु विशिष्टप्रत्ययत्वाविशेषात् तद्भेदेष्वपि पूर्वापरादि-प्रत्ययाः परद्रव्यहेतुका इत्यनवस्था। दिग्भेदेषु द्रव्यांतरमंतरेण पूर्वापरादिप्रत्ययस्योत्पत्तौ तेनैव हेतोरनैकांतिकत्वात्कुतो दिक् सिद्धिः।

स्वपक्ष का अवधारण करते हुये वैशेषिक यहां कटाक्ष करते हैं कि इस प्रकार आकाश की प्रदेशपंक्तियों में भी पूर्व, पश्चिम आदि ज्ञान भला किस कारण से सिद्ध होयंगे बताओ ? यदि जैन यों कहें कि आकाश के स्वकीय स्वरूप से ही आकाश की प्रदेश-श्रेणियों में उस पूर्व, पश्चिम, आदि ज्ञान होने की सिद्धि होजायगी, ऐसा कहने पर तो हम वैशेषिक कहते हैं कि उस पूर्व, पश्चिम, आदिके ज्ञानोंके परिवर्तन नहीं होसकने का प्रसंग आवेगा अर्थात्—मथुरा से पटना पूर्व है वे ही पूर्व दिशा के प्रदेश कलकत्ता की अपेक्षा पश्चिम दिशा सम्बन्धी हो जाते हैं, जो ही निषध पर्वतका पूर्वीय छोर यहां से पूर्व दिशा में है वही विदेह क्षेत्र वालों के लिये पश्चिमदिशा स्वरूप होकर बदल जाता है। यदि आकाशकी प्रदेशपंक्तियों में पूर्व पश्चिम दिशा को नियत करादिया जावेगा तो दिशाओं का बदलना नहीं होसकेगा।

अब यदि जैन परस्पर की अपेक्षा आकाश प्रदेशों में पूर्व पश्चिमपन की सिद्धि करोगे तो तुम्हारे यहां भी इतरेतराश्रय दोष होजाने से दोनों अपेक्ष्योंके अभाव होजाने का प्रसंग आता है।

यों कटाक्ष हो चुकने पर आचार्य कहते हैं कि तुम वैशेषिकों के यहां दिशासम्बन्धी प्रदेशोंमें भी पूर्व पश्चिम, आदि ज्ञानों की उत्पत्ति में यह कुचोद्य समान रूपसे लागू हो जाता है अर्थात्-वैशेषिकों ने दिशा द्रव्य एक माना है "उपाधिभेदादेकापि प्राच्यादि-व्यपदेशभाक्" उपाधियों के भेद से दिशा द्रव्य के छह या दश भेद कर लिये गये हैं यहां भी अन्योन्याश्रय दोष तदवस्थ है परस्पर में एक दूसरे की या मूर्त द्रव्य की अपेक्षा है। यदि मूर्त द्रव्यों में पूर्वापरादि का ज्ञान कराने के लिये दिशा द्रव्य की और दिशा द्रव्य में पूर्व, पश्चिमादि का ज्ञान कराने के लिये अन्य द्रव्यों की लम्बी कल्पना करते चले जावोगे तो वैशेषिकों के ऊपर अनवस्था दोष होजाने का प्रसंग आता है कारण कि जिस ही प्रकार मूर्त द्रव्य को अवधि करके मूर्त द्रव्यों में ही यह इससे पश्चिम दिशा-वर्त्ती है यह इससे उत्तरदिशावर्त्ती है। इत्यादिक ज्ञान वैशेषिकों के यहां दिशा द्रव्य को कारण मानकर उपज जाते हैं उसी ढंगसे दिशा द्रव्य के भेदों की अवधि कर, पूर्व, अपर, आदि दिशा भेदों में ही (भी) यह इससे पूर्व दिशा है और यह इससे पश्चिम दिशा है इत्यादिक ज्ञान अन्य द्रव्य को कारण मान कर हो जावो, क्योंकि विशिष्टज्ञानपना मूर्त द्रव्य और दिशा द्रव्योंको कारण मानकर हुये दोनों ज्ञानों में अन्तर रहित है तथा दिशाके उन भेदों में भी पूर्व, पश्चिम, आदि ज्ञान अन्य तीसरे द्रव्य को हेतु मान कर होजायंगे यों चौथे, पांचवे, आदि द्रव्यों को कारण मानते हुये अनवस्था दोष आता है। यदि आप वैशेषिक दिशाओं के भेदों में अन्य द्रव्य के बिना ही पूर्व, पश्चिम आदि ज्ञानोंकी उत्पत्ति होने को मानेंगे तो उस करके ही तुम्हारे विशिष्ट प्रत्ययत्व हेतु का व्यभिचार दोष आता है, ऐसी दशा

में उस व्यभिचारी हेतु से दिशा द्रव्य की सिद्धि कैसे होसकती है ? अर्थात्—नहीं।

भावार्थ—जो दिशा द्रव्य के लिये उपाय विचार रक्खा है उसी से आकाश प्रदेश श्रेणियों के विषय में हुये अन्योन्याश्रय का परिहार हो जाता है प्रत्युत वैशेषिकों के ऊपर अनवस्था और व्यभिचार दोष अधिक आजाता है "इत इदमिति यतस्तद्दिश्यं लिङ्गम्" इस वैशेषिक सूत्र द्वारा न्यारे दिशा द्रव्य को मानना अनुचित है।

विषुवति दिने यत्र सवितोदेति स पूर्वो दिग्भागो, यत्रास्तमेति सोऽपर इति दिग्भेदेषु पूर्वापरादिप्रत्ययसिद्धौ गगनप्रदेशपंक्तिष्वपि तथैव तत्सिद्धिरस्तु किमत्र दिग्द्रव्यांतर-कल्पनया तद्देशद्रव्यकल्पनाप्रसंगात्। अयमतः पूर्वो देश इत्यादिप्रत्ययस्य देशद्रव्यमंतरेणानु-पपत्तेः पृथिव्यादिरेव देशं द्रव्यमित्ययुक्तं, तत्र पृथिव्यादिप्रत्ययोत्पत्तेः। पूर्वादिदिक्कृतः पृथिव्यादिषु पूर्वदेशादिप्रत्यय इति चेत्, पूर्वाद्याकाशकृतस्तत्रैव पूर्वादिदिक्प्रत्ययोऽस्त्विति व्यर्था दिक्कल्पना।

पन्द्रह मुहूर्त का दिन और पन्द्रह मुहूर्त की रात यों दिन रात जिस दिन समान हो जाते हैं छः छः महीने पीछे आने वाले उस विषुवान् दिन में जिस दिशा में सूर्योदय होता है वह भाग पूर्व दिशा सम्बन्धी है और उसी दिन जहाँ सूर्य अस्त होजाता है वह दिशाका अंश पश्चिम कहा जाता है, इस प्रकार वैशेषिक दिशाओं के भेदों में यदि पूर्व, पश्चिम, आदि ज्ञानों के हो जाने की सिद्धि मानेंगे तब तो आकाश की प्रदेश-पंक्तिओं में भी तिस ही प्रकार दिन, रात, के अवसर पर सूर्यके उदय, अस्त, अनुसार उन पूर्वादि दिशाओं की सिद्धि हो जाओ, यहां व्यर्थ न्यारे दिशा द्रव्य की कल्पना करके क्या लाभ निकला ?

यदि इसी प्रकार लोक व्यवहार की थोड़ी थोड़ी भित्ति पर न्यारे न्यारे द्रव्यों की कल्पना की जावेगी तो देश द्रव्य की कल्पना करने का भी प्रसंग आयगा। देखिये यह इससे पूर्व देश है, यह देश इससे पश्चिम है, यह मालव देश है, इत्यादिक ज्ञानों का होना स्वतन्त्र देश द्रव्य के बिना नहीं बन सकता है। यदि वैशेषिक यों कहें कि पर्वत, नदी आदि स्वरूप पृथिवी, जल, आदिक नियत द्रव्यही तो देश द्रव्य हैं, न्यारे देश द्रव्यको हमें माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यह कहना अयुक्त है क्योंकि पृथिवी आदि द्रव्योंमें यह पृथिवी है, यह जल है, इत्यादि ज्ञान ही उपज सकते हैं, यह पूर्व देश है यह पश्चिम देश है ये विशिष्ट-ज्ञान तो पृथिवी आदिक से नहीं उपज पाते हैं। यदि वैशे-षिक यों कहें कि पूर्व आदि दिशाओं द्वारा पृथिवी आदिकों में पूर्व देश, दक्षिण देश, आदि ज्ञान कर दिये जाते हैं। यों कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि तबतो पूर्व आकाश या पश्चिम आकाश सम्बन्धी प्रदेश श्रेणियों द्वारा उन दिशाओं में ही पूर्व आदि दिशा के ज्ञान हो जाओ, इस अवस्थामें न्यारे दिशा द्रव्य की कल्पना करना व्यर्थ पड़ती है।

नन्वेवमादित्योदयादिवशादेवाकाशप्रदेशश्रेणिष्विव पृथिव्यादिष्वेव पूर्वापरादिप्रत्यय सिद्धेराकाशश्रेणिकल्पनाप्यनर्थिका भवत्विति चेत् न, पूर्वस्यां दिशि पृथिव्यादय इत्याद्याधारा-धेयव्यवहारदर्शनात्। पृथिव्याद्यधिकरणभूताया गगनप्रदेशपंक्तेः परिकल्पनस्य सार्थकत्वात्

गगनस्य प्रमाणांतरस्वतः साधयिष्यमाणत्वाच्च । ततो न धर्मादीनामजीवादीनां दिग्द्रव्यरूपतोपसंख्यातव्या ।

वैशेषिक अपने पक्षका अवधारण करनेके लिये आक्षेप करते हैं कि इस प्रकार तो सूर्यके उदय, अस्तमन, दायाँ, बायां, आदि के वश से ही आकाश की प्रदेश—श्रेणियों के समान पृथिवी आदिकों में ही परम्परा बिना आदित्य के उदय आदि से ही पूर्व, पश्चिम, आदि ज्ञानों की सिद्धि हो जायगी, अतः आकाश के प्रदेशों की श्रेणियों की कल्पना करना भी व्यर्थ ही रही । यों कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि पूर्व दिशा में पृथिवी, पर्वत, नदी आदिक हैं इत्यादिक न्यारे आधार और न्यारे आधेय अनुसार व्यवहार हो रहे देखे जाते हैं, अतः पृथिवी आदिकों का आश्रय हो रहीं आकाश के प्रदेशों की पंक्तियों की छहों ओर या दशों ओर कल्पना करना सार्थक है ।

दूसरी बात यह है कि अन्य अन्य तर्क, अनुमान, या आगम प्रमाणों से हम भविष्य ग्रन्थ में आकाश को साध देवेंगे, अतः सर्व द्रव्यों को युगपत् अवकाश होने के लिये आकाश द्रव्य का मानना क्लृप्त है । उसी की कल्पित श्रेणियों से दिशा के कर्तव्य का निर्वाह कर दिया जाता है । तिस कारण सूत्रोक्त धर्म आदि "अजीवकायों" को (में) अथवा जीव, अजीव, आदि तत्वोंको (में) एक स्वतन्त्र न्यारे दिग्द्रव्य स्वरूपपन का नहीं उपसंख्यान करना चाहिये अर्थात्—सूत्रकार ने द्रव्य या तत्वों के गिनाने में कोई त्रुटि नहीं रक्खी है, दिशा द्रव्य आकाश स्वरूप है ।

पृथिव्यादिरूपतापन्नस्कन्धस्वरूप एवाजीवपदार्थ इत्यप्ययुक्तं, धर्माधर्मादीनामपि ततो भिन्नस्वभावानामजीवद्रव्याणामग्रे समर्थयिष्यमाणत्वात् । पुद्गलद्रव्यव्यतिरेकेण रूपस्कंधस्यासंभवाच्च सूक्तं धर्मादय एवाजीवपदार्था इति ।

यहां कोई चार्वाक या बौद्ध कहते हैं कि पृथिवी, पर्वत, नदी, जल, आदि पिण्ड-स्वरूप के समान रूपस्कंध स्वरूपी ही अजीव पदार्थ हैं, कोई न्यारा अमूर्त अजीव द्रव्य नहीं (यहां तावत् शब्द व्यर्थ दीख रहा है) ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कहना भी अयुक्त है क्योंकि उस रूपस्कन्ध से भिन्न स्वभाव वाले धर्म, अधर्म आदि अजीव द्रव्यों का भी अग्रिम ग्रन्थ में समर्थन किया जानेवाला है तथा पुद्गल द्रव्य के अतिरिक्त सौत्रान्तिकों के अभीष्ट हो रहे रूपस्कन्ध का असम्भव है, अतः धर्म आदिक ही अजीव पदार्थ हैं, इस प्रकार सूत्रकार ने इस सूत्रमें बहुत अच्छा कहा है, चार ये और कहे जाने वाले काल द्रव्य इन पांच द्रव्यों से अधिक या न्यून अजीव पदार्थ नहीं हैं ।

सूत्रकार महोदय के प्रति किसी विनीत पण्डित का प्रश्न है कि प्रायः सभी दार्शनिकों के यहां द्रव्यों की मुख्यता से तत्वों की व्यवस्था की गई है तथा "मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु" "सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य" यहां द्रव्यों को कहा गया है वे द्रव्य कौन हैं ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं—

द्रव्याणि ॥२॥

उक्त धर्म आदिक चार अजीवकाय माने जाचुके द्रव्य स्वरूप हैं अर्थात्—धर्म आदिक चार पदार्थ गुण या पर्याय स्वरूप नहीं हैं किन्तु अनेक अनुजीवी, प्रतिजीवी, आदि गुणों के अविष्व-

स्माव पिण्ड-स्वरूप होरहे द्रवण क्रियापरिणत द्रव्य हैं, भविष्य में कहे जाने योग्य जीव और का को मिला कर छह द्रव्य होजाते हैं।

स्वपरप्रत्ययोत्पादविगमपर्यायैर्द्रूयंते द्रवन्ति च तानीति द्रव्याणि, कर्मकर्तृसाधनत्वोपपत्तेः द्रव्यशब्दस्य स्याद्वादिनां विरोधानवतारात्। सर्वथैकांतवादिनां तु तदनुपपत्तिर्विरोधात्। द्रव्यपर्यायाणां हि भेदैकांते न द्रव्याणां पर्यायैर्द्रवणं तथा स्वयमसिद्धत्वात्। सिद्धरूपैरेव हि देवदत्तादिभिः प्रसिद्धसत्ताका ग्रामादयो द्रूयमाणा दृष्टाः न पुनरसिद्धसत्ताकैरसिद्धसत्ताका वन्ध्यापुत्रादिभिः कूर्मरोमादय इति। न च द्रव्येभ्यः पर्यायाः पृथक्सिद्धसत्त्वाः पर्यायत्वविरोधात् द्रव्यांतरवत् द्रव्यांतरपर्यायेण स्वभावानां पर्यायत्वोपपत्तेः।

जिस प्रकार घृत, तैल जल, यथायोग्य आगे, पीछे, बह जाते हैं, उसी प्रकार स्व को और पर को कारण मान कर हुये उत्पाद और व्ययसे युक्त होरहे पर्यायों करके जो बहाये जारहे हैं। अथवा उन उन पर्यायों को बहाती हुयीं जो गमन कर रही हैं इस कारण वे द्रव्य हैं। द्रव्य शब्द के कर्म-साधनपना और कर्तृसाधनपना बनजाता है स्याद्वादियोंके यहां कोई विरोधदोष नहीं उतरता है। हां सर्वथा एकान्तवादियों के यहां तो विरोध होजाने से वह कर्मपना और कर्तृपना एक में नहीं बन पाता है।

अर्थात्—"द्रु गतौ" धातु से कर्म या कर्ता में यत् प्रत्यय करने पर द्रव्य शब्द बन जाता है नदी का पानी स्वयं नीचे को बह जाता है और नहर, बम्बा, आदि का जल इष्ट स्थानों पर नीचे की ओर बहा दिया जाता है। उसी प्रकार सम्पूर्ण द्रव्य प्रतिसमय उत्पाद व्ययवाले अनेक पर्यायों को धारते हैं, कभी द्रव्य स्वतंत्र होकर पर्यायें द्रव्य के पराधीन होजाती हैं। और कदाचित् पर्यायें स्वतंत्र होकर द्रव्य की परतंत्रता विवक्षित होजाती है। रूक्ष भोजनको विशेष प्रयत्न करके लीला जाता है। किन्तु चिकना, पतला, भोज्यपदार्थ स्वयमेव लिल जाता है। इसी प्रकार पर्यायें द्रव्य को तीनों काल तक बहीं बहा रही हैं अथवा अन्वित द्रव्य ही अनेक पर्यायों में अनुगत होरहा तीनों काल बहा जा रहा है। अनेकान्त वादियोंके यहां विवक्षा अनुसार सब व्यवस्था बन जाती है।

यदि द्रव्य और पर्यायों का एकान्तरूपसे भेद मान लिया जावेगा तो द्रव्योंका पर्यायों करके अनुगमन होना नहीं बन सकेगा क्योंकि तिस प्रकार वे पर्यायें स्वयं असिद्ध हैं। आत्मलाभ कर चुके सिद्ध स्वरूप ही होरहे देवदत्त, जिनदत्त, आदिकों करके द्रवण या गमन किये जारहे वे ग्राम, नगर, आदि देखे जा चुके हैं जिनकी कि सत्ता प्रसिद्ध है। असिद्ध सत्ता वाले बन्ध्यापुत्र अश्वविषाण आदि करके अप्रसिद्धसत्तावाले कच्छपरोम, गगनकुसुम, आदिक प्राप्त हो रहे फिर नहीं देखे गये हैं। सर्वथा भेदवादियों के यहां द्रव्यों से सर्वथा पृथक् होरहे पर्यायों की सत्ता सिद्ध नहीं है क्योंकि यों पर्यायपन का विरोध हो जावेगा जैसे कि एक विवक्षित द्रव्य की पर्याय दूसरे अप्रकृत द्रव्य की पर्याय नहीं कही जाती है।

अर्थात्—धर्म द्रव्य की पर्याय ज्ञान नहींहै, कारण कि धर्मद्रव्यसे ज्ञान सर्वथा भिन्न है। उसी प्रकार अग्नि से उष्णता को सर्वथा भिन्न मानने पर उधर उष्णतारहित अग्नि मर जावेगी और इधर आधार रहित हो रही उष्णता नष्ट हो जावेगी, सिरको धड़से अलग कर देने पर वह मनुष्य

मरजाता है अथवा एक के धड़पर दूसरे के सिर को या दूसरे के धड़ पर एक के सिर को जोड़ देने से दोनों मर जाते हैं, इसी प्रकार सर्वथा भेद पक्ष में पर्याय और पर्यायी दोनों असत् हैं। दो अन्धों के मिल जाने पर भी रूप को देखने की शक्ति नहीं उपज पाती है। वस्तुतः द्रव्य के पराधीन होरहे स्वभावों को ही पर्यायपना बनता है जोकि कथंचित् तादात्म्य पक्ष में शोभता है सर्वथा भेद में नहीं।

पृथग्भूता अपि द्रव्यतो द्रव्यपरतन्त्राः पर्यायास्तत्समवायादिति चेन्न, कथंचित्तादात्म्यव्यतिरेकेण समवायस्य निरस्तपूर्वत्वात्। पर्यायेभ्यो भिन्नानां द्रव्याणां च सत्त्वसिद्धौ पर्यायपरिकल्पनावैयर्थ्यात्। कार्यनानात्वपरिकल्पनायां स्वभिन्नपर्यायसंबंधनानात्वसिद्धितस्तन्निबंधनपर्यायांतरपरिकल्पनाप्रसंगात्। सुदूरमपि गत्वा पर्यायांतरतादात्म्योपगमे प्रथमत एव पर्यायतादात्म्योपगमे च न पर्यायैर्द्रव्याणि द्रूयंते कथंचिद्भिन्नानामेव प्राप्यप्रापकभावोपपत्तेः।

वैशेषिक कहते हैं कि द्रव्य से पृथग्भूत भी होरहीं किन्तु द्रव्योंके पराधीन होकर वर्तरहीं पर्यायें उस नियत द्रव्य की ही बखानी जाती हैं क्योंकि अयुतसिद्धि के अनुसार आत्मा में उन ज्ञान, आदि पर्यायों का या पृथिवी में रूप, रसादि पर्यायों का समवायसम्बन्ध होरहा है, ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना, कारण कि कथंचित् तादात्म्यसम्बन्ध के अतिरिक्तपने करके समवाय सम्बन्ध का पूर्व प्रकरणों में निराकरण किया जा चुका है। अर्थात्—समवाय का अर्थ कथञ्चित् तादात्म्य है। कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्ध से जुड़ रहे पदार्थों में सर्वथा भेद नहीं बन पाता है।

एक बात यह भी है कि पर्यायों से सर्वथा भिन्न होरहे द्रव्यों के सद्भाव की सिद्धि यदि मानी जायगी तो वैशेषिकों के यहां पर्यायों की चारों ओर कल्पना करना व्यर्थ होजायगा अर्थात्-उष्णता से सर्वथा न्यारी यदि अग्नि रक्षित रह सकती है। तो पीछे अग्नि पर उष्णता का बोझ लादना निरर्थक है इस ढंगसे तो कोई किसी का आत्मभूत स्वभाव या स्वभावों का आत्मभूत आश्रय नहीं ठहर पायगा सर्व निराधार निराधेय होते हुये मारे मारे फिर कर नष्ट होजायगें। यदि भेद-वादी वैशेषिक पर्यायों से द्रव्य को भिन्न मानने के लिये उनके अपने अपने नियत अनेक कार्यों की कल्पना करेंगे तबतो भिन्न भिन्न पर्यायों के अनेक सम्बन्धों की सिद्धि होजाने से पुनः उनके नियोजक कारण हुये अन्य पर्यायों की कल्पना करते रहने का प्रसंग आजाने से अनवस्था दोष आता है अर्थात्-भिन्न द्रव्यों की भिन्न पर्यायों को नियत करने के लिये नाना कार्य नियामक माने जायगे, पुनः उन कार्यों के नियोजक सम्बन्ध अनेक माने जायंगे, सम्बन्ध भी भिन्न ही रहेंगे उनको नियत करने के लिये पुनः अन्य पर्यायों की आवश्यकता होगी, यों चाहे कितनी भी लम्बी पंक्ति बढा लीजाय अनवस्था दोष अनिवार्य है।

यदि वैशेषिक बहुत दूर भी जाकर अनवस्था के डर से अन्य पर्यायोंके साथ द्रव्य का तदात्मकपन स्वीकार कर लेंगे तो प्रथम से ही पर्यायोंके साथ द्रव्य का तदात्मकपन स्वीकार कर लिया जाय और ऐसा होने पर पर्यायों करके द्रव्य द्रवण करने योग्य यानी प्राप्त करने योग्य नहीं ठहर पाती है क्योंकि कथंचित् भिन्न होरहे पदार्थों में ही प्राप्यप्रापक भाव बनता है, सर्वथा भिन्नों में नहीं। देवदत्तको ग्राम की प्राप्ति होना भिन्न प्रकार का कार्य है। अतः भेद पक्षमें भी यह बन सकता है यों तो द्रव्यपन या वस्तुपन करके देवदत्त और ग्राम में भी अभेद माना जासकता है। किन्तु यहां द्रव्य और

सहभावी क्रमभावी, पर्यायोंमें पाया जारहा द्रवण स्वरूप प्राप्त होजाना या प्राप्त करलेना दो कथंचित् अभिन्न होरहे पदार्थों में ही घटित है।

स्याद्वादिनां तु भेदनयार्पणात्कथंचिद्द्रव्यात्पर्यायाणां भेदे सति यथोदितपर्यायैर्द्रूयंते प्राप्यंते इति द्रव्याणि "कर्मणि यत्प्रत्ययो युज्यते" द्रवन्ति प्राप्नुवंति पर्यायानिति द्रव्याणीति च कर्तरि बहुलवचनादुपपद्यते। द्रु इव भवन्तीति द्रव्याणीति चेवार्थे द्रव्यशब्दस्य निपातनात्।

स्याद्वादियों के यहां तो भेद नय की विवक्षा करने से पर्यायों का द्रव्य से कथंचित् भेद होने पर पूर्व में कहे जा चुके अनुसार उत्पाद व्ययवाले पर्यायों करके जो द्रुत होते रहते हैं यानी प्राप्त किये जाते हैं इस कारण वे द्रव्य है, यों विग्रह करके कर्म में य प्रत्यय करना युक्त पड़जाता है 'द्रु' धातु से कर्म में य प्रत्यय करनेपर द्रव्य साधु बनालिया जाता है तथा जो द्रव्य स्वतंत्र होकर पर्यायों को द्रवण करते हैं। यानी प्राप्त करते हैं। इस कारण द्रव्य हैं, यों कर्त्ता में बहुल वचन से "य" प्रत्यय करना बन जाता है।

अर्थात्—कर्म में य प्रत्यय करना तो न्यायप्राप्त है बहुल शब्द का वचन होने से कहीं कहीं कर्त्ता में भी युट्प्रत्यय के समान य प्रत्यय कर लिया जाता है अथवा द्रु यानी काष्ठ के समान जो होते हैं इस कारण ये द्रव्य हैं यों इव यानी सदृश अर्थ में द्रव्य शब्द को निपातसे साध लिया जाता है अर्थात्—द्रव्यंभव्ये इस सूत्र से निपात करके द्रव्य शब्द साधुबनालिया जाता है जैसेगांठ या चिन्हों से रहित होरहा सुन्दर काठ मन चाहे मोंगरा, मुद्गर कड़ी टांड़ा, जुआ आदि किसी भी आकार से प्रकट कर लिया जाता है। सुडौल उत्तम पाषाण में से कैसी भी प्रतिमा उकेर ली जाती है। तिसी प्रकार द्रव्य भी स्वपर या अन्तरंग बहिरंग कारणों अनुसार उत्पाद व्ययवाले पर्यायों करके भव्य कर लिया जाता है।

द्रव्यत्वयोगाद्द्रव्याणीत्यपरं, तेषां द्रव्यत्ववंतीति स्याद्दण्डीत्यभिधानवत्। अथाभेदोपचारः क्रियते यष्टियोगात् पुरुषः यष्टिरिति यथा तथापि द्रव्यत्वानीति स्यान्न तु द्रव्याणि।

द्रव्यत्व जाति का समवाय सम्बन्ध होजाने से पृथिवी आदिक नौ द्रव्य माने जाते हैं इस प्रकार कोई दूसरे विद्वान् नैयायिक या वैशेषिक कह रहे हैं। आचार्य कहते हैं। कि उनके यहां धर्म आदि या पृथिवी आदि के साथ "द्रव्याणि" यह पद नहीं लगसकेगा भिन्न पृथिवी में भिन्न जातिका भिन्न सम्बन्ध होजाने से वे पृथिवी आदिक द्रव्यत्व जाति वाले हैं यों "द्रव्यत्ववन्ति" ऐसा प्रयोग होसकेगा जैसे कि सर्वथा भेद अनुसार दण्ड के योग से पुरुष के लिये दण्डवान् या दण्डी यह शब्द कहा जाता है। यदि वैशेषिक इस दोष से बचने के लिये यहां अब अभेद का उपचार यानी अभेद नहीं होते हुये भी पृथिवी आदिक नौ द्रव्य और द्रव्यत्व जाति में अभेद की कल्पना करें जैसे कि लकड़ी या छड़ी के योग से पुरुष को लकड़ी कह दिया जाता है, लाल चोला वाले पुरुषको अभेद के उपचार अनुसार लाल चोला कह दिया जाता है। तब तो हम जैन कहते हैं कि तौभी "पृथिव्यादीनि द्रव्यत्वानि" पृथिवी आदिक द्रव्यत्व हैं यह शब्द कह सकोगे किन्तु पृथिवी आदिक द्रव्य हैं अभेद उपचार करनेपर यों कथमपि नहीं कह सकते हो "यष्टिः पुरुषः" यहां अभेद उपचार करने से मतुप् ही तो उड़ाया गया है, तदनुसार यहां भी मतुप् को हटा कर द्रव्यत्वानि होना चाहिये।

द्रव्यत्वाभावलक्षणाभावात् तच्च द्रव्यत्वं द्रवणं द्रव्यमिति द्रव्यशब्दाभिधेयमपि सामान्यं यदि सर्वगतामूर्तनित्यस्वभावं द्रव्येभ्यः सर्वथा भिन्नं तदा न प्रमाणसिद्धं, द्रव्येषु सदृशपरिणामस्यैव द्रव्यत्वाख्यस्यानुवृत्तप्रत्ययहेतुत्वोपपत्तेरित्यन्यत्र निरूपणात् । अथ तदेव सादृश्यं सामान्यं तदभिमतमेव पर्यायैद्रू यंत इति द्रव्याणीति वचनात् सादृश्यव्यंजनपर्यायत्वात् ।

वैशेषिक पुनः अपना मत कहते हैं कि द्रव्य और द्रव्यत्व एक ही हैं क्योंकि द्रव्यत्व में द्रव्यपन के अभावका लक्षण विद्यमान नहीं है अतः यह द्रव्यपना द्रवण-भाव स्वरूप होरहा द्रव्य है इस कारण द्रव्य शब्द का वाच्य भी द्रव्यत्व सामान्य है तब तो "पृथिव्यादीनि द्रव्यत्वानि" कह दो या "द्रव्याणि" कह दो, एक ही अर्थ पड़ता है।

इस पर आचार्य कहते हैं कि वह द्रव्य या द्रव्यत्व रूप सामान्य भी सर्वव्यापक अमूर्त और नित्य स्वभाववाला माना जा रहा द्रव्यों से यदि सर्वथा भिन्न है तब तो वह प्रमाणों से सिद्ध नहीं है क्योंकि द्रव्यों में वर्तरहे सदृशपरिणाम को ही द्रव्यत्व इस नाम से कहा गया है, यह गौ है, यह गौ है, इस प्रकार के अनुवृत्त ज्ञानों के हेतुपने करके सदृश परिणाम ही स्वरूप गोत्व आदि सामान्य बन सकते हैं, इसका निरूपण अन्य प्रकरणों में या अतिरिक्त ग्रन्थों में किया जा चुका है, अब वैशेषिक यदि उस सदृशपन को ही सामान्य (जाति) पदार्थ कहेंगे तब तो हम जैनों को स्वीकार ही है। सिद्धान्त ग्रन्थों में ऐसा वचन है कि पर्यायों करके जो प्राप्त किये जारहे हैं इस कारण वे द्रव्य हैं ऐसी कर्मसाधन निरुक्ति कथन करदेने से द्रव्य शब्द साधु बन जाता है क्योंकि सदृशपरिणाम रूप व्यंजन पर्याय ही द्रव्यत्व पड़ता है सदृश परिणामों से अतिरिक्त अन्य गुण या पर्याय भी द्रव्य के आत्मभूत शरीर हैं।

धर्मादयोनुवर्तंते इति सामानाधिकरण्यात् द्रव्याणीति वचनात् । पुल्लिंगत्वप्रसंग इति चेन्न, आविष्टलिंगत्वाद्द्रव्यशब्दस्य वनादिशब्दवत् ।

पूर्व सूत्र में कहे गये धर्मादिक शब्दों की यहां अनुवृत्ति कर ली जाती है इस कारण उनके साथ समानाधिकरणपना होने से "द्रव्याणि" ऐसा बहुवचन से इस सूत्रका निर्देश किया गया है। यदि यहां कोई यों आक्षेप करे कि उन धर्मादिकों का समानाधिकरणपने से जैसे यहां बहुवचन किया गया है उसी प्रकार पुल्लिंगपनका भी प्रसंग आता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि द्रव्य शब्द अपने नियत लिंग को ग्रहण कर रहा आविष्टलिंग है जैसे कि वन, भाजन, पुष्प, आदि शब्द बहुव्रीहि समास के बिना अपने लिंग को नहीं छोड़ते हैं उसी प्रकार द्रव्य शब्द अपने गृहीत नपुंसकलिंग को नहीं छोड़ सकता है।

किं पुनरत्रानेन सूत्रेण कृतमित्याह—

कोई शिष्य पूछता है कि यहां सूत्रकार ने फिर इस सूत्र करके क्या क्या प्रयोजन सिद्ध किया है। इस प्रकार जिज्ञासा होने पर श्री विद्यानन्द आचार्य समाधान-कारक अगली वार्तिक को कहते हैं—

तद्गुणादिस्वभावत्वं द्रव्याणीतीह सूत्रतः ।
द्रव्यलक्षणसद्भावात्प्रत्याख्यातमवेयते ॥ १ ॥

सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज ने "द्रव्याणि" इस सूत्र से धर्म आदिकों को आत्मा का गुणपना, अभावपदार्थपना, गुण–समुदायपना, गुणसंद्भाव, आदि उन स्वभावपन का निराकरण कर दिया है, ऐसा जान लिया जाता है क्योंकि पर्यायों करके द्रवे जायं या पर्यायों को सदा प्राप्त करते रहें इस द्रव्य के लक्षण का सद्भाव इन धर्म आदिकों में है।

धर्माधर्मयोरात्मगुणत्वादाकाशस्य च मूर्तद्रव्याभावस्वभावत्वाच्च द्रव्यत्वमित्येके मन्यंते, तान् प्रति धर्मादीनां गुणभावस्वभावत्वमनेनात्र प्रत्याख्यातं निश्चीयते। न हि पुण्य-पापे धर्माधर्मौ अमो नाप्याकाशं मूर्तद्रव्याभावमात्रं द्रव्यलक्षणयोगात् तेषां द्रव्यव्यपदेशसिद्धेः। कथमित्याह—

मार्गदर्शक :– आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कोई एक विद्वान यों मान रहे हैं। कि वैशेषिक मतानुयायी तो धर्म और अधर्म को आत्मा का विशेषगुण स्वीकार करते हैं उनके यहां चौबीस गुणों में या आत्मा के चौदह गुणों में धर्म, अधर्म, (अदृष्ट) गिनाये गये हैं अतः आत्मा के गुण होने से धर्म, अधर्म, को द्रव्यपना नहीं माना जाता है। पृथिवी आदि नौ ही द्रव्य हैं तथा चार्वाक मत के अनुयायी आकाश को स्वतंत्र द्रव्य नहीं मान कर मूर्तद्रव्यों का अभाव स्वरूप स्वीकार करते हैं। प्रसज्यवृत्ति से मूर्त द्रव्योंका तुच्छ अभाव आकाश पड़ता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि उन वैशेषिक या नैयायिकों तथा चार्वाक् या बौद्धोंके प्रति धर्म आदिकों का गुण स्वरूप भावस्वभावपना इस सूत्र करके यहां खण्डन कर दिया जा चुका निश्चय कर लिया जाता है हम ग्रन्थकार पुण्य और पाप को धर्म और अधर्म नहीं कह रहे हैं तथा मूर्त द्रव्यों के केवल अभाव को आकाश भी नहीं बखान रहे हैं क्योंकि द्रव्य के सिद्धान्तित लक्षण का सम्बन्ध होजाने से उन धर्म अधर्म, और आकाश को द्रव्य का व्यवहार होना युक्तियों से सिद्ध है। किस प्रकार है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्य समाधान कहते हैं—

धर्माधर्मौ मतौ द्रव्ये गुणित्वात्पुद्गलादिवत् ।
तथाकाशमतो नैषां गुणाभावस्वभावता ॥ २ ॥
न हेतोराश्रयासिद्धिस्तेषामग्रे प्रसाधनात् ।
नापि स्वरूपतोसिद्धिर्महत्त्वादिगुणस्थितेः ॥ ३ ॥

धर्म और अधर्म (पक्ष) द्रव्य माने गये हैं (साध्य) गुणवान् होने से (हेतु) पुद्गल, आत्मा, आदि द्रव्यों के समान (अन्वय दृष्टान्त) तिसी प्रकार गुणवान् होने से आकाश भी द्रव्य है अतः इन धर्म, अधर्मों, को गुणस्वभावपना और आकाश को अभाव स्वभावपना नहीं माना जा सकता है। गुण-वान्पन हेतुके आश्रयासिद्ध दोष नहीं है क्योंकि उन अतीन्द्रिय धर्म, अधर्म और आकाशकी आगे ग्रन्थ में बहुत अच्छी सिद्धि करदी जावेगी अतः वस्तुभूत पक्ष के प्रसिद्ध होजाने पर हमारा हेतु आश्रयासिद्ध-हेत्वाभास नहीं है "पक्षे पक्षतावच्छेदकाभाव आश्रयासिद्धिः" तथा महापरिमाण, संख्या, संयोग गति-हेतुत्व, अस्तित्व, प्रमेयत्व आदि गुणों की स्थिति वर्त रही होने से गुणसहितपना हेतु स्वरूप से असिद्ध भी नहीं है अर्थात् गुणीपना हेतु पक्ष में वर्तरहा होने से स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास नहीं है (पक्षे हेत्वभावः स्वरूपासिद्धिः) सम्पूर्ण वादियों ने गुणवान् पदार्थों को द्रव्य स्वीकार किया है।

द्रव्यत्वे साध्ये धर्मादीनां धर्मिणामप्रसिद्धत्वाद्गुणित्वादित्यस्य हेतोराश्रयासिद्धत्वात्तत एव गुणित्वस्यासंभवात् स्वरूपासिद्धत्वं चेत्येके। तन्न सम्यक् तेषामग्रे प्रमाणतः साधनात् तत्र महत्त्वादिगुणस्थितत्वाच्च। ततः सूक्तं धर्मादयो द्रव्याणीति।

उक्त वार्त्तिकों का विवरण यों है कि कोई एक विद्वान् यहां दोष उठारहे हैं कि धर्म आदिकों [illegible] अप्रसिद्ध होजाने से "गुणसहितपन" इस हेतु का आश्र[illegible]सद्भावपना है और तिस ही कारण से [illegible] यों पक्ष में हेतु का सम्भव (सद्भाव) नहीं होने से गुणित्व हेतु स्वरूपासिद्ध है। आचार्य कहते हैं कि विलक्षण एक विद्वान् का यह कहना समीचीन नहीं है क्योंकि अगले ग्रन्थ में प्रमाणों से उन धर्म अधर्म, और आकाश का साधन कर दिया जावेगा अतः हमारा हेतु आश्रयासिद्ध हेत्वाभास नहीं है। तथा उन धर्म आदि तीनों में महत्त्व आदि गुणों की स्थिति होरही होनेसे गुणित्व हेतु स्वरूपासिद्ध भी नहीं है तिस कारण सूत्रकार ने इस सूत्र द्वारा यों बहुत अच्छा कह दिया है कि धर्म आदिक चार पदार्थ द्रव्य हैं अर्थात्-गुण या पर्याय अथवा स्वभाव एवं अविभागप्रतिच्छेद या अभावस्वरूप नहीं हैं किन्तु इन सबके तदात्मकपिंडभूत अखण्ड द्रव्य हैं "नयोपनयैकान्तानां त्रिकालानां समुच्चयः। अविभाड्भाव--सम्बन्धो द्रव्यमेकमनेकधा" यह गुरु जी समन्तभद्र स्वामी ने द्रव्य का लक्षण बहुत अच्छा कहा है तथा सिद्धान्त-चक्रवर्ती नेमिचन्द्र आचार्य ने "एयदवियम्मि जे अत्थपज्जया वियणपज्जया चावि। तीदाणागदभूदा तावदियं तं हवदि दव्वं" यों आम्नात किया है। अकलंक देव महाराज के राजवार्त्तिक में कहे गये द्रव्यलक्षण से तो ग्रन्थकार की परिपूर्ण सहानुभूति है, ये द्रव्य के लक्षण सब धर्मादि में सुघटित होरहे हैं।

अब क्या उक्त चार पदार्थ ही द्रव्य हैं ? अथवा क्या कोई अन्य पदार्थ भी द्रव्य है ? ऐसा प्रश्न प्रवर्तने पर अन्य द्रव्य का उपादान करने के लिये सूत्रकार इस अगले सूत्र को कहते हैं —

जीवाश्च ॥२॥

जो जीव चुके हैं, जीव रहे हैं, जीवेंगे वे अनन्तानन्त जीव पदार्थ भी द्रव्य हैं। यों पांच ये और कहे जाने वाले काल के साथ सम्पूर्ण द्रव्य छह हो जाते हैं।

द्रव्याणीत्यभिसम्बन्धः। तत्र बहुत्ववचनं जीवानां वैविध्यख्यापनार्थं।

पूर्व सूत्र में कहे गये "द्रव्याणि" इसका विधेय दल की ओर सम्बन्ध कर लिया जाता है। अतः जीवों का उद्देश्य कर द्रव्यपन का विधान कर लिया जाय। उन जीवों में बहुवचनपना तो जीवों के अनेकपन को प्रकट करने के लिये है अर्थात्—अद्वैतवादियों के समान जीव एक ही नहीं है किन्तु संसारी मुक्त, या त्रस, स्थावर, सूक्ष्म बादर, आदि भेदों करके अपनी अपनी न्यारी न्यारी सत्ता को धार रहे अनन्तानन्त जीव हैं।

द्रव्याणि जीवा इत्येकयोगकरणं युक्तमिति चेन्न, जीवानामेव द्रव्यत्वप्रसंगात्। धर्मादीनामप्यधिकारात् द्रव्यत्वसंप्रत्यय इति चेन्न, द्रव्यशब्दस्य जीवशब्देनावबद्धत्वाद्धर्मादिभिः

सम्बन्धयितुमशक्तः। सत्यप्यधिकारे अभिप्रेतसम्बन्धस्य यत्नमन्तरेणाप्रसिद्धेः। च शब्दकरणा-त् तत्सिद्धिरिति चेत्, को विशेषः स्यादेकयोगकरणे ? योगविभागे तु स्पष्टा प्रतिपत्तिरिति स एवास्तु।

यहां कोई तर्क उठाते हैं कि पूर्ववर्त्ती "द्रव्याणि" और इस सूत्र को मिलाकर "द्रव्याणि जीवाः" इस प्रकार दोनों को जोड़कर एक सूत्र करना सूत्रकार को उचित था, दो सूत्र बनाने से और च शब्द डालने से गौरव होता है ? ग्रन्थकार समझाते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि जीवों के ही द्रव्यपन का प्रसंग आवेगा अर्थात्—जीव ही द्रव्य हो सकेंगे, धर्म आदिक चार या पांच पदार्थ द्रव्य नहीं हो सकेंगे।

यदि तर्की यों कहे कि धर्म आदिकों का अधिकार चला आ रहा है अतः एक योग होने पर भी धर्मादिकों के द्रव्यपन का भी साथ में समीचीन प्रत्यय हो जाता है और "द्रव्याणि" यह बहुवचन भी तो किसी न किसी रोग की औषधि है। आचार्य कहते हैं कि यह भी तो नहीं कहना क्योंकि एक योग करने पर द्रव्य शब्द जब जीव शब्द के साथ सर्वाङ्गीण बंध जायगा ऐसा होने से उस द्रव्य शब्द का धर्मादिकों के साथ सम्बन्ध नहीं किया जा सकता है, अधिकार चला आ रहा होते हुये भी अभीष्ट पदार्थ के साथ किसी विवक्षित पद के सम्बन्ध करने की विशेष प्रयत्न के बिना लोक व्यवहार या शास्त्रव्यवहार में प्रसिद्धि नहीं है, अतः जीवों को ही द्रव्यपना सिद्ध हो सकेगा। रहा "द्रव्याणि" यह बहुवचन तो बहुत से जीवों को न्यारे न्यारे स्वतन्त्र द्रव्यपन का विधान करते हुये अनन्तानन्त जीव द्रव्यों की सिद्धि कराने के लिये सफल है।

यदि तर्क करने वाले तुम यों कहो कि इस सूत्र में "च" शब्द करने से धर्मादिकों के उस द्रव्यपन की सिद्धि कर दी जायगी, यों कहने पर तो हम जैन कहते हैं कि ऐसी दशा में एक योग करने पर या दो सूत्र बनाने पर भला क्या अन्तर रहा ? अर्थात्—कुछ भी नहीं। साठ और तीन-बीसी का अर्थ एक ही है। प्रत्युत योगका विभाग कर दो सूत्र कर देने पर तो धर्मादिकों के द्रव्यपन की अधिक स्पष्ट प्रतिपत्ति हो जाती है इस कारण न्यारे दो सूत्र बनाकर वह योगविभाग करना ही अच्छा बना रहो यों "च" शब्द करना भी सार्थक हो जाता है।

किं पुनरनेन वा व्यवच्छिद्यते इत्याह—

कोई प्रश्न करता है कि प्रायः सभी सूत्र अनिष्ट हो रहे इतर धर्मों की व्यावृत्ति किया करते हैं, सूत्रकार ने इस सूत्र करके भला किसका व्यवच्छेद किया है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार समाधान को कहते हैं।

कल्पिताश्रित्तसन्ताना जीवा इति निरस्यते।
जीवाश्चेतीह सूत्रेण द्रव्याणीत्यनुवृत्तितः ॥१॥

यहां "जीवाश्च" इस सूत्र करके "द्रव्याणि" इस पूर्व सूत्र की अनुवृत्ति कर देने से बौद्धों द्वारा माने गये कल्पित चित्त सन्तान जीव हैं, इसका निराकरण कर दिया जाता है। अर्थात्—बौद्ध जन अन्वित द्रव्य को स्वीकार नहीं करते हैं असत् का उत्पाद और सत् का विनाश मानते हुये प्रति-

क्षण एक एक विज्ञान परिणाम को उपज रहा स्वीकार करते हैं, उन अनेक ज्ञान-आत्मक चित्तों के कल्पित समुदाय या त्रिकाल सम्बन्धी कल्पित क्षणिक क्षणों को सन्तान को जीव मान बैठे हैं, उसका निराकरण करने के लिये अनेक गुणों के आश्रय हो रहे परमार्थ-भूत जीवों को भी वास्तविक अन्वित द्रव्यपना इस सूत्र द्वारा जताया गया है मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

नह्यपरामृष्टभेदा निरन्वयविनश्वरचित्तक्षणा एव पूर्वापरीभूताः सन्ताना जीवाख्यां प्रतिपद्यंत इति युक्तं, यतस्तेषां संवृत्या द्रव्यव्यवहारानुरोधतः प्रमाणतः प्रसिद्धान्वयत्वात् । प्रमाणं पुनरन्वयप्रसाधकमेकत्वप्रत्यभिज्ञानं पुरस्तात्समर्थितमिति परमार्थसदेव द्रव्यत्वमनेन जीवानां सूचितं । ततः कल्पिताश्चित्तसन्ताना एव जीवा इत्येतन्निराकृतं वेदितव्यं ।

बौद्ध यों मान रहे हैं कि "अन्वय-रहित हो रहे विनाश-शील ऐसे विज्ञान परमाणुओंके क्षणिक क्षण ही वस्तुभूत हैं जो कि पहले पिछले समयों में आगे पीछे होचुके, हो रहे, हो गये इस ढङ्गसे स्वतन्त्र अकेले अकेले अपने अपने काल में हैं, जिस प्रकार भिन्न सन्तानों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है, उसी प्रकार एक सन्तान मानी जा रही स्वलक्षणों की लम्बी पंक्ति में एक दूसरे का कोई सम्बन्ध नहीं है, परस्पर में सर्वथा भेद पड़ा हुआ है। भेद पड़े होते हुये भी मिथ्या वासनाओं के अनुसार उस भेदका परामर्श नहीं किया गया है अतः समूल-चूल नष्ट हो गये, वर्तमान क्षण में वर्त रहे, और सर्वथा नवीन ढंग से उपजने वाले, ऐसे पहिले पिछले अनेक निरन्वय क्षणिक सन्तानी स्व में पड़े हुये भेद की नहीं विवक्षा करने पर जीव नामक संज्ञा को प्राप्त हो जाते हैं, अतः जीव पदार्थ कल्पित है, न्यारे न्यारे चित्तक्षण ही अकेले अकेले वस्तुभूत हैं।"

आचार्य कहते हैं कि यह बौद्धों का कहना युक्तियों से पूर्ण नहीं है, जिस कारण से कि उन जीव नामक सन्तानों का तुम्हारा यहां व्यवहार या झूठी कल्पना करके द्रव्यपन के व्यवहार की अनुकूलता से प्रमाणों द्वारा अन्वय प्रसिद्ध हो जायगा अर्थात्--जीवों में द्रव्यपना तुम संवृति से स्वीकार करोगे उसी समय समीचीन युक्तियों द्वारा पूर्वापर अनेक पर्यायों में अन्वितपना अच्छा सिद्ध कर दिया जायगा उस अन्वय को अच्छा साधने वाले एकत्व ग्राहक प्रत्यभिज्ञान के फिर प्रमाणपनका पहिले प्रकरणों में समर्थन किया जा चुका है, इस कारण जीवों का द्रव्यपना वास्तविक सत् ही है।

इस बात को इस सूत्र करके सूचित किया गया है और तैसा हो जाने से "कल्पित चित्त सन्तान ही जीव है" इस प्रकार के इस बौद्ध मन्तव्य का निराकरण कर दिया गया समझ लेना चाहिये "एकसन्तानगाश्चित्तपर्यायास्तत्त्वतोन्विताः । प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्मृत्पर्याया यथेदृशाः" इत्यादि पहिले वार्तिकों का अध्ययन करलो।

पृथिव्यादीन्येव द्रव्याणि न जीवास्तेषां तत्समुदायोत्थजीवत्कायात्मकत्वात्, चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुष इति वचनात् द्रव्यांतरत्वानुपपत्तेरित्यपरः, सोपि तेनैव पराकृत इत्यावेदयति ।

यहां चार्वाक बोल उठे कि पृथिवी आदिक ही चार द्रव्य हैं जीव कोई तत्वान्तरभूत द्रव्य नहीं है क्योंकि वे जीव तो उन पृथिवी, जल, तेज, वायु, के विशिष्ट समुदाय से उपजे हुये काय-आत्मक

हैं। हमारे ग्रन्थों में ऐसा कहा है कि चैतन्य नामक परिणति से विशिष्ट हो रहा यह शरीर ही आत्मा है, अतः जीवों को पृथिवी आदिक से निराला स्वतन्त्र द्रव्यपना युक्तियों से नहीं बन पाता है। अर्थात्- पिठी, गुड़, महुआ, पानी, इनके सड़ाने से मदशक्ति नवीन उपज जाती है, उस मद शक्ति से युक्त हो रहा मद्य उक्त चार पदार्थों से कोई निराला तत्व या द्रव्य नहीं है, इसी प्रकार "पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्वानि" "तत्समुदये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा तेभ्यश्चैतन्यं" यह चैतन्य के उपजने की पद्धति है।

उस चैतन्य से युक्त हो रही काय को ही स्थूल--बुद्धि व्यवहारी जन जीव कह देते हैं इस प्रकार कोई दूसरा पण्डित कह रहा है। ग्रन्थकार कहते हैं कि चार्वाक पण्डित भी तिस 'द्रव्याणि' के अधिकार पड़े हुये "जीवाश्च" सूत्र करके पराभव को प्राप्त कर दिया गया समझ लेना चाहिये, इस बात का ग्रन्थकार दूसरी वार्तिक द्वारा निवेदन किये देते हैं—

क्ष्मादिभूतचतुष्काच्च द्रव्यांतरतया गतिः ।
न तु देहगुणत्वादिरिति देहात् परे नराः ॥२॥

पृथिवी आदि चारों भूतों से द्रव्यांतरपने करके जीव की ज्ञप्ति हो रही है, बुद्धि या चैतन्य को देह का गुणपना आदि तो कथमपि नहीं है, इसको कहा जा चुका है। इस कारण शरीर से भिन्न जीव द्रव्य है, यह सिद्धान्त निर्णीत है।

पृथिव्यादिभ्यो द्रव्यांतरं जीव इति प्रागुक्तात्साधनाद्भिन्नलक्षणत्वादेर्विनिश्चयः। तथा देहस्य गुणः कार्यं वा चेतनेत्यपि "न विग्रहगुणो बोधः तत्रानध्यवसीयते" इत्यादेर्वा निरस्तत्वाच्च देहगुणत्वादिर्जीवानामतो भेदात् द्रव्यांतराण्येव जीवाः। एवं पंचास्तिकायद्रव्याणि धर्माधर्माकाशपुद्गलजीवाख्यानि प्रसिद्धानि भवंति ।

पहिले सूत्र के अवतार प्रकरणों में कहे जा चुके भिन्न लक्षणत्व, भिन्न प्रमाणवेद्यत्व, आदि हेतुओं करके इस बात का विशेषतया निर्णय कर लिया जाता है कि पृथिवी आदिकों से निराला द्रव्य जीव है अर्थात्—"विभिन्नलक्षणत्वाच्च भेदश्चैतन्यदेहयोः। तत्वान्तरतया तोयतेजोवदिति मीयते ॥ भिन्नप्रमाणवेद्यत्वादित्यप्येतेन वर्णितम्। साधितं बहिरन्तश्च प्रत्यक्षस्य विभेदतः ॥" इन वार्तिकों द्वारा जीव द्रव्य को पृथिवी आदिक से निराला तत्व साध दिया चुका है चार्वाक उस ग्रन्थ को पढ़ लें।

तथा देह का गुण हो रहा अथवा शरीर का कार्य हो रहा चैतन्य है, यह चार्वाकों का कहना भी 'न विग्रहगुणो बोधस्तत्रानध्यवसायतः। स्पर्शादिवत्स्वयं तद्वदन्यस्यापि तथा गतेः। तद्गुणत्वे हि बोधस्य मृतदेहेऽपि वेदनम्। भवेत्स्पर्शादिवद्बाह्यकरणाज्ञानतो न किम् ॥" इत्यादि वार्तिकों करके पूर्व प्रकरणों में निराकृत किया जा चुका है, अतः जीवों को देह का गुणपना, जीवित शरीर का गुणपना, पृथिवी आदिका साधारण गुणपना, मन का गुणपना, आदि सिद्ध नहीं होपाता है, इस कारण पृथिवी आदि से भिन्न होजाने से जीव पदार्थ न्यारे न्यारे स्वतंत्र द्रव्य हैं किसी की पर्याय या किसी के गुण नहीं हैं और इस प्रकार व्यवस्था होचुकने पर धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव संज्ञा वाले पांच अस्तिकाय द्रव्य प्रसिद्ध हो जाते हैं।

तानि पुनः—

वे द्रव्य फिर कैसे हैं ? इस प्रश्न के अनुसार द्रव्यों की विशेष प्रतिपत्ति कराने के लिये सूत्रकार अगले सूत्र को कहते हैं ।

नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥ ४ ॥

धर्म आदिक द्रव्य नित्य हैं अर्थात्—तीनों कालों में वर्त रहे सन्ते कभी नष्ट नहीं होते हैं । पर्यायों का नाश भले ही होजाय किन्तु परिणामी द्रव्य सदा विद्यमान रहते हैं । यदि द्रव्य ही नाश को प्राप्त होने लगते तो संसार में कभी देखने में नहीं आता । तथा धर्म आदिक द्रव्य अवस्थित हैं अर्थात्—अपने नियत संख्या के परिमाण का उल्लंघन नहीं करते हैं द्रव्य जितने हैं उतने ही रहते हैं, न एक घटता है और न एक बढ़ता है । सत् का विनाश नहीं होता है और असत् का उत्पाद नहीं होता है, धर्म द्रव्य एक है, अधर्म द्रव्य एक है, आकाश द्रव्य भी एक है, काल द्रव्य असंख्यातासंख्यात हैं, जीव द्रव्य स्वतंत्र होरहे अनन्तानन्त हैं, जीवों से अनन्त-गुणे पुद्गल द्रव्य हैं ये सब संख्यायें नियत हैं, कोई पोल नहीं है जैसे कि मोहमद (मुहम्मद) के अनुसार चाहे जितनी आत्मायें (रूयें) उपजा ली जाती हैं और चाहे जिनको नष्ट कर दिया जाता है ।

बौद्ध भी नियत संख्यावाले नित्य द्रव्योंको नहीं मानकर स्व-लक्षणों को क्षण-ध्वंसी व्यक्ती स्वीकार कर बैठे हैं । बात यह है कि द्रव्य तो अवस्थित हैं ही अन्य भी गुण, पर्याय, अविभागप्रतिच्छेद, स्वभाव, जिसके जिन जिन निमित्तों द्वारा जैसे जैसे कालत्रय में होने योग्य हैं वे भी सब प्रतिनियत हैं सर्वज्ञ के ज्ञान में जैसा जिसका परिणमन झलका है रेफमात्र उससे न्यून, अधिक, नहीं होसकता है । भोले लोग कह देते हैं कि दाने दाने पर छाप पड़ी हुयी है, हम कहते हैं कि दानों पर ही क्या सम्पूर्ण पृथिवी, जल, वायु, जीव, कालाणु, लोहा, चांदी, रेत, मल, बूरा, काठ, अक्षर, आदि सभी पर अपने अपने नियत स्वभावों की छाप पड़ी हुयी है, सर्वत्र कथंचित् भेद केवलान्वयी होकर ओत पोत घुस रहा है, गेंहू के एक दाने के हजारों एक एक एक चून के टुकड़ों पर और एक एक टुकड़े के अनन्त परमाणुओं पर तथा एक परमाणु द्रव्य के अनन्तानन्त गुणों पर एवं एक एक गुणकी अनन्त पर्यायों पर तथैव एक एक पर्यायके अनन्तानन्त अविभाग-प्रतिच्छेदों या स्वभावों पर छाप लग रही है "जं जस्स जम्हि देसे जेण विहाणेण जम्हि कालम्मि" इत्यादि ग्रन्थ करके श्री कार्तिकेय स्वामी ने बहुत अच्छा सिद्धान्त कर दिया है । एवं ये उक्त द्रव्य सभी रूपसे रहित हैं । रूपके कहने में उसके अविनाभावी रस आदिका भी ग्रहण होजाता है । भविष्य ग्रन्थ में अकेले पुद्गल को ही रूपी द्रव्य कह देंगे । अतः उससे शेष रहे द्रव्यों को रूपरहित समझाजाय ।

तद्भावाव्ययानि नित्यानि, नित्यशब्दस्य ध्रौव्यवचनत्वात् सर्वदेयत्तानिवृत्तेरवस्थितानि, न विद्यते रूपमेतेष्वित्यरूपाणि कुतस्तान्येवमित्याह ।

"तद्भावाव्ययं नित्यं" प्रत्यभिज्ञान के हेतु होरहे वह के वही भाव करके व्यय नहीं होते रहने को नित्य कहा जाता है। ये धर्म आदिक द्रव्य "तदेव इदम्" इस प्रत्यभिज्ञान के हेतु-भूत सहभावी गुणों करके या पर्याय और गुणों के अविष्वग्भाव पिण्डस्वरूप करके व्यय को प्राप्त नहीं होते हैं, नित्य शब्द ध्रुवपन का कथन कर रहा है "णिश् प्रापणे" धातु से ध्रुव अर्थ में त्य प्रत्यय कर नित्य शब्द बना लिया जाता है, सदा नियत संख्यावाले इतने परिमाणका उल्लंघन नहीं करने से ये द्रव्य अवस्थित कहे जाते हैं। ये द्रव्य अपने नियत प्रदेशों की संख्या का भी उल्लंघन नहीं करते हैं। इन द्रव्यों में रूप गुण विद्यमान नहीं है इस कारण ये अरूप माने जाते हैं। यहां कोई पूछता है कि ये धर्मादिक द्रव्य इस प्रकार उक्त तीन विशेषणों से किस प्रकार विहित समझे जांय ? ऐसी जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार उत्तर वार्त्तिकों को कहते हैं—

द्रव्यार्थिकनयात्तानि नित्यान्येवान्वितत्वतः ।
अवस्थितानि सांकर्यस्यान्योन्यं शश्वदस्थितेः ॥ १ ॥
ततो द्रव्यांतरस्यापि द्रव्यषट्कादभावतः ।
तत्पर्यायानवस्थानान्नित्यत्वे पुनरर्थतः ॥ २ ॥

द्रव्यार्थिकनय से धर्म आदिक (पक्ष) नित्य ही है (साध्य) तीनों कालसम्बन्धी गुण और पर्यायों के पिण्ड में परस्पर अन्वय बन चुका होने से (हेतु) इस अनुमान द्वारा धर्मादिकों को नित्य साध दिया गया है तथा धर्मादिक द्रव्य (पक्ष) अवस्थित हैं (साध्य) सर्वदा परस्पर में संकरपन की स्थिति नहीं होने से (हेतु) अर्थात्-एक दूसरे से न्यारे वर्त रहे ये द्रव्य परस्पर में मिल कर अपनी सत्ता को नहीं खो बैठते हैं और मिल मिलाकर अतिरिक्त द्रव्यों को नहीं उपजा लेते हैं, अपने अपने अगुरुलघु गुण द्वारा अन्यूनानतिरिक्त होकर अवस्थित रहते हैं, तिसी कारण छह द्रव्यों से अतिरिक्त अन्य द्रव्योंका अभाव है। द्रव्यार्थिक नय अनुसार परमार्थ रूपसे नित्य या अवस्थित होनेपर यह बात बिना कहे ही निकल आती है कि पर्याय-दृष्टि से वे धर्म आदिक अनित्य और अनवस्थित हैं इतर व्यावृत्ति या अतिव्याप्ति का निवारण करने पर ही विशेषण लगाना सफल समझा जाता है।

धर्मादीनि व्याख्यातानि पंच वक्ष्यमाणेन कालेन सह षडेव द्रव्याणि। तानि द्रव्यार्थिकनयादेशादेव नित्यानि, निर्बाधान्वितविज्ञानविषयत्वान्यथानुपपत्तेः। तत एवावस्थितानि तेषामन्योन्यसांकर्यस्याव्यवस्थानात् सर्वदा सप्तमद्रव्यस्याभावाच्चेति सूत्रकारवचनात्। पर्यायार्थादेशादनित्यानि तान्यनवस्थितानि चेति सामर्थ्यादवगम्यते।

धर्म आदिक पांच द्रव्यों का व्याख्यान किया जा चुका है काल द्रव्य को सूत्रकार आगे कहने वाले हैं यों ये पांच काल के साथ मिलकर छह ही द्रव्य हैं। वे छह द्रव्य द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा कथन कर देने से ही नित्य हैं क्योंकि अन्वितपने के बाधारहित विज्ञान का विषयपना अन्यथा यानी नित्य माने बिना बन नहीं सकता है। तिस ही कारण यानी द्रव्यार्थिक नय अनुसार ये द्रव्य अवस्थित हैं,

क्योंकि उनका परस्पर में संकर होजाने की व्यवस्था नहीं है। एक बात यह भी है कि सूत्रकार ने जब छह ही द्रव्यों का निरूपण किया है तो सदा कालत्रय में सातवें द्रव्य का अभाव होजाने से ये द्रव्य अवस्थित रहते हैं। हां पर्यायार्थिकनय से कथन करने के अनुसार वे धर्म आदिक अनित्य हैं और अनवस्थित हैं, यह सिद्धान्त कण्ठोक्त बिना यों ही शब्द--सामर्थ्य से जान लिया जाता है।

भावार्थ—द्रव्य और पर्यायोंका समुदाय वस्तु है जो कि प्रमाणका विषय है। वस्तु के अंशों को जानने वाले नय ज्ञान हैं। द्रव्यार्थिक नय वस्तु के नित्य, अवस्थित, अंशों को और पर्यायार्थिक अनित्य, अनवस्थित अंशों को जानता रहता है। द्रव्यें नित्य हैं, उनकी पर्यायें अनित्य हैं, इसी प्रकार द्रव्यें अवस्थित हैं, हां उनकी पर्यायें अनवस्थित हैं। ब्रह्मचर्य नामक पर्यायमें जैसे सत्यव्रत, अहिंसाव्रत, कृत कारित आदि नौ भंग, क्षमा आदि परिस्थितियों के अनुसार जैसे अनेक उत्तम अंश बढ़ जाते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक पर्याय में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, आदि का अनेक परवशताओं से न्यून, अधिक, अविभाग-प्रतिच्छेदों को लिये अंश अनवस्थित रहते हैं। अत्यन्त छोटे निमित्तसे भी पर्यायें अवस्था से अवस्थान्तर को प्राप्त होरहीं अवस्थित नहीं रह पाती हैं। परिशुद्ध प्रतिभा वाले विचारकोंकी समझ में यह सिद्धान्त सुलभतया आजाता है। न्यायकर्त्ता (हाकिम) ने अपराधी को एक घण्टा, एक दिन, महीना, छह महीना, तीन वर्ष, सात वर्ष, आदि के लिये जो कारावास का दण्ड दिया है वह तादृश अपराध की अपेक्षा अपराधी के भिन्न भिन्न भावों का उत्पादक है, इसी प्रकार एक रुपया, दस, बीस, पांचसौ, हजार, दस हजार आदि का दण्ड विधान भी अपराधी को न्यारी न्यारी परिणतियों का उत्पादक है, एक एक पैसे की न्यूनता या अधिकता उसी समय तादृश भावों की उत्पादक होजाती है। दीपक के प्रकाशमें मन्द कान्ति वाले कपड़े या भाण्डकी स्वल्प कान्तिका परिणमन एक गज, दसगज, बीसगज की दूरी पर न्यारा न्यारा है- यहां तक कि एक प्रदेश आगे पीछे होने पर मन्द चमक के अविभाग प्रतिच्छेदों की संख्या में अन्तर पड़ता रहता है। शिखा, मूछें भौंयें, आदि के बाल यद्यपि निर्जीव हैं फिर भी उनको कैंची या छुरा से काट देने पर मर्यादा तक फिर बढ़ जाते हैं यदि नहीं काटे जांय तो विलक्षण परिणति के अनुसार भीतर से नहीं निकल कर उतने ही मर्यादित बने रहते हैं।

कहां तक कहा जाय परिणामों का विचित्र नृत्य जितना अन्तः--प्रविष्ट होकर देखा जाता है उतना ही चमत्कार प्रतीत होता है, धन्य हैं वे सर्वज्ञदेव जिन्होंने सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिणतियों का प्रत्यक्ष कर अनेक परिणामों का हमें दिग्दर्शन करा दिया है कि अमुक वस्तु का क्या भाव है ? इसका तात्पर्य यही है। कि बाजारमें प्रत्येक वस्तु का मूल्य दिन रात न्यून अधिक होता रहता है इसमें भी बेचने और खरीदने--योग्य वस्तुओं के परिणमन तथा क्रेता, विक्रेताओं की आवश्यकता, अनावश्यकता अथवा सुलभता, दुर्लभता, उपयोगिता, अनुपयोगिता के अनुसार हुये परिणाम ही भाव माने गये हैं। मोक्षमार्ग में भी शुभ भावों की अतीव आवश्यकता है, भावोंको भी चीन्हने वाले व्यापारी के समान मुमुक्षु जीव भी झटिति आत्म--लाभ कर लेता है। कहां तक स्पष्ट किया जाय पदार्थोंके भावोंसे ही सिद्ध अवस्था

और जगत् की चमत्कार चित्र, विचित्र, परिणतियां अनादि से अनन्त काल तक हो रही हैं। अतः पर्यायों को अनवस्थित कहना समुचित ही है, नियत कारणोंसे ही प्रतिनियत पर्यायें ही बनेंगी जैसा कि सर्वज्ञ ज्ञान में झलक रहा है, इस दृष्टि से पर्यायों को अवस्थित कह देना भी बुरा नहीं है "अर्पितानर्पितसिद्धेः, तीन काल के जितने भी अक्षय अनन्तानन्त समय हैं उतने ही तो एक द्रव्य या एक एक गुण के अनन्तानन्त परिणाम होंगे और अधिक क्या चाहते हो ?

एतेन क्षणिकान्येव स्वलक्षणानि द्रव्याणीति दर्शनं प्रत्याख्यातं, धर्मादीनां प्रकृतद्रव्याणां नित्यत्वसिद्धेरन्यत्र प्रतीत्यभावात्। तथैकमेव द्रव्यं सन्मात्रं प्रधानाद्यद्वैतमेव वा नाना द्रव्याणां तत्रानुप्रवेशात्। परमार्थतोऽनवस्थितानि तानीत्यपि मतमपास्तं प्रतिनियतलक्षणभेदात्सर्वदा तेषामवस्थितत्वसिद्धेः।

द्रव्यों का नित्यपन और पर्यायों का अनित्यपन समझाने वाले इस कथन करके बौद्धों के इस दर्शन का प्रत्याख्यान कर दिया गया है कि स्वलक्षण ही द्रव्य हो रहे क्षणिक ही हैं।

अर्थात्—बौद्धों ने असाधारण, क्षणिक, परमाणु स्वरूप, स्वलक्षणों को ही द्रव्य माना है जो कि प्रत्येक क्षण में ठहरकर दूसरे क्षण में समूल-चूल नष्ट हो जाते स्वीकार किये हैं, आचार्य कहते हैं कि प्रकरण-प्राप्त धर्म आदिक द्रव्यों के नित्यपन की प्रमाणों से सिद्धि हो रही है, अन्य स्वलक्षण, चित्राद्वैत, आदि में प्रतीति होने का अभाव है, अतः बौद्ध दर्शन का प्रत्याख्यान हो जाता है।

तथा अद्वैत-वादियों ने एक ही केवल सत्–स्वरूप परमब्रह्म को द्रव्य माना है। अथवा कपिलों ने प्रकृतिका अद्वैत ही अचेतन द्रव्य स्वीकार किया है, अन्यमतियों ने भी ज्ञानाद्वैत, शब्दाद्वैत आदि स्वीकार किये हैं। अद्वैतवाद अनुसार अनेक द्रव्यों का उस अद्वैत में ही विचार करने के पीछे प्रवेश हो जाना माना है। ग्रन्थकार कहते हैं कि द्रव्य-रूप से नित्य और पर्याय-रूप से अनित्य कहने वाले इस प्रकरण से इन सबका निराकरण कर दिया जाता है, साथ में इस मत का भी खण्डन किया जा चुका समझो कि "वे द्रव्य वास्तविकरूप से अनवस्थित हैं" जब कि प्रत्येक में नियत होरहे लक्षणों के भेद से सदा उन द्रव्यों का अवस्थितपना सिद्ध है, तो वे द्रव्य अनवस्थित कथमपि नहीं हैं, पर्यायें भले ही अनवस्थित रहो।

अथारूपाणीति किं सामान्यतो वा विशेषतोऽभिधीयत इत्याशंकमानं प्रत्याह।

अब कोई शिष्य अच्छी आशंका कर रहा है कि सूत्रकार ने जो "अरूपाणि" कहा है वह क्या सामान्य रूपसे कहा गया है ? अथवा क्या विशेष रूप से धर्मादिकों को रूपरहित कहा गया है ? इस प्रकार आशंका करने वाले के प्रति ग्रन्थकार वार्तिक द्वारा समाधान को कहते हैं—

अरूपाणीति सामान्यादाह न स्वपदादतः।
रूपित्ववचनादग्रे पुद्गलानां विशेषतः॥ ३॥

धर्म आदिक पांच द्रव्य रूपरहित हैं, इस बातको सूत्रकारने सामान्यरूप से कहा है, अपवाद यानी विशेषरूप से नहीं। क्योंकि अगले सूत्र में पुद्गलों का विशेष स्वरूप से रूपसहितपन का वचन कहा जाने वाला है। पुद्गल के अतिरिक्त किसी भी द्रव्य में किंचित् भी रूप नहीं है।

न हि विद्यते रूपं मूर्तिर्येषां तान्यरूपाणीत्युत्सर्गतः षडपि द्रव्याणि विशेष्यंते, न पुनर्विशेषतस्तथोत्तरत्र पुद्गलानां रूपित्वविधानात्।

जिन द्रव्यों के रूप यानी मूर्ति विद्यमान नहीं है वे द्रव्य अरूप हैं, यों उत्सर्ग रूप से यानी

सामान्यरूप से छहों ही द्रव्य "अरूपाणि" इस विशेषण से विशिष्ट होरहे हैं किन्तु फिर विशेषरूप से कोई कोई ही द्रव्य या द्रव्यों के अन्तर्भेद स्वरूप कोई नियत द्रव्य ही अरूप नहीं है क्योंकि उत्तर ग्रन्थ में पुद्गलों के रूपसहितपन का विधान कर दिया जावेगा। यों धर्म, अधर्म, आकाश, जीव और काल ये सभी पांचों द्रव्य रूपरहित कह दी गयी हैं, कर्म और नो-कर्म से बंधे हुये संसारी जीवको अशुद्ध-पर्यायार्थिक नय से भले ही मूर्त कह दिया जाय इसमे हमारी कोई क्षति नहीं है, द्रव्यदृष्टि से सभी जीव अमूर्त हैं।

कश्चिदाह—धर्माधर्मकालाणवो जीवाश्च नामूर्तयो असर्वगतद्रव्यत्वात् पुद्गलवत् स्याद्वादिभिस्तेषामसर्वगतद्रव्यत्वाभ्युपगमान्नासिद्धो हेतुः, नाप्यनैकांतिकः साध्यविपक्षे गगने सुखादौ वा पर्याये तदसम्भवादिति। सोऽत्र प्रष्टव्यः का पुनरियं मूर्तिरिति? असर्वगतद्रव्य-परिणामो मूर्तिरिति चेत् तर्हि न सर्वगत द्रव्यपरिणामवन्तो धर्मादय इति साध्यमायातं तथा च सिद्धसाधनं।

कोई यहां वैशेषिक का एक-देशी कह रहा है कि धर्म, अधर्म, काल-अणु ये, और जीव (पक्ष) अमूर्त नहीं हैं (साध्य) अव्यापक द्रव्य होने से (हेतु) पुद्गल के समान (अन्वय दृष्टान्त) इस अनुमान में हेतु पक्ष में वर्त रहा होने के कारण असिद्ध हेत्वाभास नहीं है क्योंकि स्याद्वादियों ने उन धर्म आदिकों का असर्वगत द्रव्य होना स्वीकार किया है, भले ही लोक में व्याप रहे धर्म, अधर्म होंय किन्तु आकाश के समान सर्वव्यापक नहीं हैं, परिच्छिन्न परिमाण वाले द्रव्य अमूर्त नहीं होते हैं "परिच्छिन्न-परिमाणवत्वं मूर्तत्वं" तथा हम वैशेषिकों का हेतु व्यभिचारी भी नहीं है क्योंकि साध्यके विपक्ष हो रहे अमूर्त आकाश द्रव्य अथवा सुख, बुद्धि आदि पर्यायों में उस असर्वगतद्रव्यपन हेतु का असम्भव है। आचार्य कहते हैं कि यों कह रहा वैशेषिक यहां पूछने योग्य है कि बताओ भाई! तुम्हारे यहां यह मूर्ति फिर क्या पदार्थ माना गया है। यदि अव्यापक द्रव्य का परिणाम (अपकृष्ट परिमाण गुण) मूर्ति है, तो यों कहने पर हम जैन कहेंगे कि तब तो सर्वगत द्रव्यों के परिणामों को नहीं धार रहे ये धर्म आदिक हैं यह साध्य दल कहना प्राप्त हुआ और वैसा होने पर तुम वैशेषिकों के ऊपर सिद्धसाधन दोष लग बैठा। अर्थात्-जैसा हम जैन मान रहे हैं वैसा ही तुम साधरहे हो, नवीन कार्य कुछ नहीं कर रहे हो। साध्य तो प्रतिवादी को असिद्ध होना चाहिये तथा हम जैनों को अभीष्ट होरहे विषय पर साध्यसम हेतु नामका दोष उठाना हमें उचित नहीं दीखता है तुम उसको भी मन में समझलो। यहां परिणाम के स्थान पर "परिमाण" शब्द अच्छा जचता है।

अथ स्पर्शादिसंस्थानपरिणामो मूर्तिस्तद्भावादमूर्त्ता धर्मादय इति साध्यं तदानुमानबाधितः पक्षः कालात्ययापदिष्टश्च हेतुः। तथाहि--धर्मादयो न मूर्तिमन्तः पुद्गलादन्यत्वे सति द्रव्यत्वादाकाशवदित्यनुमानं विवादाध्यासितद्रव्याणाममूर्तित्वं साधयत्येव । सुखादिपर्यायैर्व्यभिचाराद्भागासिद्धत्वं हेतोरिति चेन्न, तेषामपक्षीकृतत्वात् ।

अब तुम वैशेषिक यदि स्पर्श आदि रचना--आत्मक परिणाम को मूर्ति मानोगे और उस मूर्ति का सद्भाव होने से धर्म आदिक द्रव्य अमूर्तिमान् नहीं हैं, यह साधा जायगा तब तो तुम्हारा पक्ष अनुमान प्रमाण से बाधित होजायगा और हेतु कालात्ययापदिष्ट यानी बाधित हेत्वाभास बन जायगा धर्म आदिक में स्पर्श आदि के सद्भाव का अभाव है यानी स्पर्श आदिक नहीं हैं 'पक्षे साध्याभावो बाधः' है, उसी बात को ग्रन्थकार स्पष्ट कर दिखलाते हैं कि धर्म आदिक द्रव्य (पक्ष) मूर्ति वाले नहीं हैं (साध्य) पुद्गल से भिन्न होते हुये द्रव्य होने से (हेतु) आकाश के समान (दृष्टान्त) यह निर्दोष अनुमान विवाद में अधिरूढ होरहे धर्म आदि द्रव्यों के अमूर्तपन को साध ही देता है, अतः इस निर्दोष अनुमान से वैशेषिकों का (या आर्यसमाजियों का) पक्ष बाधित होजाता है. यदि जैनों के ऊपर वैशेषिक यों दोष उठावें कि सुख, इच्छा आदि पर्यायों में तुम्हारा पुद्गल से भिन्नपन होते हुये द्रव्यपना हेतु विद्यमान नहीं है, अतः हेतु भागासिद्ध हेत्वाभास है, पक्ष के एक देश में नहीं रहने वाला हेतु भागासिद्ध हेत्वाभास कहा जाता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उन सुखादि पर्यायों को पक्ष नहीं किया गया है, पांच द्रव्योंको ही पक्ष कोटिमें डाला गया है, अतः भागासिद्ध दोष नहीं आता है।

कुतस्तेषाममूर्तित्वसिद्धिः ? साधनान्तरादित्यभिधीयते । सुखादयोऽप्यमूर्तद्रव्यपर्यायाः न मूर्तिमन्तः अमूर्तद्रव्यपर्यायत्वादाकाशपर्यायवत् । मूर्तिमद्द्रव्यपर्यायाणां रूपादीनां कथममूर्तित्वसिद्धिरिति चेन्न कथमपि तेषां स्वयं मूर्तिमत्त्वात् । मूर्त्यंतराभावात् तेषाममूर्तित्वं गुणत्वादेव सिद्धयति गुणानां निर्गुणत्वसाधनात् ।

यहां यदि कोई यों पूछे कि फिर उन सुख, ज्ञान, उत्साह, आदि पर्यायों का अमूर्तपना भला किससे साधा जायगा ? इस पर हमारा यह कहना है कि अन्य साधनों से सुखादिकों के अमूर्तपन की सिद्धि कर ली जाती है जैसे कि गूढ अंगार की अग्निको धूम से अतिरिक्त किसी अन्य हेतु से साध लिया जाता है सर्वत्र उस साध्य को साधने के लिये एक ही हेतु का ठेका नहीं है, दूसरे दूसरे हेतुओं द्वारा अन्य अनुमान उठा लिये जाते हैं। यहां सुखादिकों में यह अमूर्तपना यों साध लिया जाता है--कि अमूर्त द्रव्यों के पर्याय होरहे सुख आदिक भी (पक्ष) मूर्तिवाले नहीं हैं (साध्य), रूप आदि संस्थान परिणतियों से रहित होरहे अमूर्त द्रव्यों के पर्याय होने से (हेतु), आकाश द्रव्य की पर्याय के समान (अन्वय दृष्टान्त)। इस दूसरे अनुमान द्वारा सुख आदि पर्यायोंके अमूर्तपन को साध दिया जाता है।

यदि यहां वैशेषिक यों कहें कि 'हमारे यहां और स्याद्वादियों के यहां भी रूप में पुनः रूप, रस, आदि गुण नहीं माने गये हैं, रस में रूपरसादि गुण निर्गुण हुआ करते हैं, ऐसी दशा में हम पूछते हैं कि मूर्तिवाले पुद्गल द्रव्य की पर्याय होरहे रूप आदिकों के अमूर्तपन की सिद्धि भला किस प्रकार करोगे ? अभी तक के दो अनुमानों से तो रूप आदि गुण या काली, नीली, खट्टी, मीठी आदि पर्यायों के अमूर्तपन की सिद्धि नहीं होपाती है, दोनों हेतु रूप आदि सहभावी पर्यायों या क्रमभावी पर्यायों में नहीं वर्तते हैं' यों वैशेषिक के कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि किसी भी प्रकारसे उन रूपादिकों के अमूर्तिपन की सिद्धि नहीं है क्योंकि वे स्वयं मूर्तिमान् पदार्थ हैं पुद्गल जैसे स्वयं मूर्तिमान हैं पुद्गल से कथंचित् अभिन्न होरहे रूप आदि पर्याय भी उसी प्रकार मूर्त हैं, हां प्रकरणप्राप्त उन रूप आदिकों में दूसरे अप्रकृत रूपादि संस्थान स्वरूप मूर्ति के नहीं होने से उन रूप आदिकों के अमूर्तपना तो गुणपना हेतु से ही सिद्ध होजाता है क्योंकि "द्रव्याश्रया निर्गुणाः गुणाः" गुणों के गुणरहितपन की सिद्धि प्रसिद्ध है।

भावार्थ—अघटो घटः ? यहां नञ् का अर्थ यदि अन्योन्याभाव है तब तो यह प्रयोग अशुद्ध है जब कि घट घटस्वरूप है तो वह तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिता वाले घट–भेद से युक्त कथमपि नहीं होसकता है "घटो घटः" यह समीचीन ज्ञान "अघटो घटः" इस बुद्धि को नहीं होने देता हां यदि "अघटो घटः" में नञ् का अर्थ अत्यन्ताभाव है तब तो यह प्रयोग ठीक है, संयोग सम्बन्धसे घटवान होरहा भूभाग अघट नहीं होसकता है किन्तु घट के ऊपर या भीतर कोई दूसरा घट संयोग सम्बन्ध से नहीं धरा हुआ है अतः दूसरे घटसे रहित होरहा यह घट अघट है। इसी प्रकार रूप आदिक स्वयं मूर्त हैं, हां रूप आदि में दूसरे मूर्ति पदार्थों के नहीं वर्तने से वे रूप आदि गुण अमूर्त सध जाते हैं। आत्मा ज्ञानवान् है, ज्ञान ज्ञानवान् नहीं है। इसीप्रकार मूर्त द्रव्यों की पर्यायों में अमूर्तपना गुण--पर्यायत्व हेतु से साध लिया जाय। यहां बात यह है कि पुद्गल द्रव्य गुणवान् होते हुये मूर्त हैं, पुद्गल के गुण या उनकी पर्यायें मूर्त नहीं हैं। ग्वालिया गोमान् है गायें दूधवालीं हैं, किन्तु दूध स्वयं गोमान् या दुग्धवान् नहीं है, दण्डी पुरुष डंडे वाला है, स्वयं डंड तो डंडे वाला नहीं है, कथंचित् तादात्म्य मानने पर पुद्गल द्रव्य के गुण या पर्यायें भी मूर्त होजाते हैं, पुद्गल की स्कन्ध या अणुयें ये पर्यायें तो मूर्त हैं ही। मूर्त द्रव्य के साथ बंध जाने पर संसारी जीव को भी मूर्त कह दिया जाता है, शेष चारद्रव्य और उनके गुण या पर्यायें अमूर्त ही हैं यहां भी स्याद्वाद सिद्धान्त अनुसार कथंचित् मूर्तपना लगाना तो अज्ञों की चेष्टा करना है, सर्वत्र बिना विचारे 'स्यात्' को लगाने वाला पुरुष अपना उपहास कराता है।

एतेन सामान्यविशेषसमवायानां सदृशेतरपरिणामाविष्वग्भावलक्षणानां मूर्तिमद्द्रव्याश्रयाणां कर्मणां च मूर्तत्वममूर्तित्वं चिंतितं बोद्धव्यं। तेषाममूर्तित्वमेवेत्यपि प्रत्याख्यातं। तेन यदुक्तं गुणकर्मसामान्यविशेषसमवाया अमूर्तय एवेति तदयुक्तं, प्रतीतिविरोधात्।

इस उक्त कथन करके इस बात का भी विचार किया जा चुका समझ लेना चाहिये कि सदृशपरिणाम–स्वरूप सामान्य पदार्थ (जाति) और विसदृश परिणाम स्वरूप विशेष पदार्थ तथा अविष्वग्भाव यानी अपृथग्भाव (कथंचित् तादात्म्य) स्वरूप समवाय पदार्थ का भी मूर्तपन और अमूर्तपन है एवं मूर्तिमान् पुद्गल या संसारी जीव द्रव्यों के आश्रित होरहे गमन, भ्रमण, आदि

क्रियाओं का भी मूर्ति-सहित-पना और मूर्तिरहितपना विचार लिया गया समझ लेना चाहिये अर्थात्-वैशेषिकों ने द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य, विशेष, समवाय, यों छह भाव पदार्थ स्वीकार किये हैं, पृथिवी, जल, तेज, वायु, और मन इन पांच अपकृष्ट--परिमाण वाले मूर्त द्रव्योंको छोड़ करके अवशेष चार व्यापक द्रव्य तथा गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव भी अमूर्त पदार्थ माने गये हैं। वैशेषिकों के छह पदार्थों की परीक्षा के अवसर पर [illegible] गया है। द्रव्य, गुण और कर्मों की अच्छी विवेचना की गयी है, नित्य एक और अनेक में रहने वाला ऐसा कोई सामान्य पदार्थ नहीं है, हां सदृश परिणाम या पूर्वापर विवर्तों में व्यापने वाला परिणाम ही सामान्य (जाति) है, तिर्यक् और ऊर्ध्वता उसके भेद हैं। तथा अन्त में होने वाला और नित्य द्रव्य में वर्त रहा विशेष पदार्थ प्रमाणों से सिद्ध नहीं है, हां विलक्षण परिणाम स्वरूप विशेष पदार्थ समुचित है, पर्याय और व्यतिरेक जिसके भेद हो सकते हैं। समवाय भी अयुत--सिद्धों का सम्बन्ध होरहा नित्य संसर्ग नहीं है किन्तु कथंचित् तादात्म्य स्वरूप ही समवाय है। जैन सिद्धान्त अनुसार छहों द्रव्यों में सामान्य, विशेष, समवाय विद्यमान हैं।

हां परिस्पन्द रूप क्रियायें तो जीव और पुद्गल दो द्रव्यों में ही हैं। प्रकरण में यह कहना है कि मूर्त द्रव्यों के गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तो मूर्त हैं क्योंकि मूर्त द्रव्य से कथंचित् अभिन्न हो रहे वे मूर्त ही तो कहे जायंगे, हां इन गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवायों में पुनः दूसरे गुण, कर्म, सामान्य, आदिक नहीं रहते हैं और रूप आदि संस्थान--परिणाम भी नहीं है अतः ये अमूर्त भी हैं अमूर्त द्रव्यों के गुण या पर्यायें सब अमूर्त ही हैं ऊर्ध्वगमन काल में मुक्त जीवों की क्रिया भी अमूर्त ही है, अतः जिन वैशेषिकों के यहां उन गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवायों का अमूर्तपना ही जो बखाना गया है इस कथन से उस अमूर्तपन के एकान्त का भी खण्डन हो चुका समझ लेना चाहिये। तिस कारण जो वैशेषिकोंने यह कहा था कि गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय ये पांच पदार्थ अमूर्त ही हैं, इस प्रकार उनका वह कथन अयुक्त है क्योंकि प्रतीतियों से विरोध आता है। देवदत्त के पुत्र का शरीर जैसे देवदत्त का लड़का है उसी प्रकार उस शरीर के हाथ, पांव मस्तक, पेट, को भी देवदत्त का लड़कापन प्राप्त है, मिश्री मीठी है उसका मीठा रस भी मीठा है, हां मीठे रस में पुनः दूसरा मीठा रस नहीं घोल दिया गया है अतः उसको भले ही रसान्तर से रहित कह दिया जाय एतावता मिश्री का रस एकान्त रूप से नीरस नहीं है।

आत्मा ज्ञानवान् है उसका ज्ञान भी ज्ञानवान् है, जिनदत्त की आत्मा पण्डित है साथ में जिनदत्त का शरीर उस शरीर का हाथ, पांव, पेट, मुख, अवयव भी पण्डित है, असद्भूत व्यवहार नय से तो पण्डित की पगड़ी या दुपट्टा भी पण्डित है तभी तो उन की पगड़ी का विनय करते हैं। द्रव्यनिक्षेप के भेदों का विचार कीजिये। अतः प्रतीति के अनुसार वस्तु की व्यवस्था स्वीकार कर लेनी चाहिये कुत्सित आग्रह करने का परिपाक अच्छा नहीं है।

अथोत्सर्गतः पुद्गलानामप्यरूपित्वप्रसक्तौ तदपवादार्थमिदमाह ।

अब सूत्रकार उत्सर्ग यानी सामान्य विधि से पुद्गलों के भी रूप-रहितपन का प्रसंग प्राप्त होने पर उसका अपवाद (प्रतिषेध या विशेष) निरूपण करने के लिये इस अगले सूत्र को कहते हैं—

रूपिणः पुद्गलाः ॥५॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

पुद्गल द्रव्य रूपवाले होते हैं अर्थात्—रूप रसादि संस्थान परिणाम वाले पुद्गल द्रव्य मूर्त हैं अतः अपवाद को टालकर उत्सर्ग विधियां प्रवर्तती हैं। यों पुद्गल के अतिरिक्त शेष पांच द्रव्यों में पूर्व सूत्र अनुसार अरूपना समझा जाय।

रूपशब्दस्यानेकार्थत्वेपि मूर्तिमत्पर्यायग्रहणं, शास्त्रसामर्थ्यात्। ततो रूपं मूर्ति-रिति गृह्यते रूपादिसंस्थानपरिणामो मूर्ति-रिति वचनात् गुणविशेषवचनग्रहणं वा, रसादीनां तदविनाभावात्तदंतर्भूतत्वादग्रहणाभावात्। रूपमेतेष्वस्तीति रूपिण इति नित्ययोगे कथंचिद्-व्यतिरेकिणां रूपतद्वतामिति, पुद्गला इति बहुवचनं भेदप्रतिपादनार्थं तद्देवं।

रूप शब्द के अनेक अर्थ होने पर भी यहां प्रकरण अनुसार मूर्तिमान् पर्याय को कहने वाले रूप शब्द का ग्रहण है क्योंकि अर्हन्तभगवान् करके कहे गये और गणधर देव करके धारण किये गये शास्त्र की सामर्थ्य से अर्थ यह लब्ध हो जाता है कि स्वभाव, अभ्यास, श्रवण तादात्म्य आदि ये रूप शब्द के अर्थ अभीष्ट नहीं हैं, तिस कारण रूप का अर्थ "मूर्ति" यह ग्रहण किया जाता है। रूप, रस आदि संस्थान परिणाम मूर्ति हैं इस प्रकार शास्त्रों में वचन है अथवा गुण विशेष को कथन करने वाले रूप शब्द का यहां ग्रहण है जो कि गुण चक्षुः द्वारा ग्रहण करने योग्य है या काली, नीली, आदि पर्यायों से परिणत होता है।

यहां रूप शब्द उपलक्षण है अतः उस रूप के साथ अविनाभाव सम्बन्ध हो जाने से उस रूप में ही अन्तर्भूत हो जाने के कारण रस, गन्ध आदिकों के नहीं ग्रहण हो सकने का अभाव है अर्थात्—रूप के अविनाभावी सभी रस आदिक परिणाम रूप का ग्रहण करने से पकड़ लिये जाते हैं। इन पुद्गलों में रूप विद्यमान है यों विग्रह कर कथंचित् भेद को धार रहे रूप और उस रूप वाले पुद्गलों का नित्य योग होने पर रूप शब्द से मत्वर्थीय इन् प्रत्यय करते हुये "रूपिणः" यह बहुवचन शब्द बन जाता है।

सूत्रकार ने उद्देश्य दल में "पुद्गलाः यह जस् विभक्ति वाला बहुवचनान्त रूप तो पुद्गल के भेदों की प्रतिपत्ति कराने के लिये कहा है अर्थात्—अणु, स्कन्ध, या परमाणु, संख्यातवर्गणा असंख्यातवर्गणा, आहारवर्गणा भाषावर्गणा आदि पुद्गल के अनेक भेद हैं। तिस कारण इस प्रकार होने पर जो सूत्रकार का अभिप्राय ध्वनित हुआ उसको वार्त्तिक द्वारा यों समझो कि—

अरूपित्वापवादोऽयं रूपिणः पुद्गला इति ।
रूपं मूर्तिरिह ज्ञेया न स्वभावोखिलार्थभाक् ॥१॥
रूपादिपरिणामस्य मूर्तित्वेनाभिधानतः ।
स्पर्शादिमत्त्वमेतेषामुपलक्ष्येत तत्त्वतः ॥२॥

"रूपिणः पुद्गलाः" यह जो सूत्र है सो पूर्वसूत्र में कहे जा चुके पुद्गल के अरूपीपन का अपवाद है यहां प्रकरण में रूप का अर्थ मूर्ति समझना चाहिये । सम्पूर्ण अर्थों में प्राप्त होरहा स्वभाव तो रूप का अर्थ नहीं है अर्थात्—रूप का अर्थ यदि स्वभाव या स्वरूप पकड़ लिया जाय तब तो सम्पूर्ण पदार्थ या सम्पूर्ण द्रव्य गुण, पर्यायें, रूपी बन बैठेंगी । अन्य आकर ग्रन्थों में रूप आदि परिणाम को मूर्तिपन करके कथन किया है वस्तुतत्त्व रूप से इन पुद्गलों को उपलक्षणों द्वारा स्पर्श आदि से सहितपना समझ लिया जाता है यानी रूपिणः कहने से रसवन्तः, गन्धवन्तः इत्यादि सब पौद्गलिक गुणों से सहितपना जान लिया जाय । संक्षिप्त सूत्र में अनेक गुणों का नाम कहां तक गिनाया जा सकता है ?

अथ षण्णामपि द्रव्याणां नानाद्रव्यत्वमाहोस्विदेकैकद्रव्यत्वमुत केषांचिन्नानाद्रव्यत्वमित्याशंकायामिदमाह ।

कोई शिष्य श्री उमास्वामी महाराज के प्रति शंका उठाता है कि छहों भी द्रव्यों को क्या प्रत्येक के अनेक द्रव्यपना है ? अथवा क्या छहों द्रव्य एक एक द्रव्य स्वरूप ही हैं ? कि वा कोई कोई ही नाना द्रव्य हैं ? इस प्रकार आशंका होने पर सूत्रकार इस अगले सूत्र को स्पष्ट कहे देते हैं—

आ आकाशादेकद्रव्याणि ॥ ६ ॥

आकाशपर्यन्त एक एक द्रव्य हैं अर्थात्—धर्मद्रव्य एक ही द्रव्य है और अधर्म द्रव्य भी एक ही है तथा आकाश द्रव्य एक ही है, शेष द्रव्य अनेक होंगे यह परिशेषन्याय से लब्ध होजाता है ।

अभिविधावाङ्प्रयोगः । एकशब्दः संख्यावचनस्तत्संबंधाद् द्रव्यस्यैकवचनप्रसंग इति चेन्न, धर्माद्यपेक्षया बहुत्वसिद्धेः । एकं च द्रव्यं च तदेकद्रव्यं एकद्रव्यं चैकद्रव्यं च एकद्रव्याणीति धर्माद्यपेक्षया बहुत्वं न विरुध्यते । एकैकमस्तु लघुत्वात् प्रसिद्धत्वाद्द्रव्यमसेरिति चेन्न वा द्रव्यापेक्षयैकत्वख्यापनार्थत्वादेकद्रव्याणीति वचनस्य पर्यायार्थादेशाद्बहुत्वप्रतिपत्तेः ।

इस सूत्र में अभिविधि अर्थ में आङ् का प्रयोग किया गया है "तत्सहितोऽभिविधिः" यों प्रयुज्य-मान आकाश का भी ग्रहण हो जाता है। यदि आङ् का अर्थ मर्यादा होता तो आकाश छूट जाता। यहां सूत्र में एक शब्द संख्या अर्थ को कह रहा है। इस पर किसी का प्रश्न है कि यह एक शब्द संख्या को कह रहा है तो उस संख्या-वाचक एक शब्द के साथ सम्बन्ध हो जाने से द्रव्य शब्द के भी एक वचन हो जाने का प्रसंग आवेगा ? ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि धर्म आदिक कति-पय द्रव्यों की अपेक्षा करके द्रव्य शब्द के बहुवचनपना सिद्ध है, एक हो रहा और जो द्रव्य है, यों विग्रह कर कर्म-धारय वृत्ति अनुसार "एक द्रव्य" शब्द को एक वचनान्त बनाओ फिर एक द्रव्य (धर्म) और एक द्रव्य (अधर्म) तथा तीसरा एक द्रव्य (आकाश) यों विग्रह कर एक-शेष-वृत्ति द्वारा "एक द्रव्याणि" यह साधु शब्द बन जाता है, धर्म आदिक तीन द्रव्यों की अपेक्षा बहुवचन का प्रयोग करना विरुद्ध नहीं पड़ता है।

यहां कोई आक्षेप करता है कि "एक द्रव्याणि" ऐसा नहीं कह कर 'एकैकं' इतना ही विधेय दल रहो क्योंकि लाघव गुण है, द्रव्यों का प्रकरण चल रहा है, तथा लोक में आकाश आदिक द्रव्य रूप से प्रसिद्ध ही हैं। इस कारण द्रव्य की ज्ञप्ति बिना कहे स्वयं ही हो जायगी, सूत्र में द्रव्य का ग्रहण करना व्यर्थ है ? ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना, द्रव्य शब्द व्यर्थ नहीं है क्योंकि द्रव्य की अपेक्षा करके एकपन की प्रसिद्धि कराने के लिये 'एक द्रव्याणि' ऐसा सूत्रकार का वचन है, हां पर्यायार्थिकनय अनुसार कथन करने से बहुपने की प्रतिपत्ति होजाती है अर्थात्—धर्म, अधर्म, आकाश, ये द्रव्य एक एक ही हैं, किन्तु इनकी सहभावी या क्रमभावी पर्यायें बहुत हैं।

एकसंख्याविशिष्टानीत्येकद्रव्याणि सूत्रयन्।
अनेकद्रव्यतां हन्ति धर्मादीनामसंशयम् ॥ १ ॥
आ आकाशादिति ख्यातेः पुद्गलानां नृणामपि।
कालाणूनामनेकत्वविशिष्टद्रव्यतां विदुः ॥ २ ॥

"एकद्रव्याणि" यहां मध्यम पदलोपी समास करके या धर्म से विशिष्टपन का लक्ष्य कर एकत्व संख्या से विशिष्ट होरहे ये एक एक द्रव्य हैं, इस प्रकार सूत्रद्वारा सूचन कर रहे श्री उमास्वामी महा-राज तीन धर्मादि द्रव्यों के अनेक द्रव्यपन को संशयरहित नष्ट कर देते हैं। और आकाश पर्यन्त इस प्रकार सूत्रकार द्वारा उत्कृष्ट कथन कर देने से तो पुद्गल और जीवों के भी तथा कालाणुओं के अने-कत्वविशिष्ट द्रव्यपन को विद्वान् समझ लेते हैं।

आ आकाशादेकत्वसंख्याविशिष्टान्येकद्रव्याणीति सूत्रयन् केवलं द्रव्यापेक्षयानेक-द्रव्यतामेषामपास्यति किं तर्हि ? जीवपुद्गलकालद्रव्याणामेकत्वं च ततोनेकत्वविशिष्टद्रव्यता-मेषां वार्तिककारादयो विदुः। कथमिति चेत्, उच्यते।

आकाश पर्यन्त एकत्व संख्या से विशिष्ट होरहे एक एक द्रव्य हैं, इस प्रकार सूत्र करते हुये उमास्वामी महाराज उन धर्मादिकों के द्रव्य-अपेक्षा केवल अनेकद्रव्यपन का ही निराकरण नहीं करते हैं किन्तु साथ ही जीव द्रव्य, पुद्गल द्रव्य और कालद्रव्यों के एकपन का भी खण्डन कर देते हैं। [illegible] आदि उत्कृष्ट विद्वान् इन जीव पुद्गल कालाणुओं के अनेकत्व विशिष्ट द्रव्यपन को समीचीन जान रहे हैं, साथ ही सूत्र अनुसार धर्म, अधर्म, और आकाश का एक एक द्रव्यपना निर्णीत कर चुके हैं। यहां यदि कोई यों पूछे कि इस प्रकार कैसे निर्णीत कर चुके हैं ? यों कथन करने पर तो ग्रन्थकार करके यह युक्ति कही जा रही है कि—

एकद्रव्यमयं धर्मः स्यादधर्मश्च तत्त्वतः।
महत्त्वे सत्यमूर्तत्वात्खवत्तत्सिद्धिवादिनाम् ॥ ३ ॥

यह धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य (पक्ष) एक द्रव्य हैं। (साध्य) तत्त्व स्वरूप से महान् यानी महापरिमाण वाले होते सन्ते अमूर्त होने से (हेतु)। अत्यन्त परोक्ष उस आकाश की सिद्धि को कहने वाले मीमांसक नैयायिक, सांख्य, वैशेषिक आदि वादियों के यहां आकाश के समान (अन्वय दृष्टान्त) अर्थात्—वैशेषिकों के महत् परिमाण वाले आकाश को एक द्रव्य स्वीकार किया है, इसी प्रकार धर्म और अधर्म भी एक एक द्रव्य हैं।

महत्त्वादित्युच्यमाने पुद्गलस्कन्धैर्व्यभिचारो मा भूदित्यमूर्तत्ववचनं, अमूर्तत्वादित्युक्ते कालाणुभिर्वादिनः सुखादिभिः प्रतिवादिनोऽनेकांतो मा भूदिति महत्त्वविशेषणं। न चामूर्तत्वमसिद्धं धर्माधर्मयोः पुद्गलादन्यत्वे सति द्रव्यत्वादाकाशवदिति तत्साधनात्। नापि महत्त्वं त्रिजगद्व्यापित्वेन साधयिष्यमाणत्वात्। ततो निरवद्यो हेतुः।

महत्त्वे सति अमूर्तत्व हेतु यह निर्दोष है यदि महत्त्वात् इतना ही कह दिया जाता तो पुद्गल-निर्मित स्कन्धों के साथ व्यभिचार होजाता। वह व्यभिचार नहीं होय इस लिये अमूर्तपन का कथन किया है, अर्थात्—पुद्गल के नभोवर्गणा, महास्कन्धवर्गणा, सुमेरु, स्वयंप्रभाचल पर्वत, स्वयंभूरमण समुद्र, श्रेणीबद्धविमान आदि स्कन्ध महान् हैं। किन्तु अमूर्त नहीं हैं, अतः पुद्गल की स्कन्ध-स्वरूप अनेक पर्यायों में एक द्रव्यपन नहीं ठहराया जा सकता है। यदि अमूर्तत्वात् इतना ही हेतु कह दिया जाता तो वादी विद्वान् जैनों के यहां कालपरमाणुओं या सिद्ध आत्माओं करके व्यभिचार हो जाता तथा इस समय प्रतिवादी बन रहे नैयायिक या मीमांसक के यहां अमूर्त माने गये सुख,इच्छा, आदि करके व्यभिचार होजाता। वह व्यभिचार नहीं होय इस लिये हेतु में महत्त्व नामक विशेषण डाला गया है।

भावार्थ—जैनों के कालाणु और सिद्ध जीवों को अमूर्त माना गया है, किन्तु महा परिमाण वाले नहीं होने से ये एक द्रव्य नहीं हैं। कालाणुयें तो असंख्यात हैं, और सिद्ध अनन्तानन्त हैं। प्रतिवादियों की अपेक्षा काल करके व्यभिचार नहीं होगा क्योंकि वे वैशेषिक या नैयायिक काल द्रव्य को

महापरिमाण वाला और अमूर्त मानते हुये प्रसन्नता पूर्वक एकद्रव्य स्वीकार कर बैठे हैं, अतः उनके यहां अमूर्त होरहे सुख, ज्ञान, क्रिया आदि करके हुये व्यभिचार की निवृत्ति के लिये महापरिमाण यहां विशेषण देना सफल है, धर्म और अधर्म द्रव्य में अमूर्तपना हेतु ठहर रहा है, अतः स्वरूपासिद्ध नहीं है, देखिये धर्म और अधर्म (पक्ष) अमूर्त हैं (साध्य) क्योंकि पुद्गल से भिन्न होते सन्ते द्रव्य हैं। (हेतु) आकाश के समान (अन्वयदृष्टान्त)। इस अनुमान से उस अमूर्तपन हेतु को साध दिया जाता है तथा हेतु का महत्त्व विशेषण भी असिद्ध नहीं है, पक्ष में ठहर जाता है, कारण कि तीन

जगत् में व्यापक हो रहे-पन करके धर्म और अधर्म में महापरिमाण को भविष्य में साध दिया जावेगा तिस कारण यह महापरिमाण वाले होते हुये अमूर्तपना हेतु निर्दोष है, इसमें कोई हेत्वाभास दोष नहीं आता है।

खमुदाहरणमपि न साध्यसाधनधर्मविकलं तत्सिद्धिवादिनां, तदेकद्रव्यत्वस्य साध्यधर्मस्य च महत्त्वामूर्तत्वस्य तत्त्वतस्तत्र प्रसिद्धत्वात्। गगनासत्त्ववादिनां प्रति तस्य तथात्वेनाग्रे साधनाद्धर्माधर्मद्रव्यवत्। तत एव नाश्रयासिद्धो हेतुस्तदाश्रयस्य धर्मस्याधर्मस्य च प्रमाणेन सिद्धत्वात्।

उक्त अनुमान में उस आकाश की सिद्धि को स्पष्ट कहने वाले वादियों के यहां आकाश उदाहरण भी साध्यरूप धर्म और साधन स्वरूप धर्म से रीता नहीं है, क्योंकि उस आकाश में उसके एकद्रव्यपन स्वरूप साध्यधर्म की और तत्त्व रूप से महान् होते हुये अमूर्तपन स्वरूप साधन धर्म की प्रसिद्धि हो रही है। हां गगन का सद्भाव नहीं मानने--वाले चार्वाक आदि वादियों के प्रति उस आकाश को तिस प्रकार साध्य--सहितपन और हेतुसहितपन करके आगे ग्रन्थ में साध दिया जायगा जैसा कि यहां धर्म और अधर्म द्रव्य को, तैसा एक द्रव्यपना और महान् होते हुये अमूर्तपना साध दिया जाता है। तिस ही कारण से यह हेतु आश्रयासिद्ध भी नहीं है। क्योंकि उस हेतु के आधारभूत धर्म और अधर्म की प्रमाण करके सिद्धि हो चुकी है, "प्रसिद्धो धर्मी" ऐसा सूत्र है। 'पक्षे पक्षतावच्छेदकाभाव आश्रयासिद्धिः" खर--विषाण आदि असत् पदार्थों में कोई भी वास्तविक स्वकीय धर्म नहीं रहता है यों पक्ष में पक्ष के धर्म का नहीं रहना आश्रयासिद्धि दोष है।

नानाद्रव्यमसौ नानाप्रदेशत्वाद्धरादिवत्।
इत्ययुक्तमनेकांतादाकाशेनैकता हता ॥ ४ ॥
तस्य नानाप्रदेशत्वसाधनादश्रतो नयात्।
निरंशस्यास्य तत्सर्वमूर्तद्रव्यैरसंगतिः ॥ ५ ॥

यदि कोई पण्डित इस हेतु में सत्प्रतिपक्ष दोष उठाता हुआ यों दूसरा अनुमान बनावे कि वह धर्म या अधर्म (पक्ष) अनेक अनेक द्रव्य हैं, (साध्य) अनेक प्रदेशवाले होने से (हेतु) पृथिवी, जल, आदि द्रव्यों के समान (अन्वय दृष्टान्त)। आचार्य कहते हैं कि यह कहना अयुक्त है क्योंकि एक-

पन को हरलेनेवाले या एकता को धारने वाले आकाश करके व्यभिचार होजाता है। अर्थात्—आकाश अनेक प्रदेशवान् है, किन्तु नाना द्रव्य नहीं है, एक द्रव्य है। अगले "आकाशस्यानन्ताः" इस ग्रन्थ से अथवा नय युक्तियों से उस आकाश का अनेक प्रदेश सहितपना साध दिया जायगा। इस अंशरहित आकाश को उन सम्पूर्ण मूर्त द्रव्यों के साथ संगति नहीं होसकती है।

अर्थात्—वैशेषिकों ने आकाश को विभु द्रव्य माना है "सर्वमूर्तिमद्द्रव्यसंयोगित्वं विभुत्वं" पृथिवी, जल, तेज, वायु, और मन इन सम्पूर्ण मूर्तिमत्द्रव्यों के साथ संयोग रखने वाला पदार्थ विभु माना गया है। यदि वैशेषिक आकाश के अंशों को स्वीकार नहीं करेंगे तो निरंश आकाश भला बम्बई, कलि-काता, यूरप, अमेरिका, स्वर्ग- नरक आदि दूर दूर सभी स्थलों पर विराज रहे मूर्तिमान द्रव्यों के साथ कैसे संयुक्त हो सकेगा ? अंशों से सहित होरहा बांस या नापने का गज तो नाना देश में फैल रहे भींत या वस्त्रों पर संयुक्त होजाता है, किन्तु निरंश परमाणु सकृत् भिन्नदेशीय पदार्थों से चिपट नहीं सकता है, (समर्थन)।

ततो न पक्षस्यानुमानेन बाधा तस्याप्रयोजकत्वात्। नापि हेतोः कालात्ययापदि-ष्टतेति धर्माधर्मयोरेकद्रव्यत्वसिद्धिः।

तिस कारण हम जैनों के पक्ष की इस वैशेषिक के अनुमान करके बाधा नहीं आती है। क्योंकि वह नाना--प्रदेशत्व हेतु नाना द्रव्य--पन का प्रयोजक नहीं है, और हमारे हेतु के कालात्ययाप-दिष्टपना यानी बाधितहेत्वाभासपना भी नहीं है, इस कारण तीसरी वार्त्तिक द्वारा धर्म और अधर्म के एक द्रव्यपनकी सिद्धि होजाती है आकाश के एक द्रव्यपन में किसी का विवाद ही नहीं है।

यथा च तानि धर्माधर्माकाशान्येकद्रव्याणि तथा।

जिस ही प्रकार से धर्म, अधर्म, और आकाश द्रव्य रूप से एक एक हैं, उसी प्रकार और भी कुछ विशेषता को लिये हुये हैं। इस बात को समझने के लिये श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्र को कहते हैं—

निष्क्रियाणि च ॥ ७ ॥

धर्म, अधर्म, और आकाश ये तीन द्रव्य क्रियाओं से रहित हैं, अर्थात्—धर्म, अधर्म, आकाश ये केवल एक द्रव्य ही नहीं हैं, साथ में देशसे देशान्तर होना रूप क्रिया से रहित भी हैं, जीव पुद्गलों के समान अपने स्थान को छोड़ कर परक्षेत्र में नहीं चले जाते हैं।

उभयनिमित्तापेक्षः पर्यायविशेषो द्रव्यस्य देशांतरप्राप्तिहेतुः क्रिया, न पुनः पदा-र्थान्तरं तथाऽप्रतीयमानत्वात् गुणसामान्यविशेषसमवायवत्।

अन्तरंग कारण मानीगयी क्रिया परिणमन शक्ति और वहिरंग होरहे संयोग आदि इन दोनों निमित्त कारणों की अपेक्षा रखते हुए द्रव्य का जो पर्याय विशेष देश से देशान्तर प्राप्ति का कारण है, वह क्रिया है। फिर कोई स्वतंत्र न्यारा पदार्थ क्रिया नहीं है, क्योंकि तिसप्रकार स्वतंत्र तत्त्व रूप

करके या अन्य पदार्थ--पने करके कर्म की प्रतीति नहीं होरही है। जैसे कि गुण, सामान्य, विशेष और समवाय स्वतंत्र होकर नहीं जाने जारहे हैं। अर्थात्— वैशेषिकों ने द्रव्य से सर्वथा भिन्न स्वीकार कर गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय इनको स्वतंत्र तत्त्व माना है, आचार्य कहते हैं, कि क्रिया अथवा गुण, सामान्य, विशेष, समवाय भी द्रव्य की ही विशेष पर्यायें हैं। निराले तत्त्व नहीं हैं, अतः यह क्रिया का लक्षण निर्दोष किया गया है।

ननु क्रिया द्रव्यात्पदार्थान्तरं तद्भिन्नलक्षणत्वाद्गुणादिवदिति। पदार्थांतरत्वेनाप्रतीयमानत्वमसिद्धमिति चेत्, कथंचिद्भिन्नलक्षणत्वस्य द्रव्यव्यक्तिभिरनेकांतात्। कालादिद्रव्यव्यक्तीनां न द्रव्याद्भिन्नलक्षणत्वं क्रियावद्गुणवत्समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणस्य तत्र भावादिति चेन्न, कालादिषु क्रियावत्त्ववर्जितस्य द्रव्यलक्षणस्योपगमात् पृथिव्यादिषु तदवर्जितस्य तस्य व्याख्यानात् कथंचित्तेषां द्रव्यलक्षणभेदसिद्धेः। पदार्थान्तरत्वे तु द्रव्यव्यक्तीनां गुणादिव्यक्तीनामपि पदार्थांतरत्वप्रसक्तेः कुतः षट्पदार्थनियमः ?

यहां वैशेषिक स्वपक्ष का अवधारण इस प्रकार कहते हैं कि क्रिया (पक्ष) द्रव्य से सर्वथा भिन्न निराला पदार्थ है (साध्य) उस द्रव्य के लक्षण से सर्वथा भिन्न लक्षण को धार रही होने से (हेतु) गुण, जाति, आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त)। "क्रियावद्गुणवत्समवायिकारणं" इस द्रव्य के लक्षण से "एक द्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणं" यह कर्म का लक्षण भिन्न है, अतः अन्य पदार्थपन करके नहीं प्रतीत होरहापन क्रिया में असिद्ध है, यों कहने पर तो आचार्य कहते हैं, कि तुम वैशेषिकों के भिन्नलक्षणत्व का अर्थ यदि कथंचित् भिन्न भिन्न लक्षणवानापन है। तब तो द्रव्य की व्यक्तियों करके व्यभिचार होजायगा, देखिये द्रव्य के पृथिवी, जल, तेज, आदि ये भेद हैं, पृथिवी के भी घट, पट, पुस्तक आदि अनेक भेद तुम्हारे यहां माने गये हैं। इन में कथंचित् भिन्न-लक्षणपना हेतु विद्यमान है, किन्तु सर्वथा पदार्थान्तरपना साध्य नहीं है, अतः वैशेषिकों का हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास है।

यदि वैशेषिक यों कहें कि द्रव्य के काल, आत्मा, पृथिवी, आदि व्यक्ति विशेषों का लक्षण द्रव्य के लक्षण से भिन्न नहीं है जो क्रियावान् है और गुणवान् है, तथा कार्योंका समवायि कारण है, वह द्रव्य है, द्रव्य के इस लक्षण का उन काल आदिकों में सद्भाव है। अतः व्यभिचार नहीं आयगा, ग्रन्थकार कहते हैं। कि यह तो नहीं कहना क्योंकि काल आदि चार व्यापक द्रव्यों में क्रियावान्पने से रहित होरहे द्रव्य लक्षण को स्वीकार किया गया है, और पृथिवी आदि पांच मूर्तों में उस क्रियावत्त्व को नहीं छोड़ कर उस पूरे द्रव्य लक्षण को बखाना गया है। अतः उन द्रव्य व्यक्तियों के घटित होरहे द्रव्य लक्षणों का कथंचित् भेद सिद्ध होजाता है।

अर्थात्—कणादमुनि प्रणीत वैशेषिक दर्शन में "क्रियागुणवत्समवायिकारणमिति" द्रव्य का लक्षण कहा है, यह पूरा लक्षण पृथिवी, जल, तेज वायु और मन में घट जाता है, आकाश आदि व्यापक द्रव्यों में क्रिया नहीं मानी गयी है, अतः क्रियावत्त्व नहीं, आद्यक्षणावच्छिन्न अवयवी में गुण

वत्त्व भी नहीं माना गया है, कार्य से कारण एक क्षण पूर्व में रहता है, गुण उपजने के प्रथम द्रव्य निर्गुण है। यों द्रव्य के विशेष नौ भेदों में कथंचित् भिन्न लक्षणपना वर्त रहा है, अतः व्यभिचार दोष तदवस्थ है, व्यभिचार की निवृत्ति के लिये यदि वैशेषिक द्रव्यों की विशेष व्यक्तियों को स्वतंत्र तत्त्व रूप से न्यारे न्यारे पदार्थ स्वीकार करेंगे तब तो गुण के रूप, रसादि, व्यक्तियों को या कर्म के उत्क्षेपण, अपक्षेपण आदि व्यक्तियों को एवं पर-जाति, अपर-जाति, इन सामान्य व्यक्तियों अथवा अनन्त विशेष व्यक्तियों को भी स्वतंत्र तत्त्व रूप से पदार्थान्तर पने का प्रसंग प्राप्त होगा, ऐसा होने पर छहों भाव पदार्थ होने का नियम भला कैसे ठहर सकता है ? सैकड़ों या अनन्ते मूलतत्त्व बन बैठेंगे ।

द्रव्यत्वप्रतीतिमात्रं द्रव्यलक्षणं सकलद्रव्यव्यक्तीनामभिन्नं तस्य कर्माणि मनागप्यभावात् सर्वथा तद्भिन्नलक्षणत्वं हेतुरिति चेत्, प्रतिवाद्यसिद्धः सद्द्रव्यलक्षणमिति कर्मण्यपि द्रव्यप्रत्ययमात्रस्य भावादन्यथा तदसत्त्वप्रसंगात् ।

वैशेषिक कहते हैं, कि द्रव्यत्व जाति स्वरूप करके जातिमान् द्रव्य की प्रतीति होजाना केवल इतना ही द्रव्य का लक्षण तो द्रव्य के पृथिवी आदि सम्पूर्ण नौऊ व्यक्ति विशेषों के अभिन्न है उस द्रव्य के लक्षण का कर्म में कदाचित् भी सद्भाव नहीं पाया जाता है, अतः उस द्रव्य से सर्वथा भिन्न लक्षणपना हेतु ठीक है, क्रिया में वर्त रहा हेतु द्रव्य से पदार्थान्तरपने को साध देगा, यों कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं, कि कथंचित् भिन्न लक्षणत्व हेतु में व्यभिचार दोष दिया जा चुका है, हां सर्वथा भिन्नलक्षणत्व हेतु को कहो तो प्रतिवादी विद्वान जैनों के प्रति असिद्ध है। पक्ष में हेतु नहीं ठहरता है। 'सद्द्रव्यलक्षणं' द्रव्य का लक्षण सत् है इस प्रकार सत् स्वरूप द्रव्य की केवल प्रतीति करा देना इस द्रव्य का लक्षण सद्भाव कर्म में भी विद्यमान है, अन्यथा यानी सत् स्वरूप द्रव्य के लक्षण को यदि कर्ममें नहीं माना जायगा तो खरविषाण के समान उस कर्म के असत्त्व का प्रसंग होजावेगा, अतः "सर्वथा भिन्न लक्षणत्व" हेतु पक्षभूत कर्म में नहीं ठहरा इस कारण तुम्हारा हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है।

न हि सत्तामहासामान्यमेव द्रव्यमिति स्याद्वादिनां दर्शनं तस्याः शुद्धद्रव्यत्वोपगमात् । गुणपर्ययवद्द्रव्यमित्यशुद्धद्रव्यलक्षणस्य कर्मण्यभावेपि कथंचिदेकद्रव्याभिन्नलक्षणत्वं तस्य सिद्ध्येन्न सर्वथा । तच्च कथंचित्पदार्थान्तरत्वं साधयेदिति विरुद्धसाधनाद्विरुद्धं परैः सर्वथा पदार्थान्तरत्वस्य तत्र साध्यत्वात् ।

"सद्द्रव्यलक्षणं" इस सूत्र अनुसार सत्ता नामका महासामान्य ही द्रव्य है, यह स्याद्वादियों का सिद्धान्त नहीं है। उस महासत्ता को तो हमने शुद्ध द्रव्यपन करके स्वीकार किया है, अर्थात्—शुद्ध द्रव्यों का निरूपण सत्स्वरूप करके किया जाता है, अनेक शुद्ध द्रव्यों में प्रत्येक होकर वर्त रहे अनेक अस्तित्व गुणों के परसंग्रह नय द्वारा किये गये आपेक्षिक पिण्ड को महासत्ता कह दिया जाता है। अतः सूत्रकार करके कहा जाने वाला "सद्द्रव्यलक्षणं" यह शुद्ध द्रव्यों का लक्षण समझा जाय जो कि

कथंचित् अभेद दृष्टि अनुसार शुद्ध द्रव्य की ओर लक्ष्य रखते हुये यावत् गुण, क्रिया, अशुद्धद्रव्य, पर्याय इन सम्पूर्ण सत्पदार्थों में घटित होजाता है।

हां गुण और पर्याय वाला द्रव्य होता है, इस अशुद्ध द्रव्य के लक्षण का कर्म में अभाव होने पर भी कथंचित् एक द्रव्य के साथ अभिन्न लक्षणपना उस कर्म के सिद्ध होजावेगा अतः सर्वथा द्रव्य के लक्षणपना नहीं सिद्ध होसका। वैशेशिकों का द्वितीय पक्ष अनुसार सर्वथा भिन्न लक्षणपना हेतु स्वरूपासिद्ध है, और प्रथम पक्ष अनुसार कथंचित् भिन्नलक्षणपना हेतु तो कर्म में द्रव्य से कथंचित् पदार्थान्तर को साध सकेगा, इस कारण इष्ट होरहे साध्य से विरुद्ध साध्य की सिद्धि कर देने से वैशेषिकों का हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है। क्योंकि दूसरे विद्वान् वैशेषिकों ने उस कर्म में सभी प्रकारों से पदार्थान्तरपन यानी न्यारेपन को साध्य कर रखा है, अतः वैशेषिकों का भिन्न-लक्षणत्व हेतु अनैकान्तिक, असिद्ध और विरुद्ध दोषों से युक्त है। **मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज**

कर्म सर्वथा न द्रव्यात्पदार्थान्तरं कथंचित्तद्भिन्नलक्षणत्वाद्गुणादिवदिति परमतसिद्धेः न चात्र कर्माप्रतिपन्नं येनाश्रयासिद्धिः साधनस्य। नापि सर्वथा पदार्थांतरत्वेन द्रव्यात्प्रतिपन्नं कुतश्चित्प्रमाणात् स्याद्वादिभि, येन धर्मिग्राहकप्रमाणबाधा। तस्य कथंचित्पदार्थांतरत्वेनैव प्रतिपन्नत्वात् न चैवं सिद्धांतविरोधः, कर्मणः पर्यायत्वेन द्रव्यात्कथंचित्पदार्थांतरत्वव्यवस्थितेरुत्पादविनाशत्वलक्षणस्य ध्रौव्याद्द्रव्यलक्षणाद्भेदसिद्धेः। कर्मगुणसामान्यविशेषसमवायानां पर्यायलक्षणसद्भावात् पर्यायपदार्थत्ववचनादन्यथातिप्रसक्तेः। प्रागभावादीनां विशेषणविशेष्यभावादीनां च पदार्थंतरत्वप्रसंगात् पदार्थशेषत्वकल्पनायामेकेनैव पदार्थेन पर्याप्तत्वादन्येषां पदार्थशेषावस्थिते सूत्रेवधारणाभावादित्युक्तप्रायं।

वैशेषिकों के अनुमान का बाधक यह अनुमान है कि कर्म (पक्ष) द्रव्य से सर्वथा न्यारा भिन्न पदार्थ नहीं है (साध्य) उस द्रव्य के लक्षण से कथंचित् भिन्न, अभिन्न होरहे लक्षण को धारने वाला होने से (हेतु) गुण, सामान्य, आदि के समान। इस अनुमान द्वारा पर-मत की यानी जैनमत की सिद्धि होजाती है। इस अनुमान में पक्ष हो रहा कर्म (क्रिया) पदार्थ अपरिज्ञात नहीं है जिससे कि हेतु के आश्रयासिद्धि नामका दोष लग बैठता अर्थात् बाल गोपालों तक को क्रिया प्रसिद्ध होरही है अतः हमारा " कथंचित् भिन्नलक्षणत्व " हेतु आश्रयासिद्ध हेत्वाभास नहीं है और स्याद्वादियों करके जिस किसी भी प्रमाण द्वारा वह कर्म से सर्वथा भिन्न तत्त्वपने करके भी ज्ञात नहीं है जिससे कि धर्मी को ग्रहण कराने वाले प्रमाण से बाधा आती।

हां द्रव्यसे कथंचित् भिन्न पदार्थपने करके ही उस कर्मकी प्रतिपत्ति होचुकी है भावार्थ -वैशेषिक यदि हमारे हेतु में यों बाधा उठाना चाहें कि जिस प्रमाण करके धर्मी कर्म जाना जायगा वह प्रमाण द्रव्य से भिन्न होरहे ही कर्म को जान पायगा ऐसी दशा में द्रव्य से सर्वथा भिन्न पदार्थान्तरपन के अभाव का साधने वाला हेतु बाधित होजायगा, हम स्याद्वादी कहते हैं कि घोड़े का दोड़ना, आम

फल का पतन होना, चक्की का भ्रमण होना, अग्निज्वाला का ऊपर जाना, जल या वायु का तिरछा बहना, ये सब क्रियायें क्रियावान् पदार्थों से सर्वथा भिन्न नहीं दीख रही हैं, हाँ पहिले थोड़ा स्थिर था अब चलने लगगया। स्थिर चाकी पीछे भ्रमण करने लग जाती है, यों क्रियावान् द्रव्यसे क्रिया का कथंचित् भेद ही निर्णीत है, सर्वथा भेद नहीं है, इस प्रकार कहनेसे हम अनेकान्त--वादियों के यहाँ कोई जैन सिद्धान्त से विरोध नहीं आता है क्योंकि क्रिया होना एक पर्याय विशेष है, अतः पर्याय होने के कारण क्रिया को द्रव्य से कथंचित् पदार्थान्तरपना व्यवस्थित है। सुवर्ण के कड़े का सुवर्ण से सर्वथा भेद नहीं है। द्रव्य और पर्याय का समुदाय सत् है, उत्पाद व्यय और ध्रौव्यों से तदात्मक युक्त होरहा सत् पदार्थ माना गया है। पर्याय के उत्पाद और विनाश लक्षण हैं, द्रव्य में ध्रुवपना ओतपोत होरहा है, अतः कर्म के उत्पाद, विनाश--स्वरूप लक्षण का द्रव्य के लक्षणांश होरहे ध्रौव्य से भेद सिद्ध होरहा है। क्रिया, गुण, सामान्य, विशेष और समवाय के पर्याय का लक्षण विद्यमान है, अतः जैन सिद्धान्त में परिस्पन्द रूप क्रिया, सहभावी-क्रमभावी पर्याय स्वरूप गुण, सदृश परिणाम या परापर विवर्त-व्यापी परिणाम, स्वरूप सामान्य, पर्याय व्यतिरेक--स्वरूप विशेष और अविष्वग्भाग सम्बन्ध--स्वरूप समवाय इन सब के पर्याय का लक्षण विद्यमान है, अतः इनको जैन सिद्धान्त में पर्याय पदार्थ कहा गया है, अन्यथा यानी--कर्म, गुण, आदि को पर्यायें नहीं मान कर स्वतंत्र तत्त्व (पदार्थ) माना जायगा तो अतिप्रसंग होजायगा। आपेक्षिक गुण, अविभागप्रतिच्छेद, प्रतियोगित्व, अनुयोगित्व, आदि को भी न्यारे न्यारे पदार्थ होने का प्रसंग आजायगा। प्रागभाव, प्राक्सत्ता, पश्चात्--सत्ता आदि को और विशेष्य-विशेषणभाव, आधार आधेयभाव, स्वरूप सम्बन्ध, तादात्म्य सम्बन्ध आदि को भी न्यारे न्यारे पदार्थ होजाने का प्रसंग आवेगा। यों अनन्त मूल पदार्थ होजाने पर भला वैशेषिकों के यहाँ छह या सात पदार्थों की ही व्यवस्था कहाँ रही?

यदि वैशेषिक यों कहैं कि पदार्थों की संख्या के प्रतिपादन करने वाले "धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्य--वैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निश्रेयसम्" इस कणाद ऋषि प्रणीत सूत्र में हमने एवकार द्वारा कोई अवधारण नहीं किया है। दार्शनिक बेचारा कहाँ तक अनेक पदार्थों को गिना सकता है? छह, सात, नौ, सोलह, पच्चीस आदि कितने ही पदार्थ गिनाये जांय तो भी सैंकड़ों, हजारों, पदार्थ शेष पड़े रहते हैं विद्वान जन उपरिष्टात् उन विशेष्य-विशेषणभाव आदि पदार्थों को मान ही लेते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार उक्त उपलक्षण पदार्थों के शेषपन करके यदि अतिरिक्त पदार्थों की कल्पना की जायगी तब तो एक ही उपलक्षणभूत पदार्थ करके पर्याप्तपना है। यानी सभी प्रयोजन सिद्ध हो जावेंगे क्योंकि पदार्थ--प्रतिपादक सूत्र में छह ही भाव पदार्थों का अवधारण नहीं है, अतः कण्ठोक्त एक या दो पदार्थों से अतिरिक्त शेष अनेक पदार्थों के अवस्थित हो जाने पर सभी पदार्थ समझाये जा सकते हैं। इस बात को हम "जीवाजीवास्रव" इत्यादि सूत्र का विवरण करते समय कह चुके हैं, प्रकरण अनुसार और भी कई बार ऐसा विवेचन किया जाचुका है।

सामान्यसमवायौ कथं पर्यायौ ? नित्यत्वादिति चेन्न, तयोरपि गुणकर्मविशेषवद्-नित्यत्वोपगमात् । सदृशपरिणामो हि सामान्यं स्याद्वादिनां अविष्वग्भावश्च द्रव्यपर्याययोः समवायः, सचोत्पाद-विनाशवानेव सदृशव्यक्त्युत्पादे सादृश्योत्पादप्रतीतेस्तद्विनाशे च तद्विनाशमात्रभावात् ।

कलुषित–चित्त होकर वैशेषिक पूंछते हैं कि तुम जैनों के यहां सामान्य और समवाय भला किस प्रकार पर्याय माने गये हैं ? क्योंकि तुम्हारे यहां उत्पाद व्यय वाली पर्यायें अनित्य मानी गयीं हैं किन्तु नित्य होता हुआ, अनेकों में समवेत होरहा सामान्य और नित्य सम्बन्ध माना गया समवाय तो नित्य है अतः ये दोनों स्वतंत्र तत्व होने चाहिये । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उन सामान्य और समवाय दोनों को भी गुण, कर्म, और विशेष पदार्थों के समान अनित्यपना स्वीकार होजाता है । अथवा वैशेषिकों के यहां अनित्य द्रव्यों के सम्पूर्ण गुणों और नित्य द्रव्यों के भी कतिपय गुणों तथा सम्पूर्ण कर्मों को जैसे अनित्य माना गया है उसी प्रकार सामान्य और समवाय भी अनित्य मानने पड़ेंगे । विशेष पदार्थ भी दृष्टान्त समझ लिया जाय जब कि स्याद्वादियों के यहां सदृशपरिणाम ही सामान्य माना गया है तथा द्रव्य और पर्यायों का कथंचित् तदात्मक अपृथग्भाव ही समवाय सम्बन्ध है, तब तो वह उत्पादवान् और विनाशवान् ही है क्योंकि सदृश व्यक्तियों का उत्पाद होने पर सादृश्य (सामान्य) की उत्पत्ति होना प्रतीत होता है और उन सदृश व्यक्तियों का विनाश होने पर उस सदृशपन (जाति) का पूरा विनाश होरहा देखा जाता है ।

सादृश्यस्य व्यक्त्यंतरेषु दर्शनान्नित्यत्वमितिचेन्न, वैसादृश्यस्य विशेषस्य गुणस्य कर्मणश्चैवं नित्यत्वप्रसंगात् । नष्टोत्पन्नव्यक्तिभ्यो व्यक्त्यंतरेषु न तदेव वैसादृश्यादि दृश्यते ततोन्यस्यैव दर्शनादिति चेत्, सादृश्यादि परमेव किन्न भवेत् तथाप्रतीतेरविशेषात् । ततो द्रव्य-पर्याय एव क्रिया ।

यदि वैशेषिक यों कहैं कि एक व्यक्ति के नष्ट होने पर भी अन्य दूसरी दूसरी व्यक्तियों में सदृशपना देखा जा रहा है, अतः सादृश्यस्वरूप सामान्य भी नित्य ही होना चाहिये । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि इस प्रकार तो विसदृशपन–स्वरूप विशेष पदार्थ को और गुण को तथा कर्म को भी नित्य होजाने का प्रसंग आवेगा । देखो, विलक्षण पदार्थ के नष्ट होजाने पर भी दूसरे विसदृश पदार्थ विद्यमान हैं । एक काले, पीले, या खट्टे, मीठे, गुण के विनश जाने पर भी अन्य पृथिवियों में काले आदि गुण विद्यमान हैं, हलन, चलन, आदि कर्म भी सदा किसी न किसी के होते हो रहते हैं, अतः ये भी नित्य बन बैठेंगे ।

यदि वैशेषिक यों कहैं कि नष्ट होरहीं या उत्पन्न होरहीं व्यक्तियों से निराली अन्य विद्यमान व्यक्तियों में वे ही तो वैसादृश्य, गुण, क्रिया, आदि नहीं देखे जा रहे हैं, जो कि नष्ट या उत्पन्न व्यक्तियों में हैं किन्तु उन नष्ट या उत्पन्न व्यक्तियों में वर्त रहे वैसादृश्य आदि से दूसरे भिन्न वैसादृश्य आदि का ही अन्य व्यक्तियों में दर्शन होरहा है, अतः वे अनित्य हैं, यों कहने पर तो हम जैन कहते हैं कि तब तो न्यारे न्यारे वैसादृश्य आदि के समान फिर सादृश्य, समवाय, आदि भी निराले ही क्यों नहीं होजायंगे क्योंकि तिस प्रकार न्यारे सादृश्य या निराले वैसादृश्य आदि की प्रतीति होने का कोई अन्तर नहीं है तिस कारण सिद्ध होता है कि द्रव्य की पर्यायविशेष ही क्रिया है, द्रव्य से निराला स्वतंत्र तत्त्व कोई कर्म पदार्थ नहीं है।

गुणादीनां क्रियात्वप्रसंग इति चेन्न, ततो विशेषलक्षणसद्भावात् । द्रव्यस्य विदेशांतरप्राप्तिहेतुः पर्यायः क्रिया न सर्वः । सर्वत्र सर्वदा कस्मान्न स्यादिति चेन्न, उभयनिमित्तापेक्षत्वात् क्रियायास्तद्भाव एव भावात् पर्यायांतरवत् । निष्क्रांतानि क्रियातः निष्क्रियाणि धर्माधर्माकाशानि । कुत इत्याह ।

वैशेषिक कहते हैं कि द्रव्य की पर्याय को यदि क्रिया कहा जायगा तब तो गुण या सामान्य आदि को क्रिया होजाने का प्रसंग आजायगा । जैन सिद्धान्त अनुसार गुण आदि भी द्रव्य के पर्याय हैं, आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उस क्रिया से गुण आदि में विशेष लक्षणों का सद्भाव पाया जाता है । द्रव्य को प्रकृत देश से अन्य देशान्तर की प्राप्ति का कारण होरहा द्रव्य की पर्याय तो क्रिया है, द्रव्य की शेष सभी पर्यायें क्रिया नहीं हैं । यदि यहां कोई आक्षेप करे कि जब क्रिया द्रव्य का अन्तरंग परिणाम है तो सर्व देशों में सभी कालों में द्रव्य की देशान्तर प्राप्ति जो होती रहनी चाहिये सो किस कारण से नहीं होती है बताओ ? आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि द्रव्य की क्रिया नामक परिणति अन्तरंग, बहिरंग, दोनों निमित्तों की अपेक्षा रखती है जब अन्तरंग, बहिरंग, कारणों की योग्यता प्राप्त होगी तब उसके होने पर ही तो क्रिया की उत्पत्ति होसकेगी जैसे कि द्रव्य की अन्य पर्यायें सर्वत्र सर्वदा नहीं होतीं फिरतीं हैं किन्तु नियत कारणों के अनुसार क्वचित्, कदाचित्, ही होतीं हैं । यहां तक यह निर्णीत कर दिया गया है कि परिस्पन्द स्वरूप क्रिया से निष्क्रान्त हो रहे धर्म, अधर्म, और आकाश द्रव्य निष्क्रिय हैं । किस कारण से ये तीन द्रव्य क्रियाओं से रहित हैं बताओ ? इस प्रकार जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार वार्त्तिक द्वारा उत्तर कहते हैं—

निष्क्रियाणि च तानीति परिस्पंदविमुक्तितः ।
सूत्रितं त्रिजगद्व्यापिरूपाणां स्पंदहानितः ॥ १ ॥

देश से देशान्तर होना--स्वरूप परिस्पन्द से छूट जाना होने के कारण सूत्रकार ने उन धर्म, अधर्म, और आकाश को इस सूत्र द्वारा " निष्क्रिय " ऐसा सूचित किया है क्योंकि तीनों जगत् में व्यापने वाले स्वरूपको धारने वाले पदार्थ के हलन, चलन, आदि स्पन्द होने की हानि है, जो तीनों जगत् में ठसाठस भर रहा है वह कहाँ जाय ? और कहाँ से कहाँ आवे ? यानी कहीं नहीं।

धर्माधर्मौ परिस्पन्दलक्षणया क्रियया निष्क्रियौ सकलजगद्व्यापित्वादाकाशवत् । परिणामलक्षणया तु क्रियया सक्रियावेव, अन्यथा वस्तुत्वविरोधात् । स्वरूपासिद्धो हेतुरिति चेन्न, धर्माधर्मयोः सकललोकव्यापित्वस्याग्रे समर्थनात् ।

धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य (पक्ष) परिस्पन्द स्वरूप क्रिया करके रहित होरहे निष्क्रिय हैं (साध्य) क्योंकि सम्पूर्ण जगत् में व्याप रहे हैं (हेतु) आकाश के समान (अन्वयदृष्टान्त)। हाँ अपरिस्पन्द--आत्मक अनेक परिणाम स्वरूप क्रिया करके तो वे सहित होरहे सक्रिय ही हैं अन्यथा यानी धर्म आदि में यदि [illegible]जायगी तब तो अपरिणामी पदार्थों के वस्तुपन का विरोध होजायगा जैसे कि खर--विषाण कोई वस्तु नहीं है। यदि यहाँ कोई यों आपेक्ष करे कि पक्ष में नहीं वर्तने से जैनों का सकल जगत्--व्यापीपना हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है, ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कह बैठना क्योंकि धर्म, अधर्म के सम्पूर्ण लोक में व्याप--रहेपन का अग्रिम ग्रन्थ में समर्थन कर दिया जावेगा, उतावले मत होओ।

सामर्थ्यात्सक्रियौ जीवपुद्गलाविति निश्चयः ।
जीवस्य निष्क्रियत्वे हि न क्रियाहेतुता तनौ ॥ २ ॥

धर्म, अधर्म, आकाश, इन तीन द्रव्य या काल को मिला देने से चार द्रव्यों के निष्क्रियपन की सूत्र द्वारा सूचना होचुकने पर विना कहे ही अन्य शब्दों की सामर्थ्य से यह निश्चय कर लिया जाता है कि जीव द्रव्य और पुद्गल-द्रव्य क्रियासहित हैं। पुद्गल को क्रियासहित माननेमें प्रायः किसी का विवाद नहीं है। हाँ वैशेषिक, नैयायिक, सांख्य विद्वान् आत्मा में क्रिया होना नहीं मानते हैं कोई अक्रिया-वादी पण्डित तो किसी भी पदार्थ में क्रिया को नहीं मानते हैं, सिनेमा में देखे जारहे चित्रों की क्रियाओं के ज्ञान समान सभी क्रियाओं के ज्ञान भ्रान्त हैं, अन्य अन्य प्रदेशों पर पदार्थ दूसरा, तीसरा, उपज जाता है। पूर्व प्रदेशों पर का पदार्थ वहां ही समूल--चूल नष्ट होजाता है। इस पर हम जैनों का यह कहना है कि यदि जीव को क्रियारहित माना जायगा तो शरीर में क्रिया करने का हेतुपना जीव के घटित नहीं होसकेगा। भावार्थ--हाथ, पाँव, आदि शरीर में जीव ही क्रिया को उपजाता है, यथार्थ बात तो यह है कि हम हाथ को उठाते हैं यहां हाथ में ओत पोत घुस रहे आत्मा या आत्मा के प्रदेशों को ही हम उठा रहे हैं, आत्मा के उठ जाने पर उससे चिपट रहा हाथ भी उठ जाता है। बैलगाड़ी का ऊपरला भाग बैलों द्वारा खींचाजाता है, उससे चिपट रहे पहिये भी घिसटते जाते हैं गाड़ी पर बैठेहुए मनुष्य भी लदे जारहे हैं, आत्मा शरीर की हड्डियों में उलझरहे मांस, रक्त,

(खून) चर्म आदि धातु उपधातु, और मलों में भी क्रिया उपजाती है। जहां तक पूंछ पहुँच जाती हैं, वहां पर तो घोड़ा पूंछ से ही डांस को उड़ा देता है, हां इसके अतिरिक्त शरीर प्रदेश पर कभी मच्छर के बैठ जानेपर घोड़े की सक्रिय आत्मा वहीं चर्म में कंप क्रिया पैदा कर मक्खी को उड़ा देता है। स्वयं क्रिया-रहित पदार्थ दूसरों में क्रिया उपजाने का प्रेरक निमित्त नहीं होसकता है। अपने अपने शरीर बराबर परिमाण को धार रहे जीव के हलन, चलन, आदि क्रियाओं का होना प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है।

प्रकृतेषु पंचसु द्रव्येष्वाकाशांतानां त्रयाणां निष्क्रियत्ववचने सामर्थ्याज्जीवपुद्गलौ सक्रियौ सूत्रितौ वेदितव्यौ।

प्रकरण प्राप्त पांच द्रव्यों में आकाश पर्यन्त तीन द्रव्यों के निष्क्रियपन का कथन करने पर उमास्वामी महाराज ने बिना कहे ही सामर्थ्य से जीव और पुद्गल के क्रिया--सहितपन का सूचन कर दिया है, यह समझ लेना चाहिये। गम्यमान पदार्थ को पुनः कण्ठोक्त शब्दों द्वारा कहना व्यर्थ है, अत्यन्त संक्षिप्त शब्दों द्वारा बहुत प्रमेय को कह देने वाले सूत्रकार महाराज का तो यह लक्ष्य रहना ही चाहिये।

ननु पुद्गलाः क्रियावत्तयोपलभ्यमानाः क्रियावंत इति युक्तं, जीवस्तु न सक्रियस्तस्य तथानुपलभ्यमानत्वादिति न चोद्यं, तस्य निष्क्रियत्वे शरीरे क्रियाहेतुत्वविरोधात्। ततः क्रियावानात्मान्यत्र द्रव्ये क्रियाहेतुत्वात् पुद्गलद्रव्यवदित्यनुमानाज्जीवस्य क्रियावत्तोपलम्भान्न तस्य सक्रियत्वमयुक्तं।

यहां किसी का प्रश्न है कि क्रियासहितपन करके देखे जा रहे गाड़ी, वायु, बादल, समुद्रजल, आदि पुद्गल क्रियावान हैं, यों जैनों का कहना युक्ति-पूर्ण है किन्तु जीव क्रियावान् हैं, यह कहना तो उचित नहीं क्योंकि उस जीव की तिस प्रकार क्रिया-सहितपने करके उपलब्धि नहीं हो रही है। आत्मा सर्व व्यापक है, एक देश से दूसरे देश में नहीं जा सकता है। ग्रन्थकार कहते हैं, कि यह कुचोद्य उठाना ठीक नहीं है, कारण कि उस आत्मा को क्रिया रहित मानने पर शरीर में क्रिया करने के हेतु होरहेपन का विरोध होजायगा। स्वयं दरिद्र मनुष्य दूसरे को धन देकर धनी नहीं बनासकता है। स्पर्शरहित आकाश दूध या पानी को उष्ण नहीं कर सकता है। तिस कारण से सिद्ध होजाता है कि आत्मा (पक्ष) क्रियावान् है (साध्य), अन्य पुद्गलद्रव्य में क्रिया का हेतु होने से (हेतु), पुद्गल द्रव्य के समान (अन्वयदृष्टान्त)। अर्थात्—जैसे क्रियावान् हो पुद्गल दूसरे पुद्गल में क्रिया को उपजा सकता है, क्रियावान् ऐंजिन गाड़ी के डब्बों में क्रिया कर देता है, इस प्रकार अनुमान से जीव के क्रिया--सहित--पन का उपलम्भ होजाने के कारण उस जीव को क्रिया--सहितपना अभीष्ट करना अयुक्त नहीं है।

कालेन व्यभिचाराक्ष हेतुर्गमको चेति चेन्न, कालस्य क्रियाहेतुत्वाभावात्। क्रियानिर्वर्तकत्वं क्रियाहेतुत्वमिह साधनं न पुनः क्रियानिमित्तमात्रत्व तस्य काशादौ सद्भावाभा-

तत्र व्यभिचारः। कालो हि क्रियापरिणामिनां स्वयं निमित्तमात्रं स्थविरगतौ यष्टिवत्, न पुनः क्रियानिर्वर्तकः पर्णादौ पवनवत्।

यदि यहाँ कोई यों दूषण उठावे कि काल तो सम्पूर्ण गति आदि परिणतियों का कारण होरहा निष्क्रिय माना गया है अतः काल करके व्यभिचार होजाने से जैनों का अन्यत्र द्रव्ये क्रिया-हेतुत्व नामका हेतु अपने सक्रियत्व साध्य का ज्ञापक नहीं है, आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि काल को क्रिया का प्रेरकहेतुपना नहीं है क्रिया का प्रेरक होकर सम्पादन करा देना यहाँ '' क्रियाहेतुत्व,, साधन का अर्थ है किन्तु फिर क्रिया का केवल उदासीन निमित्तकारणपना क्रिया-हेतुत्व नहीं है, अतः क्रियाके उस प्रेरक निमित्तपन हेतु का काल आदि में सद्भाव नहीं है इस कारण व्यभिचार दोष नहीं होता है।

यों समझिये कि काल तो स्वयं स्वकीय अभ्यन्तर बहिरंग कारण या नियत उपादान कारणों अनुसार क्रिया स्वरूप परिणत होरहे पदार्थों का केवल उदासीन निमित्त है। जैसे कि अति वृद्ध पुरुष को गमन करने में लठिया थोड़ा सहारा मात्र देती है, या चाक को घुमाने में नीचे की पतली कीली साधारण सहायक है। बैठे हुये बुड्ढे को लठिया बलात्कार से नहीं चला देती है। दण्ड करके कुम्हार के घुमाये बिना बिचारी स्थिर कील चाक को नहीं घुमा देती है, इसी प्रकार काल क्रिया का उदासीननिमित्त है। जैसे तिनका आदि में वायु प्रेरक निमित्त होरहा है उस प्रकार काल क्रिया का स्वातंत्र्यवृत्ति से सम्पादक नहीं है। यद्यपि जीवों के साथ बंध रहा पुण्य, पाप, भी स्वयं गतिरहित होकर अन्य इष्ट, अनिष्ट, वस्तुओं को गति करने में सहायक होजाता है तथापि अप्राप्यकारी वह निमित्त कारण भले ही रहो किन्तु प्रेरक निमित्त नहीं है।

तारों में बह रहा बिजली का प्रवाह जैसे पंखा, ट्राम गाड़ी, आदि की गतियों का निर्वर्तक बनानेवाला है वैसा अदृष्ट नहीं है, इसी प्रकार चुम्बक पाषाण, भले ही लोहे का आकर्षण कर उसको चिपटा लेवे किन्तु यहाँ वहाँ गमन किये बिना स्वतंत्रता-पूर्वक लोहे को ठेड़ा, तिरछा, ऊंचा, नीचा, नहीं चला सकता है, बौइलर से निकल रही भाप स्वयं गतिमान् होती हुई ऐंजिन को चलाने में प्रेरक कारण होजाती है। सत्य बात यह है कि मंत्रशक्ति, ऋद्धि, अतिशय, अदृष्ट, तंत्र आदि पदार्थ इस क्रिया के निमित्त कारण भले ही होजांय किन्तु प्रेरक कारण वे ही द्रव्य हैं जो स्वयं क्रियावान् हैं हम जैन क्रियारहित कारण से दूसरे में क्रिया होजाने का निषेध नहीं करते हैं। आदिभूत क्रियारहित कारणों से ही पहिली क्रिया उपजेगी हाँ जो प्रकृष्ट प्रेरक होकर दूसरे पदार्थ में क्रिया को करेगा वह स्वयं क्रियावान् अवश्य होना चाहिये। प्रकृत में जीव द्रव्य शरीर में क्रिया का प्रेरक सम्पादक है अतः वह क्रियावान् अवश्य होना चाहिये जैसे कि पत्तों आदिक में क्रियाओं का सम्पादक वायु स्वयं क्रियावान् है। धीवर पालकी में वैद्य जी को लिये जा रहे हैं यहाँ वैद्य जी में क्रिया पालकी द्वारा होरही है, पालकी में क्रिया को धीवर कर रहे हैं धीवरों के शरीर में क्रियाओं को उनकी आत्मायें

कर रही हैं। उत्साह, इच्छा, वेग, पुरुषार्थ, शक्ति इन करके छाती में क्रिया होरही श्रौषधों की डांगों को ढकेलती जाती है अथवा कौर लीला जाता है यानी गटक लिया जाता है, यहाँ भी क्रियावान् ही आत्मा अपने हाथ, जबड़ा, गलकाक आदि शरीर के अवयवों में क्रिया का सम्पादक है, भले ही आत्मा की क्रिया स्वयं निष्क्रिय होरहे इच्छा, प्रयत्न, उत्साह आदि से होजाय। अतः विचारशील विद्वानों को यहाँ ग्रन्थकार के "अन्यत्र द्रव्ये क्रियाहेतुत्वात्, इस हेतु का अन्तस्तल में अवगाह कर विचार कर लेना चाहिये।

प्रयत्नादिगुणस्तद्वान्न हेतुरिति चेन्न वै।
गुणोऽस्ति तद्वतो भिन्नः सर्वथेति निवेदितम्।॥ ३ ॥

वैशेषिक कहते हैं कि आत्मा में, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, और भावना नामक संस्कार ये चौदह गुण हैं तिन में से प्रयत्न आदि तीन गुण ही शरीर में क्रिया करने के हेतु हैं उन गुणोंवाला आत्मा तो शरीर में क्रिया करने का हेतु नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो कथमपि नहीं कहना क्योंकि उस गुणों वाले आत्मा से सर्वथा भिन्न होरहा कोई गुण नहीं है, पूर्व प्रकरणों में हम इस बातका निर्णय कर चुके हैं। अर्थात्-गुणी से गुण भिन्न नहीं है, जब आत्मा के गुण शरीर में क्रिया के सम्पादक हैं तो उनसे अभिन्न होरहा आत्मा भी क्रिया का हेतु बन बैठा।

नात्मा शरीरादौ क्रियाहेतुर्निर्गुणस्यापि मुक्तस्य तद्धेतुत्वप्रसंगात् ततोऽसिद्धो हेतुः प्रयत्नो धर्मोऽधर्मश्चात्मनो गुणो हि तन्वामन्यत्र वा द्रव्ये क्रियाहेतुरिति परेषामाशयो न युक्तः, प्रयत्नस्य गुणत्वासिद्धेः, वीर्यान्तरायक्षयोपशमादिकारणापादितो ह्यात्मप्रदेशपरिस्पंदः प्रयत्नो नः क्रियैवेति स्याद्वादिभिर्निवेदनात्। तथा धर्माधर्मयोरपि पुद्गलपरिणामत्वसमर्थनान्नात्मगुणत्वं।

इस कारिका का विवरण यों है वैशेषिकों का यह अभिप्राय है कि शरीर आदि में क्रिया का कारण आत्मा नहीं है किन्तु गुण है यदि शरीर में क्रिया का कारण आत्मा को माना जायगा तो गुणों से रहित मुक्त आत्मा को भी उस क्रिया के हेतुपन का प्रसंग होजावेगा, तिस कारण जैनों का हेतु स्वरूपासिद्ध है "आत्मा क्रियावान् अन्यत्र द्रव्ये क्रियाहेतुत्वात्" यह हेतु पक्ष में नहीं वर्तता है। हाँ प्रयत्न, धर्म, और अधर्म ये आत्मा के तीन गुण ही शरीर में अथवा अन्य वस्त्र, भूषण, ढेला, सूक्ष्म शरीर आदि द्रव्यों में क्रिया के हेतु हैं। इस प्रकार दूसरे वैशेषिकों का यह आशय है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह उनका अभिप्राय समुचित नहीं है क्योंकि प्रयत्न को गुणपना असिद्ध है, वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम, इच्छा, आदि कारणों करके सम्पादित किया गया आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्द

होजाना ही प्रयत्न है वही हमारे यहाँ प्रयत्न आत्मा की क्रिया मानी गयी है, इस प्रकार स्याद्वादी विद्वानों करके निवेदन कर दिया गया है। अर्थात्- आत्मा का प्रयत्न ही आत्मा की क्रिया है जो कि आत्मा की पर्याय आत्मस्वरूप ही है यदि कोई धनिक घोड़ागाड़ी में बैठा (लदा) जा रहा है या कोई रोगी डोली में बैठा जा रहा है यद्यपि परनिमित्त से उस धनिक या रोगी की आत्माओं में क्रिया होरही है किन्तु यह उनका प्रयत्न नहीं है, अतएव प्रयत्न-स्वरूप क्रिया से युक्त होरहे आत्मा को शरीर आदि में क्रिया का हेतुपना कहा गया है तथा दूसरे तीसरे कारण माने गये धर्म, अधर्म, भी पुद्गल द्रव्य के पर्याय हैं, इस बात का हम प्रथम अध्याय में समर्थन कर चुके हैं, अतः ये धर्म अधर्म आत्मा के गुण नहीं हैं, ऐसी दशा में वैशेषिकों का आक्षेप सफल नहीं होसका।

सत्यप्यसौ प्रयत्नादिरात्मगुणः सर्वथात्मनो भिन्नो न प्रमाणसिद्धोस्तीति निवेदनात् कथंचिदभिन्नस्तु स तत्र क्रियाहेतुरित्यात्मैव तद्धेतुरुक्तः स्यात्। तथा च कथमसिद्धो हेतुः ?

" अस्तुतोप स्याय " से उन प्रयत्न आदि को आत्मा का गुण भी मान लिया जाय तो भी वे प्रयत्न धर्म, और अधर्म ये आत्मा से सर्वथा भिन्न होरहे तो प्रमाणों से सिद्ध नहीं हैं, आत्मा से कथंचित् अभिन्न हो रहे ही प्रयत्न या भावपुण्य, एवं भावपाप होसकते हैं, इसका हम निवेदन कर चुके हैं। उस आत्मा से कथंचित् अभिन्न होरहे प्रयत्न आदिक उन शरीर या अन्य द्रव्य में क्रिया के कारण हैं, यों कहने पर तो वह आत्मा ही उस क्रिया का कारण है, यों कह दिया गया समझा जाता है। अभेद पक्ष के अनुसार एक की बात दूसरे कथञ्चित् अभिन्न में भी लागू होजाती है। और तिस प्रकार आत्मा को शरीर आदि की क्रिया का कारणपना सध जाने पर हम जैनों का " द्रव्ये क्रियाहेतुत्व " यह हेतु भला असिद्ध हेत्वाभास कैसे होसकता है ? अर्थात्-नहीं।

क्रियाहेतुगुणत्वाद्वा लोष्ठवत्सक्रियः पुमान्।
धर्मद्रव्येण चेदस्य व्यभिचारः परश्रुतौ ॥ ४ ॥
न तस्य प्रेरणाहेतुगुणयोगित्वहानितः।
निमित्तमात्रहेतुत्वात्स्वयं गतिविवर्तिनाम् ॥ ५ ॥

अथवा आत्मा को क्रिया-सहित सिद्ध करने का दूसरा अनुमान यों समझिये कि आत्मा (पक्ष) सक्रिय है (साध्य) क्रिया के हेतु होरहे गुणों को धारने वाला होने से (हेतु) डेल के समान (अन्वय दृष्टान्त)। यदि यहां कोई वैशेषिक पण्डित दूसरे विद्वान् जैनों के शास्त्रों की सम्मति अनुसार धर्मद्रव्य करके इस हेतु का व्यभिचार उठावे कि जीव, पुद्गलों की गति का कारण धर्म द्रव्य है या गति के हेतु होरहे " गति-हेतुत्व " नामक गुण को धारने वाला धर्म द्रव्य है किन्तु वह सक्रिय नहीं

माना गया है, अभी इसी सूत्र में धर्म द्रव्य को क्रियारहित साधा जा रहा है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह दोष उठाना ठीक नहीं क्योंकि उस धर्म द्रव्य को क्रिया की प्रेरणा करनेवाला हेतुभूत गुण के योगीपन की हानि है। अर्थात्-क्रिया का प्रेरक कारण धर्म द्रव्य नहीं है, हां स्वयं गति--स्वरूप परिणमन कर रहे जीव पुद्गलों की गति--क्रिया का केवल सामान्य रूप से निमित्त कारण धर्म द्रव्य है, हेतु के शरीर में प्रेरकपना घुसा हुआ है, अतः व्यभिचार दोष नहीं आता है।

क्रियाहेतुगुणत्वस्य हेतोः क्रियावत्त्वे साध्ये गगनेनानैकांत इत्ययुक्तं, तस्य क्रियाहेतुगुणायोगात्। वायुसंयोगः क्रियाहेतुरिति चेन्न, तस्य क्रियावति तृणादौ क्रियाहेतुत्वेन दर्शनात्। निष्क्रिये व्योमादौ तथात्वेनाप्रतीतेः। न च य एव तृणादौ वायुसंयोगः स एवाकाशेस्ति, प्रतिसंयोगि-संयोगस्य भेदात् वायुसंयोगसामान्यं तु न क्वचिदपि क्रियाकारणं, मंदतमवेगवायुसंयोगे सत्यपि पादपादौ क्रियानुपलब्धेः।

वैशेषिक जन व्यभिचार दोष उठाने के लिये पुनः अपनी घर-मानी प्रक्रिया अनुसार चेष्टा करते हैं कि क्रिया के हेतुभूत गुण से सहितपन हेतु का क्रियासहितपन साध्य करनेपर आकाश करके व्यभिचार होजायगा। आचार्य कहते हैं कि यह कहना अयुक्त है क्योंकि उस आकाश के क्रियाके हेतुभूत होरहे गुण का योग नहीं है। यदि वैशेषिक यों कहैं कि आकाश और वायुका, संयोग नामका गुण क्रिया का हेतु होरहा आकाश में विद्यमान है जैसे तृणवायुसंयोग तृण में क्रिया को कर देता है। संयोग दो आदि द्रव्यों में ठहरता है, चल रही वायु में जो ही संयोग है वही संयोग वहां के आकाश में विद्यमान है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि वह वायु संयोग तो क्रियावान् माने गये तिनके, पत्ता, शाखा, आदि में क्रिया करने के हेतुपने करके देखा गया है, क्रियारहित आकाश आदि में तिस प्रकार क्रिया के हेतुपने करके उस वायुसंयोग की प्रतीति नहीं होती है।

दूसरी बात यह है कि जो ही वायु--संयोग तृण आदि में क्रिया का हेतु है वही वायु-संयोग तो आकाशमें नहीं है, कारण कि प्रत्येक संयोगी द्रव्य की अपेक्षा संयोग भिन्न भिन्न हैं, घट और पट का संयोग होजाने पर घट का संयोग गुण न्यारा है और पट का संयोग न्यारा है, दो द्रव्यों का एक गुण साझे का नहीं होसकता है, अलीक है। हाँ सामान्य होने से दो गुणों को एक गुण भले ही व्यवहार में कह दिया जाय, वैशेषिकों ने भी दो, तीन, आदि पदार्थों में प्रत्येक में न्यारी न्यारी द्वित्व, त्रित्व, संख्या का समवाय सम्बन्ध से वर्तना स्वीकार किया है। पर्वत में अग्नि संयोगसम्बन्ध से रहती है, यहां प्रतियोगिता सम्बन्ध से अग्नि में संयोग रहता है और अनुयोगिता सम्बन्ध से पर्वत में संयोग रहता माना गया है, वस्तुतः ये संयोग दो होने चाहिये, अतः दो संयोगियों की अपेक्षा वायु संयोग उन में न्यारा न्यारा है।

हां सामान्य रूप से मात्र वायुसंयोग तो किसी भी द्रव्य में क्रिया का कारण नहीं माना गया है, देखिये अतीव मन्द वेगवाले वायु का संयोग होने पर भी कदाचित् वृक्ष आदि में क्रिया नहीं देखी जाती है अर्थात्—जीवनोपयोगी वायु सदा बहती ही रहती है कभी अर्द्धरात्रि के समय या वर्षा की आदि में अथवा अन्य अवसरों पर भी सर्वथा मन्द वायु चलती है, तब वृक्ष, दीपक, आदि पदार्थों में भी क्रिया देखने में नहीं आती है, पुष्ट भींत या दृढ़ थम्भों को तो तीव्र वेग वाले वायु का संयोग भी हिला, डुला, नहीं सकता है, अतः आकाश करके "क्रिया-हेतु गुणत्व" हेतु का व्यभिचार दोष नहीं आता है।

स्यान्मतं, न क्रियावानात्मा सर्वगतत्वादाकाशवदित्यनुमानबाधितः क्रियावान् पुरुष इति पक्षः, कालात्ययापदिष्टश्च हेतुरिति। तदसत्, पुरुषस्य सर्वगतत्वासिद्धेः। सर्वगतः पुरुषो द्रव्यत्वे सत्यमूर्तत्वाद्गगनवदिति चेन्न, परेषां कालद्रव्येण व्यभिचारात् साधनस्य। कालस्य पक्षीकरणाददोष इति चेन्न, पक्षस्यानुमानागमबाधानुषङ्गात्।

वैशेषिकों का यों मन्तव्य भी होय कि आत्मा (पक्ष) क्रियावान् नहीं है (साध्य) सर्वत्र व्यापक होने से (हेतु) आकाश के समान (दृष्टान्त)। इस अनुमान से तुम जैनों का "आत्मा क्रियावान् है" यह पक्ष बाधित होजाता है और "क्रियाहेतु-गुणत्वहेतु" कालात्ययापदिष्ट (बाधित हेत्वाभास) होजाता है। आचार्य कहते हैं कि यह उनका कहना असत्य है प्रशंसनीय नहीं है क्योंकि पुरुष के सर्वव्यापकपन की सिद्धि नहीं होसकी है अर्थात् सभी आत्मायें अपने अपने गृहीतशरीर बराबर मध्यम परिमाणवाले हैं। मुक्त आत्मायें चरम शरीर से किंचित् न्यून लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई, को धार रहीं हैं केवल लोकपूरण अवस्थामें आत्मा तीन लोकमें व्याप जाती है। यदि वैशेषिक आत्मा को व्यापक सिद्ध करने के लिये यों अनुमान उठावें कि आत्मा (पक्ष) सर्वत्र फैल रहा व्यापक है (साध्य) द्रव्य होते हुये अमूर्त होने से (हेतु) आकाश के समान (दृष्टान्त)।

यहां रूप आदि गुणों या क्रिया, सामान्य, आदि में व्यभिचार की निवृत्ति के लिये द्रव्यपन विशेषण देना और पृथिवी आदि में व्यभिचार के निवारणार्थ अमूर्त्तत्व कहना सार्थक है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह अनुमान तो ठीक नहीं। क्योंकि दूसरे विद्वान् जैनों के यहां स्वीकार किये गये काल द्रव्य करके तुम्हारे हेतुका व्यभिचार दोष आता है। भावार्थ--वादी, प्रतिवादी, दोनोंको हेतु अभीष्ट होना चाहिये अन्यथा वह साध्य कोटि में धर दिया जाता है। सवारी का घोड़ा वह होना चाहिये जो स्वयं चलता हुआ असवार को भी अभीष्ट स्थान पर ले पहुँचे किन्तु जो घोड़ी का निर्बल बच्चा (बछेड़ा) स्वयं सिर पर धरना पड़े वह गमक (ले जाने वाला वाहन) नहीं होसकता है। देखो काल बेचारा द्रव्य है और अमूर्त भी है किन्तु सर्वगत नहीं है। यदि वैशेषिक यों कहैं कि काल को भी हम पक्ष कोटि में कर लेंगे, वह भी व्यापक द्रव्य है, अतः कोई दोष नहीं आता है। आचार्य कहते हैं

कि यह ढंग तो ठीक नहीं। व्यभिचार स्थल को पक्षकोटि में डालने का विचार रखना अच्छा नहीं है, काल को सर्वगत मानने पर तुम्हारे पक्ष की अनुमानप्रमाण और आगमप्रमाण से बाधा आजाने का प्रसंग आता है।

तथाहि—कालोऽसर्वगतो नानाद्रव्यत्वात्-पुद्गलवदि त्यनुमानं पक्षस्य बाधकं। न चात्रासिद्धो हेतुः तस्य नानाद्रव्यत्वेन स्याद्वादिनां सिद्धत्वात्। नानाद्रव्यं कालः प्रत्याकाशप्रदेशं युगपद्व्यवहारकालभेदान्यथानुपपत्तेः। प्रत्याकाशप्रदेशं भिन्नो व्यवहारकालः सकृत्कुरुक्षेत्राकाशलंकाकाशदेशयोर्दिवसादिभेदान्यथानुपपत्तेः। तत्र दिवसादिभेदः पुनः क्रियाविशेषभेदात् नैमित्तिकानां लौकिकानां च सुप्रसिद्ध एव। स च व्यवहारकालभेदो गौणः परैरभ्युपगम्यमानो मुख्यकालद्रव्यमंतरेण नोपपद्यते। यथा मुख्यसत्त्वमंतरेण क्वचिदुपचरितसत्त्वमिति। प्रतिलोकाकाशप्रदेशं कालद्रव्यभेदसिद्धिस्तत्साधनस्यानवद्यत्वात् अन्यथानुपपन्नत्वसिद्धेः।

इसी बात को स्पष्ट कह कर यों दिखलाया जाता है कि काल द्रव्य (पक्ष) अव्यापक है (साध्य) अनेक द्रव्य होने से (हेतु) पुद्गल के समान (दृष्टान्त)। यह निर्दोष अनुमान तुम्हारे पक्ष का बाधक है, इस अनुमान में पड़ा हुआ हेतु असिद्ध नहीं है क्योंकि उस काल को नाना द्रव्यपने करके स्याद्वादियों के यहां सिद्ध कर दिया है। और भी लीजिये कि काल (पक्ष) अनेक द्रव्य है (साध्य) आकाश के प्रत्येक प्रदेश पर एक ही समय में भिन्न भिन्न व्यवहार कालों की अन्यथा यानी कालको नाना द्रव्य माने बिना, सिद्धि नहीं होपाती है। इस अनुमान का हेतु भी असिद्ध नहीं है, देखिये व्यवहार काल (पक्ष) प्रत्येक आकाश के प्रदेशों पर भिन्न भिन्न वर्त रहा है (साध्य) क्योंकि एक ही समय उत्तर प्रान्तवर्त्ती कुरुक्षेत्र सम्बन्धी आकाश और दक्षिण प्रान्तवर्त्ती लंका सम्बन्धी आकाश प्रदेशों में दिवस आदिका भेद अन्यथा यानी भिन्न भिन्न व्यवहार कालको माने विना नहीं बन पाता है।

यह भी हेतु असिद्ध नहीं है क्योंकि उन कुरुक्षेत्र, लंका आदि देशों में फिर दिवस आदि का भेद तो क्रियाविशेषों के भेद से होरहा निमित्तशास्त्रज्ञाता, ज्योतिषी पण्डित और लौकिक पुरुषों के यहां बहुत अच्छा प्रसिद्ध ही है अर्थात्—सूर्यके उदय और अस्त की अपेक्षा लंका और कुरुक्षेत्र का स्वल्प अन्तर पड़ जाता है। शीत और उष्णता में भी अन्तर है, आम्र आदि फलों का आगे पीछे पकना इत्यादि क्रियायें भी विशेषताओं को लिये हुये हैं। यों क्रियाविशेषों के अनुसार दिवस आदि भेद और न्यारे न्यारे स्थलों पर दिवस आदि भेदों करके उन व्यवहार कालों का भेद तथा व्यवहार कालों के भेद से काल को नाना द्रव्यपन साध दिया जाता है।

भिन्न, भिन्न, व्यवहार काल तो वैशेषिक, मीमांसक, आदि सबको मानने पड़ते हैं और वह दूसरे विद्वानों करके गौण होकर स्वीकार कर लिया भिन्न भिन्न व्यवहार काल तो मुख्य काल-द्रव्यके

बिना नहीं बन सकता है। जैसे कि वैशेषिकों के यहां पर द्रव्य, गुण, कर्म में मुख्य सत्ताको माने बिना कहीं सामान्य, विशेष, आदि में उपचरित (गौण) सत्ता नहीं बन पाती है इस कारण लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश पर भिन्न भिन्न काल द्रव्य की सिद्धि होजाती है क्योंकि अन्यथानुपपत्ति की

सिद्धि होजाने से काल के उस नाना द्रव्यपने को साधने वाला हेतु निर्दोष है। नाना द्रव्यपनसे पुनः काल का अध्यापकपना सध जाता है। अतः आत्मा को व्यापकपना साधने में दिया गया वैशेषिकों का " द्रव्य होते हुये अमूर्तपना " हेतु काल द्रव्य करके व्यभिचारी है। स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष से भी आत्मा का अपने अपने शरीर--परिमाण वाले का ही अनुभव होरहा है।

कालस्यासर्वगतत्वेऽनिष्टानुषंगपरिजिहीर्षया प्राह।

काल को अव्यापक द्रव्य मानने पर अनिष्ट का प्रसंग होजायगा, यों वैशेषिकों के अभिप्राय के परिहार करने की इच्छा करके ग्रन्थकार अगली वार्तिक को सुन्दर कह रहे हैं।

कालोऽसर्वगतत्वेन क्रियावान्नानुषज्यते।
सर्वदा जगदेकैकदेशस्थत्वात् पृथक् पृथक् ॥ ६ ॥

कणाद मत-अनुयायी कहते हैं, कि काल को यदि असर्वगत द्रव्य माना जायगा तब तो इस हेतु करके परमाणु, मन, ढेल, गोली आदि के समान काल को भी क्रियावान् बनने का प्रसंग आ जावेगा किन्तु हम और जैनभी कालको क्रिया-रहित मानते हैं आचार्य कहते हैं कि यह प्रसंग नहीं आपाता है क्योंकि सदा लोक के एक एक प्रदेश पर पृथक् पृथक् होकर कालाणु स्थित होरहे हैं। बात यह है कि कालाणुओं के अतिरिक्त सुमेरु पर्वत, ध्रुवतारा, मनुष्य लोक से बाहर के सूर्य चन्द्र विमान, अन्य भी बिले, भवन, कुल-पर्वत, आदिक अव्यापक पदार्थ जहां के तहां नियत होरहे स्थित हैं, हलन, चलन, नहीं करते हैं। उसी प्रकार असंख्यात कालाणुयें भी अनादि काल से अनन्त काल तक अपने अपने नियत स्थानों पर अडिग होकर व्यवस्थित हैं, उन में क्रिया होने का अन्तरंग कारण सर्वथा नहीं है। कोई वेगयुक्त पदार्थ कालाणुओं में आघात भी करें तो वह अमूर्त कालाणुओं में से अव्याघात होकर परली ओर निकल जायगा, जैसे से कि स्वच्छ कांच चलाया, फिराया, गया फैल रहो धूप को हिला, डुला, नहीं सकता है, धूप वहां की वहां ही रहती है, कांच से उसका व्याघात या देशान्तर कर देना नहीं हो पाता है।

क्रियावान् कालोऽसर्वगतद्रव्यत्वात् पुद्गलवदित्यनिष्टानुषंजनमयुक्तं, सर्वदा लोकाकाशैकैकप्रदेशस्थत्वेन पृथक्-पृथक् कालाणूनां प्रसाधनात्। ते हि प्रत्याकाशप्रदेशं प्रतिनियतस्वभावस्थितयोऽभ्युपगन्तव्याः परीक्षकैरन्यथा व्यवहारकालभेदप्रतिनियतस्वभावस्थित्यनुपपत्तेः कदाचित्परावृत्तिप्रसंगात्।

वैशेषिक अनिष्ट प्रसंग को उठा रहे हैं कि काल द्रव्य (पक्ष) क्रियावान् हो जाना चाहिये (साध्य) अव्यापक द्रव्य होने से (हेतु) पुद्गल के समान (दृष्टांत)। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह हम तुम दोनों को अनिष्ट हो रहे काल के क्रिया-सहित पन का प्रसंग उठाना अनुचित है क्योंकि सदा लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर स्थित हो रहेपन करके पृथक्-पृथक् कालाणु द्रव्यों की अच्छी सिद्धि कर दी गयी है। वे कालाणुयें आकाश के प्रदेश पर अपने प्रतिनियत स्वभावों करके स्थित हो रहीं परीक्षक विद्वानों करके अवश्य स्वीकार करनी पड़ती हैं, अन्यथा यानी--प्रत्येक प्रदेश पर प्रत्येक कालाणु के नहीं मानने पर तो प्रतिनियत स्वभावों को लिये हुये व्यवहार काल के भेदों की स्थिति नहीं बन पाती है। यों तो कभी कभी उन व्यवहार काल के विशेषों की परावृत्ति हो जाने का प्रसंग हो जायगा किन्तु परावृत्ति (रद्दोबदल) होती नहीं है, अतः कालाणुओंको क्रिया-रहित और प्रत्येक प्रदेश पर [illegible]

अणुपरिमाणानि च तानि कालद्रव्याणि स्कंधाकारत्वेन कार्यानुमितिप्रतीयमानस्य कार्यस्य प्रत्याकाशप्रदेशं सकृद्द्रव्यव्यवहारकालभेदलक्षणस्याणुनापि कालद्रव्येण कर्तुं शक्यत्वात्। एतेन सर्वगतः काल इति पक्षस्यागमबाधोपदर्शिता। कथं? "लोयायासपएसे एक्केक्के जे ठिया हु एक्केका। रयणाणं रासी इव ते कालाणू मुणेयव्वा" इत्यागमस्याबाधितस्य सिद्धेः। अत एव द्रव्यत्वे सत्यमूर्तत्वादिति हेतुः कालात्ययापदिष्टः कालोऽसर्वगत एव व्यवतिष्ठते। तथा चात्मनः परममहत्वे साध्येऽस्यैव हेतोः कालेन व्यभिचारः सिद्ध्यतीति नातस्तत्सिद्धिर्येन क्रियावानात्मा क्रियाहेतुगुणत्वाल्लोष्ठवदित्यनुमानमनवद्यं न भवेत्। पक्षस्यानुमानबाधनानवताराद्धेतोश्च कालात्ययापदिष्टत्वाभावादिति युक्तमाकाशान्तानां निष्क्रियत्वं तद्वचनेन सामर्थ्याज्जीवपुद्गलानां सक्रियत्वप्रतिपादनं च कालस्य वक्ष्यमाणस्य निष्क्रियत्वात्।

वे काल द्रव्य अणु परिमाण वाले हैं क्योंकि स्कन्ध आकारपने करके कार्य अनुमिति द्वारा प्रतीत किया जा रहा जो प्रत्येक आकाश के प्रदेश पर युगपत् व्यवहार काल के अनेक भेद-स्वरूप कार्य है वह अणु-स्वरूप भी काल द्रव्य करके किया जा सकता है। इस कार्यके लिये व्यापक काल या लम्बे चौड़े काल द्रव्य की आवश्यकता नहीं है।

इस उक्त कथन करके वैशेषिकों के काल सर्वगत है, इस पक्ष की आगमप्रमाणसे आ रही बाधा दिखलाई जा चुकी है। अनुमान प्रमाण से तो वैशेषिकों के पक्ष की बाधा हो ही चुकी।

आगम प्रमाण से बाधा किस प्रकार आती है? उसको यों सुनो। प्राचीन किसी सिद्धान्त ग्रन्थ की गाथा है श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने भी द्रव्य-संग्रह ग्रन्थ में उल्लेख किया है "लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर एक एक होकर जो रत्नों की राशि के समान स्थित हो रहीं हैं वे कालाणुयें समझ लेनी चाहिये। इस अबाधित हो रहे आगम की सिद्धि है।

यों काल को भी पक्ष कोटि में डालकर व्यापक सिद्ध कर रहे वैशेषिकों के पक्ष को अनुमान से बाधा दिखला दी जा चुकी थी, अब आगम से भी उस पक्ष की बाधा को प्रसिद्ध कर दिया है।

इसी कारण से काल को पक्ष कोटि से डालकर "द्रव्य होते हुये अमूर्तपन" यह हेतु बाधित हेत्वाभास हो जाता है क्योंकि काल द्रव्य अव्यापक ही व्यवस्थित हो रहा है और तैसा होनेपर आत्मा को परम महापरिणाम वाला (सर्वव्यापक) साध्य करनेपर इस 'द्रव्यत्वे सत्यमूर्तत्व' हेतु का काल द्रव्य

करके व्यभिचार सिद्ध हो जाता है, इस कारण इस द्रव्यत्वे सति अमूर्तत्वहेतु से आत्मा के उस सर्वगतपने की सिद्धि नहीं हो पाती है जिससे कि हम स्याद्वादियों का "आत्मा क्रियावान है क्रियाके हेतुभूत गुणों का धारने वाला होने से डेल के समान" यह अनुमान निर्दोष नहीं होता।

अर्थात्—जैनियों का अनुमान निर्दोष है क्योंकि हमारे पक्ष के ऊपर अनुमान प्रमाणों द्वारा बाधाओं का अवतार नहीं है और इसी ही कारण हमारा हेतु कालात्ययापदिष्ट नहीं है। अतः सूत्रकार ने यह बहुत अच्छा कहा था कि आकाश पर्यन्त द्रव्यों के क्रिया-रहितपन है तथा उस कथन करके परिशेष न्याय द्वारा बिना कहे ही अन्य उक्त शब्दों की सामर्थ्य से जीव और पुद्गल द्रव्यों का क्रियासहितपना समझा दिया गया है और भविष्य ग्रन्थ में कहे जानेवाले काल द्रव्य को क्रिया-रहितपना भी निर्णीत कर दिया है जो कि सूत्रकार के अभिप्राय के अनुसार यह छटवां वार्त्तिक और उसका विवरण काल के निष्क्रियपन का प्रतिपादन कर रहा है।

नन्वेवं निःक्रियत्वेपि धर्मादीनां व्यवस्थिते।
न स्युः स्वयमभिप्रेता जन्मस्थानव्ययक्रियाः ॥७॥
तथोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति लक्षणं।
तत्र न स्यात्ततो नैषां द्रव्यत्वं वस्तुतापि च ॥ ८ ॥
इत्यपास्तं परिस्पंदक्रियायाः प्रतिषेधनात्।
उत्पादादिक्रियासिद्धेरन्यथा सत्त्वहानितः ॥ ९ ॥
परिस्पंदक्रियामूला नचोत्पादादयः क्रियाः।
सर्वत्र गुणभेदानामुत्पादादिविरोधतः ॥ १० ॥
स्वपरप्रत्ययौ जन्मव्ययौ यदि गुणादिषु।
स्थितिश्च किं न धर्मादिद्रव्येष्वेवमुपेयते ॥ ११ ॥

अब यहां किन्हीं दूसरे ही विद्वानों का प्रश्न है कि इस प्रकार प्रमाणों द्वारा धर्म आदि द्रव्यों के क्रिया--रहितपन की भी व्यवस्था होचुकने पर फिर स्वयं जैनों को अभीष्ट हो रही उत्पत्ति, स्थिति, और व्यय स्वरूप क्रियायें उनमें नहीं हो सकेंगी और ऐसी दशा में सूत्रकार द्वारा किया गया तिस प्रकार उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यों से युक्त पदार्थ सत् है, यह द्रव्य का लक्षण उन धर्म आदिकों में घटित नहीं होसकेगा, तिस कारण इन धर्म आदिकों का द्रव्यपना और वस्तुपना भी नहीं बन पाता है, अर्थात्--धर्म आदिकों में जब कोई क्रिया नहीं पायी जाती है तो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप क्रियाओं के भी अभाव हो जाने पर धर्म आदिक न तो द्रव्य और न वस्तु सध सकेंगे, खर-विषाण के समान असत् हो जायंगे।

आचार्य कहते हैं कि यह शंकाकार का कहना यों निराकृत होजाता है, कि सूत्रकार

ने " निष्क्रियाणि च " इस सूत्र द्वारा हलन, चलन, कम्प, आदि परिस्पन्द--स्वरूप क्रिया का धर्म आदिक द्रव्यों में प्रतिषेध किया है, शुद्ध धात्वर्थ--स्वरूप या अपरिस्पन्द--आत्मक उत्पाद आदि क्रियायें तो उनमें सिद्ध हैं, अन्यथा धर्म आदिकों के सत्पने की ही हानि होजायगी । उत्पाद, व्यय, आदिक क्रियायें परिस्पन्द--स्वरूप क्रिया को मूल कारण मान कर नहीं होती हैं। यदि हलन, चलन, आदि क्रिया की भित्ति पर उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य माने जायंगे तो गुणों के रूप पीत आदि भेद प्रभेदों के उत्पाद आदि होनेका विरोध हो जायगा। भावार्थ—वैशेषिकों ने द्रव्यों में ही उत्क्षेपण आदि परि-स्पन्द स्वरूप क्रियायें मानी हैं। " गुणादिर्निर्गुणक्रियः " गुणों में क्रियायें नहीं रहती हैं, ऐसी दशा में क्रिया--रहित गुणों में तुम्हारे विचार अनुसार उपजना, नशना, ठहरना, बढ़ना, घटना, आदि क्रियायें नहीं हो सकेंगी।

यदि आप गुण आदिकों में स्व और पर को कारण मान कर होरहे उत्पाद, व्यय और स्थिति को मानेंगे तो इसी प्रकार धर्म आदि द्रव्यों में उत्पाद, व्यय, स्थितियों को क्यों नहीं स्वीकार करलिया जाता है। भावार्थ—परिस्पन्द क्रिया के बिना जैसे गुण आदिकों में अनेक अपरिस्पन्द-आत्मक क्रियायें होरहीं हैं, ज्ञान उपजता है, घटता है, बढ़ता है, सुख ठहर रहा है, भावना दृढ़ होरही है आदि उसी प्रकार परिस्पन्द के बिना भी धर्म आदि द्रव्यों में उत्पाद आदि क्रियायें सध जाती हैं। शुद्ध पर-मात्मायें, आकाशद्रव्य, कालाणुयें, धर्म, अधर्म, इन द्रव्यों में हलन, चलन, आदि के बिना अनेक अप-रिस्पन्द क्रियायें होरहीं हैं, षट्स्थान-पतित हानि वृद्धियों के अनुसार अन्तरंग, बहिरंग कारण-वश अनेक उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होते रहते हैं। अतः इनमें वस्तुपना, द्रव्यपना, बाल बाल रक्षित होरहा अक्षुण्ण है।

गतिस्थित्यवगाहानां परत्र न निबंधनं।
धर्मादीनि क्रियाशून्यस्वभावत्वात्खपुष्पवत् ॥ १२ ॥

क्रियावत्त्वप्रसंगो वा तेषां वायुधरांबुवत् ।
इत्यचोद्यं बलाधानमात्रत्वादुगमनादिषु ॥ १३ ॥
धर्मादीनां स्वशक्त्यैव गत्यादिपरिणामिनां ।
यथेन्द्रियं बलाधानमात्रं विषयसंविदि ॥ १४ ॥

किसी विद्वान् का आचार्यों के ऊपर आक्षेप है, कि धर्म आदिक तीन द्रव्य (पक्ष) दूसरे द्रव्यों में गति स्थिति, और अवगाह के कारण नहीं होसकते हैं, (साध्य) क्रियारहितपना स्वभाव होने से (हेतु) आकाश के फूल समान (दृष्टान्त) । यदि धर्म, अधर्म और आकाश को यथाक्रम से गति, स्थिति, और अवगाह देना इनका कारण माना जायगा तो वायु, पर्वत, और जल के समान उन धर्म आदिकों के क्रिया--सहितपन का प्रसंग होजावेगा अर्थात्—वायु क्रियासहित हो रही ही तृण आदिकों की गति का निबन्ध है, पर्वत क्रिया करने की सामर्थ्य को धार रहा हो पक्षी, पशु, आदि की स्थिति का अवलम्ब होरहा है । जल भी स्वयं क्रियावान् होरहा मछली, डेल, आदि के अवगाह का हेतु होरहा है । उसी प्रकार धर्म आदिक भी क्रियावान् होजायेंगे ।

ग्रन्थकार कहते हैं कि यह चोद्य उठाना ठीक नहीं है । क्योंकि अपनी शक्ति करके गति आदि स्वरूप परिणत होरहे पदार्थों के गमन, स्थिति, आदि में धर्म आदि द्रव्यों को केवल बलाधायकपना है, जिस प्रकार कि रूप रस, आदि विषयों के सन्निधान होने पर चक्षु आदि इन्द्रियां चाक्षुषप्रत्यक्ष आदि की उत्पत्ति में आत्माके केवल बल का आधान कर देती हैं । भावार्थ—जैसे कि आत्मा को ज्ञान करने में इन्द्रियां थोडा सहारा लगा देती हैं, उसी प्रकार गति, स्थिति, अवगाह क्रियाओं में धर्म आदिक तीन द्रव्य स्वल्प सहारा लगाने वाले उदासीन कारण हैं, समर्थ कारण तो गति-परिणत या स्थिति--परिणत अथवा अवगाह--परिणत पदार्थ ही हैं । अतः धर्म आदिकों के परिस्पन्द क्रिया से सहितपन का प्रसंग नहीं आपाता है ।

पुंसः स्वयं समर्थस्य तत्र सिद्धेर्न चान्यथा ।
तथैव द्रव्यसामर्थ्यान्निष्क्रियाणामपि स्वयं ॥ १५ ॥
धर्मादीनां परत्रास्तु क्रियाकारणमात्रता ।
नचैवमात्मनः कालक्रियाहेतुत्वमापतेत् ॥ १६ ॥
सर्वथा निष्क्रियस्या पि स्वयं मानविरोधतः ।

आत्मा हि प्रेरको हेतुरिष्टः कायादिकर्मणि ॥
तृणादिकर्मणीवास्तु पवनादिश्च सक्रियः ॥१७॥ (षट्पदी)

विशेष शक्तिशाली कारणों की अपेक्षा विचार किया जाय तो उन चाक्षुष-प्रत्यक्ष आदि ज्ञानों में स्वयं समर्थ हो रहे आत्मा की ही सिद्धि है, अन्य प्रकारों से ज्ञान नहीं उपजता है। यानी-आत्मा के बिना मृत शरीर में बल रहीं इन्द्रियां ज्ञानों को नहीं उपजा सकती हैं।

तिस ही प्रकार द्रव्य की सामर्थ्य से स्वयं क्रिया--रहित हो रहे भी धर्म आदिकों को दूसरे जीव आदिकों की गति आदि में क्रिया का केवल सामान्य कारणपना रहो।

यदि यहां कोई वैशेषिक अवसर पाकर यों बोल उठे कि इस प्रकार तो क्रिया--रहित ही आत्मा को भी शरीर में क्रिया का हेतुपना आ पड़ेगा (प्राप्त हो जावेगा) अर्थात् क्रिया--रहित धर्म आदिक जैसे दूसरे पदार्थों में क्रियाओं को कर देते हैं, उसी प्रकार क्रिया-रहित जीव भी शरीरमें क्रिया को उपजा देगा, फिर 'शरीरे क्रिया-हेतुत्व' हेतु आप जैनों ने आत्मा में क्रिया-सहितपन को क्यों साधा था ? आचार्य कहते हैं कि यह नहीं समझ बैठना क्योंकि सर्वथा भी स्वयं क्रियाओं से रहित हो रहे आत्मा को मानने पर प्रमाणों से विरोध आता है जब कि शरीर आदि की क्रिया करने में आत्मा प्रेरक कारण इष्ट किया गया है जैसे कि तृण पत्ता आदि की क्रियाओं में वायु, जल, बिजली आदिक प्रेरक कारण माने गये हैं, दूसरों में क्रियाओं के प्रेरक कारण पवन आदिक क्रिया--सहित ही हैं तो उसी प्रकार आत्मा भी क्रिया--सहित होना चाहिये तभी शरीर आदि में क्रिया करने का वह प्रेरक-हेतु हो सकता है।

वीर्यांतरायविज्ञानावरणच्छेदभेदतः।
सक्रियस्यैव जीवस्य ततोंगे कर्महेतुता ॥१८॥

तिस कारण से सिद्ध हुआ कि वीर्यान्तराय कर्म और ज्ञानावरण कर्म के (का) विशेष क्षयोपशम हो जाने से क्रियासहित हो रहे ही जीव को शरीर में क्रिया का हेतुपना प्राप्त होता है।

हस्ते कर्मात्मसंयोगप्रयत्नाभ्यामुपेयते।
यैस्तेपि च प्रतिक्षिप्तास्तयोस्तच्छक्त्ययोगतः ॥१९॥
निष्क्रियो हि यथात्मैषां क्रियावद्धैः सहस्यतः।
कालादिवत्तथैवात्मसंयोगः सप्रयत्नकः ॥२०॥

गुणः स्यात्तस्य तद्वच्च निष्क्रियत्वाविशेषतः ।
गुणाःकर्माणि चैतेन व्याख्यातानीति सूचनात् ।।२१।।
नतावदात्मसंयोगः केवलःकर्मकारणं ।
नुःप्रयत्नस्य हस्तादौ क्रियाहेतुत्वहानितः ।।२२।।
नैकस्य तत्प्रयत्नस्य क्रियाहेतुत्वमीक्ष्यते ।
शरीरायोगिनोन्यस्य ततः कर्मप्रसंगतः ।।२३।।

आत्मा के हो रहे संयोग से और प्रयत्न से हाथ में कर्म (क्रिया) उपज जाती है, यह सिद्धान्त जिन वैशेषिकों करके स्वीकार किया गया है वे कणाद मतानुयायी भी उक्त कथन करके प्रतिक्षेप को प्राप्त कर दिये गये हैं क्योंकि उन आत्मा के संयोग और आत्मा के प्रयत्न में हाथ में उस क्रिया को करने की शक्ति का योग नहीं है अर्थात् कणाद ऋषि प्रणीत वैशेषिक दर्शन के पांचवें अध्याय का पहिला सूत्र है "आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म" आत्मा के संयोग और आत्माके प्रयत्न से हाथ में क्रिया उपज जाती है, क्रिया का समवायी कारण हाथ है, प्रयत्न वाले आत्मा का संयोग असमवायी कारण है और प्रयत्न निमित्त कारण है। वैशेषिकों ने पांचवें अध्याय के अगले सूत्रों में भी कर्म पदार्थ की परीक्षा की है। हम ग्रन्थकार को यह कहना है कि साधर्म्य, वैधर्म्य अनुसार प्रमेय निरूपण करने वाले इन वैशेषिकों के यहां क्रियावान् पदार्थों के साथ विसदृशपना होने से जिस प्रकार निष्क्रिय हो रहा आत्मा बेचारा काल आदि के समान क्रियाओं का सम्पादक नहीं है उसी प्रकार प्रयत्न का साथी हो रहा आत्माका संयोग नामक गुण भी क्रिया का कारण नहीं है क्योंकि उस आत्म-संयोग या प्रयत्न को उन काल आदिक के समान क्रियारहितपन का कोई अन्तर नहीं है "दिक्कालावाकाशञ्च क्रियावद्वै-धर्म्यान्निष्क्रियाणि" चकारादात्मसंग्रहः । इसके लगे हाथ ही वैशेषिकों के इस प्रकार सूत्र करने से कि इस क्रियावान् के साथ विधर्मापन करके गुण और कर्मों का भी निष्क्रियपने करके व्याख्यान किया जा जा चुका है, केवल आत्मसंयोग तो कर्म का कारण नहीं हो सकता है।

अर्थात्--वैशेषिक दर्शन में पांचवें अध्याय के दूसरे आन्हिक का बाईसवां सूत्र "एतेन कर्माणि गुणाश्च व्याख्याताः" है, इस सूत्र के अनुसार कोई भी गुण भला क्रिया का कारण या अधिक-रण नहीं हो सकता है ऐसी दशा में केवल आत्म-संयोग भी तो उत्क्षेपण आदि कर्म का कारण नहीं बन पाता है, आत्मा के प्रयत्न को भी हाथ आदि क्रिया के हेतुपन की हानि है क्योंकि उस आत्मा के अकेले प्रयत्न को क्रिया का हेतुपना नहीं देखा जाता है, कोरा प्रयत्न यदि क्रिया का कारण होता तो शरीर का सम्बन्ध नहीं रखने वाले अन्य प्रदेशवर्त्ती व्यापक आत्मा के उस प्रयत्न से भी क्रिया होने का प्रसंग आवेगा।

अर्थात्—आत्मा को व्यापक मानने वाले वैशेषिकों के यहां शरीर से अतिरिक्त थम्भ या भीत में भी आत्मा विद्यमान है आत्मा का प्रयत्न गुणभी वहां आत्मा में समवेत हो रहा है किन्तु भीत में क्रिया नहीं देखी जाती है जो गुण बेचारे स्वयं क्रिया रहित हैं वे अन्य द्रव्यों में क्रिया के प्रेरक-कारण नहीं हो सकते हैं व्यापक द्रव्यका गुण किसी एक देशवर्ती स्वकीय शरीर नामक उपाधिमें ही क्रिया का प्रेरक कारण नहीं बन सकता है या तो सम्पूर्ण स्वसंयोगी पदार्थों में क्रिया को उपजावे अथवा कहीं भी क्रिया को नहीं उपजावे।

बात यह है कि वैशेषिकों के यहां स्वीकृत व्यापक आत्मा या उसके संयोग और प्रयत्न गुण भला हाथ आदि में क्रिया की उत्पत्ति नहीं करा सकते हैं।

सहितावात्मसंयोगप्रयत्नौ कुरुतः क्रियाः।
हस्तादावित्यसंभाव्यमन्धयोः सहदृष्टिवत् ॥ २४ ॥

यदि वैशेषिक यों कहैं कि आत्मा का अकेला संयोग या प्रयत्न गुण तो हाथ में क्रिया को नहीं उपजा सकते हैं, हां आत्मा के संयोग और प्रयत्न दोनों सहित होते हुये हाथ, पांव, आदि में क्रियाओं को कर देते हैं। आचार्य कहते हैं कि यह असम्भव है। जैसे कि दो अन्धे पुरुष साथ होकर भी दर्शन को नहीं कर पाते हैं अर्थात्-अकेला अकेला अन्धा भी देख नहीं सकता है और दो अन्धे मिल कर भी चाक्षुष-प्रत्यक्ष नहीं कर पाते हैं, इसी प्रकार मिलकर आत्मसंयोग और आत्मप्रयत्न भी हाथ में क्रियाओं को नहीं उपजा सकते हैं।

अदृष्टापेक्षिणौ तौ चेदकुर्वाणौ क्रियां नरि।
हस्तादौ कुरुतः कर्म नैवं क्वचिददृष्टितः ॥ २५ ॥

यदि वैशेषिक पुनः यों कहैं कि अदृष्ट यानी विशेष पुण्य, पाप की अपेक्षा को कर रहे वे संयोग और प्रयत्न भले ही आत्मा में क्रिया को नहीं कर रहे हैं किन्तु हाथ, सिर आदि में क्रिया को कर देते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि इस प्रकार कहीं भी नहीं देखा गया है, बिना देखी हुयी बात को केवल तुम्हारी प्रतिज्ञा-मात्र से स्वीकार करने की हमें टेव नहीं है।

उष्णापेक्षो यथा वन्हिसंयोगः कलशादिषु।
रूपादीन् पाकजान् सूते न वन्हौ स्वाश्रये तथा ॥ २६ ॥
नृसंयोगादिरन्यत्र क्रियामारभते न तु।
स्वाधारे नरि तस्येत्थं सामर्थ्यादिति चेन्न वै ॥ २७ ॥



वैधर्म्यादस्मदिष्टस्य सिद्धेः साध्यसमत्वतः।
प्रतीतिबाधनाच्चैतद्विपरीतप्रसिद्धितः ॥ २८ ॥
साध्ये क्रियानिमित्तत्वे दृष्टांतो ह्यक्रियाश्रयः।
स्यादेव विषमस्तावदग्निसंयोग उष्णभृत् ॥ २९ ॥

पुनः अपि वैशेषिक बोलते हैं कि उष्णता की अपेक्षा रखता हुआ अग्नि का संयोग जिस प्रकार घट आदिकों में पाक से जायमान रूप, रस, आदिकों को उपजा देता है किन्तु वह वन्हि-संयोग अपने आधार भूत अग्नि में रूप आदिकों को नवीन नहीं उपजाता है, उसी प्रकार आत्म-संयोग आदि गुण भी अन्य हाथ, पांव, आदि में क्रिया को बना देते हैं परन्तु अपने आधार होरहे आत्मा में क्रिया को नहीं उपजा पाते हैं क्योंकि उन आत्म--संयोग, प्रयत्न, आदि की इसी प्रकार सामर्थ्य है, कार्यकारणभाव के नियतपन में आप जैन भी व्यर्थ झगड़ा नहीं उठावेंगे। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि निश्चय से आपका दृष्टान्त विषम पड़ता है उसमे तो हमारे ही इष्ट की सिद्धि होजाती है। वैशेषिकों के ऊपर साध्य-सम दोष भी लगता है और प्रतीतियों से बाधा आती है तथा वैशेषिकों के इस अभीष्ट मन्तव्य से विपरीत होरहे सिद्धान्त की अच्छी सिद्धि होजाती है। देखिये प्रकरण में क्रिया का निमित्तपना साध्य किया जा रहा है उस अवसर पर क्रिया का आश्रय नहीं ऐसा अग्निसंयोग दृष्टान्त दिया जा रहा है, अतः उष्णता के साथीपन को धार रहा यह अग्नि-संयोग विषम दृष्टान्त है। विषमदृष्टान्त इष्ट साध्य को नहीं साध पाता।

यथा च स्वाश्रये कुर्वन् विकारं कलशादिषु।
करोति वन्हिसंयोगः पुंसो योगस्तथा तनौ ॥ ३० ॥
इत्यस्मदिष्टसंसिद्धिः क्रियापरिणतस्य नुः
काये क्रियानिमित्तत्वसिद्धेः संयोगिनि स्फुटं ॥ ३१ ॥

दूसरी बात यह है कि अग्नि-संयोग जिस प्रकार अपने आश्रय होरहे अग्नि में विकार को कर रहा सन्ता ही घट, ईंट, रन्ध-रहे भात आदि में विकार को कर देता है, उसी प्रकार आत्मा का संयोग भी आत्मा में क्रिया को करता सन्ता ही शरीर में क्रिया को कर देवेगा, इस प्रकार क्रिया-परिणत आत्मा के संयोगी शरीर में क्रिया के निमित्तपन की सिद्धि होजाने से हम जैनों के इष्ट साध्य की भली सिद्धि होजाती है। आत्मा का क्रियासहितपना मन्दबुद्धि बाल गोपालों तक में स्पष्ट रूप से परिज्ञान होरहा है। भावार्थ—अवा या भट्टा में लग रही आग का संयोग घट या ईंट में कठिनता,

रक्ति या पकता को उपजा देता है, साथ में अग्नि के भी अनेक विकार कर देता है। अग्नि पर मोटी

रोटी को सेकने से अग्नि की दशा को निहारिये वह निर्बल, निस्तेज, होजाती है किन्तु वैशेषिक अग्नि में विकार होने को स्वीकार नहीं करते हैं, अतः साध्यसम दोष लागू होता है यहाँ तक ग्रन्थकार वैशेषिकों के ऊपर विषमता, अस्मदिष्ट-सिद्धि और साध्यसमता का आपादन कर चुके हैं, अब चौथी प्रतीतिबाधा को उठा रहे हैं ।

संयोगोर्थान्तरं वन्हेः कुपदेश्च तदाश्रितः ।
समवायात्ततो भिन्नप्रतीत्या बाध्यते न किं ॥ ३२ ॥
घटादिष्वामरूपादीन् विनाशयति स स्वयं ।
पाकजान् जनयत्येतत्प्रतिपद्येत कः सुधीः ॥ ३३ ॥

उस अग्नि या घट आदि के आश्रित होरहा अग्नि या घट आदि का संयोग तो समवायसम्बन्ध होजाने के कारण भला उन आधारों से भिन्न माना गया है तब भी कथंचित् अभिन्न होने की प्रतीति करके वह सर्वथा भिन्न संयोग क्यों नहीं बाधित हो जावेगा ? थोड़ा इस बात को विचारो कि वह अग्निसंयोग स्वयं घट, ईंट आदि में कच्चे, रूप, रस, आदिकों को विनाश देता है और पाक से जायमान पक्के रूप, रस, आदिको उत्पन्न कर देता है कौन बुद्धिमान् ऐसी अयुक्त बात की प्रतिपत्ति कर लेवेगा ? अर्थात्-कोई नहीं। अग्नि के कार्य को बेचारा निर्गुण, निष्क्रिय अग्निसंयोग नहीं कर सकता है।

न चैषा पाकजोत्पत्तिर्भक्ति । व्यवतिष्ठते ।
वन्हेः पाकजरूपादिपरिणामाः कुटादिषु ॥ ३४ ॥
स्वहेतुभेदतः सर्वः परिणामः प्रतीयते ।
पूर्वाकारपरित्यागादुत्तराकारलब्धितः ॥ ३५ ॥
कुटेऽपाकजरूपादिपरित्यागेन जायते ।
वन्हेः पाकजरूपादिस्तथा दृष्टेरबाधनात् ॥ ३६ ॥
नौष्ण्यापेक्षस्ततो वन्हिसंयोगोऽत्र निदर्शनं ।
नुः क्रियाहेतुतासिद्धौ विपरीतप्रसिद्धितः ॥ ३७ ॥

वैशेषिकों के यहाँ मानी गयी यह पाकजपदार्थों की उत्पत्ति की प्रक्रिया व्यवस्थित नहीं हो पाती है। भावार्थ–परमाणु में ही पाक होने को मानने वाले पीलुपाक-वादी वैशेषिकों के यहाँ तथा परमाणु और अवयवी दोनों में पाक होने को कहने वाले पिठर-पाक--वादी नैयायिकों के यहाँ पाक-जन्य रूप आदिकों के उपजने की यह प्रक्रिया है कि प्रथम अग्नि-संयोग से परमाणुओं में क्रिया उपजती है, क्रिया होजानेसे दूसरे परमाणु करके विभाग होजाता है, उस विभाग से द्वयणुक को बनाने वाले संयोग का नाश होजाता है, पश्चात्-द्वयणुकों का नाश होजाता है, उसके पीछे परमाणु में श्याम आदिका नाश होजाता है, २--पुनः परमाणु में रक्त आदि की उत्पत्ति होती है, ३-तत्पश्चात्-द्वयणुक द्रव्य को बनाने के अनुकूल लाल परमाणुओं में क्रिया उपजती है, ४-पुनः विभाग होता है, ५ पश्चात्-परमाणुओं में पहिले होरहे संयोग का नाश होता है, ६-पीछे द्वयणुकों को आरम्भ करने वाला संयोग उपजता है, ७-उसके पीछे द्वयणुकों की उत्पत्ति होती है, उसके पीछे द्वयणुकोंमें रक्त आदि की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार और भी कई प्रक्रियायें हैं।

नैयायिकों के यहां भी पाकज रूप, रस, गन्ध, स्पर्शों की उत्पत्ति करने में न्यून--अधिक, वैसी प्रक्रिया इष्ट की गयी हैं, ये अवयवी में भी पाक को मानते हैं किन्तु यह सब प्रमाण-बाधित है अवे में घड़ा या भट्टा में ईंट बिचारी टूट फूट कर परमाणुस्वरूप टुकड़े टुकड़े नहीं होजाते हैं यदि कोई ईंट पिघल जाय या बिखर जाय तो फिर वह वैसी ही छिन्न, भिन्न, होकर पक जाती है क्वचित् होने वाला कार्य सर्वत्र के लिये लागू नहीं होता है, अतः यह वैशेषिकों की प्रक्रिया व्यर्थ घोषणामात्र है। बात यह है कि अग्निसंयोग से नहीं किन्तु वैशेषिकों के मतानुसार मानी गयी अग्नि नामक द्रव्य से और जैन मतानुसार अग्नि नामक अशुद्ध द्रव्य या पर्याय से घट, ईंट, आदि में पाक-जन्य रूप, रस, आदिक परिणाम उपज जाते हैं। जगत् में अपने अपने विशेष हेतुओं से सम्पूर्ण परिणाम होरहे प्रतीत किये जाते हैं। पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणः परिणामः, जैनसिद्धान्त में पूर्वआकार का त्याग और उत्तर आकार का ग्रहण तथा ध्रौव्य अंशों करके स्थिति होने को परिणाम कहागया है, पूर्व–आकारों का परित्याग और उत्तर--वर्त्ती आकारों की प्राप्ति होजाने से घट में पहिले के पाकजन्य नहीं ऐसे अपाकज रूप आदिका परित्याग करके पुनः अग्नि के द्वारा पाकज रूप आदिक उपज जाते हैं यों तिस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण से दीख जाने की कोई बाधा नहीं आती है तिसकारण यहाँ उष्णता की अपेक्षा रखता हुआ अग्निसंयोग नामक वैशेषिकों का दृष्टान्त देना ठीक नहीं है क्योंकि इस दृष्टान्त को सामर्थ्य से आत्मा के क्रियाहेतुपन की सिद्धि होजाने पर वैशेषिको के मन्तव्य से विपरीत होरहे सिद्धान्त की प्रसिद्धि होजाती है, अतः वैशेषिकों के ऊपर प्रतीतिबाधा और विपरीतप्रसिद्धि का आपादन किया गया समझो।

अनुष्णाशीतरूपश्चाप्रेरकोनुपघातकः
कुतः प्राप्तः कथं रूपाद्युच्छेदोत्पादकारणं ॥ ३८ ॥

वैशेषिकों ने उष्णता की अपेक्षा रखते हुये अग्नि--संयोग को पाकज रूप आदिकों का कारण बताया है, उसमें हमारा यह कहना है जब कि अनुष्णाशीत स्पर्श वाला और काले रूप वाला पूर्ववर्ती कच्चा घड़ा तुम वैशेषिकों ने प्रेरक भी नहीं माना है और उपघातक भी नहीं माना है, ऐसी दशा में वह घड़ा पूर्व--वर्त्ती रूप आदिकों के उच्छेद का कारण और उत्तर-वर्त्ती पाकज रूप आदिकों के उत्पाद का कारण कैसे प्राप्त होसकता है ? अर्थात्–घट यदि प्रेरक होता तब तो नवीन रूप आदिकों का उत्पाद कर देता और यदि उपघातक होता तो पूर्ववर्त्ती रूप आदिकों का नाश कर देता किन्तु यह सब कार्य आपने वन्हिसंयोग के ऊपर रख छोड़ा है, ऐसी दशा में समवायिकारण होरहे घट की गाँठका कोई बल रूप आदिकों के उत्पाद या विनाश में कार्यकारी नहीं हो पाता है।

गुरुत्वं निष्क्रियं लोष्ठे वर्तमानं तृणादिषु ।
क्रियाहेतुर्यथा तद्वत्प्रयत्नादिस्तथेक्षणात् ॥ ३९ ॥
ये त्वाहुस्तेपि विध्वस्ताः प्रत्येतव्या दिशानया ।
स्वाश्रये विक्रियाहेतौ ततोन्यत्र हि विक्रिया ॥ ४० ॥
द्रव्यस्यैव क्रियाहेतुपरिणामात्पुनः पुनः ।
क्रियाकारित्वमन्यत्र प्रतीत्या नैव बाध्यते ॥ ४१ ॥

" आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म " इस सिद्धान्त को पुष्ट कर रहे वैशेषिक पुनः कहते हैं कि जिस प्रकार डेल में विद्यमान होरहा गुरुत्व नाम का गुण स्वयं क्रियारहित है किन्तु तृण, पत्ता, आदि में क्रिया को उपजाने का हेतु है उसी के समान प्रयत्न, संयोग, आदि निष्क्रिय भी हैं परन्तु आदि में क्रिया के उत्पादक हो जायंगे क्योंकि तिस प्रकार देखा जा रहा है, डेल के साथ बन्ध रहा हलका तिनका या पत्ता भी नीचे गिर जाता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार जो कोई वैशेषिक पण्डित कह रहे हैं वे भी तो इसी उक्त कथन के ढंग करके निराकृत कर लिये गये समझ लेने चाहिये। अर्थात्--केवल भारीपन किसी भी क्रिया का सम्पादक नहीं है, गिर रहा क्रियासहित डेल ही तिनका आदि में क्रिया को उपजाता है, विक्रिया के हेतु होरहे स्वकीय आश्रय में विक्रिया होते हुये ही उस विक्रियावान् द्रव्य से अन्य पदार्थों में विशेष क्रिया होसकती है, अन्यथा नहीं। बात यह है कि द्रव्य की ही बड़ी देर तक पुनः पुनः क्रिया के हेतुपन करके परिणति होती रहती है तभी वह द्रव्य अन्य हाथ, शरीर, तिनका, आदि पदार्थों में क्रिया को करा देता है, यह द्रव्य का क्रियाकारीपना प्रतीतियों करके बाधित नहीं होता है, अतः क्रियासहित आत्मा को ही शरीर आदि में क्रिया का हेतुपना है, यह निर्णीत समझो।

पुरुषस्तद्गुणो वापि न क्रियाकारणं तनौ ।
निष्क्रियत्वाद्यथा व्योमेत्युक्तिर्यात्मनि बाधकं ॥ ४२ ॥
नानैकांतिकता धर्मद्रव्येणास्य कथंचन ।
तस्या प्रेरकतासिद्धेः क्रियाया विग्रहादिषु ॥ ४३ ॥

सक्रिय जीव को क्रिया का हेतु मानने वाले जैनों के ऊपर कोई बाधा उठा रहे हैं कि आत्मा अथवा उसका प्रयत्न आदि गुण भी (पक्ष) शरीर में क्रिया का कारण नहीं है (साध्य) क्रिया-रहित होने से (हेतु) जैसे कि आकाश (अन्वयदृष्टान्त) । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार जो आत्मा में क्रिया के कारणपन का बाधक कथन किया गया है वह हमारे सिद्धान्त का बाधक नहीं होसकता है क्योंकि अनुमान में पड़े हुये इस निष्क्रियत्व हेतु का धर्म द्रव्य करके व्यभिचार है । देखिये उस धर्म द्रव्य को शरीर आदि में क्रिया का किसी न किसी प्रकार उदासीनरूप से अप्रेरकहेतुपना सिद्ध है । दूसरी बात यह है कि निष्क्रियत्व हेतु भागासिद्ध भी है क्योंकि पुरुष के क्रियासहितपना साधा जा चुका है, गुण को तुम भले ही निष्क्रिय मानते रहो ।

एवं सक्रियतासिद्धावात्मनो निर्वृतावपि ।
सक्रियत्वं प्रसक्तं चेदिष्टमूर्ध्वगतित्वतः ॥ ४४
यादृशी सशरीरस्य क्रिया मुक्तस्य तादृशी ।
न युक्ता तस्य मुक्तत्वविरोधात् कर्मसंगतेः ॥ ४५ ॥
क्रियानेकप्रकारा हि पुद्गलानामिवात्मनां ।
स्वपरप्रत्ययायत्तभेदा न व्यतिकीर्यते ॥ ४६ ॥

वैशेषिक आक्षेप करते हैं कि इस प्रकार आत्मा का क्रियासहितपना सिद्ध होजाने पर तो मोक्ष में भी आत्मा के क्रियासहितपन का प्रसंग आवेगा । यों कहने पर तो हम जैनों को कहना पड़ता है कि यह प्रसंग हमको अभीष्ट है, हम आत्मा का ऊर्ध्वगमन स्वभाव मानते हैं, आठ कर्मों का नाश तो मनुष्य लोक में ही होजाता है पुनः ऊर्ध्वगमनस्वभाव करके मुक्त जीव सिद्धलोक में विराज-मान होजाते हैं । हां इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि स्थूल, सूक्ष्म, शरीरों से सहित होरहे संसारी जीव की जिस प्रकार की क्रिया है वैसी मुक्त जीव की क्रिया मानना समुचित नहीं है, नहीं तो उसके मुक्तपन का विरोध होजावेगा अर्थात्--औदारिक, वैक्रियिक, शरीर-धारी जीव ऊपर, नीचे, तिरछे, चलते हैं, घूमते हैं, नाचते कूदते हैं, अथवा सूक्ष्मशरीर–धारी विग्रहगति के जीव भी ऋजुगति, पाणिमुक्ता, लांगलिका, गोमूत्रिका, गतियों जैसे जाते आते हैं, वैसे मुक्त जीव क्रिया को नहीं करते हैं ।

कर्मों का क्षय होते ही उसी समय ऊर्ध्वगति स्वभाव करके सात राजु ऊंचा गमन करके सिद्धलोक में विराजमान होजाते हैं और भी सिद्धों में ऊर्ध्वगतिस्वभाव सदा विद्यमान है किन्तु ऊपर धर्म द्रव्य का अभाव होनेसे सिद्ध भगवान् पुनः ऊपर अलोकाकाश में गमन नहीं कर पाते हैं। ज्ञानावरण आदि कर्मों के साथ संगति होजाने से पुद्गलों के समान संसारी आत्माओं की परिस्पन्द-स्वरूप क्रियायें अनेक प्रकार की हैं, स्व और पर कारणों के अधीन होकर अनेक भेदों को धार रहीं वे क्रियायें परस्पर मिश्रित नहीं होजाती हैं। भावार्थ--स्वकीय और परकीय कारणों के वश होरहीं वे क्रियायें न्यारी न्यारी हैं, घोड़े पर चढ़ा हुआ अश्ववार स्वयं और घोड़े को निमित्त पाकर नाना प्रकार की भिन्न भिन्न क्रियाओं को कर रहा है, वे क्रियायें अश्ववार से कथंचित् भिन्न अभिन्न स्वरूप हैं।

सान्यैव तद्वतो येषां तेषां तद्द्वयशून्यता।
क्रियाक्रियावतोर्भेदेनाप्रतीतेः कदाचन ॥ ४७ ॥

वह क्रिया उस क्रियावान् से सर्वथा भिन्न ही है यह सिद्धान्त जिन वैशेषिकों के यहां स्वीकार किया गया है उन वैशेषिक या नैयायिकों के यहाँ उन क्रिया और क्रियावान् दोनों का शून्यपना प्राप्त होता है क्योंकि क्रिया और क्रियावान् की भिन्नपने करके कदाचित् भी प्रतीति नहीं होती है। अर्थात्-जैसे अग्नि को उष्णता से सर्वथा भिन्न मानने पर उष्णता के बिना अग्नि की कोई सत्ता नहीं और आश्रय अग्नि के बिना उष्णता भी ठहर नहीं पाती है, दोनों का अभाव होजाता है, उसी प्रकार क्रियावान् द्रव्य को क्रिया से भिन्न मानने पर क्रिया और क्रियावान् दोनों पदार्थ शून्य होजाते हैं। कोई क्रिया या क्रियावान् को न्यारा दिखा तो दे?।

क्रियाक्रियाश्रयौ भिन्नौ विभिन्नप्रत्ययत्वतः।
सह्यविंध्यवदित्येतद्भिदैकांतसाधनं ॥ ४८ ॥
धर्मिग्राहिप्रमाणेन हेतोर्बाधननिर्णयात्।
कथंचिद्भिन्नयोस्तेन तयोर्ग्रहणतः स्फुटं ॥ ४९ ॥

वैशेषिक अनुमान बनाते हैं कि क्रिया और क्रिया का आश्रय होरहा क्रियावान् द्रव्य (पक्ष) ये दोनों सर्वथा भिन्न हैं (साध्य)। विशेष रूप से 'भिन्न है' "भिन्न हैं" इस ज्ञान का विषय होनेसे (हेतु) सह्यपर्वत और विंध्य पर्वत के समान (अन्वय दृष्टान्त)। इस प्रकार यह क्रिया और क्रियावान् के सर्वथा भेद को एकान्त से साधने वाला अनुमान है। आचार्य कहते हैं कि इस अनुमान में पड़े हुये हेतु की धर्मी को ग्रहण करने वाले प्रमाण करके बाधा होजाने का निर्णय होरहा है क्योंकि पक्ष कोटि में पड़े हुये कथंचित् भिन्न होरहे ही उन क्रिया और क्रियावान् का उस धर्मी ग्राहक प्रमाण करके स्पष्ट रूप से ग्रहण होरहा है। क्रिया और क्रियावान न्यारे न्यारे किसी को नहीं दीख रहे हैं, क्रिया के नहीं उपजने पर भी अथवा क्रिया के नष्ट होजाने पर भी क्रियावान पदार्थ विद्यमान रह

सकता है, अत: क्रिया से क्रियावान को सर्वथा अभिन्न भी नहीं कह सकते हैं, अत: क्रिया और क्रियावान में कथंचित् भेद स्वीकार करना ही [illegible] जी महाराज

विभिन्नप्रत्ययत्वं च सर्वथा यदि गद्यते ।
तत एव तदा तस्यासिद्धत्वं प्रतिवादिनः ॥ ५० ॥
कथंचित्तु न तत्सिद्धं वादिनामित्यसाधनं ।
विरुद्धं वा भवेदिष्टविपरीतप्रसाधनात् ॥ ५१ ॥

वैशेषिकों ने क्रिया और क्रियावान के सर्वथा भेद को साधने में विभिन्नप्रत्ययपना हेतु दिया है, प्रत्यय शब्द का अर्थ ज्ञान पकड़ा जाय तो भिन्न भिन्न ज्ञान का गोचरपना अर्थ निकलता है और प्रत्यय का अर्थ कारण करने पर क्रिया और क्रियावान के कारण भिन्न भिन्न हैं, यह हेतु का अर्थ प्रतीत होता है, अस्तु—वैशेषिक चाहे किसी भी अर्थको अभिप्रेत करें हमें केवल इतना ही कहना है कि विभिन्न प्रत्ययपना क्रिया और क्रियावान् में सर्वथा कहा जा रहा है तब तो तिस ही कारण से यानी कथंचित् विभिन्न प्रत्ययपना उन क्रिया, क्रियावानों में ज्ञात होजाने से प्रतिवादी होरहे जैनों के यहां वह सर्वथा भिन्न प्रत्ययपना हेतु असिद्ध हेत्वाभास है अर्थात्—जैन सिद्धान्त अनुसार सर्वथा भिन्न प्रत्ययपना हेतु तो पक्षभूत क्रिया और क्रियावान् में नहीं ठहर पाता है, अत: वैशेषिकों का हेतु स्वरूपासिद्ध है। हां यदि कथंचित् भिन्न प्रत्ययपना हेतु कहा जाय तो प्रतिवादी जैनों को तो सिद्ध है किन्तु वादी होरहे वैशेषिकों के यहां वह कथंचित् विभिन्न प्रत्ययपना हेतु सिद्ध नहीं है, इस कारण फिर भी वह हेतु समीचीन साधन नहीं बन सका। दूसरी बात यह है कि कथंचित् विभिन्नप्रत्ययपना हेतु क्रिया और क्रियावान् में कथंचित् भेद को ही साधेगा, अत: इष्ट होरहे सर्वथा भेद से विपरीत कथंचित् भेद का अच्छा साधन कर देने से वैशेषिकों का कथंचित् भिन्न प्रत्ययपना हेतु विरुद्ध हेत्वाभास होजायगा

साध्यसाधनवैकल्यं दृष्टांतस्यापि दृश्यताम् ।
सत्त्वेनाभिन्नयोरेव प्रतीतेः सह्यविंध्ययोः ॥ ५२ ॥

वैशेषिकों के द्वारा प्रयुक्त किये गये सह्य और विंध्य पर्वत दृष्टान्तों के भी साध्यविकलता और साधनविकलपना देखी जा रही है। सत्पने करके अभिन्न होरहे ही सह्य और विंध्य पर्वतों की बाल गोपालों तक को प्रतीति होती है। अर्थात्—सह्य पर्वत सद्भूत है और विंध्याचल भी सद्भूत है सत्पने करके या वस्तुत्व, पदार्थत्व रूप से सह्य और विंध्य अभिन्न हैं, यदि सत्पने करके भी सह्य और विंध्य को भिन्न मान लिया जायगा तो दोनों में से एक के आकाश-पुष्प समान असत्पने का प्रसंग आजावेगा, अत: दृष्टान्त में वैशेषिकों का "सर्वथाभिन्नत्व" नामक साध्य नहीं रहा और सर्वथा भिन्नप्रत्ययपना हेतु भी नहीं ठहरा जिन स्कन्ध या परमाणुओं से सह्य या विंध्य पर्वत बनेहुये हैं। उनमें भी पुद्गलपने करके अभेद है, इस कारण साध्यविकल और साधनविकल दृष्टान्त होगया।

विरुद्धधर्मताध्यासादित्यादेरप्यहेतुता।
प्रोक्तैतेन प्रपत्तव्या सर्वथाप्यविशेषतः ॥ ५३ ॥

यदि वैशेषिक दूसरे, तीसरे, आदि अनुमान यों उठावें कि क्रिया और क्रियावान् (पक्ष) सर्वथा [illegible] होरहे होने से (हेतु) पुद्गल और आत्मा के समान (अन्वयदृष्टान्त)। अथवा क्रिया और क्रियावान् भिन्न हैं विभिन्न-कर्तृक होने से १ या विभिन्नकालवर्त्ती होने से २ अथवा भिन्न भिन्न कार्यों के सम्पादक होने से ३ (हेतु)। आचार्य कहते हैं कि इस ही से यानी-भिन्न प्रत्ययपन हेतु का विचार कर देने से विरुद्ध धर्माध्यास, भिन्नकर्तृकत्व, भिन्नकार्यकारित्व आदिक हेतुओं का भी असद्धेतुपना बढ़िया कह दिया गया, भली भांति समझ लेना चाहिये क्योंकि उक्त हेतु से इन हेतुओं में सभी प्रकारों से कोई विशेषता नहीं है। अर्थात्--विभिन्न प्रत्ययत्व हेतु पर जैसा विचार चलाया गया है उसी विचार अनुसार विरुद्धधर्माध्यास आदि हेतु भी असिद्ध, विरुद्ध,--हेत्वाभास हैं और उन अनुमानों के दृष्टान्त भी साध्यविकल और साधन--विकल होजाते हैं, यों विभिन्नप्रत्ययत्व हेतु से इन हेतुओं का कोई अन्तर नहीं है।

क्रियाक्रियावतोनन्यानन्यदेशत्वतः क्रिया।
तत्स्वरूपवदित्येके तदप्यज्ञानचेष्टितं ॥ ५४ ॥
लौकिकानन्यदेशत्वं हेतुश्चेद्व्यभिचारिता।
वातातपादिभिस्तस्यानन्यदेशैर्विभेदिभिः ॥ ५५ ॥

वैशेषिकों के पक्ष से प्रतिकूल सर्वथा अभेद-वादी कोई एक विद्वान् कह रहे हैं कि क्रियावान् पदार्थ से क्रिया अभिन्न है (प्रतिज्ञा) दोनों का अभिन्न देश होने से (हेतु) क्रिया और उस क्रिया के स्वरूप समान (अन्वयदृष्टान्त)। आचार्य कहते हैं कि कापिलों का वह कहना भी अज्ञान पूर्वक चेष्टा करना है। यहां अभेद--वादियों से हम स्याद्वादी पूछते हैं कि अभिन्नदेशपना हेतु यदि लोक में प्रसिद्ध होरहा अभिन्नदेश में वृत्तिपना माना जायगा तब तो वायु और धूप या शर्बत में घुल रहे बूरा और जल अथवा तिल और उसमें प्रविष्ट होरहे तैल आदि करके तुम्हारे उस हेतु को व्यभिचारि--हेत्वाभासपना प्राप्त होजायगा, देखो वे वात, आतप आदिक पूरे अभिन्न देश में वर्त्त रहे हैं किन्तु वे वात, आतप आदिक परस्पर में विशेष रूप से भिन्न हैं, अतः हेतु के रहजाने पर भी साध्य के नहीं ठहरने से व्यभिचार दोष हुआ।

शास्त्रीयानन्यदेशत्वं मन्यते साधनं यदि।
न सिद्धमन्यदेशत्वप्रतीतेरुभयोस्तयोः ॥ ५६ ॥

तद्देशा क्रिया तद्वान्स्वकीयाश्रयदेशकः ।

प्रसिद्धोऽनन्यदेशत्वं कथमेतयोः ॥ ५७ ॥

यदि अभेद-वादी पण्डित यों कहैं कि शास्त्र युक्ति अनुसार सिद्ध होरहे अनन्यदेशपन को हम हेतु इष्ट करते हैं। वायु और धूप में लौकिक देश की अपेक्षा भले ही अभिन्नदेशपना हो किन्तु शास्त्र-दृष्टि से वायु का देश न्यारा है और धूप का आश्रय होरहा देश न्यारा है, सम्पूर्ण अवयवी अपने अपने समवायिकारण होरहे अवयवों में निवास करते हैं, बूरा अपने अवयवों में है और जल अपने अवयवों में आश्रित होरहा है, अतः कोई व्यभिचार दोष नहीं आता है। आचार्य कहते हैं कि शास्त्रीय अभिन्न-देशपना यदि हेतु माना जा रहा है तब तो वह हेतु सिद्ध नहीं है अर्थात्-पक्ष में नहीं बसने से अनन्यदेशत्व साधन असिद्ध हेत्वाभास है क्योंकि उन दोनों क्रिया और क्रियावान् का भिन्न-देशवृत्तिपना प्रतीत होरहा है। देखिये क्रिया तो उस क्रियावाले देश (द्रव्य) के आश्रित होरही प्रतीत होती है और वह क्रियावान् पदार्थ तो अपने आश्रय-भूत पदार्थ में वर्त रहा देखा जाता है। क्रिया दौड़ते हुये घोड़े में है और क्रियावान् घोड़ा तो समवाय सम्बन्ध से स्वकीय आधार होरहे अवयवों में या संयोगसम्बन्ध से भूमि देश में आश्रित होरहा है. जब ऐसी दशा है तो भला इन क्रिया और क्रियावान् का भिन्न देश में वृत्तिपना किस प्रकार बन सकता है ? अर्थात्-नहीं। ऐसी दशा में तुम्हारा हेतु असिद्धहेत्वाभास है। 'अन्यौ देशौ ययो स्तावन्यदेशौ तयोर्भावः अन्य-देशत्वं' यों बहुव्रीहि समास करना। न्यायशास्त्र में बहुव्रीहि समास को अधिक स्थल मिलते हैं: " न कर्मधारयः स्यान्मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेदर्थप्रतिपत्तिकरः "।

सर्वथानन्यदेशत्वमसिद्धं प्रतिवादिनः ।
कथंचिद्वादिनस्तत्स्याद्विरुद्धं चेष्टहानिकृत् ॥ ५८ ॥
धर्मिग्राहिप्रमाणेन बाधा पक्षस्य पूर्ववत् ।
साधनस्य च विज्ञेया तैरेवातीतकालता ॥ ५९ ॥

क्रिया और क्रियावान् के अभेद को साधने वाले वादी ने अभिन्न-देशपना हेतु दिया था उस पर हमारा यह प्रश्न है कि सवथा अभिन्नदेशपना यदि हेतु है ? तब तो प्रतिवादी होरहे जैनों के प्रति यह हेतु असिद्ध है। जैन सिद्धान्त-अनुसार क्रिया और क्रियावान् का अधिकरणभूत देश सर्वथा अभिन्न नहीं है। लकड़ी को छील रहे तक्षक (बढ़ई) की क्रिया का आधारभूत देश न्यारा है और क्रियावान् तक्षण का अधिकरण स्थान उससे भिन्न है। हाँ यदि कथंचित् अभिन्नदेशपना हेतु कहा जायगा तब तो वह वादी को विरुद्ध पड़ेगा कथंचित् अभिन्नदेशपना हेतु सर्वथा अभेद को नहीं साधता हुआ कथंचित् अभेद को साधेगा यों वह हेतु सर्वथा अभेद-वादी के इष्टसिद्धान्त की हानि को करने वाला हुआ। एक बात यह भी है कि धर्मी को ग्रहण करने वाले प्रमाण करके तुम्हारे पक्ष की बाधा उपस्थित होजाती है जैसे कि पूर्व में क्रिया और क्रियावान का सर्वथा भेद मानने वाले को

बाधा उपस्थित हुई थी, जो प्रमाण पक्ष में हुये क्रिया और क्रियावान् को ग्रहण करेगा वह उनको कथंचित् अभिन्न ही जानेगा तथा तुम्हारे सर्वथा अभिन्नदेशपन हेतु का उन वायु, धूप, आदि करके ही कालात्ययापदिष्टपना भी समझा जाता है अर्थात्--क्रिया और क्रियावान् प्रमाणों द्वारा सर्वथा अभिन्न नहीं प्रतीत होरहे हैं, अतः सर्वथा अनन्यदेशत्व हेतु बाधित हेत्वाभास है ।

> निष्क्रियाः सर्वथा सर्वे भावाः स्युः क्षणिकत्वतः ।
> पर्यायार्थतया लब्धप्रतिक्षणविवर्तवत् ॥ ६० ॥
> इत्याहुर्ये न ते स्वस्थाः साधनस्याप्रसिद्धितः ।
> न हि प्रत्यक्षतः सिद्धं क्षणिकत्वं निरन्वयं ॥ ६१ ॥
> साधर्म्यस्य ततः सिद्धेर्बहिरन्तश्च वस्तुनः ।
> इदानींतनता दृष्टिर्न क्षणक्षयिणः क्वचित् ॥ ६२ ॥
> कालांतरस्थितेरेव तथात्वप्रतिपत्तितः । (षट् पदी) ॥ ६३ ॥

यहाँ बौद्ध कह रहे हैं कि सम्पूर्ण पदार्थ (पक्ष) सब ही प्रकारों से क्रिया–रहित हैं (साध्य) क्षणिक होने से (हेतु) । पर्यायार्थ स्वरूप से आत्मा लाभ कर रहे प्रतिक्षण होने वाले परिणाम के समान (दृष्टान्त) । अर्थात्—बौद्ध लोग किसी भी पदार्थ में क्रिया को नहीं मानते हैं, फेंका जा रहा डेल या दौड़ता हुआ घोड़ा उन उन प्रदेशों में सर्वथा नवीन ढंग से उपजता आ रहा है, पूर्व समय में जिन आकाश के प्रदेशों पर घोड़ा उपजा था, दूसरे समय में उसका सर्वथा विनाश होकर अगले प्रदेशों पर नवीन घोड़े का असत् उत्पाद हुआ है, यही ढंग कोसों तक के प्रदेशों पर सत् का विनाश और असत् का उत्पाद करते हुये मान लेना चाहिये । पर्याय–पदार्थ ही आत्मलाभ करता है, द्रव्य कोई वस्तु नहीं है, प्रतिक्षण में होने वाली तद्देशीय पर्याय जैसे क्रियारहित है उसी प्रकार सम्पूर्ण पदार्थ क्रिया-रहित हैं । सिनेमा में फिल्म के वही चित्र दौड़ते नहीं हैं केवल दूसरे दूसरे चित्र आते जाते हैं, और देखने वालों को उन्हीं के दौड़ने, घूमने, नाचने का भ्रम होजाता है ।

आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार जो कह रहे हैं वे बौद्ध भी स्वस्थ नहीं हैं, रोगी पुरुष ही ऐसी अण्ट सण्ट अयुक्त बातों को कह सकता है, क्योंकि उनके कहे हुये क्षणिकत्व हेतु की प्रमाणों से सिद्धि नहीं हुई है, देखिये निरन्वय क्षणिकपना प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध नहीं है बहिरंग घट, पर्वत, काष्ठ, सुवर्ण, आदि वस्तुओं के और अन्तरंग आत्मा आदि वस्तुओं के सधर्मापन यानी अन्वयसहित-पन की उस प्रत्यक्ष से सिद्धि होरही है जो कोई पदार्थ एक ही क्षण तक स्थायी होकर क्षणिक होता तो इस ही काल में वृत्तिपने करके उसका दर्शन होता किन्तु कहीं भी क्षणमात्र में क्षय होजाने वाले पदार्थ का इस एक ही समय काल में वृत्तिपने करके दर्शन नहीं होता है । कालान्तर तक स्थिति की ही तिस प्रकारपने करके प्रतिपत्ति होरही है । बिजली, प्रदीप, बुद्बुदा, आदि पदार्थ भी अनेक क्षणों तक स्थित रहते हैं, अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से अन्वय–रहित होरहे सर्वथा क्षणिकपन की प्रतीति नहीं होती है ।

नानुमानाच्च तत्सिद्धं तद्धेतोरनभीक्षणात्।
सत्त्वोत्पत्त्यादिहेतुश्चेन्न तत्रागमकत्वतः ॥ ६४ ॥
विरुद्धादितया तस्य पुरस्तादुपवर्णनात्।
प्रपंचेन पुनर्नेह तद्विचारः प्रतन्यते ॥ ६५ ॥

दूसरे अनुमानप्रमाण से भी वह क्षणिकपना सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि उस क्षणिकपन को साधने वाला समीचीन हेतु नहीं देखा जा रहा है, यदि बौद्ध यों कहैं कि हम क्षणिकत्व को साधने के लिये सत्त्वात् उत्पत्तिमत्त्वात्, कृतकत्वात्, यानी--सत्पना, उत्पत्तिसहितपना, कृतपना आदि आदि हेतु देंगे। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उस क्षणिकपन को साधने में वे हेतु गमक अर्थात् साध्य के ज्ञापक नहीं हैं, विरुद्ध, बाधित, आदि हेत्वाभास रूप से उन हेतुओं का पहिले प्रकरणों में विस्तार से वर्णन किया जा चुका है. यहां उनके विचार को पुनः नहीं फैलाया जाता है, अतः क्षणिकत्व हेतु से सम्पूर्ण पदार्थों में सर्वथा निष्क्रियपना सिद्ध करना उचित नहीं है। जो कि "निष्क्रियाः सर्वथा सर्वे क्षणिकत्वात्" बौद्धों करके कहा गया था।

कथंचिन्निष्क्रियत्वेन साध्ये स्यात्सिद्धसाधनं।
तन्निश्चयनयादेशात्प्रसिद्धं सर्ववस्तुषु ॥ ६६ ॥
व्यवहारनयात्तेषां सक्रियत्वप्रसिद्धितः।
भूतिर्येषां क्रिया सैवेत्ययुक्तं सान्वयत्वतः ॥ ६७ ॥

यदि सम्पूर्ण भावों को कथंचित् क्रियारहितपन करके साधा जायगा तब तो हम जैन तुम्हारे ऊपर सिद्धसाधन दोष उठा देवेंगे क्योंकि निश्चयनय की अपेक्षा कथन करने से सम्पूर्ण वस्तुओं में वह क्रियारहितपना प्रसिद्ध ही है, अर्थात् निश्चयनय से सम्पूर्ण पदार्थ अपने अपने शुद्ध स्वरूप में सदा तिष्ठते हैं। जाना, आना, घटना, बढ़ना, ठहरना, ठहराना, आदि क्रियायें उसमें नहीं होती हैं, व्यवहारनय से ही उन पदार्थों के क्रियासहितपन की प्रसिद्धि होरही है, निश्चयनय तो वस्तु के शुद्ध निर्विकल्प अंशों को ग्रहण करता है, जिन वादियों के यहां पदार्थों के भवन यानी नवीन उत्पत्ति को ही क्रिया माना गया है, वह सर्वथा असत् पदार्थों की उत्पत्ति स्वरूप क्रिया भी युक्त नहीं है क्योंकि पदार्थों के अन्वयसहितपना विद्यमान है, पूर्वकालवर्त्ती पर्यायों में ओत-प्रोत होकर द्रव्य या गुणों का अन्वय प्रविष्ट होरहा है, सर्वथा असत् का उत्पाद होना अलीक है॥

नित्यत्वात्सर्वभावानां निष्क्रियत्वं तु सर्वथा।
यैरुक्तं तेप्यनेनैव हेतुना दूषिता हताः ॥ ६८ ॥

सर्वथा तन्मतध्वंसात्प्रमाणाभावतः क्वचित् ।
कथंचिन्नित्यताहेतुर्यदि तस्य विरुद्धता ॥ ६९ ॥
कथंचिन्निष्क्रियत्वस्य साधनात् क्षणिकादिवत् ।
ततः स्युर्निष्क्रियाः सर्वे भावाः स्यात्सक्रियाः सह ॥ ७० ॥

हाँ तो जिन पण्डितों ने कूटस्थ नित्य होने के कारण सम्पूर्ण पदार्थों का सर्वथा क्रियारहितपना बखान दिया है वे पण्डित भी इस हेतु करके दूषित कर दिये जा चुके हैं, इस ही कारण वे दूर लिये गये हैं अर्थात्- आचार्यों ने क्षणिक-वादी बौद्धों के असत्-वाद का खण्डन करके जैसे पदार्थों के क्रियारहितपन को नहीं सधने दिया है, उसी प्रकार सर्वथा सत्-वाद का प्रत्याख्यान कर नित्यवादियों के यहाँ पदार्थों के निष्क्रियत्वकी सिद्धि नहीं हो पाती है, [illegible] नित्य-वादियों के मत का खण्डन होजाता है, किसी भी घट, घोड़ा, गाड़ी, बाण, आदि पदार्थ में सर्वथा नित्यत्व या निष्क्रियत्व को साधने वाला कोई प्रमाण नहीं है। हाँ कथंचित् नित्यत्व उनमें अवश्य पाया जाता है, अतः यदि कथंचित् नित्यपन को हेतु कहोगे तब तो वह हेतु विरुद्ध होजावेगा, जैसे कि क्षणिकत्व, कृतकत्व, आदिक हेतु विरुद्ध हेत्वाभास होगये थे। क्योंकि कथंचित् नित्यपना हेतु तो सर्वथा निष्क्रियपन के विपरीत कथंचित् निष्क्रियपन का साधन करेगा। तिस कारण अब तक सि हुआ कि सम्पूर्ण पदार्थ "स्यात् (कथंचित्) निष्क्रिय" हैं और साथ ही "स्यात्सक्रिय" हैं, यह स्याद्वाद सिद्धान्त श्रेयस्कर है।

विरोधादिप्रसंगश्चेन्न दृष्टे तदयोगतः ।
चैत्रैकज्ञानवत्स्वेष्टतत्त्ववद्वा प्रवादिनाम् ॥ ७१ ॥
स्वेष्टं तत्त्वमनिष्टात्मशून्यं सदिति ये विदुः ।
सदसद्रूपमेकं ते निराकुर्युः कथं पुनः ॥ ७२ ॥

पदार्थों को निष्क्रिय और साथ ही सक्रिय साधने में विरोध, वैयधिकरण्य, संशय, उभय, संकर, व्यतिकर, अनवस्था, अप्रतिपत्ति, अभाव, आदि दोषों का प्रसंग आवे, यह तो नहीं समझना क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा अनेक धर्म-आत्मक देखे गये पदार्थ में उन विरोध आदि दोषों का योग नहीं है, जैसे कि बौद्ध प्रवादियों के यहाँ नील, पीत, आदि अनेक आकार वाला एक चित्रज्ञान स्वीकार किया गया है, अथवा अन्य नैयायिक, मीमांसक, आदि प्रवादियों के यहाँ अपने अपने इष्ट तत्त्व जैसे स्वीकार किये जाते हैं। भावार्थ—श्लेष्म रोगी को दूध हानिप्रद है, और नीरोग पुरुष को दूध लाभप्रद है, साहूकार को दीपक इष्ट है, चोर को अनिष्ट है, चलतीहुई रेलगाड़ी में बैठा हुआ मनुष्य चल भी रहा है, यों क्रियासहित होरहा भी क्रियारहित है। बौद्धों ने अनेक आकार वाले एक चित्रज्ञान को इष्ट किया है, उस ज्ञान में नानापन के साथ एकपना विद्यमान है वैशेषिक या नैयायिकों ने

भी सामान्य के विशेष होरहे द्रव्यत्व, पृथिवीत्व, आदि को माना है, सभी प्रवादी विद्वान् अनिष्टतत्त्व से रहित होरहे, इष्ट तत्त्व को स्वीकार करते हैं, अतः वह इष्ट तत्त्व विचारा स्वरूप की अपेक्षा सत्रूप है, और पररूप होरहे अनिष्ट तत्त्व की अपेक्षा असत्रूप है, जो विद्वान् [illegible] समर्थों से शून्य होरहे अपने इष्ट तत्त्व को सत् इस प्रकार जान रहे हैं वे आचार्यों करके सिद्धान्तित किये गये सत्स्वरूप और असत्स्वरूप एक पदार्थ का फिर किस प्रकार निराकरण कर सकेंगे ? अर्थात्--नहीं ।

निष्क्रियेतरताभावे वहिरंतः कथंचन ।
प्रतीतेर्बाधशून्यायाः सर्वथाप्यविशेषतः ॥ ७३ ॥

बहिरंग पदार्थ और अन्तरंग पदार्थों में निष्क्रियपन और उससे भिन्न सक्रियपन के सद्भाव होने में बाधकों से शून्य होरही प्रतीति होरही है, अतः पदार्थों को कथंचित् निष्क्रिय और सक्रिय स्वीकार कर लेना चाहिये, सभी प्रकार से कोई विशेषता नहीं है । क्रियासहितपन और क्रियारहितपन दोनों की अन्तररहितप्रसिद्धि होरही है, इस प्रकरण में आत्मा को सक्रिय मानना युक्तिपूर्ण है । यहां तक इस सूत्र का विवरण समाप्त हुआ ।

" अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः " इस सूत्र में काय शब्द का ग्रहण कर देने से इन द्रव्यों के नाना प्रदेशों का अस्तित्व तो निश्चित हुआ किन्तु उन प्रदेशों की ठीक संख्या का परिज्ञान नहीं होसका है, कि किस द्रव्य के कितने कितने प्रदेश हैं ? अतः उन प्रदेशों की नियत संख्या का ज्ञान कराने के लिये श्री उमास्वामी महाराज इस अग्रिम सूत्र को कहते हैं— ।

"असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् ॥ ८ ॥

धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य तथा एक जीव द्रव्य के असंख्याते प्रदेश हैं, अर्थात्--जगत् में धर्म द्रव्य एक ही है, और अधर्म द्रव्य भी एक ही है, जीवद्रव्य अनन्तानन्त हैं, अतः पूरे धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य तथा एक जीव द्रव्य इन में से प्रत्येक के लोकाकाश के प्रदेशों बराबर मध्यम असंख्याता-संख्यात गिनती वाले असंख्याते प्रदेश हैं, पुद्गल परमाणु जितने स्थान को घेरती है वरकी के समान उतने घन चौकोर आकाश स्थल को प्रदेश कहा जाता है, संकोच, विस्तार स्वभाववाला जीव भले ही कर्मों से निर्मित छोटे या बड़े शरीर के बराबर होय किन्तु केवल-समुद्घात करते समय लोकपूरण अवस्था में सम्पूर्ण लोकाकाश को व्याप लेता है ।

प्रदेशेयत्तावधारणार्थमिदं धर्माधर्मयोरेकजीवस्य च । कुतः पुनरसंख्येयप्रदेशता धर्मादीनां प्रसिद्धयतीत्यावेदयति ।

धर्म, अधर्म, और एक जीव के प्रदेशों की इतनी परिमाणपन-संख्या का अवधारण करने के लिये यह सूत्र प्रारम्भा गया है । यहां कोई शिष्य प्रश्न करता है कि धर्म आदिकों का फिर असं-

ख्यातप्रदेशीपना भला किस प्रमाण से प्रसिद्ध होजाता है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिम वार्तिकों द्वारा समाधान का निवेदन करे देते हैं।

प्रतिदेशं जगद्व्योमव्याप्तयोग्यत्वसिद्धितः।
धर्माधर्मैकजीवानामसंख्येयप्रदेशता ॥ १ ॥
लोकाकाशवदेव स्याच्चासंख्येयप्रदेशभृत्।
तदाधेयस्य लोकस्य सावधित्वप्रसाधनात् ॥ २ ॥
अनन्तदेशतापायात् प्रसंख्यातुमशक्तितः।
न तत्रानंतसंख्यातप्रदेशत्वविभावना ॥ ३ ॥

लोक-सम्बन्धी आकाश के प्रत्येक प्रदेशों पर व्यापने की योग्यता की सिद्धि होजाने से धर्म, अधर्म, और एक जीव के असंख्यात प्रदेशों से सहितपना है. धर्म और अधर्म से घिरा हुआ तथा एक एक जीव से घिर जाने योग्य यह परिमित जगत् बेचारा लोकाकाश के समान ही असंख्याता-संख्यात प्रदेशों को धार रहा है, क्योंकि जिस अधिकरणभूत लोक के धर्म, अधर्म, और एक जीव द्रव्य, ये आधेय होरहे हैं, उस लोक का छहों ओर अवधि-सहित पना बढ़िया साध दिया है। अनन्त प्रदेशी-पन का अभाव होजाने से इन तीन द्रव्यों के अनन्त प्रदेशों से सहितपन का विचार करना नहीं चाहिये। और एक, दो, तीन, चार आदि ढंग से बढ़िया गिनती करने के लिये सामर्थ्य नहीं होने से संख्यात प्रदेशीपन का भी विचार नहीं करना चाहिये। तब तो अनन्त और संख्यात से शेष बचे असंख्यात प्रदेश ही इन तीन द्रव्यों में स्वीकार करने योग्य हैं जगत् श्रेणी के घन-प्रमाण मध्यम असंख्यातासंख्यात प्रदेश धर्मादिकों के प्रसिद्ध होजाते हैं।

न ह्ययं लोको निरवधिः प्रतीतिविरोधात्। पृथ्व्या उपरि सावधित्वदर्शनात् पार्श्वतोऽधस्ताच्च सावधित्वसम्भवनात् तद्वदुपरि लोकस्य सावधित्वसिद्धेः। सर्वतः अपर्यंता मेदिनीति साधने सर्वस्य हेतोरप्रयोजकत्वापत्तेः। प्रसिद्धे च सावधौ लोके तदधिकरणस्याकाशस्य लोकाकाशसंज्ञकस्य सावधित्वसिद्धेः।

यह लोक छहों ओर मर्यादारहित नहीं है। मर्यादारहित मानने पर समीचीन प्रतीतियों से विरोध आजावेगा क्योंकि पृथ्वी के ऊपर मर्यादासहितपना देखा जाता है, और पसवाड़ों में या नीचे भी अवधिसहितपन की सम्भावना होरही है, इसी प्रकार (के समान) अधिक ऊपर देशों में भी लोक का अवधिसहितपना सिद्ध होजाता है। " यह पृथ्वी सब ओर से पर्यन्तरहित है, " इस बात को साधने में जितने भी हेतु दिये जावेंगे, अपन अपर्यन्तपन साध्य के साथ अनुकूल तर्क नहीं मिलने के कारण सभी हेतुओं के अप्रयोजकपन का प्रसंग आजावेगा यों वे अपने साध्य को नहीं साध सकेंगे। अतः इस लोक के अवधिसहितपन की प्रसिद्धि होजाने पर उस जगत् के अधिकरण होरहे लोकाकाश नामक आकाश का अवधिसहितपन सिद्ध होजाता है।

परिशेषादसंख्येयप्रदेशत्वसिद्धिः। तथाहि न तावल्लोकाकाशमनंतप्रदेशं शश्वद-संहरणधर्मत्वे सति सावधित्वात् पंचाणुकाकाशवत्। असंहरणधर्मत्वादित्युच्यमानेऽलोकाकाशेन व्यभिचार इति सावधित्ववचनं, सावधित्वादित्युक्तेपि पुद्गलस्कंधेनानंतपरमाणुकेनानेकांतो

माभूदिति शश्वदसंहरणधर्मकत्वे सतीति विशेषणं।

परिशेष न्याय से लोकाकाश के असंख्यातप्रदेशीपन की सिद्धि होजाती है। उसी को विशद-रूप से यों समझिये कि सब से पहिले लोकाकाश अनन्तप्रदेशवाला तो नहीं है, (प्रतिज्ञा) सर्वदा संहार धर्म से रहित होते संते अवधिसहितपना होने से (हेतु) पांच अणुओं करके बने पंचाणुक से घिरे हुए पांचप्रदेशी आकाश के समान (अन्वयदृष्टान्त)। यह अनुमान प्रशस्त है, यदि वैशेषिकों के मतानुसार पंचाणुक दृष्टान्त लिया जायगा तो एक सौ बीस परमाणुओं का पंचाणुक माना जायगा क्योंकि दो परमाणुओं का एक द्वयणुक और तीन द्वयणुकों का एक त्र्यणुक तथा चार त्र्यणुकों का एक चतुरणुक एवं पांच चतुरणुकों का एक पंचाणुक। यों एक पंचाणुक ने आकाश के अधिक से अधिक एक सौ बीस प्रदेशों को घेर लिया है, अस्तु, लौकिक या परीक्षकों की समानबुद्धि का विषय होरहा किसी भी ढंग का पंचाणुक दृष्टान्त बना लिया जाय।

इस अनुमान में कहे गये हेतु के यदि केवल असंकोचधर्मपन इतने विशेषण दल को ही हेतु कहा जायगा, तब तो अलोकाकाश करके व्यभिचार होजायगा। देखिये अलोकाकाश संहारधर्मवाला नहीं है, किन्तु अनन्त–प्रदेश वाला है, अतः हेतु के रहने पर और साध्य के नहीं ठहरते हुये व्यभिचार दोष हुआ।

इस व्यभिचार की निवृत्ति के लिये हेतु का विशेष्य दल अवधिसहितपना कहा गया है, अलोकाकाश अवधिसहित नहीं है, अवधिसहितपना इतना केवल विशेष्यदल के कथन करने पर भी अनन्त परमाणु वाले पुद्गल स्कन्ध करके व्यभिचार नहीं होजावे, इस लिये सर्वदा असंहरणधर्मपना होते सन्ते ऐसा विशेषण दल प्रयुक्त कियागया है। अनन्त परमाणु से बना हुआ पुद्गलस्कन्ध घड़ा या लड्डू अवधिसहित है किन्तु अनन्तप्रदेशीपन के अभाव वाला नहीं है, सदा असंहार धर्म वाला होते सन्ते इस विशेषण से व्यभिचार का वारण होजाता है, क्योंकि घड़ा, लड्डू, आदि पुद्गल स्कन्ध तो संकुचित होजाने वाले या नाशशील हैं। यों हम जैनों का प्रयुक्त हेतु निर्दोष है।

न चैतदसिद्धं साधनसद्भावात्। शश्वदसंहरणधर्मकं लोकाकाशमजीवत्वे सत्य-मूर्तद्रव्यत्वादलोकाकाशवत्। न ह्यलोकाकाशं कदाचित्संहरणधर्म सर्वदा परममहत्त्वाभावप्रसंगात् तथा न संख्यातप्रदेशं लोकाकाशं गणनया प्रसंख्यातुमशक्यत्वादलोकाकाशवदेवेति नानंतसंख्यात-प्रदेशत्वं तस्य विभावयितुं शक्यं। परिशेषादसंख्येयप्रदेशं लोकाकाशं सिद्धं। ततो धर्माधर्मैक-जीवा स्त्वसंख्येयप्रदेशाः प्रतिप्रदेशं तावदसंख्येयप्रदेशलोकाकाशव्यापित्वयोग्यत्वात् यन्न तथा तन्न तथा यथैकपरमाणुरिति निरवद्यो हेतुः, अन्यथानुपपत्तिसद्भावात्।

यह हेतु पक्ष में वर्त रहा है, असिद्ध हेत्वाभास नहीं है क्योंकि हेतु को साधने वाले दूसरे अनुमान का सद्भाव है। लीजिये, लोकाकाश (पक्ष) सर्वदा असहार धर्मवाला है, (साध्य) अजीव होते सन्ते अमूर्त द्रव्य होने से (हेतु) अलोकाकाश के समान (अन्वय दृष्टान्त)। अलोकाकाश कदाचित् भी संहार धर्म वाला नहीं है, क्योंकि अलोकाकाश को संहार धर्मी मानने पर सदा परममहत्त्व परिमाण के अभाव का प्रसंग होजायगा, कदाचित् भी संकुचने वाला पदार्थ सदा परम महापरिमाण का आश्रय नहीं बना रह सकता है, अतः लोकाकाश अनन्त-प्रदेशी नहीं है, यह सिद्ध हुआ तथा वह लोकाकाश (पक्ष) संख्याते प्रदेशों वाला भी नहीं है (साध्य)। क्योंकि लोकाकाश के प्रदेशों की एक, दो, तीन, चार, सौ, पांचसौ, हजार, लाख, कोटि, आदि गिनती करके अच्छी संख्या करने के लिये किसी की सामर्थ्य नहीं है (हेतु), अलोकाकाश के ही समान (अन्वय दृष्टान्त)। इस प्रकार उस लोकाकाश के अनन्तप्रदेशीपन और संख्यात-प्रदेशीपन का सद्विचार नहीं किया जा सकता है, परिशेष से असंख्यात प्रदेश वाला ही लोकाकाश सिद्ध होजाता है।

भावार्थ- संख्या-प्रमाण के संख्यात, असंख्यात और अनन्त तीन भेद हैं, तिनमें असंख्य और अनन्त के परीत, युक्त और द्विकवार यों तीन भेद हैं। उक्त सातसंख्याओं के जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट, यों तीन तीन भेद कर इकईस भेद वाला संख्या-मान है, इन में से मध्यम असंख्यातासंख्यात का विशेष भेद यहाँ लिया गया है। तिस कारण से इस सूत्र द्वारा यह सिद्ध हुआ कि धर्म, अधर्म, और एक जीव द्रव्य तो (पक्ष) असंख्यात प्रदेश वाले हैं (साध्य)। क्योंकि उतनी ही असंख्यातासंख्यात रूप संख्या को धार रहे असंख्यात प्रदेश वाले लोकाकाश के प्रत्येक प्रत्येक प्रदेश पर इन तीन द्रव्यों के व्यापने की योग्यता है (हेतु), अर्थात्—जितने ही धर्म आदि के प्रदेश हैं। ठीक उतने ही लोकाकाश के प्रदेश हैं, जो तिस प्रकार साध्य वाला नहीं है। यानी असंख्यातप्रदेशी नहीं है, वह तिस प्रकार हेतुमान् नहीं है, यानी लोकाकाश को व्यापने की योग्यता नहीं रखता है। जैसे कि एक परमाणु (व्यतिरेकदृष्टान्त) इस प्रकार हमारा हेतु अन्यथानुपपत्ति का सद्भाव होने से निर्दोष है। असिद्धि, व्यभिचार आदि कोई भी दोष इस हेतु में नहीं है।

नन्वत्र जीवस्यैकविशेषणं किमर्थमित्यारेकायामिदमाह।

यहां किसी की शंका है कि सूत्रकार ने इस सूत्र में जीव का विशेषण 'एक' किस लिये दिया है। इस प्रकार आशंका होने पर ग्रन्थकार इस समाधान को कहते हैं—

एक जीववचः शक्तेर्नासंख्येयप्रदेशता।
नानात्मनामनंतादिप्रदेशत्वस्य संभवात्॥ ४॥

सूत्र में एक जीव के कथन की सामर्थ्य से सिद्ध होजाता है, कि अनेक जीवों को असंख्यात प्रदेशीपना नहीं है। नाना जीवों के तो अनन्त आदि प्रदेश होते सम्भवते हैं। अर्थात्—यहाँ आदि पद को यों घटित किया जा सकता है कि जघन्य युक्तानन्त प्रमाण अभव्य जीवों के मिल कर सम्पूर्ण प्रदेश मध्यम युक्तानन्त प्रमाण होजाते हैं। समस्त सिद्धों के प्रदेश इन से भी अनन्तानन्त गुणे मध्यम अनं-

संतानन्त रूप हैं। तथा सम्पूर्ण जीवों के तो इनसे भी अनन्त गुणे मध्यम अनन्तानन्त प्रदेश हैं. जीवों की राशि और असंख्यात प्रदेशों का गुणा करने पर विवक्षित जीवों के पिण्ड के प्रदेशों की संख्या निकल आती है, हां किसी भी एक जीव के प्रदेश तो असंख्याते ही हैं।

एकजीववचनसामर्थ्यान्न नानाजीवानामसंख्येयप्रदेशत्वं तेषां अनंतप्रदेशत्वस्यानंतानंतप्रदेशत्वस्य च संभवात्।

सूत्रकार द्वारा एक जीव के वचन की सामर्थ्य से नाना जीवों का असंख्यात प्रदेशीपना नहीं सिद्ध होपाता है, क्योंकि उन नाना जीवों के अनन्तप्रदेशीपना और अनन्तानन्तप्रदेशीपना सम्भव रहा है। **मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज**

कुतः पुनर्धर्मादीनां सप्रदेशत्वं सिद्धं यतोऽसंख्येयप्रदेशता साध्यत इत्याशंकां निराचिकीर्षुराह।

पुनः किसी विनीत शिष्य की शंका है, कि फिर यह बताओ कि धर्मादिकों का प्रदेशों से सहितपना भला किस प्रमाण से सिद्ध होजाता है? जिससे कि उनका असंख्येयप्रदेशों से सहितपना साधा जाता है, इस प्रकार की आशंका का निराकरण करने की इच्छा रखते हुये ग्रन्थकार अगली वार्तिक को कहते हैं।

सप्रदेशा इमे सर्वमूर्तिमद्द्रव्यसंगमात्।
सकृदेवान्यथा तस्यायोगादेकाणुवत्ततः॥ ५॥

ये धर्म, अधर्म, आदिक द्रव्य (पक्ष) प्रदेशों से सहित ही हैं, (साध्य) एक ही बार में सम्पूर्ण मूर्तिमान् द्रव्यों के साथ सम्बन्धी होजाने से (हेतु)। अन्यथा-यानी इन धर्मादिकों को सप्रदेशी माने बिना उन सम्पूर्ण मूर्तिमान् द्रव्यों के साथ उनके सम्बन्ध होजाने का अयोग होजावेगा जैसे कि एक परमाणु प्रदेश सहित नहीं होने के कारण सम्पूर्ण मूर्तिमान् द्रव्यों के साथ युगपत् सम्बन्ध नहीं कर पाता है (व्यतिरेकदृष्टान्त)। तिस कारण से ये धर्म आदिक अनेक प्रदेश वाले हैं, (निगमन) यों यह उक्त सिद्धान्त पुष्ट होजाता है।

न हि सकृत्सर्वमूर्तिमद्द्रव्यसंगमः देसप्रशत्वमंतरेण घटते धर्मादीनामेकपरमाणुवत्। ततोमी धर्माधर्मैकजीवास्ते सप्रदेशा एव।

प्रदेशों से सहितपन के बिना धर्मादिकों का युगपत् सम्पूर्ण मूर्तिमान् द्रव्यों के साथ संयोग होजाना घटित नहीं होपाता है, जैसे कि प्रदेशों के बिना निरंश एक परमाणु का एक ही समय में सम्पूर्ण मूर्तिमान् द्रव्यों के साथ सम्बन्ध नहीं होपाता है, तिसकारण से ये जो धर्म, अधर्म, और एक जीव द्रव्य हैं वे स्वात्मभूत प्रदेशों से सहित ही हैं।

मुख्यप्रदेशाभावादुपचरिताः प्रदेशास्तेषामिति चेत् कुतस्तत्र तदुपचारः? सकृन्नानादेशद्रव्यसंबन्धादेव तस्य सप्रदेशे कांडपटादौ दर्शनादिति चेत् तद्वन्मुख्यप्रदेशसद्भावे को

दोषो ? अनित्यत्वप्रसंगः सावयवस्यानित्यत्वप्रसिद्धेर्घटादिवदिति चेत्, कथंचिदनित्यत्वस्येष्टत्वा-ददोषोयं । सर्वथा नित्यत्वेर्थक्रियाविरोधात् । सर्वस्य कथंचिदनित्यत्वस्य व्यवस्थापनात् ।

कोई पंडित कहते हैं कि उन धर्म आदिकों के प्रदेश मुख्य नहीं हैं, अतः उपचार से ही उनके प्रदेश मान लिये जाओ। यों कहने पर तो ग्रन्थकार पूछते हैं, कि उन धर्मादिकों में किस कारण से उन प्रदेशों का उपचार किया जाता है, बताओ ? यदि तुम यों कहो कि धर्म आदिकों का एक ही समय में नाना देशों में वर्त रहे द्रव्यों के साथ सम्बन्ध होरहा है, इस ही कारण इन में प्रदेशों का उपचार है क्योंकि प्रदेशों से सहित होरहे ही डेरा, परदा, बांस आदि में उस अनेक देश-वर्ती द्रव्यों के साथ युगपत् सम्बन्ध होजाने का दर्शन होरहा है।

यों कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि उन्हीं डेरा आदिकों के समान धर्म आदिक में भी मुख्य प्रदेशों का सद्भाव मानने पर भला कौनसा दोष आता है, बताओ । यदि तुम यों कहो कि मुख्य प्रदेश मानलेने पर काण्ड पट आदि द्रव्यों के भी अनित्यपन का प्रसंग आजायगा क्योंकि अवयवों से सहित होरहे सावयव पदार्थों का अनित्यपना प्रसिद्ध है, जैसे कि सावयव घट, पट, आदिक अनित्य हैं। यों कहने पर तो आचार्य कहते हैं कि धर्म आदिकों का कथंचित्-अनित्यपन यह हमारे यहां कोई दोष नहीं है, कथंचित्-अनित्यपना धर्म आदिकों के इष्ट किया गया है, यदि धर्म आदिकों को सर्वथा नित्य माना जायगा तो कूटस्थ नित्य पदार्थ के अर्थक्रिया होने का विरोध होजावेगा, पर्यायों की अपेक्षा सम्पूर्ण पदार्थों के कथंचित्-अनित्यपन की व्यवस्था करा दी गयी है, अतः धर्म आदिकों के अनित्यपन का भय करना व्यर्थ है।

जीवस्य सर्वतद्द्रव्यसंगमो न विरुध्यते ।
लोकपूरणसंसिद्धेः सदा तद्योग्यतास्थितेः ॥ ६ ॥

एक जीव का भी सम्पूर्ण उन मूर्तिमान द्रव्यों के साथ सम्बन्ध होना विरुद्ध नहीं पड़ता है, केवलि-समुद्घात के अवसर पर लोक-पूरण अवस्था में एक समय तक सम्पूर्ण मूर्तद्रव्यों के साथ सम्बन्ध होजाना भले प्रकार सिद्ध है, और अन्य अवस्थाओं में भी सर्वदा उस सर्व मूर्तिमद्द्रव्यों के साथ सम्बन्ध होने की योग्यता अवस्थित रहती है, अर्थात्—जैसे तीन गज लम्बा फैला हुआ चादरा तीन गज भूमि को छूरहा है, छोटीसी घरी कर देने पर भी संकुचित चादरे में तीन गज भूमि को स्पर्श करने की योग्यता सदा विद्यमान है, इसी प्रकार चींटी, मक्खी, घोड़ा आदि अवस्थाओं में भी जीव के तीनों लोक में फैल जाने की योग्यता विद्यमान है। हां जीव के अलोकाकाश में व्यापने-योग्य अनन्तानन्त प्रदेश नहीं हैं। वैशेषिकों ने भी "सर्वमूर्तिमद्द्रव्यसंयोगित्वं व्यापकत्वं" यों आत्मा का व्यापकपना इष्ट किया है, अन्तर इतना ही है कि वैशेषिक या नैयायिक तो सम्पूर्ण आत्माओं का सर्वदा व्यापक बना रहना अभीष्ट करते हैं और हम स्याद्वादी आत्मा का परिमाण तत्कालीन गृहीत शरीरों के बराबर स्वीकार करते हैं। हां वैक्रियिक समुद्घात, मारणान्तिकसमुद्घात, केवलिसमुद्घात, अवस्थाओं में आत्मा के प्रदेश लोक में बहुत फैल जाते हैं, लोक-पूरण अवस्था में तो तीन सौ तेतालीस

घन राजू प्रमाण लोक को कोई एक जीव व्याप्त कर लेता है, हां सम्पूर्ण लोक में फैल जाने की योग्यता सम्पूर्ण जीवों के सदा विद्यमान है।

जीवो हि लोकपूरणावस्थायां सकृत्सर्वमूर्तिमद्द्रव्यैः संबध्यते इति सिद्धान्तसद्भावात् स्याद्वादिनां तस्य सकृत्सर्वमूर्तिमद्द्रव्यसंगमो विरुध्यते, शेषावस्थास्वपि तद्योग्यताव्यवस्थापनात्। एतेन धर्माधर्मयोः सर्वथा प्रतिदेशं लोकाकाशव्याप्तिवदेकजीवस्यापि तद्व्याप्तियोग्यत्वस्थितेरसंख्येयप्रदेशत्वसाधने हेतोरसिद्धिः परिहृता वेदितव्या। तथा योग्यतामंतरेण धर्मादीनां शश्वत्तद्व्याप्तिविरोधात्। परमाणुवत् कालाणुवद्वा तद्व्याप्तिः साधयिष्यते चाग्रतः।

जीव नियम से लोक-पूरण अवस्था में सम्पूर्ण मूर्तिमान् द्रव्यों के साथ युगपत्सम्बन्ध कर लेता है, इस प्रकार सिद्धान्त का सद्भाव होने से स्याद्वादियों के यहां उस जीव का युगपत् सम्पूर्ण मूर्त द्रव्यों के साथ संयोग होना विरुद्ध नहीं पड़ता है क्योंकि लोकपूरण के अतिरिक्त शेष अवस्थाओं में भी जीव के उस सर्वमूर्तिमद्द्रव्य-सम्बन्ध की योग्यता का व्यवस्थापन होजाता है। इस कथन करके धर्म और अधर्म के सभी प्रकारों से लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेशों पर व्यापजाने के समान एक जीव के भी उस लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेशों पर व्यापने की योग्यता स्थित होजाती है, इस कारण असंख्येय प्रदेशों के सहितपना साधने पर हेतु के स्वरूपासिद्ध दोष का परिहार कर दिया गया समझ लेना चाहिये क्योंकि तिस प्रकार लोक-व्यापकपन की योग्यता के बिना धर्मादिकों के सर्वदा उस लोकमें व्यापकपन का विरोध होजावेगा जैसे कि पुद्गल परमाणु अथवा कालाणु के लोक में व्यापकपन की योग्यता का विरोध है, और भी अग्रिम ग्रन्थों से (में) इन धर्म आदिकों का उस लोक में व्यापकपन साध दिया जावेगा, यहां इतना ही कथन पर्याप्त है। धर्माधर्मैक-जीवाः (पक्ष) असंख्येय-प्रदेशाः (साध्य) प्रतिप्रदेशं तावदसंख्येय-लोकाकाशव्याप्तियोग्यत्वात् (हेतु) इस अनुमान का हेतु पक्ष में विद्यमान है, जो कि अपने साध्य को पक्ष में साध देता है।

अथाकाशस्य कियंतः प्रदेशा इत्याह।

अब महाराज यह बताओ कि आकाश द्रव्य के कितने प्रदेश हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर सूत्रकार उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं—

आकाशस्यानंताः ॥ ९ ॥

आकाश द्रव्य के अनन्त प्रदेश हैं। अर्थात्—यहां अनन्त पद से जिन-दृष्ट कोई मध्यम अनन्तानन्त ग्रहण करना चाहिये, अनन्त नाम की एक संख्या विशेष है। जिसका अन्त नहीं आवे ऐसा अनन्त यहां अभीष्ट नहीं है। उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात से एक बढ़ा देने पर ही जघन्य अनन्त होजाता है, केवलज्ञान या श्रुतज्ञान की अपेक्षा इकईसों भी संख्याओं का परिमाण किया जा सकता है, कोई अशक्यता नहीं है। हां अक्षय-अनादि अक्षय-अनन्त को उसी स्वरूप से जान लेना या गिन

लेना प्रमाणज्ञान का कार्य है। जीव राशिसे अनन्तगुणी पुद्गल राशि है, पुद्गलों से अनन्त-गुणी काल समयों की राशि है। भूत, भविष्यत काल के समयों से अनन्तानन्तगुणे श्रेणीरूप अलोकाकाश के प्रदेश हैं, इनके घन प्रमाण सम्पूर्ण आकाश के अनन्तानन्त प्रदेश हैं। यों परिमाण किया जा सकता है, कोई पोल नहीं है। हां जिसका अन्त नहीं वह अनन्त है, यह केवल अनन्त शब्द की निरुक्ति की जा सकती है। प्रकृत्यर्थ नहीं करना चाहिये।

प्रदेशा इत्यनुवर्तते। पूर्वसूत्रे वृत्तिकरणात्तत्र वृत्तिनिर्देशे हि प्रदेशानामसंख्येय-शब्दोपाधीनां व्यवस्थानात्केवलानामिहानुवृत्तिर्न स्यात्, तत एवासंख्येयप्रदेशा इति वृत्तिनिर्देशे लाघवेपि वाक्यनिर्देशोऽसंख्येयाः इति कृत इहोत्तरसूत्रेषु च प्रदेशग्रहणं मा भूद्यता गौरवमिति।

पूर्व सूत्र से " प्रदेशाः " इस पद की अनुवृत्ति कर ली जाती है, तिस ही कारण से पहिले सूत्र में प्रदेश शब्द की असंख्येय शब्द के साथ कर्मधारयवृत्ति नहीं की गयी है। यदि वहां कर्मधारय समास वृत्ति अनुसार निर्देश कर दिया जाता तो " असंख्येय–प्रदेशाः " पद बन जाता " विशेषणं विशेष्येण बहुलं " के अनुसार असंख्येय शब्द को विशेषण रखने वाले विशेष्यभूत प्रदेशों की व्यवस्था होजाने से केवल प्रदेशों की यहाँ अनुवृत्ति नहीं होसकेगी " एकयोग--निर्दिष्टानां सह वा निवृत्तिः सह वा प्रवृत्तिः " या तो असंख्येय और प्रदेश दोनों शब्दों की अनुवृत्ति होती या एक की भी नहीं होपाती। तिस ही कारण से यद्यपि समास करने पर " असंख्येय--प्रदेशाः " इस प्रकार समास वृत्ति पूर्वक कथन करने में लाघव है, फिर भी सूत्रकार ने " असंख्येयाः " यह पद न्यारा रखते हुये वाक्य का कथन किया है। यहाँ " आकाशस्यानन्ताः " इस सूत्र में और अगले दो सूत्रों में पुनः प्रदेश शब्द का ग्रहण नहीं होवे जिससे गौरव होजाता अर्थात्— गौरव दोष का परिहार करने के लिये " प्रदेशाः " शब्द को असमसित रखा है, उसकी यहां अनुवृत्ति कर ली जाती है।

अंतोऽवसानमिह गृह्यते, अविद्यमानो अंतो येषां त इमेऽनंताः प्रदेशा इत्यन्यपदार्थ-निर्देशोयं। ते चाकाशस्येति भेदनिर्देशः कथंचित्प्रदेशप्रदेशिनोर्भेदोपपत्तेः? सर्वथा तयोर-भेदे प्रदेशिनः स्वप्रदेशादेकस्मादर्थान्तरत्वाभावात् प्रदेशमात्रत्वप्रसंग इति प्रदेशिनोऽसत्त्वं। तदसत्त्वे प्रदेशस्याप्यसत्त्वमित्युभयासत्त्वप्रसक्तिः।

यहाँ सूत्र में अन्त का अर्थ अवसान ग्रहण किया जाता है, जिनप्रदेशों का अन्त विद्यमान नहीं है, वे प्रदेश, ये अनन्त हैं, इस प्रकार बहुव्रीहि समास द्वारा अन्य पदार्थ को कथन करने वाला इस सूत्र में " अनन्ताः " यह निर्देश है। वे अनन्त प्रदेश आकाश द्रव्य के हैं, इस प्रकार षष्ठ्यन्त और प्रथमान्त पदों के अनुसार सूत्रकार द्वारा भेदपूर्वक कथन किया गया है, क्योंकि अंगभूत प्रदेश और अंगी होरहे प्रदेशी इनका कथंचित्–भेद होना युक्तियों से सिद्ध है। यदि सभी प्रकारों से उन प्रदेश और प्रदेशी द्रव्यों का अभेद माना जायगा तब तो प्रदेशवाले द्रव्य को अपने एक प्रदेश से भेद नहीं होने के कारण केवल एकप्रदेशधारीपन का प्रसंग होगा, यों प्रदेशी द्रव्य का अभाव हुआ जाता है, और उस प्रदेशी का असद्भाव होजाने पर प्रदेश का भी असत्त्व होजाता है। इस प्रकार प्रदेश और

प्रदेशी दोनों के असत्वका प्रसंग आया। भावार्थ—प्रदेशी द्रव्य का एक प्रदेश के साथ अभेद मानने पर "द्रव्य" एक--प्रदेशवान् हुआजाता है, एक प्रदेश वाला द्रव्य तो परमाणु के समान प्रदेशी नहीं कहा जा सकता है, अतः प्रदेशी कोई नहीं रहा तब प्रदेश भी कोई नहीं ठहर सकता है, यों दोनों का अभाव होजायगा, अतः एक आकाश और उसके अनन्त प्रदेशों का सर्वथा अभेद नहीं मान कर कथंचित् अभेद स्वीकार करना चाहिये।

सर्वथा तद्भेदे पुनराकाशस्य च द्रव्यप्रदेशा द्रव्याणि वा स्युर्गुणादयो वा ? यदि द्रव्याणि तदाकाशस्यानेकद्रव्यत्वप्रसंगो घटादिवत्। तथा च सादिपर्यन्तसानत्वं तद्वदेव न ह्यनेकद्रव्यारब्धं द्रव्यं किंचिदनाद्यनंतं दृष्टमिष्टं वा परस्य। गुणाः प्रदेशा इति चेन्न, गुणांतराश्रयत्वविरोधात् साधारणगुणा हि संयोगविभागसंख्यादयस्तत्रेष्यंते घटसंयोगोन्यस्याकाशप्रदेशस्य कुड्यसंयोगोन्यस्य करविभागोऽन्यस्य दंडविभागोन्यस्येति संयोगविभागयोः प्रतीतेः। एकः खस्य प्रदेशो द्वौ चेति संख्यायाः संप्रत्ययात् परो गगनप्रदेशोऽपरो वेति परत्वापरत्वयोरवबोधात् पृथगेतस्मात् पाटलिपुत्राकाशप्रदेशाच्चित्रकूटाद्याकाशप्रदेश इति पृथक्त्वस्योपलम्भात् तथाघटाकाशप्रदेशान्महान् मन्दराकाशप्रदेश इति परिमाणस्य सन्निर्णयात्।

यदि फिर आकाश और उसके प्रदेशों का सर्वथा भेद माना जायगा तब तो बताओ वे आकाशद्रव्य के सर्वथा भिन्न पड़े हुये प्रदेश भला द्रव्यपदार्थ हैं ? अथवा क्या गुण, कर्म, सामान्य, आदि पदार्थ माने जायंगे ? बताओ यदि वे अनेक प्रदेश द्रव्यरूप हैं, तब तो आकाश को अनेक-द्रव्यपन का प्रसंग आवेगा जैसे कि घट आदिक अनेक द्रव्य माने गये हैं, किन्तु वैशेषिकों ने आकाश को एक द्रव्य स्वीकार किया है "तत्वं भावेन" ॥ २९ ॥ "शब्दलिंगाविशेषाद्विशेषलिंगाभावाच्च" ३० ॥ इन दो सूत्रों से आकाश का एकद्रव्यपना साधा गया है, आकाश के प्रदेशों को द्रव्य मानने पर आकाश अनन्त द्रव्य हुये जाते हैं, और तैसा होने पर उन घट आदिकों के ही समान आकाश को सादिपना और सान्तपना भी प्राप्त होजायगा अनेक द्रव्यों से आरम्भा जा चुका कोई भी द्रव्य अनादि और अनन्त नहीं देखा गया है।

तथा उन दूसरे पण्डित वैशेषिकों के यहाँ अनेक द्रव्यों से बनाये गये घट, पट, आदि द्रव्यों का अनादि अनन्तपना इष्ट भी नहीं कियागया है। यदि उन प्रदेशों को द्रव्य नहीं मान कर गुणस्वरूप माना जाय तो यह भी ठीक नहीं पड़ेगा क्योंकि तब तो उन गुणस्वरूप प्रदेशों में अन्य गुणों के आश्रयपन का विरोध होजायगा, गुणों में दूसरे गुण नहीं रहा करते हैं "निर्गुणाः गुणाः" "गुणादिर्निर्गुणक्रियः" ऐसा जैनों ने और वैशेषिकों ने स्वीकार किया है। जब कि आकाश-सम्बन्धी उन प्रदेशों में संयोग, विभाग, संख्या, आदि साधारण गुण वर्त रहे वैशेषिकों ने इष्ट किये हैं।

देखिये आकाश के अन्य प्रदेश का घट के साथ संयोग होरहा है, और आकाश के दूसरे ही अन्य प्रदेश का भीत के साथ संयोग होरहा है, यों प्रदेशों में संयोग गुण ठहर जाता है। तथा आकाश के अन्य प्रदेशों का हाथ से विभाग होरहा है, और आकाश के दूसरे अन्य प्रदेश का दण्ड के साथ

विभाग होरहा है, यह प्रदेशों में विभाग गुण रह गया। इस प्रकार आकाश के प्रदेशों में संयोग और विभाग गुणों की प्रतीति होरही है। आकाश का एक प्रदेश और आकाश के दो प्रदेश, तीन प्रदेश, इत्यादि ढंग से प्रदेशों में संख्या गुण का भी भले प्रकार प्रत्यय होरहा है। यह आकाश का दूर–वर्त्ती प्रदेश परे है, और यह निकट-वर्त्ती प्रदेश अपर है, यों आकाश के प्रदेशों में परत्व और अपरत्व गुणों का परिज्ञान होरहा है। तथैव पटना-सम्बन्धी आकाश के इस प्रदेश से चित्रकूट, मथुरा, उज्जैन आदि के आकाशप्रदेश पृथक् हैं, इस प्रकार आकाश के प्रदेशों में पृथक्त्व गुण का उपलम्भ होरहा है। तथा घट–सम्बन्धी आकाश के प्रदेश से मन्दराचल–सम्बन्धी आकाश का प्रदेशस्थल महान् है, यों प्रदेशों में परिमाण गुणका अच्छा निर्णय होरहा है।

इस ढंग से प्रदेशों में संयोग, विभाग, संख्या, परत्व, अपरत्व, पृथक्त्व, परिमाण, ये सात सामान्य-गुण पाये जाते हैं। वैशेषिकों के यहां बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना, रूप, रस, गंध, स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिकद्रवत्व और शब्द, ये सोलह विशेष गुण हैं, और संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, वेग और नैमित्तिकद्रवत्व ये दस सामान्यगुण हैं द्रवत्व और संस्कार के विशेषभेद दोनों और आगये हैं यों चौबीस गुणों की संख्या छब्बीस होगयी है।
अतः गुणवान् होने से आकाश के प्रदेश गुणस्वरूप नहीं होसकते हैं।

प्रदेशिन्येवाकाशे संयोगादयो गुणा न प्रदेशेष्विति चेन्न, अवयवसंयोगपूर्वकावयवि-संयोगोपगमाद्द्वि-तंतुकवीरणसंयोगवत्। पटादीनामाकाशप्रदेशसंयोगमन्तरेणाकाशप्रदेशसंयोगोऽपरः एकवीरणस्यासिद्धः। सिद्धे तन्त्वेकसंयोगे द्वितंतुकसंयोगप्रसंगात् संयोगजसंयोगाभावः।

प्रदेशों और प्रदेशी के भेद को माननेवाले वैशेषिक कहते हैं कि प्रदेशों वाले आकाश में ही संयोग, विभाग, आदिक गुण हैं प्रदेशों में कोई गुण नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि अवयवों के संयोग-पूर्वक होरहा अवयवी का संयोग तुम्हारे यहाँ स्वीकार किया गया है, जैसे कि दुसूता और वीरण का संयोग है। अर्थात्-हस्त पुस्तक संयोग से शरीर पुस्तक संयोग जो हुआ है वह अवयव संयोग-पूर्वक अवयवी का संयोग वैशेषिकों के यहाँ माना गया है, तृण या डशीर से बने हुये और तन्तुओं को स्वच्छ या विरल करने वाले साधन को वीरण (ब्रुश) कहते हैं। एक तन्तु और वीरण के संयोग से हुआ दो दो तन्तुओं के साथ वीरण का संयोग संयोगज संयोग है। वैशेषिकों ने संयोग के एक कर्मजन्य, उभयकर्मजन्य और संयोगज--संयोग यों तीन भेद माने हैं, बाज पक्षी और पर्वत का संयोग अन्यतर कर्म-जन्य है। यहां एक बाज में क्रिया हुयी है, पर्वत में नहीं। लड़ने वाले दो मेंढ़ाओं का उभय-कर्मजन्य संयोग है। क्योंकि दोनों मेंढ़ाओं में क्रिया होकर वह संयोग हुआ है, कपाल और वृक्ष के संयोग से घट और वृक्ष का संयोग तो संयोगजसंयोग है। यह अवयव के संयोग पूर्वक हुआ अवयवी का संयोग है। पट आदिकों का आकाश के प्रदेशों के साथ संयोग होजाने बिना आकाश प्रदेश में दूसरा संयोग असिद्ध है। प्रदेशों के बिना एकतन्तु और वीरण का संयोग भी असिद्ध है, एक तन्तु के साथ संयोग सिद्ध होने पर दो तन्तुओं के साथ संयोग होने का प्रसंग है, अतः आकाश में संयोगजसंयोग का अभाव हुआ। भावार्थ—आकाश के प्रदेशों में संयोग को नहीं मानने वाले वैशे-

धिक आकाश में एक कर्मजन्य संयोग को नहीं मान सकते हैं, क्योंकि आकाश में तो क्रिया है नहीं। और दूसरा संयुक्त होने वाला द्रव्य यदि क्रिया को करे भी तो जहाँ वह पहिले था वहाँ भी आकाश विद्यमान था, ऐसी दशा में दो में से एक [illegible] है। तथा उभय कर्मजन्य संयोग भी आकाश में अलीक है, तीसरा संयोगजसंयोग तभी बन सकता है जब कि अवयव सरीखे आकाश प्रदेशों में संयोग माना जाय। यदि वैशेषिक पण्डित आकाश के प्रदेशों में संयोग को नहीं मानते हैं, तो आकाश में संयोगजसंयोग नहीं बन पाता है, ऐसी दशा होने पर आकाश में संयोग गुण का अभाव हुआ।

एतेन विभागजविभागाभावः प्रतिपादितः। संख्या पुनर्द्वित्वादिकाकाशे प्रदेशि-न्यनुपपन्नैव तस्यैकत्वात्। एतेन परत्वापरत्वपृथक्त्वपरिमाणभेदाभावः प्रतिनिवेदितः तत्रै-कत्र तदनुपपत्तेः। ततः स्वप्रदेशेष्वेवैते गुणाः सिद्धा इति न गुणाः प्रदेशा गुणित्वात् पृथि-व्यादिवत्।

इस ही कथन करके आकाश में विभागजन्य विभाग का अभाव भी प्रतिपादन कर दिया गया समझो। अर्थात्—हस्त और वृक्ष का विभाग होजाने से शरीर और वृक्ष का विभाग हुआ विभा-गज विभाग कहलाता है, जब आकाश के प्रदेशों में विभाग गुण नहीं माना जाता है, तो वैशेषिकों के यहाँ आकाश में भला विभागज विभाग कैसे ठहर पायेगा ?। अन्यतर कर्म-जन्य चील और पर्वत का विभाग है, केवल चील उड़ कर पर्वत से अलग होजाती है तथा उभयकर्मजन्य भिड़े हुये दोनों मेंढों का विभाग एवं कारणमात्र विभागजन्य विभाग और कारणाकारण विभागजन्य विभाग ये विभाग-गजविभाग हैं। आकाश के प्रदेशों में विभाग माने बिना आकाश में विभाग गुण का अभाव होजाता है। तीसरा गुण फिर द्वित्व, आदिक संख्यातो प्रदेशवाले आकाश से असिद्ध ही है, क्योंकि वह आकाश द्रव्य एक माना गया है, आकाशके प्रदेशों में ही द्वित्व आदिक संख्यायें ठहर सकती हैं। इस उक्त कथन करके परत्व, अपरत्व, पृथक्त्व, और परिमाण विशेषों का अभाव भी आकाश में है, प्रतिवादी के सन्मुख इस बात का बहुत अच्छा निवेदन कर दिया गया है क्योंकि उस अकेले आकाश में उन परत्व, अपरत्व, आदि की सिद्धि नहीं होपाती है, तिस कारण से आकाश के प्रदेशों में ही संयोग, विभाग, संख्या, परत्व, अपरत्व, पृथक्त्व, परिमाण, ये गुण सिद्ध होजाते हैं। इस कारण आकाश के प्रदेश (पक्ष) गुण पदार्थ नहीं हैं (साध्य) गुणवान् होने से (हेतु) पृथिवी, जल, आदि द्रव्यों के समान (अन्वयदृष्टान्त)। यहाँ तक आकाश के प्रदेशों का गुणपना निषिद्ध कर दिया है।

नापि कर्माणि तत एव परिस्पन्दात्मकत्वाभावाच्च। नापि सामान्यादयोनुवृत्तिप्रत्य-यादिहेतुत्वाभावात्। पदार्थांतराणि खप्रदेशा इत्ययुक्तं। षट्पदार्थनियमविरोधात्।

आकाश के प्रदेश तिस ही कारण से यानी गुणवान् होने से तीसरे माने गये कर्मपदार्थ स्वरूप भी नहीं हैं क्योंकि कर्म गुणों के धारी नहीं हैं, दूसरी बात यह है कि परिस्पन्द-आत्मकपन का अभाव होजाने से वे प्रदेश कर्मपदार्थ स्वरूप नहीं हैं, कर्म होते तो हलन, चलन, आदि किसी भी क्रियास्वरूप होते किन्तु यह वैशेषिकों ने इष्ट नहीं किया है। तथा आकाश के वे प्रदेश सामान्य,

विशेष, समवाय और अभाव पदार्थ स्वरूप भी नहीं हैं क्योंकि अनुवृत्तिप्रत्यय आदि के हेतुपन का अभाव है, अर्थात्—यह घट है, और यह घट है, तथा यह भी घट है, इत्यादिक अनुवृत्ति प्रत्यय का हेतु जैसे घटत्व सामान्य है, वैसे अनुवृत्त ज्ञान के कारण प्रदेश नहीं हैं और यह इससे व्यावृत्त है, यह इससे व्यावृत्त है, ऐसे व्यावृत्तिज्ञान के कारण नहीं होने से वे प्रदेश विशेष पदार्थ भी नहीं हैं अयुतसिद्ध पदार्थों का "यहां यह है" इस ज्ञान के कारण नहीं होने से वे प्रदेश समवाय पदार्थ भी नहीं हैं, भाव पदार्थ-स्वरूप प्रदेश भला अभाव पदार्थ-स्वरूप कैसे होसकते हैं ? । गुणवान् होने से भी प्रदेश इन सामान्य आदि पदार्थ-स्वरूप नहीं हैं क्योंकि सामान्य आदि में गुण नहीं पाये जाते हैं। यदि वैशेषिक यों कहैं कि आकाश के प्रदेश इन छह पदार्थों से अतिरिक्त अन्य पदार्थ स्वरूप होजायगे ग्रन्थकार कहते हैं। कि यह इनका कहना अयुक्त है क्योंकि "जगत् के सम्पूर्ण भाव पदार्थ छह ही हैं" जो कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, उनके यहाँ माने गये हैं, इस नियम का विरोध होजायगा।

अत एव न मुख्याः खस्य प्रदेशा इति चेन्न, मुख्यकार्यकरणदर्शनात्। तेषामुपचरितत्वे तदयोगात्। न ह्युपचरितोऽग्निः पाकादावुपयुज्यमानो दृष्टस्तस्य मुख्यत्वप्रसंगात्। प्रतीयते च मुख्यं कार्यमनेकपुद्गलद्रव्याद्यवगाहकलक्षणं।

पुनः वैशेषिक यदि यों कहैं कि इस ही कारण यानी छह पदार्थों के नियम का विरोध नहीं होय, अतः आकाश के प्रदेश वास्तविक मुख्यपदार्थ कोई नहीं हैं, कल्पित या उपचरित हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उन प्रदेशों करके मुख्य कार्य का करना देखा जाता है, वस्तुभूत कार्य का कारण उपचरितपदार्थ नहीं होसकता है, उन प्रदेशों के कल्पित होने पर उस मुख्य कार्य के किये जाने का अयोग है। देखिये मिट्टी का अग्नि रूप बना हुआ खिलौना या अग्नि का चमकीले पदार्थ में पड़ाहुआ प्रतिबिम्ब अथवा "अग्निर्माणवकः" आदि उपचरित अग्नि है, यह कल्पित अग्नि पकाने, जलाने, सुखाने आदि कार्यों में उपयोगी होरही नहीं देखीगयी है, यदि कल्पित अग्नि पाक आदिको कर देती तो उसको मुख्य अग्निपनेका प्रसंग आजावेगा किन्तु आकाशके प्रदेशोंसे होरहा अनेक पुद्गलद्रव्य, जीवद्रव्य आदिका अवगाह करदेना स्वरूप मुख्य कार्य प्रतीत होता है।

निरंशस्यापि विभुत्वात्तद्युक्तमिति चेत् कथं विभुर्निरंशो चेति न विरुद्ध्यते। ननु प्रमाणसिद्धत्वाद्वादिप्रतिवादिनोराकाशे विभुत्वाभावाच्च विप्रतिषिद्धं। तत एव निरंशत्वसिद्धिः। तथाहि-निरंशमाकाशादि सर्वजगद्व्यापित्वात् यन्न निरंशं न तत्तथा दृष्टं यथा घटादि सर्वजगद्व्यापि चाकाशादि तस्मान्निरंशमिति कश्चित्। तदसमीचीनं, हेतोः पक्षाव्यापकत्वात् परमाणौ निरंशे तदभावात्।

यदि वैशेषिक यों कहें कि मुख्य प्रदेशों से रहित होरहे निरंश भी आकाश के व्यापक होने के कारण वह अनेक द्रव्यों को अवगाह देना युक्त बन जाता है। यों कहने पर तो आचार्य कहते हैं कि आकाश को विभु कहना और निरंश कहना यह किस प्रकार पूर्वापर विरुद्ध नहीं पड़ेगा ? अर्थात्—

जो अंशों से रहित है, वह परमाणु के समान सम्पूर्ण स्थानों में कैसे फैल सकता है ? अथवा जो व्यापक होरहा है वह निरंश कैसे होसकता है ? यह तुल्य-बल विरोध है। पुनरपि वैशेषिक अपने पक्ष का अवधारण करते हैं, कि वादी, प्रतिवादी, होरहे वैशेषिक और जैन दोनों के यहाँ आकाश में व्यापकपन का सद्भाव प्रमाणों से सिद्ध है, अतः निरंशपन और विभुपन का कोई तुल्यबल वाला विरोध नहीं प्राप्त हुआ, तिस ही कारण से यानी विभुपन से ही आकाश के निरंशपन की सिद्धि होजाती है, उसको स्पष्ट रूप से यों समझिये कि आकाश, काल, आदि पदार्थ (पक्ष) अंशों से रहित हैं (साध्य) सम्पूर्ण जगत् में व्यापनेवाले होने से (हेतु) जो पदार्थ अंशों से रहित नहीं है, वह तिस प्रकार सम्पूर्ण जगत् में व्याप रहा नहीं देखा गया है, जैसे कि घट, पट, आदि हैं (व्यतिरेक दृष्टान्त)। सम्पूर्ण जगत् में व्यापनेवाले आकाश आदि हैं (उपनय) तिस कारण से आकाश आदि निरंश हैं (निगमन)। इस प्रकार यहाँ तक कोई वैशेषिक कह रहा है।

आचार्य कहते हैं कि वैशेषिक का यह कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि पक्ष के एक देश में हेतु नहीं व्यापता है निरंश परमाणु में उस हेतु का अभाव है, अतः सर्व जगत् व्यापकपना हेतु भागासिद्ध हेत्वाभास है। "पक्षैकदेशेहेत्वभावो भागासिद्धिः" यह भागासिद्धि का लक्षण है।

तस्या विवादगोचरत्वादपक्षीकरणाददोष इति चेन्न, सांशपरमाणुवादिनस्तत्रापि विप्रतिपत्तेः पक्षीकरणोपपत्तेः। साधनांतरात्तत्र निरंशत्वसिद्धेरिहापक्षीकरणमिति चेत्, एवं तर्हि न कश्चित्पक्षाव्यापको हेतुः स्यात्। चेतनास्तरवः स्वापात् मनुष्यवदित्यत्रापि तथा परिहारस्य संभवात्। शक्यं हि वक्तुं येषु तरुषु न स्वापादयोऽसिद्धास्त एव पक्षीक्रियंते, नेतरे तत्र हेत्वंतराच्चेतनत्वप्रसाधनात् ततो न पक्षाव्यापको हेतुरिति।

वैशेषिक कहते हैं कि वह परमाणु तो वैशेषिक, नैयायिक, जैन, मीमांसक, किसी के यहाँ भी विवाद का विषय नहीं है, सभी विद्वान् परमाणु को निरंश मानते हैं, अतः परमाणु को पक्ष कोटि में नहीं किया गया है, तब तो भागासिद्ध दोष नहीं आया। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि परमाणुओं को अंशों से सहित कहने वाले वादी पण्डित का उस परमाणु में भी निरंशपन का विवाद खड़ा हुआ है। प्रथम जैन विद्वान् ही पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व, अधः, यों छहों ओर से अन्य छह परमाणुओं को चिपटाने वाले छह पहलों करके सहित होरहे परमाणु को शक्ति की अपेक्षा षडंश मान लेते हैं, अतः विवाद पड़जाने से परमाणु का भी पक्षकोटि में कर लेना बन जाता है, उस में हेतु के नहीं वर्तने से वैशेषिकों के ऊपर भागासिद्ध दोष खड़ा हुआ है।

यदि वैशेषिक यों कहें कि उस परमाणु में अन्त्य चरमावयवत्व आदि हेतु से निरंशपन की सिद्धि करली जायगी, अतः यहां इस अनुमान में परमाणु का पक्षकोटि में ग्रहण करना उचित नहीं जंचा है। आचार्य कहते हैं कि यों कहोगे तब तो इस प्रकार कोई भी हेतु पक्ष में अव्यापक (भागासिद्ध) नहीं होसकेगा। देखिये भागासिद्ध का प्रसिद्ध उदाहरण यह है कि वृक्ष (पक्ष) चेतन हैं (साध्य) स्वाप यानी शयन करना पाया जाने से (हेतु) सो रहे मनुष्यों के समान (अन्वयदृष्टान्त) यों सोते हुये वृक्षों में तो स्वाप हेतु है और निद्रा कर्म की उदय उदीरणा से रहित होरहे, जागते वृक्षों

में स्वाप हेतु नहीं ठहरा किन्तु सभी वृक्षों को पक्ष बनाया गया है, अतः यह हेतु पूरे पक्ष में नहीं व्यापने के कारण भागासिद्ध हेत्वाभास है। यहां भी तिस प्रकार भागासिद्ध दोष के परिहार का सम्भव होरहा है। देखिये वादी के द्वारा यों कहा जासकता है कि जिन वृक्षों में [illegible] हुए, आदि परिणाम असिद्ध नहीं हैं, वे ही वृक्ष यहां पक्ष कोटि में किये जाते हैं अन्य स्वाप आदि से रहित होरहे कम्पित या जागृत वृक्ष यहाँ पक्ष नहीं किये गये हैं। उन जागते वृक्षों में आहार करना, फलना, फूलना, आदि हेतुओं से चेतनपन की अच्छे ढंग से सिद्धि करादी जावेगी, तिस कारण यह स्वाप हेतु भी पक्ष में अव्यापक यानी भागासिद्ध नहीं हो सकेगा। यहाँ तक वैशेषिकों के "सर्वजगत्-व्यापित्व" हेतु को भागासिद्ध बता दिया गया है।

किल कालात्ययापदिष्टो हेतुर्निरंशत्वसाधने सर्वजगद्द्रव्यापित्वादिति पक्षस्यानुमानागमबाधितत्वात् सांशमाकाशादि सकृद्भिन्नदेशद्रव्यसंबन्धत्वात्काण्डपटादिवदिति गगनादेः सांशत्वानुमानवचनात्। अत्र हेतोः सामान्यादिभिर्व्यभिचारासंभवात्। तेषां सकृद्भिन्नदेशद्रव्यसंबंधस्य प्रमाणसिद्धस्याभावात्। तथा धर्माधर्मैकजीवलोकाकाशानां तुल्यसंख्येयप्रदेशत्वात् प्रदेशसमवाय इत्याद्यागमस्यापि तत्सांशत्वप्रतिपादकस्य सुनिश्चितासंभवद्बाधकस्य सद्भावाच्च।

वैशेषिकों का आकाश आदि के निरंशपन को साधने में दिया गया "सर्वजगद्व्यापकपना होने से" यह हेतु कालात्ययापदिष्ट (बाधित) हेत्वाभास भी है, क्योंकि 'आकाश आदि निरंश हैं' इस पक्ष को अनुमान और आगम प्रमाणों से बाधितपना है। आकाश, आत्मा आदिक पदार्थ (पक्ष) अंशों से सहित हैं, (साध्य) एक ही बार में भिन्न भिन्न देशवर्ती द्रव्यों के साथ सम्बन्ध कर रहे होने से (हेतु) काण्डपट, पर्दा, कनात, भींत आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त)। इसप्रकार आकाश आदि के सांशपन को साधने वाले अनुमान का वचन है, इस अनुमान में पड़े हुये हेतु का सामान्य (जाति) विशेष, आदि करके व्यभिचार दोष होजाने का असम्भव है, क्योंकि उन सामान्य आदिकों के एक ही बार में भिन्न देशीय द्रव्यों के साथ सम्बन्ध होजाने की प्रमाणों से सिद्धि नहीं होपाती है, वैशेषिकों द्वारा माना गया नित्य, एक, अनेकानुगत, सर्वगत, ऐसे सामान्य की प्रमाणों से सिद्धि नहीं होसकी है, घट या पट के पूरे देशों में व्याप रहे सदृशपरिणाम-स्वरूप घटत्व, पटत्व आदि सामान्य यदि कतिपय भिन्नदेशीयद्रव्यों से सम्बन्ध रखते हैं तो वे सामान्य साथ में सांश भी हैं, अतः व्यभिचार दोष की सम्भावना नहीं है, यह वैशेषिकों के अनुमान की इस अनुमान से बाधा प्राप्त हुई। तथा वैशेषिकों के अनुमान को आगम-प्रमाण से यों बाधा आती है कि धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, एक जीव द्रव्य और लोकाकाश के तुल्य रूप से असंख्यातासंख्यात प्रदेश हैं, इस कारण इन चारों का समप्रदेशत्व रूप से सम्बन्ध होरहा है, इत्यादिक आकाश आदि को सांशपने के प्रतिपादक आगम का भी सद्भाव है, जिन आगमों के बाधक प्रमाणों के असम्भवने का बहुत अच्छा निर्णय होचुका है।

भावार्थ—द्वादशांगों के विषय का वर्णन करते हुये आचार्यों ने समवायांग का निरूपण करते समय धर्म, आदिक चार के तुल्य असंख्यात प्रदेशी होने से द्रव्यसमवाय इष्ट किया है। राजवा-

र्तिक में भी "श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदं" इस सूत्र के व्याख्यान में लिखा है कि धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय तथा लोकाकाश एवं एक जीव के तुल्य संख्या रूप असंख्यात प्रदेश होने के कारण एक प्रमाण (नाप) करके द्रव्यों का समवाय होजाने से परस्पर में द्रव्यसमवाय है, इस प्रकार

अनुमान और आगम प्रमाणों से बाधित होरहा वैशेषिकों का आकाश में निरंशत्व को साधने वाला हेतु कालात्ययापदिष्ट है।

यदप्युच्यते निरंशमाकाशादि सदावयवानारभ्यत्वात् परमाणुवदिति तदप्यनेन निरस्तं, हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वाविशेषात् । किं च यदि सर्वथा सदावयवानारभ्यत्वं हेतुस्तदा प्रतिवाद्यसिद्धः पर्यायार्थादेशात् पूर्वपूर्वाकाशादिप्रदेशेभ्य उत्तरोत्तराकाशादिप्रदेशोत्पत्तेरारभ्यारंभकभावोपपत्तेः । अथ कथंचित्सदावयवानारभ्यत्वं हेतुस्तदा विरुद्धः, कथंचिन्निरंशत्वस्य सर्वथा निरंशत्वविरुद्धस्य साधनात् । कथंचिन्निरंशत्वस्य साधने सिद्धसाधनमेव पुद्गलस्कंधवत्सर्वदावयवविभागाभावात् सावयवत्वाभावोपगमात्

और भी वैशेषिकों द्वारा जो यह कहा जाता है कि आकाश आदि (पक्ष) निरंश हैं, (साध्य) सर्वदा अवयवों से नहीं आरम्भने योग्य होने से (हेतु) परमाणु के समान (अन्वय दृष्टान्त)। इस प्रकार वैशेषिकों का यह अनुमान भी इसी कथन करके निराकृत होगया समझो, क्योंकि पूर्व अनुमान के हेतु समान इस अनुमान के हेतु का भी कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभासपना अन्तररहित है, दूसरी बात यह भी है कि वैशेषिक यदि सर्वथा सदा अवयवों से अनारभ्यपन को हेतु कहेंगे तब तो प्रतिवादी होरहे जैनों को यह वैशेषिकों का हेतु असिद्ध (हेत्वाभास) पड़ेगा क्योंकि पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा कथन करने से पूर्व पूर्व समय--वर्त्ती आकाश आदि के प्रदेशों से उत्तरोत्तर समयवर्ती आकाश आदि के प्रदेशों की उत्पत्ति होरही मानी जाती है, अतः आरम्य, आरम्भक भाव बन रहा है।

भावार्थ—पर्याय--दृष्टि से आकाश या उसके प्रदेश आदि सभी पदार्थ प्रतिक्षण उपजतेरहते हैं, पूर्व समय--वर्त्ती पर्याय कारण होती है, और उत्तर समय--वर्त्ती पर्याय कार्य मानी जाती है आकाश के प्रदेश भी उत्तर समय--वर्त्ती आकाशीय प्रदेशों को या प्रदेशों के पिण्ड आकाश को उपजाते रहते हैं, ऐसी दशा में सभी प्रकारों से अवयवों द्वारा अनारम्यपना हेतु आकाश में नहीं रहता है, अतः वैशेषिकों का हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। हाँ अब यदि कथंचित् सदा अवयवों से अनारम्यपन को हेतु कहोगे तब तो वैशेषिकों का हेतु विरुद्ध हेत्वाभास होगा क्योंकि वह हेतु साध्य किये गये सर्वथा निरंशत्व से विरुद्ध होरहे कथंचित् निरंशत्व का साधना करेगा। तथा आकाश में कथंचित् निरंशपन का साधन करने में हम जैनों की ओर से वैशेषिकों के ऊपर सिद्धसाधन दोष ही भी है, क्योंकि जिस प्रकार पुद्गल स्कन्धों में सदा अवयवों का विभाग है, वे टूट, फूट, जाते हैं जुड़ मिल जाते हैं, उस प्रकार आकाश में सदा अवयवों का विभाग नहीं है, अतः आकाश में सावयवपने के अभाव को हम जैनों के यहां नहीं स्वीकार किया गया है, इस कारण जिस कथंचित् निरंशपन को हम जैन प्रथम से ही मानते आरहे हैं, उसके लिये ही आप पुनः अनुमान रचने का घोर परिश्रम कर रहे हैं, जो कि व्यर्थ है।

स्यान्मतं, नाकाशादीनां प्रदेशा मुख्याः संति स्वतोऽप्रदिश्यमानत्वात् परमाणुवत् । पटादीनां हि मुख्याः प्रदेशाः स्वतोऽवधार्यमाणाः सिद्धा इति । तदयुक्तं, परमाणोरेकप्रदेशाभावप्रसंगात् छद्मस्थैः स्वतोऽप्रदिश्यमानत्वाविशेषात् । परमाणुरेकप्रदेशोत्यन्तपरोक्षत्वादस्मदादीनां स्वतोऽप्रदिश्यमान इतिचेत् तत एवाकाशादिप्रदेशाः स्वतोऽप्रदिश्यमानाः संत्वस्मदादिभिः । अतींद्रियार्थदर्शिनां तु यथा परमाणुरेकप्रदेशः स्वतःप्रदेश्यस्तथाकाशादिप्रदेशोपीति स्वतोऽप्रदिश्यमानत्वादित्यसिद्धो हेतुः । पटादिद्व्यणुकाद्यवयवैरनेकांतिकश्च, तेषामस्मदादिभिः स्वतोऽप्रदिश्यमानानामपि भावात् ।

सम्भव है वैशेषिकों का यह मन्तव्य होय कि आकाश आदिकों के प्रदेश (पक्ष) मुख्य नहीं हैं (साध्य) स्वतः एक एक प्रदेश द्वारा नापने के ढंग से नहीं प्रदेशित किये जारहे होने से (हेतु) परमाणु के समान (अन्वय दृष्टान्त) । जिस कारण से कि पट, घट, वृक्ष, आदिकों के मुख्य प्रदेश हैं तिस ही कारण से वे स्वतःप्रदिष्ट होकर अवधारण किये जा रहे सिद्ध हैं । आकाश में यह बात नहीं है अतः आकाश के मुख्य प्रदेश नहीं हैं । आचार्य कहते हैं कि वैशेशिकों का यह कथन युक्तिरहित है क्योंकि यों तो परमाणु के माने जा रहे एक प्रदेश के अभाव का प्रसंग होजावेगा, कारण कि अल्पज्ञ छद्मस्थ जीवों करके परमाणु में भी स्वतः अप्रदिश्यमानपना आकाश के समान अन्तररहित विद्यमान है । यदि वैशेषिक यों कहें कि परमाणु तो एक प्रदेशवाला है ही, किन्तु अत्यन्तपरोक्ष होने से हम आदि छद्मस्थ जीवों को स्वतःनापने योग्य प्रदिश्यमान नहीं होपाता है अथवा परमाणु का एक प्रदेश तो अनुमान या आगम से स्वीकार करने योग्य है, अंगुलिनिर्देश करने के समान सूक्ष्म परमाणु के प्रदेश का स्वतःप्रदेशद्वारा अंकित नहीं किया जा सकता है ।

आचार्य कहते हैं कि तिस ही कारण से यानी अत्यन्त परोक्ष होने से आकाश, काल, आदि के प्रदेश भी हम आदि अल्पज्ञ जीवों करके स्वतः नहीं प्रदेशने योग्य होरहे होजाओ, हां अतीन्द्रियअर्थों का प्रत्यक्ष करने वाले सर्वज्ञ जीवों के जो तिसप्रकार एक प्रदेश वाला परमाणु अङ्गुलिनिर्देश से भी अत्यधिक स्वतःप्रदेशने योग्य है, तिस प्रकार आकाश आदि के प्रदेश भी स्वतः प्रदेश करने योग्य हैं । इस प्रकार वैशेषिकों का " स्वतःअप्रदिश्यमानत्वात् " यह हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है । तीसरा दोष यह है कि पट आदि के समान द्वयणुक, त्र्यणुक, आदिकों करके यह हेतु व्यभिचारी भी है, क्योंकि हम आदिकों करके स्वतः नहीं प्रदेशित किये जारहे भी उन द्वयणुक का सद्भाव है अर्थात्— द्वयणुक, त्र्यणुक आदि अथवा पट आदि के भी एक परमाण्ववगाही प्रदेशों का स्वतःप्रदिश्यपना नहीं है, फिर भी उनके प्रदेश माने गये हैं, अतः हेतु के रहने पर द्वयणुकादिकों में साध्य के नहीं बरतने से वैशेषिकों का स्वतःअप्रदिश्यमानत्व हेतु व्यभिचारी हेत्वाभास है ।

किं च कथंचित्सांशमाकाशादि परमाणुभिरेकदेशेन युज्यमानत्वात् स्कंधवत् । तस्य तैः सर्वात्मना संयुज्यमानत्वे परमाणुमात्रत्वप्रसंगात् । तथा चाकाशादिबहुत्वापत्तिः ।

एक बात यह भी है कि आकाश आदि द्रव्य (पक्ष) कथंचित् अंशों से सहित हैं (साध्य) अनेक परमाणुओं के साथ एक एक प्रदेश करके संयुक्त होरहे होने से (हेतु) घट, पट, आदि स्कन्ध

के समान (दृष्टान्त) । यदि आकाश को सांश नहीं माना जायगा और उस आकाश का उन परमाणुओं के साथ सम्पूर्ण स्वरूप से संयोग होरहा स्वीकार किया जायगा तब तो आकाश को परमाणु के बराबर होने का प्रसंग आजायगा अर्थात्—देखो, विचारो, जो पदार्थ एक प्रदेशीय या निरंश परमाणु के साथ भीतर बाहर ऊपर, नीचे, सर्वात्मना संयुक्त होरहा है, वह परमाणु के बराबर ही है। यदि परमाणु से उस संयुक्त पदार्थ का परिमाण बढ़ जायगा तो समझ लेना चाहिये कि उस संयुक्त पदार्थ का कुछ अंश परमाणु के साथ चिपटा नहीं था जैसे कि एक रुपये का दूसरे रुपये के साथ एक भाग में संयोग होजाने से दो रुपयों की मोटाई बढ़ जाती है, सर्वांग रूप से एक रुपये का दूसरे रुपये के साथ संसर्ग मानने पर तो दो रुपये मिल कर भी एक रुपये बराबर ही होंगे। केशाग्र मात्र भी बढ़ नहीं सकेंगे। इसी प्रकार आकाश का सर्वांग रूप से एक परमाणु के साथ संयोग होजाने पर वह आकाश परमाणु के बराबर होजायगा और तैसा होने पर अनेक परमाणुओं के साथ आकाश का सर्वात्मना सम्बन्ध मानने पर आकाश धर्म आदि द्रव्यों के अनेकपनकी आपत्ति होगी जो कि हम, तुम, दोनों को इष्ट नहीं है।

स्यान्मतं, नैकदेशेन सर्वात्मना वा परमाणुभिराकाशादियुज्यते। किं तर्हि? युज्यते एव यथावयवी स्वावयवैः सामान्यं वा स्वाश्रयैरिति। तदसत् साध्यसमत्वान्निदर्शनस्य तस्याप्यवयव्यादेः सर्वथा निरंशत्वे स्वावयवादिभिरेकांततो भिन्नैर्न संबंधो यथोक्तदोषानुषंगात् कार्त्स्न्यैकदेशव्यतिरिक्तस्य प्रकारांतरस्य तत्संबंधनिबंधनस्यासिद्धेः। कथंचित्तादात्म्यस्य तत्संबंधत्वे स्याद्वादिमतसिद्धिः, सामान्यतद्वतोरवयवावयविनोश्च कथंचित्तादात्म्योपगमात्। न चैवमाकाशादेः परमाणुभिः कथंचित्तादात्म्यमित्येकदेशेन संयोगोभ्युपगंतव्यः। तथा च सांशत्वसिद्धिः।

धांधलबाजी करते हुये वैशेषिकों का यह मत होय कि परमाणु आदिकों के साथ आकाश आदि द्रव्य न तो एक देश करके संयुक्त होते हैं। जिससे कि आकाश आदि सांश होजांय और सर्वांग रूप से भी आकाश आदिक द्रव्य उस परमाणु के साथ संयुक्त नहीं होजाते हैं। जिससे कि आकाश का परिमाण परमाणु के समान होजाता या अनेक परमाणुओं के साथ संयुक्त होजाने से आकाश द्रव्य अनेक होजाते। तो यहां किस ढंग से परमाणु आदिकों के साथ आकाश आदिक युक्त होते हैं ? इस शंका पर हम वैशेषिकों का संक्षेप से यही राजाज्ञा-स्वरूप उत्तर है, कि वे आकाश आदिक द्रव्य परमाणुओं के साथ संयुक्त हो ही जाते हैं। जैसे कि अपने अवयवों के साथ अवयवी सम्बन्धित हो जाता है। अथवा सामान्य (जाति) अपने द्रव्य, गुण या कर्म नामक आश्रयों के साथ सम्बन्धित होजाता है।

आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार वैशेषिकों का वह कथन प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि उनका दिया हुआ अवयवी या सामान्य स्वरूप दृष्टान्त साध्यसम है, अर्थात्—जैसे परमाणुओं के साथ आकाश

आदि का संयोग किसी ढंग से साधा जारहा है। उसी प्रकार अवयवी और सामान्य का अपने अवयव या आश्रयों के साथ संसर्ग करना भी साधने योग्य है। उनका संसर्ग जैसा आप मानते हैं, वैसा कोई निर्णीत नहीं होसकता है। बौद्धोंने अवयवों में अवयवी के वर्तने पर जो आक्षेप किये थे उस पर भी वैशेषिकों ने कोरी प्रचण्ड नरपति की आज्ञा के समान युक्तियों से रीता उत्तर दिया है। बात यह है कि अवयवों में अवयवी रहता है, सामान्यवान् में सामान्य रहता है, किन्तु वैशेषिक जिस ढंग से कहते हैं उस रीति से नहीं। वैशेषिकों के अनुसार उस अवयवी या सामान्य, आदि को भी यदि सर्वथा निरंश मानलिया जायगा तो एकान्त रूप से भिन्न होरहे स्वकार्य अवयव आदिकों के साथ सम्बन्ध नहीं होसकता है, क्योंकि ऊपर कहे गये अनुसार दोषों का प्रसंग आता है। पूर्णरूप से या एक देश से इन दो के अतिरिक्त उस सम्बन्ध के कारण होरहे अन्य प्रकारों की असिद्धि है, अतः वैशेषिकों के दृष्टान्त में भी वे ही दोष खड़े हुये हैं, असिद्ध दृष्टान्त से साध्य की सिद्धि नहीं होसकती है।

यदि कथंचित् तादात्म्य को उनका सम्बन्ध स्वीकार किया जायगा तब तो स्याद्वादियों के मत की सिद्धि होजाती है क्योंकि सामान्यवान् का एवं अवयवों और अवयवी का कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध हमारे यहां स्वीकार किया गया है। किन्तु इस प्रकार परमाणुओं के साथ आकाश आदि का कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध नहीं माना जा सकता है क्योंकि ये सर्वथा भिन्न द्रव्य हैं, कथंचित् भिन्नाभिन्न पदार्थों में तो कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध बन सकता है, अब अनेक परमाणु के साथ एक आकाश द्रव्य का एक देश करके ही संयोग स्वीकार करना पड़ेगा और तैसा होने पर एक देश, एक देश यों अनेक देश होजाने से आकाश के सांशपन की सिद्धि होजाती है।

किं च सांशमाकाशादि श्येनस्थाण्वन्यतरोभयकर्मजसंयोगविभागान्यथानुपपत्तेः। श्येनेन हि स्थाणोः संयोगो विभागश्चान्यतरकर्मजस्तत्रोत्पन्नं कर्म स्वाश्रयं श्येनं तदाकाशप्रदेशाद्वियोज्य स्थाण्वाकाशदेशेन संयोजयति ततो वा विभिद्याकाशदेशांतरेण संयोजयतीति प्रतीयते, न चाकाशस्यैकदेशाभावे तद्घटनात्, कर्मणः स्वाश्रयान्याश्रययोरेकदेशत्वात्।

एक बात यह भी है कि आकाश आदिक पदार्थ (पक्ष) स्वकीय अंशों से सहित हैं (साध्य) संयुक्त या विभक्त द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य में हुई क्रिया से उत्पन्न हुआ श्येन (बाज पक्षी) या मनुष्य आदि का संयोग और विभाग तथा संयुक्त या विभक्त दोनों द्रव्यों में उपजी क्रिया से जन्य मेंढा, मल्ल, आदि के संयोग और विभाग ये अन्यथा यानी आकाश आदि को सांश माने बिना नहीं बन सकते हैं (हेतु)। जब कि बाज पक्षी के साथ स्थाणु (ठूंठ) का संयोग और विभाग भला अन्यतरकर्म से जन्य हुआ है। यहां यों समझिये कि उस श्येन में उत्पन्न हुआ कर्म अपने आधार होरहे श्येन को आकाश के उस प्रदेश से वियोग करा कर स्थाणु से अवच्छिन्न होरहे आकाश के प्रदेश के साथ संयोजित करा देता है, अथवा वह अन्यतर कर्म उस संयुक्त प्रदेश से विभिन्न कर यानी विभाग कर आकाश के अन्य प्रदेश के साथ संयुक्त करादेता है, इस प्रकार प्रतीति होरही है। आकाश के एक एक देश को माने बिना उस एक एक प्रदेश के साथ हुये संयोग या विभाग की घटना नहीं होसकती है, क्रिया भी स्वकीय आश्रय में हो या अन्य आश्रय में उपज गयी होय, आकाश के एक देश में वर्त

रहे द्रव्य ही में पायी जा सकती है, आकाश के सर्वदेशवर्ती द्रव्य में क्रिया नहीं होपाती है। क्योंकि ऐसा कोई क्रियावान् द्रव्य ही नहीं है।

एतेन मेषयोरुभयकर्मजः संयोगो विभागश्चाकाशस्याप्रदेशत्वे न घटत इति निवेदितं, क्रियानुपपत्तिश्च तस्याः देशांतरप्राप्तिहेतुत्वेन व्यवस्थितत्वात् देशांतरस्य चाऽसंभवात्। तत एव परत्वापरत्वपृथक्त्वाद्यनुपपत्तिः पदार्थानां विज्ञेया। तत्सकलमभ्युपगच्छतांजसा सांशमाकाशादि प्रमाणयितव्यं।

इस उक्त कथन करके इस बात का भी निवेदन कर दिया जा चुका समझलो कि दो मेंढाओं का दोनों की क्रियाओं से उपजा संयोग अथवा विभाग ही आकाश को प्रदेशरहित मानने पर नहीं घटित होपाता है। दूसरी बात यह है कि आकाश को निरंश मानने पर पृथिवी, जल, तेज, वायु, और मन इन में से किसी भी द्रव्य को कोई क्रिया नहीं बन सकती है, क्योंकि वह क्रिया तो अन्य देशों की प्राप्ति का कारण होकरके व्यवस्थित होरही है। अर्थात्—जब आकाश के प्रदेश नहीं हैं, तो प्रकृत देश से दूसरे देशों में प्राप्ति कराने वाली क्रिया कथमपि नहीं बन सकती है। किस देश से कौनसे दूसरे देशों पर पदार्थ को रक्खे ? आकाश को निरंश मानने वालों के यहां देशान्तर का तो असम्भव है। तथा तिस ही कारण से यानी देशान्तरोंका असम्भव होने से पदार्थोंके परत्व, अपरत्व, पृथक्त्व, द्रवत्व, गुरुत्व आदि की असिद्धि होना समझ लेना चाहिये अर्थात्—आकाश के प्रदेश होने पर ही सहारनपुर से काशी की अपेक्षा अयोध्या अपर है, पटना पर है, यों पटनासम्बन्धी परत्व और अयोध्या सम्बन्धी अपरत्व गुण बन सकते है अन्यथा नहीं।

सप्रदेश आकाश के देश, देशान्तर मानने पर ही पदार्थों का एक दूसरे से पृथग्भाव बनता है, वस्त्र से मैल पृथक होगया, अंगुलीसे नख को पृथक कर दिया, ये सब आकाशके अनेक-प्रदेश मानने पर ही सम्भवते हैं। वैशेषिकों ने आद्य स्पन्दन (बहना) का असमवायी कारण द्रवत्व गुण माना है, और आद्य पतन का असमवायी-कारण गुरुत्व गुण स्वीकार किया है, जब आकाश के प्रदेश ही नहीं हैं तो कौन द्रव्य कहां से बह कर कहां जाय ? और भारी पदार्थ कहां से गिर कर कहां पडे ? समझ में नहीं आता है। तिसकारण उन संयोग, विभाग, क्रिया, परत्व, अपरत्व, पृथक्त्व आदि सम्पूर्ण सुव्यवस्थाओं को स्वीकार करने वाले वैशेषिक या अन्य वादी करके आकाश, आत्मा, आदि द्रव्यों को अतिशीघ्र प्रामाणिक मार्ग अनुसार सांश स्वीकार कर लेना चाहिये।

कुतः पुनराकाशस्यानंताः प्रदेशा इत्यावेदयति।

महाराज फिर यह बताओ कि आकाश के अनन्त प्रदेश भला किस ढंग से सिद्ध कर लिये जाते हैं ? सम्भव है कि सप्रदेश सिद्ध करदिये गये आकाश के संख्यात या असंख्यात ही प्रदेश होवें ? इस प्रकार जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक द्वारा आवेदन करते हैं।

अनंतास्तु प्रदेशाः स्युराकाशस्य समंततः।
लोकत्रयाद्बहिः प्रांताभावात्तस्यान्यथागतेः॥ १॥

छहों ओर से या सब ओर से आकाश के प्रदेश तो अनन्तानन्त ही हो सकते हैं (प्रतिज्ञा) तीनों लोक से बाहर नियत प्रान्त का अभाव होने से (हेतु)। अन्यथा यानी लोक से बाहर प्रान्त का अभाव नहीं मानने पर तो उस आकाश की गति यानी ज्ञप्ति नहीं होसकेगी। वैशेषिकों के मत अनुसार सर्वगतपना भी नहीं सम्भवेगा, अल्प देशों में वर्त रहा आकाश अल्पगत बन बैठेगा।

अनंतप्रदेशमाकाशं लोकत्रयाद्बहिः समंततः प्रांताभावात् यन्नानंतप्रदेशं न तस्य ततो बहिः समन्ततः प्रांताभावो यथा परमाण्वादेः इत्यन्यथानुपपत्तिलक्षणो हेतुः स्वसाध्यं साधयत्येव। ततो बहिः समंततः प्रांताभावस्याभावे पुनराकाशस्य गत्यभावप्रसंगात्। भावेऽपि कथमाकाशस्य गतिरित्याह।

आकाश द्रव्य (पक्ष) अनन्त प्रदेशवान् है (साध्य) तीनों लोक से बाहर सब ओर से प्रान्त का अभाव होजाने से (हेतु)। जो अनन्त प्रदेश वाला नहीं है, उसका उस तीनों लोक से बाहर सब ओर प्रांत का अभाव नहीं पाया जाता है जैसे कि परमाणु, घट, पट, आदिका प्रांताभाव नहीं है, (व्यतिरेक दृष्टान्त)। इस प्रकार अन्यथानुपपत्ति नामक असाधारण लक्षण से युक्त होरहा हेतु अपने साध्य को साध ही देता है। उस लोकत्रय से बाहर समन्ततः आकाश के प्रान्ताभाव का अभाव माना जायगा यानी प्रान्तभाग मान लिये जायंगे तो फिर आकाश द्रव्य की ज्ञप्ति होने के अभाव का प्रसंग आजायगा। कोई प्रश्न करता है कि लोक से बाहर आकाश के प्रान्तों के अभाव का सद्भाव मानने पर भी भला आकाश की ज्ञप्ति किस प्रकार होजायगी ? बताओ, ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्य महाराज उत्तर वार्तिक को कहते हैं।

जगतः सावधेस्तावद्भावो बहिरवस्थितिः।
संतानात्मा न युज्येत सर्वथार्थक्रियाक्षमः ॥ २ ॥
न गुणः कस्यचित्तत्र द्रव्यस्यानभ्युपायतः।
तदाश्रयस्य कर्मादेरपि नैवं विभाव्यते ॥ ३ ॥
द्रव्यं तु परिशेषात्स्यात्तन्नभो नः प्रतिष्ठितं।
प्रसक्तप्रतिषेधे हि परिशिष्टव्यवस्थितिः ॥ ४ ॥

सब से प्रथम यहां विचार करना है कि चराचर वस्तुओं का पिण्ड होकर यह जगत् मर्यादा-सहित है, चाहे तीन लोक माने जांय या सात भुवन अथवा चौदहभुवन आदि माने जांय इनकी अवधि अवश्य मानी जायगी। अवधिसहित इस जगत् से बाहर भी कोई भावात्मक पदार्थ अवस्थित है जो कि कल्पित सन्तानस्वरूप तो नहीं उचित है, क्योंकि अर्थक्रिया करने में वह समर्थ है, कल्पित पदार्थ सभी प्रकार से अर्थक्रिया को नहीं कर सकता है, " नहि मृण्मयो गौर्वाह--दोहादावुपयुज्यते " अतः वह भाव--पदार्थ बौद्धों के यहां माने गये अनुसार कल्पित सन्तान स्वरूप नहीं माना जा सकता

। पृथिवी, जल, आदिस्वरूप भी वह नहीं है, क्योंकि ये सब लोक के भीतर ही हैं। लोक से बाहर का भाव पदार्थ रूप, रस, आदि गुण-स्वरूप भी नहीं होसकता है क्योंकि उस गुण के आश्रयभूत किसी भी एक पृथिवी आदि द्रव्य को वहां स्वीकार नहीं किया गया है। इसी प्रकार कर्म (क्रिया), सामान्य (जाति) आदि के सम्भवने का भी वहां विचार नहीं किया जा सकता है क्योंकि उनके आश्रयभूत हो रहे द्रव्य का अभाव है, द्रव्य के बिना ये बिचारे कहां ठहर पायेंगे ? । हां पृथिवी, वायु, आत्मा, गुण, आदि का निषेध करते हुये " परिशेषन्याय " से जो कोई द्रव्य वहां जगत् के बाहर ठहर पायेगा वही तो हम स्याद्वादियों के यहां आकाश द्रव्य प्रतिष्ठित है, " प्रसक्तप्रतिषेधे परिशिष्ट-संप्रत्ययहेतुः परिशेषः " क्योंकि प्रसंग-प्राप्त पदार्थों का युक्तियों से निषेध कर चुकने पर अन्त में जो परिशिष्ट (बच) रह जाता है, उसकी "परिशेषन्याय" अनुसार व्यवस्था कर दी जाती है। अर्थात्-जगत् के बाहर कोई पृथिवी आदि द्रव्य नहीं है, केवल आकाश द्रव्य है ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अनंता लोकधातवः इत्याकाशतत्त्ववादिनां दर्शनमयुक्तं प्रमाणाभावात् । स्वभावविप्रकृष्टानां भावाभावनिश्चयासंभवात् संभवे वा स्वतः क्षतिप्रसंगात् तदागमस्य प्रमाणभूतस्यानभ्युपगमात् । ततः सावधिरेव लोको व्यवतिष्ठते तस्य च स्वतो बहिः समंतादभावस्तावत्सिद्धः स च नीरूपो न युज्यते प्रमाणाभावात् । भावधर्मस्त्वभावो न गुणः, कर्म, सामान्यं, विशेषो वा, कस्यचिद्द्रव्यस्य तदाश्रयस्यानभ्युपगमात् परिशेषाद्द्रव्यमिति विभाव्यते । प्रसक्तप्रतिषेधे परिशिष्टव्यवस्थितेः तदस्माकमाकाशं सर्वतोऽवधिरहितमित्यनंतप्रदेशसिद्धिः ।

लोक नामक धातुयें अनन्त हैं अर्थात्—लोक तीन, सौ, हजार लाख, आदि इतने ही नहीं हैं किन्तु संख्यात, असंख्यात, से भी बढ़ कर अनन्त हैं। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार आकाशतत्त्व को मानने वालों का दर्शन अयुक्त है क्योंकि इस में कोई प्रमाण नहीं है, अथवा आकाश को तत्त्व मानने वालों के यहां लोकों को भी अनन्त कहने वाला दर्शन अयुक्त है, इस विषय का कोई प्रत्यक्ष या अनुमान अथवा आगम प्रमाण नहीं है। स्वभाव से विप्रकृष्ट (व्यवहित) होरहे चाहे किन्हीं भी अतीन्द्रिय पदार्थों के भाव या अभाव का निश्चय करना असम्भव है, फिर भी चाहे किसी भी अतीन्द्रिय पदार्थ का सद्भाव मान लिया जायगा तो सभी दार्शनिकों के यहां स्वतः ही क्षति होने का प्रसंग आजावेगा, चाहे कितने भी मन-माने सूक्ष्म पदार्थ मान लिये जावेंगे और चाहे किसी भी परमाणु, आकाश, कर्म, काल द्रव्य आदि स्वभावविप्रकृष्ट पदार्थोंका अभाव कर दिया जा सकता है। प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण से तो अनन्त लोकों की सिद्धि नहीं होसकती है, और जिस आगम में लोक अनन्त लिखे हुये हैं, उस आगम को प्रमाणभूत स्वीकार नहीं किया गया है, तिस कारण से मर्यादासहित ही लोक व्यवस्थित होता है।

उस पञ्च द्रव्य समुदाय या षट् द्रव्यसमूह-स्वरूप मर्यादित लोक का अपने से बाहर सब ओर अभाव तो सिद्ध ही है किन्तु वह लोक का अभाव निःस्वरूप या प्रसज्यपक्ष अनुसार तुच्छ अभाव रूप माना जाय यह तो उचित नहीं है क्योंकि इस विषय में कोई प्रमाण नहीं है। इस परिमित लोक के बाहर भी कोई भाव-पदार्थ ठहर सकता है, पर्युदास नामक अभाव के अनुसार वह लोक के बाहर

लोक का अभाव माना गया भाव धर्म स्वभाव होरहा पदार्थ किसी रूप आदि चौबीस गुण स्वरूप भी नहीं है, अथवा उत्क्षेपण आदि पांच कर्म स्वरूप भी नहीं है, इसी प्रकार वैशेषिकों के यहाँ माने गये सामान्य अथवा विशेष पदार्थ--स्वरूप भी नहीं है, क्योंकि उन गुण आदि के आश्रय होरहे किसी भी द्रव्य को वहाँ स्वीकार नहीं किया गया है, [illegible] जिसका आश्रय पाकर ठहरें ? । तब तो परिशेषन्याय से वह कोई द्रव्य ही विचारा जा सकता है। प्रसंग--प्राप्तों का निषेध कर चुकने पर बच रहे परिशिष्ट पदार्थ की व्यवस्था होजाती है, अतः वही द्रव्य हम स्याद्वादियों के यहाँ आकाश माना जा रहा है, अर्थात्—लोक के बाहर पृथिवी, जल आदि तो हो नहीं सकते हैं, क्योंकि वहाँ उनके ठहरने या गमन का हेतु अधर्म या धर्म द्रव्य नहीं है, इस कारण से वहाँ जीव द्रव्य भी नहीं है, जहाँ पुद्गल, जीव, धर्म अधर्म, और कालद्रव्य पाये जाते हैं वह तो लोक ही है, लोक से बाहर सब ओर से अवधिरहित होरहा आकाशद्रव्य है, इस कारण आकाश के अनन्तानन्त प्रदेशों की सिद्धि होजाती है, यों आकाश की ज्ञप्ति और आकाश के प्रदेशों की सिद्धि कर दी गयी है।

परेषां पुनरनन्ता लोकधातवः सन्तोपि यदि निरंतरास्तदा अंतरालप्रतीतिर्न स्यात् सर्वथा तेषां निरंतरत्वे चैकं लोकधातुमात्रं स्यात्, परेषां लोकधातूनां तत्र नुप्रवेशात्। [illegible] देशेन नैरन्तर्ये सावयवत्वं तदवयवेनापि तदवयवांतरैः सर्वात्मना नैरंतर्ये तदेकावयवमात्रं स्यात्, तदेकदेशेन नैरन्तर्ये तदेव सावयवत्वमेवमनन्तपरमाणूनां सर्वात्मना नैरन्तर्ये परमाणुमात्रं जगद्भवेत्, तदेकदेशेन नैरंतर्ये सावयवत्वं परमाणूनां। तच्चानिष्टं इति सांतरा एव लोकधातवः प्रतिपरमाणु वक्तव्याः। तदन्तर एवाकाशमेवोक्तव्यापादनादनंतप्रदेशमायातं।

दूसरे वादी पण्डितों के यहाँ फिर लोकधातुयें अनन्त होरहे सन्ते भी यदि वे अन्तररहित हैं, तब तो उनके मध्य में पड़े हुये अन्तराल की प्रतीति नहीं होनी चाहिये। दूसरी बात यह है कि सर्वथा उनका अन्तररहितपना माननेपर केवल एक ही लोकधातु हो सकेगा, अनेक लोक कथमपि नहीं माने जासकेंगे क्योंकि अन्तररहित अवस्था में अन्य सम्पूर्ण लोक धातुओं का उस एक ही लोक में अनुप्रवेश होजायगा। जैसे कि एक लोक में पड़े हुये प्रान्त या देशों का उसी लोक में अन्तर्भाव होजाता है, यदि लोकों का परस्पर में एक देश करके अन्तररहितपना माना जायगा तब तो लोक सावयव होजायंगे क्योंकि अवयवों से सहित होरहे पदार्थों का एकदेश या प्रान्तदेश अथवा मध्यदेश करके निरंतरपना या सान्तरपना सम्भवता है। तथा उस अवयवी के एक देश होरहे अवयव करके उसके अन्य अवयवों के साथ सम्पूर्ण रूप से यदि निरंतरपना माना जायगा तो वह पूरा अवयवी केवल एक अवयव-प्रमाण (बरोबर) होजायगा।

इसी प्रकार उस छोटे अवयवी स्वरूप अवयव के एक देश करके अन्तराल का अभाव माना जायगा तो फिर वही अवयव-सहितपना प्राप्त होता है। इस प्रकार अन्त में जाकर सब से छोटे चरमावयव होरहे अनन्त परमाणुओं का सम्पूर्ण स्वरूप से निरन्तरपना स्वीकार करने पर यह जगत् केवल एक परमाणु-बरोबर होजायगा। यदि परमाणु के बरोबर उस जगत् का फिर एक देश करके अन्तरालाभाव माना जायगा तो परमाणुओं को अवयव से सहितपन का प्रसंग प्राप्त होता है, जो कि

किसी भी वादी, प्रतिवादी, विद्वान् को इष्ट नहीं है, इस कारण निरन्तरपन के पक्ष का परित्याग कर लोक धातुओं को अन्तरसहित ही स्वीकार कर लेना अच्छा है। सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर प्रत्येक परमाणु को अन्तर-सहित कहना उचित पड़ता है, प्रत्येक प्रत्येक परमाणु अनुसार वे लोकधातुयें अन्तराल सहित हैं और वह अन्तर यानी व्यवधान ही तो आकाश है, या वह अन्तर आकाश ही तो है, इस प्रकार अनन्त लोक-धातुओं को मानने वाले वादी के उक्त मन्तव्य का खण्डन कर देने से यह प्राप्त होता है, कि एक आकाशद्रव्य अनेक प्रदेशों में फैल रहा अनन्तानन्त प्रदेशों वाला है।

आलोकतमःपरमाणुमात्रमतरमिति चेन्न, आलोकतमःपरमाणुभिरपि सान्तरैर्भवितव्यं। तन्निरंतर्ये प्रतिपादितदोषानुषंगात्। तदंतराण्याकाशप्रदेशा एवेत्यवश्यंभावि नभोऽनंतप्रदेशं।

यदि कोई यों कहे कि लोकधातुओं या परमाणुओं को न्यारा न्यारा करने के लिये अन्तर-सहित मानना ठीक है किन्तु वह अन्तराल आकाश पदार्थ स्वरूप नहीं मानकर केवल अवश्य माने जा रहे आलोक, अन्धकार, और परमाणुस्वरूप ही अन्तर माना जाय अथवा प्रकाश होने पर आलोक के परमाणुओं स्वरूप और अन्धकार में तमः के परमाणुओं स्वरूप वह अन्तराल मान लिया जाय व्यर्थ में अत्यन्तपरोक्ष आकाश द्रव्य के मानने की आवश्यकता नहीं दीखती है। ग्रन्थकार कहते हैं, कि यह तो नहीं कहना क्योंकि आलोक के और अन्धकार के परमाणुएं भी तो खण्ड, खण्ड, होकर न्यारे न्यारे द्रव्य हैं, उनको भी अन्तरालसहित होना चाहिये तभी उन छोटे छोटे परमाणुओं के स्वतंत्र द्रव्यपन की रक्षा होसकती है, यदि उन आलोक परमाणुओं या अन्धकारपरमाणुओं का निरन्तरपना स्वीकार किया जायगा तो अभीकहे जा चुके दोषों का प्रसंग होगा।

अर्थात्—एक देशकरके निरन्तरपना मानने पर अनेक परमाणुओं का सावयवपना मानना पड़ेगा और सर्वात्मना निरन्तरपना (संसर्ग) मानने पर केवल परमाणु के बराबर जगत् हुआ जाता है, जोकि किसी को भी इष्ट नहीं है, अतः लोकधातुओं अथवा प्रत्येकपरमाणुओं तथा आलोकपरमाणुयें और तमःपरमाणुयें उन सब के अन्तर होरहे आकाश प्रदेश ही हैं, इस कारण लोक के बाहर अनन्तानन्त प्रदेशों वाला आकाश द्रव्य अवश्यंभावी है, लोक के बाहर एक अखण्ड आकाश द्रव्य अनन्तानन्त क्षेत्र में फैल रहा है। घी से भरी हुई कढ़ाई में दसों पूड़ियों को डाल देने पर उन पूड़ियों के सब ओर फैल रहा घृत जैसे उनके परस्पर में अन्तर है, उसी प्रकार अनेक पदार्थों का अन्तर आकाशद्रव्य होसकता है, हां अन्तरालरहित पदार्थों में आकाश का अन्तर मानना कोई प्रयोजनसाधक नहीं है, भले ही उन अखण्ड, अच्छिद्र, स्कन्ध आदि पदार्थों में भीतर बाहर सब ओर आकाश द्रव्य ओत पोत घुस रहा है या वे पदार्थ उस आकाश में सर्वाङ्ग डूब रहे हैं।

आगमज्ञानसंवेद्यमनुमानविनिश्चितं।
सर्वज्ञैर्वा परिच्छेद्यमप्यनंतप्रमाणभाक् ॥ ४ ॥

आकाश द्रव्य का अनन्तप्रदेशीपना निर्दोष आगम प्रमाण से जानने योग्य है, तथा निर्दोष हेतु से उत्पन्न हुये अनुमान प्रमाण द्वारा भी आकाश का अनन्तप्रदेशीपना विशेषरूप से निश्चित कर लिया जाता है, अथवा सर्वज्ञ जीवों करके भी अनन्त प्रदेशीपना विषय करने योग्य है, इस प्रकार आगम, अनुमान, और प्रत्यक्ष प्रमाणों करके जाना जा रहा आकाश अनन्तप्रदेशों के परिमाण को धार रहा है ।

यद्विज्ञानपरिच्छेद्यं तत्सांतमिति योऽब्रवीत् ।
तस्य वेदो भवादिर्वा नानंत्यं प्रतिपद्यते ॥ ५ ॥

यहां कोई कुतर्क उठाता है कि जो विज्ञान करके जानने योग्य है, वह सान्त ही है, अनन्त नहीं । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार जो कटाक्ष कह चुका था उस पण्डितके यहां वेद अथवा महेश्वर, काल, बीज, वृक्ष सन्तान आदिक पदार्थ फिर अनन्तपन को नहीं प्राप्त होसकेंगे । अर्थात्—ज्ञान से परिच्छेद्य वेद है, ईश्वर को भी आगम ज्ञान से जाना जाता है, युक्तियों से सन्तान का ज्ञान होजाता है किन्तु ये ज्ञेय होकर भी अनन्त माने गये हैं । इसी प्रकार आकाश द्रव्य भी परिच्छेद्य होकर अनन्त होसकता है, ये बात दूसरी है कि अनन्त को अनन्तपने करके ही जाना जायगा, सान्तपने करके नहीं । यों कुतर्की का सान्तत्व को साधने में दिया गया " विज्ञान परिच्छेद्यत्व हेतु व्यभिचारी हुआ " ।

स्वयं वेदस्येश्वरस्य पुरुषादेवा अनाद्यनन्तत्वं कुतश्चित्प्रमाणात् परिच्छिन्दन्नपि तत्सादिपर्यन्तत्वं प्रतिक्षिपन्नाकाशस्यानुमानागमयोगिप्रत्यक्षैः परिच्छिद्यमानस्यानंतत्वं प्रतिक्षिपतीति कथं स्वस्थः ? प्रमाणस्य यथावस्थितवस्तुपरिच्छेदनस्वभावत्वादनंतस्यानंतत्वेनैव परिच्छेदने को विरोधः स्यात् संख्यातासंख्यातादेस्तथा परिच्छेदनवत् । ततः सूक्तमाकाशस्यानंताः प्रदेशा इति ।

वेद का, ईश्वर का, अथवा आत्मा, प्रकृति, आदि का, अनादि अनन्तपना किसी भी प्रमाण से स्वयं जान रहा सन्ता भी और उन वेद आदि के सादि सान्तपन का खण्डन कर रहा सन्ता भी यह वादी फिर अनुमान, आगम, और सर्वज्ञप्रत्यक्ष इन प्रमाणों करके जाने जा रहे आकाश के अनन्तपन का खण्डन कर देता है, इस प्रकार कहने वाला वादी स्वस्थ किसप्रकार कहा जासकता है । किसी ज्ञेय पदार्थ को अनन्त माने और दूसरे ज्ञेय पदार्थ को यों ही मनमाना सान्त कह दे, वह वादी उन्मत्त ही कहा जा सकता है । भाई बात यह है कि प्रमाण का स्वभाव तो जो पदार्थ—जैसे व्यवस्थित है, उस वस्तु का उसी अन्यून, अनतिरिक्त, रूप से ज्ञान कर लेना है, अनन्त पदार्थ का अनन्तपने करके ही ज्ञान करने में भला कौन सा विरोध आजायगा ? अर्थात्—कोई नहीं । जिस प्रकार संख्यात या असंख्यात आदि की तिसप्रकार संख्यातपने या असंख्यातपने आदि करके ठीक परिच्छित्ति हो जाती है, अथवा असंख्यातासंख्यात की असंख्यातासंख्यात रूप करके ज्ञप्ति है, उसी प्रकार आकाश के प्रदेशों का अनन्तानन्तरूप से ज्ञान होजाता है किसी स्थूलबुद्धिवाले पुरुष को यदि कोई सूक्ष्म पदार्थ या कठिन पदार्थ समझ में नहीं आकर अज्ञेय होरहा है, फिर भी उस अज्ञेय पदार्थ को अज्ञेय--पने करके ज्ञेय कह सकते हैं, केवलज्ञानके अविभागप्रतिच्छेद सबसे बड़ी उत्कृष्ट अनन्तानन्त नामकी संख्या वाले हैं,

अलौकिक गणित अनुसार वे भी इकईसवें संख्यामान द्वारा परिमित हैं, आकाश के अनन्तानन्त प्रदेश भी सर्वज्ञ के प्रत्यक्ष में हस्तामलकवत् देखे जारहे परिमित हैं, हां वे अनन्तानन्त अवश्य हैं, तिस कारण सूत्रकार ने यों इस सूत्र में बहुत अच्छा कहा था कि आकाश द्रव्य के अनन्तानन्त प्रदेश हैं। यहाँ तक इस सूत्र का व्याख्यान समाप्त हुआ ।

धर्म, अधर्म, एक जीव और आकाश यों चार अमूर्त द्रव्यों के प्रदेशों का परिमाण जाना जा चुका है, अब महाराज बताओ कि मूर्त पुद्गलों के प्रदेशों का परिमाण कितना है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्र को कहते हैं ।

संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ॥ १० ॥

पुद्गल द्रव्यों में से किसी के संख्यात प्रदेश हैं, किसी अशुद्ध पुद्गल द्रव्य के असंख्यात प्रदेश हैं, और च शब्द करके समुच्चय किये गये अनन्त प्रदेश भी किसी पुद्गल स्कन्ध के माने जाते हैं।

प्रदेशा इत्यनुवर्तते । च शब्दादनंताश्च समुच्चीयते । कुतस्ते पुद्गलानां तथेत्याह ।

इस सूत्र में " असंख्येयाः प्रदेशाः धर्माधर्मैकजीवानाम् " इस सूत्र से प्रदेशाः इस पद की अनुवृत्ति होरही है और च शब्द से पूर्वसूत्रोक्त " अनन्ताः " इस वाक्यार्थ का समुच्चय कर लिया जाता है, ऐसी दशा में इस सूत्र का यों अर्थ होजाता है कि पुद्गलों के संख्येय, असंख्येय और अनन्त प्रदेश हैं। कोई यहां यदि यों प्रश्न करे कि पुद्गलों के तिस प्रकार संख्यात, असंख्यात, और अनन्त वे प्रदेश किस प्रमाण से भला सिद्ध होजाते हैं बताओ ? इस प्रकार जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार उत्तर-वार्त्तिक को कहते हैं ।

संख्येयाः स्युरसंख्येयास्तथानंताश्च तत्त्वतः ।
प्रदेशाः स्कंधसंसिद्धेः पुद्गलानामनेकधा ॥ १ ॥

पुद्गल द्रव्यों के प्रदेश संख्यात और असंख्यात तथा अनन्त होसकते हैं, (प्रतिज्ञा) क्योंकि वास्तविक रूप से पुद्गलों के अनेक प्रकार के स्कन्धों की अच्छी सिद्धि होरही है, (हेतु) । अर्थात्—जितने परमाणुओं से जो स्कन्ध बनेगा उस—स्कन्ध में उतने परमाण्ववगाही प्रदेश कहे जायंगे । पुद्-गलस्कन्ध में आकाश के प्रदेशों की लम्बाई, चौडाई, अनुसार प्रदेश नहीं माने गये हैं जैसे कि धर्म, अधर्म, एक जीव और आकाश में माने गये थे किन्तु पुद्गलों में तो परमाणुओं की गिनती अनुसार प्रदेशों की संख्या नियत की गयी है, भले ही आकाश का क्षेत्र उनमें बहुत थोड़ा होय या अधिक से अधिक परमाणुओं की संख्या बराबर संख्यातप्रदेशी या असंख्यात प्रदेश वाला होय। अनन्त प्रदेश वाले आकाश में तो कोई पुद्गल द्रव्य ठहरता ही नहीं है क्योंकि पुद्गलों का अवस्थान असंख्यात प्रदेशवाले लोकाकाश में ही है अलोकाकाश में नहीं ।

संख्येयपरमाणवारब्धानामनेकधा-स्कंधानामसंख्यातानंतानंतपरमाण्वारब्धानां च संसिद्धः पुद्गलानां स्युरेवं संख्येयाश्चासंख्येयाश्चानंताश्च प्रदेशास्तत्त्वतः सकलबाधकवैधुर्यात्।

संख्याते परमाणुओं करके आरम्भे गये अनेक प्रकार के स्कन्धों की भले प्रकार प्रमाणों से सिद्धि होरही है तथा असंख्यात परमाणुओं या अनन्त-परमाणुओं अथवा अनन्तानन्त परमाणुओं से बनाये जा चुके अनेक प्रकारके पौद्गलिक स्कन्धों की भली सिद्धि होरहा है, इस कारण से पुद्गलों के इस प्रकार संख्येय और असंख्येय तथा अनन्त प्रदेश होसकते हैं क्योंकि तात्त्विक रूप से सम्पूर्ण बाधाओं का रहितपना देखा जाता है अर्थात् बाधा-रहित प्रमाणों से जिसकी सिद्धि है उस पदार्थ का सद्भाव अवश्य स्वीकार करने योग्य है। जैसे कि स्वकीय या पर के सुखदुःखों का अस्तित्व जान लिया जाता है।

ननु च स्कंधस्य ग्रहणं तदारंभकावयवग्रहणपूर्वकं तदग्रहणपूर्वकं वा ? प्रथमपक्षेऽनंतशः परमाणूनां तदवयवानामतींद्रियत्वादग्रहणे स्कंधाग्रहणमिति सर्वाग्रहणमवयविसिद्धेः, द्वितीयपक्षेऽत्र सकलावयवशून्येपि देशेऽवयविग्रहणप्रसंगः कतिपयावयवग्रहणेपि स्कंधग्रहणे सर्वाग्रहणमेव कतिपयावयवानामप्यनंतशः परमाणूनां व्यवस्थानात्तेषां च ग्रहणासंभवात्। ततो न परमार्थतः स्कंधसंसिद्धिः अनाद्यविद्यावशादत्यासन्नेष्वसंसृष्टेषु बहिरंतश्च परमाणुषु तदाकारप्रतीतेः तादृक्केशादिष्वप्यन्याकारप्रतीतिवदिति कश्चित्

यहां कोई अवयवी को नहीं मानने वाला बौद्ध-वादी शंका करता हुआ स्वपक्ष का अवधारण करता है कि स्कन्ध का ग्रहण क्या उसको बनाने वाले अवयवों के ग्रहणपूर्वक होगा ? अथवा क्या उसके आरम्भक अवयवों का पूर्व में ग्रहण नहीं कर झटिति अवयवी का ग्रहण होजावेगा ? बताओ। प्रथम पक्ष ग्रहण करने पर उस स्कन्ध के अवयव होरहे कई बार अनन्ते अनन्ते परमाणुओं का अतीन्द्रियपना होने के कारण नहीं ग्रहण होने पर स्कन्ध का ग्रहण नहीं होसकता है, इस कारण सम्पूर्ण पदार्थों का ग्रहण नहीं होसका क्योंकि अवयवी पदार्थ की सिद्धि नहीं हो सकी है। अर्थात्— परमाणुभूत अवयव तो अतीन्द्रिय हैं और अवयवीको हम बौद्ध मानते नहीं हैं, ऐसी दशा में किसी भी पदार्थ का ग्रहण नहीं हुआ। यहां दूसरा पक्ष लेने पर तो यानी-पूर्व में अवयवोंका ग्रहण नहीं होते हुये भी स्कन्ध का ग्रहण होजाता है जो मानने पर सम्पूर्ण अवयवों से रीते होरहे भी देश में अवयवी के ग्रहण होजाने का प्रसंग आवेगा।

यदि जैन या नैयायिक यों तीसरा पक्ष उठावें, कितने ही एक थोड़े से अवयवों का ग्रहण पूर्व में होने पर पुनः स्कन्ध का ग्रहण होजाता है तो भी हम बौद्ध कहते हैं कि यों मानने पर भी सभी अवयवों या अवयवियों का अग्रहण ही होगा क्योंकि स्कन्ध के कतिपय अवयव होरहे भी तो अनन्ते परमाणुओं की आप जैनों के यहां व्यवस्था की गयी है, अतः कितने ही एक अवयवभूत अनन्ते परमाणुओं का ग्रहण करना असम्भव है, तिस कारण वास्तविक रूप से स्कन्ध की समीचीन सिद्धि नहीं होसकती। हां अनादि काल से लगी हुई अविद्या के बल से जीवों को अति निकटवर्त्ती हो रहे किन्तु एक दूसरेके साथ नहीं संसर्गित हुये बहिरंग परमाणु और अन्तरंग परमाणुओंमें उस स्कन्ध आकार की

प्रतीति होजाती है जो कि भ्रान्त है जैसे कि तिस प्रकार के अति निकट--वर्ती और परस्पर नहीं सम्बन्धित होरहे केश धान्य, वालुका कण आदि में भी उन आकारों से न्यारे आकारों की प्रतीति कीजाती है। भावार्थ–न्यारे न्यारे केशों के अति निकट होजाने पर कवरी, वैनी, जुट्ट, जटा, आदि प्रतीतियां होजाती हैं, न्यारे न्यारे अनेक धान्यों को मनुष्य एक धान्यराशि कह देते हैं, इसी प्रकार न्यारे न्यारे परमाणुओं के समीपवर्ती होजाने पर उनको भ्रान्तिवश जन स्कन्ध कह देते हैं। वस्तुतः सूक्ष्म, असाधारण, क्षणिक परमाणुयें ही यथार्थ हैं, कालान्तरस्थायी, स्थूल, साधारण, माना जा रहा अवयवी या स्कन्ध तो वस्तुभूत पदार्थ नहीं है, यहां तक कोई बौद्ध पण्डित कह रहा है।

तस्यापि सर्वाग्रहणमवयव्यसिद्धेः। परमाणवो हि बहिरंतर्वाऽबुद्धिगोचरा एवा-तींद्रियत्वात् न चावयवी तदारब्धोऽभ्युपगतः इति सर्वस्य बहिरंगस्यांतरंगस्य चार्थग्रहणं कथं विनिवार्यते ?।

अब आचार्य कहते हैं कि उस बौद्ध पण्डित के यहां भी (तो) सम्पूर्ण पदार्थों का ग्रहण नहीं होपाता है क्योंकि अवयवी पदार्थ की सिद्धि उन्हों ने नहीं मानी है, तथा बहिरंग और अन्तरंग स्वलक्षण परमाणुयें अथवा विज्ञानपरमाणुयें तो अतीन्द्रिय होने के कारण बुद्धि के विषय ही नहीं हैं और उन परमाणुओं से बनायागया अवयवी पदार्थ बौद्धों ने स्वीकृत नहीं किया है, इस प्रकार सम्पूर्ण बहिरंगपदार्थ और अन्तरंग पदार्थों का ग्रहण नहीं होसकना भला किस प्रकार दूर किया जा सकता है ? अर्थात्—बौद्धों के यहाँ किसी भी पदार्थ का ज्ञान नहीं होपाता है।

अथ केचित्संचिताः परमाणव एव स्वप्रत्ययविशेषादिंद्रियज्ञानपरिच्छेद्यस्वभावा जायंते तेषां ग्रहणसिद्धेर्न सर्वाग्रहणमिति मतं तदपि न समीचीनं, कदाचित्कचित्कस्यचित्परमाणुप्रतीत्यभावात्। एको हि ज्ञानमविवेशी स्वविषयानाकारः परिस्फुटमवभासते। परमाणव एव चैतनात्मन्यविद्यमानमप्याकारं स्थवीयांसं कुतश्चिद्विभ्रमाद्दर्शयंतीति चेत्, कथंचित्प्रतिभातास्ते तमुपदर्शयेयुरप्रतिभाता वा ? न तावदप्रतिभाताः सर्वत्र सर्वदा, सर्वथा सर्वस्य तदुपदर्शनप्रसंगात्, प्रतिभाता एव ते तमुपदर्शयंते सत्त्वादिनाकेशादिवदिति चेन्न। परमाणुत्वादिनापि तेषां प्रतिभातत्वप्रसंगात्।

अब बौद्ध यों कहते हैं कि हम परमाणुओं की सदा उत्पत्ति मानते रहते हैं कोई कोई एकत्रित हुये परमाणु ही स्वकीय कारणों की विशेषता से इन्द्रियजन्य ज्ञानों करके जानने योग्य स्वभाव वाले उपज जाते हैं, उनका ग्रहण होना सिद्ध है इस कारण सम्पूर्ण पदार्थोंका अग्रहण नहीं हुआ, कतिपय दृष्टव्य परमाणुओं का इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होचुका है, बौद्धों का यह मत है। अब आचार्य कहते हैं कि बौद्धों का वह मन्तव्य भी समीचीन नहीं है क्योंकि कभी भी, कहीं भी, किसी भी, अल्पज्ञ व्यक्ति को परमाणुओं की प्रत्यक्ष प्रतीति होने का अभाव है। जब कि एक ही स्कन्ध बेनारा ज्ञान में स्थूल रचनाओं को धारने वाला प्रतीत होरहा है, जो कि अपने को जानने वाली बुद्धि करके अनाकार होरहा पूर्ण स्पष्ट रूप से प्रतिभास रहा है अर्थात्–अर्थों के प्रतिबिम्बों के नहीं धाररहा और स्व को

भी जानने वाला ज्ञान अनाकार है हां उस ज्ञान द्वारा स्थूल आकार वाला एक अवयवी स्पष्ट जान लिया जाता है।

यदि बौद्ध यहां यों कहैं कि परमाणुयें ही चेतन आत्मा में नहीं विद्यमान होरहे भी अति स्थूल आकार को किसी एक भ्रान्तिज्ञान मे दिखला देती हैं जैसे कि स्थूलदर्शक मोटे काच करके छोटा पदार्थ भी बहुत बडा दीखने लग जाता है, यों कहने पर तो आचार्य बौद्ध से पूछते हैं कि वे परमाणुयें किसी न किसी प्रकार प्रतिभासित होरहीं सन्ती उस स्थूल आकार को दिखलावेंगी ? अथवा क्या नहीं प्रतिभासित होरहीं परमाणुयें भी अविद्यमान, स्थूल, आकार को चेतन आत्मामें दिखल देवेंगी ? बताओ। द्वितीय पक्ष अनुसार नहीं प्रतिभासित हुयीं परमाणुयें तो विज्ञान में स्थूल आकार को नहीं दिखला-सकती हैं क्योंकि यों मानने पर तो सभी स्थानों पर सभी कालों में, सभी प्रकार, सम्पूर्ण जीवों के, उस स्थूल आकार के दीख जाने का प्रसंग आवेगा क्योंकि परमाणुओं का अप्रतिभास तो सर्वत्र सर्वदा सब जीवों के सुलभतया विद्यमान है। हां प्रथम पक्ष अनुसार आप बौद्ध यों कहैं कि वे परमाणुयें सत्त्व, वस्तुत्व, आदि करके प्रतिभासित हो रहीं सन्तीं ही उस स्थूल आकार को दिखला देती हैं, जैसे कि सत्त्व, पदार्थत्व, आदि रूप करके प्रतिभासित होरहे ही केश, धान्य, सूत, आदिक उन कबरी, धान्य-राशि, रस्सा आदि स्थूल आकारों को दिखला देते हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि जब आप बौद्ध परमाणुओं को सर्वांगीण प्रतिभासित कर चुके हैं, तो परमाणुत्व, सूक्ष्मत्व क्षणिकत्व, स्वलक्षणत्व आदि स्वरूप--करके भी उन परमाणुओं के प्रतिभासित हो चुकनेपन का प्रसंग आयगा किन्तु यह बात अलीक है, किसी भी अर्वाग्दर्शी को परमाणु का परमाणुपन आदि धर्मों करके स्पष्ट प्रतिभास नहीं होपाता है।

सत्यं, तेनाप्रतिभाता एव परमाणवः " एकस्यार्थस्वभावस्य प्रत्यक्षस्य स्वतः स्वयं। कोऽन्यो न दृष्टो भागः स्याद्यः प्रमाणैः परीक्ष्यते" ॥ इतिवचनात् केवलं तथा निश्चयानुत्पत्ते-स्तेषामप्रतिभातत्वमुच्यते। " तस्मादृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुणः। भ्रांतेर्निश्चीयते नेति साधनं संप्रवर्तते " ॥ इति वचनात् सत्त्वादिनैव स्वभावेन तत्र निश्चयोत्पत्तेरभ्याससप्रक-रणबुद्धिपाटवार्थित्वलक्षणस्य तत्कारणस्य भावाद्वस्तुस्वभावात्। वस्तुस्वभावो ह्येष यत् प्रति प्राणीतिकानुभवपटीयान् क्वचिदेव स्मृतिबीजमाधत्ते प्रबोधयति चांतरं संसारमिति चेत्, कथ-मेवं सत्त्वादेरणुत्वादिस्वभावः परमाणुषु भिन्नो न भवेद्विरुद्धधर्माध्यासात् सह्यविंध्यवत्।

बौद्ध कहते हैं कि आप जैनों का कहना सत्य है उस परमाणुत्व आदि स्वभाव करके नहीं प्रतिभासित होरहे ही परमाणुयें उस आकार को दिखलाते हैं यह द्वितीयपक्ष हमको अभीष्ट है, हमारे बौद्धग्रन्थों में इसप्रकार का कथन है कि अर्थ के एकस्वभाव का जब स्वतः ही अपने आप प्रत्यक्ष ज्ञान होगया है, तो उस पदार्थ का कौनसा अन्यभाग देखा जा चुका, भला प्रमाणों करके परितः नहीं देखा गया है ? अर्थात्—पदार्थों में अनेक स्वभाव तो नहीं हैं किसी का एक बार प्रत्यक्ष कर लेने पर उस पदार्थ का पूर्णरूप से प्रत्यक्ष होजाता है, कोई भाग अदृष्ट नहीं रहता है, केवल इतनी बात है कि तिस प्रकार निश्चय की उत्पत्ति नहीं होने से उन परमाणुओं का अप्रतिभासितपना कह दिया जाता है, हमारे ग्रन्थों में यह भी कथन है कि तिसकारण देखे जा चुके पदार्थ के सम्पूर्ण गुण देखे जा चुके समझ

...चाहिये, हाँ कदाचित् भ्रान्ति होजाने से यदि किसी गुण का निश्चय नहीं किया जा सकता है तो साधन की प्रवृत्ति होती है, यानी--हेतु के द्वारा उस अनिर्णीत गुण का निश्चय कर लिया जाता है। भावार्थ--जैसे असाधारण, सूक्ष्म, परमाणु स्वरूप, स्वलक्षण के क्षणिकपन का ज्ञान निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा उसी समय हो चुका था क्योंकि देखे जा चुके पदार्थ में कोई न्यारे न्यारे अनेक अंश नहीं हैं। जिसमें कि कुछ अंशों को जान लिया जाय और कतिपय स्वभावों को छोड़ दिया जाय। बात यह है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष करके पदार्थका सर्वांगीण प्रत्यक्ष होजाता है किन्तु अनादि--कालीन वासना से जीवों के उत्पन्न होगये भ्रान्ति ज्ञान अनुसार उस क्षणिक पदार्थ में कालान्तरस्थायीपन या नित्यपन स्थूलपन आदि का ज्ञान हो जाता है, इस भ्रान्ति को दूर करने की सामर्थ्य निर्विकल्पक ज्ञानमें नहीं है, अतः " सर्वं क्षणिकं सत्वात् कृतकत्वाद्वा " इस निश्चयज्ञानात्मक अनुमान करके देखे जा चुके ही क्षणिकत्व का निर्णय कर लिया जाता है, उसी प्रकार परमाणु को जान चुकने पर ही उसके सम्पूर्ण स्वभावों का उसी समय दर्शन होचुका था, केवल कुछ गुणों का तिस प्रकार निश्चय नहीं उपजने से परमाणुओं को अप्रतिभासित कह दिया जाता है।

सत्व, पदार्थत्व, आदि स्वभावों करके ही उस परमाणु स्वरूप में निश्चय की उत्पत्ति होती है क्योंकि वस्तु के स्वभाव अनुसार उस निश्चय के कारण होरहे १ अभ्यास, २ प्रकरण, ३ बुद्धि-पाटव और ४ अर्थित्व स्वरूपों का वहाँ सद्भाव है। वस्तु का यह स्वभाव है कि प्रतीति के अनुसार अनुभव कराने में अतीव दक्ष होरहा वह स्वभाव वस्तु के किसी ही अभ्यस्त अंश में दूसरे स्मरण करता जीव के प्रति स्मृति के बीज का आधान कर देता है, अन्य अनभ्यस्त या अबुद्धि--गोचर अंशों में नहीं। और संसार--वर्ती प्राणियों को अभिन्न परमाणु में भी यों अन्तर--प्रबोध करा देता है। अर्थात्--परमाणु के सत्वगुण में अभ्यास, प्रकरण, बुद्धिपटुता और अभिलाषुकतायें विद्यमान हैं, अतः परमाणु के सत्व--स्वभाव की प्रतीति झटिति होजाती है, किन्तु परमाणु के अणुत्व या क्षणिकत्व स्वभाव में अभ्यास आदिक नहीं हैं, अतः उसका शीघ्र स्मरण नहीं होपाता है, एक परमाणु में भी संसारी जीव स्वभावों करके भेद को समझ बैठते हैं, अतः हम बौद्धों का कहना ठीक है कि अप्रतिभासित परमाणु भी अपने में अविद्यमान होरहे स्थूल आकार को किसी विभ्रम से दिखला देते हैं, यों बौद्धों के कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार परमाणुओं में अणुत्व, क्षणिकत्व, आदि स्वभाव भला सत्व आदि स्वभावों से भिन्न क्यों नहीं होजायंगे क्योंकि निश्चितत्व और अनिश्चितत्व धर्मों का उनमें अध्यास होरहा है जैसे कि सह्य और विन्ध्य पर्वत विरुद्ध धर्मों से अधिरूढ़ होने के कारण भिन्न भिन्न माने गये हैं, परमाणु के कुछ धर्मों का निश्चय है, और अन्य स्वभावों का निश्चय नहीं, ऐसी दशा में परमाणु के स्वभावों का भेद होजाना अनिवार्य है। बौद्धों के कहने से ही परमाणु में अनेक अंश सध जाते हैं।

यदि पुनर्निश्चयस्यावस्तुविषयत्वान्न तद्भावाभावाभ्यां वस्तुस्वभावभेद इति-मतं, तदा कथं दर्शनस्य प्रमाणेतरभावव्यवस्था निश्चयोत्पत्त्यनुत्पत्तिभ्यां विषयोपजननानुपजननाभ्यामिति तद्व्यवस्थानुषंगात्।

यदि फिर बौद्ध यों कहें कि निश्चय ज्ञान तो वस्तु को विषय नहीं किया करता है, निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही वस्तु को छूता है, निश्चय द्वारा कल्पित अंश जाने जाते हैं इस कारण उस निश्चय

के सद्भाव और अभाव करके वस्तु के स्वभावों में भेद नहीं होसकता है। आचार्य कहते हैं कि बौद्धों का यदि यह मत है तब तो निश्चय की उत्पत्ति करके निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के प्रमाणपन और अप्रमाणपन की व्यवस्था भला किस प्रकार होगी ? यों तो विपर्यय ज्ञान की उत्पत्ति और अनुत्पत्ति करके भी दर्शन के उस प्रमाणपन या अप्रमाणपन की व्यवस्था होजाने का प्रसंग आवेगा। भावार्थ--बौद्धों ने निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में निश्चय ज्ञान की उत्पत्ति होजाने से प्रमाणपना स्वीकार किया है, और जिस देखे हुये भी विषय में पश्चात् निश्चय उत्पन्न नहीं हुआ है, उस दर्शनका अप्रमाणपना व्यवस्थित किया है जैसे कि नीलस्वलक्षण का प्रत्यक्ष कर पीछे यह नील ही है, ऐसा निश्चय उपज गया तब तो उस निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की प्रमाणता मानी जायगी और यदि स्वलक्षणत्व या क्षणिकत्व का पीछे निश्चय ज्ञान नहीं उपज सका है तो उनका निर्विकल्पक दर्शन हो चुकने पर भी उस दर्शन की अप्रमाणता ही समझी जाती है। इसपर हमें यह कहना है कि दर्शन में प्रमाणता और अप्रमाणता के व्यवस्थापक निश्चय को वस्तु का निश्चय करने वाला नहीं माना जाय यह आश्चर्य है, यदि वस्तु को नहीं विषय करने वाले झूठे ज्ञानों को प्रमाणता या अप्रमाणता का व्यवस्थापक मान लिया जायगा तो विपर्ययज्ञान या संशय भी प्रमाणपन और अप्रमाणपन की व्यवस्था करा देंगे। मूर्ख या अपराधी पुरुष भी न्यायकी गद्दी पर बैठकर अण्ट सण्ट शासन करने लगजावेगा कौन रोकता है ?

दर्शनप्रामाण्यहेतुर्यथार्थनिश्चय एव दृष्टार्थाध्यवसायित्वान्न विपर्ययः संशयो वा तद्विपरीतत्वादिति चेद्व्याहतमेतत् स्वलक्षणानालम्बनश्च निश्चयो दृष्टार्थाध्यवसायी चेति तदस्वलक्षणाध्यवसायी स्वलक्षणालंबन एवेति वस्तुविषयो निश्चयोऽन्यथानुपपत्तेः सिद्धः। एवं च तद्भावाभावाभ्यां वस्तुस्वभावभेदोऽवश्यंभावीति सत्त्वद्रव्यत्वादि-स्वभावेन निश्चीयमानाः परमाणवो अणुत्वादिस्वभावेन चाऽनिश्चीयमाना नानास्वभावाः सिद्धा एव। केशादित्वेन निश्चीयमानाः प्रविरलत्वादिना चाऽनिश्चीयमानाः प्रतिपत्तव्याः। सर्वथा तदनिश्चये तत्र विभ्रमाभावप्रसंगात् तद्भावे अतिप्रसक्तेः।

बौद्ध कहते हैं कि दर्शन में प्रमाणपन का कारण तो यथार्थनिश्चय ही है क्योंकि निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष द्वारा देखे जा चुके अर्थ का अध्यवसाय (निर्णय) करने वाला निश्चय ज्ञान है, विपर्ययज्ञान अथवा संशय ज्ञान तो निर्विकल्पक दर्शन में प्रमाणता के सम्पादक नहीं हैं क्योंकि वे उससे विपरीत हैं, यानी दृष्ट अर्थ का अध्यवसाय नहीं करा सकते हैं। यों बौद्धोंके कहने पर तो हम जैन कहते हैं कि यह कहना परस्पर व्याघात दोष युक्त है, एकान्त-वादी बौद्धों को ऐसी बात कथमपि नहीं कहनी चाहिये। एक ओर निश्चय को स्वलक्षण को नहीं विषय करने वाला कहा जाता है, और दूसरी ओर निश्चय को दृष्ट अर्थ का अध्यवसाय करने वाला माना जाता है, इसमें उसी प्रकार व्याघात दोष आता है, जैसे कि अपनेको अज्ञानी मानता हुआ कोई पुरुष स्वयंको सर्वज्ञ कहबैठे। देखो जो निश्चय-ज्ञान तुम बौद्धों के यहां वस्तुभूत माने गये स्वलक्षण को आलम्बन नहीं करेगा वह दृष्ट अर्थ का अध्यवसाय करने वाला नहीं है, और जो ज्ञान दृष्ट अर्थ का अध्यवसाय करता है, वह स्वलक्षण को विषय अवश्य करता है।

स्वलक्षण को विषय करने वाला ही स्वलक्षण-अध्यवसाय करसकता है, तिस कारण सिद्ध हुआ कि स्वलक्षण का अध्यवसाय करने वाला ज्ञान (निश्चय) स्वलक्षण को आलम्बन (विषय) करने वाला ही होना चाहिये । इसप्रकार अन्यथानुपपत्ति से यह सिद्ध हुआ कि निश्चय ज्ञान वस्तुभूत को विषय--करने वाला है, अन्यथा यानी वस्तु को विषय करने वाला नहीं मानने पर अनुपपत्ति यानी निश्चय ज्ञान करके इष्ट अर्थ के अध्यवसाय की सिद्धि नहीं होपाती है । और इस प्रकार उस निश्चय के सद्भाव और अभाव करके परमाणस्वरूप वस्तु के स्वभावों का भेद अवश्य ही होजावेगा, इस कारण सत्व, द्रव्यत्व, पदार्थत्व आदि स्वभावों करके निश्चय किये जारहे और परमाणत्व क्षणिकत्व, असाधारणत्व, सूक्ष्मत्व आदि स्वभावों करके नहीं निश्चय किये जा रहे परमाणुयें अवश्य अनेक स्वभाव वाले सिद्ध हो ही जाते हैं, जैसे कि केश, धान्य, आदिपने करके निश्चय को प्राप्त होरहे और विरलपन, असंसृष्टपन, सान्तरालपन, आदि करके नहीं निश्चय किये जारहे वे परमाणु समझ लेने योग्य हैं ।

यदि सभी प्रकारों से उन परमाणुओं का निश्चय नहीं माना जायगा जो कि बौद्धों ने परमाणुओं के अप्रतिभासपन का पक्ष लेरखा है, तब तो विभ्रम के भी अभाव होजाने का प्रसंग होगा ऐसी दशा में बौद्धों का यह कहना शोभा नहीं पायगा कि परमाणुऐं ही अविद्यमान होरहे स्थूल आकार को किसी विभ्रम से दिखला देती हैं, यदि बौद्ध परमाणुओं का सर्वथा अनिश्चय होने पर भी उन में भ्रान्तिज्ञान होने को स्वीकार कर लेंगे तब तो अतिप्रसंग होजायगा यानी--मरीचिकाचक्र के नहीं होने पर भी जल की भ्रान्ति उपज जानी चाहिये, सीप के नहीं होनेपर भी या सोते हुये पुरुष को भी रजत चांदी का भ्रान्तिज्ञान होजाना चाहिये, बात यह है कि लम्बी पड़ी हुयी वस्तु को जानकर ही रस्सी में सांप का ज्ञान होसकता है, अन्यथा नहीं ।

सत्वादिना च निश्चयमानोवयवी वहिर्न परमाणव इत्ययुक्तं, सर्वानिश्चयेऽवयव्यसिद्धेः । तथा मूल्यदानक्रयिणः परमाणवः । प्रत्यक्षबुद्धावात्मानं च न समर्पयंति प्रत्यक्षतां च स्वं कुर्वन्तीति ततः परमार्थसंतः पुद्गलानां स्कंधा द्व्यणुकादयोऽनेकविधा इति तेषां संख्येयादिप्रदेशाः प्रातीतिका एव ।

बौद्ध कहते हैं कि सत्व, द्रव्यत्व, आदि स्वभावों करके अवयवी का निश्चय किया जा रहा है जो कि अवस्तुभूत है, इसका ज्ञान भी अज्ञान सारिखा है किन्तु वहिरंग परमाणुयें तो सत्व आदि करके नहीं निश्चय की जा रही हैं, अतः वे अप्रतिभात ही रहीं । ग्रन्थकार कहते हैं कि बौद्धों का यह कहना युक्तियों से रीता है, क्यों कि तुम्हारे पूर्व कथन--अनुसार सम्पूर्ण पदार्थों का निश्चय नहीं होने पर अवयवी की भी सिद्धि नहीं है, जब तुम बौद्ध सत्व आदि करके भी परमाणु का निश्चय होना नहीं मानते हो तबतो वे परमाणु मूल्य नहीं देकर खरीदने वाले हुये, यह बड़ा भारी दोषआया । प्रत्यक्षबुद्धि में परमाणुयें अपने को समर्पण नहीं करती हैं, और अपना प्रत्यक्ष होजानापना स्वीकार कर रही हैं यह " अमूल्यदान क्रयित्व " दोष है, तिस कारण से पुद्गलों के अनेक प्रकार द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि स्कन्ध आप बौद्धों को परमार्थ रूप से सद्भूत मानने पड़ेंगे । यों इस सूत्र द्वारा कहे गये उन पौद्गलिक स्कन्धों के संख्येय, असंख्येय आदि प्रदेश तो प्रतीतियों अनुसार सिद्ध ही होजाते हैं कतिपय

स्थूल स्कन्धों का चक्षुओं से प्रत्यक्ष होरहा है, किन्तु सूक्ष्म स्कन्ध या परमाणुओं को अनुमान या आगम ज्ञान से जान लिया जाता है, प्रतीतियों के अनुसार सार वस्तुकी व्यवस्था है, और वस्तु की व्यवस्थिति अनुसार समीचीन प्रतीतियां होजाती हैं। ज्ञापकपक्ष में एक को जानकर उससे अज्ञात को जानने में कोई अन्योन्याश्रय दोष नहीं आता है ॥

" संख्येयासंख्येयाश्च पुद्गलानां " इस सूत्र में सामान्य रूप से पुद्गलों के प्रदेशों का निरूपण किया गया है, यों अविशेष रूप से कथन होने के कारण एक पुद्गल परमाणु के भी उस प्रकार अनेक प्रदेश होजायं ', ऐसी आशंका उपस्थित हो जाने पर उसका निषेध करनेके लिये सूत्रकार इस अगले सूत्र को कहते हैं।

नाणोः ॥ ११ ॥

परमाणु के प्रदेश नहीं हैं। अर्थात्-अणु केवल एक प्रदेश परिमाण वाली है, अतः जैसे आकाश के एक प्रदेशके पुनः अन्य प्रदेश नहीं हैं, उसी प्रकार एक अविभागी परमाणु का भी अप्रदेश-पना जान लेना चाहिये। जब कि परमाणु से कोई छोटा पदार्थ जगत् में नहीं है तो इस परमाणु के प्रदेश कैसे भिन्न किये जा सकते हैं ? अतः " अत्तादि अत्त मज्झं अत्तन्तं णेव इन्दियेगेज्झं " ऐसे सूक्ष्म अणु के दो तीन आदि कितने भी प्रदेश नहीं माने गये हैं।

संख्येयासंख्येयाश्च प्रदेशा इत्यनुवर्तनात्त एवाणोः प्रतिषिध्यंते। तथा च—

पूर्व सूत्र से संख्येय, असंख्येय तथा च शब्द करके लिये गये अनन्त और प्रदेश इन पदों की अनुवृत्ति कर लेने से वे संख्यात, असंख्यात, और अनन्त प्रदेश ही अणु के इस सूत्र द्वारा प्रतिषिद्ध किये जाते हैं और तैसा होने पर सूत्र का अर्थ ऐसा होजाता है कि—

नाणोरिति निषेधस्य वचनान्नाप्रदेशता।
प्रसिद्धो वैकदेशत्वात्तस्याणुत्वं न चान्यथा ॥ १ ॥

अणु के प्रदेश नहीं हैं इस प्रकार सूत्रकार द्वारा निषेध का कथन कर देने से उस अणु का अप्रदेशपना या प्रदेशरहितपना नहीं प्रसिद्ध होजाता है क्योंकि उस अणु का एक प्रदेश माना जा रहा है, अन्यथा यानी अणु का एक भी प्रदेश नहीं मानने पर तो खर-विषाण के समान उसका अणुपना ही नहीं रक्षित रह सकेगा अर्थात्-जब अणु स्वयं एकप्रदेश परिमित है तो फिर उसके दूसरे प्रदेश नहीं होसकते हैं अकेला रुपया पुनः दो, तीन, आदि रुपयों वाला नहीं है। एक बात यह भी है कि एयादीया गणाणा बीयादीया हवंति संखेज्जा। तीयादीणं णियमा कदित्ति सण्णा मुणेदव्वा " जैन सिद्धान्त में संख्यातों को दो से प्रारम्भ किया गया है, गुण जैसे स्वयं निर्गुण हैं उसी प्रकार एक प्रदेश वाला भी अणु स्वयं दो आदि प्रदेशों से रहित होरहा सन्ता अप्रदेश है।

नन्वेकप्रदेशोप्यणुर्न भवतीति युक्तं तस्यावस्तुत्वप्रसंगात्। ननु चाणोः प्रदेशत्वे प्रदेशी कः स्यात् स एव स्पर्शादिगुणाश्रयत्वाद्गुणीति ब्रूमः। कथं स एव प्रदेशः प्रदेशी च ? विरोधादिति

चेत् तदुभयस्वभावत्वोपपत्तेः । प्रदेशित्वस्वभावस्त्वस्याति स्कंधावस्थायां तद्भावान्यथानुपपत्तेः प्रदेशत्वस्वभावः पुद्गलद्रव्यत्वात् । एकेन प्रदेशेन पुद्गलद्रव्यस्याप्रदेशित्वे द्व्यादिप्रदेशैरप्यप्रदेशित्वप्रसंगात् विरुद्धं चेदं परमाणुरेकप्रदेशोऽप्रदेशी चेति प्रदेशप्रदेशिनोरविनाभावात् प्रदेशिनमंतरेण प्रदेशस्यासंभवात् खपुष्पवत् प्रदेशमंतरेण च प्रदेशिनोनुपपत्तेस्तद्वदेव ।

एक प्रदेशवाला भी अणु नहीं होता है, यह कहना तो उचित नहीं है क्योंकि यों तो उस परमाणु के अवस्तुपन का प्रसंग आजावेगा सर्वथा एक भी प्रदेश से रहित तो खर--विषाण आदि असत् पदार्थ ही हैं। यहां किसी की शंका है, कि यदि अणु को एक प्रदेशस्वरूप माना जावगा तो भला प्रदेशवाला प्रदेशी यहां कौन पदार्थ होसकेगा ? प्रदेशी के बिना कोई एक भी प्रदेश स्थिर नहीं रह सकता है। इसके उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं, कि स्पर्श, रस, आदि गुणों का आश्रय होने से वह गुणवान् परमाणु ही प्रदेशी है, ऐसा हम जैन सिद्धान्ती सिंहगर्जना करते हुये बोलते हैं। शंकाकार पुनः कहता है, कि वह प्रदेश होरहा ही परमाणु भला प्रदेशी किस प्रकार हो सकता है ? क्योंकि विरोध है, स्वयं धन ही तो धनवान् नहीं होजाता है, स्वयं बच्चा बच्चे--वाला नहीं है।

यों कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि उस परमाणु में दोनों स्वभावों से सहितपना बन रहा है। देखिये प्रदेशीपन स्वभाव तो इस परमाणु के विद्यमान है, अन्यथा स्कंध अवस्था में परमाणुओं के उस प्रदेशीपन भाव की सिद्धि नहीं होसकेगी, परमाणु में प्रदेशीपन आत्मभूत है। तभी तो कतिपय परमाणुओं के बंधजाने पर स्कन्ध दशा में वह प्रकट होजाता है, तथा पुद्गल द्रव्य होने से प्रदेशपन स्वभाव स्पष्ट ही है। शुद्ध पुद्गल द्रव्य एक प्रदेश स्वरूप परमाणु ही तो है, यदि पुद्गल द्रव्य को एक प्रदेश करके प्रदेशीपना नहीं माना जायगा तो दो, तीन, आदि प्रदेशों करके भी उसके अप्रदेशीपन (प्रदेशी नहीं होसकने) का प्रसंग आवेगा। यहां किसी का यह कहना विरुद्ध है कि परमाणु एक प्रदेश वाला होरहा अप्रदेशी है, जैन--सिद्धान्त अनुसार प्रदेश और प्रदेशी का परस्पर में अविनाभाव होरहा है। प्रदेशी के बिना प्रदेश का असम्भव है, जैसे कि आकाश का फूल प्रदेशी नहीं होता स्वयं प्रदेश भी नहीं है। तथा प्रदेश के बिना प्रदेशी की भी सिद्धि नहीं है, उस ख पुष्प के समान हो समझलो अतः प्रदेश होता हुआ भी परमाणु प्रदेशी है।

तत एव न प्रदेशो नापि प्रदेशी परमाणुरिति चेन्न, द्रव्यत्वविरोधात् गुणादिवत् । न चाद्रव्यं परमाणुर्गुणवत्त्वात् स्कंधवत् । न चाप्रदेशाप्रदेशिस्वभावं किंचिद्द्रव्यं सिद्धं । गगनादिसिद्धमिति चेन्न, तस्यानंतादिप्रदेशत्वसाधनेन प्रदेशित्वव्यवस्थापनात् ।

यहां नैयायिक कहते हैं तिस ही कारण यानी प्रदेश और प्रदेशी का अविनाभाव होने से हमारे यहां परमाणु प्रदेश स्वरूप भी नहीं है। और प्रदेशवान् भी परमाणु नहीं माना गया है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों कहने से परमाणु के द्रव्यपन का विरोध होजायगा जैसे कि गुण, कर्म आदिक पदार्थ प्रदेश न होते हुये भी प्रदेशी नहीं हैं। अतः वे द्रव्य नहीं हैं, इसी प्रकार परमाणु भी द्रव्य नहीं हो सकेगा किन्तु यह परमाणु अद्रव्य तो नहीं है। क्योंकि स्पर्श आदि

गुणों से सहित है जैसे कि गुणवान होने से पुद्गल स्कन्ध द्रव्य माना जाता है। दूसरी बात यह है, कि प्रदेश और प्रदेशी स्वभावों से रहित तो जगत् में कोई द्रव्य ही सिद्ध नहीं है। यदि वैशेषिक यों कहें कि आकाश, आत्मा, आदिक द्रव्य न तो प्रदेशस्वरूप हैं और न प्रदेशीस्वरूप हैं किन्तु वे द्रव्य रूप से सिद्ध हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उन आकाश आदि के अनन्त, असंख्यात, अनन्तानन्त आदि प्रदेशों से सहितपन का साधन कर देने से प्रदेशीपन की व्यवस्था करा दी गयी है।

स्यादाकूतं ते अनेकप्रदेशः परमाणुर्द्रव्यत्वाद् घटाकाशादिवदिति। तदसत्-धर्मिग्राहकप्रमाणबाधितत्वात् पक्षस्य कालात्ययापदिष्टत्वात् हेतोः कालेन व्यभिचाराच्च। स्याद्वादिनां मीमांसकानां च शब्दद्रव्येणानेकांतात्।

यदि तुम कटाक्ष-कर्ताओं का यह चेष्टित होय कि परमाणु (पक्ष) अनेकप्रदेशों वाला है, (साध्य) द्रव्य होने से (हेतु) घट, आकाश, आत्मा, आदि के समान। ग्रन्थकार कहते हैं कि तुम्हारा वह कथन प्रशंसनीय नहीं है क्योंकि पक्ष होरहे परमाणु स्वरूप धर्मी को ग्रहण करने वाले प्रमाण करके बाधित होजाने से द्रव्यत्व हेतु कालात्ययापदिष्ट (बाधितहेत्वाभास) है अर्थात्-जो कोई प्रमाण परमाणु को जानेगा वह चरमावयव होरहे परमाणु को केवल एक प्रदेश रूप ही जान पावेगा यदि इसमें भी अनेक प्रदेश माने जायंगे तो उन अनेक प्रदेशों में पड़े हुये एक प्रदेश का जहां सद्भाव होगा वह परमाणु व्यवस्थित किया जायगा बहुत दूर भी जाकर जब कभी परमाणु सिद्ध होगा वह एक प्रदेश स्वरूप ही निर्णीत किया जायगा, ऐसी दशा में भी परमाणुके अनेक प्रदेश स्वीकार करते जाना कालात्ययापदिष्ट है, यानी एक प्रदेशपन, इस की सिद्धि होचुकी पुनः साधनकाल के अभाव होजाने पर तुमने हेतु प्रयुक्त किया है, यों साध्याभाव का निर्णय होचुकने पर द्रव्यत्व हेतु से अनेकप्रदेशत्व की सिद्धि नहीं होसकती है। दूसरा दोष यह है कि द्रव्यत्व हेतु का काल द्रव्य करके व्यभिचार आता है, काल भला द्रव्य तो है किन्तु अनेक प्रदेशों वाला नहीं है। तीसरी बात यह है कि स्याद्वादी और मीमांसकों के यहां माने गये शब्द द्रव्य करके व्यभिचार आता है, वैशेषिक या नैयायिक भले ही शब्द को गुण मानें किन्तु स्पर्श, वेग, संयोग, आदि गुणों का धारी होने से शब्द का द्रव्यपना निर्णीत है। अथवा इस पंक्ति का अर्थ यों कर दिया जाय कि स्याद्वादियों के यहां काल द्रव्य से व्यभिचार है, और मीमांसकों के यहां माने गये शब्द द्रव्य करके व्यभिचार आता है, मीमांसक द्रव्य मानते हुये शब्द को प्रदेशों से रहित स्वीकार करते हैं किन्तु स्याद्वादी तो शब्द को अशुद्ध द्रव्य मानते हुये साथ ही अनेकप्रदेशी भी इष्ट कर लेते हैं।

तथाहि—घटादिभिद्यमानपर्यन्तो भेद्यत्वान्यथानुपपत्तेः योऽसौ तस्य पर्यन्तः स परमाणुरिति परमाणुग्राहिणा प्रमाणेनानेकप्रदेशित्वं बाध्यते तस्यानेकप्रदेशत्वे परमाणुत्व-विरोधात्।

ग्रन्थकार ने वैशेषिकों के द्रव्यत्व हेतु को बाधित कहा था उसी को स्पष्ट कर यों दिखलाते हैं कि घट, पट, आदिक पदार्थ (पक्ष) छोटे छोटे अवयव रूप से छिन्न, भिन्न, किये जारहे पर्यन्तभूत किसी चरमावयव पदार्थ को धार रहे हैं, अन्यथा यानी अन्तपर्यन्त उनके छोटे छोटे टुकड़े होजाना

नहीं माना जायगा तो भेदपना नहीं बन सकता है (हेतु) जो भी कोई पदार्थ सब से अन्त में जाकर उस घटादि अवयवों का पर्यन्त होगा वह परमाणु है, इस प्रकार परमाणु को ग्रहण करने वाले प्रमाण करके अनेक प्रदेशी पना बाधित होजाता है। यदि उस अन्तिम अवयव को अनेकप्रदेश वाला माना जायगा तो उसके परम अणुपनका विरोध होजावेगा। परम अणु तो वही होसकता है जिससे फिर कोई छोटा अवयव न कभी हुआ, न है, न होगा, " अणोरप्यणीयान् न परो वर्तते "।

अष्टप्रदेशरूपाणुवादोऽनेन निवारितः।
तत्रापि परमस्कन्धविदभावप्रसंगतः ॥ २ ॥

इस उक्त कथन करके रूप--परमाणु के आठ प्रदेशों के प्रवाद का निवारण किया जा चुका समझ लो। एक कारण यह भी है कि उस अणु के आठ प्रदेश मानने के प्रवाद में भी बड़े लम्बे चौड़े स्कन्ध की प्रतीति होने के अभाव का प्रसंग आता है। भावार्थ–आठ दिशा, विदिशाओं, से दूसरे दूसरे आठ परमाणुओं का बंध होजाने की अपेक्षा जो परमाणु के आठ प्रदेश माने गये हैं, वहां भी एक देश या सर्व देश का विकल्प उठा देने पर परमाणु का प्रदेशों से रहितपना ही सिद्ध होता है। वस्तुतः परमाणु का एक ही प्रदेश है, और उस प्रदेश की व्यञ्जन पर्याय बरफी के समान छह पैल वाली है, तदनुसार एक परमाणु के साथ चार दिशाओं और ऊपर नीचे यों छह परमाणु बंधसकते हैं, अनेकान्त वाद में परमाणु के एक देश या सर्व देश करके दूसरे परमाणु का बंध जाना घटित होजाता है। शक्ति की अपेक्षा छह अंश वाला परमाणु साधा जा चुका है, परमाणु के आठ अंश मानने वाले को ऊर्ध्व और अधः अंश अवश्य मानने पड़ेंगे इस में एक बड़ाभारी दोष यह भी होगा कि आठ पैल वाले अनेक पदार्थ छिद्र रहित होकर सघन बन्ध नहीं सकते हैं जैसे कि गोल गोल पदार्थों का छिद्ररहित पिण्ड नहीं बन सकता है, तथा दिशा विदिशाओं सम्बन्धी आठ पैल वाले पदार्थ का ऊपर और नीचे का पैल बहुत बड़ा होजाता है किन्तु परमाणु के अंश एक से होने चाहिये यदि परमाणु के समतल में छह पैल माने जांय और ऊपर नीचे दो पैल मानकर यों आठ प्रदेशों की कल्पना की जायगी तो यद्यपि छह पैल वाले पदार्थों का अच्छे ढंग से समतल में छिद्ररहित बन्ध होसकता है किन्तु ऊपर नीचे के पैल बहुत बड़े होजाने से अंशों में छोटापन, बड़ापन आजाता है परमाणु को घन समचतुरस्र (बरफी के समान) मानने पर ये कोई आपत्तियां नहीं आती हैं अतः परमाणु के आठ अंश या दश अंश अथवा गोल आकार का मानना ठीक नहीं जंचता है।

परमाणूनामनेकप्रदेशत्वाभावे सर्वात्मनैकदेशेन च संयोगे पिण्डेपि अणुमात्रप्रसक्तेः सावयवत्वेऽनवस्थाप्रसंगाच्च परमस्कंधस्य प्रतीतिविरोधाद्दष्टप्रदेशरूपाणुर्भिद्यमानपर्यन्तः सर्वदा स्वयमभेद्यः सिद्ध्यति न पुनरनंशः परमाणुस्तस्य बुद्ध्या परिकल्पनादिति केषांचिदष्टप्रदेशरूपाणुवादः सोप्यनेनैव प्रदेशपरमाणुस्कंधस्य वचनेन विचारितो द्रष्टव्यः, रूपाणोरष्टप्रदेशस्य सर्वदाप्यभेद्यस्यायोगात्। तथाहि--भेद्यो रूपाणुः मूर्तत्वे सत्यनेकावयवत्वात् पटवत्। नात्र हेतोराकाशादिभिरनैकांतो मूर्तिमत्त्वे सतीति विशेषणात्तेषाममूर्तत्वात्। ततः परमाणुरेकप्रदेश एव भिद्यमानपर्यन्तः सिद्धः।

परमाणु के आठ प्रदेश को मानने वाले कहते हैं कि यदि परमाणुओं के अनेक प्रदेशों से सहितपना नहीं माना जायगा तो सर्वांगरूप से संयोग होजाने पर पिण्ड में भी केवल अणु बराबर बनेरहने का प्रसंग आवेगा क्योंकि एक परमाणु दूसरे परमाणु में सर्वांगीण प्रविष्ट होजायगी और उसी में तीसरी, चौथी, आदि अणुयें सर्वात्मना अन्तःप्रविष्ट होजांयगी तो ऐसी दशा में सुमेरु पर्वत भी अणु के बराबर छोटा बन बैठेगा और यदि एक देश करके परमाणुओं का संयोग माना जायगा तब तो सावयवपना होने पर अनवस्था दोष का प्रसंग आवेगा कारण कि पहिले से ही जिस पदार्थ के कतिपय अवयव होते हैं, उसी पदार्थ के कई एक एक देशों की कल्पना करके उसका एक देश करके संयोग होजाना बन सकता है, और यों पहिले से ही कतिपय अवयवों करके गढ़ गया वह अवयवी पदार्थ हुआ उन पूर्ववर्ती अवयवों के संयोग में भी एक देश करके संयोग होने की कल्पना करते करते यों लम्बी धारा बढ़ती चलीजायगी, इस प्रकार अनवस्था होजाती है, चाहे सर्वात्मना संयोग मानो [illegible] प्रतीति होने का विरोध आता है, अतः हम कहते हैं कि वह आठ प्रदेशों वाला रूपाणु उत्तरोत्तर भेदा जा रहा अन्त में जाकर सिद्ध होजाता है जो कि सदा किसी करके भी स्वयं पुनः भेदने योग्य नहीं है, किन्तु वह परमाणु फिर अंशों से रहित नहीं है, अस्मदादि जीवों को प्रत्यक्षज्ञान द्वारा अवेद्य होरहे उस सांश परमाणु की बुद्धि करके परिकल्पना कर ली जाती है। इस प्रकार किन्हीं विद्वानों का रूपाणु के आठ प्रदेशों का मानने वाला प्रवाद है।

ग्रन्थकार कहते हैं कि वह कुत्सित पक्ष का परिग्रह भी इस ही प्रदेश--स्वरूप परमाणुओं से बनजाने योग्य स्कन्ध के कथन करके विचार कर दिया गया देख लेना चाहिये। अर्थात्—स्याद्वाद सिद्धान्त अनुसार एक प्रदेश वाले परमाणु का सर्वात्मरूप से या एक देश रूप से संयोग होजाने पर अनेक अणु अणुमात्र भी होसकते हैं और बड़े स्कन्ध स्वरूप भी परिणम जाते हैं, कोई दोष नहीं आता है, तुम्हारे आठ प्रदेशवाले रूपाणु के सदा भी अभेद्यपन का अयोग है, आठ प्रदेश वाले पदार्थ के पुनरपि कतिपय टुकड़े होसकते हैं, इसी बात को स्पष्ट करके यों अनुमान द्वारा दिखलाया जाता है कि रूपाणु (पक्ष) भेदने योग्य है, (साध्य) मूर्त होते सन्ते अनेक अवयवों वाला होने से (हेतु) घट के समान (अन्वयदृष्टान्त)।

यहां हमारे हेतु का आकाश आदि करके व्यभिचार दोष नहीं आता है क्योंकि मूर्तिवाला होते सन्ते इस प्रकार हेतु में विशेषण दे रखा है, वे आकाश आदि तो अमूर्त हैं, तिस कारण घट, कपाल, कपालिका, षडणुक, पंचाणुक यों भेद को प्राप्त होरहा सन्ता सब से अन्त में जाकर एकप्रदेशवाला ही परमाणु सिद्ध होता है, अतः अष्ट प्रदेशवादी भले ही उसको रूपाणु कहें या बौद्ध उसको स्वलक्षण कहें, नैयायिक परमाणुक कहें, जैन उसको अणु कहें। बात यह है कि अन्तिम सब से छोटा अवयव केवल एक प्रदेश स्वरूप है, हां उसकी व्यंजनपर्याय समघनचतुरस्र है, झगड़ा बढ़ाना व्यर्थ है, परोक्ष पदार्थों का निर्णय आप्तोक्त आगमों से बहुत बढ़िया होता है।

नन्वेवं परमस्कन्धप्रतीत्यभावप्रसंग इति चेन्न, तस्याष्टप्रदेशाणुवादेपि समानत्वात्। तथाहि—

परमाणु को आठ प्रदेश का कहने वाले पण्डित यहां शंका करते हैं कि इस प्रकार परमाणु का एक ही प्रदेश मानने पर तो बड़े लम्बे चौड़े महान् स्कन्ध की प्रतीति होने के अभाव का प्रसंग आवेगा क्योंकि परमाणु के अनेक प्रदेश तो नहीं हैं, ऐसी दशा में अनेक परमाणुओं के संयुक्त होजाने पर भी पिण्ड अणुमात्र ही बना रहेगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि वह बड़े स्कन्ध की प्रतीति नहीं होना तो तुम्हारे आठ प्रदेश वाले अणु को कहने वाले प्रवाद में भी समान है, आठ प्रदेश वाले अणु का एक देश करके संयोग मानने पर छिद्र रह जाते हैं, ऊपर नीचे के स्थल भर नहीं पायंगे और एक देश का पक्ष लेने पर अनवस्था दोष भी आता है अतः सम्पूर्ण रूप से संयोग मानने वाला दूसरा पक्ष ही लेना पड़ेगा। ऐसी दशा में पिण्ड अणु मात्र रह जायगा और बड़े पिण्ड की प्रतीति नहीं होसकेगी, इस बात को ग्रन्थकार स्वयं विशद रूप से अग्रिम वार्तिकों द्वारा कहते हैं।

यथाणुरणुभिर्नानादिक्कैः संबंधमादधत्।
देशतोवयवी तद्वत्प्रदेशोन्यैः प्रदेशतः ॥ ३ ॥
सर्वात्मना च तैस्तस्यापि संबंधेणुमात्रकः।
पिंडः स्यादन्यथोपात्तदोषाभावः समो न किम् ॥ ४ ॥

जिस प्रकार एक मध्य-वर्ती परमाणु इधर उधर नाना दिशाओं में वर्त रहे नाना परमाणुओं के साथ सम्बन्ध को सब ओर से धारण कर रहा सन्ता एक एक देश की अपेक्षा से वह प्रदेश यानी परमाणु अवयवी हुआ जाता है, उसी के समान उस अवयवी के पहिले से भी अनेक देश थे उन अन्य प्रदेशों के साथ भी एक एक देश करके सम्बन्ध धारने पर अनवस्था दोष का प्रसंग आता है। हां द्वितीय पक्ष अनुसार सम्पूर्ण रूप से भी उन नाना दिशा-वर्ती अनेक परमाणुओं के साथ उस मध्य-वर्ती परमाणु का सम्बन्ध मानने पर तो पिण्ड अणु मात्र होजायगा अन्यथा यानी जैन सिद्धान्त अनुसार अन्यप्रकारों से सम्बन्ध मानने पर यदि गृहीत दोषोंका अभाव किया जायगा तो प्रदेशमात्र परमाणु को मानने वालों के यहां भी वह दोष का अभाव क्यों नहीं समान रूप से लागू होगा ? अर्थात्-द्रव्य रूप से निरंश और शक्ति रूप से सांश परमाणु का अन्य दिशा-वर्ती परमाणुओं के साथ बन्ध होजाने पर महान स्कन्ध की प्रतीति होजाती है, यह आचार्यों करके माना गया निर्दोष मार्ग है।

अष्टप्रदेशोपि हि रूपाणुः पूर्वादिदिग्गतरूपाण्वंतरप्रदेशैरेकशः संबंधमधितिष्ठन्नेकदेशेन कार्त्स्न्येन वाधितिष्ठेत् ? एकदेशेन चेदवयवी प्रदेशः स्यात्परमाणुवत् तथा चानवस्था परापरप्रदेशपरिकल्पनात् कार्त्स्न्येन चेत् पिण्डोऽणुमात्रः स्यात् रूपाणुप्रदेशेष्वष्टासु रूपाण्वंतरप्रदेशानां प्रवेशात्तेषां च परस्परानुप्रवेशात्। तथा च परमस्कंधप्रतीत्यभावः।

यहां हम जैन प्रश्न उठाते हैं कि आठ प्रदेशों वाला भी रूपाणु पूर्व आदि दिशाओं में प्राप्त होरहे अन्य अन्य रूपाणु स्वरूप प्रदेशों के साथ एक ही बार सम्बन्ध को प्राप्त होरहा सन्ता क्या एक देश करके अथवा क्या पूर्ण रूप करके ही संसर्गित होगा बताओ यदि रूपाणु एक देश करके अन्य रूपाणुओं के साथ सम्बन्धित होगा तब तो परमाणु के समान तुम्हारे यहां माना गया प्रदेश स्वरूप

रूपाणु अवयव अवयवी होजावेगा अवयवी के ही एक देश हुआ करते हैं और तिस प्रकार उस अवयवी के भी पूर्व अवयवों के साथ एक एक देश करके सम्बन्ध–व्यवस्था मानने पर उत्तरोत्तर अनेक प्रदेशों की कल्पना करने से अनवस्था दोष आता है। द्वितीय पक्ष अनुसार सर्वांग रूप से सम्बन्ध मानने पर तो अनेक प्रदेशों का पिण्ड बिचारा केवल अणु के समान परिमाणवाला होजायगा क्योंकि प्रकरणप्राप्त रूपाणु के आठों प्रदेशों में अन्य रूपाणुओं के प्रदेशों का सर्वाङ्गीण प्रवेश हो जायगा और उनका भी परस्पर में अनुप्रवेश होजावेगा यों असंख्य परमाणुओं का परस्पर में परिपूर्णरूप से सम्बन्ध होजाने पर पिण्ड एक परमाणु के बराबर ही बन जायगा और तैसी दशा में घट, पट, पर्वत, भीत आदि बड़े बड़े स्कन्धों की प्रतीति होने का अभाव होजायगा।

अथ महतः स्कन्धस्य प्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या प्रकारांतरेण रूपाणुप्रदेशानामन्यरूपाणुप्रदेशैः संबंधसिद्धेः कारत्स्न्यैकदेशपक्षोपात्तदोषाभावो विभाव्यते परमाणूनामपि प्रकारांतरेण संबंधस्तत एवेति समानस्तत्पक्षोपात्तदोषाभावः। वक्ष्यते च परमाणूनां बंधपरिणामहेतुः स्निग्धरूक्षत्वादिति परिणामविशेषः प्रकारान्तरमिति नेहोच्यते—

अब यदि आप यों विचार करें कि बड़े बड़े स्कन्धों की प्रतीति का होना अन्यथा बन नहीं सकता है, अतः एक देश और सम्पूर्ण देश इन दो प्रकारों से अतिरिक्त तीसरे रूपाणु के प्रदेशों का अन्य रूपाणु प्रदेशों के साथ सम्बन्ध होजाने की सिद्धि कर ली जाती है, अतः सर्वांगीणता या एक देश इन दो पक्षों में उपादान किये गये दोषों का अभाव विचार लिया जाता है, तब तो हम जैन कहेंगे कि तिस ही कारण से तुम्हारी रूपाणुओं के समान हमारे यहां मानी गयी परमाणुओं का भी उसी तीसरे प्रकार करके यानी कथंचित् एकदेश और कथंचित् सर्वदेश अथवा स्निग्धरूक्षपन इस ढंग करके-सम्बन्ध स्वीकार कर लिया जाता है, इस कारण उस पक्ष में उपादान किये गये दोषों का अभाव समान है।

अर्थात्—आठ प्रदेश वाली परमाणु को मानने वालों के यहां जिस ढंग से अनवस्था दोष का निवारण कर दिया जाता है, तथा पिण्ड के अणुमात्र होजाने और परम स्कन्ध की प्रतीति नहीं होसकने का जैसे निवारण किया जाता है, उसी नीति के अनुसार एक प्रदेश वाली परमाणु को स्वीकार करने वाले जैनों के यहाँ भी उक्त दोषों का परिहार होजाता है, सूत्रकार द्वारा इसी अध्याय में स्निग्ध रूक्षपने से बन्ध होता है, "स्निग्धरूक्षत्वाद्बंधः" इस प्रकार परमाणुओं की बन्ध परिणति का कारण कह दिया जायगा, वह स्निग्ध रूक्ष पर्यायों के अविभाग-प्रतिच्छेदों का द्व्यधिकपना स्वरूप परिणाम-विशेष ही तीसरा प्रकार है, जो कि एकदेशेन संसर्ग कराता हुआ परमाणुओं करके बड़े पिण्ड को बना देता है, और कदाचित् अनेक परमाणुओं का पिण्ड सर्वात्मना संसर्ग होजाने पर अणुमात्र ही रह जाता है, तभी तो इस छोटे से लोक में अनन्तानन्त परमाणुयें निरापद विराजमान हैं, विचित्र विचित्र कारणों से पदार्थों की अनेक प्रकार परिणतियां बन बैठती हैं। अनेकान्तवादियों के यहाँ एक देश और सर्व देश दोनों पक्ष स्वीकृत होजाते हैं। हां उन पक्षों के घटना की पद्धति को समझ लेने पर पुनः अवयवी और अवयवों के कार्यकारणभाव में कोई शंका नहीं रहती है उस न्यारे प्रकार को सूत्रकार स्वयं कहेंगे, इस कारण यहाँ श्री विद्यानन्द स्वामी करके इस विषय में कुछ नहीं कहा जाता है।

विद्यादजीवकायानां द्रव्यत्वादिस्वभावतां ।
एवं प्राधान्यतः प्रोक्तां समासात् सुनयान्विताम् ॥ ५ ॥

अजीव कायों के सुनयों करके अन्वित होरहे और संक्षेप से ग्यारह सूत्रों द्वारा इस प्रकार अच्छे कहे जा चुके प्रधानरूप से द्रव्यत्व, नित्यपन, रूपित्व, निष्क्रियत्व आदि स्वभावों को समझ लिया जाय ।

धर्मादीनामजीवकायानामादिसूत्रोक्तानां द्रव्यत्वस्वभावो जीवानां च प्राधान्येन वेदितव्यो गुणभावेन पर्यायत्वस्वभावस्यापि भावात् । शुद्धद्रव्यस्य हि सन्मात्रदेहस्य पर्याया एवाजीवकाया जीवाश्च तस्यैकस्यानंतपर्यायस्यातिसंक्षेपतोभिमतत्वात् । एकं द्रव्यमनंतपर्यायमिति वचनात् ।

पंचम अध्याय के "अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः" इस आदिसूत्र में कहे जा चुके धर्म, अधर्म, आदि का द्वितीय सूत्र द्वारा कहा गया द्रव्यपन-स्वभाव, और तृतीयसूत्र द्वारा कहा गया जीवों का भी द्रव्यपन स्वभाव, प्रधानता करके समझ लेने योग्य है, क्योंकि गौण रूप से उक्त धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीवद्रव्यों के पर्यायपन स्वभाव का भी सद्भाव है, अर्थात्—एकान्त रूप से इन सब को द्रव्य ही कहते जाना ठीक नहीं है, ये किसी अपेक्षा पर्याय भी हैं जब कि सिद्धान्त शास्त्रों में इस प्रकार निर्णीत है, कि "सत्" केवल इतने ही शरीर को धार रहे शुद्ध द्रव्य की ये अजीव काय और जीव सब पर्याय ही हैं उस अनन्त पर्यायों वाले एक सत् का अतिसंक्षेप से कथन करना अभीष्ट है, एक द्रव्य है, और उसकी अनन्ती पर्यायें हैं, इस प्रकार प्राचीन शास्त्रों में कहा गया है । भावार्थ — "अंश--कल्पनं पर्यायः" अंशों की कल्पना करना यह पर्याय का सिद्धान्त-लक्षण है । शुद्ध संग्रहनय की अपेक्षा एक ही सत् स्वरूप वस्तु के ये जीव, धर्म, आदि सब पर्यायें हैं, "सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणन्तपज्जाया ? भंगोप्पादधुवत्था सप्पडिवक्खा हवदि एक्का" ऐसा श्री कुन्दकुन्द स्वामी का वचन है, अतः स्याद्वादसिद्धान्त अनुसार अपनी पर्यायों की अपेक्षा तो ये धर्म आदिक पर्यायें हैं ही किन्तु सत् पदार्थ के अंश होने के कारण भी ये पर्यायें हैं, हाँ इनमें पर्यायपना गौण रूप से है, प्रधान रूप से ये स्वतंत्र न्यारे न्यारे अखण्ड असंकीर्ण द्रव्य ही हैं ।

तथा नित्यत्वावस्थितत्वारूपत्वैकद्रव्यत्वनिष्क्रियत्वस्वभावोऽपि प्राधान्येनैव तेषां गुणभावेनानित्यत्वानवस्थितत्वसरूपत्वानेकद्रव्यत्वस्वभावानामपि भावात् तेषामनुक्तानामपि गम्यमानत्वात् समासतोभिधानात् । तथैव सुनयान्वितत्वोपपत्तेरन्यथा दुर्नयान्वितत्वप्रसंगात् । द्रव्यार्थान्नित्यत्वेपि पर्यायार्थादेशादनित्यत्वोपगमादन्यथार्थक्रियाविरोधाद्वस्तुत्वायोगात् । तथा द्रव्यतोवस्थितत्वेपि पर्यायतोनवस्थितत्वसिद्धेरित्यवयवावस्थानाभावात् । तथा स्वरूपतो अरूपत्वेपि मूर्तिमद्द्रव्यसंबंधात्तेषां सरूपत्वव्यवहारात् ।

तथा इस पांचवे अध्याय में चौथे, पांचवे, छठवें, सातवें, सूत्रों द्वारा नित्यपन, अवस्थितपन,

अरूपपन, एकद्रव्यपन, निष्क्रियपन, स्वभाव भी प्रधानता करके ही उन धर्म आदिकों के समझने चाहिये, गौण रूप से धर्मादिकों के अनित्यपन, अनवस्थितपन, सरूपपन अनेकद्रव्यपन, स्वभावों का भी सद्भाव है, पुद्गल के रूपीपन के समान संसारी जीव का रूप-सहितपन स्वभाव भी वर्त्त रहा है, अतः सूत्र में नहीं कहे गये भी उन स्वभावों को अर्थापत्ति से जान लिया जाय। सूत्र में तो संक्षेप से ही कथन हुआ करता है। तिस प्रकार कथन करने पर ही सुनयों से अन्वितपना बन सकता है अन्यथा यानी सूत्र में कहे गये स्वभावों का ही एकान्तरूप से हठ किया जायगा तो दुर्नयों से अन्वितपन का प्रसंग आवेगा देखिये द्रव्य को ही विषय करनेवाले द्रव्यार्थिक नय से उन धर्मादिकों का नित्यपना होते हुये भी पर्यायार्थिक नय अनुसार कथन करने से उनका अनित्यपना स्वीकार किया जाता है, अन्यथा यानी सर्वथा कूटस्थ नित्यद्रव्यपन मानने पर तो धर्म आदिकों में अर्थ--क्रिया होजाने का विरोध होने से वस्तुपन का अयोग होजायगा। तथा द्रव्यरूप से अवस्थित होते हुये भी पर्यायरूप से धर्म आदिकों का अनवस्थितपना सिद्ध होरहा है, इस कारण अवयवों का नियत अवस्थान नहीं होसका अर्थात्— द्रव्यें तो इयत् परिमाण रूप से नियत होरहीं परिगणित हैं किन्तु पर्यायें अवस्थित नहीं हैं। तिसी प्रकार स्वकीय स्वरूप से धर्मादिकों का रूपरहितपना होते हुये भी मूर्तिमान् द्रव्यों के साथ सम्बन्ध होजाने से उन धर्मादिकों के गौणरूपेण रूपसहितपन का व्यवहार कर लिया जाता है।

तथैकद्रव्यत्वेपि विभागापेक्षया तद्विभागविवक्षायामनेकद्रव्यत्वोपपत्तेः। परिस्पंद-क्रियया निष्क्रियत्वेपि तथाभवस्थितत्वादिक्रियया सक्रियत्वात्। एवमसंख्येयप्रदेशत्वादयोपि प्रधानभावेनैव धर्मादीनां गुणभावेन संख्येयप्रदेशत्वादिस्वभावानामप्यविरोधात् परिमिततद्भा-वापेक्षया संख्योपपत्तेरिति सर्वत्र स्यात्कारः सत्यलांछनो द्रष्टव्यस्तस्यानुक्तस्यापि सामर्थ्यात् सर्वत्र प्रतीयमानत्वादिति प्रकरणार्थोपसंहृतिः।

तथा "आ आकाशादेकद्रव्याणि" यों एकद्रव्यपन होते हुये भी विभाग की अपेक्षा करके उन धर्म आदिकों के विभाग की विवक्षा करने पर अनेकद्रव्यपना भी युक्तिसिद्ध है, अतः गौणरूप से धर्म, अधर्म, और आकाश का अनेकद्रव्यपना स्वभाव भी मान लिया जाय। तथा हलना, चलना, भ्रमण करना, चढ़ना, उतरना, आदि परिस्पन्दरूप क्रिया करके उन धर्म, अधर्म, आकाश, द्रव्यों का निष्क्रियपना है तो भी धात्वर्थस्वरूप, अवस्थितपन, अस्तित्व, द्रवण आदि अपरिस्पन्द रूप क्रियाओं करके क्रियासहितपना है, इसी प्रकार आठवें, नवमें सूत्रों करके कहे गहे धर्म आदिकों के असंख्येय-प्रदेशीपन आदिक स्वभाव भी प्रधानरूप करके ही समझे जांय गौणरूपसे तो संख्यातेप्रदेशोंसे सहितपन आदि स्वभावों का भी कोई विरोध नहीं है परिमित होरहे उन उन भावों की अपेक्षा करके धर्म आदिकों के अल्पदेशीय प्रदेशों की संख्या करना बन जाता है इस प्रकार सभी स्थलों पर सत्य का अमोघ चिन्ह होरहा स्यात्कार देख लेना चाहिये शब्दों द्वारा नहीं कहे गये भी उस स्यात्कार की केवल अन्य उक्त शब्दों की सामर्थ्य से सर्वत्र प्रतीति कर ली जाती है।

वस्तु के चाहे किसी भी स्वभाव का निरूपण किया जाय वहां कण्ठोक्त नहीं कहनेपरभी अनेकान्त का द्योतक स्यात्पद उपस्थित होजाता है, अतः पांचवें अध्याय के उक्त ग्यारह सूत्रों द्वारा कहे गये स्वभावों में स्याद्वादसिद्धान्त की योजना कर लेनी चाहिये। इस प्रकार प्रकरणप्राप्त अर्थ का उपसंहार होचुका है, अब सूत्रकार दूसरे प्रकरण का प्रारम्भ करते हैं।

अब कहे जा चुके धर्म, अधर्म, आकाश, जीव, आदि द्रव्यों के अधिकरण की प्रतिपत्ति कराने के लिये सूत्रकार इस अगले सूत्र को कहते हैं—

लोकाकाशेऽवगाहः ॥ १२ ॥

धर्म, अधर्म आदि द्रव्यों का इस तीन सौ तेतालीस घन राजू प्रमाण लोकाकाश में अवकाश होरहा है। बाहर अलोकाकाश में नहीं।

धर्मादीनामित्यभिसंबंधः प्रकृतत्वादर्थवशाद्विभक्तिपरिणामात्। लोकेन युक्तमाकाशं तत्रावगाहः। कुत इत्याह।

पूर्व सूत्रों के अनुसार धर्म, अधर्म, आदिकों का प्रकरणप्राप्त होने से यों उद्देश्य दल की ओर सम्बन्ध कर लिया जाता है कि धर्मादिकों का लोकाकाश में अवगाह है। आद्यसूत्र में और तृतीयसूत्र में प्रथमा विभक्ति वाले धर्म आदिकों का वचन है, किन्तु कृदन्त अवगाह क्रिया की अपेक्षा षष्ठ्यन्त पद की आवश्यकता है, अतः अर्थ के वश से विभक्ति का बदलकर विपरिणाम कर लिया जाता है, धर्म, अधर्म पुद्गल, जीव काल इन पांच द्रव्यों का समुदाय लोक है, लोक करके युक्त होरहा जो ठीक मध्यवर्ती आकाश है, वह लोकाकाश है, उस लोकाकाश में धर्म आदिकों का अवगाहन होरहा है, जैसे कि समुद्र में जल, मगर, मछली, आदि का अवगाह होरहा है। कोई आतुर पुरुष पूछता है कि यह लोकाकाश में धर्म आदि द्रव्यों का अवगाह होरहा भला किस प्रमाण से निर्णीत किया जाय ? यों जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार उत्तर वार्त्तिक को कहते हैं।

लोकाकाशेवगाहः स्यात्सर्वेषामवगाहिनां।
बाह्यतोसम्भवात्तस्माल्लोकत्वस्यानुषंगतः ॥ १ ॥

अवगाह करने वाले सम्पूर्ण पदार्थों का लोकाकाश में अवगाह है, उस लोक से बाहर आकाश से अतिरिक्त किसी भी द्रव्य के अवगाह का असम्भव है, यदि लोक से बाहर अलोकाकाश में भी कुछ द्रव्यों का अवगाह माना जायगा तो उस अलोकको लोकपन का प्रसंग होजायगा।

न हि लोकाकाशाद्बाह्यतो धर्मादयोऽवगाहिनः संभवन्त्यलोकाकाशस्यापि लोकाकाशत्वप्रसंगात्। ननु च यथा धर्मादीनां लोकाकाशेऽवगाहस्तथा लोकाकाशस्यान्यस्मिन्नधिकरणेऽवगाहेन भवितव्यं तस्याप्यन्यस्मिन्नित्यनवस्था स्यात्, तस्य स्वरूपेवगाहे सर्वेषां स्वात्मन्यवावगाहोस्त्वित्याशंकायामिदमुच्यते।

लोकाकाश से बाहर की ओर अवगाह करने वाले धर्म आदिक द्रव्य नहीं सम्भवते हैं, अन्यथा अलोकाकाश को भी लोकाकाशपन का प्रसंग आवेगा जो कि किसी भी वादी प्रतिवादी, को इष्ट नहीं है। पुनः यहाँ किसी का प्रश्न है कि जिस प्रकार धर्मादिकों का लोकाकाश में अवगाह है उसी

प्रकार लोकाकाश का किसी अन्य अधिकरण में अवगाह होना चाहिये और उस अन्य का भी किसी तीसरे निराले अधिकरण में अवगाह होना चाहिये, तीसरे का भी चौथे आदि में अवगाह मानते मानते अनवस्था दोष होगा। यदि उस अनवस्था दोष के निराकरण के लिये उस लोकाकाश का स्वकीय निज रूपमें अवगाह माना जायगा तब तो उसी प्रकार सम्पूर्ण द्रव्यों का अपनी अपनी निज आत्मा (शरीर) में ही अवगाह होजाओ, व्यर्थ में अधिकरणों के निरूपण की क्या आवश्यकता है ? इस प्रकार आशंका उपस्थित होने पर ग्रन्थकार करके यह समाधान कारक वार्तिक कहा जाता है।

लोकाकाशस्य नान्यस्मिन्नवगाहः क्वचिन्मतः। आकाशस्य विभुत्वेन स्वप्रतिष्ठत्वसिद्धितः ॥ २ ॥

लोकाकाश का फिर कहीं भी अन्य अधिकरण में अवगाह होना नहीं माना गया है क्योंकि आकाश सर्व-व्यापक है इस कारण आकाश के स्व में ही प्रतिष्ठित बने रहने की सिद्धि होचुकी है। भावार्थ—अनन्तानन्त राजू लम्बा, इतना ही चौड़ा, और ठीक इतना ही ऊंचा, समघन चतुरस्र आकाश द्रव्य है, उसके ठीक मध्य के चौदह राजू ऊंचा तथा दक्षिण उत्तर सात राजू लम्बा और पूर्व पश्चिम सात, एक, पांच, एक राजू चौड़ा इतना तीनसौ तेतालीस घन राजू प्रमाण भाग को लोकाकाश कल्पित कर लिया है लोकाकाश और अलोकाकाश का अभेद सम्बन्ध है, आकाश द्रव्य व्यापक है उससे बड़ा कोई द्रव्य नहीं है जो कि आकाश का आधार होसकता था, अतः आकाश द्रव्य स्वप्रतिष्ठित है, और अन्य द्रव्यों का उस आकाश में अवगाह है। आचारसार और त्रिलोकसार में अलोकाकाश को बरफी के समान घनसमचतुरस्र सिद्ध किया है।

ततो नानवस्था नापि सर्वेषां स्वात्मन्येवावगाहस्तेषामविभुत्वात्, परस्मिन्नधिकरणेऽवगाहोपपत्तेरन्यथाधाराधेयव्यवहाराभावात्।

जिस कारण से यानी आकाश के स्वप्रतिष्ठितपन की सिद्धि होजाने से अनवस्था दोष नहीं आता है, तथा सम्पूर्ण द्रव्यों के स्वकीय स्वरूप में ही अवगाह होजाने का प्रसंग भी नहीं आता है क्योंकि वे धर्म आदिक पांच द्रव्यें अव्यापक हैं, अतः अव्यापक पदार्थों का दूसरे व्यापक अधिकरण में अवगाह होना युक्ति-सिद्ध है, अन्यथा यानी-दूसरे पदार्थों में द्रव्यों का अवगाह नहीं मान कर निश्चय नय अनुसार स्वात्मा में ही सब का अवगाह माना जायगा तो जगत् प्रसिद्ध आधार आधेयपन के व्यवहार का अभाव होजायगा जो कि इष्ट नहीं है ? अतः प्रमाणदृष्टि और व्यवहार नय के अनुसार जो व्यवस्था है उसकी प्रतिपत्ति करो।

उस लोकाकाश में अवगाहितपने करके अवधारण किये जा रहे न्यारी न्यारी द्रव्यों के अवस्थान का भेद होना सम्भव है, अतः उस विशेष अवस्थान की प्रतिपत्ति कराने के लिये सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्र को कहते हैं।

धर्माधर्मयोः कृत्स्ने ॥ १३ ॥

सम्पूर्ण लोकाकाश में अन्तरालरहितपने करके धर्म और अधर्म द्रव्य का अवगाह होरहा है।

लोकाकाशेवगाह इत्यनुवर्तनीयं । कृत्स्न इति वचनात्तदेकदेश एव धर्माधर्मयोरवगाहो व्युदस्तः । कुतस्तौ कृत्स्नलोकाकाशावगाहिनौ सिद्धावित्याह ।

लोकाकाश में अवगाह है, इस प्रकार पूर्व सूत्रोक्त पदों की यहां अनुवृत्ति कर लेनी चाहिये सम्पूर्ण लोकाकाश में अवगाह है इस प्रकार कथन कर देने से उस लोकाकाश के एक ही देश में धर्म और अधर्म के अवगाह का निराकरण किया जा चुका है। यहां किसी जिज्ञासु का प्रश्न है कि किस कारण से वे धर्म और अधर्म द्रव्य सम्पूर्ण लोकाकाश में अवगाह होरहे सिद्ध हैं, बताओ ? ऐसी जिज्ञासा होने पर श्रीविद्यानन्द आचार्य उत्तर-वार्तिक को कहते हैं।

धर्माधर्मौ मतौ कृत्स्नलोकाकाशावगाहिनौ ।
गच्छत्तिष्ठत्पदार्थानां सर्वेषामुपकारतः ॥ १ ॥

धर्म और अधर्म द्रव्य तो सम्पूर्ण लोकाकाश में अवगाह करने वाले माने गये हैं (प्रतिज्ञा) क्योंकि गमन कर रहे और ठहर रहे सम्पूर्ण पदार्थों का उपकार किया जा रहा होने से। भावार्थ— सम्पूर्ण लोकाकाश में गमन कर रहे पदार्थों का उपकार धर्म द्रव्य से होता है, और ठहर रहे पदार्थों का ठहरा देना-स्वरूप उपकार अधर्म द्रव्य करके होता है, अतः ये दोनों द्रव्य लोकाकाश में ठसाठस अवगाह कर रहीं मानी गयी हैं।

न हि लोकत्रयवर्तिनां पदार्थानां सर्वेषां गतिपरिणामिनां स्थितिपरिणामिनां च गतिस्थित्युपग्रहो युगपदुपकारो धर्माधर्मयोरेकदेशवर्तिनोः संभवत्यलोकाकाशेपि तद्गतिस्थितिप्रसंगात् । ततो लोकाकाशे गच्छत्तिष्ठत्पदार्थानां सर्वेषां गतिस्थित्युपकारमिच्छता धर्माधर्मयोः कृत्स्ने लोकाकाशेऽवगाहोभ्युपगंतव्यः ।

देखो बात यह है कि गति नामक परिणाम को धार रहे और स्थिति नामक परिणति को प्राप्त कर रहे लोकत्रयवर्ती यथायोग्य सम्पूर्ण पदार्थों के गति-उपग्रह और स्थिति-उपग्रह ये एक साथ होरहे उपकार तो एक एक देश में वर्तरहे धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्यके द्वारा नहीं सम्भवते हैं। अन्यथा अलोकाकाक में भी उन पदार्थों की गति और स्थिति होने का प्रसंग आजावेगा अर्थात्—एक देश में ठहर रहे धर्म या अधर्म द्रव्य यदि पूरे लोकाकाश में पदार्थों की गति या स्थिति को करा देवेंगे तब तो यहां एक कोने में बैठ कर अलोकाकाश में भी पदार्थों को चला देंगे या ठहरा देंगे ऐसी दशा में अलोकाकाश में भी जीव और पुद्गल का गमन या स्थापन होजाने से लोक, अलोक, का विभाग नहीं बन सकेगा तिस कारण लोकाकाश में ही गमन करते हुये और ठहरते हुये सम्पूर्ण पदार्थों के गति-उपकार या स्थिति-उपकार को चाहने वाले पण्डित करके धर्म और अधर्म द्रव्य का सम्पूर्ण लोकाकाश में अवगाह होना स्वीकार कर लेना चाहिये।

लोकाकाश में [illegible] प्रतिपादन कर अब उनसे विपरीत मूर्तिमान् अप्रदेश अणु और संख्यात, असंख्यात, अनन्त प्रदेशों वाले पुद्गल द्रव्यों के अवगाह की विशेष प्रतिपत्ति कराने के लिये ग्रन्थकार अगले सूत्र को कहते हैं ।

एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानाम् ॥ १४ ॥

एक प्रदेश को आदि कर संख्यात, असंख्यात, प्रदेशों में पुद्गल द्रव्यों का अवगाह विकल्पनीय है । अर्थात्—तद्गुणसंविज्ञान वृत्ति द्वारा एक प्रदेश भी पकड़ लिया जाता है, एक आकाश के प्रदेश में एक परमाणु का अवगाह है । और बद्ध या अबद्ध होरहे दो, तीन, सैकड़ों, असंख्याते, अनन्ते परमाणुओं का भी अवगाह है, दो प्रदेशों पर दो, तीन, संख्याते, असंख्याते, अनन्ते, बद्ध या अबद्ध परमाणुओं का अवगाह है, हां तीन प्रदेशों पर तीन, चार, संख्यात आदिक बद्ध या अबद्ध परमाणुओं का अवकाश है । दो प्रदेशों पर एक परमाणु कथमपि नहीं ठहर सकती है । तीन परमाणु यदि दो प्रदेशों पर ठहरेंगी तो अबद्ध दशा में एक प्रदेश पर दो और दूसरे प्रदेश पर एक यों तीन परमाणु ठहर जायगी किन्तु दो प्रदेशोंमें एक, एक प्रदेश पर डेढ़ डेढ़का बांट होकर तीन परमाणु नहीं ठहर पाते हैं, तीन परमाणुओंका बन्ध होजाने पर तो एक नवीन अशुद्ध पुद्गल पर्याय उपज जाती है । अतः एक त्र्यणुक अवयवी का एक प्रदेश में या दो प्रदेशों में अथवा तीन प्रदेशों में अवस्थान होजाता है । एक परमाणु का दूसरे या तीसरे परमाणु के साथ सर्वात्मना बन्ध होजाने पर त्र्यणुक केवल परमाणु के बराबर आकार वाला बन जायगा । तथा एक परमाणु के साथ दूसरे परमाणु का सर्वात्मना बन्ध होजाने पर और तीसरे का एक देश से बन्ध होजाने पर त्र्यणुक का संस्थान द्विप्रदेशी द्व्यणुक के समान होगा, हां तीनों अणुओं का एकदेशेन बन्ध होजाने पर त्र्यणुक तीन प्रदेशों को घेर कर बैठ जावेगा । शक्ति रूप से परमाणु के छः अंश साधे जा चुके हैं । अतः अप्रदेश अणु का भी एकदेशेन या सर्वात्मना बन्ध या संयोग मान लेना अनिष्टापत्ति नहीं है । एवं अनेक जातीय पुद्गल स्कन्धों का लोकाकाश में एक, दो, सौ, आदि संख्यात, असंख्यात प्रदेशों में अवगाह होरहा है अवगाह शक्ति के योग से अनन्तानन्त बादर या सूक्ष्म पुद्गल इस असंख्यात–प्रदेशी लोकाकाश में निर्विघ्न विराज रहे हैं ।

अवगाह इत्यनुवर्तते लोकाकाशस्येत्यर्थवशाद्विभक्तिपरिणामः तेन लोकाकाशस्यैकप्रदेशेष्वसंख्येयेषु च पुद्गलानामवगाह इति वाक्यार्थः सिद्धः । कथमित्याह—

"लोकाकाशेऽवगाहः" इस सूत्र से यहां "अवगाह" इस शब्द की अनुवृत्ति करली जाती है, और लोकाकाशे इस सप्तमी विभक्ति वाले पद की विभक्तिका अर्थ के वशसे षष्ठी विभक्ति रूप परिवर्तन कर लिया जाता है तिस कारण इस प्रकार वाक्य का अर्थ सिद्ध होजाता है कि लोकाकाश के एक, दो, तीन, आदि संख्यात प्रदेशों में एक, दो, तीन, आदि संख्याते या असंख्याते अथवा अनन्ते परमाणुओं का अथवा इन से बने हुये स्कंधों का अवगाह है । तथा लोकाकाश के असंख्यात प्रदेशों पर असंख्याते या अनन्त परमाणुओं अथवा इन से बने हुये पुद्गल स्कन्धों का अवगाह है । कोई पूछता है कि इस प्रकार थोड़े से प्रदेशों पर बहुत से अणु या स्कन्धोंका अवगाह होजाना भला किस

प्रकार समझ लिया जाय ? ऐसी जिज्ञासा होने पर श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिकों द्वारा उत्तर को कहते हैं।

तस्यैवैकप्रदेशोस्ति यथैकस्यावगाहनं
परमाणोस्तथानेकाणुस्कंधानां च सौक्ष्म्यतः ॥ १ ॥
तथा चैकप्रदेशादिस्तेषां प्रतिविभिद्यतां ।
सोवगाहो यथायोग्यं पुद्गलानामशेषतः ॥ २ ॥

उस ही लोकाकाश के एक प्रदेशमें जिस प्रकार एक परमाणु का अवगाह होरहा है, तिसी प्रकार अनेक अणु अथवा अनेक स्कन्धों का भी सूक्ष्म परिणाम होजाने से अवगाह होजाता है और तिस प्रकार उन पुद्गलों का सम्पूर्ण रूप से वह एक प्रदेश आदि में होरहा अवगाह यथायोग्य प्रत्येक में विभाग प्राप्त कर लिया जाओ अथवा प्रत्येक [illegible] यथायोग्य एक प्रदेश आदि अवगाहस्थान हैं, उसी को सूत्रकार ने कहा है कि आकाश के एक प्रदेश, दो प्रदेश, संख्यात आदि प्रदेशों में पुद्गलों का अवगाह भजनीय है।

तस्यैव लोकाकाशस्यैकप्रदेशे यथैकस्य परमाणोरवगाहनमस्ति निर्बाधं तथा द्व्यादिसंख्येयानां स्कंधानामपि परमसौक्ष्म्यपरिणामानां। तद्वद्व्यादिप्रदेशेषु च यथैकत्वपरिणामनिरुत्सुकानां द्व्यादिपरमाणूनामवगाहस्तथा द्व्यादिसंख्येयासंख्येयानन्तपरमाणुमयस्कंधानामपि तादृशात् सौक्ष्म्यपरिणामादित्यशेषतो यथायोगं प्रविभज्यतां।

असंख्यात-प्रदेशी उस ही लोकाकाश के एक प्रदेश में जिस प्रकार एक परमाणु का बाधा रहित होकर अवगाहन होरहा है, तिसी से प्रकार उस एक प्रदेश में दो, तीन, सौ, लाख, कोटि, संख्याते परमाणुओं और स्कन्धों का भी परमसूक्ष्मपन परिणामवालों का अवगाह होरहा है, असंख्याते और अनन्ते भी परमाणुओं और स्कंधों का अवगाह है। और उसी एक प्रदेश के समान दो, तीन, आदि प्रदेशों में जिस प्रकार एकत्व परिणति के उत्सुक नहीं होरहे दो, तीन, संख्यात, असंख्यात, आदि अबद्ध परमाणुओं का अवगाह है, तिसी प्रकार उन दो आदि प्रदेशों में दो, तीन, पचास, हजार, खर्ब, संख्यात, असंख्यात, अनन्ते, परमाणुओं से तादात्म्य रखते हुये तन्मय होरहे स्कन्धों का भी अवगाह होना समझ लिया जाय, उन परमाणुओंके ही समान तिसी जातिके सूक्ष्मपन परिणाम से पुद्गल का अशेष रूप से यथायोग्य होरहे अवकाशकी अच्छी विकल्पना कर ली जाओ, कोई विरोध नहीं आता है।

न च पुद्गलस्कंधानाम् तादृशसौक्ष्म्यपरिणामोऽसिद्धः स्थूलानामपि शिथिलावयवकर्पासपिंडादीनां निविडावयवदशायां सौक्ष्म्यदर्शनात्, कूष्मांडमातुलुंगबिल्वामलकबदिरसौक्ष्म्यतारतम्यदर्शनाच्च क्वचित्कार्मणस्कंधादिषु परमसौक्ष्म्यानुमानात् महत्त्वतारतम्यदर्शनात् क्वचित्परममहत्त्वानुमानवत्।

यहां कोई यदि यों कटाक्ष करें कि पुद्गलस्कन्धों का तिन परमाणुओं के समान सूक्ष्मता स्वरूप परिणाम हो जाना तो असिद्ध है, ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कटाक्ष उचित नहीं है कारण कि स्थूल होरहे भी शिथिल अवयव वाले कपासनिर्मित रुई के पिण्ड, बुरादा, रेत, आदि स्कन्धों का दबा देने पर कठिन अवयवों के संयोग होजाने की दशा में सूक्ष्मपना देखा जाता है। तथा कूष्माण्ड-(तौमरा) बिजौरा, बेल, आमला, मर्रबेका, मिरच, कायफिरस, रीठा आदि में सूक्ष्मपना का तरतमपना देखा जाता है, अतः किन्हीं २ ज्ञानावरण आदि कर्मों के पिण्डभूत कार्मणस्कंध, तैजस शरीर आदि में भी परमसूक्ष्मपन का अनुमान कर लिया जाता है जैसे कि पोस्त, मूंग, मटर, सुपारी बहेड़ा, अमरूद, खरबूजा, पेठा, घड़ा, कोठा, प्रासाद, पर्वत आदि में बड़प्पन के तरतमभाव का दर्शन होने से कहीं आकाश में परम महापरिमाण का अनुमान होजाता है। एक घर में सैकड़ों दीपकों के प्रकाश भरपूर होकर समाजाते हैं, बात यह है कि ऊंटनी के दूध से भरे हुये पात्र में उतना ही मधु (शहद) आजाता है, दूध में बूरा समा जाता है बुभुक्षित पारा सोने को खा जाता है और बोझ उतना ही रहता है, बालू, रेत, या राख में पानी समा जाता है, इत्यादि स्थूल पदार्थ भी अन्य स्थूल पदार्थों को जब अवकाश दे रहे हैं तो सूक्ष्मपरिणामधारी अनन्ते पदार्थों का आकाश के एक, दो, तीन आदि संख्यात, असंख्यात, प्रदेशों पर अवगाह होजाने में कौन आश्चर्य है ? । अतः असंख्यात-प्रदेशी लोकाकाश में अनन्तानन्त बादरपुद्गलों और सूक्ष्म पुद्गलों का निराबाध अवस्थान होरहा है।

पुद्गलों का अवगाह ज्ञात कर लिया अब क्रमप्राप्त जीव द्रव्यों का अवगाह किस प्रकार है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्र को कहते हैं।

असंख्येयभागादिषु जीवानाम् ॥ १५ ॥

उस लोकाकाश के एक असंख्यातवें भाग को आदि लेकर पूरे लोकाकाश तक असंख्यात प्रकार के स्थानों में जीवों का अवगाह होरहा समझ लेना चाहिये।

लोकाकाशस्येति संबंधनीयं अवगाहो भाज्य इति चानुवर्तते। तेनासंख्येयभागे असंख्येयप्रदेशे कस्यचिज्जीवस्य सर्वजघन्यशरीरस्य नित्यनिगोतस्यावगाहः, कस्यचिद्द्वयोरतदसंख्येयभागयोः कस्यचित्त्र्यादिषु सर्वस्मिंश्च लोके स्यादित्युक्तं भवति।

सप्तमी विभक्ति के स्थान में बदली हुयी षष्ठी विभक्ति वाले "लोकाकाशका" इस प्रकार यहां सम्बन्ध कर लेने योग्य है, अवगाह और भाज्य इन दो पदों की भी यहां पूर्व सूत्र से अनुवृत्ति करली जाती है, तिस कारण इस सूत्र का वाक्य बनाकर अर्थ यों होजाता है कि उस लोकाकाश के असंख्येय प्रदेश वाले होरहे तद्योग्य असंख्यातवें भाग में किसी एक जीव का यानी शरीर की सब से छोटी जघन्य अवगाहना वाले नित्यनिगोदिया का अवगाह होरहा है और किसी एक जीव का लोक के दो असंख्यातवें भागों में अवकाश होरहा है। एवं किसी किसी जीव का लोकाकाश के तीन, चार, संख्याते, असंख्याते, उन असंख्येय भागों में अवस्थान होरहा है, केवलि समुद्घात करते समय लोकपूरण अवस्था में तो सम्पूर्ण लोक में वह एक जीव फैल जाता है, यह इस सूत्र द्वारा कहा गया समझा जाता है।

भावार्थ—कोई भी जीव किसी भी पर्याय में असंख्यातप्रदेशों से कमती एक, दो, सौ, लाख, संख्याते प्रदेशों में नहीं ठहर पाता है, जीव की सब से छोटी व्यंजनपर्याय भी असंख्यात प्रदेशों को घेर रही है, सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग में भी असंख्याती उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी के समयों से अत्यधिक प्रदेश विद्यमान हैं। सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के उत्पन्न होने के पश्चात् तीसरे समय में घनांगुलके असंख्यातवें भाग स्वरूप सब से छोटी जघन्य अवगाहना है, इस अवगाहना से एक, दो, आदि या असंख्याते प्रदेशों बढ़ती हुयी अगले समयों में इसी जीव की अथवा अन्य जीवों की भी अवगाहनायें हैं, सूक्ष्म निगोदिया की अवगाहना से दूनी अवगाहना को या तिगुनी अवगाहना को लोकाकाश के दो या तीन असंख्यातवें भाग कहा जा सकता है किन्तु जघन्य अवगाहना से एक, दो, पांच, सौ, संख्याते, प्रदेशों से बढ़ी हुयी अवगाहना को तो एक संख्यातवें भाग और दो असंख्यातवें भागों की मध्यम दशा समझना और इस माध्यम को चार, पांच, आदि के बीचों में भी लागू कर लेना चाहिये।

सूत्रकार या व्याख्याकार ने इनका कण्ठोक्त निरूपण नहीं किया है फिर भी "तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते" अनुसार उन सब का ग्रहण होजाता है। एक बात यह भी है कि जब लोक के सैंकड़ों या असंख्याते, असंख्याते भागों को मिला देने पर भी लोक का असंख्यातवां भाग रक्षित रह जाता है तो जघन्य अवगाहना के ऊपर दो, चार, दस, बीस, पचास, प्रदेशों के बढ़ जाने पर लोक के असंख्यातवें भाग में कोई क्षति नहीं आती है, इसी प्रकार अवगाहनाओं के बढ़ते बढ़ते घनांगुल का संख्यातवां भाग, पूराघनांगुल, संख्यातेघनांगुल, होता हुआ महामत्स्य का साढ़े बारह करोड़, योजन क्षेत्रफल वाला जीवसंस्थान होजाता है, मारणान्तिक समुद्घात या दण्ड कपाट, प्रतर, अवस्थाओं में लोक का बहुत बड़ा असंख्यातवां भाग या संख्यातवां भाग अथवा कुछ कम लोक बराबर भी जीव की अवगाहना होजाती है जो कि लोकाकाश के उतने उतने प्रदेशों को घेर लेती है।

नानाजीवानां केषांचित्साधारणशरीराणामेकस्मिन्नसंख्येयभागेऽवगाहः, केषांचिद्द्वयोः संख्येयभागयोस्त्र्यादिषु चासंख्येयभागेष्वपि भाज्योऽवगाहः।

साधारणशरीर वाले किन्हीं किन्हीं अनन्तानन्त जीवों का लोक के एक ही असंख्यातवें भाग में अवगाह है, और किन्हीं किन्हीं नाना जीवों का लोक के दो असंख्यातवें भागों में और तीन आदि यानी चार, सौ, संख्यात, असंख्याते, भी असंख्येय भागों में इस प्रकार अवगाह होजाना विकल्पनीय है। भावार्थ—साधारण नामक नामकर्म का उदय होने से बादर या सूक्ष्म जीव होजाते हैं, जिन अनन्तों जीवों का आहार श्वास, उच्छ्वास, जन्म, मरण, साधारण हैं, वे जीव साधारण निगोदिया हैं। इस लोक में असंख्यातलोक प्रमाण स्कन्ध हैं, एक एक स्कन्ध में असंख्यात लोक के प्रदेशों बराबर अण्डर हैं, एक एक अण्डर में असंख्यात लोक-प्रमाण आवास हैं, एक एक आवास में असंख्याती पुलवियां हैं, एक एक पुलवी में बादर निगोदिया जीवों के असंख्यात लोक प्रमाण शरीर हैं, एक एक शरीर में सिद्ध राशि से अनन्त गुणे अथवा अतीत काल के समयों से अनन्त गुणे निगोदिया जीव अपने स्वकीय शरीरों को लिये हुये भरे हुये हैं। ये अनेक जीव लोक के एक असंख्यातवें भाग दो, तीन, आदिअसंख्यातवें भागों में अवगाहित होरहे हैं।

न चैकस्य तदसंख्येयभागस्य द्व्याद्यसंख्येयभागानां चासंख्येय प्रदेशत्वाविशेषात्

सर्वजीवानां समानोवगाहः शंकनीयः । असंख्येयस्यासंख्येयविकल्पत्वात् । तन्मिद्धं लोकाकाशै-कासंख्येयप्रदेशपरिणमनत्वाद्द्वयाद्यसंख्येयभागानामिति नानारूपावगाहसिद्धिः ।

यदि यहां कोई यों शंका करे कि उस लोक के एक असंख्यातवें भाग का और दो, तीन, आदि असंख्यातवें भागों का जब असंख्येय प्रदेशपना अन्तररहित है । तब तो इस कारण सूक्ष्म जघन्य निगोदिया या सूक्ष्म वातकायिक जीव तथा कायिक, त्रीन्द्रियक, चतुरिन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, अप्रतिष्ठित प्रत्येक, महामत्स्य, अथवा समुद्घात करने वाले यों सम्पूर्ण जीवोंका अवगाह समान होजायगा । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह शंका तो नहीं करनी चाहिये असंख्यातके क्योंकि असंख्याते भेद हैं, जैसे कि संख्यातोंके संख्याते भेद होसकते हैं । अतः यह अनेक प्रकारोंका अवगाह होना सिद्ध होजाता है, लोकाकाश के भेद संख्याते दो, तीन, आदि संख्यात, असंख्याते भी असंख्येय भागोंकी परिणति लोकाकाशके एक असंख्येय भाग होरहे प्रदेशों स्वरूप होजाती है । अर्थात्—कई असंख्यातवें भाग मिलकर भी लोक का एक असंख्यातवां भाग बन जाता है । इस प्रकार अनेक जीवों के नाना स्वरूप अवगाहों की सिद्धि होजाती है । दसों के दसों भेद हैं, सैकड़ों के सैकड़ों प्रकार हैं, इसी प्रकार असंख्यातवें भागों के असंख्याते प्रभेद हैं ।

धर्मादीनां सकललोकाकाशाद्यवगाहवचनसामर्थ्याल्लोकाकाशस्यैकस्मिन्नेकस्मिन् प्रदेशे चैकैकस्य कालपरमाणोरवगाहः प्रतीयते तथा च सूत्रकारस्य नासंग्रहदोषः ।

धर्म, अधर्म, पुद्गल आदि द्रव्यों का सम्पूर्ण लोकाकाश या लोक के असंख्येय भाग आदि में अवगाह होजाने का सूत्रकारद्वारा कण्ठोक्त निरूपण करने की सामर्थ्य से यह प्रतीत होजाता है कि लोकाकाश के एक प्रदेश पर एक एक काल परमाणु का अवगाह होरहा है । और तिस प्रकार होने से सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज के ऊपर कोई 'नहीं संग्रह करने का' दोष लागू नहीं होता है ।

भावार्थ—सूत्रकार ने धर्म, अधर्म, पुद्गल, और जीव द्रव्यों के अवगाह का सूत्र द्वारा निरूपण किया है, आकाश द्रव्य तो स्वयं अपने में ही अवगाहित होरहा है । किन्तु छठे काल द्रव्य के अवकाशस्थान का सूत्र द्वारा निरूपण नहीं किया, अतः अवगाहित द्रव्यों का निरूपण करते हुये सूत्रकार ने काल द्रव्य का संग्रह नहीं करपाया है । यह असंग्रह दोष खटकने योग्य है । इस आक्षेप का उत्तर ग्रन्थकार लगे-हाथ यों दिये देते हैं, कि बहुत से प्रमेय बिना कहे ही अर्थापत्या उक्त शब्दों की सामर्थ्य से लब्ध होजाते हैं । जब कि धर्म, और अधर्म, का निवास स्थान पूरा लोक कहा, पश्चात् पुद्गलों का एक प्रदेश आदि अवगाह स्थान कहा, पुनः जीवों का असंख्येयभाग आदि कहा, ऐसी दशा में कालाणुओं का लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर स्थान पाजाना स्वतः ही लब्ध होजाता है, इस कारण असंग्रह दोष कथमपि नहीं आता है ।

ननु च लोकाकाशप्रमाणत्वे जीवस्य व्यवस्थापिते कथं तदसंख्येयभागावगाहनं न विरुध्यत इत्याशंक्याह ।

यहां किसी की शंका है कि " असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम् " इस सूत्र करके जीव के प्रदेशों की जब लोकाकाश प्रमाण व्यवस्था करा दी जा चुकी है, तो फिर उस लोक के असंख्यातवें

भाग आदि में जीव का अवगाह होजाना किस प्रकार भला विरुद्ध नहीं पड़ता है बताओ ? वैशेषिकों के विचार अनुसार सम्पूर्ण लोक में प्रत्येक जीव का व्यापक होकर अवगाह होना चाहिये ऐसी योग्य आशंका उपस्थित होजाने पर सूत्रकार इस अगले सूत्र को कहते हैं।

प्रदेशसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥१६॥

जीव सम्बन्धी प्रदेशों के संकोचन और प्रसारण से असंख्येय आदि भागों में जीव की वृत्ति होजाती है, जैसे कि प्रदीप का छोटे बड़े स्थलों में संहार और विसर्प हो जाने से अन्तराल-रहित अवकाश होजाता है। भावार्थ—छोटे घर में दीपक का प्रकाश पूर्ण रूप से उतने में समा जाता है और बड़े घर में वही प्रकाश अविरल फल कर समा जाता है। प्रदीप के निमित्त से हुआ प्रकाश भी प्रदीप का ही परिणाम है, अतः प्रदीप-आत्मक है। यद्यपि घर में फैलरहे अन्य पुद्गल स्कन्ध ही प्रकाशित स्वरूप परिणाम गये हैं, तो भी वह प्रदीप का ही शरीर है जैसे कि प्रचण्ड अग्नि को कारण मानकर हुये यहां वहां दूर तक के उष्णता वाले पदार्थ सब अग्नि के अंग माने जाते हैं। जल रहा काठ कुछ देर में सब का सब अग्नि होजाता है, अतः प्रदेशों के संहार या विसर्प में प्रदीप का दृष्टान्त अनुपयोगी नहीं है। यों दृष्टान्त के सभी धर्म तो दार्ष्टान्त में नहीं पाये जा सकते हैं। कुछ तो अन्तर रहना ही है, अन्यथा वह दृष्टान्त ही नहीं समझा जावेगा, दार्ष्टान्त बन बैठेगा।

असंख्येयभागादिषु जीवानामवगाहो भाज्य इति साध्यत इत्याह।

लोक के असंख्येय भाग आदिकों में जीवों का विकल्पना करने योग्य अवगाह होरहा है, यह यहां साधा जाता है (प्रतिज्ञा) प्रदेशसंहार-विसर्पाभ्याम् यह हेतु है, प्रदीप दृष्टान्त है। इसी बात को ग्रन्थकार वार्तिकों द्वारा कहते हैं।

न जीवानामसंख्येयभागादिष्ववगाहनं।
विरुद्धं तत्प्रदेशानां संहारात्प्रविसर्पतः॥ १ ॥
प्रदीपवदिति ज्ञेया व्यवहारनयाश्रया।
आधाराधेयतार्थानां निश्चयात्तदयोगतः॥ २ ॥

जीवों का लोक के असंख्यातवें भाग आदिकों में अवगाह होना विरुद्ध नहीं है (प्रतिज्ञा) उन जीवों के प्रदेशों का संहार होने से और विसर्प होने से (हेतु)। प्रदीप के समान (अन्वय-दृष्टान्त)। इस अनुमान-अनुसार पदार्थों के व्यवहार का अवलम्ब लेकर " आधार आधेयभाव " बन रहा जान लेना चाहिये, हां निश्चय नय से तो अर्थों के उस आधार आधेय भाव का योग नहीं है। भावार्थ—निश्चयनय से सम्पूर्ण पदार्थ अपने अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित हैं, न कोई किसी का आधार है और न कोई किसी का आधेय है, हां व्यवहार नय से आधार आधेय-व्यवस्था होरही है,

कस्य के समान जीव स्वकीय प्रदेशों का संकोच या विस्तार होजाने से लोकाकाश में अनेक अवगाहनाओं--अनुसार आश्रित होरहा है।

अमूर्तस्वभावस्याप्यात्मनोऽनादिसंबंधं प्रत्येकत्वात् कथंचिन्मूर्ततां बिभ्रतो लोकाकाशतुल्यप्रदेशस्यापि कार्मणशरीर-वशादुपात्तं सूक्ष्मशरीरमधितिष्ठतः शुष्कचर्मवत्संकोचनं प्रदेशानां संहारस्तस्यैव बादरशरीरमधितिष्ठतो जले तैलवद्विसर्पणं विप्रदेशानां सर्पस्ततोऽसंख्येयभागादिषु वृत्तिः प्रदीपवन्न विरुध्यते। न हि प्रदीपस्य निरावरणनभोदेशावधृतप्रकाशपरिमाणस्यापि शरावमाणिकापवरकाद्यावरणवशात् प्रकाशप्रदेशसंहारविसर्पौ कस्यचिदसिद्धौ यतो न दृष्टांतता स्यात्।

यद्यपि प्रत्येक आत्मा का निज स्वभाव अमूर्तपना है तथापि प्रवाह रूप से अनादि कालीन सम्बन्ध को प्राप्त होरहे पुद्गल के प्रति (साथ) कथंचित् एकपना होजाने से आत्मा कथंचित् मूर्तपन को धारण कर रहा है, लोकाकाश के प्रदेशों के समान असंख्यात प्रदेशों के धारी भी ऐसे मूर्त और कार्मण शरीर के वशसे ग्रहण किये गये सूक्ष्म शरीर को धारण कर रहे आत्मा का सूखे चमड़े समान संकुचित होजाना ही आत्माके प्रदेशोंका संहार है, संहारका अर्थ नाश नहीं है। और असंख्यात प्रदेशी, मूर्त, बादर शरीरमें अधिष्ठान करते हुये उस ही आत्माका जल में तैलके समान फैलजाना-रूप विसर्प ही प्रदेशों का प्रसर्प है, तिस कारण से प्रदीप के समान जीव का लोक के असंख्यातवें भाग आदि स्थानोंमें वर्त जाना विरुद्ध नहीं पड़ता है। अर्थात् मूर्त आत्मा मूर्त होरहे सूक्ष्म, स्थूल, शरीरों अनुसार संकुचित विसर्पित होरहा संता लोक के अनेक छोटे, बड़े स्थानों में वर्त रहा है, चमड़ा या रबड़ के सिकुड़ जाने पर उनके प्रदेश नष्ट नहीं होजाते हैं एवं जल में तेल के फैल जाने पर तेल के नवीन प्रदेशों की उत्पत्ति नहीं होजाती है, इसी प्रकार जीवों के प्रदेशों में कोई उत्पाद या विनाश नहीं है।

बाल्य-अवस्था के शरीर की युवा अवस्था में बढ़ जाने पर आहार वर्गणा के प्रदेशों की वृद्धि अनुसार सर्वथा नवीन व्यंजन पर्याय उपज गयी है, और युवा से वृद्ध होने पर जीर्ण शीर्ण वृद्ध शरीर की व्यंजन पर्याय शरीरोपयोगी पुद्गलों की अधिक हानि अनुसार नवीन रीत्या उत्पन्न होगयी है, किन्तु बाल्य-अवस्था से युवा पुरुष की आत्मा का केवल प्रदेश विस्तार होगया है और थकेवृद्ध की आत्मा का केवल प्रदेश संकोच होगया है, प्रदेशों की वृद्धि या हानि नहीं हुयी है, भले ही आत्मा की व्यंजन पर्याय उतनी ही मान ली जाय फिर भी शरीर की व्यंजन पर्याय और आत्मा की व्यंजन पर्याय में महान् अन्तर है, बुद्धिमान् पुरुष इस रहस्य को समझ लेवें। इस सूत्र में कहा गया प्रदीप दृष्टान्त प्रकरण प्राप्त साध्य के सर्वथा उपयोगी है. आवरण-रहित लम्बे, चौड़े, आकाश के प्रदेशों में दूर तक मर्यादित प्रकाशने के परिणाम को धारने वाले भी प्रदीप का सरवा, मौनी, घड़ा, डेरा, गृह, आदि आवरणों के वश से होरहे प्रकाश-आत्मक प्रदेशों के संहार और विसर्प दीखरहे सन्ते किसी भी वादी प्रतिवादी के यहां असिद्ध नहीं है, जिससे कि दीपक को दृष्टान्तपना नहीं होसके अर्थात्— लम्बे, चौड़े प्रकाशों वाला दीपक छोटे छोटे स्थानों में निरन्तराल मर्यादित होजाता है, अतः यह दृष्टान्त बहुत अच्छा है।

स्यादाकूतं, नात्मा प्रदेशसंहारविसर्पवान् अमूर्तत्वात् आकाशवदिति ; तदुक्तं,

पक्षस्य बाधितप्रमाणत्वात् । तथाहि-आत्मा प्रदेशसंहारविसर्पवानस्ति महाल्पपरिमाणदेशव्या-पित्वात् प्रदीपप्रकाशवदित्यनुमानेन तत्पक्षो बाध्यते । । न चात्र हेतुरसिद्धः शिशुशरीर-व्यापिनः पुनः कुमारशरीरव्यापित्वप्रतीतेः । स्थूलशरीर-व्यापिनश्च सतो जीवस्य कृशशरीर-व्यापित्वसंवेदनात् । न च पूर्वापरशरीरविशेषव्यापिनो जीवस्य भेद एव प्रत्यभिज्ञानाभावप्रसं-गात् । न चेह तदेकत्वप्रत्यभिज्ञानं भ्रांतं बाधकाभावादित्युक्तत्वात् ।

सम्भव है कि नैयायिक या वैशेषिकों का यह भी मन्तव्य होवे कि आत्मा (पक्ष) स्वकीय प्रदेशों के संहार और विसर्प को नहीं धारता है (साध्य) अमूर्त द्रव्य होने से (हेतु) आकाश के समान (अन्वयदृष्टान्त) । किन्तु इस प्रकार वैशेषिकों का वह अनुमान तो युक्तियों से रीता है, क्योंकि उनके पक्ष की अनुमान या आगमप्रमाणों से बाधा प्राप्त होरही है, उन्हीं बाधक प्रमाणोंको स्पष्ट कर यों कहाजाता है कि आत्मा (पक्ष) अपने प्रदेशों के संहार और विसर्प को तदात्मक होकर धारने वाला है, (साध्य) बड़े परिमाण वाले और अल्प-परिमाण वाले देशों में व्यापक होजाने से (हेतु) प्रदीप के प्रकाश समान (अन्वयदृष्टान्त) । सब से प्रथम इस निर्दोष अनुमान करके वैशे-षिकों का पक्ष (प्रतिज्ञा) बाधित होजाता है । देखो इस अनुमान में कहा हेतु असिद्ध नहीं है, कारण कि बालक के छोटे शरीर में व्याप रहे आत्मा का पश्चात्-कुमार अवस्था के बड़े शरीर में व्याप जाना प्रतीत होरहा है तथा स्थूल शरीर में व्याप रहे सन्ते जीवका पुनः कृश शरीर होजाने पर वहां व्यापक होरहेपन का सम्वेदन होरहा है । यदि यहां कोई यों आक्षेप करे कि शिशु-अवस्था का जीव न्यारा है, और कुमार अवस्था का जीव भिन्न है, मोटे शरीर वाले जीव से पतले उस शरीर में ठहर रहा जीव पृथक् है, पहिले पिछले शरीर-विशेषों में व्यापने वाले जीव का भेद ही है । आचार्य कहते हैं कि यह आक्षेप नहीं चल सकता है क्योंकि एकत्व प्रत्यभिज्ञानके अभावका प्रसंग होजावेगा । जो मैं बालक था वही मैं अब युवा हूं, मेरा मोटा शरीर अब पतला होगया है, ऐसे आत्मा के एकत्व का ज्ञापक करने वाले प्रत्यभिज्ञान होरहे हैं । यहां हो रहे वे एकत्व प्रत्यभिज्ञान भ्रान्त नहीं हैं क्योंकि प्रत्यभिज्ञान के बाधक प्रमाणों का अभाव है इस बात को हम पूर्वप्रकरणों में कई बार कह चुके हैं ।

तथागमबाधितश्च पक्षः, स्याद्वादागमे जीवस्य संसारिणः प्रदेशसंहारविसर्पवत्त्व-कथनात् । न च तदप्रमाणत्वं सुनिर्णीतासंभवद्बाधकत्वात् प्रत्यक्षार्थप्रतिपादकागमवत् । सर्व-गतत्वादात्मनो न प्रदेशसंहारविसर्पवत्त्वमाकाशवदिति चेन्न, तस्यासर्वगतत्वसाधनात् ।

तथा वैशेषिकों का आत्मा में प्रदेशों के संहार और विसर्प के अभाव को साधनेवाला पक्ष हमारे आप्तोक्त आगमसे बाधित होरहा है क्योंकि स्याद्वाद सिद्धान्त में संसारी जीव को प्रदेशों के संहार और विसर्प से सहितपन का कथन किया गया है, " लोगस्स असंखेज्जदिभागप्पहुदि तु सव्वलो-गोत्ति, अप्पपदेशविसप्पण संहारे वावडो जीवो " इत्यादिक अथवा इन से भी पूर्ववर्ती उन आगम वाक्यों को अप्रमाण नहीं कह सकते हो क्योंकि बाधक प्रमाणों के नहीं सम्भवने का अच्छा निर्णय हो चुका है । जैसेकि प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा जाने गये अर्थ के प्रतिपादक आगम का अप्रमाणपना नहीं है । अर्थात्-कोई सज्जन देहली या आगरा को देखकर दूसरे स्थान पर वहां के दृश्यों का सच्चा वर्णन

कर रहा है, उन सज्जन के वाक्यों से उत्पन्न हुआ आगम ज्ञान जैसे प्रमाण है, उसी प्रकार सर्वज्ञ आम्नाय से प्रतिपादित आगम भी प्रमाण है, अतः अनुमान और आगम प्रमाण से वैशेषिकों का पक्ष बाधित हुआ।

मार्गदर्शक:- [illegible] कारण आत्मा का स्वकीय प्रदेशों के संहार और विसर्प से सहितपना नहीं बनता है जैसे कि सर्वव्यापक आकाश अपने प्रदेशोंके संकोच या विस्तार को लिये हुये नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उस आत्मा का अव्यापकपना साधा जा चुका है, संसारी आत्मा अपने उपात्त शरीर के परिमाण है और मुक्त आत्मा चरम शरीर से कुछ न्यून परिमाणवाला है, अतः अव्यापक आत्मा के प्रदेशों का संकोच या विस्तार होसकता है।

येषां पुनर्वटकणिकामात्रः सहस्रधा भिन्नो वा केशाग्रमात्रोंऽगुष्ठपर्वप्रमाणो वात्मा तेषां सर्वशरीरे स्वसंवेदनविरोधः, तस्याशु-संचारित्वात्तथा संवेदने सकलशरीरेषु तथा संवेदनापत्तेरेकात्मवादावतरणात्। शक्यं हि वक्तुं सकलशरीरेष्वेक एवात्माणुप्रमाणोऽप्याशु-संचारित्वात् संवेद्यत इति तत्राशेषाचेतनत्वप्रसंगोऽन्यत्र संचारणादिति चेत्, शरीरावयवेष्वपि तन्मुक्तेष्वचेतनत्वमुपसज्येत तद्युक्तस्यैव चोपशरीरैकदेशस्य सचेतनत्वोपपत्तेरिति यत्किंचिदेतत् यथाप्रतीतिशरीरपरिमाणानुविधायिनो जीवस्याभ्युपगमनीयत्वात्।

जिन प्रतिवादियों के यहाँ फिर आत्मा का परिमाण वट-वृक्ष के छोटे बीज की कनी बरोबर माना गया है अथवा हजारों प्रकार (बार) छिन्न भिन्न किये गये बाल के अग्रभाग प्रमाण अत्यन्त छोटा आत्मा माना गया है अथवा अंगूठे की पमोली बराबर आत्मा का परिमाण इष्ट किया है, उन पण्डितों के यहाँ सम्पूर्ण शरीर में आत्मा के स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष होने का विरोध होगा। अर्थात्—छोटासा आत्मा शरीर में जहाँ होगा वहां ही आत्मा का स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष होसकेगा, हाथ, पांव, पेट, मस्तक, सर्वत्र आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होसकेगा। दुःख, सुख भी छोटे से ही शरीर भाग में अनुभव किये जा सकेंगे, पूर्णशरीरावच्छिन्न आत्मा में नहीं। यदि वे पण्डित यों कहें कि छोटी आत्मा का अत्यन्त शीघ्र संचार होजाने से तिस प्रकार सम्पूर्ण शरीर में ज्ञान, सुख, आदि का सम्वेदन होजाता है जैसे कि अत्यन्त शीघ्र भ्रमण कर रहे चाक पर लगगई काली बूंद सब ओर दीख जाती है। यों कहने पर तो हम जैन कहते हैं कि तब तो मनुष्य, पशु, पक्षी, देव, वृक्ष, आदि के सम्पूर्ण शरीरों में तिस प्रकार शीघ्र संचार होजाने से एक ही आत्मा के सम्वेदन का प्रसंग आजावेगा अतः अद्वैतवादियों के समान एक ही आत्मा के प्रवाद का अवतार हुआ जाता है।

यों निःसंशय कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण शरीरों में अणु के समान परिमाण को धार रहा एक ही आत्मा है, अणु-परिमाण वाला एक ही आत्माभी शीघ्र शीघ्र संचार करनेवाला होनेसे सम्पूर्ण शरीरों में संवेदा जाता है। अर्थात्—जैसे हाथी, बैल, मनुष्य, आदि प्रत्येक के शरीरमें वट कणिका या केशाग्र, अथवा अंगूठा के बराबर परिमाण का धारी छोटा आत्मा यहाँ, वहां, शीघ्र गमन करने के के कारण सम्पूर्ण शरीर में सम्विदित होजाता है, उसी प्रकार जगत् भर के प्राणियों का भी आत्मा एक ही छोटा सा मानलिया जाय, बिजली की गति से भी अतीव शीघ्रगति होजाने से वह एक ही

छोटा आत्मा सम्पूर्ण शरीरों में सन्निविष्ट होता रहेगा। यदि वे पण्डित यों कहैं कि उन सम्पूर्ण शरीरों में एक ही आत्मा के माननेपर तो शीघ्र ही अन्य अन्य शरीरों में संचार होजाने से उन व्यक्तों के अचेतनपन (मरजाने) का प्रसंग आजायगा एक भाव के संचार से उसके अनेक अभावों के शीघ्र आगमन का काल बहुत है, अतः सम्पूर्ण शरीरों में तो एक छोटी आत्मा नहीं मानी जा सकती है, हाँ एक शरीर में अल्प-आत्मा को मानने में कोई विपत्ति नहीं दीखती है।

ग्रन्थकार कहते हैं कि यों तो एक शरी[illegible] अवयवों में भी अचेतनपन का प्रसंग आजावेगा। हाँ उस छोटी सी आत्मा से युक्त होरहे ही स्वल्प शरीर के एक देश को सचेतनपना बन सकेगा, ऐसी दशा में शरीर के स्वल्पभाग को छोड़ कर अवशिष्ट सम्पूर्ण शरीर मृत बन जावेगा। शीघ्र घूमते हुये चाक पर जैसे काली बूंद चारों ओर दीखजाती है, उसी प्रकार उससे अधिक देर तक काली बूंद से रीता स्थान दीखता रहता है, गाड़ी के पहियों का भ्रमण होने पर अरों से भरे हुये स्थान के समान अरों से रीता स्थान भी खूब दीखता है, ऐसी दशा में यह आत्मा का अणु-परिमाण या अंगुष्ठ-परिमाण मान लेना मनचाहा जो कुछ भी आग्रह पकड़ लेना मात्र है, कोई युक्त मार्ग नहीं है, प्रतीतियों का उल्लंघन नहीं करके उपात्त शरीर के परिमाण का अनुविधान करने वाले ही जीव को परिशेष में स्वीकार कर लेना आवश्यक होगा, उसी प्रकार अपने अपने शरीर परिमाण वाले ही आत्मा की सम्पूर्ण जीवों को प्रतीति होरही है।

तथा सति तस्यानित्यत्वप्रसंगः प्रदीपवदिति चेन्न किंचिदनिष्टं, पर्यायार्थादेशादात्मनोऽनित्यत्वसाधनात्। द्रव्यार्थादेशात्तन्नित्यत्ववचनात् प्रदीपवदेव। सोपि हि पुद्गलद्रव्यार्थादेशान्नित्य एवान्यथा वस्तुत्वविरोधात्।

प्रतिवादी कहता है कि जिसप्रकार अपने विनश्वर शरीर का अनुकरण कररहा अनुनयकारी (खुशामदी) आत्मा यदि शरीर के परिमाण ही घट, बढ़, जाता है तब तो उस आत्मा के अनित्यपन का प्रसंग आता है जैसे कि अपने आवारकों के परिमाण अनुसार घट रहा और बढ़ रहा प्रदीप या दीपकप्रकाश अनित्य है। आचार्य कहते हैं कि यह प्रसंग तो हम को कुछ भी अनिष्ट नहीं है, पर्यायार्थिक नय अनुसार कथन करने से आत्मा का अनित्यपना साध दिया गया है, हाँ द्रव्यार्थिक नय अनुसार कथन करने से ही उस आत्मा के नित्यपन का " नित्यावस्थितान्यरूपाणि " इस सूत्र द्वारा निरूपण किया गया है, प्रदीप के नित्यपन समान ही। अर्थात्–जब कि वह प्रदीप भी पुद्गलद्रव्य अर्थ का कथन करने अनुसार द्रव्यार्थिक नयसे नित्य ही है, उसी प्रकार आत्मा भी द्रव्यार्थिकनय अनुसार नित्य है, अन्यथा यानी द्रव्यदृष्टि से नित्य और पर्यायदृष्टि से अनित्य यदि आत्मा या प्रदीप को नहीं माना जायगा तो इनके वस्तुपन का विरोध होजावेगा द्रव्य और पर्यायों का तदात्मक समुदाय ही वस्तु है, केवल नित्यद्रव्य या केवल पर्यायें तो खरविषाण या कच्छपरोमों के समान असत् हैं।

जीवस्य सावयवत्वे भंगुरत्वे वाऽवयवविशरणप्रसंगो घटवदिति चेन्न, आकाशादिदिनानेकांतात्। न ह्याकाशादि कथंचिदनित्योपि सावयवोपि प्रमाणसिद्धो न भवति। न चावयवविशरणं तस्येति प्रतीतं।

यहां पुनः वैशेषिक आक्षेप करते हैं कि जीवका यदि अवयव-सहितपना अथवा अनित्यपना माना जावेगा तो जीवके अवयवों का फट जाना,टूटजाना, नष्ट भ्रष्ट हो-जाना रूप विशरण होजाने का प्रसंग आता है जैसे कि अवयवों से सहित होरहे भंगुर घट के अवयव टूट फूट, छिन्न,भिन्न होजाते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि आकार आदि करके व्यभिचार दोष होजावेगा देखिये पर्यायार्थिक नय करके आकाश आदि कथंचित् अनित्य भी और अवयवोंसे सहितभी प्रमाणों से सिद्ध न होवें यह नहीं समझ बैठना किन्तु उस आकाश आदि के अवयवों का टूट फूट,जाना तो प्रतीत नहीं होता है अर्थात्-भिन्न भिन्न प्रान्तों में वर्त रहा आकाश सावयव है और कूटस्थनित्य भी नहीं है आकाश की पूर्व समय--वर्त्ती पर्याय से उत्तर समय की पर्याय न्यारी है अतः सावयव और भंगुर होते हुये भी आकाश का छिन्न भिन्न होना नहीं देखा जाता है, अतः तुम्हारा हेतु व्यभिचारी हुआ।

किंचिदात्मनोवयवा न विशीर्यंतेऽकारणपूर्वकत्वादाकाशादिप्रदेशवत् परमाण्वेक-प्रदेशवद्वा। कारणपूर्वका एव हि पटादिस्कंधावयवा विशीर्यमाणा दृष्टाः तथाश्रयत्वेनावयव-व्यपदेशात्। अवयूयन्ते विश्लिष्यंते इत्यवयवा इति व्युत्पत्तेः नचैवमात्मनः प्रदेशाः, परमाणु-परिमाणेन प्रदिश्यमानतया तेषां प्रदेशव्यपदेशादाकाशादिप्रदेशवत्। ततो न विशरणं

जैन सिद्धान्त यह है कि आत्मा के कुछ भी अवयव जीर्ण शीर्ण नहीं होते हैं (प्रतिज्ञा) क्यों कि आत्माके अवयव अकारण-पूर्वक हैं जैसे कि आकाश धर्म, आदिके अनेक प्रदेश अथवा परमाणु का एक प्रदेश कारण-पूर्वक नहीं होनेसे छिन्नभिन्न नहीं होपाते हैं कारण कि पट घट, पुस्तक आदि स्कन्धों के कारण-पूर्वक हुये अवयव तो टूट फूटे जारहे देखे गये हैं आत्मा,आकाश,आदिके नहीं। अर्थात्-पौनीसे सूत और सूत से कपड़ा बनता है, यहाँ वस्त्र के अवयव कारणपूर्वक बने हैं, इसी प्रकार घट के अवयव भी कपाल, कपालिका, स्थास, आदि से बने हैं, अतः घट, पट, के अवयव तो विशीर्ण होजाते हैं किन्तु आत्म द्रव्य या आकाश के अखण्ड अवयव (प्रदेश) तो कारणों को पूर्ववर्त्ती मानकर उपजे नहीं हैं केवल तिस प्रकार आत्मा या आकाशके आश्रयपने करके उन प्रदेशोंमें अवयवपनेका व्यवहार होजाता है 'अव' उपसर्ग पूर्वक 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' धातु से अप् प्रत्यय करने पर अवयव शब्द बन जाता है। चारों ओर से विश्लेष को प्राप्त होजाय इस प्रकार "अवयव" इस शब्द की व्याकरण द्वारा व्युत्पत्ति की गयी है, इस व्युत्पत्तिके अनुसार आत्मा, आकाश, परमाणु, इनमें अवयव-सहितपना घटित नहीं होता है आत्मा के इस प्रकार विभाग को प्राप्त होरहे मुख्य प्रदेश नहीं मानेगये हैं केवल परमाणु के परिमाण की नाप करके चिन्हित किये जारहेपने से उन आत्मा के अखण्ड अंशों को प्रदेशपन का कोरा नाम मात्र कथन कर दिया है जैसे कि आकाश, धर्म, आदि के विष्कम्भक्रम से की गयी अंशकल्पना अनुसार प्रदेश या अवयवों का केवल व्यवहार कर लिया जाता है तिसकारण आत्मा के प्रदेशों का छिन्न,भिन्न, होजाना नहीं बन पाता है। वस्तुतः देखा जाय तो अवयव शब्दका मुख्य अर्थ तो घट, पट,आदि खण्डितानेकदेश अशुद्ध द्रव्यों में ठीक घटित होता है अवयवों में अवयवी की वृत्ति मानी जाय अथवा अवयवों में अवयवोंका वर्तना माना जाय हमको दोनों अभीष्ट हैं किन्तु यह प्रक्रिया कारण-पूर्वक उपजने वाली अशुद्ध द्रव्यों में है, आकाश या आत्मा के अंशों में तो उपचार अवयवपनका निरूपण किया गया है।

जीवस्याविभागद्रव्यत्वादाकाशादिवत् नावयवविशरणमविभागद्रव्यमात्मा अमूर्तत्वानुभवात् । प्रसाधितं चास्यामूर्तद्रव्यत्वमिति न पुनरत्रोच्यते । तदेवं लोकाकाशमाधारः कार्त्स्न्येनैकदेशेन च धर्मादीनां यथासंभवं धर्मादयः पुनराधेयास्तथाप्रतीतेर्व्यवहारनयाश्रयादिति विज्ञेयार्थानामाकाशधर्मादीनामाधाराधेयता घटोदकादीनामिव बाधकाभावात् ।

एक बात यह भी है कि अविभागी द्रव्य होने से(हेतु) जीव के अवयवों का विशरण नहीं हो-पाता है (प्रतिज्ञा) आकाश, परमाणु, आदिके समान(अन्वय दृष्टान्त) । इस अनुमान में पड़ा हुआ हेतु स्वरूपासिद्ध नहीं है उस हेतु को यों सिद्ध(पक्षवृत्ति) समझियेगा कि आत्मा(पक्ष)कालत्रय में भी विभाग को प्राप्त नहीं होने वाला द्रव्य है (साध्य)अमूर्तपन का अनुभव कर रहा होने से(हेतु) । इस अनुमान का हेतु भी असिद्ध नहीं है क्योंकि इस आत्मा का अमूर्तद्रव्यपन पहिले प्रकरणोंमें अच्छा साधा जा चुका है इस कारण फिर यहां अमूर्तद्रव्यपन की सिद्धि नहीं कही जाती है, अतः आकाशके समान आत्मा या उनके प्रदेशों का फटना, टूटना, फूटना,आदि का प्रसंग हम जैनों के ऊपर नहीं आपाता है ।

तिस कारण इस प्रकार सिद्ध हुआ कि धर्म, अधर्म जीव, आदि, द्रव्यों का यथासम्भव पूर्ण रूप करके अथवा एक देश करके वह लोकाकाश आधार है और धर्म आदिक द्रव्य फिर आधेय हैं क्योंकि व्यवहार नय का अवलम्ब लेनेसे तिसप्रकारकी प्रतीति होरही है । यों आकाश, धर्म, आदिक पदार्थों का आधार--आधेय भाव समझ लेना चाहिये । जैसे कि घड़ा पानी का, कूंड़ा दही, आदि का आधार आधेयपना प्रसिद्ध है । लोक प्रसिद्ध होरहे आधार आधेयभाव में बाधक प्रमाणों का अभाव है ।

न तेषामाधाराधेयता सहभावित्वात् सव्येतरगोविषाणवदित्येतद्बाधकमिति चेन्न, नित्यगुणिगुणाभ्यां व्यभिचारात् ।

यहां कोई पण्डित आधार आधेय भाव का बाधक यों अनुमान खड़ा करते हैं कि उन आकाश और धर्म आदिकों का "आधार आधेय भाव" सम्बन्ध नहीं है (प्रतिज्ञा) साथ साथ वर्त रहे होने से (हेतु) गाय के डेरे और सोधे सींगसमान (अन्वयदृष्टान्त) , यह बाधक प्रमाण है । अर्थात्—गाय का डेरा सींग सीधे सींगपर बैठा हुआ नहीं है, और एक साथ ही होजानेके कारण सीधा सींग भी डेरे सींग पर स्थित नहीं है, इसी प्रकार अनादिकालसे आकाश और धर्म आदि द्रव्य साथ साथ विद्यमान हैं, ऐसी दशामें किसको आधार और किसको आधेय कहा जाय ? जब कि आधार पहिले वर्तता है, और आधेय पीछे उस पर आकर बैठ जाता है । आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि नित्यगुणी और उसके नित्यगुण करके व्यभिचार होजायगा अर्थात्—अनादि निधन आकाश द्रव्यमें अनादि निधन परम महत्व गुण ठहर रहा है, आत्मा में द्रव्यत्व, वस्तुत्व, आदि नित्य गुण सर्वदा से आधेय होरहे हैं, अतः सहभावी पदार्थों में भी आधार आधेय भाव देखा जाने से तुम्हारा सहभावित्व हेतु व्यभिचारी हेत्वाभास है ।

न लोकाकाशद्रव्ये धर्मादीनि द्रव्याण्याधेयानि युतसिद्धत्वादनेककालद्रव्यवदिति चेन्न, कुंडबदरादिभिरनेकान्तात् साधारणशरीराणामात्मनामपि परस्परमाधाराधेयत्वोपगमादश्वमनुष्यादीनां दर्शनात् साध्यशून्यमुदाहरणं ।

यहां कोई पण्डित लोकाकाश और धर्मादि द्रव्यों के आधारआधेयभाव का निराकरण करने के लिये अनुमान बोलता है कि लोकाकाश स्वरूप द्रव्य में धर्म आदि स्वरूप द्रव्यें तो आश्रित नहीं होरहीं हैं, (प्रतिज्ञा) क्योंकि ये युक्त सिद्ध पदार्थ हैं, (हेतु) अनेक काल द्रव्यों के समान (अन्वयदृष्टान्त)। अर्थात्—संयोगसम्बन्ध के उपयोगी होरही युत-सिद्धि जहां वर्त रही है, उन पदार्थों में आधार आधेय भाव नहीं है, तभी तो काल परमाणुओं में आधार आधेय भाव नहीं है, ज्ञान आत्मा, या घट रूप, अथवा अग्नि उष्णता आदिक समवायसम्बन्धवाले अयुत-सिद्ध पदार्थों का आधार आधेयपना उचित है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि युत-सिद्धत्व हेतु का कूंडा, वेर, थाली, दही, दण्ड, दण्डी, आदि करके व्यभिचार दोष आता है अर्थात्—कुण्ड, वेर, आदि युत-सिद्ध पदार्थों का बहुत अच्छा आधार आधेय भाव बनरहा है जब कि साधारण शरीर वाले अनन्त आत्माओं का भी परस्पर में आधार आधेयपना स्वीकार किया गया है, 'साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च । साहारण जीवाणं साहारणलक्खणं भणियं " एक निगोदिया जीव के आश्रित अनेक जीव वर्त रहे हैं वह भी दूसरों के आश्रित होरहा है, यों संयुक्त जीवों में भी परस्पर आधार आधेय भाव सुलभ है, घोड़े के ऊपर मनुष्य बैठा हुआ है, चौकी पर पुस्तक है, यहां घोड़ा, मनुष्य, आदिक युत-सिद्ध पदार्थों के भी निर्दोष आधार आधेय भाव देखा जाता है, अतः तुम्हारे हेतु में व्यभिचार दोष तदवस्थ है। अनेक काल द्रव्यों का उदाहरण भी साध्यशून्य है, कारण कि नीचे ऊपर के कालाणुओं में उपचार से आधेय भाव बन जाता है अथवा अनेक काल द्रव्य को उपलक्षण मान कर घोड़ा, मनुष्य, आदि को भी दृष्टान्त कह दिया जायगा, ऐसी दशा में अश्व, पुरुष आदिकों में साध्य दल के नहीं वर्तने से दृष्टान्त साध्य से रीता होगया।

न तानि तत्राधेयानि शश्वदसमवेतत्वे सति सहभावादिति चेन्न, हेतोरन्यथानुपपन्ननियमासिद्धेः । न हि यत्र यदाधेयं तत्र शश्वदसमवेतं तदसहभावि च सर्वं दृष्टं व्योमादौ नित्यमहत्त्वादिगुणस्याधेयस्य शश्वत्समवेतस्य सिद्धावपि तदसहभावाप्रतीतेः, कुंडादौ बदरादेराधेयस्य सहभावसिद्धावपि शश्वत्समवेतत्वाप्रसिद्धिरिति समुदितस्य हेतोः साध्यव्यावृत्तौ व्याप्त्यभावादप्रयोजको हेतुः । नभःपुद्गलद्रव्याभ्यां व्यभिचाराच्च न हि नभसि पुद्गलद्रव्यमाधेयं न भवति तस्य तदवगाहित्वेन प्रतीतेस्तदाधेयत्वसिद्धेः पयसि मकरादिवत्, तत्र तस्य शश्वदसमवेतत्वे सति सहभावश्च हेतुः प्रसिद्धः । खे पुद्गलद्रव्यस्य सदा समवायासमवायित्वेन सहभावत्वेपि विपक्षेपि भावात् तस्य व्यभिचार एव ।

पुनरपि लोकाकाश को धर्म आदिकों का आधार नहीं सिद्ध होने देने वाला पण्डित कह रहा है कि उस लोकाकाश में वे धर्म आदिक द्रव्यें (पक्ष) आश्रित नहीं हैं (साध्य) सर्वदा समवाय सम्बन्ध करके नहीं वर्तमान होरहीं सन्तीं सदा साथ हो बर्तना होने से (हेतु)। अर्थात्—घट में रूप

कदाचित् समवाय सम्बन्ध से रहता है, आत्मा में ज्ञान कभी कभी समवाय से रहता है, सदा वही रूप या ज्ञान नहीं बना रहता है। दण्ड, पुरुष, घोड़ा,मनुष्य, आदिका सहभाव नहीं है, अतः इनका आधार आधेय भाव बन जाता है किन्तु जिन पदार्थों का सदा असमवेतपना है. और सहभाव है, उन में आधार आधेय भाव नहीं है जैसेकि बैलके डेरे (बांये) और सीधे दांये सींगमें या साथ धरे हुये अनेक घड़ों आदि में आश्रय आश्रयी भाव नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यहतो नहीं कहना क्योंकि हेतुके अन्यथानुपपत्ति स्वरूप नियम की सिद्धि नहीं है, देखिये' जो पदार्थ जिस अधिकरण में आधेय होरहे हैं, वे सभी पदार्थ उस अधिकरण में सर्वदा समवाय सम्बन्ध से वर्तमान होंय और सहभाव रखने वाले नहीं होंय ऐसा कोई नियम नहीं है। आकाश, आत्मा, आदि अधिकरणों में महत्व, संख्या आदि गुण आधेय होरहे सर्वदा समवाय सम्बन्ध से वर्तमान हैं, ऐसे सदा समवेतपन की सिद्धि होते हुये भी उन आधार आधेयों का सहभाव नहीं होना प्रतीत नहीं होता है, तथा कुंडा आदि में बेर आदि आधेयों के सहभाव की सिद्धि होते हुए भी कुण्ड, बदर, आदि संयुक्त पदार्थों का सर्वदा समवेतपना अप्रसिद्ध है। इस प्रकार सत्यन्त विशेषण से युक्त होरहे समुदित हेतु की साध्य की व्यावृत्ति होने पर व्यावृत्तिका अभाव होजाने से तुम्हारा हेतु अप्रयोजक है, यानी अनुकूल तर्क नहीं मिलने से अविनाभावका अभाव होजानेके कारण उक्त हेतु साध्य का प्रयोजक नहीं है, अन्यथानुपपत्ति ही तो हेतु का प्राण है।

तथा आकाश और पुद्गल द्रव्य करके व्यभिचार दोष भी आता है अर्थात्—आकाश और पुद्गल का सदा असमवेपना होते हुए सहभाव है किन्तु आधारआधेयभाव का अभाव नहीं है, यानी आधार आधेय भाव है। आकाश में पुद्गल द्रव्य आधेय नहीं होय, यह नहीं समझ बैठना क्योंकि उस आकाश की उस पुद्गल के अवगाहकपन करके प्रतीति होरही है, अतः पुद्गल को उस आकाश का आधेयपना सिद्ध है जैसे कि नदीजलमें मगर, कछवा, आदिक आधेय होरहे हैं, अतः व्यभिचार स्थल होरहे आकाश और पुद्गल द्रव्य में साध्य नहीं रहा किन्तु उस आकाशमें उस पुद्गल द्रव्य का सदा असमवेतपना होते सन्ते सहभाव होरहा हेतु तो प्रसिद्ध है, द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ संयोग सम्बन्ध होसकता है, समवाय नहीं। अतः आकाशमें पुद्गल द्रव्य के सदा समवाय होने का असम्भव है तथा आकाश द्रव्य और पुद्गल द्रव्य के नित्यपन होने के कारण सहभावपना भी है, ऐसी दशा होने पर भी तुम्हारा हेतु विपक्ष मे भी विद्यमान रहता है, अतः उस हेतु का व्यभिचार दोष तदवस्थ ही है।

तयोः पक्षीकरणेत्र पक्षस्य प्रमाणबाधः कालात्ययापदिष्टश्च हेतुः खपुद्गलद्रव्ययोराधाराधेयताप्रतीतेः। पुद्गलपर्याया एव घटादयः खस्याधेयाः प्रतीयंते न च द्रव्यमिति चेन्न, पर्यायेभ्यो द्रव्यस्य कथंचिदव्यतिरेकात् तदाधेयत्वे तस्याप्याधेयत्वसिद्धेः। ततः सूक्तं लोकाकाशधर्मादिद्रव्याणामाधाराधेयता व्यवहारनयाश्रया प्रतिपत्तव्या बाधकाभावादिति निश्चयनयाश्रय तेषामाधाराधेयता युक्ता व्योमवद्धर्मादीनामपि स्वरूपेऽवस्थानादन्यस्यान्यत्र स्थितौ स्वरूपसंकरप्रसंगात्।

यदि पूर्व-पक्षी पण्डित यों कहे कि उन आकाश और पुद्गल द्रव्य को पक्षकोटि में कर लिया

जावेगा यानी आकाश और पुद्गल का भी आधार आधेय भाव नहीं है. हेतु रह गया तो क्या हुआ वहां साध्य भी रह गया कोई व्यभिचार दोष नहीं है। यों इस पक्ष के लेनेपर ग्रन्थकार कहते हैं, कि तुम्हारे पक्ष की प्रमाणों से बाधा उपस्थित होती है, तथा हेतु बाधित-हेत्वाभास हुआ जाता है क्योंकि आकाश और पुद्गल द्रव्य का आधार आधेयपना बालकों तक को प्रतीत होरहा है। कौन विचारशील मनुष्य आकाश पुद्गल, और अन्य पर्याय या द्रव्यों के प्रसिद्ध आधार आधेयभाव को मेट सकता है? यदि वह पण्डित यों कहे कि पुद्गल द्रव्य के पर्याय होरहे घट, पट, पुस्तक, आदिक ही आकाश के आधेय होरहे प्रतीत किये जाते हैं, अनादि काल से सहचारी होरहा नित्य पुद्गल द्रव्य तो आकाश का आधेय नहीं है।

अर्थात्—पीछे आया सेवक भले स्वामी के आश्रय पर यातनाओं को सहता हुआ निर्वाह करे किन्तु भाई बन्धुओं का नाता रखने वाला सदा सहचारी प्रभुओं के समान नित्य द्रव्य तो किसी के आश्रित नहीं है। आचार्य कहते हैं, कि यह तो नहीं कहना क्योंकि पर्यायों से द्रव्य का कथंचित् अभेद है सर्वथा भेद नहीं है जब आकाश के आधेय वे पुद्गल पर्याय हैं तो पर्यायों से अभिन्न उस पुद्गल द्रव्य का भी आधेयपना सध जाता है, सहचारी या भाई बन्धु भी बुद्धिवयोवृद्ध अथवा कुलमान्य या राजा बन गये बन्धु के साथ आश्रित होकर रहते हैं। माता, पिता, गुरुओं और पुत्र शिष्यों में व्यवहार-सम्बन्धी आश्रय आश्रितपना है। आचार्य, उपाध्याय,सर्वसाधु भी एक दूसरेके आश्रित या आश्रय होजाते हैं, यहां प्रकरणमें मुख्य आधार आधेय भाव सिद्ध करा दिया है, इस कारण हमने इस सूत्रकी दूसरी वार्तिक में यों बहुत अच्छा कहा था कि लोकाकाश और धर्म आदिक द्रव्यों का व्यवहार नय का आश्रय लेते हुये बहुत अच्छा बन रहा आधार आधेय भाव समझ लेना चाहिये। इस लोक-प्रसिद्ध आधार आधेय भाव का कोई बाधक नहीं है। हां निश्चय नय से तो उन लोकाकाश और धर्म आदिकों का आधार आधेय भाव मानना उचित नहीं है, क्योंकि व्यवहार निश्चय दोनों से जैसे आकाश स्वयं अपने में ही आश्रित होरहा है उसी प्रकार धर्म, अधर्म, पुद्गल आदि द्रव्यों का भी अपने अपने स्वरूप में अवस्थान होरहा है, यदि अन्य पदार्थ की किसी दूसरे पदार्थ में स्थिति मानी जावेगी तो द्रव्यों के अपने अपने निज स्वरूप के संकर दोष हो जाने का प्रसंग आवेगा।

भावार्थ—परमार्थ रूप से सम्पूर्ण पदार्थ अपने अपने स्वरूप में लवलीन हैं, आत्मा में ज्ञान है, पुद्गल में रूप है। लोकाकाश में धर्म आदिक हैं। इस व्यवहार को निश्चय नय नहीं सह सकता है, निश्चय नय निर्विकल्प है। यदि ज्ञान को आत्मामें धरा जायगा तो कारणवश वह ज्ञान आकाश में भी बैठ जावेगा। धर्म द्रव्य में रूप गुण विराज जावेगा, कोई रोक नहीं सकता है बात यह है कि सम्पूर्ण पदार्थ अपने अपने स्वरूप में निमग्न हैं। कुण्ड अपने कुण्ड स्वरूप में है और जल अपने निज रूप में लवलीन है, घोड़ा स्वकीय अंशों में स्थिर है और सवार अपने को स्वयं डाटे हुये हैं, यदि सवार अपने शरीर को डाटे हुये नहीं होता तो उसकी अंगुली या बांह अथवा नाक गिर पड़ती किन्तु ऐसा होता हुआ नहीं देखा जाता है, देवदत्त के साथ लगे हुए वस्त्र, खाट, भीत आदि जैसे देवदत्त के स्वात्मभूत नहीं हैं। उसी प्रकार देवदत्त का स्थूल शरीर या सूक्ष्म शरीर भी देवदत्त-आत्मक नहीं है, तभी तो एकेन्द्रिय जीव और सिद्ध जीव में निश्चयनय अनुसार कुछ भी अन्तर नहीं है। यदि द्रव्य में अन्तर होता तो जीव की मोक्ष ही नहीं होसकती। यों अतः लोकाकाश स्व-अंशों में एकरस होरहा है और धर्म आदिक द्रव्य अपनी ही धुन में तन्मय हैं। कोई किसी को अपना स्वरूप बालाग्र मात्र भी

नहीं देता है और न दूसरे का लेता है। यदि स्वरूपों के लेने देने का अनुक्रम होता तो जीव जड़ और जड़ चेतन द्रव्य बन बैठता और यों कितने ही द्रव्यों का नाश कभी का होचुका होता किन्तु ऐसा नहीं है " नैवासतो जन्म सतो न नाशः " यह श्री समन्त-भद्राचार्यका वाक्य है, अतः निश्चय नय अनुसार आधार आधेयभाव नहीं है। हां प्रमाण दृष्टि और व्यवहार नय में आधार आधेय व्यवस्था है।

स्वयं स्थास्नोरन्येन स्थितिकरणमनर्थकं स्वयमस्थास्नोः स्थितिकरणमसंभाव्यं शशविषाणवत्। शक्तिरूपेण स्वयं स्थानशीलस्यान्येन व्यक्तिरूपतया स्थितिः क्रियत इति चेत्तस्यापि व्यक्तिरूपा स्थितिस्तत्स्वभावस्य वा क्रियेत। न च तावत्तत्स्वभावस्य वैयर्थ्यात् करणव्यापारस्य, नाप्यतत्स्वभावस्य खपुष्पवत्करणानुपपत्तेः।

निश्चयनय से आश्रय आश्रयी भाव नहीं है इस बातको ग्रन्थकार और भी पुष्ट करते हैं। कि जो स्वयं अपनी स्थिति रखने के स्वभाव को धारे हुये है, उसकी अन्य पदार्थ करके स्थिति का किया जाना व्यर्थ है, क्योंकि वह तो अपनी स्थिति में किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखता है, हां जो स्वयं स्थिति स्वभाव को धारे हुये नहीं हैं। शशा के विषाण समान उसकी स्थिति का किया जाना असम्भव है, भावार्थ—"सत्पुत्रश्चेन् रक्षितधनेन किं। कुपुत्रश्चेत् संचितधनेन किं" सुपुत्र है तो धन एकत्रित करने से क्या लाभ? और कुपुत्र है तो भी धन इकट्ठा करने से क्या प्रयोजन सधेगा यानी कुछ भी नहीं। इसी प्रकार जो पदार्थ अनादि काल से अपने स्वरूप में स्थित है उसकी लोकाकाश या अश्व आदि करके स्थिति किया जाना व्यर्थ है। और जो खरविषाण के समान स्वयं स्थिति-शील ही नहीं है, सहस्रों अधिकरणों के जुटाने पर भी कहीं उसकी स्थिति नहीं की जा सकती है।

यदि व्यवहार नय का पक्ष लेने वाले यों कहें कि जो पदार्थ शक्तिरूप करके स्वयं स्थिति स्वभाववाला है। अन्य अधिकरणों करके व्यक्तिरूप से उसकी स्थिति कर दी जाती है, यानी अप्रकट रूप से पदार्थ स्वयं स्थिति-शील है, अपने ही आप में रहता है। हां प्रकट रूप से वह अन्य आश्रयों करके अपने ऊपर धर लिया जाता है, यों कहने पर तो ग्रन्थकार पूछते हैं कि उस शक्तिरूप से स्थिति-शील पदार्थ की भी जो दृश्य होरही प्रकट स्वरूप स्थिति करदी जाती है, क्या वह व्यक्ति स्थिति स्वभाव वाले की व्यक्त स्थिति की जायगी? अथवा व्यक्त स्थिति स्वभाव से रहित भी पदार्थ को कहीं पर बैठाया जा सकता है। बताओ? प्रथम पक्ष अनुसार उस व्यक्त स्थिति स्वभाव वाले पदार्थका तो अन्य करके स्थापन करने का व्यापार व्यर्थ है जैसे कि सूर्य को दूसरे करके प्रकाशित करना व्यर्थ है, और द्वितीय पक्ष अनुसार उस प्रकट स्थिति स्वभाव से रीते पदार्थ का भी आकाशपुष्प समान स्थिति करा देना बन नहीं सकता है, असम्भव है, अतः कोई पदार्थ भी किसी अन्य पदार्थ पर स्थित नहीं रहता है " क्व भवान्? आत्मनि " आप कहां हैं? इसका सब से बढ़िया उत्तर यह है कि हम अपने ही स्वरूप में प्रतिष्ठित हैं, सम्पूर्ण पदार्थ स्वयं स्थितिशील हैं।

कथमेवमुत्पत्तिविनाशयोः करणं कस्यचित्तत्स्वभावस्यातत्स्वभावस्य वा केनचित्तत्करणे स्थितिपक्षोक्तदोषानुषंगादिति चेन्न कथमपि तन्निश्चयनयात्सर्वस्य विस्रसोत्पादव्ययध्रौव्यव्यवस्थितेः। व्यवहारनयादेवोत्पादादीनां सहेतुकत्वप्रतीतेः।

कोई व्यवहारी पुरुष कार्यकारणभाव या स्थाप्यस्थापकभाव को मान रहा आचार्य महाराज से प्रश्न करता है कि जब कारणों करके नवीन रीति से स्थिति का करना नहीं होसकता है, तब तो इस प्रकार किसी भी पदार्थ के उत्पत्ति और विनाश का करना भला किस प्रकार बन सकेगा ? क्योंकि उस उत्पत्ति स्वभाव वाले अथवा उस उत्पत्ति स्वभाव को नहीं धारने वाले पदार्थ का यदि किसी भी उत्पादक कारण करके करना [illegible] स्थिति पक्षमें [illegible] दोषोंका प्रसंग आता है, तथा इसी प्रकार से उस विनाश स्वभाव वाले पदार्थ का अथवा नहीं विनाशशील पदार्थ का यदि किसी विनाशक कारण करके सम्पादन किया जायगा तो भी स्थिति पक्षमें कहे जा चुके दोषों का प्रसंग आता है, अर्थात्—उत्पत्ति स्वभाव वाले की उत्पादक कारण द्वारा उत्पत्ति किया जाना व्यर्थ है जैसे कि अग्निमें उष्णता को उपजाना व्यर्थ है, और स्वयं उत्पादस्वभाव को नहीं धारने वाले पदार्थ की खरविषाण के समान उत्पत्ति होने का असम्भव है तथैव नाश--शील पदार्थ का अन्य नाशक पदार्थ करके नष्ट करना व्यर्थ है जैसे कि जल के बबूले का नाश करना अपार्थक है। और खरविषाणसमान विनाश-शील को नहीं धारने वाले का नाशक कारणों करके नष्ट किया जाना असम्भव है। आचार्य कहते हैं कि यों कहने पर तो हम यही उत्तर देंगे कि किसी भी प्रकार से वह उत्पत्ति और विनाशका करना नहीं होता है, निश्चयनय से सम्पूर्ण पदार्थोंके उत्पाद, व्यय, और ध्रुवपन की स्वभाव अनुसार व्यवस्था होरही है। अर्थात्—अनादि काल से सम्पूर्ण पदार्थ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य—आत्मक स्वतःसिद्ध हैं, निश्चय नय अनुसार उत्पत्ति, विनाश और स्थिति होने में किसीभी कारण की अपेक्षा नहीं है, हां व्यवहार नयसे ही पदार्थों की उत्पत्ति आदिकों का कारणों करके सहितपना प्रतीत होरहा है, यानी व्यवहार में उत्पादक कारणों से उत्पत्ति, नाशक कारणों से विनाश और अधिकरण या स्थापकों करके स्थिति होरही देखी जाती है।

क्षणक्षयैकान्ते तु सर्वथा तदभावः शाश्वतैकांतवत्। संवृत्या तु जन्मैव सहेतुकं, न पुनर्विनाशः स्थितिश्चेति स्वरुचिविरचितदर्शनोपदर्शनमात्रं नियमहेत्वभावात्।

बौद्धों के मन्तव्य अनुसार यदि एक क्षण ही ठहरते हुये सम्पूर्ण पदार्थों का द्वितीय क्षण में नाश होजाने का एकान्त आग्रह स्वीकार किया जायगा तब तो सभी प्रकारों से उन उत्पत्ति, विनाश, स्थितियों का अभाव होजायगा जैसे कि सर्वथा नित्यपन के एकान्त में उत्पाद आदिक नहीं बनते हैं। बौद्धों ने इस दृष्टान्त को बड़ी प्रसन्नता से इष्ट किया है, कूटस्थनित्य की उत्पत्ति और विनाश तो अलीक हैं ही। ध्रुवपना भी अपरिणामी में नहीं बन पाता है। इसी प्रकार बौद्धों के क्षणिकत्व पक्षमें किसकी उत्पत्ति होय ? कौन पूर्ववर्त्ती उपादान भला किस उपादेय स्वरूप परिणमे ? और किससे किसका विनाश होय ? कौन पूर्व—आकारों का त्याग कर उत्तर--आकारों का उपादान करे ? ध्रुवपना तो असम्भव ही है, क्योंकि ध्रुवपना भी पर्यायअंश है, द्रव्यांश नहीं। कालान्तर--स्थायी परिणामी—पदार्थों में ही तीनों घटित होते हैं।

बौद्ध मान बैठे हैं कि सम्वृति यानी व्यवहार से तो उत्पत्ति ही हेतुओं से सहित है किन्तु फिर विनाश और स्थिति तो कारणों वाले नहीं हैं अर्थात्—उत्पत्ति के लिये कारणों की अपेक्षा है, विनाश होना तो कारणों के विना ही स्वाभाविक है, इसी प्रकार स्थिति पक्ष वाले पण्डित कारणों के

विना हुई ही स्थिति को स्वाभाविक स्वीकार करते हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो उन दार्शनिकों का अपनी रूचि अनुसार मनमानी विरचित किये दर्शन (सिद्धान्त) का केवल दिखलाना है, क्योंकि इसमें नियम करने वाले हेतुका अभाव है यदि व्यवहार नयसे उत्पत्ति का कारण इष्ट किया जाता है, तो स्थिति और विनाशका भी कारणों--जन्यपना अनिवार्य होगा और परमार्थ रूप से नाश या स्थिति को वैस्रसिक मानोगे तो उत्पाद को भी कारण-रहित मानना आवश्यक होगा। अर्द्धजरतीय न्याय का पचड़ा लगाना अनुचित है।

ततो नास्ति निश्चयनयाद्भावानामाधाराधेयभावः सर्वथा विचार्यमाणस्यायोगात्का-र्यकारणभाववदिति स्याल्लोकाकाशे धर्मादीनामवगाहः स्यादनवगाह इति स्याद्वादप्रसिद्धिः।

तिस कारण से सिद्ध होता है कि निश्चय नय से पदार्थों का " आधार आधेयभाव " नहीं है, क्योंकि परमार्थ रूप से विचार किये जारहे आधार आधेयपन का सभी प्रकारों से अयोग है जैसे कि निश्चय नय अनुसार कार्यकारणभाव की घटना नहीं होसकती है, न कोई किसी को बनाता है, और न कोई किसी से बनता है, कोई किसी का बाध्य या बाधक नहीं है, प्रतिपाद्य प्रतिपादक भाव, गुरु-शिष्यभाव, जन्य-जनकभाव, ये सब व्यवहारनय अनुसार हैं। इस प्रकार स्यात् यानी कथंचित् व्यवहार नयकी अपेक्षा लोकाकाश में धर्म, अधर्म आदि द्रव्यों का अवगाह होरहा है और कथंचित् निश्चय नय के विचार अनुसार लोकाकाश में धर्म आदिकों का अवगाह नहीं है, इस प्रकार अजेय स्याद्वाद सिद्धान्त की सम्पूर्ण जगत् में प्रसिद्धि होरही है।

यहां तक द्रव्यों के अवगाह देने और प्राप्त करने का प्रकरण समाप्त हुआ।

अग्रिम सूत्र का अवतरण यों है कि यहां पर कोई यों आशंका कर बैठे कि धर्म आदिक छहों द्रव्य एक स्थान में आकाश-प्रदेशों पर यदि विराज रहे हैं तब तो धर्म आदिकों का प्रदेशों के पर-स्पर प्रवेश होजाने से एकपना प्राप्त होजाता है ? इसका उत्तर यह है कि परस्पर अत्यन्त संश्लेष होने पर भी कोई द्रव्य अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता है। इस पर आशंका करने वाला कहता कि यदि इस प्रकार धर्म आदिकों का स्वभाव न्यारा न्यारा है तो वह स्वभाव--भेद ही अति शीघ्र क्यों नहीं कह दिया जाता है ? इस प्रकार संकेत करने पर ही मानों सूत्रकार महाराज अगले सूत्र को कहते हैं—

गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः ॥ १७ ॥

जीव और पुद्गलों का गति—स्वरूप उपग्रह होना धर्म द्रव्य का उपकार है तथा जीव और पुद्गलों का (अथवा सम्पूर्ण द्रव्यों का) स्थिति--स्वरूप उपग्रह होना अधर्म द्रव्य का उपकार है। भावार्थ-द्रव्यों की गति कराने में उदासीन कारण धर्म द्रव्य है और स्थिति कराने में उदासीन कारण अधर्म द्रव्य है।

द्रव्यस्य देशांतरप्राप्ति-हेतुः परिणामो गतिः, तद्विपरीता स्थितिः। उपग्रहोऽनुग्रहः गतिस्थिती एवोपग्रहौ स्वपदार्था वृत्तिर्न पुनरन्यपदार्था धर्माधर्मावित्यवचनात्। नाप्यन्यतरपदार्था गतिस्थित्युपग्रहाविति द्विवचननिर्देशात्। तस्यां हि सत्यामुपग्रहस्यैकत्वादेकवचनमेव स्यात्। गतिस्थित्योरुपग्रहो गतिस्थित्युपग्रह इति भावसाधनस्योपग्रहशब्दस्य षष्ठीवृत्तेर्घटनात्। तस्य कर्मसाधनत्वे स्वपदार्थवृत्तेरेवोपपत्तेः गतिस्थिती एवोपगृह्येते इत्युपग्रहौ।

द्रव्य की प्रकृत देश से देशान्तर में प्राप्ति कराने का हेतु होरहा परिणाम गति कहाजाता है और द्रव्य को उसी देश में ठहराये रखने का कारणभूत होरहा उस गति स्वरूप परिणाम से विपरीत परिणाम तो स्थिति है, इस सूत्र में पड़े हुये उपग्रह शब्द का अर्थ अनुग्रह है, "गतिस्थित्युपग्रहौ" शब्द की निरुक्ति तो यों करनी चाहिये प्रथम "गतिश्च स्थितिश्च" यों द्वन्द्व-वृत्ति द्वारा "गतिस्थिती" शब्द बना लिया जाय पश्चात् गति--स्थिती ही स्वरूप जो दो उपग्रह हैं यों कर्मधारय के उपयोगी विग्रह को कर स्वकीयपदों के अर्थ को प्रधान रखने वाली समास वृत्ति करली जाय किन्तु फिर गति-स्थिती जिनके उपग्रह हैं, ऐसी स्वघटकावयव पदार्थों से अतिरिक्त अन्य पदार्थ को प्रधान करने वाली बहुव्रीहिसमास वृत्ति तो नहीं की जाय, कारण कि "धर्माधर्मौ" ऐसा प्रथमान्तरूप सूत्रकार करके नहीं कहा गया है।

अर्थात्—"गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मौ" ऐसा होता तब तो जिनके उपग्रह गति और स्थिति हैं वे धर्म और अधर्म हैं, यह अर्थ सुघटित होजाता किन्तु सूत्रकार ने "धर्माधर्मयोः" ऐसा षष्ठ्यन्त पद दिया है, अतः स्वपदार्थप्रधान समास करना अच्छा है। तथा दो में से किसी एक ही पदार्थ को प्रधान रखने वाली वृत्ति भी नहीं करनी चाहिये क्योंकि सूत्रकार ने "गतिस्थित्युपग्रहौ" इस प्रकार प्रथमा के द्विवचनान्त रूप का प्रयोग किया है, अन्यतर पदार्थ को प्रधान रखनेवाली उस वृत्ति के करने पर तो उपग्रह का एकपना होने से एक वचन ही होता। अर्थात्—गति और स्थिति के उपग्रह यों एक ही उत्तर पदार्थ को प्रधान करने वाली षष्ठी तत्पुरुषवृत्ति की जाती तो उपग्रह भाव का एकपना होने से "गतिस्थित्युपग्रहः" ऐसा एकवचन का कथन किया जाता। भाव पदार्थ को दो या बहुत प्रकार करके कथन करना अनुचित है। गति और स्थिति का उपग्रह करना गतिस्थित्युपग्रह है, यों उप उपसर्गपूर्वक ग्रह धातु से भाव में अप् प्रत्यय कर साधे गये उपग्रह शब्द की षष्ठी समास वृत्ति से घटना होसकती थी। द्विवचन होने के कारण उस उपग्रह शब्द को यदि कर्म में अप् प्रत्यय कर साधा जायगा तब तो अपने घटकावयव पदार्थों को प्रधान रखने वाली कर्मधारय वृत्ति से ही "गतिस्थित्युपग्रहौ" शब्द की सिद्धि होसकती है जबकि गति और स्थिति ही तो अनुग्रह प्राप्त किये जारहे हैं, इस कारण कर्म में अप् प्रत्यय करके द्विवचनान्त "उपग्रहौ" शब्द ठीक सध जाता है।

न च कर्मसाधनत्वेप्युपग्रहशब्दस्योपकारशब्देन सह सामानाधिकरण्यानुपपत्तिः गतिस्थित्युपग्रहौ उपकार इति उपकारशब्दस्यापि कर्मसाधनत्वात्। न चैवमुपकारशब्दस्य द्विवचनप्रसंगः सामान्योपक्रमादेकवचनोपपत्तेः पुनर्विशेषोपक्रमेपि तदपरित्यागात् "साधोः कार्यं तपःश्रुते" इत्यादिवत्।

यहां कोई यह शंका उपस्थित करे कि उपग्रह शब्द की कर्म में प्रत्यय कर सिद्धि करने पर भी उपकार शब्द के साथ यों समान अधिकरणपना नहीं बन सकता है कि दो गति स्थितियों के दो उपग्रहीत हुये जो हैं वह एक उपकार है, अर्थात्-भावसाधन करने पर तो समान--अधिकरणपना बनता ही नहीं था जब कि उपकार तो धर्म और अधर्म में वर्तता है और गति स्थितियां तो जीव-पुद्गलों में हैं, इस कारण कर्मसाधन निरुक्ति की गयी फिरभी कर्म में साधे गये उपग्रह शब्द का भाव में साधे गये उपकार के साथ समान अधिकरणपना नहीं बन सकता है? ग्रन्थकार कहते हैं कि यह शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि विधेयदलमें पड़ा हुआ उपकार शब्द भी कर्म में घञ् प्रत्यय कर साधा गया है। फिर कोई यदि यों आक्षेप करे कि उपग्रह के समान इस प्रकार तो उपकार शब्द के भी द्विवचन होजानेका प्रसंग आवेगा? आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कह सकते हैं क्योंकि संग्रहनय अनुसार सामान्य का उपक्रम कर देने से एक वचन का प्रयोग बनना सध जाता है, पश्चात् विशेषों का प्रकरण होने परभी उस एक वचन का परित्याग नहीं किया जाता है जैसे कि साधु का कार्य तपस्या करना और शास्त्र अभ्यास करना है, "साधोः कार्यं तपःश्रुते" "मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्" इत्यादि स्थलों पर सामान्यमें उपात्त किया शब्द भलेही विशेषों का उपक्रम होने पर भी अपनी गृहीत संख्या को नहीं छोड़ता है।

ननु स्वपदार्थायां वृत्तावुपग्रहवचनमनर्थकं गतिस्थिती धर्माधर्मयोरुपकार इतीयता पर्याप्तत्वात्। धर्माधर्मयोरनुग्रहमात्रवृत्तित्वख्यापनार्थं गतिस्थित्योरनिर्वर्तककारणत्वप्रतिपत्त्यर्थं चोपग्रहणमित्यप्ययुक्तं, गतिस्थिती धर्माधर्मकृते इत्यवचनादेव तत्सिद्धेः। उपकारवचनाज्जीव-पुद्गलानां गतिस्थिती स्वयमारभमाणानां धर्माधर्मौ तदनुग्रहमात्रवृत्तित्वादुपकारकाविति प्रतिपत्तेः। यथासंख्यनिवृत्त्यर्थमुपग्रहवचनमित्यप्यसारं, तद्भावे तदनिवृत्तेः। शक्यं हि वक्तुं जीवस्य गत्युपग्रहो धर्मस्योपकारः पुद्गलस्य स्थित्युपग्रहोऽधर्मस्योपकार इति यथासंख्यमुपग्रह-वचनसद्भावेपि जीवपुद्गलानां बहुत्वाच्च द्वाभ्यां समत्वाभावादेव यथासंख्यनिवृत्तिसिद्धेर्न तदर्थं तद्वचनं युक्तं। धर्माधर्माभ्यां यथासंख्यप्रतिपत्त्यर्थं गतिस्थित्युपग्रहाविति वचनं व्यवतिष्ठते तेन गत्युपग्रहो धर्मस्य स्थित्युपग्रहः पुनरधर्मस्येति प्रतीयते।

पुनः यहां किसी की शंका है कि स्वकीय पदार्थों को प्रधान रखने वाली समास वृत्ति के करने पर तो सूत्र में उपग्रह शब्द का निरूपण करना व्यर्थ पड़ता है "गतिस्थिती धर्माधर्मयोरुपकारः" गति और स्थिति करादेना तो धर्म और अधर्म द्रव्यका उपकार है, यों केवल इतना कहदेने से ही तात्पर्य की सिद्धि होजाती है। सम्भव है यहां कोई यों समाधान कहे कि पदार्थों की गति और स्थिति के करने में धर्म और अधर्म की केवल अनुग्रह करा देना ही प्रवृत्ति है इस भावको प्रसिद्ध कराने के लिये सूत्रकार ने उपग्रह शब्द डाला, तथा गति और स्थितिके सम्पादक कारण धर्म और अधर्म नहीं हैं इस बातकी प्रतिपत्ति कराने के लिये सूत्र में उपग्रह शब्द ग्रहण कियागया है। शंकाकार कहता है कि उपग्रह शब्द का यह भी प्रयोजन दिखलाना युक्ति--रहित है क्योंकि धर्म करके की गयी गति और स्थिति हैं ऐसा सूत्र कथन नहीं होनेसे ही उस प्रयोजन की सिद्धि होजाती है। अर्थात्-उनको उक्त दो प्रयोजन अभीष्ट होते तो "गतिस्थिती धर्माधर्मकृते" ऐसा सूत्र कर देते किन्तु सूत्रकार ने ऐसा उपदेश नहीं दिया है अतः

सिद्ध होजाता है कि गति और स्थितिके प्रधान कर्ता धर्म और अधर्म नहीं हैं। सूत्र में उपकार शब्द का कथन कर देने से यों प्रतिपत्ति को प्रेरक होकर स्वयं आरम्भ कर रहे जीव और पुद्गलों की उन गति

और स्थितियों में केवल अनुग्रह करने की प्रवृत्ति होजाने के कारण धर्म और अधर्म उपकारक हैं।

पुनः शंकाकार अपनी शंका को पुष्ट कर रहा है कि श्री अकलंक देव के मन्तव्य अनुसार यदि कोई यों कह बैठे कि यथासंख्य की निवृत्ति करने के लिये सूत्र में उपग्रह शब्द कहा गया है। अर्थात्-गति और स्थिति तो धर्म और अधर्म का उपकार है केवल इतना ही कह दिया जाय तो जीवों की गति परिणति करा देना धर्म का उपकार होसकेगा यों पुद्गलों की गति-परिणति धर्म का उपकार नहीं हो सकेगा तथा पुद्गलोंकी स्थिति करा देना धर्मका उपकार बन जायगा जीवोंकी स्थिति करा देना अधर्म का उपकार नहीं होसकेगा, यों संख्याक्रम अनुसार प्रतीति होजायगी उसकी निवृत्तिके लिये उपग्रह शब्द कहा गया है वह व्यर्थ होकर ज्ञापन कर देता है कि यथासंख्य नहीं है।

शंकाकार कहता है कि यह किसी का कहना भी निस्सार है क्योंकि उस उपग्रह शब्द का सद्भाव होने पर भी उस यथासंख्य की निवृत्ति नहीं होनेपाती है जब कि उपग्रह शब्द के होने पर भी यों कहा जा सकता है कि जीवकी गतिमें अनुग्रह करना धर्म द्रव्यका उपकार है और पुद्गल की स्थिति-स्वरूप अनुग्रह करना अधर्म द्रव्यका उपकार है। इस प्रकार उपग्रह शब्दका सद्भाव होने पर भी वह यथासंख्य बनारहता है, निवृत्त नहीं होने पाता है। हां एक बात यह है कि जीव और पुद्गल तो बहुत हैं अर्थात् "जीवाश्च" रूपिणः पुद्गलाः, एकप्रदेशादिषु भाज्यः पुद्गलानां, असंख्येयभागादिषु जीवानां, इन सूत्रोंके अनुसार और द्रव्योंकी गणना अनुसार जीव और पुद्गल बहुत हैं धर्म और अधर्म इन दोनों द्रव्यों के अनुसार उन बहुतों की समता नहीं होसकती है इस ही कारण यथासंख्यकी निवृत्ति होना सिद्ध होजाता है फिर उस यथासंख्य की निवृत्ति के लिये तो उस उपग्रह शब्द का कथन करना युक्त नहीं है।

भावार्थ—धर्म और अधर्मके समान यदि जीव और पुद्गल भी एक एक द्रव्य होकर दो ही होते तबतो यथासंख्य लागू होता किन्तु जब जीव और पुद्गल अनन्त द्रव्य हैं तो ऐसी दशामें अनन्तों का दो के साथ सामानाधिकरण्य नहीं बनसकता है, अतः जीवोंकी गति धर्मका उपकार और पुद्गलोंकी स्थिति अधर्म का उपकार, यह अर्थ करना ही अलीक है। हां उपग्रह शब्द के नहीं ग्रहण करने पर भी जीव और पुद्गलों की गति करना धर्मका और जीव या पुद्गलोंकी स्थिति करना अधर्म का उपकार है, यह अर्थ हो सम्पन्न होता है फिर सूत्रकार ने उपग्रह शब्द क्यों दिया? यहां तक आक्षेप करते हुये शंकाकार ने अपने मतको पुष्ट किया है। अब ग्रन्थकार समाधान करते हैं कि धर्म और अधर्मके साथ यथा-संख्यगति और स्थितिकी प्रतिपत्ति होय इसलिये सूत्रकारका 'गति स्थित्युपग्रहौ, यों उपग्रह शब्दका निरूपण करना व्यवस्थित होजाता है तिस कारण इस समीचीन अर्थ की प्रतिपत्ति होजाती है कि गति स्वरूप अनुग्रह करना धर्म का उपकार है और स्थिति रूप अनुग्रह करना फिर अधर्म का उपकार है। भावार्थ—यदि सूत्र में उपग्रह शब्द नहीं डाला जाता तो गति और स्थिति दोनों ही धर्म के उपकार बन बैठते तथा अधर्म के उपकार भी गति और स्थिति दोनों होजाते, अतः यथासंख्य की प्रतिपत्ति कराने के लिये उपग्रह शब्द सार्थक है। श्री अकलंक देव के विचार-अनुसार यथासंख्यकी निवृत्तिके लिये उप-ग्रह शब्द का प्रयोग करना बताया सार्थक नहीं है।

ननु गतिस्थित्युपग्रहौ धर्मस्याधर्मस्य च प्रत्येकमिति कश्चित्, सोपि न स्थितवादी उपकाराविति वचनादपि तत्सिद्धिः गतिरुपकारो धर्मस्य स्थितिरधर्मस्येत्यभिसंबंधत्वात् ।

यहां कोई पुनः प्रश्न करता है कि 'गतिस्थित्युपग्रहौ धर्मस्याधर्मस्य च प्रत्येकं' गति और स्थिति रूप उपग्रह करना तो प्रत्येक होकर धर्म और अधर्म का उपकार है, इस प्रकार कोई पण्डित आलाप कर रहा है। ग्रन्थकार कहते हैं कि वह भी व्यवस्थित पदार्थ के कहने की टेव को रखने वाला नहीं है, क्योंकि " उपकारौ " इस कथन से भी उस प्रयोजन की सिद्धि होजाती है, गति-स्वरूप उपकार धर्म का और स्थिति-स्वरूप उपकार तो अधर्म का है यों दोनों में दो ओरसे सम्बन्ध होजायगा इसके लिये उपग्रह शब्द डालना या प्रत्येक शब्द डालना निष्प्रयोजन है " गतिस्थित्युपकारौ धर्माधर्मयोः " इतना ही सूत्र पर्याप्त है।

तत्किमिदानीमुपग्रहवचनं ? न कर्तव्य । कर्तव्यमेवोपकारशब्देन कार्यसामान्यस्याभिधानात् गतिस्थित्युपग्रहाविति कार्यविशेषकथनात् । तेन धर्माधर्मयोर्न किंचित्कार्यमस्तीति वदन्निवार्यते धर्माधर्मयोरुपकारोस्तीति वचनात् । किं पुनस्तत्कार्यमित्यारेकायां गतिस्थित्युपग्रहाविन्युच्यते गतिस्थिती इति तयोस्तदनिर्वर्त्यत्वात् धर्माधर्मौ हि न जीवपुद्गलानां गतिस्थिती निर्वर्तयतः । किं तर्हि ? तदनुग्रहावेव ।

पुनरपि कोई आक्षेप करता है कि तब तो ऐसा अवसर उपस्थित होने पर उपग्रह शब्द क्यों बोला जाता है ? सूत्र में उपग्रह का ग्रहण तो नहीं करना चाहिये यथा-संख्य की प्रतिपत्ति भी उपग्रह शब्द के विना होसकती है जैसे कि अभी आपने प्रतिपादन कर दिया है कि धर्म का उपकार जीव पुद्गलों की गति करा देना और अधर्म का उपकार जीवपुद्गलों की स्थिति करा देना है। अब ग्रन्थकार सिद्धान्त उत्तर कहते हैं कि सूत्र में उपग्रह शब्द का ग्रहण करना ही चाहिये कारण कि उपकार शब्द करके कार्यसामान्य का कथन किया गया है और " गतिस्थित्युपग्रहौ " यों उपग्रह शब्द करके कार्यविशेष का प्ररूपण सूत्रकार द्वारा किया गया है, तिस कारण धर्म और अधर्म का कोई कार्य ही नहीं है , इस प्रकार कह रहे किसी सांख्य या अन्य वादी के मन्तव्य का निवारण कर दिया जाता है क्योंकि धर्म और अधर्म का कुछ न कुछ उपकार अवश्य है, ऐसा सामान्य रूप से कथन किया गया है। इस पर फिर कोई यों प्रश्न करे कि उन धर्म और अधर्म का कार्य क्या है ? ऐसी आशंका होने पर " गतिस्थित्युपग्रहौ " यहां उपग्रह शब्द को डाल कर उद्देश्य दल कह दिया गया है, यानी धर्म और अधर्म के विशेषरूपसे कार्य गति-स्वरूप उपग्रह और स्थिति-स्वरूप उपग्रह हैं, यदि उपग्रह को नहीं कर " गतिस्थिती " इतना ही कहा जाता तो विशेष कार्यों की प्रतिपत्ति नहीं होसकती थी। जैन सिद्धान्त अनुसार प्रत्येक वस्तु किन्हीं न किन्हीं सामान्य और विशेष कार्यों का प्रति समय सम्पादन करती रहती है, सामान्य के विना विशेष और विशेष के विना सामान्य खरविषाणवत् है, अतः गति और स्थिति तो धर्म और अधर्म के विशेष कार्य हैं। यहां सामान्य कार्य उपकार का और विशेष कार्य गति स्थितिओं का कोई समय भेद या स्वरूपभेद नहीं है, केवल सामान्य के साथ तदात्मकविशेष और विशेष

के साथ कथंचित् तदात्मक सामान्य की प्रतिपत्ति कराते हुये ग्रन्थकार ने सामान्य और विशेष दो कार्यों को दिखला कर सूत्रकार के उपग्रह शब्द को सार्थक सिद्ध कर दिया है।

यहां इतना विवेक रखना चाहिये कि यद्यपि धर्म और अधर्मके उपकार गति और स्थिति स्वरूप अनुग्रह हैं फिर भी वे दोनों गति स्थितियां उन धर्म और अधर्म द्रव्य करके स्वतंत्रतया सम्पादित नहीं की जाती हैं, कारण कि धर्म और अधर्म नियम से जीव और पुद्गलों को गति और स्थिति को नहीं बना-देते हैं, यानी प्रेरक कारण नहीं हैं तो फिर धर्म अधर्म ये गति स्थिति में क्या करते हैं ? इसका उत्तर यही है कि धर्म और अधर्म उन गति और स्थितिओंका अनुग्रह ही करते हैं, चलाकर बनाते नहीं हैं। गति और स्थिति के सम्पादक कारण जीव और पुद्गल ही हैं धर्म और अधर्म तो उन बन रही गति स्थितियों पर केवल अनुग्रह कर देते हैं। जैसे कि मछली के गमन में जल और पथिकों के ठहराने में छाया अनुग्राहक मात्र है, कारक नहीं। यह बात उपग्रह शब्दके डालने पर ही व्यवस्थित होसकती है, अनुग्राहक और प्रेरक कारण में महान् अन्तर है।

कुत इत्येवं ।

ग्रन्थकार के प्रति किसी का प्रश्न है कि इस प्रकार धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य के सामान्य कार्य और विशेष कार्य दो हैं, यह किस प्रमाण से समझा जाय ? ऐसी जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार उत्तर-वार्तिकों को कहते हैं।

सकृत्सर्वपदार्थानां गच्छतां गत्युपग्रहः ।
धर्मस्य चोपकारः स्यात्तिष्ठतां स्थित्युपग्रहः ॥ १ ॥
तथैव स्यादधर्मस्यानुमेयाविति तौ ततः ।
तादृक्कार्यविशेषस्य कारणाव्यभिचारतः ॥ २ ॥

युगपत् गमन करने वाले सम्पूर्ण पदार्थों की गति करने में अनुग्रह करना तो धर्म द्रव्य का उपकार है और तिस ही प्रकार ठहर रहे सम्पूर्ण पदार्थों की अक्रम से होरही स्थिति में अधर्म द्रव्यका उपकार समझा जायगा, इस कारण वे धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य दोनों उन गत्युपग्रह तथा स्थित्युपग्रह कार्यों करके अनुमान करने योग्य हैं, जैसेकि धूमसे अग्नि का अनुमान कर लियाजाता है तिस प्रकार के कार्य विशेष का स्वकीय कारणों के साथ कोई व्यभिचार नहीं है। अर्थात्-गमन करने वाले सम्पूर्ण पदार्थों का युगपत् गमन और ठहरने वाले अखिल पदार्थों का युगपत् ठहरे रहना इन दोनों कार्यों के अव्यभिचारित कारण नियत हो रहे धर्म और अधर्म द्रव्य हैं। इन्द्रियग्राह्य अविनाभावी कार्य हेतु से अतीन्द्रिय कारण को ज्ञप्ति कर ली जाती है।

क्रमेण सर्वपदार्थानां गतिपरिणामिनां गत्युपग्रहस्य स्थितिपरिणामिनां स्थित्युपग्रहस्य

च क्षित्यादिहेतुकस्य दर्शनान्न धर्माधर्मनिबंधनत्वमिति चेन्न सकृद्ग्रहणात् । सकृदपि केषां-चित्पदार्थानां तस्य क्षित्यादिकृतत्वसिद्धेः [illegible] सर्वग्रहणात् । ततः सकृ-त्सर्वपदार्थगतिस्थित्युपग्रहौ सर्वलोकव्यापिद्रव्योपकृतौ सकृत्सर्वपदार्थगतिस्थित्युपग्रहत्वान्यथा-नुपपत्तेरिति कार्यविशेषानुमेयौ धर्माधर्मौ । न हि धर्माधर्माभ्यां विना सकृत्सर्वार्थानां गतिस्थि-त्युपग्रहौ सम्भाव्येते, यतो न तदव्यभिचारिणौ स्याताम्

हेतु दलमें पड़े हुये सकृत् और सर्व इन दो पदों का कृत्य यों समझना कि यदि कोई कहे गति स्वरूप परिणत होरहे जीव और पुद्गल स्वरूप सम्पूर्ण पदार्थों के क्रम से गति उपग्रह का कारण तो पृथिवी, जल, आदि द्रव्य हैं और स्थिति परिणत होरहे सम्पूर्ण पदार्थों को क्रम क्रम से स्थिति अनुग्रह करने के हेतु तो भूमि, वृक्षच्छाया, आदि होसकते हैं, ऐसा देखा जाता है अतः गति–उपग्रहका कारण धर्मद्रव्य और स्थिति-उपग्रहका कारण अधर्मद्रव्य नहीं मानना चाहिये । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि सकृत् शब्द का ग्रहण होरहा है सम्पूर्ण पदार्थों की क्रम से गति स्थितियां भले ही पृथिवी आदिक से होजांय किन्तु अक्रम से गति और अक्रम से स्थिति तो धर्मद्रव्य करके ही होसकती है । तथा यदि फिर भी कोई यों कहे कि किन्हीं किन्हीं थोड़े से पदार्थों की वह गति और स्थितिओं का किया जाना पृथिवी आदिकसे भी सिद्ध होसकता है,अतः उन गति स्थितियोंके निमित्त कारण पृथिवी आदिक बन बैठेंगे । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह भी नहीं मान बैठना चाहिये क्योंकि हेतु कोटि में सर्व का ग्रहण होरहा है सम्पूर्ण द्रव्योंकी युगपत् गति या स्थिति तो पृथिवी आदिक से नहीं होसकती है, धर्म या अधर्म द्रव्य से ही होगी तिस कारण से यों अनुमान बनाया जाता है कि युगपत् होरहा सम्पूर्ण पदार्थों का यथायोग्य गति-अनुग्रह और सर्व पदार्थों का युगपत् स्थिति-अनुग्रह ये दोनों (पक्ष) सम्पूर्ण लोक में व्यापक होरहे द्रव्यों करके उपकृत हैं (साध्य) क्योंकि अक्रम करके सम्पूर्ण पदार्थों की गति और स्थिति रूप अनुग्रह होना अन्यथा यानी लोकव्यापक द्रव्यों के बिना नहीं होसकता है (हेतु) इस प्रकार कार्य विशेषों करके धर्म और अधर्म द्रव्य अनुमान कर लेने योग्य हैं । कारण कि धर्म और अधर्म के बिना युगपत् सम्पूर्ण पदार्थों के गति-उपग्रह और स्थिति-उपग्रह सम्भवनेयोग्य नहीं हैं जिससे कि वे गति उप-ग्रह और स्थिति-उपग्रह होरहे उस लोक-व्यापक द्रव्यके साथ अव्यभिचारी नहीं होते । यानी उक्त हेतुका अपने साध्यके साथ निर्दोष अविनाभाव है कोई व्यभिचार विरोधादि दोषों की सम्भावना नहीं है ।

ताभ्यां विनैव परस्परतः सम्भाव्येते ताविति चेत् किमिदानीं युगपद्गच्छतां सर्वेषां तिष्ठतो हेतवः सर्वे, तिष्ठतां च सकृत्सर्वेषां गच्छन्तः सर्वेषां आहोस्वित् केचिदेव केषांचित् ? न तावत्प्रथमः पक्षः परस्पराश्रयप्रसंगात् नापि द्वितीयः श्रेयान् सर्वार्थगतिस्थित्युपग्रहयोः सर्व-लोकव्यापि द्रव्योपकृतत्वेन साध्यत्वात् प्रतिनियतार्थगतिस्थित्यनुग्रहयोः कादाचित्कयोः प्रति-विशिष्टयोः क्षित्यादिद्रव्योपकृतत्वाभ्युपगमात् ।

यदि यहाँ कोई प्रतिवादी यों कहे कि प्रकृत हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव नहीं है उन धर्म, अधर्म द्रव्यों के विना ही परस्पर करके सम्पूर्ण अर्थों के वे गतिअनुग्रह स्थिति-अनुग्रह सम्भव जाते हैं, घोड़ा सवार को चला रहा है, सवार घोड़े को चला रहा है, पर घोड़ा सवार को ठहरा लेता है और सवार घोड़ेको ठहरा लेता है। पथिक को छाया ठहरा लेती है, वायु तृणोंको उड़ादेती है मूढ़ा या कुर्सी मनुष्यको बैठाये रखता है। ठहरा हुआ लाल सिगनल या नहीं झुका हुआ सिगनल रेलगाड़ी को ठहरा लेता है और हरा या झुका हुआ सिगनल रेलगाड़ीकी गति होजाने में अनुग्राहक है तथा गमन कर रही वायु परदे वाली नावकी गतिको करादेती है और निषेधके लिये हिलाया गया हाथ आगन्तुक को ठहरा देता है, यों गमन करने वाले पदार्थ दूसरोंकी स्थिति करानेमें अथवा स्थिति वाले पदार्थ दूसरोंके गमन करानेमें सहायक होरहे हैं, इत्यादिक अनेक पदार्थ परस्पर गमन और स्थितिको करा रहे हैं इसके लिये धर्म और अधर्म द्रव्य कुछ भी उपयोगी नहीं।

यों कहने पर तो आचार्य विकल्प उठाते हैं कि इस अवसर पर युगपत् गमन कर रहे सम्पूर्ण पदार्थों के गतिअनुग्रह में कारण क्या सम्पूर्ण ठहर रहे पदार्थ हैं ? और एक साथ ठहर रहे सम्पूर्ण पदार्थों के स्थिति-अनुग्रहमें कारण क्या सभी गमन कर रहे पदार्थ हैं ? अथवा क्या कुछ थोड़े से पदार्थ ही कुछ अन्य थोड़े से पदार्थों के गति-अनुग्रह या स्थिति-अनुग्रह करने में कारण माने गये हैं ? बताओ पहिला पक्ष ग्रहण करना तो ठीक नहीं पड़ेगा क्यों कि अन्योन्याश्रय दोष होजाने का प्रसंग आता है गमन करने वाले पदार्थोंके कारण ठहरने वाले होंय और ठहरने वालोंके कारण गमन करने वाले पदार्थ होंय,यह अन्योन्याश्रय स्पष्ट है। सम्पूर्ण पदार्थ तब गमन कर सकें जबकि सभी पदार्थ ठहरे हुऐ होंय और सभी पदार्थ ठहरें कब, जब कि सभी पदार्थ गमन करें, यह असम्भव-गर्भित परस्पराश्रय दोष है तथा दूसरा पक्ष ग्रहण करना भी श्रेष्ठ नहीं है क्योंकि सम्पूर्ण अर्थों के गति-उपग्रह और स्थिति-उपग्रह को सम्पूर्ण लोक में व्याप रहे द्रव्य द्वारा उपकृतपने करके साध्य किया गया है प्रतिनियत हुये कतिपय अर्थों के कभी कभी होने वाले प्रत्येक विशिष्ट होरहे गति-अनुग्रह और स्थिति-अनुग्रह का पृथ्वी आदि द्रव्यों द्वारा उपकृतपना हम जैन स्वीकार कर चुके हैं, अतः कतिपय द्रव्य किन्हीं परिमित द्रव्यों के अनुग्राहक हैं, यह दूसरा पक्ष लेना उचित नहीं है।

गगनोपकृतत्वात् सिद्धसाधनमिति चेन्न, लोकालोकविभागाभावप्रसंगाल्लोकस्य सावधित्वसाधनात् निरवधित्वे संस्थानवत्वविरोधात् प्रमाणाभावाच्च।

यहां कोई आक्षेप करता है कि जैनों द्वारा दिये गये अनुमान में सिद्धसाधन दोष है। क्योंकि सर्वत्र लोकालोक में व्याप रहे आकाश द्रव्य करके उपकृत होरहे गत्युपग्रह और स्थित्युपग्रह सिद्ध ही हैं। इस क्लृप्त होरहे आकाश के द्वारा साधने योग्य कार्य के लिये नवीन धर्म अधर्म द्रव्योंकी कल्पना करना ठीक नहीं है, आकाश करके अवगाह और गति--अनुग्रह, स्थिति--अनुग्रह ये कार्य निपटा दिये जायंगे- अतः आप जैन भाई सिद्ध पदार्थ आकाश का ही साधन कर रहे हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों आकाश के मानने पर और धर्म, अधर्म, द्रव्यों के नहीं स्वीकार करने पर तो लोक और अलोक के विभाग के अभाव का प्रसंग होजावेगा, जहां तक आकाश में धर्म, अधर्म द्रव्य

पाये जाते हैं उतना मध्यवर्ती तीनसौ तेतालीस घन-राजू प्रमाण लोकाकाश है, शेष अनन्तानन्त रज्जु लम्बा, चौड़ा, मोटा, अलोकाकाश है, लोक को पूर्व प्रकरणों में मर्यादा-सहित साधा जाचुका है यदि लोक को मर्यादा-रहित माना जायगा तो विशेष आकार में सहितपन का विरोध होजावेगा तथा लोक की मर्यादा-रहित साधने वाले प्रमाणों का भी अभाव है।

भावार्थ—अलोकाकाश के सब ओर से ठीक बीच में यह लोक अनादि काल से विरचित है, जोकि चौदह राजू ऊंचा और दक्षिण उत्तर सात राजू लम्बा है। हां लोककी पूर्व पश्चिम में नीचे सात राजू उसके ऊपर सात राजू तक क्रमसे घटकर एक राजू और वहांसे क्रमसे बढ़ कर साढे दस राजू तक पांच राजू तथा पुनः क्रम से घट कर चौदह राजू की ऊंचाई तक एकराजू चौड़ाई है। लोक के छहों ओर वातवलय हैं, इस प्रकार पांव फैलाकर और कमर पर हाथ रख खड़े हुये पुरुष के समान लोक की आकृति है, जो कि उक्त प्रमाण अनुसार छहों ओर मर्यादा सहित है। इस लोक की मर्यादाको धर्म द्रव्य और अधर्म ने ही व्यवस्थित किया है। अन्यथा सर्वत्र जीव और पुद्गलों की अव्याहत गति या स्थिति होजाने से लोक और अलोक का कोई विभाग नहीं होसकेगा। एक बात यहां यह भी विचारने की है, कि सम्पूर्ण आकाश द्रव्य अनन्तानन्त-प्रदेशी है अनन्त का अर्थ कोई पण्डित मर्यादा रहित होरहा करते हैं, सम्भव है इसी प्रकार असंख्यात का अर्थ संख्या से अतिक्रान्त होरहा करते होंय किन्तु यों अर्थ करना स्थूल दृष्टि से भले ही थोड़ी देर के लिये मान्य कर लिया जाय परन्तु सिद्धान्त दृष्टिसे उक्त दोनों अर्थ अनुचित हैं। असंख्यात की भी संख्या की जासकती है, और अनन्तानन्त भी सर्वज्ञ ज्ञान द्वारा गिने जा चुके मर्यादित हैं जब कि उत्कृष्ट संख्यात को गिना जा सकता है। तो उससे एक अधिक जघन्य परीतासंख्यात को क्यों नहीं गिना जा सकेगा? इसी प्रकार जब असंख्यातासंख्यात की मर्यादा बांधी जाती है, तो उससे एक अधिक परीतानन्त की मर्यादा करने में कौन सी बुद्धि की नोंक घिस जायगी?

संख्यामान के ही तो इकईस भेद हैं, जो कि संख्यात, परीतासंख्यात, युक्तासंख्यात, संख्यातासंख्यात, परीतानत, युक्तानन्त, अनन्तानन्त के जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद अनुसार हैं। संख्यामान के ग्यारहवें भेद होरहे मध्यम असंख्यातासंख्यात नामक गणना के किसी अवान्तर भेद में लोकाकाश के प्रदेश परिगणित हैं तथा बीसवीं संख्या मध्य-अनन्तानन्त के किसी भेद में अलोकाकाश या सम्पूर्ण आकाश के प्रदेश गिन लिये गये हैं " पल्लघणंविंदंगुल जगसेढी लोय पदर जीवघणं। तत्तो पढमं मूलं सव्वागासं च जा जाणेज्जो " यों त्रिलोकसार में सर्वाकाश के प्रदेश गिना दिये हैं। साधारण पुरुष जिसप्रकार दश, बीस, पचास रुपयों को गिन लेता है, इससे भी कहीं अधिक स्पष्ट रूपसे केवलज्ञानी महाराज अलोकाकाश के प्रदेशोंको झटिति गिन लेते हैं। बरफी के समान समघन चतुरस्र अलोकाकाश की छहों दिशाओं में मर्यादा है।

लोक के ठीक बीच सुदर्शनमेरु की बीच जड़ में पड़े हुये आठ प्रदेशों से यदि अलोकाकाश को नापा जायगा तो पूर्व, पश्चिम, उत्तर दक्षिण, ऊर्ध्व, अधः, छहों ओर डोरी ठीक नाप की पड़ जायगी। हां चौकोर पदार्थ के बीच से तिरछे नापे गये कोने तो बढ़ ही जायंगे यदि केवल अलोकाकाश के ही छहों दिशा की ओर प्रदेश गिनने होंय तो लोकाकाश के नीचे या ऊपर के प्रदेशों से दक्षिण या उत्तर दिशा-सम्बन्धी प्रदेश तो साढ़े तीन, साढ़े तीन राजू बढ़ जायंगे कारण कि लोक की

ऊंचाई चौदह राजू है। और दक्षिण उत्तर लम्बाई सर्वत्र सात राजू है, अतः दक्षिण या उत्तर किसी भी एक ओर अलोकाकाशके प्रदेश ऊंचाई या निचाई से साढ़े तीन राजू अधिक फैल रहे माने जायगे। इसी प्रकार मध्य लोक में एक राजू चौड़े लोकाकाश से पूर्व या पश्चिम राजू के अलोकाकाश के प्रदेश तो दक्षिण उत्तर की अपेक्षा तीन तीन राजू अधिक विस्तृत हैं। और ऊपर नीचे की अपेक्षा साढ़े छह छह राजू अतिरिक्त हैं, यों विवेचन करने पर श्रुतज्ञान द्वारा अलोकाकाश की व्यंजन पर्याय मर्यादा-सहित प्रतीत होजाती है। सर्वज्ञ भगवान तो अनन्तानन्त राजू लम्बे, चौड़े, ऊंचे मर्यादा वाले अलोकाकाश को स्पष्ट देख रहे हैं। जैसे कोई साधारण मनुष्य पचास गज लम्बे, चौड़े, चौकोर प्रासाद को देख रहा है।

उस मर्यादित अलोकाकाशके बाहर कुछ नहीं है। भैंस के शिरपर लम्बे काठिन्यगुणयुक्त सींग विद्यमान हैं। अतः बैल या भैंस के शिर पर हाथ फेरने वाले को ऊपर सींगों का परिज्ञान होजाता है, किन्तु घोड़ा या गर्दभके शिर पर हाथ फेरने वालोंको ऊपर कुछ भी नहीं प्रतीत होता है। इसी प्रकार अलोकाकाश के बाहर न कोई पोल है, न कोई जीवद्रव्य है, और न पुद्गलादि द्रव्य हैं, खर-विषाण के समान वहां कुछ भी तो नहीं है। प्रकरण में यह कहना है कि लोक या अलोक को मर्यादारहित मानने पर आकृति-सहितपन का विरोध होगा, इस कथन में ग्रन्थकार को कुछ अस्वरस है। अतः प्रमाणोंका अभाव, यह दूसरी युक्ति दी गयी है। वस्तुतः विचाराजाय तो आकाश, काल, जीव केवलज्ञान, ये सभी मर्यादासहित हैं। अतः इनकी आकृति यानी-व्यंजन पर्याय अवश्य है, जो केवलज्ञानी आत्माकी व्यंजन पर्याय है वही केवलज्ञान का संस्थान है। अतः कोई अस्वरस नहीं है, इकईसवीं उत्कृष्ट अनन्तानन्त संख्याके अनुसार केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों की मर्यादा परिगणित है। उत्कृष्ट अनन्तानन्त में भी दस बीस संख्या को मिलाकर इस संख्या को बढ़ाया जा सकता है। किन्तु क्या करें उस संख्या-द्वारा संख्या करने योग्य कोई वस्तुभूत पदार्थ ही नहीं हैं, संख्येयों में नहीं घटित होने वाली कोरी संख्याओं को जैनसिद्धान्त में व्यर्थ गिनाया नहीं गया है। ऐसी अपार्थक, निस्सार बातों को कहने या सुनने के लिये किसी के पास अवसर नहीं है।

तभी तो घनधारा में " आसण्णघरा मूलं " और द्विरूप घनधारा में " चरिमस्स दुचरिमस्स परीव घण केवलव्वदिक्कमदो। तम्हा विरूवहीणा सगवग्गसला हवे ठाणं।" तथा द्विरूप घनाघन धारा में " चरमादिचउक्कस्स य घणाघणा एत्थणेव संभवदि। हेदूभणिदो तम्हा ठाणं चउहीण वग्गसला" श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीको कहना पड़ा है। भले ही बहुत सी मध्यवर्त्ती संख्याओंके संख्येय पदार्थ जगत् में नहीं हैं, फिर भी उनसे अधिक या न्यून के अधिकारी भावों के विद्यमान होने से ठीक ठीक गणित बनाने के लिये मध्यम अस्वामिक संख्याओं का निरूपण करना भी अनिवार्य पड़ जाता है। पुद्गल परमाणु एक समय में चौदह राजू गमन कर सकती है, तदनुसार बीच २ के अनेक स्थानों पर परमाणु के पहुँचने पर समय से भी छोटा काल नापा जा सकता था किन्तु कोई भी पूरा कार्य आधे समय या चौथाई समय अथवा समय के किसी अन्य छोटे भाग में न हुआ, न होरहा है, न होगा, अतः काल की सब से छोटी मर्यादा "समय" बांध दी गयी है। इसी प्रकार बड़ा स्कन्ध बनने के लिये जब पुद्गल परमाणुओं के एक एक भाग में दूसरी दूसरी परमाणुयें अपने अपने भाग से चिपटती हैं। या बंधती हैं तदनुसार परमाणु से भी छोटा टुकड़ा कल्पित किया जा सकता है। किन्तु हम क्या करें तीनों काल में पुद्गल परमाणु से छोटा टुकड़ा अखण्ड पर्याय रूप से न हुआ, न है, न होगा, अतः परमाणु

ही छोटे द्रव्य की अन्तिम मर्यादा है। इन दृष्टान्तों से हमें अलोकाकाश को मर्यादा-सहित कहने में कोई प्रमाणों से बाधा नहीं आती है। तो लोकाकाश को निरवधि कथमपि नहीं कह सकते हो।

प्राय: पौराणिक, नैयायिक, मीमांसक, और आधुनिक पण्डित, लोक को सावधि मानते हैं। निरवधि मानने में कोई प्रमाण नहीं है, लौकिक स्थूल गणित से गिनती नहीं होसके एतावता अलौकिक गणित से भी इन आकाश आदि को अमर्यादित कहना अनीति है। जैन सिद्धान्त अनुसार एक एक परमाणु एक एक प्रदेश, एक एक समय और एक एक अविभाग प्रतिच्छेद की ठीक ठीक गिनती या मर्यादा होरही है। जीव राशि से पुद्गल राशि अनन्तगुणी अधिक है, मुक्त जीवों की अपेक्षा संसारी जीव अनन्तानन्त गुणे हैं। सिद्ध राशि भी अनादि है, जीव राशि भी अनादि है फिर भी सिद्धराशिका अनादिपन जीव राशि के अनादित्व से पौने नौ वर्ष छोटा है। नौ महीने गर्भ में ठहर कर पुन: जन्म लेरहा मनुष्य शीघ्रातिशीघ्र आठ वर्ष पश्चात् संयम को ग्रहण करता सन्ता कतिपय अन्तर्मुहूर्तों के पश्चात् सिद्ध-अवस्था को प्राप्त कर सकता है। अत: सिद्ध-राशि के अनादिकाल से जीव-राशि का अनादि काल पौने नौ वर्ष बड़ा है।

तथा व्यवहार काल या भूत, भविष्यत्, वर्तमान कालों के समयों से अलोकाकाश के प्रदेश अनन्तानन्त गुणे हैं इतने बड़े अलोकाकाश की भी मर्यादा है, लोक के ऊपर नीचे सम्बन्धी अलोकाकाश से दक्षिण उत्तर का अलोकाकाश बड़ा है और लोक के दक्षिण, उत्तर, राजू के अलोकाकाश से मध्य लोक के इधर उधर पूर्व पश्चिम फैला हुआ अलोकाकाश बड़ा हुआ है। वृद्ध विद्वानों से सुना है, कि

सुदर्शन मेरु के बराबर एक लाख योजन लम्बा, चौड़ा, गोल, लोहे का गोला बनाया जाय वह प्रत्येक समय में एक राजू की गति अनुसार यदि पतन करै तो भी पूर्ण भविष्य काल के अनन्तानन्त समयों में भी अलोकाकाश के तल तक नहीं पहुँच पायगा इस दृष्टान्त को सुन कर अब निर्णीत दृष्टान्त को यों समझिये कि जम्बू द्वीप के बराबर गढ़ लियागया लोहे का गोला प्रति समय यदि अनन्तराजू भी पतन करै अथवा एक समय में अनन्त राजू चल कर दूसरे समय में उस अनन्त से अनन्तगुणे अनन्तानन्त राजू गमन करै यों तीसरे, चौथे, आदि समयों में पूर्व पूर्व से अनन्त गुणा चलता चला जाय फिर भी भविष्य काल के अनन्तानन्त समयों में अलोकाकाश की सड़क को पूरा नहीं कर सकेगा, कारण कि " तिविह जहण्णाणंतं वग्गसलादल छिदी सगादि पदं। जीवो पोग्गलकाला सेढी आगास तप्पदरम्। " इस गाथा अनुसार काल समय राशि से अनन्त स्थान ऊपर जाकर आकाश श्रेणी की वर्गितवार स्वरूप वर्ग शलाकायें मिलती हैं, उनसे अनन्त स्थान ऊपर जाकर आकाशश्रेणी के अर्द्धच्छेद निकलते हैं। उनसे अनन्त स्थान ऊपर श्रेणी आकाश की संख्या आती है, श्रेणी आकाश के घन प्रमाण सम्पूर्ण आकाश प्रदेश हैं।

यह दृष्टान्त केवल कल्पित है, क्योंकि धर्मद्रव्य के नहीं होने से कोई भी पुद्गल द्रव्य लोक बाहर गमन नहीं कर सकता है, केवल इस दृष्टान्त द्वारा गणित मात्र दिखाकर उसकी मर्यादा बता दी गयी है, कि व्यवहार काल से अलोकाकाश इतना बड़ा है। इससे कुछ न्यून या अधिक बड़ा नहीं है। तथैव भूत काल के अनन्तानन्त समयों से भविष्य काल के अनन्तानन्त समय अनन्तानन्त गुणे हैं, इस प्रकार श्री केवलज्ञानी भगवान् महावीर स्वामी ने प्रतिपादन किया है, महावीर स्वामी की दिव्य भाषा के समय से अब तक असंख्याते समयों की वृद्धि भूतकाल में होचुकी है, और भविष्य काल में असंख्यात समयों की हानि होचुकी है, सम्भव है अनन्तानन्त कल्प कालों के पश्चात् कोई सर्वज्ञ भगवान् यों

उपदेश देवें कि आज ठीक मध्याह्न या अपराण्ह के समय भूतकाल और भविष्यकाल दोनों तराजू के पलड़े समान बराबर होजांय, पश्चात् भूतकाल बढ़ता जाय और भविष्यकाल छोटा होता जाय यों द्रव्य, काल, क्षेत्रों की ठीक ठीक गिनती कर मर्यादा बांध दी गयी है।

भाव की व्यवस्था यों समझिये कि अलोकाकाश के प्रदेशों से अनन्तानन्त गुणे सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के जघन्य ज्ञान के अविभागप्रतिच्छेद हैं। द्विरूप वर्गधारा में प्रतर आकाश की संख्या को समझा कर "धम्माधम्मा गुरु लघु इगिजीवागुरुलघुस्स होंति तदो। सुहमरिगअपुण्णणाणे अवरे अविभाग पडिछेदा" ऐसा त्रिलोकसारमें कहा है। इस गणित में एक भी संख्या की न्यूनता या अधिकता नहीं है। यह नाप "बावन तोले पाव रत्ती" के न्याय अनुसार ठीक ठीक की गयी है।

जघन्य ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों से अनन्तानन्त गुणे केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद हैं, यद्यपि केवल ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों की इकईसवीं [illegible] संख्या में भी एक दो, दस, बीस, संख्यात, असंख्यात कोई भी संख्या बढ़ायी जा सकती है। और बढ़ी हुई उस कल्पित संख्या से केवल ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद न्यून भी कहे जा सकते हैं। तथापि सच्चे गणितज्ञ की यही नीति है, कि वह ठीक ठीक संख्या वाले पदार्थों का उसी नियत संख्या अनुसार निरूपण करें। केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेदों से अधिक संख्या वाला पदार्थ कोई इस चराचर जगत् में गिनने योग्य ही नहीं है। अतः सर्वज्ञ देव ने उत्कृष्ट अनन्तानन्त से अधिक किसी बाईसवीं संख्या का उपदेश नहीं दिया है। यों द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों की नियत संख्या या अनन्तानन्त संख्याओं पर पर्याप्त रूप से प्रकाश डाला जा चुका है।

यहां किसीका यह कुतर्क नहीं चल सकता है कि अनादि और अनन्तकी भी जब मर्यादा हो चुकी तो उनका कभी न कभी अन्त आही जायगा? निर्णीत विषय यह है कि सक्षय अनन्त राशि का भले ही व्यय होते होते अन्त आजाय किन्तु अक्षय अनन्त राशियों में पड़े हुये जीव द्रव्य, पुद्गल द्रव्य, कालसमय, आकाश प्रदेश, जघन्य ज्ञान या केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद इनका अन्त नहीं आ सकता है हां जीव द्रव्यों की मोक्ष होने पर या काल समयों के व्यतीत होने पर व्यय होते होते न्यूनता अवश्य होजायगी, क्षय नहीं होगा। व्यय-सद्भावे सत्यपि नवीनवृद्धेरभावकत्वं चेत्। यस्य क्षयो न नियतः सोनन्तो जिनमते भणितः।

आक्षेप कर्त्ता का लक्ष्य आकाश क्षेत्र या भाव पदार्थ नहीं हैं हां द्रव्य और काल में यह शंका उपस्थित की जा सकती है कि छह महीने आठ समयों में छहसौ आठ जीवों के मुक्त होते होते कभी न कभी संसारी जीव राशि का अन्त होजायगा और भविष्यकाल में से न्यून होते होते कदाचित् काल समय राशि का अवसान होजाय किन्तु पहिले कहा जा चुका है कि वह जीव राशि या काल राशि का अनन्तानन्त इतना बड़ा है। कि उसका कभी पूर्ण विराम नहीं होसकता है यद्यपि जीव राशि से काल समय अत्यधिक है, फिर भी वे दोनों अक्षयानन्त हैं।

जैसे शून्य० का किसी भी बड़ी संख्या से गुणा किया जाय तीन, चार, आदि संख्या को प्राप्त करना असम्भव है। उसी प्रकार किसी गुणाकार द्वारा शून्य से एक, दो, संख्या लाना भी असम्भव है, द्रव्यों की ठीक ठीक अन्यूनातिरिक्त गिनती कर देने वाले सर्वज्ञ देव के वचनों पर किसी कुतर्क का संचार नहीं होसकता है, वे अनादि को अनादि रूप से ही ठीक ठीक जान रहे हैं और अनन्त को

अनन्तरूप से परिज्ञात कर रहे हैं। भला ये भी कोई बलात्कार शोभता है कि अनादि को जानते हुये वे उसकी आदिको जान बैठें या अनन्तको जानते हुए उसका अन्त कर बैठें। यों जानना तो एक प्रकार का मिथ्याज्ञान होगा जो कि सम्यग्ज्ञानी सर्वज्ञके असम्भव है। विकास सिद्धान्त को मानने वाले भावों को अनादि अनन्त अवश्य मान लेंगे। मुर्गी अण्डा या बीजवृक्ष का अनादित्व निःसंशय प्रसिद्ध है, वैसा ही क्षेत्र, काल, द्रव्यों में भी अनन्तपना सयुक्त है। परिशेष में यह कहना है कि असंख्यात या अनन्ते पदार्थ भी अवधिसहित हैं। मर्यादित लोक में ही जीव आदि पांच द्रव्य निवास करते हैं।

यदि पुनर्लोकैकदेशवर्तिद्रव्योपकृतौ सकलार्थ-गतिस्थित्युपग्रहौ स्यातां तदापि लोकालोकविभागासिद्धिः क्वचिद्वर्तमानयोर्धर्माधर्मास्तिकाययोः सर्वलोकाकाशे इवालोकाकाशेपि सर्वार्थगतिस्थित्युपग्रहोपकारित्वप्रसक्तेस्तस्य लोकत्वापत्तेः। ततः सर्वगताभ्यामेव द्रव्याभ्यां सकलार्थगतिस्थित्यनुग्रहोपकारिभ्यां भवितव्यं तौ नो धर्माधर्मौ।

फिर शंकाकार के विचार अनुसार सम्पूर्ण अर्थोंके गति-उपग्रह और स्थिति-उपग्रह यदि लोक के एक देश में वर्त रहे द्रव्यों करके उपकार प्राप्त किये जाते होते तो भी लोक और अलोक के विभाग की सिद्धि नहीं हो पाती क्योंकि लोक में कहीं वर्त रहे धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायों को जैसे अतिरिक्त स्थान या सम्पूर्ण लोकाकाश में अथवा वहां विद्यमान पदार्थों के गति-उपग्रह और स्थिति-उपग्रह की उपकारकपना स्वीकार किया जाता है उसी प्रकार लोकाकाश के किसी कौने में धरे हुए धर्म, अधर्म करके अलोकाकाशमें भी सम्पूर्ण अर्थोंके गति-उपग्रह और स्थिति अनुग्रहके उपकारकपनका प्रसंग आजायगा और ऐसा होने से उस अलोकाकाश को भी लोकपन की आपत्ति आजायगी जो कि अलोक का लोकपना किसीको भी इष्ट नहीं है, तिस कारण लोक में सर्वत्र व्यापक होरहे ही धर्म, अधर्म, द्रव्यों को सम्पूर्ण अर्थों की गति और स्थिति स्वरूप अनुग्रह करने में उपकारी होना चाहिये यानी-लोकमें सर्वगत होरहीं द्रव्यें ही सम्पूर्ण अर्थों की गति और स्थिति के अनुग्रह करने में उपकारी होसकती हैं। अव्यापक द्रव्यें उक्त कार्यको नहीं निभासकेंगी वस वही लोक में सर्वगत होरहीं द्रव्यें हम स्याद्वाद-सिद्धान्तियों के यहां धर्म और अधर्म इस नाम से प्रख्यात हैं।

अग्रिम सूत्र का अवतरण यों समझिये कि कोई जिज्ञासा करता है कि परोक्ष होरहे अतीन्द्रिय धर्म और अधर्म द्रव्य का अस्तित्व यदि उपकार के सम्बन्ध करके निर्णत किया जाता है तो उनके अव्यवहित उत्तर कहे गये अत्यन्त परोक्ष आकाश का अधिगम करने में भला क्या उपाय है? जिसप्रकार का कि अवलम्बकर अतीन्द्रिय आकाशकी आधुनिक पण्डितोंको ज्ञप्ति होजाय आकाश तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु से भी अत्यधिक अत्यन्त परोक्ष है ऐसी अभिलाषा प्रवर्तने पर सूत्र-कार महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

आकाशस्यावगाहः ॥१८॥

अवगाह करने वाले जीव, पुद्गलादि सम्पूर्ण द्रव्यों को अवकाश देना यह आकाश का उपकार है।

उपकार इत्यनुवर्तते। कः पुनरवगाहः? अवगाहनमवगाहः स च न कर्मस्थस्तस्यासिद्धत्वाक्लिष्टत्वायोगात्। किं तर्हि? कर्तृस्थ इत्याह।

पूर्व सूत्र से उपकार इस शब्द की अनुवृत्ति कर ली जाती है तदनुसार अवगाह देना आकाश का उपकार है यह अर्थ घटित होजाता है। यहां कोई पूछता है कि यह अवगाह भला क्या पदार्थ है ? इसका उत्तर यों है कि अवगाहन क्रियाको ही यहां अवगाह लिया गया है अव उपसर्गपूर्वक" गाह विलोडने,, धातु से भावमें घञ् प्रत्यय कर अवगाह शब्द बना लियागया है और वह अवगाह यानी अनुप्रवेश तो कर्म में स्थित होरहा नहीं है क्योंकि कर्म में स्थित होरहे उस अवगाह की सिद्धि नहीं है. अतः उस कर्मस्थ अवगाहको आकाश द्रव्यका ज्ञापक लिंगपना नहीं बन सकता है। अर्थात्' जलं अवगाहते मत्स्यः मछली जल को अवगाह करा रही है, इस प्रकार " जीवादयः आकाशं अवगाहन्ते.. जीव आदिक पदार्थ आकाश को अवगाह रहे हैं ऐसा कर्त्ता होरहे जीव आदिकोंमें अवगाह क्रिया ठहर जाती है किन्तु कर्म होरहे आकाशमें क्रिया नहीं ठहरती है, भलेही निश्चयनय अनुसार आकाश स्वयं ठहर जाय किन्तु भेद पक्ष की षट्कारकी अनुसार वह सिद्धान्त गौण पड़ जाता है। जबतक आकाश ही सिद्ध नहीं है तो उस आकाश कर्म में अवकाश किया तो सुतरां असिद्ध होगी। ऐसी दशा में वह अवगाह आकाश का ज्ञापक हेतु नहीं होसकता है फिर वह अवगाह कैसा माना जाय ? ऐसा आक्षेप होने पर ग्रन्थकार उत्तर देते हैं कि कर्त्ताओं में ठहररहा अवगाह प्रसिद्ध है वह आकाश का ज्ञापक हेतु भी होसकता है इस बात को ग्रन्थकार अगली वार्तिकद्वारा स्पष्ट कहते हैं।

उपकारोवगाहः स्यात् सर्वेषामवगाहिनां।
आकाशस्य सकृन्नान्यस्येत्येतदनुमीयते ॥१॥

अवगाह करने वाले जीव आदि सम्पूर्ण द्रव्यों को एक ही बार में अवगाह दे देना यह आकाश का ही उपकार हो सकता है, अन्य किसी द्रव्य का नहीं। यह उक्त सूत्र अनुसार अनुमान कर लिया जाता है। अर्थात्–"सकृत्,, और "सर्वेषां,, पदों का उपस्कार कर हेतु कोटि में डालते हुये विज्ञपुरुष द्वारा आकाश को जानने के लिये अनुमानप्रमाण बना लिया जाता है।

जीवादयो अवगाहकास्तत्र प्रतीतिसिद्धत्वाल्लिंगमवगाह्यस्य कस्यचित् यत्तदवगाह्यं सकृत्सर्वार्थानां तदाकाशमिति कर्तृस्थादवगाहादनुमीयते। गगनादन्यस्य तथाभावानुपपत्तेः।

जब कि जीव आदिक पदार्थ वहां आकाश में अवगाह कर रहे समीचीन प्रतीतियों से सिद्ध हैं इस कारण किसी न किसी अवगाह करने योग्य द्रव्य के वे ज्ञापक लिंग होसकते हैं। एक ही बार में सम्पूर्ण पदार्थों का जोभी कोई वह अवगाह करने योग्य पदार्थ है वह आकाश है इस प्रकार कर्त्ता में स्थित होरहे अवगाहसे आकाशका अनुमान करलिया जाता है। आकाशके अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ के तिसप्रकार युगपत् सम्पूर्ण अर्थों को अवगाह देना नहीं बन सकता है। अतः " जीवादय. आकाश अवगाहन्ते,, इस प्रतीति अनुसार यों अनुमान बना लिया जाता है कि सकृत् सर्वपदार्थावगाहोपग्रहः (पक्ष) सर्वलोकालोकव्यापिद्रव्योपकृतः (साध्यदल) सकृत्सर्वपदार्थावगाहान्यथानुपपत्तेः (हेतु) यः साध्यवान् न स हेतुवान् यथा कूटस्थलोहो वज्रं वा (व्यतिरेकदृष्टान्त)।

" **आलोकतमसोरवगाहः सर्वेषामवगाहकानां जलादेर्भस्मादिवदिति चेन्न, तयोरप्यवगाहकत्वादवगाहांतरसिद्धेः।**

यहाँ अत्यन्त परोक्ष आकाश को नहीं मान रहा कोई लौकिक पण्डित आक्षेप करता है कि दिन में आलोक और रात्रि में अन्धकार इन दोनों में सम्पूर्ण अवगाह करने वाले जीवादि पदार्थों का अवगाह होजायगा जैसे कि किसी पात्रमें ठूंस कर भर दी गयी राख में पुनः जल का अवगाह होजाता है या पानी, ऊंटनी के दूध, आदि में जिस प्रकार बूरा ,मधु आदि का अवगाह होजाता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं [illegible] कहीं अवगाह करने वाले पदार्थ हैं यदि जीव आदिकों का आलोक और अन्धकारमें अवकाश प्राप्त करना माना जायगा तो पुनः उन आलोक और अन्धकारके लिये भी अवगाह करने योग्य किसी अन्य अधिकरणकी सिद्धि माननी पड़ेगी इससे यही अच्छा है कि प्रथम से ही सबका अवगाह्य पदार्थ एक मान लिया जाय।

भावार्थ—मन्द अन्धकार में गाढ़ अन्धकार प्रविष्ट होजाता है और गाढ़ अन्धकार में अति निविड़ अन्धकार समा जाता है इसीप्रकार दीपक के प्रकाश में दूसरे, तीसरे. आदि दीपकों के प्रकाश प्रविष्ट होजाते हैं सूर्य के तेजस्वी आलोक में भी बिजली या टौर्च का प्रकाश प्रविष्ट होही जाता है खिड़की खोलते ही आलोक भी पोल रूप घरोंमें घुस आता है यों आलोक या अन्धकार भी कहीं न कहीं अवगाह पाने के लिये लालायित रहते हैं अतः परिशेष में जाकर सब का अवगाह करने योग्य आकाश ही ठहरता है यद्यपि भस्म में जल, पानीमें बूरा, काठ में कील, चर्म में तेल, रोटी में घी इत्यादि" आधार आधेय भाव लोक-प्रसिद्ध हैं। व्यवहार नय से ये सब सत्य भी हैं किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचारने पर यही निर्णीत होगा कि भींतमें बैठा हुआ आकाश ही कील को स्थान देरहा है। भस्म स्वयं आकाश में है, भस्म में आकाश ओत प्रोत ठस रहा है वह आकाश ही जल को अवकाश दे देता है अतः "आकाशस्यावगाहः,, इसका अर्थ "अवगाह देना आकाश का ही उपकार है" यों कर दिया जाय तो अनुचित नहीं है।

नन्वेवमाकाशस्याप्यवगाहकत्वादन्यदवगाह्यं कल्प्यतां तस्याप्यवगाहकत्वे अपरम-वगाह्यमित्यनवस्था स्यादिति चेन्न, आकाशस्यानंतस्यामूर्तस्य व्यापिनः स्वावगाहित्वसिद्धेर-वगाह्यांतरासंभवात् । न चैवमालोकतमसोः सर्वार्थानां वा स्वावगाहित्वप्रसक्तिरसर्वगतत्वात् । न च किंचिदसर्वगतं स्वावगाहि दृष्टं, मत्स्यादेर्जलाद्यवगाहित्वदर्शनात् ।

यहां कोई शंका उठाता है कि इस प्रकार तो जीव आदि के समान आकाश भी अवगाहक है अतः आकाश को अवगाह देने के योग्य किसी अन्य पदार्थ की कल्पना कर ली जाय और उस दूसरे अवगाह्य का भी अवगाहकपना मानते सन्ते तीसरे, चौथे, आदि अवगाह्य पदार्थों की कल्पना करते करते यों अनवस्था होजायगी। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि आकाश पदार्थ सब से बड़ा अनन्तानन्त-प्रदेशी है, अमूर्त है, व्यापक है। इस कारण दूसरों को अवगाह देनेवाला होते हुये आकाश में स्वयं को भी अवगाह देनापन सिद्ध है। इस कारण उस आकाश के लिये स्वातिरिक्त अन्य अवगाह्य पदार्थ का असम्भव है। किन्तु इस प्रकार आलोक और अन्धकार को तो सम्पूर्ण अर्थों का और अपना भी अवगाहीपना प्रसंगप्राप्त नहीं होता है। कारण कि वे असर्वगत द्रव्य अपना और सम्पूर्ण द्रव्यों का अवगाह्य नहीं होसकता है। कोई भी अव्यापक पदार्थ स्वयं अपना अपने में अवगाह्य करने वाला नहीं देखा गया है। मछली, सुई आदि का जल, पत्ता आदि में अवगाहकपना देखा जाता है। भले ही जल आदिको मछली आदि का अवगाह्य कह दिया जाय या निश्चयनय अनुसार सम्पूर्ण पदार्थों

का अपने अपने में अवगाह होना मान लिया जाय फिर भी व्यवहार नय और निश्चयनय तथा प्रमाण [illegible] सम्पूर्ण पदार्थों का अवगाह्य प्रतीत होरहा है।

सर्वार्थानां क्षणिकपरमाणुस्वभावत्वात् अवगाह्यावगाहकभावाभाव इति चेन्न, स्थूलस्थिरसाधारणार्थप्रतीतेः न चेयं भ्रांतिर्बाधकाभावात् एकस्यानेकदेशकालव्यापिनोर्थस्याभावे सर्वशून्यतापत्तेः। भावे पुनरवगाह्यावगाहकभावविरोध एवाधाराधेयभावादिवत्

आधार आधेय भाव हिंस्य हिंसक भाव, आदि को नहीं मानने वाले बौद्ध कहरहे हैं, कि सम्पूर्ण पदार्थ क्षणिक हैं और परमाणु स्वरूप हैं, अतः अवगाह्य अवगाहक भाव का अभाव है। अर्थात्—कालान्तर-स्थायी पदार्थ यदि होते तबतो पहिले से वर्त रहे आधार के ऊपर कोई आधेय ठहर जाता, इसी प्रकार लम्बे, चौड़े, स्थूल या व्यापक पदार्थ पर उससे कुछ छोटा पदार्थ अवगाह कर लेता है, किन्तु जब परमाणु स्वरूप ही छोटे छोटे पदार्थ हैं। और वे भी एक क्षण जीवित रह कर दूसरे क्षण में मर जाते हैं, ऐसी दशा में कोई किसी का आधार या कोई किसी का आधेय नहीं होसकता है। मर रहा मनुष्य मर रहे घोड़े पर नहीं चढ़ सकता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि प्रामाणिक पुरुषों को स्थूल और स्थिर तथा साधारण अर्थों की प्रतीति होरही है। तुम्हारे मन्तव्य अनुसार सूक्ष्म, अस्थिर और विशेष स्वरूप हो अर्थों की स्वप्न में भी प्रतीति नहीं होती है। यह प्रतीति भ्रान्तिज्ञान रूप नहीं है, क्योंकि इस समीचीन प्रतीति का कोई बाधक नहीं है। यदि अनेक देश और अनेक कालों में व्याप रहे स्थूल और कालान्तर-स्थायी एक अन्वित पदार्थ का अभाव माना जायगा तो सम्पूर्ण पदार्थों के शून्य होजाने की आपत्ति आवेगी। यानी अनेक देशव्यापी पदार्थों को नहीं मानने पर दृष्टि गोचर सम्पूर्ण स्थूल पदार्थों का अभाव तो हो ही जायगा, हां सूक्ष्म पदार्थ रह जायगे किन्तु उन सूक्ष्मों को यदि अनेक-काल-व्यापी नहीं मानकर क्षणिक स्वीकार किया जायगा तो उत्तर क्षणमें समूलचूल विनाश जाने पर पुनः बिना उपादान के किसी की भी उत्पत्ति नहीं होने पायगी और पहिले भी तो उपादानके बिना सूक्ष्मपदार्थ नहीं उपज सकेगा यों बौद्धोंके विचार अनुसारहो शून्यवाद छा जायगा हां यदि अनेक देश या अनेक कालोंमें व्याप रहे पदार्थोंका सद्भाव मानोगे तब तो फिर अवगाह्य अवगाहक भाव का विरोध ही नहीं है। जैसे कि आधार-आधेय भाव, कार्य-कारण भाव, बाध्य-बाधक भाव, आदि का कोई विरोध नहीं है।

अर्थात्—मीमांसक, नैयायिक, वैशेषिक, जैन ये विद्वान तो आधार आधेय भाव, कार्य कारण भाव, आदिकको निर्विवाद स्वीकार करते ही हैं किन्तु बौद्धोंको भी आधार आधेय, भाव मानना आवश्यक पड़ जाता है। क्षणिकत्व, सत्व आदि धर्म पदार्थ में ठहरते है, पक्ष म हेतु रहता है। बौद्ध उत्पाद को कारणसहित स्वीकार करते हैं, भले ही वे विनाश को निर्हेतुक मानें, अतः उत्पाद्य और उत्पादक पदार्थों का कार्य-कारण भाव अभीष्ट हुआ तथा क्षणिकत्व का ज्ञान कालान्तर-स्थायीपन के समारोप का बाधक माना गया है। सौत्रान्तिकों के द्वैतवाद पर विज्ञानाद्वैतवादी योगाचार बाधा उठाते हैं, यों "बाध्य बाधक भाव" क्लृप्त होजाता है। साध्य और हेतु में ज्ञाप्यज्ञापक भाव तो सभी दार्शनिकों को स्वीकृत है, इसी प्रकार "अवगाह्य अवगाहक भाव" सुप्रसिद्ध है।

शीतवातातपादीनामभिन्नदेशकालतया प्रतीतेः स्वावगाह्यावगाहकभावसिद्धिः। परस्परमवगाह्यानुपपत्तौ भिन्नदेशत्वप्रसंगाल्लोष्ठद्वयवत्। ततो यथाप्रतीति-नियतानामवगाहकानां

प्रतिनियतमवगाह्यं सिद्धं तथा सकृत्सर्वावगाहिनामवगाह्यमाकाशमनुमन्तव्यम् ।

जाड़े की ऋतु में वायु चलते समय घाममें बैठ जाते हैं। उस अवसर पर शीतता, वायु, घाम, धूल, आदि पदार्थों की उसी अभिन्न देश और उसी अभिन्न काल में वृत्ति बन करके प्रतीति होरही है, इस कारण अपने में ही अवगाह्यपन और स्वयं में ही अवगाहकपन की सिद्धि होजाती है। यदि शैत्य वायु, घाम, आदिक का परस्पर में एक दूसरे को अवगाह देना बन रहा नहीं माना जायगा तब तो उन शीत आदि के न्यारे न्यारे देशों में वृत्ति होने का प्रसंग आवेगा जैसे कि दोनों डेल परस्पर में अवगाह नहीं देते हुये अपने अपने न्यारे न्यारे देशों में वर्त रहे हैं। तिस कारण सिद्ध होता है, कि समीचीन प्रतीति का उल्लंघन नहीं कर जिस प्रकार प्रतिनियत होरहे विशेष विशेष अवगाहकों के प्रतिनियत होरहे अवगाह्य पदार्थ सिद्ध हैं। उसी प्रकार युगपत् सम्पूर्ण अवगाह करने वाले जीव आदि पदार्थोंका अवगाह करने योग्य आकाश द्रव्य है। यह युक्तिपूर्वक मान लेना चाहिये।

अर्थात्—मत्स्य का अवगाह्य जल है, भीत में कील घुस जाती है, अंधेरे में मनुष्य छिप जाता है। इत्यादिक रूपसे विशेष २ मछली आदि अवगाहकों के विशेष जल आदि अवगाह्य पदार्थ तो प्रसिद्ध ही हैं, इसी प्रकार एक ही बार में सम्पूर्ण अर्थों का अवगाह करने योग्य आकाश पदार्थ स्वीकार कर-लेना चाहिये।

सूत्रकार महाराज के प्रति किसी का प्रश्न है कि आकाश का उपकार आपने अवगाह देना कहा सो परिज्ञात कर लिया अब यह बताओ कि आदि सूत्रमें उस आकाश से अनन्तर कहे गये पुद्गलों का उपकार क्या है? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

शरीर वाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ॥१९॥

औदारिक आदि शरीर, वचन, मन, प्राण, अपान ये पुद्गलों के उपकार हैं। अर्थात्—जीवों के उपयोग में आरहे पांचों शरीर तो आहार आदि वर्गणाओं से बन रहे सन्ते पुद्गलरूप उपादान कारणों के उपादेय हैं, वचन भी पुद्गलों के बनाये हुये हैं। हृदय में आठ पांखुरी वाले कमल समान बन रहा द्रव्य मन भी मनोवर्गणा नामक पुद्गलों से निर्मित है। उदर कोठे से बाहर निकल रही वायु उच्छ्वास नामक प्राण और बाहर की भीतर खींची जा रही वायु निःश्वास स्वरूप अपान भी पुद्गलों से सम्पादित है। अतः संसारी जीवों के प्रति इन शरीर आदिकों का सम्पादन कर देना पुद्गलों का उपकार है, स्पर्शन आदि इन्द्रियाँ और बहिर्भूत भोग्य, उपभोग्य विषय भी पुद्गलोंके उपकार (कार्य) हैं।

उपकार इत्यनुवर्तनीयं, तत्र शरीरमौदारिकादि व्याख्यातं। वाक् द्विधा—द्रव्यवाक् भाववाक् च। तत्रेह द्रव्यवाक् पौद्गलिकी गृह्यते। मनोपि द्विविधं, द्रव्यभावविकल्पात्। तत्रेह द्रव्यमनः पौद्गलिकं ग्राह्यं, प्राणापानौ श्वासोच्छ्वासौ। त एते पुद्गलानां शरीरवर्गणादीनामतीन्द्रियाणामुपकारः कार्यमनुमापकमित्यावेदयति।

सत्रहवें सूत्र से "उपकार" यह पद यहां अनुवृत्ति कर लेने योग्य है। उन सूत्रोक्त शरीर आदिकों में उत्तरवर्ती वाक् आदिकों का अधिष्ठान होरहा आदि में कहागया शरीर तो यहां औदारिक आदि लेना चाहिये औदारिक, वैक्रियिक, आदि शरीरोंका हम व्याख्यान कर चुके हैं। पौद्गलिक

आहार वर्गणा से औदारिक, वैक्रियिक, और आहारक, शरीर बन जाते हैं । तैजोवर्गणा से तैजस और कार्मणवर्गणा से कर्म शरीर बने हुए हैं। वचन दो प्रकार का है, एक द्रव्य-वचन दूसरा भाववचन जिनमें भाव वचन आत्मा का प्रयत्न विशेष है। अतः यहां पौद्गलिक पदार्थोंमें उन दो वाणिओं में से पुद्गलसे उपादेय होरहे द्रव्य वचन काही ग्रहण किया जाता है,भाषावर्गणा ही तो वचन रूप परिणम जाती है। मन भी द्रव्य और भाव इन भेदों से दो प्रकार का है, उन दो में यहाँ पुद्गल-निर्मित द्रव्य मन का ग्रहण करना चाहिये। गुण दोष विचार आदि स्वरूप भाव मन तो आत्मा की पर्याय है, अतः यहाँ पुद्गल-निर्मित पदार्थों में भावमन का ग्रहण नहीं है।

अर्थात्—अगले सूत्र में पुद्गल के निमित्तसे जीव के होने वाले भाव कहे जायंगे वहां भाव वाक् या भाव मनका उपसंख्यान किया जा सकता है। क्योंकि भाव वाक् तो वचनों को बनाने वाला आत्मा का विशेष विशेष शरीर स्थानों में ज्ञान पूर्वक प्रयत्न विशेष करना है इसमें पौद्गलिक अंगोपांग प्रकृति और देशघाति प्रकृतियों का उदय निमित्त रूप से अपेक्षणीय है। तथा छद्मस्थों के पाये जारहे लब्धि और उपयोग स्वरूप मनमें भी पौद्गलिक देशघाति प्रकृतियोंका उदय या अवलम्बन भूत पुद्गलकी अपेक्षा है,भाव वाक् या भावमनमें पुद्गल उपादान कारण नहीं है. इसी कारण श्रीविद्यानन्द आचार्य ने राजवार्तिक और सर्वार्थसिद्धि की नययोजनासे निराला निर्णय कराया है। पुद्गल को भाव वाक् या भावमन का उपादान कारण तो वे भी नहीं मानते हैं प्राण, अपान तो श्वास, उच्छ्वास रूप हैं। जो कि आहार वर्गणा से बन जाते हैं " आहारवग्गणादो तिण्णि सरीराणि होंति उस्सासो णिस्सासो विय तेजो वग्गणखंधादु तेजंगं ॥ भासमण वग्गणादो कमेण भासामणं च कम्मादो अट्ठविय-कम्मदव्वं होदित्ति जिणेहि णिद्दिट्ठं " (जीवकाण्ड गोम्मटसार)। वे सब दार्शनिकों के यहां प्रसिद्ध होरहे ये शरीर, वचन, मन, प्राण, और अपान तो शरीर आदि के उपयोगी होरहीं अतीन्द्रिय आहार वर्गणा आदिकों के उपकार स्वरूप कार्य हैं। जो कि कार्य-लिंग होरहे सन्ते अतीन्द्रिय वर्गणाओं का अनुमान करा देते हैं। जैसे कि अग्नि का कार्य होरहा धूम ओटमें धरी हुई आगका ज्ञापक लिंग होकर अनुमान ज्ञान करा देता है। अर्थात्—दृश्यमान शरीर आदि कार्यों से कारण होरहीं अतीन्द्रिय वर्गणाओं का अनुमान कर लियाजाता है, इसी बात का ग्रन्थकार श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम वार्तिक द्वारा आवेदन करे देते हैं।

शरीरवर्गणादीनां पुद्गलानां स संमतः।
शरीरादय इत्येतैस्तेषामनुमितिर्भवेत्॥ १ ॥

ये शरीर, वचन, आदिक तो शरीरोपयोगी सूक्ष्म आहार वर्गणा आदिक पुद्गलों के वह उपकार हैं यों अच्छे प्रकार मान लिया गया है, इस कारण इन उपकार यानी कार्यों करके उन कारण भूत पौद्गलिक वर्गणाओं का अनुमान ज्ञान होजावेगा जैसे कि गत्युपग्रह से धर्म का, स्थित्युपग्रह से अधर्म द्रव्य का और अवगाहक जीवादिकों के सकृत् अवगाह से अवगाह्य आकाश का अनुमान किया जा चुका है।

संति शरीरवाङ्मनोवर्गणाः प्राणापानारंभकाश्च सूक्ष्माः पुद्गलाः शरीरादिकार्यान्यथानुपपत्तेः न प्रधानं कारणं शरीरादीनां मूर्तिमत्त्वाभावादात्मवत्। न ह्यमूर्तिमतः परिणामि कारणं दृष्टं।

जगत् में शरीरोपयोगी आहार वर्गणा, तैजोवर्गणा, कार्मणवर्गणायें और वचनोपयोगी भाषा वर्गणायें तथा मन को बनाने वालीं मनोवर्गणायें एवं प्राण और अपान को बना रहीं आहार वर्गणायें ये सूक्ष्म पुद्गल विद्यमान हैं (प्रतिज्ञा) औदारिक शरीर आदि [illegible] सूक्ष्म पुद्गलों के बिना बन नहीं सकते हैं (हेतु)। इस अनुमान में पड़ा हुआ हेतु अपने साध्य को साध देता है। शरीर, वचन आदिकों का कारण वह सांख्यों के यहां मानी गयी प्रकृति तो नहीं है (प्रतिज्ञा) क्योंकि सत्वगुण, रजोगुण तमोगुणों की साम्य-अवस्था स्वरूप अतीन्द्रिय अव्यक्त प्रकृति को मूर्त्तिसहित पन का अभाव है (हेतु) आत्मा के समान (दृष्टान्त)। नहीं मूर्तिमान् यानी अमूर्त पदार्थ का परिणाम भला मूर्तिमान् पदार्थों का कारण होरहा नहीं देखा गया है। अमूर्त आत्मा जैसे शरीर आदि मूर्त कार्यों का उपादान कारण नहीं है, उसी प्रकार अमूर्ति प्रधान के परिणाम शरीर आदिक नहीं होसकते हैं।

पृथिव्यादिपरमाणवः कारणमिति केचित्, तेषां सर्वेप्यविशेषेण पृथिव्यादिपरमाणवः शरीराद्यारंभकाः स्युः प्रतिनियतस्वभावा वा ? न तावदादिविकल्पोऽनिष्टप्रसंगात् । द्वितीय-कल्पनायां तु शरीरादिवर्गणा एव नामांतरेणोक्ता भवेयुरिति सिद्धोऽस्मत्सिद्धान्तः ।

वैशेषिक कहते हैं कि पृथिवी, जल, आदि के परमाणुयें ही शरीर आदिकों के कारण हैं। अर्थात्—मनुष्य, तिर्यंच, सर्प, कीट, वृक्ष, आदि के शरीर तो पृथिवी परमाणुओं से बन जाते हैं, और वरुण लोक में रहने वाले जीवों के शरीर जल परमाणुओं से निष्पन्न होजाते हैं। सूर्य लोक आदि में पाये जारहे तैजस शरीर तो तेजः परमाणुओं से उपजते हैं, पिशाच आदिकों के वायवीय शरीर वायु परमाणुओं करके किये जाते हैं शब्द का समवायी कारण आकाश है, मनोद्रव्य किसी से भी नहीं उत्पन्न होरहे नित्य हैं। प्राण और अपान नामके विषय तो वायु परमाणुओं से उपज जाते हैं। इस प्रकार कोई पण्डित कह रहे हैं। इस पर ग्रन्थकार पूछते हैं कि उन वैशेषिकों के यहां क्या सभी पृथिवी आदि परमाणुयें विशेषता-रहित होकरके शरीर आदि को बनाने वालीं होंगीं ? अथवा क्या प्रतिनियत स्वभावों वालीं परमाणुयें इन शरीर आदिको बनावेंगी ? बताओ, पहिला विकल्प तो ठीक नहीं पड़ेगा क्योंकि वैशेषिकों के यहां अनिष्ट का प्रसंग होजायगा।

अर्थात्—वैशेषिक यदि चाहें जिस जाति की परमाणुओं से चाहे जिस कार्य का बन जाना मान लेंगे तब तो जलीय परमाणुओं से तैजस शरीर या पार्थिव परमाणुओं से वायवीय शरीर बन जायगा और ऐसी दशा में पृथिवी, जल, तेज, वायु, परमाणुओं की चार जातियों का कारण रूप से समर्थन करना विरुद्ध पड़ेगा। एक ही पुद्गल तत्व मान कर कार्य-निर्वाह होसकता है। हां दूसरी कल्पना करने पर तो वैशेषिकों द्वारा दूसरे दूसरे नामों करके वे हमारी अभीष्ट होरहीं शरीर आदि वर्गणायेंही कह दी गयीं हुईं समझी जायगीं, इस प्रकार हम जैनों का सिद्धान्त ही प्रसिद्ध हुआ। अलं विस्तरेण।

सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज के प्रति किसीका प्रश्न है कि क्या इतना ही पुद्गलों करके किया गया उपकार है ? अथवा क्या अन्य भी पुद्गलों करके जीवों लिये उपयोगी उपकार किया जाता है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्र को कहते हैं।

सुखदुःखजीवितमरणोपग्रहाश्च ॥२०॥

प्रीति या प्रसन्नता स्वरूप ऐन्द्रियिक सुख, संक्लेश या परिताप स्वरूप दुःख, प्राण अपान स्वरूप क्रियाविशेष का विच्छेद नहीं होना--स्वरूप जीवित, और प्राण अपान क्रियाओं का उच्छेद स्वरूप मरण ये अनुग्रह भी जीव के पुद्गल करके किये गये उपकार हैं। उपग्रह शब्द के प्रकरणप्राप्त होने पर भी पुनः सूत्रकार करके कहा गया उपग्रह शब्द तो पुद्गल का पुद्गल के ऊपर उपकार करना ध्वनित करता है। च शब्द करके अन्य भी पुद्गल--निष्ठ निमित्त कारण निरूपित कार्यता वाले हास्य, रति वेद, उच्चाचरण, नीचाचरण, भोग, उपभोग, आदिका समुच्चय होजाता है। अर्थात् विस्मृति करादेना, अज्ञान भाव रखना, आदि भी पुद्गल--जन्य उपकार हैं। यदि घोर अपमान या इष्ट वियोग-जन्य दुःख आदि का स्मरण बना रहे तो ये मोही मनुष्य बिना मृत्युकालके बीच में ही अपमृत्यु को प्राप्त होजाय, ऐसी अवस्था में विस्मृति मैया उसकी रक्षा कर लेती है, तत्वज्ञान के अनुपयोगी दुरूह, कषाय-वर्द्धक ज्ञेयोंका, अज्ञान बना रहना ही विशेष लाभप्रद नहीं तो रद्दी पदार्थोंके ज्ञान उन आवश्यक भेदविज्ञानों के स्थानों को प्रथम से ही उसी प्रकार घेर लेंगे जैसे कि घरमें व्यर्थका कूड़ा, कचड़ा, अनावश्यक पड़ा हुआ स्वास्थ्य को विनाश रहा सकता है, आवश्यक पदार्थों को स्थान नहीं देने देता है, मानसिक या शारीरिक कार्य करने वालों के निकट स्थान में सोरहा या आलस्य में बैठाहुआ मनुष्य उनके कार्यों में विघ्न डालता रहता है, क्योंकि संकल्प, विकल्प, या अनावश्यक ज्ञान तो इससे भी कहीं अत्यधिक भारी क्षति को करते रहते हैं। इन ठलुआ ज्ञान या अर्थसंकल्पों से पर-जन्म ही नहीं बिगड़ रहा है साथ में प्रतिक्षण शारीरिक, मानसिक, आर्थिक क्षतियां भी अपरिमित उठाई जा रही हैं, अतः मरण के समान ये भी पुद्गलकृत उपकार सम्भव जाते हैं।

पुद्गलानामुपकार इत्यभिसंबंधः केषां पुनः पुद्गलानां ममे कार्यमित्याह ?

पूर्व सूत्रोंसे 'पुद्गलानां, और 'उपकारः, इन दो पदोंकी अनुवृत्ति कर सूत्रके पहिली और पिछली ओर सम्बन्ध करलेना। तब अर्थ इस प्रकार होजायगा कि पुद्गलोंके यों सुख, दुःख, जीवित और मरण ये अनुग्रह भी उपकार हैं। कोई जिज्ञासु यह पूछता है कि किन किन पुद्गलों के फिर ये सुख आदिक कार्य हैं ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार इस अगली वार्तिक को कहते हैं।

सुखाद्युपग्रहाश्चोपकारो जीवविपाकिनाम्।
सातवेद्यादिकर्मात्मपुद्गलानामितोनुमा॥१॥

जीव में विपाक को करने वाली सातावेदनीय, असातावेदनीय आदि कर्मस्वरूप पुद्गलों का उपकार जीव के लिये सुख आदि अनुग्रह करना है, इन सुख आदि उपग्रहों से उन कारणभूत अतीन्द्रिय पुद्गलों का अनुमान कर लिया जाता है। अर्थात्–जीव के सुख आदि होना पुद्गल को निमित्त पाकर हुये अनुग्रह हैं, मरण भी एक अनुग्रह है धार्मिक दृष्टिसे वैराग्य को प्राप्त होरहे पुरुष को समाधिमरण प्रिय है व्याधि, पीडा, शोक, आदि से आर्त्त होरहे पुरुष को मरण प्यारा लगता है और न भी प्यारा लगे तो हमें क्या। पुद्गलोंसे जो प्रिय या अप्रिय कार्य बनाये जाते है उन नैमित्तिकोंका यहां निरूपण करदिया गया है नैतिक दृष्टि अनुसार अनेक मनुष्य यों कहदेते हैं कि यदि मनुष्य या तिर्यंच मरें नहीं तो सौ, दो सौ वर्ष में स्थान या खाद्य की प्राप्ति अशक्य होजाय मरना तो नवीनताका एक पूर्व रूप है इत्यादि। यों मरण स्वरूप उपकारकी विवेचना करलीजाय।

सुखं तच्चेत्सद्वेद्यस्य कर्मणः कार्यं, दुःखमसद्वेद्यस्य, जीवितमायुषः, मरणमसद्वेद्यस्यायुःक्षये सति तदुदयात्परमदुःखात्मना तदनुभवात्। ततः सातवेद्यादिकर्मात्मनः पुद्गलाः सुखाद्युपग्रहेभ्योऽनुमीयन्ते। अत्रोपग्रहवचनं सद्वेद्यादिकर्मणां सुखाद्युत्पत्तौ निमित्तमात्रत्वेनानुग्राहकत्वप्रतिपत्त्यर्थं परिणामकारणं जीवः सुखादीनां तस्यैव तथापरिणामात् अत एव जीवविपाकित्वं सद्वेद्यादिकर्मणां जीवविपाकित्वोपलम्भात्।

पुद्गल कृत उपकारों में वह सुख तो सातावेदनीय कर्म का कार्य है असाता वेदनीय कर्मका कार्य दुःख है, आयुष्य कर्मका कार्य जीवित रहना है, असाता वेदनीयका ही कार्य मरण है क्योंकि भुज्यमान आयु कर्म के निषेकों का क्षय होने के अवसर पर विशिष्ट जाति के उस असातावेदनीय कर्म का उदय होजानेसे परम दुःखस्वरूप करके उस मृत्युका अनुभव होता है तिस कारण सिद्ध हुआकि सातावेदनीय आदि कर्मस्वरूप होरहे पुद्गल तो जीव के इन सुखादि अनुग्रहों करके अनुमान कर लिये जाते हैं। इस सूत्र में उपग्रह शब्द की अनुवृत्ति या आकर्षण होसकता था फिर भी सूत्रकार ने यहां उपग्रह शब्द कहा है उसका प्रयोजन यह प्रतिपत्ति करा देना है कि जीवके सुखादि की उत्पत्ति करने में सातावेदनीय आदि कर्म केवल निमित्त होकरके अनुग्राहक हैं शरीर आदि के उपादान कारण जैसे पुद्गल हैं, उस प्रकार सुखादि के उपादान कारण पुद्गल नहीं हैं सुखादि परिणामों का उपादान कारण जीव है क्योंकि उस जीवकी ही तिस प्रकार सुख आदि रूप करके परिणति होती है इसी ही कारण सातावेदनीय आदि कर्मों को जीव--विपाकी प्रकृति कहा गया है "अद्गुत्तरि अवसेसा जीवविवाई मुणेयव्वा" क्योंकि जीव में उन सातावेदनीय आदि कर्मों का विपाक होरहा देखा जाता है।

नन्वायुः भवविपाकि श्रूयते तत्कथं जीवविपाकि स्यात्? भवस्य जीवपरिणामत्वविवक्षायां तथा विधानाददोषः। तस्य कथंचिदजीवपरिणामविशेषत्वे वा जीवपरिणाममात्राद्भेदविवक्षायामायुर्भवविपाकि प्राक्तमिति न विरोधः।

यहां किसीका प्रश्न है कि शास्त्रोंमें आयुष्य कर्मको भवविपाकी सुना जारहा है "आऊणि भव विवाई खेत्तविवाई य आणुपुव्वीओ", चारों आयुओं का देव मनुष्य तिर्यञ्च, नरक इन भवों में विपाक होता है तो फिर आपने आयु को जीव-विपाकी प्रकृति किस प्रकार कह दियाहै? नहीं कहना चाहिये था,इसका उत्तर ग्रन्थकार यों देते हैं कि चारगतियोंमें अनेक भव ग्रहण करना जीवोंका ही विभाव परिणाम है, अतः भव को जीव का परिणाम होनेकी विवक्षा होने पर तिस प्रकार भेद गणना कर देने से कोई दोष नहीं आता है,अर्थात्–जीव-विपाकी प्रकृतियोंमें ही भव-विपाकी आयुष्य प्रकृति गिनली जाती है। ऐसी दशा में जीवविपाकी, पुद्गलविपाकी, क्षेत्र-विपाकी यों सम्पूर्ण कर्मों के तीन ही भेद या क्षेत्र विपाकी आनुपूर्व्य को भी जीव-विपाकीमें गिनलेने पर जीव-विपाकी और पुद्गलविपाकी यों कर्मों के दो ही प्रकार कहदिये जाते हैं। हां यदि उस भव को कथंचित् अजीव की पर्याय–विशेष माना जायगा तब तो जीव के यावत् परिणामों से भेद की विवक्षा करने पर आयु को शास्त्रों में अच्छे ढंग करके भवविपाकी कहा जा चुका है। इस प्रकार आयु को जीवविपाकी या भवविपाकी कह देने से कोई पूर्वापर विरोध नहीं आता है "अर्पितानर्पितसिद्धेः"।

नन्वाभरणादिपुद्गलानां सुखाद्युपग्रहे वृत्तिदर्शनात्तेषां सुखाद्युपग्रह उपकारोस्त्विति चेन्न, तेषामनुमेयत्वात् नियमाभावाच्च कस्यचिकदाचित्सुखोपग्रहे वर्तमानस्यापि बंधनादेरपरस्य दुःखाद्युपग्रहेपि वृत्त्यविरोधात् नियमः सद्वेद्यादिकर्माणि सुखाद्युपग्रहे प्रतिनियतस्वभावान्येवान्यथा तत्संभावनानुपपत्तेरिति तेभ्यस्तदनुमानम् ।

पुनः किसीका प्रश्न है कि केवल अतीन्द्रिय कर्मोंको ही सुख आदिका अनुग्राहक क्यों मानाजाता है जब कि आभरण (भूषण) वस्त्र, गृह, रसायन, घड़ी, चश्मा, वाहन, वायुयान, मोटरकार, रेलगाड़ी, अस्त्र, शस्त्र, विष, विद्युत् आदि पुद्गलों की भी जीव के लिये सुख आदि अनुग्रह करने में प्रवृत्ति होरही देखी जा रही है अतः उन भूषण आदिकों का भी सुख आदि अनुग्रह करने में उपकार होजाओ। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि वे भूषण, विष, आदि तो अनुमान कर लेने योग्य नहीं हैं बालक, बालिकाओं, तक को भूषण आदिका सुख आदि के अनुग्राहकपने करके प्रत्यक्ष होरहा है, शास्त्र में अनुमान करने योग्य या आगमगम्य पदार्थों का परिज्ञान कराया जाता है अतः इन्द्रियग्राह्य पौद्गलिक कार्य पदार्थों करके अनुमान कर लेने योग्य अतीन्द्रिय सूक्ष्म कारण–आत्मक पुद्गलों के निरूपण अवसर में प्रत्यक्षसिद्ध पुद्गलों के कहने का प्रकरण नहीं है।

दूसरी बात यह है कि आभरण आदि करके सुख आदि होने का कोई अन्वयव्यतिरेक पूर्वक नियम नहीं है किसी किसीको कभी कभी सुख अनुग्रह करनेमें वर्तरहे भी बन्धन आदिकी दूसरोंके सुख आदि अनुग्रहमें भी प्रवृत्ति होनेका कोई विरोध नहीं है। यानी "पित्तलाभरणवित्तलाभतस्तुष्टिमावहति पामरी नरी। नहि स्वर्णमणिभूषितं पुनर्भारमावहति सा नृपाङ्गना"। गहने, कपड़े,, सुख के उत्पादक होते हुये भी लूट या डाँके के प्रकरण पर दुःख के उत्पादक होजाते हैं, बैल गाड़ियों से उतनी दुर्घटनायें नहीं होती हैं जितनी कि मोटरकार रेलगाड़ी आदि से होती हैं। घी या तेल के दीपक से आंखों को लाभ ही है, बिजलीके उजालेसे आंखोंको विशेष क्षति होती है, अतः आभरण आदि का सुखादि अनुग्रह करने में नियम नहीं है। हां सातावेदनीय आदि कर्म तो सुख, दुःख आदि अनुग्रह करने में प्रति नियत स्वभाववाले ही हैं अन्यथा यानी अतीन्द्रिय कर्मोंके बिना उन सुख आदि अनुग्रहों के होने की सम्भावना नहीं सिद्ध होती है इस कारण अविनाभावी उन सुख आदिकों से उन सातावेदनीय आदि सूक्ष्म पुद्गल का अनुमान होजाता है। अलं पल्लवितेन।

धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल इन चार अजीव द्रव्यों का उपकार ज्ञात कर लिया अब जीवों करके होने वाले उपकार को सूत्रकार अगले सूत्र में कहते हैं।

परस्परोपग्रहो जीवानाम् ॥२१॥

परस्पर के (में) अनुग्रह करना जीवों का उपकार है अर्थात्– शिष्य का उपकार उपदेश प्रदान द्वारा गुरु करता है और गुरुके अनुकूल प्रवर्तन, पांव दाबना, नमस्कार करना, गुण कीर्तन, इष्ट वस्तु समर्पण आदि करके शिष्य, गुरु का उपकार करता है, राजा प्रजा, या पिता पुत्र, आदि में इसी प्रकार परस्पर अनुग्रह किया जाना समझलिया जाय।

उपकार इत्यनुवर्तते, ततः परस्परं जीवानामनुमानमित्याह ।

यहां "उपकारः" इस शब्द की अनुवृत्ति कर ली जाती है तिस कारण जीवों के परिदृश्यमान उपकारों करके परस्पर में अनुग्रह करने वाले जीवों का अनुमान होजाता है, इसी बात को ग्रन्थकार अगली वार्तिक द्वारा स्पष्ट कह रहे हैं।

जीवानामुपकारः स्यात्परस्परमुपग्रहः ।
संतानान्तरवद्धाजां व्यापारादिरतोनुमा ॥१॥

परस्पर में एक दूसरे का अनुग्रह करना जीवों का उपकार होसकता है, अन्य सन्तानों के समान उस उपकार करके जीवोंका अनुमान होजाता है, सन्तानान्तरको धारनेवाले जीवों के व्यापार आलिंगन, शिक्षा आदिक हैं इनसे उन सन्तानान्तरों का अनुमान होजाता है। भावार्थ-अल्पज्ञ जीवों को दूसरों की आत्माओं का प्रत्यक्ष होता नहीं है, व्यापार करना, वचन बोलना, आदि करके अन्य सन्तानों का अनुमान कर लिया जाता है, इसी प्रकार परस्पर के उपग्रह स्वरूप उपकार करके अनुग्राहक जीवों का अनुमान कर लिया जाता है।

संतानांतरभाजो हि जीवाः परस्परमसंविद्यमानः कार्यतोनुमेयाः स्युर्न पुनरैक्यभाजः। तच्च कार्यं परस्परमुपग्रहः। स च व्यापारादिरालिंगनादिवाहनादिभिर्व्यापारः। अनुनयनं हितप्रतिपादनादिर्व्याहारः। स च परस्परमुपलभ्यमानः संतानांतरत्वं साधयतीति तदनुमेयाः संतानांतरभाजो जीवाः।

सन्तानान्तरोंको धारने वाले जीव जब कि परस्परमें असंविदित स्वरूप हैं यानी अपनी आत्मा का तो स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष होसकता है दूसरोंकी आत्माओं का स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष नहीं होपाता है तथा वे सन्तानान्तर-वर्ती जीव अव्यभिचारी कार्य हेतुओं से अनुमान करने योग्य होसकते हैं किन्तु फिर वे सन्तानान्तरवर्ती जीव ब्रह्माद्वैतवादियों के विमर्षण अनुसार एकता को धारने वाले तो नहीं हैं वह अनेक सन्तानवर्ती जीवों का कार्य तो परस्पर में एक दूसरे का अनुग्रह करना है और वह अनुग्रह तो व्यापार करना, विनय करना, लेन देन करना, बांड़ना बांटना, आदि हैं, आलिंगन करना, प्रेमालाप, गुह्य आख्यान आदि और वाहन (घोड़ा सवार को लाद लेजाता है और सवार घोड़े को पौष्टिक भोजन, मर्दन, टहलना, खुजाना, आदि करके प्रसन्न रखता है) अध्यापन आदि क्रियाओं करके व्यापार करना वह अनुग्रह है और अनुनय करना तो हित मार्गका प्रतिपादन, सुन्दर आख्यान आदिक वचन बोलना है और वह जीवों के परस्परमें देखा जारहा अनुग्रह तो अन्य सन्तानोंकी सिद्धि करा देता है, इस कारण सन्तानान्तरों को धारनेवाले अनेक जीव उस परस्परोपग्रह करके अनुमान कर लेने योग्य हैं। पूर्व सूत्रों के विवरण में भी इसीढंग से धर्म आदि चार द्रव्यों का अनुमान कर लेना कहा जा चुका है।

परम्परं संवृत्या संतानान्तरव्यवहार इत्ययुक्तं पुरुषाद्वैतवादस्य पूर्वमेव निरस्तत्वात्संवेदनाद्वैतवादवत्।

यहां कोई अद्वैतवादी आक्षेप करता है कि संसार में एक ही परब्रह्म है परस्पर में न्यारी न्यारी सन्तानों के होरहे व्यवहार तो झूठी कल्पनाओं से गढ़ लिये गये हैं जैसे कि शरीर में एक अखण्ड आत्मा के भी खण्ड मान लिये जाते हैं, मेरे सिर में पीडा है, पांव में सुख है आदि। ग्रन्थकार कहते हैं कि

यह अद्वैतवादियों का कहना युक्ति रहित है क्योंकि बौद्धों के संवेदनाद्वैतवाद के समान पुरुषाद्वैतवाद का पूर्व प्रकरणों में ही निराकरण किया जा चुका है। शुभ अशुभ कर्म, विद्या अविद्या, संवृत्ति परमार्थ, रोगी नीरोग, बद्धमुक्त, ये सब द्वैतवाद में ही सध पाते हैं, अतः सूत्रकार का "जीवानां" यह बहुवचन पद और "परस्पर में एक दूसरे का उपग्रह" ये दोनों पद अतीव उपयोगी समझे गये है यहां तक पाँचवें द्रव्य-जीवों का उपकार कह दिया है।

अब सूत्रकार महाराज के प्रति किसी का प्रश्न है कि उपकारों द्वारा सत् पदार्थोंके अनुमान कराने के अवसर पर सद्भूत छठे काल द्रव्य के उपकार का कथन करना भी आवश्यक है ऐसे जिज्ञासु के उत्तर-स्वरूप अग्रिम सूत्र को श्री उमास्वामी महाराज कहते हैं—

वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य ॥ २२ ॥

वर्तना, परिणाम, क्रिया परत्व और अपरत्व ये काल द्रव्यके उपकार हैं। अर्थात्-निश्चय काल करके छहों द्रव्यों की वर्तना होती है। और व्यवहार काल करके अपरिस्पन्दात्मक परिणाम या परिस्पन्द-आत्मक क्रिया और कालकृत परत्व अपरत्व ये अनुग्रह होते रहते हैं।

वर्त्यते वर्तनमात्रं वा वर्तना, वृतेर्णयन्तात्कर्मणि भावे वा युक् तस्यानुदात्तेत्वात्ताच्छीलिको वा युच् वर्तनशीला वर्तनेति ।

प्रत्येक पदार्थ में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यों, करके प्रति समय जो वर्ताई जाती है, वह वर्तना है। अथवा नवीन से कुछ जीर्ण होना स्वरूप वर्तन मात्र ही वर्तना मानी गयी है। पदार्थाः वर्तन्ते, कालः प्रेरयति, इति कालः पदार्थान् वर्तयति, वर्तयिता-हेतुः कालः, वर्त्यन्ते पदार्थाः कालेन। अथवा वर्त्यते इति भाव मात्रं। यहां यदि " करणाधिकरणयोश्च " इस सूत्र करके वर्तते अनया या वर्तते अस्यां यों विग्रह कर वृतु धातु से करण अथवा अधिकरण में युट् प्रत्यय किया जाता तो टकार इत् होने से स्त्रीलिंग की विवक्षा मे ङी प्रत्यय प्राप्त होता, वर्तना पद ठीक नहीं बन सकता था अतः वर्तना शब्द को यों बना लिया जाय कि " वृतु वर्तने " धातु से णि प्रत्यय कर पुनः ण्यन्त वृतु धातु से कर्म अथवा भाव में युच् प्रत्यय कर लिया जाता है। यु को अन करते हुये स्त्रीलिंग की विवक्षा होने पर आट् प्रत्यय कर वर्तना शब्द बना लिया जाता है। अथवा वृतु धातु का अनुदात्त इत् संज्ञक-पना है, तभी तो यह आत्मनेपदी है। अनुदात्त इत होने से " अनुदात्तेतश्च हलादेः" सूत्र करके तच्छील अर्थ में प्रयुक्त किया गया युच् प्रत्यय कर लिया जाय वर्तन स्वभाव रूप पदार्थ ही वर्तना है। यों तत् शीलं यस्याः इस प्रकार ताच्छीलिक युच् प्रत्यय होजाता है, वर्तनशील ही वर्तना है। इस प्रकार वर्तना शब्द की निरुक्ति द्वारा यथायोग्य अर्थ निकाला जा सकता है।

का पुनरियं ? प्रतिद्रव्यपर्यायमंतर्नीतैकसमया स्वसत्तानुभूतिर्वर्तना। द्रव्यस्य पर्यायो द्रव्यपर्यायः द्रव्यपर्यायं द्रव्यपर्यायं प्रति प्रतिद्रव्यपर्यायं अन्तर्नीत एकः समयोऽनयेत्यंतर्नीतैकसमया। का पुनरसौ ? स्वसत्तानुभूतिः स्वस्यैव स्वस्य स्वसत्ता अन्यासाधारणी जन्मव्ययध्रौव्यैक्यवृत्तिरित्यर्थः। 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' इति वचनात्। न हि सत्तास्वतो भिन्ना स्वाश्रयादुपपद्यते। बुद्ध्यभिधानानुप्रवृत्तिलिंगेनानुमीयमाना सैकैवेत्ययुक्तं, सादृश्योपचारात-

देकत्वप्रत्ययप्रवृत्तिः। जीवाजीव-तद्भेदप्रभेदैः संबध्यमाना विशिष्टा शक्तिभिरनेकत्वमास्कंद-तीति स्वसत्ताया अनुभूतिः सा वर्त्तना वर्त्यमानत्वात् वर्तनमात्रत्वाद्वा तदुच्यते।

किसी का प्रश्न है कि यह वर्तना फिर क्या पदार्थ है? ग्रन्थकार इसका समाधान यों देते हैं, कि जिस स्वकीय सत्ता की अनुभूति ने द्रव्य की प्रत्येक पर्याय के प्रति उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य—आत्मक एक वृत्ति को एक ही समय में गर्भित कर लिया है। वह स्वकीय सत्ता का तदात्मक रस स्वरूप अनुभवन करना वर्त्तना है, यहां ज्ञान स्वरूप अनुभव नहीं लिया गया है। किन्तु स्वकीय केवल उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यों की युगपत् प्रवृत्तिरूप सत्ता की प्रत्येक पदार्थ में पाई जाने वाली एक-रसता ग्रहण की गई है। इस वर्त्तना के अकलंक लक्षण का अर्थ इस प्रकार है कि "उत्पादव्ययध्रौव्य-युक्तं सत्, सद्द्रव्य-लक्षणं गुणपर्ययवद्द्रव्यं" इनसूत्रों करके द्रव्य का लक्षण भविष्य में कहा जाने वाला है। उस द्रव्य की पर्याय को द्रव्यपर्याय कहा जाता है। द्रव्य-पर्याय, द्रव्यपर्याय के प्रति जो वह प्रतिद्रव्य पर्याय है, यों षष्ठीतत्पुरुष पूर्वक अव्ययीभाव समास वृत्ति की गयी है। जिसने एक समय को अन्तरंग में प्राप्त कर लिया है, वह "अन्तर्नीतैकसमया" है। फिर वह अन्तर्नीतैकसमया क्या है? इसका उत्तर स्वकीय सत्ता का अनुभव करना है. केवल अपनी ही सत्ता को स्वसत्ता कहा गया है। अन्य पदार्थों में साधारण रूप से नहीं पाई जा रही वह सत्ता है, इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यों की एकपने करके वृत्ति होना सत्ता है। स्वयं सूत्रकार का इस प्रकार वचन है, कि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यों से युक्त यानी तदात्मक वर्त रहा सत् है।

वैशेषिक विद्वान् सत्ता को अन्य अनेक पदार्थों में साधारण रूप से वर्त्त रही एक, नित्य, तथा स्वकीय आश्रय होरहे द्रव्य, गुण, कर्मों से सर्वथा भिन्न स्वीकार करते हैं। वैशेषिक दर्शन के प्रथम अध्याय में सूत्र है "द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता" किन्तु यह वैशेषिकों का मन्तव्य युक्तिसिद्ध नहीं बन पाता है क्योंकि अपने आश्रय मानेगये द्रव्य आदि से सर्वथा भिन्न होरही सत्ता ज्ञात प्रतीत नहीं होती है। वैशेषिक यों मान बैठे हैं कि पृथिवी द्रव्य, जल द्रव्य, आत्मा द्रव्य इत्यादिक द्रव्य द्रव्य ऐसे शब्दों की पीछे पीछे प्रवृत्ति होना स्वरूप ज्ञापक हेतु करके वह द्रव्यत्व जाति जैसे एक है, उसी प्रकार सत् सत् द्रव्यं सत् है, गुणः सत् है, कर्म सत् है, इस आकार की बुद्धि और शब्दों की अनुप्रवृत्ति होना स्वरूप लिंग करके अनुमित की जारही वह सत्ता जाति एक ही है "सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता" ।७। वशेषिक दर्शन के सातमें अध्याय का सूत्र है। सत् इस प्रकार का ज्ञान या लोकव्यवहार जिससे द्रव्य, गुण, कर्मों में होता है वह सत्ता है। ग्यारहवांसूत्र यह है, कि "सदिति लिंगाविशेषादविशेषलिंगाभावाच्चैको भावः ॥ १७" द्रव्य गुण कर्मों में सत् सत् ऐसा ज्ञापक लिंग विशेषता-रहित होकर प्रवर्तता है, और सत्ताके विशेषोंका सूचक कोई अन्य लिंग नहीं है, इस कारण भाव यानी सत्ता पदार्थ एक ही है।

आचार्य कहते हैं कि वैशेषिकों का कहना अयुक्त है क्योंकि सदृशपन के उपचारसे उन सत्ताओं के एकपने का ज्ञान प्रवर्त जाता है। हां वस्तुतः विचाराजाय तो जीव, अजीव, पदार्थ और उनके भेद प्रभेद होरहीं अनेक व्यक्तियों के साथ अविष्वग्भाव सम्बन्धको प्राप्त होरही वह सत्ता या सत्तायें विशिष्ट शक्तियों करके अनेकपन को प्राप्त कर लेती हैं अर्थात्—अनेक द्रव्यगुण कर्मों में यदि एक सत्ता व्यापती तो अन्तराल में अवश्य दीखती। दूसरी बात यह है कि घट के उपजने पर वह सत्ता कहां से आकर घट के साथ सम्बन्धित होजाती है? बताओ, यदि वहां ही प्रथम से विद्यमान थी तो आश्रयके विना सत्ता

कैसे ठहरी रही ? तथा घट के फूट जाने पर वह तुम्हारी नित्य, व्यापक, मानीगयी सत्ता विचारी बिना आश्रय के कैसे ठहरी रह सकती है ?

अतः "नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यं" यह लक्षण ठीक नहीं है । हां " सदृशपरिणामस्तिर्यक् सामान्यं " यह लक्षण समुचित है । जगत् में प्रत्येक पदार्थ की सत्ता न्यारी न्यारी है, हां सदृश होने से उन अनेक सत्ताओं में एकपन का उपचार भले ही कर लिया जाय जैसे कि दूसरे दिन भी उसी शीशी में से औषधि दे देने पर रोगी कह देता है कि वैद्य जी ! यह तो वही औषधि है, जो कि कल खाई थी किन्तु कल वाली औषधि तो कल ही खाई जा चुकी है । यह तो उसके सदृश है, इसी प्रकार सत्ता में एकपन का व्यवहार होजाता है । अपने अपने न्यारे न्यारे अगुरुलघु गुण-अनुसार अस्तित्व गुण की परिणति होरही सत्ता भी न्यारी न्यारी है । 'स्वपरादानापोहनव्यवस्थापाद्यं खलु वस्तुनो वस्तुत्वं' सभी वस्तुयें अपने अंशों को पकड़े रहती हैं, और दूसरों के सत्वों का परित्याग करती रहती हैं किसी के भी न्यारे न्यारे अंशों का अन्य किसी के साथ सम्मिश्रण या एकीभाव नहीं होसकता है । ऐसी स्वकीय स्वकीय सत्ता की जो अनुभूति यानी एकतानता है, वह वर्तना है । कर्म में युच् करने पर वर्ताया जा रहापन होने से वह वर्तना कह दी जाती है । अथवा भाव में युच् करने पर केवल वर्ता देना इस क्रिया भाव से वह वर्त्तना कह दी जाती है ।

भावार्थ—प्रत्येक पदार्थ प्रति समय उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप परिणमन करता सन्ता अपनी निज सत्ता का एक रस लेरहा वर्तना में निमग्न है उस वर्त्तना का उपादान कारण वह वह पदार्थ है । हां वर्तना का निमित्त कारण कालद्रव्य है अतः काल द्रव्य का उपकार वर्तना इष्ट की गयी है । विशेष यह कहना है, कि कई विद्वान् जैसे धर्म द्रव्य गति कराने में उदासीन निमित्त है उसी प्रकार वर्तना करानेमें कालको उदासीन कारण मान लेते हैं । फिर भी वर्तयिता या परिणमयिता काल का निमित्त-पना कुछ प्रेरकता को लिये हुये है, सभी कारणों को एक ही ढंग से कार्य करने के लिये नहीं हांका जाता है । घट की उत्पत्ति में कुलाल, चक्र, डोरा, मिट्टी, अदृष्ट, रासभ, दण्ड आकाश, काल ये सब न्यारे न्यारे कर्त्तव्यों द्वारा कारण होरहे हैं । निगोदराशि से जीव को निकाल कर व्यवहार राशि में लाने के अवसर पर कालाणुओं का प्रभाव (जौहर) अनुमित होजाता है । सम्यक्त्वादि की प्राप्ति या नियत काल में फल, पुष्प, तृण, वल्ली आदि के लगने अथवा ऋतु परिवर्तन में जहां काल लब्धि को कारण माना गया है । एवं अष्टमी, चतुर्दशी पर्व अष्टाह्निका, दशलक्षण पर्व, कल्याण दिवस आदि की शक्तिओं का निरूपण है । वहां व्यवहार काल की भी सामर्थ्य का अनुमान लगाया जा सकता है, " दव्वपरिवट्ट रूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो" (द्रव्य संग्रह) गति कराने में धर्म द्रव्य की उदासीनकारणता और उक्त कार्यों में काल की निमित्त—कारणता का अन्तर स्पष्ट है ।

अन्तर्नीतैकसमयः स्वसत्तानुभवो भिदा ।
यः प्रतिद्रव्यपर्यायं वर्तना सेह कीर्त्यते ॥ १ ॥
यस्मात्कर्मणि भावे च ण्यंताद्वर्तेः स्त्रियां युचि ।
वर्तनेत्यनुदात्तेत्त्वाच्छील्यादौ वा युर्चोप्यते ॥ २ ॥

उक्त वर्तनाका वार्तिकों द्वारा ग्रन्थकार करके यों निरूपण किया जा रहा है कि द्रव्यके प्रत्येक पर्याय के प्रति जो एक समय का अन्तरंग में प्राप्त करता हुआ भेदविवक्षा अनुसार स्वकीय सत्ता का अनुभव है, वह यहां प्रकरणमें वर्तना बखानी जाती है, जिस कारण से कि वर्तना शब्द की व्याकरण द्वारा सिद्धि यों की जाती है कि णि प्रत्ययान्त वर्त्ति धातु से कर्म या भाव में युच् प्रत्यय करने पर स्त्रीलिंग की विवक्षा होतेसन्ते "वर्तना" यह शब्द निष्पन्न होजाता है अथवा अनुदात्त इत् होने से ताच्छील्य, अधिकरण, आदि अर्थमें युच् प्रत्यय करने पर वर्तना शब्द बन गया इत्यादि कर लिया जाता है

धर्मादीनां हि वस्तूनामेकस्मिन्नविभागिनि ।
समये वर्तमानानां स्वपर्यायैः कथंचन ॥ ३ ॥
उत्पादव्ययध्रौव्यविकल्पैर्बहुधा स्वयं ।
प्रयुज्यमानतान्येन वर्तना कर्म भाव्यते ॥ ४ ॥
प्रयोजनं तु भावः स्यात्स चासौ तत्प्रयोजकः ।
काल इत्येष निर्णीतो वर्तनालक्षणोंजसा ॥ ५ ॥

बहुत प्रकार उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यों के विकल्प स्वरूप अपनी पर्यायों करके एक अविभागी समय में किन्हीं न किन्हीं कारणों अनुसार स्वयं वर्तन कर रहे धर्म आदिक छहों वस्तुओं की जो अन्य किसी प्रयोजक कारण करके प्रयुज्यमानपना है। वह वर्तना नाम की क्रिया विचारली जाती है। भावार्थ—धर्मादिक छहों द्रव्यें अपने अन्तरंग, बहिरंग कारणों अनुसार प्रत्येक समय में अपनी अपनी अनेक उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यों, के विकल्प स्वरूप पर्यायों करके अनेक ढंगों से स्वयं वर्त रही हैं। तथापि किसी अन्य प्रयोजक कर्ता करके इन धर्मादिकों में प्रेरितपना विचार लिया जाता है। बस वही वर्तना इस प्रयोजक कर्त्ता काल के द्वारा किया गया उपकार है। प्रयोजक काल का भाव तो धर्मादिकों का वर्ता देना प्रयोजन है, और वह जो उनका प्रयोजक यह काल है। इस प्रकार यह निर्दोष रूप से वर्त्तना नामक लक्षण को धार रहा काल द्रव्य निर्णीत होजाता है। नवगणी या दशगणी का कर्त्ता प्रयुज्य होजाता है, और ण्यन्त का कर्त्ता प्रयोजक होजाता है। प्रयोजक का प्रमोचन यहां वर्तना नामक परिणति है, जोकि युक्तियों से शीघ्र समझली जाती है।

प्रत्यक्षतोऽप्रसिद्धापि वर्तनास्मादृशां तथा ।
व्यावहारिककार्यस्य दर्शनादनुमीयते ॥ ६ ॥
यथा तंदुलविक्लेदलक्षणस्य प्रसिद्धितः ।
पाकस्यौदनपर्यायनामभाजः प्रतिक्षणं ॥ ७ ॥
सूक्ष्मतंदुलपाकोस्तीत्यनुमानं प्रवर्तते ।
पाकस्यैवान्यथेष्टस्य सर्वथानुपपत्तितः ॥ ८ ॥

तथैव स्वात्मसद्भावानुभूतौ सर्ववस्तुनः ।
प्रतिक्षणं बहिर्हेतुः साधारण इति ध्रुवम् ॥ ९ ॥
प्रसिद्धद्रव्यपर्यायवृत्तौ बाह्यस्य दर्शनात् ।
निमित्तस्यान्यथाभावाभावान्निश्चीयते बुधैः ॥ १० ॥

हम सारिखे अल्पज्ञ जीवों के यहां प्रत्यक्ष प्रमाणसे प्रसिद्ध नहीं भी होरही वर्तना जिस प्रकार व्यवहारोपयोगी कार्यों के देखने से अनुमित होजाती है। जिस प्रकार कि चावलों का अग्निसंयोग अनुसार खदर, बदर, होकर पकना-स्वरूप पाक की प्रसिद्धि होजाने से यह अनुमान प्रवर्त जाता है कि भात इस नाम को धारने वाली पर्याय का पूर्व में प्रत्येक क्षण में सूक्ष्म रूप से चावलों का पाक हुआ है। अन्यथा यानी प्रतिक्षण सूक्ष्मरूप से पाक होना यदि नहीं माना जायगा तो इष्ट होरहे पाक की सभी प्रकारों से सिद्धि नहीं होसकती है। भावार्थ—प्रत्येक क्षण में सूक्ष्म परिणाम करता हुआ बालक जिसप्रकार युवा होजाता है। उसी प्रकार अग्नि द्वारा चावलों को पकाने पर भी क्रम क्रम से सूक्ष्म पाक होते होते भात बन सका है, अन्यथा नहीं। अतः उन अतीन्द्रिय सूक्ष्म पाकों का जैसे अनुमान कर लिया जाता है। उसी प्रकार वर्तना का अनुमान कर लिया जाता है। सम्पूर्ण वस्तुओं के प्रत्येक क्षण में होने वाले अपने निज सद्भाव के अनुभव करने में कोई साधारण बहिरंग हेतु है। यह निश्चित मार्ग है, द्रव्यों की प्रसिद्ध होरहीं पर्यायों के वर्तने में भी बहिरंग निमित्त कारण देखा जाता है। अन्यथा उन पर्यायों के भाव का अभाव है, अतः अन्यथानुपपत्ति द्वारा विद्वानों करके उस अतीन्द्रिय भी वर्तना का निश्चय कर लिया जाता है, वह वर्तना काल द्रव्य करके किया गया उपकार है।

आदित्यादिगतिस्तावन्न तद्धेतुर्विभाव्यते ।
तस्यापि स्वात्मसत्तानुभूतौ हेतुव्यपेक्षणात् ॥ ११ ॥

मुख्य काल को नहीं मानने वाले श्वेताम्बर कहते हैं कि सूर्य चन्द्रमा आदि की गति या ऋतु अवस्था, आदि उस वर्तना की प्रयोजक हेतु होजायगी। इस पर ग्रन्थकार कहते हैं, कि सूर्य आदि की गति तो उस वर्तना का हेतु नहीं है। यह बात यों विचार ली जाती है कि उन सूर्य आदि के गमन या ऋतु की भी स्वकीय निज सत्ता के अनुभव करने में किसी अन्य हेतु की विशेषतया अपेक्षा होजाती है। अतः अन्य हेतु काल द्रव्य का मानना श्वेताम्बरों को भी आवश्यक पड़ेगा।

न चैवमनवस्था स्यात्कालस्यान्याव्यपेक्षणात् ।
स्ववृत्तौ तत्स्वभावत्वात्स्वयं वृत्तेः प्रसिद्धितः ॥ १२ ॥

यदि कोई यों कहे कि धर्मादिक की वर्तना कराने में काल द्रव्य साधारण हेतु है और काल द्रव्य की वर्तना में भी वर्तयिता किसी अन्य द्रव्य की आवश्यकता पड़ेगी और उस अन्य द्रव्य की वर्तना करानेमें भी द्रव्यान्तरों की आकांक्षा बढ़ जानेसे अनवस्था दोष होगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि हमारे यहां इस प्रकार अनवस्था दोष नहीं आता है क्योंकि काल को अन्य द्रव्य की व्यपेक्षा नहीं है अपनी वर्तना करने में उस काल का वही स्वभाव है क्योंकि दूसरों के वर्तना कराने के समान काल द्रव्य की स्वयं

निज में वर्तना करने की प्रसिद्धि होरही है जैसे कि आकाश दूसरों को अवगाह देता हुआ स्वयं को भी अवगाह दे देता है, ज्ञान अन्य पदार्थोंको जानता हुआ भी जान लेता है।

तथैव सर्वभावानां स्वयं वृत्तिर्न युज्यते।
दृष्टेष्टबाधनात्सर्वादीनामिति विचिंतितम् ॥१३॥

यहां किसी का यह कटाक्ष करना युक्त नहीं है कि जिस प्रकार काल स्वयं अपनी वर्तना का प्रयोजक हेतु है उस ही प्रकार सम्पूर्ण पदार्थों की स्वमेव वर्तना होजायगी कारण कि घट, पट आदि सम्पूर्ण पदार्थों को स्वयं वर्तना का प्रयोजक हेतुपना मानने पर प्रत्यक्ष, अनुमान, आदि प्रमाणों करके बाधा आती है, इस बात का हम पूर्व प्रकरण में विशेष रूप से विचार कर चुके हैं, प्रदीपका स्वपरोद्योतन स्वभाव है, घट का नहीं। कतक फल या फिटकिरी स्वयं को और कीच को भी पानी में नीचे बैठा देते हैं, वायु या फेन नहीं।

न दृश्यमानतैवात्र युज्यते वर्तमानता।
वर्तमानस्य कालस्याभावे तस्याः स्वतो स्थितेः ॥१४॥
प्रत्यक्षासंभवासक्तेरनुमानाद्ययोगतः।
सर्वप्रमाणनिन्हुत्या सर्वशून्यत्वशक्तितः ॥१५॥

मुख्य काल और व्यवहारकाल को नहीं मानने वाले बौद्ध यहां कटाक्ष करते हैं कि वर्तमान काल कोई पदार्थ नहीं है, निर्विकल्पक दर्शन द्वारा जो पदार्थों की दृश्यमानता है वही वर्तमानता है अत एव इस अन्यापोह रूप धर्म को ही वर्तना कहा जा सकता है, इसके लिये इतने लम्बे चौड़े कार्य कारण भाव के मानने की अवश्यकता नहीं। आचार्य कहते हैं कि यह बौद्धों का कहना युक्तिपूर्ण नहीं है क्योंकि वर्तमानकाल का अभाव मानने पर उस दृश्यमानता की स्वयं अपने आप से व्यवस्था नहीं होसकती है क्योंकि "दृशि प्रेक्षणे" धातु से कर्म में यक् करते हुये पुनः वर्तमानकाल की विवक्षा होने पर "शानच" प्रत्यय करने पर दृश्यमान बनता है, दूसरी बातयह है कि वर्तमान कालके नहीं मानने पर प्रत्यक्ष प्रमाण के असम्भव होजानेका प्रसंग होगा क्योंकि वर्तमान कालीन पदार्थोंको इन्द्रिय, अनिन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष जानते हैं, प्रत्यक्ष को मूल मान कर अनुमान आदि प्रमाण प्रवर्तते हैं अतः प्रत्यक्ष प्रमाण का असम्भव होजानेसे अनुमान आदि प्रमाणोंकी योजना नहीं होसकती है, ऐसी दशामें सम्पूर्ण प्रमाणोंका अपलाप होजानेसे सर्व पदार्थोंके शून्यपनका प्रसंग आवेगा जो कि किसीको भी इष्ट नहीं है, अतः वर्तमान कालका मानना अत्यावश्यक है। जो पण्डित यों कह देते हैं कि 'वर्तमानाभावः पततः पतित पतितव्य कालोपपत्तः' अर्थात्–वर्तमानकाल कोई नहीं हैं क्योंकि वृक्ष से पतन कर रहे फल का कुछ देश तो पतित होकर भूतकाल के गर्भ में चला गया है और कुछ नीचे पड़ने योग्य देश भविष्य काल में आने वाला है अतः भूत पतित और भविष्य पतितव्य काल ही हैं। उन पण्डितों की यह तर्क निस्सार है जब कि फल का वर्तमान काल में पतनहोरहा प्रत्यक्ष सिद्ध है, वर्तमान को मध्यवर्ती मान कर ही भूत, भविष्य काल माने जा सकते हैं, अन्यथा नहीं।

स्वसंविदद्वयं तत्वमिच्छतः सांप्रतं कथम्
सिद्धयेन्न वर्तमानोस्य कालः सूक्ष्मः स्वयंप्रभुः ॥१६॥

जो बौद्ध बहिरंग सम्पूर्ण पदार्थों को नहीं मान कर स्वसम्वेदनाद्वैत को ही तत्व इच्छते हैं उनके यहां वर्तमान काल में वर्त रहा सम्वेदनाद्वैत भला किस प्रकार सिद्ध नहीं होगा ? और ऐसा मानने पर इस सम्वेदनाद्वैतका स्वयं प्रभु होरहा और परम सूक्ष्म वर्तमान काल सिद्ध नहीं होवे ? यानी वर्तमानकाल अवश्य सिद्धहोजावेगा । क्षणिक-वादी बौद्धों को बड़ी सुलभता से वर्तमान क्षण इष्ट करना पड़ेगा कारणकि वर्तमान क्षणमें पदार्थकी सत्ता मानते हुये उन्होंने दूसरे क्षणमें पदार्थों का स्वभाव से होरहा विनाश इष्ट किया है "द्वितीयक्षणवृत्तिध्वंसप्रतियोगित्वं क्षणिकत्वं,, ।

ततो न भाविता द्रक्ष्यमाणता नाप्यतीतता ।
दृष्टता भाव्यतीतस्य कालस्यान्यप्रसिद्धितः ॥१७॥

तिसही कारण भविष्यमें दर्शनका विषय होजाना यह द्रक्ष्यमाणता ही भविष्यता नहीं है और तिस ही कारण दृष्टता ही अतीतपना भी नहीं है क्योंकि अन्य भी भविष्य में होने वाला भावी काल और होचुके अतीत काल के ओत प्रोत चले आ रहे अन्वय की प्रसिद्धि होरही है । ज्ञान करके देखा जा चुकापन या देखाजायगापन केवल इतना स्वभाव ही भूतकाल या भविष्यकाल नहीं है किन्तु यथार्थ में पदार्थों के परिणमयिता भूत, वर्तमान, भविष्य, काल हैं ।

गतं न गम्यते तावदागतं नैव गम्यते ।
गतागतविनिर्मुक्तं गम्यमानं न गम्यते ॥१८॥
इत्येवं वर्तमानस्य कालस्याभावभाषणं ।
स्ववाग्विरुद्धमाभाति तन्निषेधे समत्वतः ॥१९॥
निषिद्धमनिषिद्धं वा तद्द्वयोन्मुक्तमेव वा ।
निषिध्यते न हि क्वैवं निषेधो विधिरेव वा ॥२०॥

कोई पण्डित कहते हैं कि कोई पथिक मार्ग में गमन कर रहा है जितना मार्ग वह गमन कर चुका है वह फिर गमन नहीं किया जाता है क्योंकि वह गत होचुका और जो भविष्य में आने योग्य मार्ग है वह भी गमन नहीं किया जा सकता है कारण कि वह तो भविष्य काल में गमन किया जावेगा अथ गत और आगत मार्गसे रहित कोई गम्यमान स्थल शेष नहीं रहा तो वह नहीं गमन किया जायगा ऐसी दशा में गत और गमिष्यमाण से अतिरिक्त वर्तमानका कोई गम्यमान शेष नहीं रहता है ।

आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार जो पण्डित वर्तमान कालके अभाव को बखानते हैं उनका भाषण स्ववचन-विरुद्ध प्रतीत होरहा है क्योंकि उस वर्तमानके निषेधमें भी समान रूपसे वैसे ही आक्षेप प्रवर्त जाता है हम जैन उन वर्तमान काल का निषेध करने वाले पण्डितों से पूछते हैं कि आप निषिद्ध

पदार्थका निषेध करते हो ? अथवा नहीं-निषिद्ध पदार्थ का निषेध करते हो ? अथवा क्या निषिद्ध और अनिषिद्ध उन दोनों स्वभावों से रहित होरहे ही पदार्थका निषेध करते हो ? तीनों पक्षोंमें इस प्रकारका निषेध नहीं बन सकता है, विधि ही बन बैठेगी, निषेध कहां रहा ? अर्थात्-निषिद्ध का निषेध करने पर सद्भाव उपस्थित होजाता है और अनिषिद्ध का निषेध करते हुये वदतोव्याघात दोष है फिर भी विधि ही आई तथा जो निषिद्ध भी नहीं और अनिषिद्ध भी नहीं उसका परिशेष में जाकर विधान होजाता है, निषिद्ध नहीं, अनिषिद्ध भी नहीं यों दोनों में से किसी भी एक का निषेध करते ही झट दूसरे का विधान होजाता है, यों व्याघात हुआ जाता है अथवा सत् का निषेध भी नहीं होसकता है, विरोध है, खरविषाणके समान । असत् पदार्थका भी निषेध नहीं होसकता है, अतः वर्तमान कालका भी निषेध अशक्य होगया । बात यह है कि कुचोद्यों द्वारा किसी भी सद्भूत पदार्थ का निषेध या असद्भूत पदार्थ का विधान करना अन्याय है ।

क्व वाभ्युपगमः सिद्धयेत् प्रतिज्ञाहानिसंगतः ।
तस्य स्वयं प्रतिज्ञानाद्वर्तमानस्य तत्वतः ॥२१॥
तथैव च स्वयं किंचित्परैरभ्युपगम्यते ।
तथैव गम्यते किं न क्रियते वेद्यतेपि च ॥२२॥
संवेदनाद्वयं तावद्विदितं नैव वेद्यते ।
न चाविदितमात्मादितत्वं वा नापि तद्द्वयं ॥२३॥
इति स्वसंविदादीनामभावः केन वार्यते ।
वर्तमानस्य कालस्यापन्हवे स्वात्मविद्विषां ॥२४॥

इस प्रकार कुतर्क करने वाले बौद्धों के यहाँ भला किस निर्णीत पदार्थ में स्वीकृति कर लेना सिद्ध होसकेगा क्योंकि प्रतिज्ञाहानि दोषका प्रसंग आता है जब कि वास्तविक रूप से उस वर्तमान काल की उन्होंने स्वयं प्रतिज्ञा करली है तिस ही प्रकार दूसरों करके जो कुछ स्वीकार किया जाता है उसको बौद्ध जब स्वयं स्वीकार कर लेते हैं और उस ही प्रकार प्राप्त कर लेते हैं तो फिर भला वह क्यों नहीं किया जायगा ? और क्यों नहीं जाना जायगा ।

अर्थात्- स्वीकार कर लेना प्राप्त कर लेना विधान कर लेना, जान लेना ये सब वर्तमान काल के स्वीकार कर लेने पर ही बन सकते है । केवल सम्वेदनाद्वैत वादियों का शुद्ध सम्वेदनाद्वैत तो नहीं जानाजाता है जो अंश उसका पूर्व में जाना जा चुका है वह वर्तमान में नहीं जाना जा सकता है और नहीं जाने जा चुके आत्मा आदिक तत्व तो कथमपि नहीं वेदे जाते हैं तथा उन विदित और अविदित का द्वय अथवा ज्ञान और आत्मा का द्वय तो अद्वैतवादियों के यहां नहीं जाना जाता है, इस प्रकार वर्तमान काल का अपन्हव (छिपजाना) मानने पर अपने निज आत्मा के साथ विद्वेष करनेवाले बौद्धों के यहां स्वसम्वेदन आदिकों का अभाव किस के द्वारा रोका जा सकता है ? अर्थात्-वर्तमान काल का

नहीं मानने पर स्वसम्वेदनाद्वैत, चित्राद्वैत आदिका अभाव होजावेगा, कोई रोक नहीं सकता है विदित अंश जाना नहीं जा सकता है और अविदित अंश भी नहीं जाना जाता, सबतो कुछ भी नहीं जाना जाता है।

न संविस्संविदेवेति स्वतः समवतिष्ठते।
ब्रह्म ब्रह्मैव वेत्यादि यथाऽभेदाप्रसिद्धितः २५॥

सम्वेदन सम्वेदनस्वरूप ही है इस प्रकार सम्वेदनाद्वैत की अपने आप ही से व्यवस्था नहीं होजाती है जैसे कि ब्रह्म ब्रह्म ही है, शब्द शब्द ही है, इत्यादि व्यवस्थायें स्वतः नहीं प्रतिष्ठित होपाती तुम्हारे यहां मानी गयीं हैं। बात यह है कि अभेद-वादियों के मन्तव्य अनुसार उस अभेद की प्रमाणों से प्रसिद्धि नहीं है। यदि सम्वेदनाद्वैतवादी अपने सम्वेदनकी स्वतः सिद्धि स्वीकार करेंगे तो ब्रह्माद्वैत-वादी भी अपने परम ब्रह्मकी स्वतःसिद्धि अभीष्ट करलेंगे, शब्दाद्वैत-वादी भी आडटेंगे, यों सभी अनिष्ट तत्वों की स्वतःसिद्धियां होने लगेंगी।

तत्स्वसंवेदनस्यापि संतानमनुगच्छतः।
परेण हेतुना भाव्यं स्वयं वृत्यात्मनां न सः ॥२६॥
वर्तनैवं प्रसिद्धा स्यात्परिणामादिवत् स्वयं।
ततः सिद्धान्तसूत्रोक्ताः सर्वेमी वर्तनादयः ॥२७॥

तिस कारण स्वसम्वेदन की भी सन्तान को अनुगमन कर मान रहे बौद्धों के यहां उस संतान को चलाने का कोई दूसरा हेतु होना चाहिये। अतः कालद्रव्य का मानना आवश्यक है। हां जो स्वयं वर्तना स्वरूप परिणमरहे पदार्थ हैं, उनका वर्तयिता वह काल कोई न्यारा हेतु नहीं है। इस प्रकार बौद्ध अथवा कोई भी दार्शनिक हो उनके यहां पदार्थकी वर्तना प्रसिद्ध हो ही जाती है जैसे कि परिणाम आदिक स्वयं प्रसिद्ध मानने पड़ते हैं। तिस कारण सिद्धान्त सूत्रों में वे सभी वर्तना, परिणाम, आदिक बहुत अच्छे कहे गये हैं, किसी भी प्रमाण से बाधा उपस्थित नहीं होती है।

अत एवाह

इस ही कारण से ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक में यों स्पष्ट कह रहे हैं—

कालस्योपग्रहाः प्रोक्ता ये पुनर्वर्तनादयः।
स्यात्त एवोपकारोतस्तस्यानुमितिरिष्यते ॥ २८ ॥

फिर जो सूत्रकार ने कालके वर्तना, परिणाम आदिक उपग्रह बहुत अच्छे कहे हैं वे ही वर्तना आदिक काल के उपकार होसकते हैं। इन वर्तना आदिक ज्ञापक लिंगों से उस अतीन्द्रिय काल का अनुमान होजाना अभीष्ट किया जाता है, जैसे कि पूर्व सूत्रों के अनुसार धर्म आदिक का अनुमान किया जा चुका है।

वर्तना हि जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशानां तत्सत्तायाश्च साधारण्याः सूर्यगत्यादीनां च स्वकार्यविशेषानुमितस्वभावानां बहिरंगकारणापेक्षा कार्यत्वात्तंदुलपाकवत्। यत्तावद्बहिरंगकारणं स कालः।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यों की तथा उन में साधारण रूप से पायी जा रही उनकी सत्ता की एवं अपने अपने कार्य विशेषों से अनुमित होरहे स्वभावोंको धारने वाले सूर्य गमन ऋतुप्रभाव, आदि की वर्तना (पक्ष) अवश्य वहिरंग कारणों की अपेक्षा रखती है (साध्य) कार्य होने से हेतु । चावलों के पाक समान (अन्वय दृष्टान्त) । जो उस वर्तना का वहिरंग कारण होगा वह तो काल द्रव्य ही होसकता है अर्थात्— चावलों के पकने में जैसे वहिरंग कारण अग्नि है उसी प्रकार जीव आदि द्रव्यों की वर्तना कराने में और उनकी सत्ताके वर्तानें में अथवा सूर्यगति, वर्षा होना, ऋतुकार्य आदि के वर्तानें में वहिरंग कारण काल द्रव्य है ।

ननु कालवर्तनया व्यभिचारः स्वयं वर्तमानेषु कालाणुषु तदभावात । न हि कालाणवः स्वसत्तानुभूतौ प्रयोजकमपरमपेक्षन्ते सर्वप्रयोजकस्वभावत्वात्स्वप्रयोजकत्वाभावे सर्वप्रयोजकस्वभावत्वविरोधात् । खस्य स्वावगाहहेतुत्वाभावे सर्वावगाहहेतुत्वस्वभावत्वविरोधवत् । सर्वज्ञविज्ञानस्य स्वरूपपरिच्छेदकत्वाभावे सर्वज्ञत्वविरोधवद्वा । दिशः स्वस्मिन् पूर्वापरादिप्रत्ययहेतुत्वाभावे सर्वत्र पूर्वापरादिप्रत्ययहेतुत्वविरोधवद्वेति केचित् ।

यहां कोई पण्डित प्रश्न उठाते हैं, कि उक्त कार्यत्व हेतु का काल द्रव्यकी वर्तना करके व्यभिचार आता है क्योंकि स्वयं अपने आप वर्तना कर रहे कालाणुओं में उस वहिरंग कारण की अपेक्षा स्वरूप साध्य का अभाव है । देखिये कालाणुयें अपनी सत्ता का अनुभव करना स्वरूप वर्तना में किसी दूसरे प्रयोजक हेतु की अपेक्षा नहीं करती हैं । क्योंकि उन कालाणुओं का स्वभाव सम्पूर्ण द्रव्यों की वर्तना करने में प्रयोजकपना है. यदि वे कालाणुयें स्वयं अपनी ही वर्तना करने में प्रयोजक नहीं मानी जावेंगी तो उनके सर्वप्रयोजक स्वभाव होने का विरोध आजावेगा, जैसे कि आकाश को अपने स्वयं अवगाह का हेतुपना नहीं मानने पर सम्पूर्ण द्रव्यों के अवगाह देने के हेतुपन स्वभाव होने का विरोध होजाता है । सबको अवगाह वही दे सकता है जो स्वको भी अवगाह देता है । सब में स्व सब से पहिले आता है । इसी प्रकार काल द्रव्य स्वयं अपनी वर्तना करने में प्रयोजक हेतु होगा तभी सबका वर्तयिता होसकता है ।

अथवा दूसरा दृष्टान्त यह है कि सर्वज्ञ का विज्ञान यदि अपने निजरूप का परिच्छेदक नहीं माना जायगा तो उसके सबको जान लेने स्वभावका विरोध होजायगा सर्वज्ञ का विज्ञान स्वको जानता हुआ ही सर्व का ज्ञाता बन सकता है । अथवा तीसरा दृष्टान्त यों समझिये कि दिशा को अपने में पूर्व पश्चिम. आदि ज्ञानों का हेतुपना नहीं मानने पर सम्पूर्ण पदार्थों में पूर्व, पश्चिम, ज्ञान करने के हेतुपन का जैसे विरोध होजाता है । यानी दिशायें स्व में पूर्व, पश्चिम, आदि का व्यवहार कराती हुई ही मूर्त द्रव्यों में पूर्व आदि व्यवहार को कराती हैं, अन्यथा अनवस्था होजायगी । भावार्थ—आकाश स्वयं अपना अवगाहक है ज्ञान स्वयं अपना परिच्छेदक है । दिशा स्वयं अपने को पूर्व आदि व्यवस्था करा-

देती है। इसी प्रकार काल द्रव्य की वर्तना स्वयं होरही है, ऐसी दशा में हेतु के रहजाने पर साध्य के नहीं रहते सन्ते काल वर्तना करके व्यभिचार हुआ, यों कोई पण्डित कह रहे हैं।

कालवर्तनाया अनुपचरितरूपेणासद्भावात् यस्यासावन्येन वर्त्यते तस्या सा मुख्यवर्तना कर्मसाधनत्वात्तस्याः। कालस्य तु नान्येन वर्त्यते तस्य स्वयं स्वसत्तावृत्तिहेतुत्वाद् यथा नवस्थाप्रसंगात् ततः कालस्य वर्तनो वृत्तिरेवोपचारतो वर्तना वृत्तिवर्तकयोर्विभागाभावान्मुख्यवर्तनानुपपत्तेः।

अब आचार्य उत्तर कहते हैं कि मुख्यरूप से काल वर्तना का असद्भाव है। जिस द्रव्य की वह वर्तना अन्य द्रव्य करके वर्तायी जाती है, उसकी वह मुख्य वर्तना है। क्योंकि कर्म में निरुक्ति कर उस वर्तना को साधा गया है। कालद्रव्य की वर्तना तो अन्य द्रव्य करके नहीं वर्तायी जाती है। कारण कि वह काल स्वयं अपनी सत्ताकी वृत्ति का कारण है। अन्यथा यानी काल के वर्तने में भी अन्य वर्तयिता द्रव्य की अपेक्षा होगी तो अनवस्था दोष का प्रसंग आवेगा तिस कारण काल की स्वयं अपने आप से वृत्ति होजाना ही उपचार से वर्तना मानी गयी है क्योंकि वृत्ति और वर्तकके विभाग का अभाव होजाने से काल के मुख्य वर्तना की सिद्धि नहीं होपाती है।

अर्थात्—दूसरे मनुष्य करके माल खरीदने पर तो विक्रेता के यहां बेचने का व्यवहार मुख्य समझा जाता है। स्वयं खरीद लेने से विक्रय व्यवहार नहीं मानाजाता है, उसी प्रकार जहाँ भिन्न द्रव्य प्रयोजक हेतु है। उन जीव आदि पांच द्रव्यों की वर्तना तो मुख्य है. और स्वयं हेतु होजाने से कालकी वर्तना केवल उपचरित है। अतः उपचरित यानी असद्भूत पदार्थ करके हेतु का व्यभिचार दोष नहीं हुआ करता है, एक द्रव्य वर्तने योग्य होता और दूसरा द्रव्य वर्ताने का कारक वर्तक होता तब तो मुख्य वर्तना होसकती थी, अन्यथा नहीं।

शक्तिभेदात्तयोर्विभागे तु सा कालस्य यथा मुख्या तथा च बहिरंगनिमित्तापेक्षत्वं वर्तकशक्तेर्बहिरंगकारणत्वात् ततो न तया व्यभिचारः।

यदि वह पण्डित यों कहे कि जैसे ज्ञान में वेद्य और वेदक दोनों शक्तियां विद्यमान हैं। प्रदीप में स्व-प्रकाशत्व और पर-प्रकाशत्व दोनों शक्तियां हैं, इसी प्रकार काल द्रव्य में वर्त्यत्व और वर्तकत्व भिन्न भिन्न शक्तियां हैं। शक्तियों के भेदसे उन वृत्ति और वर्तक पदार्थों का विभाग होजायगा यों कहने पर तो आचार्य कहते हैं, कि ठीक है यों तो जिस प्रकार वह काल की वर्तना मुख्य सध जाती है उस ही प्रकार बहिरंग निमित्तों की अपेक्षा होना साध्य भी घटित होजाता है। क्योंकि काल की कथंचित् भिन्न मान ली गयी वर्तकत्व शक्ति यहां काल के वर्तने में बहिरंग कारण पड़ गयी है. तिस कारण उस कालवर्तना करके व्यभिचार दोष नहीं हुआ कालवर्तना में हेतु रह गया तो क्या हुआ साध्य भी तो साथ ही साथ ठहर गया है। ऐसी दशा में व्यभिचार दोष नहीं आता है।

अकालवृत्तित्वे सति कार्यत्वादिति सविशेषणो वा हेतुः सामर्थ्यादवसीयते। यथा पृथिव्यादयः स्वतोऽर्थान्तरभूतज्ञानवेद्याः प्रमेयत्वादित्युक्तेप्यज्ञानत्वे सतीति गम्यते, अन्यथा ज्ञानेन स्वयं वेद्यमानेन व्यभिचारप्रसंगात्।

अथवा " कार्यत्वात् " इतना ही हेतु नहीं समझा जाय " अकालवृत्तित्वे सति " यह विशेषण जोड़ दिया जाय काल वर्तना ही व्यभिचार स्थल होसकता है। अतः तद्भिन्नत्व का निवेश कर देना उचित है, बिना कहे ही शब्दों की सामर्थ्य से यह निर्णीत कर लिया जाता है कि ग्रन्थकार ने यहां कालवर्तना से भिन्न होते हुये कार्यपना यों विशेषणसहितहेतु कहा है। जैसे कि किसी ने यह अनुमान कहा कि पृथिवी, जल आदिक पदार्थ (पक्ष) स्व से भिन्न होरहे ज्ञान करके जानने योग्य हैं। साध्य) प्रमेय होने से (हेतु) यों केवल प्रमेयत्व हेतु कह देने पर भी ज्ञानभिन्नत्वे सति यह विशेषण बिना कहे ही जान लिया जाता है। अन्यथा स्वयं अपने आप वेदे जारहे ज्ञान करके व्यभिचार दोष होजाने का प्रसंग आजावेगा, प्रमेय तो ज्ञान भी है किन्तु वह स्व से निराले अन्य ज्ञान करके वेद्य नहीं है। ज्ञान तो स्वसम्वेद्य है।

गम्भीर विद्वानों के वाक्य सोपस्कार होते हैं, अभिप्राय को नहीं समझ कर कोरे शब्दों पर

ही से व्यभिचार दोष उठा देना तुच्छता है। गम्भीरता का पाठ पढ़ने वालों को ऐसे तुच्छ कमीनेपन से अपने को बचातेरहना चाहिये यद्यपि यह कार्य कठिन है। किन्तु असम्भव नहीं। तुम्हारा मित्र ग्राम को जारहा है तुमने उससे कहा कि सम्भवतः मेह पड़ेगा, अतः छतरी लेते जाओ। वह मित्र मेह नहीं वरसने का आग्रह करता हुआ छतरी को नहीं लेगया, दैव योग से मार्ग में मेह वरसा और मित्र बेचारा वस्त्र तथा अन्य सामान के साथ भीग गया और लौट कर मित्रने सम्पूर्ण व्यवस्था सुनाई। मित्र की दशा को सुनकर तुम्हें इतनी गम्भीरता बनाई रखनी चाहिये जिससे कि झटिति यह शब्द नहीं निकल पड़े कि हमने तभी तुमसे कहा था कि छतरी लेते जाना। तात्पर्य यह है कि पक्ष के प्रयोग की सामर्थ्य से ग्रन्थकार का यही अभिप्राय जंचता है कि वे हेतु दल में " कालवर्तनाभिन्नत्वे सति " इतना विशेषण लगा रहे हैं।

नन्वत्र प्रमेयत्वादेवेत्यवधारणात्प्रमाणत्वे सतीति विशेषणमनुक्तमपि शक्यमवगंतुमन्यत्र तु कथमिति चेत्, कार्यत्वादेवेत्यवधारणाश्रयणादन्यत्राप्यकारणत्वे सतीति विशेषणं तावद् गम्यते कारणं च युगपत्सकलवृत्तिमतां वृत्तौ कालद्रव्यमित्यकालवृत्तित्वे सतीति विशेषणं लभ्यत एव सामर्थ्यात् ततो न प्रकृते हेतौ विशेषणमिच्छता हेतुरन्यतरं।

सन्तुष्ट नहीं हुये उस विद्वान् का पुनः प्रश्न है कि सभी वाक्यों में अवधारण लग जाते हैं। इस बात को जैन भी मानते हैं " पृथिव्यादयः स्वतो अर्थान्तरभूत-ज्ञान-वेद्याः प्रमेयत्वात् " इस अनुमान में प्रमेयत्वात् एव" इस प्रकार अवधारण कर देने से प्रमाण भिन्नत्वे सति यह विशेषण बिना कहे भी जाना जा सकता है किन्तु अन्य स्थल पर यानी " वर्तना वहिरंगकारणापेक्षा कार्यत्वात् इस अनुमान में वह " कालवर्तनाभिन्नत्वे सति " यह विशेषण भला किसप्रकार जाना जा सकता है।

अर्थात्—प्रमेयपना ही जहां है वह अपने में अर्थान्तर होरहे ज्ञान के द्वारा वेद्यपना है यद्यपि ज्ञान प्रमेय है तथा साथमें प्रमाण भी है अतः केवल प्रमेय ही तो ज्ञान भिन्न पदार्थ पृथिवी, जल आदिक ही होसकते हैं। अतः "प्रमाणभिन्नत्वे सति" यह विशेषण बिना कहे ही निकल पड़ता है, किन्तु आप जैनों के अनुमान में कालवर्तना भिन्नत्वे सति यह बिना कहे यों ही नहीं टपक पड़ेगा। यों आक्षेप करने पर तो ग्रन्थकार समाधान करते हैं, कि यहां भी कार्यत्वादेव इस प्रकार एव द्वारा अवधारणका आश्रय लेने से हमारे दूसरे अनुमान में भी " अकारणत्वे सति " यह विशेषण तो बिना कहे ही जान लिया

जाता है, जो अन्य द्रव्य करके की गयीं कार्यरूप ही वर्तनायें हैं। वे ही पकड़ी जायंगी, स्व करके की गयीं अथवा जो कथंचित् कारण भी होसकती है, वह काल वर्तना नहीं ली जासकेगी कार्य कहने से कारणत्व से रीते कार्य ही ग्रहण किये जासकते हैं। जब कि सम्पूर्ण वृत्तिमान् पदार्थोंकी युगपत् वृत्ति-कराने में कारण कालवृत्ति है इस कारण अकाल वृत्ति यह बिना कहे ही आजाता है। अकालवृत्तित्वे सति यह विशेषण बिना कहे हीं सामर्थ्य से लब्ध हो ही जाता है।

अर्थात्—कूटस्थ काल द्रव्य तो अन्य द्रव्यों के वर्तने में कारण नहीं है स्वयं अपनी वर्तना कर रहा ही काल दूसरों का वर्तयिता है, अतः काल के समान काल की स्वयं वर्तना भी अन्य द्रव्यों के वर्तने में प्रयोजक हेतु होजाती है, धर्म और धर्मी में कथंचित् अभेद है। जब "कालवृत्तिभिन्नत्वे सति" इतना विशेषण स्वतः ही प्राप्त होगया तो जैनों के ऊपर हेत्वन्तर नामक निग्रहस्थान नहीं हुआ। प्रकरणप्राप्त हेतु में विशेष की रक्षा रखनेवाले वादी के ऊपर हेत्वन्तर निग्रह स्थान उठा दिया जाता है, "अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तर" यह गौतमसूत्र है जिस प्रकार किसी ने अनुमान कहा कि शब्द अनित्य है। क्योंकि उसका बाह्य इन्द्रियद्वारा प्रत्यक्ष होता है, किन्तु नित्य मानी गयी

शब्दत्व जातिका भी बाह्य इन्द्रिय करके प्रत्यक्ष होता है। अतः प्रतिवादीने शब्दत्व जाति करके व्यभिचार उठा दिया ऐसी दशा में वादी "सामान्यवत्वे सति" यह विशेषण लगा देता है सामान्य में पुनः दूसरा सामान्य नहीं टिकता है, अतः शब्दत्व सामान्य सामान्यवान् नहीं है, यों व्यभिचार दोष तो टल गया किन्तु वादी का हेत्वन्तर नामक निग्रह-स्थान होगया। इस प्रकार हम जैनों के ऊपर यह हेत्वन्तर निग्रहस्थान नहीं लागू होता है क्योंकि हमने हेतु में कोई विशेष अंश नहीं जोड़ दिया है "कालवर्तनाभिन्नत्वे सति" इतना कार्यत्व हेतु का विशेषण तो ग्रन्थकार के अभिप्राय में पहिले ही से था जैसे कि "पर्वतो वन्हिमान् धूमात्" यहां "संयोग सम्बन्धेन" यह विशेषण तो अनुमान प्रयोक्ता को प्रथम से ही अभिप्रेत है। उसको शब्द से कहने की कोई आवश्यकता नहीं है, अन्यथा समवाय सम्बन्ध से धूम अपने अवयवों में रहा वहां वन्हि के नहीं वर्तने से व्यभिचार दोष आजाता। प्रकरणप्राप्त कार्यत्व हेतु में कोई नवीन विशेषण लगाने की इच्छा नहीं की गई है।

नन्वेवं कालवृत्तेरकार्यत्वे तथा व्यभिचाराभावादनर्थकं विशेषणोपादानमिति चेन्न, पर्यायार्थादेशात्कार्यत्वस्य तत्र भावात्तया व्यभिचारप्रसंगात् तत्परिहारार्थं विशेषणोपादानस्यानर्थकत्वायोगात्। ततो वर्तनोपकारः कालसत्तां साधयत्येव।

पुनः कोई पण्डित अनुनय करते हैं कि कालकी वर्तना जब कार्य ही नहीं है तो कार्यत्व हेतु के नहीं ठहरने पर उस कालवृत्तिकरके व्यभिचार होजाने का अभाव है, अतः "अकाल वृत्तित्वे सति इस विशेषणका हेतु दलमें उपादान करना व्यर्थ है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि पर्यायार्थिक नय करके कथन करने से उस कालवर्तनामें कार्यत्व हेतुका सद्भाव है। पर्यायार्थिकनयसे सम्पूर्ण पदार्थ कार्य हैं अतः उस कालवर्तना करके व्यभिचार होजानेका प्रसंग आजाता है, उस व्यभिचार दोष का परिहार करने के लिये अकालवृत्तित्वे सति इस विशेषण के ग्रहण करने को व्यर्थपन का अयोग है यानी विशेषण लगाना सार्थक है। तिस कारण से सिद्ध होता है कि वर्तना नामका उपकार यह ज्ञापक हेतु उस अतीन्द्रिय परमार्थ काल की सत्ता को साध ही देता है।

कः पुनः परिणामः ? द्रव्यस्य स्वजात्यपरित्यागेन प्रयोगविस्रसालक्षणो विकारः परिणामः तत्र विस्रसापरिणामोनादिरादिमांश्च । चेतनद्रव्यस्य तावत्स्वजातेश्चेतनद्रव्यत्वाख्याया अपरित्यागेन जीवत्वभव्यत्वाभव्यत्वादिरनादिरौपशमिकादिः पूर्वाकारपरित्यागाजहद्वृत्तिरादिमान् स तु कर्मोपशमाद्यपेक्षत्वादपौरुषेयत्वाद्वैस्रसिकः । अचेतनद्रव्यस्य तु लोकसंस्थानमन्दराकारादिरनादिरिन्द्रधनुरादिरादिमान् पुरुषप्रयत्नानपेक्षत्वादेव वैस्रसिकः ।

वर्तना का व्याख्यान हो चुका अब महाराज यह बताओ कि सूत्र में वर्तना के पश्चात् कहा गया परिणाम फिर भला क्या पदार्थ है ? इसका समाधान करते हुये ग्रन्थकार कहते हैं कि स्वकीय जाति का परित्याग नहीं करके द्रव्यका प्रयोग और विस्रसा स्वरूप विकार होजाना परिणाम है द्रव्य का जीवके प्रयत्नसे हुआ विकार तो प्रयोगस्वरूप परिणाम है और उन जीवप्रयत्नों की नहीं अपेक्षा करके अन्य अन्तरंग बहिरंग कारणोंसे विस्रसा स्वरूप परिणाम होता है । उन दोनों प्रकार के परिणामों में विस्रसा नामक परिणाम दो प्रकार है एक अनादि और दूसरा आदिमान् यानी सादि है । तिनमें चेतन द्रव्यका तो चेतनद्रव्यत्व नामक अपनी निज जातिका नहीं परित्याग करके होरहा जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व, जैत्व, आदि स्वरूप अनादि परिणाम है । अर्थात्–चेतन जीव द्रव्य अनादि काल से जीवत्व आदि परिणामों को धार रहे हैं । जो भव्य जीव हैं वे अनादिकाल से बिना ही प्रयत्न के भव्यत्व रूप परिणमन में लवलीन हैं और जो जगत् में जघन्य युक्तानन्तप्रमाण अभव्य जीव हैं पुरुषार्थ बिना ही अनादि से अभव्यत्व परिणति में तत्पर होरहे हैं, जीवत्व परिणाम तो सबका अनादि, अनन्त है तथा चेतन द्रव्य के औपशमिक, क्षायोपशमिक आदिक परिणाम तो आदिमान हैं क्योंकि उपशमसम्यक्त्व, मतिज्ञान आदि परिणतियों में पूर्व आकारोंका परित्याग और अजहद्वृत्ति यानी ज्ञानत्वेन या जीवत्वेन ध्रौव्य अंश बना रहता है, कर्मके उपशम आदि की अपेक्षा होनेसे इन परिणतियों में जीव का पुरुषार्थ कोई प्रधान हेतु नहीं माना गया है, वे औपशमिक आदि भाव तो कर्मों के उपशम, क्षयोपशम, आदि की अपेक्षा रखने वाले होने से जीव के पुरुषार्थ करके नहीं उपजने के कारण वैस्रसिक समझे गये हैं यों चेतन द्रव्य के अनादि और सादि वैस्रसिक परिणामों को उदाहरण सहित कह दिया है । अचेतन द्रव्य के तो लोककी रचना, सुदर्शन मेरु की रचना सूर्य चन्द्रमाओं की रचना, आदि परिणाम अनादि होरहे वैस्रसिक हैं और इन्द्रधनुष बादल आदिक अनेक परिणाम आदिमान् हैं इनमें पुरुषप्रयत्न की अपेक्षा नहीं है, इस कारण ये अचेतन पुद्गल द्रव्यके वैस्रसिक परिणाम कहे जाते हैं ।

प्रयोगजः पुनर्दानशीलभावनादिश्चेतनस्याचार्योपदेशलक्षणपुरुषप्रयत्नापेक्षत्वात्, घटसंस्थानादिरचेतनस्य कुलालादिपुरुषप्रयोगापेक्षत्वात् धर्मास्तिकायादिद्रव्यस्य तु वैस्रसिकोऽसंख्येयप्रदेशित्वादिरनादिः परिणामः । प्रतिनियतगत्युपग्रहहेतुत्वादिः आदिमान् । प्रयोगजो यंत्रादिगत्युपग्रहहेतुत्वादिः पुरुषप्रयोगापेक्षत्वात् ।

दूसरा प्रयोग से जन्य परिणाम फिर चेतन द्रव्य का तो दान करना, शील पालना, भावना भाना, अध्ययन करना, संयम पालना आदिक हैं क्योंकि आचार्य महाराज के उपदेशस्वरूप पुरुष प्रयत्न

की अथवा जीवपुरुषार्थकी अपेक्षा रखकर वे परिणाम उत्पन्न हुये हैं तथा अचेतन द्रव्य पुद्गलका-प्रयोगजन्य परिणाम तो घट की रचना, पट की रचना, आदि हैं क्योंकि कुम्हार, कोरिया, आदि पुरुषों के प्रयोग की इनकी उत्पत्ति में अपेक्षा रहती है हां अचेतनद्रव्यों में धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों का वैस्रसिक अनादि कालीन परिणाम तो असंख्येयप्रदेशीपना, नित्यपना, अवस्थितपना, रूपरहितत्व आदि हैं, हां प्रतिनियत होरहे अश्व आदि की गति में अनुग्रह करने का हेतुपन या वृक्षों की स्थिति करने में अनुग्राहकपन आदिक तो आदिमान् वैस्रसिक परिणाम हैं धर्मास्तिकाय आदिके इन परिणामोंकी उत्पत्ति में किसी जीवके प्रयत्नकी आवश्कता नहीं है। हां धर्मास्तिकाय आदि अचेतन द्रव्योंके प्रयोगजन्य परिणाम तो इस प्रकार हैं कि छापने, सीने आदि के यंत्र (मशीनें) बैलगाड़ी आदि के गति उपग्रह का हेतुपना धर्म का अथवा चलतेहुये घोड़े के ठहरने पर स्थिति का अनुग्राहकपन अधर्म द्रव्यका, ठोंकी जारही कील को अवगाह देना आकाश का, व्यायाम द्वारा शरीर की वर्तना काल का अनुग्रह है क्योंकि इन परिणतियों के उपजने में जीवों के प्रयोगों की सहकारित्वेन अपेक्षा है।

समर्थोपि बहिरंगकारणापेक्षः परिणामत्वे सति कार्यत्वात्, व्रीह्यादिवदिति यत्तत्कारणं बाह्यं स कालः।

ये कहे जा चुके वैस्रसिक और प्रयोगजन्य विकार यद्यपि समर्थ हैं यानी अपने उपादान कारण उस द्रव्य को अन्तरंग कारण मानते हुये उपजाते हैं फिर भी विकार (पक्ष) बहिरंग कारण की अपेक्षा रखता है (साध्य) परिणाम होते सन्ते कार्य होने से (हेतु) धान चावल, मूंग आदि के समान अर्थात्—जैसे चावल या मूंग में पकने की शक्ति अन्तरंग में विद्यमान है तथापि जल, अग्नि, आतप, आदि बहिरंग कारण मिलने पर ही उनका परिपाक होता है। यहां प्रकरण में जो उनका बहिरंग कारण है, वही काल द्रव्य है यह समझाना है।

परिणामोऽसिद्ध इति चेन्न, बाधकाभावात् परिणामस्याभावः सत्त्वासत्त्वयोर्दोषोपपत्तेरिति चेन्न, पक्षान्तरत्वात्। न हि सन्नेव बीजादावंकुरादिः परिणामस्तत्परिणामत्वविरोधाद्बीजस्वात्मवत्। नाप्यसन्नेव तत एव खरविषाणवत् किं तर्हि ? द्रव्यार्थादेशात् सन् पर्यायार्थादेशादसन् न चोभयपक्षभावी दोषोत्रावतरति सदसदेकांतपक्षाभ्यामनेकांतपक्षस्यान्यत्वात् हिमवत्त्वपरमादारिकत्वाभ्यामहिमकापारिदारिकत्ववत् वियुक्तगुडशुंठीभ्यां तत्संयोगवद्वा जात्यंतरत्वाच्च रसांतरसंभवात्। एतेन विरोधादयः परिहृताः द्रष्टव्याः।

यहां कोई कूटस्थनित्यवादी पण्डित आक्षेप करता है कि द्रव्यों का परिणाम होना सिद्ध नहीं होपाता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि परिणामों के सद्भाव का कोई बाधक प्रमाण नहीं है। अनेक घट, पट, पुस्तक, क्रोध, मतिज्ञान आदि परिणामों का साक्षात्कार होरहा है। पुनः आक्षेपकार पण्डित कहता है कि परिणाम का जगत् में अभाव है क्योंकि सद्भाव मानने पर और असद्भाव मानने पर अनेक दोष उपस्थित होजाते हैं। देखिये बीज अंकुर-स्वरूप करके परिणत माना जाता है, यहां हम कूटस्थ-वादी जैनों से पूछते हैं, कि यदि अंकुर अवस्था में बीज है। तब तो अंकुर का अभाव होगया। जैसे कि पहिले बीज अवस्था में अंकुर नहीं था, दो अवस्थायें एक साथ नहीं ठहर पाती हैं। यदि अंकुरमें बीज का असत्व माना जाना जायगा तब तो अंकुर रूप से बीज की परिणति

नहीं घटित होती है। क्योंकि अंकुर में बीजपन स्वभाव का अभाव है, अतः सद्भाव या असद्भाव दोनों पक्षों में दोष खड़ा होजाता है ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि सर्वथा सद्भाव और सर्वथा असद्भाव इन दो पक्षों से निराला तीसरा कथंचित् सदसत्वका पक्ष हमने ग्रहण किया है। बीज भविष्यमें अंकुर होनेवाला है। बालक आगे जाकर युवा होजायगा यहां हम बीज आदिमें अंकुर आदि परिणामों को सर्वथा विद्यमान होरहे ही नहीं मानते हैं। यदि बीज अवस्था में भी अंकुर अवस्था मान ली जाय तो अंकुर को उस बीज का परिणाम होने का विरोध होजावेगा जैसे कि बीज की निज आत्मा का परिणाम बीज ही है, अंकुर नहीं। दुग्ध काल में अविद्यमान होरहा दही तो दूध की पर्याय कही जा सकती है, विद्यमान दूध की स्वात्मा ही तो दूध का विपरिणाम नहीं है, तथा बीज आदिक में सर्वथा असत् ही मान लिया गया भी अंकुर आदिक उसका परिणाम नहीं होसकता है। तिस ही कारण से यानी उस बीज के परिणाम होजाने का अंकुर को विरोध आजाने से (हेतु) जैसे कि बीज में सर्वथा अविद्यमान होरहा खरविषाण बीज का परिणाम नहीं है। यदि यहां कोई यों पूछे कि परिणामी में सद्भूत माना जा रहा भी परिणाम नहीं है, और परिणामीमें अविद्यमान होरहा भी परिणाम उसका परिणाम नहीं है तो परिणामी में कैसा क्या होरहा परिणाम उसका परिणाम कहा जायगा ? बताओ। इसके उत्तर में हम जैनों को यही कहना है। कि द्रव्यार्थिक नय द्वारा कथन करने से परिणामी में परिणाम सत है। तभी तो कारण मिलने पर परिणामी झट उस परिणाम स्वरूप परिणत होजाता है। और पर्यायार्थिक नय द्वारा कथन करने से परिणामी में परिणाम का सद्भाव नहीं है, तभी तो उस असद्भूत परिणाम को उपजाने के लिये कारणकूट जोड़ना पड़ता है।

भावार्थ—परिणाम होने का द्रव्य सतत विद्यमान है, किन्तु वह पर्याय विद्यमान नहीं है। धार्मिक पुरुष पर्वके दिनोंमें एकाशन करता है, रोटी, दाल, दूध पानी आदि खाद्य पेय द्रव्यों में आहार वर्गणायें विद्यमान हैं। उन खाद्य पदार्थों की उदराग्नि, पर्याप्ति, आदि करके कुछ देर में मांस, रक्त, अस्थि, मल, मूत्र, स्वरूप परिणति होजावेगी किन्तु भोजन करते समय वह मांस, रक्त, आदि पर्यायें खाद्य पदार्थों में विद्यमान नहीं है, यही सांख्य सिद्धान्त और जैन सिद्धान्त में अन्तर है अतः उस व्रती के व्यवहार चारित्र में कोई दोष नहीं लगता है। व्यवहार चारित्र की भित्ति पर्यायार्थिक नय अनुसार उनउन विशेष पर्यायों पर डटी हुई है, द्रव्यार्थिक नय का विषय यहां गौण पड़ जाता है, आहारवर्गणा ही तो रक्त, मांस, आदि रूप परिणति करने वाली है, आकाशकी रोटी, दाल, रस, रक्त आदि स्वरूप परिणति नहीं होसकती है।

स्वस्त्री-सन्तोष या अचौर्यव्रत भी पर्यायदृष्टि से ही पलते हैं, अन्यथा अन्य भी अनेक स्त्रियां भूत पूर्व जन्मोंमें व्रतीकी बल्लभायें बन चुकी हैं। दूसरोंका धन भी पूर्व जन्मोंमें व्रती का होचुका होगा तब तो उन के ग्रहण में दोष नहीं होना चाहिये। बात यह है कि सर्वथा सद् पक्ष और सर्वथा असत् पक्ष इन दोनों पक्षों में होने वाले दोष का यहां कथंचित् सत्वासत्व पक्ष में अवतार नहीं होपाता है। क्योंकि सत् एकान्त का पक्ष और असद् एकान्त का पक्ष इन दोनों पक्षों से कथंचित् सदसत् इस अनेकान्त पक्ष का भेद भाव है जैसे कि हिंसकपन, और परदारा-सेवीपन दोषों से अहिंसकपन और परदारात्यागीपन गुण विभिन्न है। अर्थात्—कतिपय हिंसक जीव भले ही परदारा-सेवी नहीं होंय क्योंकि हिंसक के क्रूर परिणाम होते हैं और परदार-सेवन में स्नेहपुंज की आवश्यकता है। अथवा कतिपय परदार-सेवी जीव भले ही हिंसक नहीं होंय क्योंकि हिंसकके लिये क्रूर भावों की आवश्यकता होजाती

है। कम से कम जिस परस्त्री से उनका स्नेह है, उसकी हिंसा करना उनको अभिप्रेत नहीं है। तथापि कोई कोई दुष्ट जीव परदारा-सेवी होते हुये भी हिंसक होरहे हैं। परस्त्री करके अन्य पुरुष के ऊपर स्नेह करने की शंका होजाने पर वे उस परदारा की हिंसा तक कर देते हैं, पर-पुरुष-रत स्त्रियां भी अपने रसिक को मार डालती सुनी गयी हैं। किन्तु जो धर्मात्मा जीव सुदर्शन सेठ के समान है, हिंसक नहीं है, और परदार-सेवी भी नहीं है वह उन हिंसक और पारदारिक दूषित पुरुषों से तीसरी ही जाति का सज्जनोत्तम है।

दूसरा दृष्टान्त यों समझिये कि एक दूसरेसे पृथक् भूत होरहे अकेले गुड़ और अकेली सोंठ के संयोग से उपजा हुआ अशुद्ध द्रव्य तीसरे ही प्रकारका है, अकेला गुड़ या सोंठ जिस रोग को दूर नहीं कर सकते हैं उस विशेष जाति की खांसी को मिला लिये गये गुड़ और सोंठ मिटा देते हैं, क्योंकि दोनों की मिलकर पुनः तीसरी ही जाति की न्यारी परिणति होजाती है। अकेले अकेले गुड़ या सोंठ के रस से मिले हुये गुड़ सोंठ का रस तीसरी जाति का उपज जाता है, इसी प्रकार कथंचित् सदसत्व पक्ष में कोई उभय दोष नहीं प्राप्त होता है। इस उक्त कथन करके अनेकान्त पक्ष में विरोध आदिक दोषों का भी परिहार कर दिया जा चुका देख लेना चाहिये अर्थात्—विरोध, वैयधिकरण्य, संशय, संकर व्यतिकर अनवस्था, अभाव, अप्रतिपत्ति ये दोष अनेकान्त पक्ष में नहीं आते हैं। उभय दोष के समान विरोध आदि दोषों का उपद्रव भी द्रव्यत्व, पृथिवीत्व, नामक सामान्यविशेष या चित्रज्ञान, संयुक्त गुड़ सोंठ, आदि दृष्टान्तों करके दूर भगा दिया जाता है।

किं च परिणामस्य प्रतिषेधो न तावत्सतः सत्वादेव परिणामप्रतिषेधवत् सतोपि प्रतिषेधे परिणाम–प्रतिषेधस्यापि प्रतिषेधप्रसंगात् प्रतिषेधाभावः। अथ प्रतिषेधः सत्वान्न प्रतिषिध्यते तत एव परिणामोपि न प्रतिषेद्धव्य इति स एव प्रतिषेधाभावः न ह्यसतः प्रतिषेधः असत्वादेव नञसन्प्रतिषेधमियाक्षिविषयत्वप्रसंगात्।

एक बात यह भी है कि परिणाम का जो प्रतिषेध किया जाता है, उसमें हम दो पक्ष उठाते हैं कि सद्भूत परिणाम का प्रतिषेध किया जाता है? अथवा असत् होरहे परिणाम का निषेध किया जाता है? बताओ। प्रथम पक्ष अनुसार विद्यमान होरहे सत् परिणाम का तो प्रतिषेध नहीं होसकता है। कारण कि वह परिणाम सत् ही है जैसे कि कूटस्थ-वादियों के यहां परिणाम के सद्भूत माने गये प्रतिषेध का निषेध नहीं किया जा सकता है। जब कि परिणाम का प्रतिषेध विद्यमान माना गया है तो भला उसका निषेध कैसे होसकता है? यदि सद्भूत पदार्थ का भी निषेध कर दोगे तो परिणाम के भी निषेध होजाने का प्रसंग आवेगा, ऐसी दशामें प्रतिषेध हो ही नहीं सकता है। दो अभाव भाव रूप होजाते हैं। निषेध का निषेध कर दियाजाय तो विधि सिद्ध होजाती है। यदि कूटस्थवादी अब यों कहें कि परिणाम का प्रतिषेध तो विद्यमान है। इस कारण नहीं निषेधा जाता है ग्रन्थकार कहते हैं, कि तिस ही कारण परिणाम भी प्रतिषेध करने योग्य नहीं है। इस प्रकार वही परिणाम के प्रतिषेध का अभाव होगया यानी परिणामका सद्भाव बन गया। तथा द्वितीय पक्ष अनुसार असत् होरहे परिणाम का भी प्रतिषेध असत् होनेके कारण ही नहीं होसकता है "संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित्" प्रतिषेध्यके बिना उसका प्रतिषेध नहीं होसकता है। सर्वथा असत् होरहा पदार्थ कभी प्रतिषेध को प्राप्त नहीं होसकता है, अन्यथा प्रतिषेधको निर्विषयपन का प्रसंग आवेगा। जैसे वस्तुभूत विषय के नहीं होने

से स्वप्नज्ञान या भ्रान्तज्ञान निर्विषय हैं, उसी प्रकार प्रतिषेध के षष्ठ्यन्त प्रतियोगी विषय का अभाव होजानेसे प्रतिषेध निर्विषय होजायगा।

खरविषाणप्रतिषेधः कथमिति चेत्, न कथमपि सत्त्वाद्येकांतवादिनामिति ब्रूमः। तदनेकांतवादिनां तु क्वचित्कदाचित्कथंचित् सत एवान्यत्रान्यदान्यथा प्रतिषेध इति सर्वमनवद्यम्।

ग्रन्थकार के प्रति किसी का प्रश्न है कि तब तो खरविषाण का प्रतिषेध किस प्रकार कर सकोगे ? यहाँ जो प्रतिषेधका प्रतियोगी कोई वस्तुभूत विषय नहीं है, यस्याभावः स प्रतियोगी। यों कहने पर तो आचार्य कहते हैं, कि सर्वथा सत्त्व या सर्वथा असत्त्व आदिक एकान्तका आग्रह कर रहे वादियों के यहां किसी भी प्रकार से खरविषाण का निषेध नहीं होसकता है। ऐसा हम ढिंढोरा पीट कर स्पष्ट कह रहे हैं, हां उन कथंचित् सत्त्व आदि का अनेकान्त मानने वाले सिद्धान्तियोंके यहां तो कहीं न कहीं, कभी न कभी, किसी भी प्रकार से, सत् होरहे ही पदार्थका अन्य स्थल पर अन्य काल में दूसरे प्रकारों से निषेध किया जा सकता है। यों कहने पर हम स्याद्वादियों के यहां सम्पूर्ण व्यवस्था निर्दोष सिद्ध होजाती है। बात यह है कि जगत् में खर भी है बैल, भैंस आदि के सिर पर विषाण भी विद्यमान हैं केवल खरके सिर पर विषाणोंका अभाव साध दिया जाता है। अष्टसहस्रीमें अद्वैत शब्दः स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमार्थापेक्षो नञ्पूर्वाखण्डपदत्वादहेत्वभिधानवत् इस अनुमान द्वारा बढ़िया निरूपण कर दिया गया है। श्री अकलंक देव ने तो मण्डूक की चोटी अथवा खर के विषाण को भी अनेक युक्तियों से पुष्ट करके स्वकीय स्याद्वाद वाणी का वैभव दर्शाया है।

सर्वथैकांतस्य प्रतिषेधः कथमिति चेत्, कोऽयं सर्वथैकांतः। इदमेवेत्थमेवेति वा धर्मिणो धर्मस्य वाभिमननमिति चेत्, नहि तस्य सत एव निर्विषयसाधनमेव प्रतिषेधः। स्वरूपप्रतिषेधे तु सर्वथा प्रतीतिविरोधः स्यात्। दर्शनमोहोदये सति सदाद्येकांताभिनिवेशस्य मिथ्यादर्शनविशेषस्य स्वसंवेद्यत्वात्। निर्विषयत्वसाधने तु तस्य न प्रतीतिबाधा प्रतीयमानस्य वस्तुनि सत्त्वाद्यंशस्य धर्मत्वात्। नायं सर्वथा सत्त्वाद्येकांताभिनिवेशस्य विषयो वस्त्वंशः सर्वथा विरोधात्।

पुनः कोई प्रश्न करता है कि आप जैन सर्वथा एकान्त का भला प्रतिषेध किस प्रकार करोगे क्योंकि सर्वथा एकान्त को सद्भूत मानने पर उसकी विधि हुई जाती है। एकान्तको जानने वाला ज्ञान प्रमाण होजायगा, असत् एकान्तका आप निषेध होना इष्ट नहीं करते हैं। यह विकट समस्या उपस्थित हुई। यों कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं, कि भाई यह सर्वथा एकान्त भला क्या पदार्थ है ? बताओ. यह यही है, अथवा इस ही प्रकार है, यों धर्मी अथवा धर्मको कदाग्रह पूर्वक माने जाना यदि सर्वदा एकान्त इष्ट है, यों कहने पर तो हम जैन कहते हैं कि तब तो उस सत् भूत ही सर्वथा एकान्त के अभिनिवेश को विषयरहित साधन कर देना ही उसका प्रतिषेध है यानी सर्वथा एकान्त के ज्ञान का कोई वस्तुभूत विषय नहीं है जैसे कि स्वप्नज्ञान तो परमार्थ है किन्तु उसका विषय वस्तुभूत नहीं है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टियों के यहां सर्वथा एकान्त का आग्रह है किन्तु वह कोरा मन्तव्य निर्विषय ही है।

एकान्त के मन्तव्य [illegible] तो सभी प्रकार प्रतीतियों से विरोध आवेगा स्वसम्वेद्य होरहे मिथ्यादर्शन या मिथ्याज्ञानका अपलाप नहीं किया जा सकता है। असत्य-भाषी पुरुष को मार डालना नहीं चाहिये, हाँ उसको दूषित या अपराधी कह सकते हो क्योंकि दर्शन मोहनीय कर्म का उदय होने पर प्रत्येक आत्मा में सत्, असत्, आदि एकान्तों के अभिनिवेश स्वरूप मिथ्यादर्शन विशेष का वेदन किया जा रहा है। उस स्वसम्वेद्य पदार्थ का निषेध नहीं किया जा सकता है, हाँ उस एकान्त आग्रह को विषय-रहित साधने पर तो प्रतीतियों से बाधा नहीं आती है। वस्तु में प्रतीयमान होरहे सत्व, असत्व, आदि अंशों को धर्म मान लिया जाता है उनमें सर्वथापन का निषेध यों करा दिया जाता है, कि सभी प्रकारों से सत्व या असत्व आदिक एकान्तों के अभिनिवेश का विषय होरहा यह वस्त्वंश सर्वथा नहीं है। क्योंकि विरोध आजावेगा, हां कथंचित् वह वस्त्वंश है। अर्थात्—जो सर्वथा है वह वस्तु का अंश नहीं और जो वस्तु का अंश है। वह सर्वथा एकान्त स्वरूप नहीं। हां कोई भी सत्त्व आदिक बड़ी सुलभता से कथंचित् वस्तु के अंश होसकते हैं, कोई विरोध नहीं आता है।

एतेन प्रधानादिप्रतिषेधो व्याख्यातः प्रधानाद्यभिनिवेशस्य निर्विषयत्वसाधनात्। ततो नैकांतेनासतः प्रतिषेध इति सत एव परिणामस्य कथंचित्प्रतिषेधोपपत्तेः सर्वथा नाभावः।

इस उक्त कथन करके सत्व गुण, रजोगुण, तमोगुण, स्वरूप प्रधान या नित्य, एक, परमब्रह्म, जगत् कर्त्ता ईश्वर आदि के प्रतिषेधोंका भी व्याख्यान कर दिया समझलेना चाहिये। सांख्य या अद्वैत वादी अथवा नैयायिक पण्डितों को प्रधान आदि अपने इष्ट तत्वों का अभिनिवेश होरहा है उस अभिनिवेश को निर्विषय सिद्ध कर देने से ही प्रधान आदिके प्रतिषेध का तात्पर्य सध जाता है, मंत्र द्वारा सर्प को निर्विष कर देना अथवा उससे कथंचित् बचे रहना ही सर्पका निषेध है, अहिंसक धार्मिक पुरुष सर्प को मारते नहीं हैं। तिस कारण से सिद्ध हुआ कि एकान्त रूप से असत् पदार्थका प्रतिषेध नहीं बनता है इस कारण सद्भूत होरहे ही परिणाम का कथंचित् क्वचित् प्रतिषेध होजाना बन पाता है, अतः सभी प्रकारों से परिणाम का अभाव नहीं हुआ, प्रत्युत परिणाम की सिद्धि कर दी गयी है।

स्यान्मतं, नास्ति परिणामोन्यानन्यत्वयोर्दोषादिति नोक्तत्वात्। उक्तमत्रोत्तरं, न वयं बीजादंकुरमन्यमेव मन्यामहे तदपरिणामत्वप्रसंगात् पदार्थान्तरवत्। नाप्यनन्यमेवांकुराभावानुषंगात्। किं तर्हि ? पर्यायार्थादेशाद्बीजादंकुरमन्यमनुमन्यामहे द्रव्यार्थादेशादनन्यमिति पक्षान्तरानुसरणाद्दोषाभावान्न परिणामाभावः।

कूटस्थ-वादियों का सम्भवतः यह भी मन्तव्य होवे कि परिणाम (पक्ष) नहीं है (साध्य) परिणामी से परिणाम को भिन्न मानने पर अथवा अभिन्न मानने पर दोनों पक्षों में दोष प्राप्त होते हैं अर्थात्-यदि बीजसे अंकुर को भिन्न माना जायगा तो बीज का परिणाम अंकुर नहीं होसकता है जैसे सह्य पर्वत का परिणाम विन्ध्य नहीं है तथा यदि बीजसे अंकुर को अभिन्न माना जायगा तो भी बीज की परिणति अंकुर नहीं होसकती है, जैसे घट की परिणति घट ही नहीं है, ऐसी दशामें बीजसे अंकुर कोई न्यारा पदार्थ नहीं ठहरता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि इसका समाधान हम कह चुके हैं। इस विषय में यों उत्तर कहा जा चुका है कि हम जैन बीजसे अंकुर को सर्वथा भिन्न ही नहीं मान रहे हैं क्योंकि बीजसे अंकुर को भिन्न मानने पर अंकुर को उस बीज का परिणाम नहीं

होने का प्रसंग आवेगा जैसे कि सर्वथा भिन्न कोई दूसरा पदार्थ इस प्रकृत पदार्थ का परिणाम नहीं है, दूधका परिणाम ईंट नहीं है और मिट्टीका परिणाम दही नहीं है। तथा हम जैन बीजसे अंकुर सर्वथा अभिन्न ही होय ऐसा भी नहीं मानते हैं, यों मानने पर अंकुरके अभावका प्रसंग आवेगा। बीज से बीज ही होता रहेगा अंकुर भी बीज ही बन जायगा।

प्रतिवादी यदि यों पूछे कि परिणामी से परिणाम को भिन्न भी नहीं कहते हो और आप जैन अभिन्न भी नहीं कहते हो तो फिर आप कैसा क्या कहते हो? इस प्रश्न पर हम जैनोंका समाधान यह है कि पर्यायार्थिक नयके कथनानुसार बीजसे अंकुरको हम भिन्न मानरहे हैं.अंकुरकी उत्पत्तिसे पहिले बीज में अंकुर पर्याय नहीं थी पीछे उपजी अतः बीज पर्यायसे अंकुर पर्याय न्यारी है, हां द्रव्यार्थिक नय अनुसार कथन करने से बीज से अंकुर अभिन्न है जो भी पुद्गल द्रव्य बीज रूप परिणत हुआ है उसी पुद्गल द्रव्यकी अंकुर स्वरूपसे परिणति होने वाली है, द्रव्य वह का वही है, इस प्रकार कथंचित् पर्याय दृष्टि से भेद और द्रव्य दृष्टि से अभेद इस तीसरे पक्ष के अनुसरण करने से स्याद्वादियों के यहां दोषोंका अभाव है, अतः परिणामका अभाव नहीं होसका,परिणामकी सिद्धि होजाती है। पहिले सर्वथा भेद और दूसरे सर्वथा अभेद इन दो पक्षों से निराले 'कथंचित् भेदाभेद' इस तीसरे पक्ष का आलम्बन ले रक्खा है।

व्यवस्थिताव्यवस्थितदोषात्परिणामाभाव इति चेन्नानेकांतात्। न हि वयमंकुरे बीजं व्यवस्थितमेव ब्रूमहे विरोधादंकुराभावप्रसंगात्। नाप्यव्यवस्थितमेवांकुरस्य बीजपरिणामत्वाभावप्रसंगात् पदार्थान्तरपरिणामत्वाभाववत्। किं तर्हि? स्याद्बीजं व्यवस्थितं स्यादव्यवस्थितमंकुरे ब्रूमहे। न चैकांतपक्षभावी दोषो ऽनेकांतेऽवस्तीत्युक्तप्राय। स्याद्वादिनां हि बीजशरीरादेव वनस्पतिकायिको बीजांकुरादिः स्वशरीरपरिणामभागभिमतो यथा कललशरीरं मनुष्यजीवोद्बुदादिस्वशरीरपरिणामभूदिति न पुनरन्यथा सः। तथा सति—

पुनः कोई पण्डित आक्षेप करते हैं कि व्यवस्थित और अव्यवस्थित पक्ष में दोष जानने से परिणाम कोई पदार्थ नहीं ठहरता है अर्थात्–बीज का अंकुरपने करके परिणाम होने पर हम पूछते हैं कि अंकुर में बीज व्यवस्थित है? अथवा व्यवस्थित नहीं है? बताओ'। यदि अंकुर में बीज प्रथम से ही व्यवस्थित है तब तो बीजकी व्यवस्था होजानेके कारण अंकुर का अभाव होजायगा, एकत्र बीज और अंकुर दोनों अवस्थाओंके एक साथ ठहरे रहनेका विरोध है और यदि अंकुरमें बीज अव्यवस्थित माना जायगा तब तो बीज की अंकुररूप से परिणति नहीं होसकेगी। सर्वथा भिन्न होरहे अव्यवस्थित रूप पदार्थ करके यदि कोई परिणमन करने लगेगा तो जल अग्नि स्वरूप करके अथवा पुद्गल जीवरूपकरके परिणत होजावेगा जो कि इष्ट नहीं है, अतः जैनों के यहां परिणाम पदार्थ का अभाव होगया।

ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि व्यवस्थित,अव्यवस्थित पक्षोंमें अनेकान्त माना जा रहा है हम जैन अंकुरमें बीजको व्यवस्थित ही नहीं कह रहे हैं जिससे कि दो अवस्थाओंका विरोध होजाने से अंकुर के अभावका दोष प्रसंग होजाय। तथा अंकुरमें बीजको अव्यवस्थित भी नहीं बखान रहे हैं जिससे कि अंकुर को बीज के परिणामपनके अभाव का प्रसंग होजावे जैसेकि सर्वथा भिन्न दूसरे पदार्थ का परिणाम उससे सर्वथा भिन्न कोई निराला पदार्थ नहीं होता है, यानी धर्म में अधर्म द्रव्य

अव्यवस्थित है, अतः धर्म द्रव्य का परिणाम अधर्म द्रव्य या स्थितिहेतुत्व नहीं होसकता है तो हम जैन क्या कहते हैं ? इस प्रश्न पर हमारा समाधान यह है कि अंकुरमें बीज कथंचित् व्यवस्थित है और कथंचित् अव्यवस्थित है,इस प्रकार हम जिज्ञासुओंको व्युत्पत्ति करा रहे हैं। एकान्तपक्षों में आने वाले दोष अनेकान्तों में प्रवेश नहीं पाते हैं, इस बात को हम कई बार पूर्व प्रकरणों में कह चुके हैं।

निर्णीत सिद्धान्त यह है कि स्याद्वादियो के यहां बीज, शरीर, पुष्प आदिक ही से वनस्पति काय को धारने वाला सजीव बीज उपजताहै और वह बीजात्मा अंकुर, फल, आदि स्वरूप होरहा अपने शरीर के अनुसार स्वरूप परिणाम को धारने वाला अभीष्ट किया गया है जैसे कि मातृ गर्भ में प्रथम मास के कलल शरीर में मनुष्य जीव उपज कर (जन्म लेकर) अर्बुद आदि अपने शरीर की पर्यायों को यों धारता रहता है अन्य प्रकारों से फिर वह परिणामों को नहीं धारता है अर्थात्-पहिले सूखा बीज जड़ है पुन: वनस्पतिकायिक जीव उसमे उपज जाता है तब वह बीज अंकुर लघुवृक्ष, महावृक्ष आदि परिणामों को धार लेता है जैसे कि मातृगर्भ में पहिले महीने कलल शरीर में मनुष्य जीव उपज कर पुनः पेशी [illegible] महीने में बालक शरीर होकर परिणम जाता है और तैसा होने पर जो व्यवस्था होती है उसको सुनो।

मनुष्यनामकर्मायुषोदयात्प्रतिपद्यते।
कललादिशरीरांगोपांगपर्यायरूपताम् ॥२९॥
स जीवत्वमनुष्यत्वप्रमुखैरन्वयैर्यथा।
व्यवस्थितः स्वकीयेषु परिणामेष्वशेषतः ॥३०॥
कललादिभिः पुनः पूर्वैर्भावैः क्रमवर्तिभिः।
व्यतिरिक्तैः परत्रासौ न व्यवस्थित ईक्ष्यते ॥३१॥
तथा वनस्पतिर्जीवः स्वनामायुर्विशेषतः।
वनस्पतित्वजीवत्वप्रमुखैरन्वयैः स्थितः ॥३२॥
स्वशरीरविवर्तेषु बीजादिषु परं न तु।
पूर्वपूर्वेण भावेन तु स्थितः क्रमभाविना ॥३३॥

माता पिता के रजः और वीर्य का गर्भमें योग्य सम्मिश्रण होने पर स्वकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव अनुसार वहां कोई विवक्षित जीव जन्म ले लेता है, मनुष्य गति संज्ञक नामकर्म और आयुष्य कर्म इन दोनों कर्मों का और इनके सहचारी अन्य अनेक कर्मोंका उदय होजाने से वह जीव कलल आदिक शरीर के अंगोपांग पर्याय स्वरूपों को प्राप्त कर लेता है। वह जीव कलल, घन, बाल्य, कौमार आदि अवस्थाओं में जीवत्व मनुष्यत्व, द्रव्यत्व आदिक अन्वयों करके जिसप्रकार अपनी अपनी निज पर्यायों में पूर्णरूप से व्यवस्थित होरहा है और फिर भिन्न भिन्न होरहे एवं क्रम से विवर्त कर रहे ऐसे कलल

आदिक पूर्व पूर्व भावों करके वह जीव परले२ भावोंमें व्यवस्थित होरहा नहीं देखा जा रहा है। अर्थात् अन्वित भावों करके सम्पूर्ण परिणामों में जीव ओत पोत होरहा है। किन्तु व्यतिरेकी पर्यायों करके पहिली पिछली पर्यायों में [illegible] पहले 'यथा' का यहां 'तथा' के साथ अन्वय है उसी प्रकार वनस्पतिकायिक जीव भी अपने योग्य नाम कर्म और विशेष प्रकार की तिर्यंच आयु का उदय होने से वनस्पतिपन, जीवपन, चेतनत्व, आदि अन्वयों करके अपने शरीर के विवर्त होरहे बीज आदिकों में व्यवस्थित है किन्तु क्रम से होने वाले पूर्व पूर्व भावों करके तो परले परले भावों में व्यवस्थित नहीं है। पर्यायों में द्रव्य तो अन्वित होता है, पर्यायों में अगली, पिछली पर्यायें ओत, प्रोत नहीं घुसी रहती हैं "सर्वं सर्वत्र विद्यते" यह सांख्य का सिद्धान्त अनेक दोषों से भरपूर है।

भावार्थ—इस मनुष्य शरीर की गर्भमें ही अनेक अवस्थायें होजाती हैं सुश्रुत में लिखा हुआ है—

'प्रथमे मासि कललं जायते, द्वितीये शीतोष्णानिलैरभिप्रपच्यमानानां महाभूतानां सङ्घातो घनः सञ्जायते, यदि पिण्डः पुमान् स्त्रीचेत् पेशी नपुंसकश्चेदर्बुदमिति। तृतीये हस्तपादशिरसां पंचपिण्डका निर्वर्त्तन्तेऽङ्ग-प्रत्यङ्गविभागश्च सूक्ष्मो भवति। चतुर्थे सर्वांग-प्रत्यंग-विभागः प्रव्यक्ततरो भवति, गर्भ-हृदय-प्रव्यक्तभावाच्चेतनाधातुरभिव्यक्तो भवति कस्मात् तत्स्थानत्वात्तस्माद्गर्भश्चतुर्थमास्यभिप्राय-मिन्द्रियार्थेषु करोति द्विहृदयां च नारीं दौहृदनीमाचक्षते। पंचमे मनः प्रतिबुद्धतरं भवति, षष्ठे बुद्धिः सप्तमे सर्वांग-प्रत्यंगविभागः प्रव्यक्ततरः। अष्टमेऽस्थिरीभवत्योजः, नवमदशमैकादशद्वादशानामन्यतम-स्मिन् जायते।" चरक संहिता में यों उल्लेख है "स तु सर्वगुणवान् गर्भत्वमापन्नः प्रथमे मासि संमूर्छितः सर्वधातु-कलनीकृतः खेटभूतो भवत्यव्यक्त-विग्रहः सदसद्भूतांगावयवः,द्वितीये मासि घनः सम्पद्यते पिण्डः पेश्यर्बुदं वा तत्र घनः पुरुषः स्त्री पेशी अर्बुदं नपुंसकम्, तृतीये मासि सर्वेन्द्रियाणि सर्वांगावयवाश्च यौगपद्यनाभिनिवर्त्तन्ते, चतुर्थे मासि स्थिरत्वमापद्यते गर्भः, पंचमे मासि गर्भस्य मांसशोणितोपचयो भवत्यधिकमन्येभ्यो मासेभ्यः, षष्ठे मासि गर्भस्य बलवर्णोपचयो भवत्यधिकमन्येभ्यो मासेभ्यः, सप्तमे मासि गर्भः सर्वभावैराप्यायते सहसा, अष्टमे मासि गर्भश्च मातृतो गर्भतश्च माता रसहारिणीभिः संवाहिनी-भिर्मुहुरोजः परस्परत आददाते"।

वाग्भटकृत अष्टांगहृदय के शारीर-स्थान में गर्भ की अवस्थाओं का यों निरूपण किया है।

"अव्यक्तः प्रथमे मासि सप्ताहात्कललो भवेत्। गर्भः पुंसवनान्यत्र पूर्वं व्यक्तेः प्रयोजयेत्। द्वितीये मासि कललाद्घनः पेश्यथवाऽर्बुदम्। पुंस्त्रीक्लीबाः क्रमात्तेभ्यः। व्यक्तो भवति मासेऽस्य तृतीये गात्रपंचकम्। चतुर्थे व्यक्ततांगानां चेतनायाश्च पंचमे। षष्ठे स्नायु शिरारोम-बलवर्णनखत्वचाम्। सर्वैःसर्वांगसम्पूर्णो भावैः पुष्यति सप्तमे। ओजोऽष्टमे संचरति माता पुत्रौ मुहुः क्रमात्। शस्तश्च नवमे मासि।

तात्पर्य यह है कि कलल, अर्बुद आदि गर्भ के परिणामों और जन्म के पीछे बाल, कौमार, युवत्व, आदि परिणामोंमें जीवत्व, जैसे व्यवस्थित है उसीप्रकार बीज, अंकुर आदिमें वनस्पति कायि-कत्व आदि धर्म व्यवस्थित हैं। जैन सिद्धान्त अनुसार परिणामों की उत्पत्ति का क्रम यही है कि पहिले शुक्रशोणितका ग्रहण होने पर वह पुद्गलपिण्ड अचेतन रहता है पश्चात् उसमें कहीं अन्य गति से आकर मनुष्य जन्म लेता है। जीव के पुरुषार्थ और कर्मोंके उदय अनुसार उस पुद्गल पिण्डके मरण अवस्था तक अनेक परिणाम होते रहते हैं इसी प्रकार अचेतन बीज में क्षिति, सलिल, आदि योग्यकारणों

का प्रकरण मिलने पर वनस्पतिकायिक जीव वहां जन्मता है पश्चात्–उसके अंकुर, पत्ते, शाखा, उपशाखा, आदि परिणाम होते रहते हैं एकेन्द्रियजाति, तिर्यगायु आदि कर्मों के अधीन होरहा वह जीव बीज, अंकुर, आदि परिणामों को धारता है, अतः अनादि पारिणामिक चैतन्य द्रव्यकी अपेक्षा वह सत् है और पूर्वापर परिणामों के संक्रमण आदि की अपेक्षा असत् है। यों व्यवस्थित और अव्यवस्थित पक्षों में अनेकान्त का साम्राज्य है।

स्यान्मतं, न बीजमंकुरादित्वेन परिणमते वृद्ध्यभावप्रसंगात् यो हि यत्परिणामः स न ततो वृद्धिमान् दृष्टो यथा पयःपरिणामो दध्यादिः, बीजपरिणामश्चांकुरादिस्तस्मान्न ततो वृद्धिमान् इति बीजमात्रमंकुरादिः स्यात्तत्परिणामो वेति। उक्तं च-"किं चान्यद्यदि तद्बीजं गच्छेदंकुरतामिह। विवृद्धिरंकुरस्य स्यात्कथं बीजादपुष्कलात्। अथेष्टं तैः रसैर्भौमैरौदकैश्च विवर्धते। नन्वेवं सति बीजस्य परिणामो न युज्यते। आलिप्तं जतुना काष्ठं यथा स्थूलत्वमृच्छति। ननु काष्ठं तथैवास्ते जतु चात्र विवर्धते। तथैव यत्र तद्बीजमास्ते येनात्मना स्थितं। रसाश्च वृद्धिं कुर्वन्ति बीजं तत्र करोति किम्॥ इति तदेतदनालोचिततत्त्ववचनं, तद्वृद्धेरन्यहेतुकत्वात्।

परिणाम होने का निराकरण करने वालों का स्यात् यह भी मन्तव्य होवे कि बीज तो (पक्ष) अंकुर आदिपने करके नहीं परिणम सकता है (साध्य) क्यों कि वृद्धि के अभाव का प्रसंग होजावेगा (हेतु)। देखो जो पदार्थ जिस परिणाम को धारता है वह परिणाम उस परिणामी पदार्थ से वृद्धिवाला नहीं देखा गया है जिस प्रकार कि दूध का परिणाम दही या विलोडित तक्र आदिक उतने ही परिणाम वाले रहते हैं बढ़ नहीं जाते हैं, आतानवितानीभूत तन्तुओं से पट का परिणाम बढ़ नहीं सकता है (व्याप्तिपूर्वक दृष्टान्त) बीज का परिणाम जब अंकुर आदिक माने जा रहे हैं (उपनय) तिस कारण उस बीज से अंकुर आदिक वृद्धि को लिये हुये नहीं होने चाहिये।

इस अनुमान अनुसार बीजके परिमाणबराबरही उसके अंकुर आदि परिणाम होने चाहिये किन्तु बीजसे अंकुर,लघुवृक्ष,आदि परिणाम बहुत बढ़े हुये देखे जाते हैं अतः वे बीजके परिणाम नहीं होसकते हैं हमारे इस तर्क अनुसार अन्य ग्रन्थों में भी यों कहा है कि दूसरी बात यह है कि वह बीज यदि यहां अंकुरपने को प्राप्त होजायगा तो ऐसी दशा में उस छोटे बीज से भला अंकुर की विशेषवृद्धि किस प्रकार होसकेगी ? इस पर अब कोई यों इष्ट करें कि भूमि-सम्बन्धी और जल सम्बन्धी रसों करके वह अंकुर बढ़ जाता है यानी बीज में भूमिरस और जलरस मिलजाते हैं, अतः रत्ती भर के बीज से एक तोला या एक छटांक का अंकुर बढ़जाता है, ऐसी दशा में हम आक्षेपकार अनुनय करते हैं कि इस प्रकार होने पर तो बीज का परिणाम वह अंकुर होय यह उचित नहीं है। यों तो भूमि,जल, और बीज इन तीनों का परिणाम अंकुर कहा जा सकेगा, अकेले बीज का परिणाम अंकुर नहीं होसकेगा जिसप्रकार कि रोगन या लेप करने पर लाख करके चारों ओर से लीप दिया गया काठ स्थूल पन को प्राप्त होजाता है किन्तु सच पूंछो तो वह काठ तिस ही प्रकार पतला भीतर बना रहता है, इस काठ में तो लाख बढ़ जाती है, रूई के भरे गूदड़ वस्त्रों का पहिनने वाला मनुष्य मोटा नहीं कहा जासकता है तिस ही प्रकार यहां वह बीज जिस स्वरूप से हो रहा विद्यमान है वह उतना ही बना रहेगा हां पृथिवी

आदिक के रस वृद्धि को कर लेते है उस में बीज क्या कर लेता है ? कुछ भी नहीं । अतः बीज का परिणाम इतना बड़ा हुआ अंकुर कथमपि नहीं होसकता है । आचार्य कहते हैं कि यह उन पण्डितों का वचन तत्त्वोंकी नहीं-पर्यालोचना करते हुये होरहा है, समीचीन विचार करने पर वे ऐसा नहीं कह सकते हैं क्योंकि बीज का परिणाम अंकुर है किन्तु उस अंकुर की वृद्धि का कारण कोई अन्य ही है, उसको यों स्पष्ट समझिये ।

यथामनुष्यनामायुःकर्मोदयविशेषतः ।

जातो बालो मनुष्यात्मा स्तन्याद्याहारमाहरन् ॥३४॥
सूर्यातपादिसापेक्षः कायाग्निबलमादधन् ।
वीर्यांतरायविच्छेदविशेषविहितोद्भवं ॥३५॥
विवर्धते निजाहाररसादिपरिणामतः ।
निर्माणनामकर्मोपष्टंभादभ्यंतरादपि ॥३६॥
तथा वनस्पतिर्जीवः स्वायुर्नामोदये सति ।
जीवाश्रयोंकुरो जातो भौमादिरसमाहरन् ॥३७॥
तप्तायस्पिंडवत्तोयं स्वीकुर्वन्नेव वर्धते ।
आत्मानुरूपनिर्माणनामकर्मोदयाद्ध्रुवम् ॥३८॥

इस कारिकामें पढ़े गये 'यथा' का इसके आगे सेंतीसवीं वार्तिकमें कहे जाने वाले 'तथा' शब्दके साथ अन्वय है । जिस प्रकार मनुष्य गति नामकर्म और मनुष्य आयुः कर्म का विशेष रूप करके उदय होजाने से मनुष्य आत्मा बालक उपज जाता है वह बालक मातृ दुग्ध, गोदुग्ध, आदि आहारका आहार लेता हुआ और बहिरंगमें सूर्य के आतप आदि की अपेक्षाको धार रहा सन्ता शरीरकी उदराग्नि अनुसार और अन्तरंगमें वीर्यान्तराय कर्मके किये गये विशेष क्षयोपशमसे उत्पन्न हुये बलका आधान करता हुआ बढ़ता रहता है तथा अपने आहार किये गये पदार्थके रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि मज्जा, शुक्र आदि परिणामों से और अभ्यन्तर में होरहे निर्माण नाम कर्म के उदय का उपष्टम्भ हो जाने से भी बालक बढ़ता चला जाता है, उसी प्रकार बीज में कारणवश जन्म ले चुका वनस्पतिकायिक जीव भी अपने आयुष्य व नाम कर्मका उदय होने पर जीव का आश्रय होरहा वही बीज अथवा बीज का आश्रय होरहा वह जीव भला मिट्टी, जल, आदि के रसों का आहार करता हुआ अंकुर होजाता है जैसे तपाया गया लोहे का पिण्ड सब ओर से जल को खींच कर अपने आत्मसात् कर लेता है उसी प्रकार वह बीज में बैठा हुआ जीव पृथिवी, जल-सम्बन्धी रसों के आहार को स्वीकार करता हुआ ही अंकुर रूप करके बढ़ जाता है, अन्तरंगमें अपने अनुकूल निर्माण नामकर्मका उदय भी निश्चित रूपसे अपेक्षणीय है, अन्तरंग, बहिरंग दोनों कारणों के मिलने पर कार्य-सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं, अतः केवल बीज ही अंकुर

स्वरूप नहीं बढ़ गया है किन्तु जीव द्वारा आहार किये गये पृथिवी आदि के रसों अनुसार अंकुर बढ़े, पाया है, अन्य भी अन्तरंग बहिरंग कारण अपेक्षणीय हैं।

ततो न वृद्ध्यभावोंकुरादेः। यदप्युक्तं,यो यत्परिणामश्च ततो न वृद्धिमान् दृष्टो यथा क्षीरपरिणामो दध्यादिर्न क्षीरादिति। तत्र हेतुः कालात्ययापदिष्टो धर्मिदृष्टांतग्राहकप्रमाणबाधितत्वात् धर्मी तावद्बीजपरिणामोंकुरादिस्ततो वृद्धिमानेव प्रतिभासमानः कथं चाऽवृद्धिमाननुमातुं शक्यः। दृष्टांतश्च शीतक्षीरस्य तप्यमानोन्यो न क्षीरपरिणामो धर्मोद्विति दधिपरिणामो वा क्षीरादवृद्धिमनुपलभ्यमानः कथं तदवृद्ध्यभावसाध्ये निदर्शनं।

तिस कारण अंकुर आदि की वृद्धि का अभाव होजाना यह दोष हम जैनों पर लागू नहीं है क्यों कि बीज से अतिरिक्त भी पदार्थ अंकुर की वृद्धि में कारण होरहे हैं और भी जो आक्षेपकार ने जो यह कहा था कि जो जिसका परिणाम है वह उससे वृद्धिको धार रहा नहीं देखा गया है जैसे कि जमादिये गये दूध का परिणाम दही- मथित आदिक उस दूध से बढे हुये नहीं पाये जाते हैं। एक सेर दूधका दही एक सेरसे अधिक परिमाण वाला नहीं होपाता है। इस प्रकार कहने पर तो हम जैन यों उत्तर कहते हैं कि उस अनुमानमें कहा गया हेतु बाधितहेत्वाभास है क्योंकि धर्मी और दृष्टान्तको ग्रहण करने वाले प्रमाणों करके उसके साध्य में बाधा प्राप्त होजाती है। देखिये यहाँ धर्मी तो बीज का परिणाम होरही अंकुर आदि अवस्था है किन्तु वह अंकुर आदि तो उस परिणामी बीज से वृद्धि को धार रहा ही देखा जा रहा है, ऐसी दशा में नहीं-वृद्धि को धारने वाला इस साध्य का अनुमान किस प्रकार किया जा सकता है ?

अर्थात्–"तत्परिणामत्व" हेतुसे "ततोवृद्ध्यभाव" इस साध्यको सिद्धि नहीं होसकती है जो प्रमाण पक्ष को जानेगा उसी समय वह साध्य में बाधा को उपस्थित कर देगा तथा दृष्टान्त भी वृद्ध्यभाव को नहीं साधने देता है। ठण्डे होरहे दूध का तपाया जारहा दूध परिणाम कोई अन्य नहीं है अथवा उष्णता मे उद्वर्तन कर दिया गया दही परिणाम भी कोई दूध से न्यारा नहीं है, भले ही वह दूध से बढती को प्राप्त होरहा नहीं देखा जा रहा है वे दधि आदि भला वृद्धिअभावको साध्य करने मेंदृष्टान्त किस प्रकार होसकते हैं ? अर्थात्–नहीं। भावार्थ–बीज का परिणाम अंकुर ठीक है किन्तु वह वृद्धियुक्त देखा जा रहा है, हां क्षीर का परिणाम माना जा रहा दही भले ही बढता नहीं है किन्तु वह उस दूध का न्यारा परिणाम ही नहीं है, ठण्डा दूध- उष्ण दूध, दही, मथित, तक्र ये सब एक अपेक्षा दूध ही हैं, अतः परिणामी से न्यारे परिणाम के वृद्ध्यभाव को साधने में दृष्टान्त नहीं होसकते हैं।

तत्परिणामत्वादित्यसिद्धं च साधनं परिणामाभाववादिनः। पराभ्युपगमात् तत्सिद्धौ वृद्धिसिद्धिरपि तत एव स्यात् सर्वथा विशेषाभावात्। तत्र वृद्ध्यभावात् परिणामाभावः स्याद्वादिनां प्रति साधयितुं शक्यः, परिणामाभावात् वृद्ध्यभावः सर्वथैकांतवादिनः असिद्धत्वेन जन्माद्यभाववदिति निवेदितप्रायं।

दूसरा दोष यह भी है कि परिणामों के अभाव को कहने वाले वादियोंके यहां तत्परिणामत्व यह हेतु सिद्ध नहीं है, अतः असिद्धहेत्वाभास भी है। पक्ष में हेतु नहीं ठहरता है। यदि कूटस्थ वादी

यों कहैं कि परिणाम-वादी नैयायिक, जैन, आदि दूसरे विद्वानों के स्वीकार कर लेने से तदनुसार हम भी उस परिणाम की सिद्धि मान लेते हैं। इस पर ग्रन्थकार कहते हैं कि तब तो तिस ही कारण से यानी दूसरोंके स्वीकार कर लेने मात्र से वृद्धि की सिद्धि भी होजाओ, सभी प्रकारों से कोई विशेषता नहीं है। दूसरे विद्वानों का एक स्वीकृत अंश माना जाय और दूसरा प्रतीतसिद्ध अंश नहीं माना जाय यों अर्द्धजरतीय न्याय का अनुसरण करना प्रशस्त मार्ग नहीं है, तिस कारण वृद्धि का अभाव होजाने से परिणामका अभाव यह स्याद्वादियोंके प्रति नहीं साधा जा सकता है। हां सर्वथा एकान्त वादियों के प्रति परिणाम का अभाव होजाने से वृद्धि का अभाव प्रसिद्ध कर दिया ही जाता है। जैसे कि सर्वथा नित्यपन या सर्वथा क्षणिकपन को मान बैठे एकान्त-वादी पण्डितों के यहां जन्म, अस्तित्व आदिक का अभाव प्रसिद्ध होजाता है, इस बात का हम पूर्व प्रकरणों में कई बार निवेदन कर चुके हैं। अभी चौथे अध्याय के अन्त में भी जन्म, अस्तित्व, विपरिणाम, वृद्धि, अपक्षय और विनाश इन विकारों की स्याद्वाद सिद्धान्त अनुसार प्रक्रिया मानने पर ही सिद्धि बताई जा चुकी है, अन्यथा नहीं।

न हि नित्यैकांते परिणामोस्ति, पूर्वाकारविनाशाजहद्वृत्तोत्तराकारोत्पादानभ्युपगमात् स्थितिमात्रावस्थानात् न च स्थितिमात्रं परिणामः तस्य पूर्वोत्तराकारपरित्यागोपादानभावस्थितिलक्षणत्वात्।

सर्वथा नित्यपन का एकान्त मानने पर परिणाम होना नहीं बन पाता है क्योंकि परिणाम का अर्थ तो पूर्व आकार का विनाश और कुछ ध्रुव अंशों को नहीं छोड़ कर वर्तना तथा उत्तर आकार का उत्पाद होना है "पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च" किन्तु नित्य एकान्त में उक्त परिणाम होना नहीं स्वीकार किया गया है वहां तो केवल स्थिति ही अवस्थित रहती है, पूर्व आकार का त्याग और उत्तर आकारों का ग्रहण नहीं सम्भवते हैं। केवल ध्रौव्य अंश करके स्थिति होना ही तो परिणाम नहीं है, क्योंकि उस परिणाम का लक्षण पूर्व आकार का परित्याग और उत्तर आकार का उपादान तथा ध्रुव भाव (आकार) की स्थिति इतना अखण्ड है।

सदा स्थास्नोरात्मादेरर्थान्तरभूतोतिशयः कुतश्चिदुपजायमानः परिणाम इति चेत्, स तस्येति कुतः ? तदाश्रयत्वादिति चेत्, कथमेकस्वभावमात्मादि वस्तु कदाचित्कस्यचिदतिशयस्याश्रयः कदाचिन्न यस्येति संभाव्यते ? स्वभावविशेषादिति चेत्, तर्हि येन स्वभावविशेषेणाश्रयः कस्यचिद्भावो येन वानाश्रयः स ततोनर्थान्तरभूतश्चेत्तन्नित्यत्वैकांतविरोधः। स ततोर्थान्तरभूतश्चेत्तस्येति कुतः ? तदाश्रयत्वादिति चेत्, स एव पर्यनुयोगोनवस्था च। सुदूरमपि गत्वा तस्य कथंचिदनर्थान्तरभूतस्वभावविशेषाभ्युपगमे कथं ततोर्थान्तरभूतोतिशयः परिणामस्तदाश्रयः स्यात्।

नित्यैकान्तवादी कहते हैं कि सर्वथा स्थिति-शील होरहे आत्मा, आकाश, आदिक अर्थों से सर्वथा भिन्न पदार्थ होरहा अतिशय ही किन्हीं कारणों से उपज रहा सन्ता परिणाम है, परिणामी से परिणाम अभिन्न नहीं है। यों कहने पर तो ग्रन्थकार पूछते हैं, कि वह भिन्न पड़ा हुआ अतिशय स्वरूप

परिणाम उस आत्म आदि का है, यह किससे निर्णीत किया जाय बताओ? यदि तुम नित्यैकान्त-वादी यों कहो कि भिन्न पड़ा हुआ भी अतिशय उस आत्मा के आश्रय पर आश्रित है, अतः वह आधेय होरहा अतिशय उस अधिकरण भूत आत्मा का कहा जा सकता है। यों कहने पर तो हम जैन कहते हैं कि एक स्वभाव वाले कूटस्थ आत्मा आदिक वस्तुयें कभी तो किसी एक अतिशय के आश्रय होजांय और कदाचित् किसी अन्य अनित्य अतिशय के आधार होजांय यह किस प्रकार सम्भावना होसकती है? अर्थात् एक स्वभाव वाला पदार्थ एक ही अतिशय को धार सकेगा भिन्न भिन्न काल में न्यारे २ अन्य अतिशयों को नहीं धार सकेगा क्योंकि कूटस्थ नित्य पदार्थ ठीक एकसा ही रहता है यदि नित्यै-कान्तवादी इस पर यों कहैं कि आत्मा आदिक किसी विशेष स्वभाव से कभी कभी किसी किसी अति-शय के आश्रय होजायगे यों कहने पर हम जैन आपादन करते हैं, कि जिस विशेष स्वभाव करके वह आत्मा पदार्थ किसी एक अतिशय का आश्रय है। अथवा जिस स्वभाव करके किसी दूसरे अतिशय का वह उस समय आश्रय नहीं है, वह स्वभाव विशेष उस कूटस्थ आत्मा से यदि अभिन्न होगा तब तो उस आत्मा के कूटस्थनित्यपन के एकान्त का विरोध होजावेगा क्योंकि वह स्वभाव विशेष तो सर्वदा नहीं ठहरेगा, उससे अभिन्न आत्मा भी कथंचित् अनित्य बन जायगा, स्वभाव विशेषको कारणों से जन्य ही तो मानोगे। हां यदि वह स्वभावविशेष उस आत्मासे भिन्न होगा तब कूटस्थनित्यपन तो उसका रक्षित रह गया किन्तु सर्वथा भिन्न पड़ा हुआ " वह स्वभावविशेष उस आत्मा का है " यह कैसे व्यवहृत कर

लिया जाय? सर्वथा भिन्न पड़ा हुआ पदार्थ या तो किसी का भी नहीं है। अथवा सबका उस पर एकसा अधिकार है। यदि नित्य एकान्त-वादी यों कहैं कि आश्रय आत्माके वह स्वभाव विशेष आश्रित होरहा है, इस कारण " वह स्वभावविशेष उस आत्मा का है " ऐसा व्यवहार कर लिया जाता है। जैसे कि आश्रित होने से जिनदत्त का सेवक देवदत्त कह दिया जाता है।

यों कहने पर तो हम जैनों को कहना पड़ता है कि पुनः वही तर्क चलाया जायगा कि वह एक स्वभाववाला नित्य आत्मा कभी कभी न्यारे न्यारे स्वभावविशेष या अतिशयों का आश्रय कैसे होसकता है? इस पर आपकी ओर से वही [illegible] विशेष उत्तर कहा जायगा, यों [illegible] नहीं होने के कारण [illegible]। बहुत दूर भी [illegible] स्वभाव विशेष को [illegible] आत्मा से कथंचित् अभिन्न होरहा स्वीकार करोगे [illegible] आत्मा से भिन्न माना [illegible] स्वरूप परिणाम किस प्रकार उस आत्मा के आश्रित [illegible] अर्थात्—जब स्वभाव विशेष अभिन्न होकर ही उस आत्मा के आश्रित होसकते हैं, उसी प्रकार [illegible] ही अतिशय स्वरूप परिणाम माना जाये किन्तु वह आत्मा आदि से कथंचित् अभिन्न ही [illegible]। ऐसी दशा में कूटस्थनित्यपन का एकान्त रक्षित नहीं रहा।

[illegible]

[illegible] यथा [illegible] तथा [illegible] इति। [illegible]

कूटस्थनित्यवादी कहते है कि जो जिसप्रकार जहां जिस समय जिससे अतिशय उपजता है। उसका उस प्रकार वहां उस समय आश्रय आश्रयीभाव होजाता है, यों इस प्रकार इतना आत्मा आदि भाव का एक ही स्वभाव है, अतः कोई दोष नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि आप कूटस्थवादियों को एक आत्मा, आकाश आदि भावों की परिकल्पना करने से विरोध उपस्थित होजायगा। पृथिवी, जल आदि अतिशयों को एक आत्मा के अतिशय होजाने का प्रसग होजायगा, हम यों नियम से कह सकते हैं कि एक ही आत्मा इस प्रकारके होरहे स्वभावों को धार लेता है, कि जिस करके जिस प्रकार, जहां, जब, पृथिवी-आदिक अतिशय उत्पन्न होते हैं उनका उस प्रकार वहां, तब, आश्रय होजाता है, इस प्रकार वे पृथिवी आदिक उस आत्मा के अतिशय ही हैं। किन्तु फिर अन्य द्रव्यों के अतिशय नहीं हैं। कूटस्थ नित्यवादी कहते हैं कि पृथिवी आदिक द्रव्यों का अभाव मानने पर वे अतिशय आत्मामें भला किन कारणोंसे उपज जायंगे ? यों कहने पर तो यही कहा जा सकता है कि अन्य अतिशयों से वे अतिशय उपज जायंगे और ये अन्य अतिशय भी तीसरे, चौथे, पांचवें, आदि निराले अतिशयों से उपजते रहेंगे इस प्रकार अनादि काल से अतिशयों की परम्परा का स्वीकार कर लेने से कोई उलाहना नहीं आसकता है।

अस्त्वेक एवात्मा पुरुषाद्वैताभ्युपगमादित्यपरः तस्यापि नात्मातिशयः परिणामो द्वैतप्रसंगात्। अनाद्यविद्योपदर्शिनः पुरुषस्यातिशयः परिणाम इति चेत्, तर्हि न वास्तवः परिणामः पुरुषाद्वैतवादिनोस्ति।

ऐसे अवसर पर अपने पक्ष को पुष्ट हुआ देख कर ब्रह्माद्वैतवादी बोल उठते हैं कि जगत् में एक ही तो आत्मा है क्योंकि पुरुषाद्वैत-वाद को स्वीकार कर रखा है। इस प्रकार किसी अपर पण्डित के कहने पर आचार्य कहते हैं, कि उस ब्रह्माद्वैतवादी के यहां भी आत्मा का अतिशय होरहा परिणाम नहीं माना जा सकता है। क्योंकि निराले अतिशय स्वरूप परिणाम और परमब्रह्म को मानने से द्वैत-वाद का प्रसग हो जावेगा यदि अद्वैत वादी यों कहैं कि अनादि काल से लगी हुई अविद्या करके उप-दर्शित होरहे परम ब्रह्म का अतिशय ही परिणाम है, वस्तुतः एक परम पुरुष ही पदार्थ है, अन्य कोई नहीं। यों कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि तब तो पुरुषाद्वैतवादी के यहां वास्तविक परिणाम नहीं सिद्ध हुआ, अविद्या के द्वारा दिखलाये गये झूठे अतिशय को परिणाम मानने पर यथार्थ परिणाम की सिद्धि नहीं होपाती है, अतः कूटस्थ नित्यवादी या ब्रह्माद्वैतवादोके यहां परिणाम नहीं बन पाता है।

योप्याह, प्रधानादनर्थान्तरभूत एव महदादिः परिणाम इति, सोप्ययुक्तवादी, सर्वथा प्रधानादभिन्नस्य महदादेः परिणामत्वविरोधात् प्रधान-स्वात्मवत् तस्य वा परिणामत्व-प्रसंगात् महदादिवत्, ततो न प्रधानं परिणामि घटते नित्यैकस्वभावत्वादात्मवत्।

जो भी सांख्य यों कह रहा है कि सत्वगुण, तमोगुण, रजोगुण, की साम्य अवस्था रूप प्रधा-नसे महत, अहंकार, आदि परिणाम होरहे अभिन्न हैं "प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः तस्मादपि षोडशकात्पंचभ्यः पंचभूतानि"। ग्रन्थकार कहते हैं कि वह सांख्य भी युक्तिरहित पदार्थों के कहने की टेव को धारता है। क्योंकि प्रधान से सभी प्रकार अभिन्न होरहे महत्तत्व, अहंकार आदि

को परिणामपन का विरोध है, जैसे कि प्रधान से अभिन्न होरहा प्रधान का स्वात्मा तो प्रधान ही परिणामी का परिणाम नहीं है। दूसरी बात यह है कि अभिन्न पदार्थ ही यदि परिणाम होने लगे तो महत् आदि के समान उस प्रधान को परिणामपन का प्रसंग आजावेगा, तब तो महत्, अहंकार आदि परिणामी होजायंगे और प्रकृति उनका परिणाम बन जावेगी तिस कारण सांख्यों के यहां माना गया प्रधान तो परिणामवाला नहीं घटित होता है। क्योंकि सर्वथा नित्यपन भी उसका एक स्वभाव है, जैसे कि कापिलों के यहां एकान्त से नित्य स्वभाव होने के कारण कूटस्थ आत्मा परिणामी नहीं माना गया है (परार्थानुमान)।

यदि पुनः प्रधानस्य महदादिरूपेणाविर्भावतिरोभावाभ्युपगमात् परिणामित्वमभिधीयते तदा स एव स्याद्वादिभिरभिधीयमानः परिणामो नान्यथेति नित्यैकांते परिणामाभावः।

यदि फिर कापिल यों कहें कि हम आत्मा के कूटस्थनित्यपन से निराले प्रकार के प्रधान का महत्, अहंकार, तन्मात्रायें, आदिरूप करके आविर्भाव और तिरोभाव को स्वीकार करते हैं, हां उत्पाद या विनाश हमको अभीष्ट नहीं है। अतः आविर्भूत, तिरोभूत होरहे अपने अभिन्न परिणामों के अनुसार प्रधान का परिणामीपना कहा जाता है। आचार्य कहते हैं कि तब तो स्याद्वादियों करके वही परिणाम कहा जा रहा है, प्रकट होजाना, छिप जाना आदि अन्य प्रकारों से परिणाम नहीं बनता है। अर्थात् आविर्भाव, तिरोभाव,का अर्थ कथंचित् उत्पाद, विनाश, मानने पर ही निश्चिन्तता होसकेगी। अन्न में मांस या मल का सद्भाव मानना अनुचित है, अंगुलीके अग्रभाग पर हाथियों के सौ झुण्डों का समा जाना स्वस्थ पुरुष नहीं कह सकता है अतः स्याद्वाद सिद्धान्त अनुसार ही परिणाम बनता है। नित्यपन के एकान्त पक्ष में परिणाम का अभाव है "न हि नित्यैकान्ते परिणामोऽस्ति" यहां से प्रारम्भ कर अब तक इस प्रकरण का विवरण कर दिया है।

क्षणिकैकांतेपि क्षणादूर्ध्वं स्थितेरभावात् परिणामाभावः, पूर्वक्षणे निरन्वयविनाशादुत्तरक्षणोत्पादः परिणाम इति चेत्, कस्य परिणामिन इति वक्तव्यं ? पूर्वक्षणस्येति चेन्न, तस्यात्यंतविनाशादपरिणामित्वाच्चिरतरविनष्टक्षणवत्।

सम्पूर्ण पदार्थों को एकक्षणस्थायी मानने के एकान्त पक्ष में भी परिणाम नहीं बनता है। क्योंकि क्षण से ऊपर दूसरे समयों में पदार्थों की स्थिति का अभाव है, ऐसी दशा में कौन किस स्वरूप परिणमे ? जो जीवित रहेगा वह आनन्द भोग सकेगा, मरेहुये पदार्थ के लिये कुछ भी नहीं है। यदि बौद्ध यों कहैं कि पहिले क्षण में अन्वयरहित होकर पदार्थ का विनाश होजाने से उत्तर-वर्त्ती दूसरे क्षण में नवीन पदार्थ का उत्पाद होना परिणाम है, यों कहने पर तो हम जैन पूछते हैं कि वह उत्तर क्षण-वर्त्ती उत्पाद भला किस परिणामी का परिणाम है ? यह तुमको स्पष्ट कहना चाहिये यदि पूर्व क्षणवर्त्ती पदार्थ का ही परिणाम वह उत्तर क्षण-वर्त्ती उत्पाद माना गया है, यह तो आप बौद्ध नहीं कह सकते हैं। क्योंकि उस पूर्व क्षण-वर्त्ती पदार्थ का अत्यन्त रूप से अनन्त काल तक के लिये विनाश होचुका है, अतः वह पूर्व क्षण-वर्त्ती पदार्थ इस उत्तर क्षण-वर्त्ती पदार्थका परिणामी नहीं होसकता है। जैसे कि बहुत काल पहिले विशेषतया नष्ट होचुका क्षण (स्वलक्षणपदार्थ) इस वर्तमान कालीन

उत्पाद का परिणामी नहीं माना गया है । यानी एकदिन पहिले मर गये अथवा पचास वर्ष पहिले मर गये बाबा आज इस समय गुड़ को नहीं खा सकते हैं ।

कार्यकारणभाव एव परिणामिभाव इति चेन्न, क्षणिकैकांते कार्यकारणभावस्य निरस्तत्वात् क्रमयौगपद्यविरोधान्नित्यत्वैकांतवत् । संवृत्त्या कार्यकारणभावे तु न वास्तवः परिणामिभावः कयोश्चिदिति क्षणिकैकान्तपक्षे परिणामाभावः सिद्धः ।

बौद्ध कहते हैं कि कार्यकारण भाव ही परिणाम परिणामीभाव है । पहिला क्षण कारण है, अतः परिणामी है । और उत्तर क्षण-वर्त्ती स्वलक्षण कार्य है, अतः परिणाम है । ऐसी अवस्था में हम बौद्धोंके यहां परिणाम बन जायगा । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कह बैठना क्योंकि क्षणिक पक्ष का एकान्त ग्रहण करने पर कार्य कारण भाव का निराकरण होचुकता है क्योंकि क्षणिक एकान्त में क्रम और यौगपद्य होने का विरोध है जैसे कि सर्वथा नित्यपन के एकान्त में क्रम और यौगपद्य घटित नहीं होते हैं, अतः कार्यकारणभावके अतिरिक्त आ झांवांलाहार कारकहासकों कार्यकारण भावके व्यापक क्रम और यौगपद्य हैं जैसे कि ज्ञापक पक्ष में कार्य कारण भाव के व्यापक अन्वय और व्यतिरेक हैं । यदि बौद्ध झूंठी कल्पना या व्यवहार से कार्य कारण भाव को स्वीकार करेंगे तब तो किन्हीं एक नियत दो पदार्थों का होरहा परिणाम परिणामी भाव वास्तविक नहीं होसकता, इस प्रकार क्षणिक एकान्त पक्षमें परिणाम होने का अभाव सिद्ध होगया ।

संवेदनाद्यद्वैते तु दूरोत्सारित एव परिणाम इति सकलसर्वथैकांतवादिनां परिणामाभावाद्वृद्ध्यभावो अपक्षयाद्यभाववदवतिष्ठते । स्याद्वादिनां पुनः परिणामप्रसिद्धेर्युक्ता कस्यचिद्वृद्धिः स्वकारणसन्निपातादपक्षयादिवत्तथाप्रतीतेर्बाधकाभावात् ।

कोई कोई बौद्ध पण्डित तो सम्वेदन, चित्र, आदि का अद्वैत मान बैठे हैं, आचार्य कहते हैं कि सम्वेदन आदि के अद्वैत पक्ष में तो परिणाम बहुत ही दूर फेंक दिया गया है । एक ही पदार्थ भला क्या परिणाम और परिणामी होसकता है ? यानी देवदत्त का इकलौता लड़का जेठा, मंझिला, या कनिष्ठ, नहीं होसकता है । इस प्रकार सम्पूर्ण सर्वथा एकान्त-वादियों के यहां परिणाम की घटना नहीं होने से वृद्धि का अभाव व्यवस्थित होजाता है, जैसे कि अपक्षय, विनाश, आदि का अभाव हो जाता है, हां स्याद्वादियों के यहां तो फिर परिणाम की समीचीनतया प्रसिद्धि होजाने से किसी अंश की वृद्धि स्वकीय वृद्धि के कारणों का सन्निपात होजाने से समुचित बन जाती है । जैसे कि अपने अपने कारणों का सान्निध्य होने से अपक्षय, अस्तित्व, आदिक सध जाते हैं । तिस प्रकार की होरही प्रतीति का कोई बाधक प्रमाण नहीं है । जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्द्धते, अपक्षयते, विनश्यति, अपने अपने कारणों अनुसार होरहे इन छह विकारों की बालक बालिकाओं तक को प्रतीति होरही है । यहां तक " परिणामाभावात् वृद्ध्यभावः सर्वथैकान्तवादिनः " इस कथन का उपसंहार कर दिया गया है ।

परिणामो हि कश्चित् पूर्वपरिणामेन सदृशो यथा प्रदीपादेर्ज्वालादिः, कश्चिद्विसदृशो यथा तस्यैव कज्जलादिः, कश्चित्सदृशासदृशो यथा सुवर्णस्य कटकादिः । तत्र पूर्वसंस्थानाद्यपरित्यागे सति परिणामाधिक्यं वृद्धिः, सदृशेतरपरिणामो यथा बालकस्य कुमारादिभावः ।

जगत्में परिणाम अनेक प्रकारके हैं,नैमित्तिक भाव भी अनेक प्रकारके हैं कोई कोई परिणाम, तो पहिले पहिले परिणामोंके सदृश होता है, जैसे कि प्रदीप आदि की ज्वाला, कलिका आदि हैं, प्रदीप की कलिका से कलिका पुनः कलिका से वैसी ही कलिका यों घण्टों तक दीपक सदृश परिणामों को धारता रहता है। हां कोई कोई परिणाम [illegible] जैसे कि उस ही प्रदीप आदि के काजल, धुआं राख, आदि परिणाम हैं तथा कोई कोई परिणाम कुछ अंशों में परिणामी के सदृश और अन्य अंशों में परिणामी से विलक्षण होता है जैसे कि सुवर्ण के कंकण, आदि परिणाम हैं। यहां सोनापन सदृश है किन्तु पहिले पांसेकी आकृति सर्वथा विसदृश होकर कंकण,हसली, कुण्डल आदि रूप होगई है। उन परिणामों में पहिले संस्थान (रचना) आदिका परित्याग नहीं होते सन्ते परिणाम की अधिकता होजाना तो वृद्धि है जो कि सदृश और विसदृश परिणामस्वरूप है जैसे कि बालक का कुमार आदि अवस्था रूप वृद्धि परिणाम है, यहां बालक की ही कुमार अवस्था में वृद्धि होगयी है जिसके कारण मातृदुग्ध अन्न, जल सूर्याताप, उदराग्नि, वीर्यांतरायक्षयोपशम आदि भी कहे जा चुके हैं।

सदृश एवायमित्ययुक्तं, विसदृशप्रत्ययोत्पत्तेः। सर्वथा सादृश्ये बालकुमाराद्यवस्थयोः कुमाराद्यवस्थायामपि बालप्रत्ययोत्पत्तिप्रसंगात्, बालकावस्थायां वा कुमारादिप्रत्ययोत्पत्तिप्रसक्तेः सर्वथा विसदृश एव बालकपरिणामात्कुमारादिपरिणाम इत्यपि न प्रातीतिकं स एवायमिति प्रत्ययस्य भावात्। भ्रांतोसौ प्रत्यय इति चेन्न बाधकाभावादात्मनि स एवाहं प्रत्ययवत्। सर्वत्र तस्य भ्रांतत्वोपगमे नैरात्म्यवादालंबनप्रसंगः। न चासौ श्रेयान् यतश्च सदृशेतरपरिणामात्मनो वस्तुनः साधनात्, प्रत्यभिज्ञानस्याभेदप्रत्ययस्य च प्रामाण्यव्यवस्थापनात्। ततो युक्तः सदृशेतरपरिणामात्मको वृद्धिपरिणामः।

वृद्धि नामक विकार को सदृश, विसदृश, दोनों स्वरूप नहीं मानते हुये कोई कहते हैं कि वह वृद्धिपरिणाम तो सदृश ही है वैसा का वैसा ही बालक पुनः कुमार या युवा होता हुआ बढ़ जाता है कोई विलक्षणता नहीं दीखती है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कहना युक्तियोंसे रहित है क्योंकि बालक से कुमार होजाने पर विसदृशपनेका ज्ञान भी उपजता है किसी किसी बालक का तो अगली अवस्थाओं में बहुत अन्तर पड़ जाता है यदि बालअवस्था और कुमार आदि अवस्थाओं को सभी प्रकारों से सदृश ही माना जायगा तो कुमार आदि अवस्था में भी बालक है, ऐसे ज्ञान के उपजने का प्रसंग आवेगा अथवा बालक अवस्था में कुमारपन, युवापन, आदिक ज्ञानों की प्रतीति उपजने का प्रसंग आजायगा कुमार को बालक या बालक को कुमार कोई नहीं कहता है।

इसके विपरीत कोई दूसरे विद्वान् यों कह रहे हैं कि बालक परिणाम से कुमार आदिक परिणाम सर्वथा विसदृश (विलक्षण) ही है। आचार्य कहते हैं कि यह भी सिद्धान्त प्रतीतियों पर आरूढ़ नहीं कहा जासकता है, कारणकि वही बालक कुमार होगया है, इस प्रकारके प्रत्ययका सद्भाव है ऐसी दशा में बालक से कुमार को सर्वथा विलक्षण नहीं कहा जा सकता। माता, पिता, या अन्य गुरु जन उसी बालक को कुमार, युवा, आदि अवस्था पर्यन्त बढ़ता हुआ देख रहे हैं। यदि कोई पण्डित यों कहे कि वह प्रत्यभिज्ञान स्वरूप प्रत्यय तो भ्रान्त है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उस प्रत्यभिज्ञान का कोई बाधक प्रमाण नहीं है, जैसे कि आत्मा में यह वही है इस प्रत्यभिज्ञान के बाधकों

का अभाव होजाने से वह प्रत्यभिज्ञान अभ्रान्त समझा जाता है, सीप में हुये चांदी के ज्ञान का "यह चांदी नहीं है, ऐसा बाधक ज्ञान पश्चात् उपज जाता है" अतः सीप में चांदी का ज्ञान भ्रान्त है किन्तु माता की गोद में पड़ा हुआ वही बालक क्रम क्रम से कुमार, युवा, वृद्ध, होजाता है, इन प्रत्यभिज्ञानों का बाधक कोई समीचीन ज्ञान नहीं है।

प्रत्यभिज्ञान की प्रमाणता पर आस्था नहीं रखने वाले पण्डित यदि सभी स्थलों पर उन प्रत्यभिज्ञान का भ्रान्तपना स्वीकार करेंगे तब तो नैरात्म्यवाद के अवलम्ब करने का प्रसंग आवेगा किन्तु वह बौद्धों के यहां नैरात्म्यवाद का अवलम्ब किया जाना श्रेष्ठमार्ग नहीं है क्योंकि कालान्तर-स्थायी अथवा अनादि अनन्त आत्माकी सिद्धि हो चुकी है जो आत्माको या आत्माके स्वभावोंको अथवा अन्य पदार्थों के धर्मों को स्वीकार नहीं करते हैं वे अवश्य नैरात्म्यवादी हैं, अतः बाल्य, कौमार्य, आदि अवस्थाओंमें हुआ एकत्व प्रत्यभिज्ञान प्रमाण है, जिस कारण से कि पहिले प्रकरणों में सदृश, विसदृश, परिणाम स्वरूप या सामान्य विशेषात्मक वस्तु की सिद्धि की जा चुकी है प्रत्यभिज्ञान अथवा अभेद को विषय करने वाले ज्ञानों की प्रमाणता का व्यवस्थापन होचुका है। तिस कारण से यह कहना सर्वांग युक्तिपूर्ण है कि वृद्धिस्वरूप होरहा परिणाम तो सदृश परिणाम और विसदृशपरिणामात्मक है, केवल सदृश ही या केवल विसदृश ही नहीं है।

एतेनापक्षयपरिणामो व्याख्यातः। यथा स्थूलस्य कायादेः सदृशेतर–प्रत्ययसद्भावात् सदृशेतरात्मक इति। विसदृशपरिणामो जन्म तस्यापूर्वप्रादुर्भावलक्षणत्वात्, तथा विनाशः पूर्व-रूपस्यापूर्वप्रादुर्भावरूपत्वात्। तद्व्यतिरिक्तस्य विनाशस्याप्रतीतेः।

इस कथन करके अपक्षय नाम के परिणाम का भी व्याख्यान कर दिया गया समझ लो। अर्थात् -पुष्ट शरीर वाला युवा पुरुष जब बुड्ढा होता हुआ कुछ क्षीण होजाता है अथवा कोई रोगी या दरिद्र पुरुष क्षीणशरीर होजाता है उसका वह अपक्षय भी कुछ सादृश्य और कुछ वैसादृश्य को लिये हुये सदृशेतरपरिणाम स्वरूप है। जिस प्रकार कि मोटे होरहे शरीर, मणि, आदिक का अपक्षय होने पर सदृशपन और विसदृशपन को जानने वाले ज्ञान के विषयताका सद्भाव होजाने से वे काय आदिक पदार्थ सदृश, विसदृश, परिणाम-आत्मक हैं। कृष्ण पक्ष में क्षीण होरहा चन्द्रमा, शाण पर घिसी गयी मणि, वर्षा के पश्चात् शरद ऋतु की नदियां, इनका अपक्षय परिणाम भी समान असमान उभया-त्मक है।

हां जन्म नामक परिणाम तो विसदृश परिणाम कहा जा सकता है, क्योंकि सर्वथा अपूर्व पदार्थ का प्रादुर्भाव होना उस जन्म का लक्षण है। घोड़ा मर कर मनुष्य उपज गया या मनुष्य मर कर स्वर्ग में देव का जन्म पाता है, बत्ती, तेल आदि में कलिका विलक्षण होरही उपजती है, यहां अन्वित होरहे किसी ध्रौव्य अंशकी विवक्षा नहीं की गयी है। तिस प्रकार जन्म, अस्तित्व आदि छः भावों में गिनाया गया विनाश परिणाम भी विसदृश परिणाम कहा जाता है क्योंकि पहिली पर्याय का विनाश होजाना अपूर्व पर्याय के प्रादुर्भाव स्वरूप है "कार्योत्पादः क्षयो हेतोः" गेहुओं का क्षय चून का उत्पाद रूप है। इस अपूर्वअवस्थाके प्रादुर्भावसे अतिरिक्त किसी तुच्छ विनाशकी प्रतीति नहीं होरही है। नैया-यिकोंका-सा तुच्छ ध्वंस हमको अभीष्ट नहीं है, अपूर्व प्रादुर्भावको हम विसदृशपरिणाम कह ही चुकेहैं।

ध्वंसाभावोऽप्रतीतिः प्रत्ययविषयत्वादिति चेत्, ततश्च भावस्याभावत्वे नीरूपत्वप्रसंगात्।

नास्तीति प्रत्ययविषयरूपसद्भावान्न नीरूपत्वमिति चेत्, तर्हि भावस्वभाव एव विनाशः स्वभावत्वादुत्पादवत्। प्रागभावेतरेतराभावात्यन्ताभावानामप्यनेनैव भावस्वभावता व्याख्याता।

यदि वैशेषिक यों कहैं कि "ध्वंस रूप अभाव है" ऐसी प्रतीतिका विषय होनेसे विनाश पदार्थ तो भाव पदार्थों से न्यारा है। यों कहने पर तो हम जैन कहेंगे कि उस प्रतीतिसे यदि ध्वंस को अभाव स्वभाव वाला माना जायगा तो नीरूपपने का प्रसंग आवेगा यानी उस तुच्छ ध्वंस के कोई भी स्वभाव या धर्म नहीं होनेके कारण वह ध्वंस निस्स्वभाव होजायगा निस्स्वभाव पदार्थ खरविषाणवत् असत् है. फिर भी वैशेषिक यों कहैं कि "नहीं है" इस प्रकार के ज्ञान की विषयता ध्वंस में है अतः ध्वंस के उस विषयतास्वरूप धर्म का सद्भाव होने से नीरूपपन यानी स्वभावरहितपन का प्रसंग नहीं आवेगा। यों कहने पर तो हम जैन कहेंगे कि तब तो विनाश पदार्थ भाव का ही स्वभाव रहा (प्रतिज्ञा) स्वभाव होने से (हेतु) उत्पाद के समान (अन्वयदृष्टान्त)। अतः उत्तर पर्यायस्वरूप ही पूर्व पर्याय का विनाश है जो कि विनाश स्वरूप परिणाम उस पूर्व कालीन परिणामी से विसदृशपरिणाम स्वरूप है। इस उक्त कथन करके ही प्रागभाव अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभावका भी भावस्वभावपना बखान दिया गया है अर्थात् प्रागभाव आदिक चारों अभाव भावस्वरूप ही पड़ते हैं. इसका निर्णय ग्रन्थकार ने अष्टसहस्री ग्रन्थ में अच्छा कर दिया है। "कार्यस्य आत्मलाभात्प्रागभवनं प्रागभावः" कार्य के आत्मलाभ से पहिले कार्य का नहीं होना प्रागभाव है, जो कि कार्य के अव्यवहित पूर्व-वर्त्ती या कार्यके सम्पूर्ण पूर्व-वर्त्ती परिणामों स्वरूप है। ऋजुसूत्रनयार्पणात् उपादानक्षण एवोपादेयस्य प्रध्वंसः, ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा उपादेय परिणाम का उत्पाद ही पूर्व समय-वर्त्ती उपादान का प्रध्वंस है। "स्वभावान्तरात्स्वभावव्यावृत्तिः अन्योन्याभावः" किसी दूसरे स्वभावसे प्रकृत स्वभाव की व्यावृत्ति होना अन्योन्याभाव है जैसे घट पट नहीं हैं यों घट या पट की स्वकीय परिणतियों स्वरूप ही अन्योन्याभाव है, यदि स्वभावान्तरों से स्वभावकी व्यावृत्ति कालत्रय वृत्ति होजाय तो वे आत्मा,आकाश आदिकी मिथः परिणतियां अत्यन्ताभाव समझी जाती हैं। संक्षेप मे अभावों को भाव रूप इसी ढंगसे समझ लिया जाय। यों वृद्धि, अपक्षय,जन्म और विनाश इन चार परिणामों (विकारों) के सदृशपन या विसदृशपन अथवा उभयपन का विचार कर दिया गया है।

ननु च यथा स्वभाववत्त्वाविशेषेपि घटपटयोर्नानात्वं विशिष्टप्रत्ययविषयत्वात्तथा भावाभावयोरपि स्यादिति चेन्न,घटत्वेन वा स्वभाववत्त्वस्याव्याप्तत्वाद् घटस्य पटात्मकत्वासिद्धेः, पटस्य वा घटात्मकत्वानुपपत्तेः कथंचिन्नानात्वव्यवस्थितेः। भावात्मकत्वेन तु स्वभाववत्त्वस्य व्याप्तिसिद्धेः सर्वत्र भावात्ममंतरेण स्वभाववत्त्वाप्रसिद्धेरभावस्य ततो भावात्मकत्वसिद्धेरप्रतिबंधनात्। तत्र विशिष्टप्रत्ययस्तु पर्यायविशेषादुपपद्यते एव घटे नवपुराणादिप्रत्ययवत् यथैव घटो नवः पुराण इति विशिष्टप्रत्ययतामात्मसात्कुर्वन्नपि घटात्मतां न जहाति तथा भावोस्ति नास्तीति विशिष्टप्रत्ययं विषयतां स्वीकुर्वन्नपि न भावस्वभावतां शेषतु

यहां वैशेषिकों का पुनः स्वमन्तव्य अवधारण है कि स्वभावसहितपन के विशेषतारहित होते हुये भी घट और पट में तिस प्रकार विशिष्ट ज्ञान का विषय होजाने के कारण नानापन है, शीतको पट दूरकर देता है,कपड़ा तोड़ा मरोड़ा जा सकता है, घट नहीं। घट पानीको धारता है, कठिन है, पट

ऐसा नहीं है, उसी प्रकार भाव और अभाव में भी न्यारे न्यारे विशेष प्रत्ययों का गोचरपना होने से अनेकपन होजावेगा। "द्रव्यमस्ति, गुणः अस्ति, कर्म अस्ति" ये ज्ञान भावों को विषय करते हैं "प्राक् नासीत्, पश्चान्न भविष्यति, इतरत् इतरत्र नास्ति अत्यन्तु अन्यत्र कालत्रयेऽपि नास्ति" ये ज्ञान अभावों को विषय करते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि घटपने करके स्वभावसहितपना व्याप्त नहीं है अतः घट को पटस्वरूपपना असिद्ध है और पटको घट-आत्मकपना बन नहीं सकता है, इस कारण घट, पट, दोनों में कथंचित् नानापन की व्यवस्था समुचित होरही है। हाँ भावआत्मकपन करके तो स्वभावसहितपनकी व्याप्ति सिद्ध है, अतः सर्वत्र भाव-आत्मक बने बिना अभाव को स्वभाव-सहितपना अप्रसिद्ध होजायगा जिस कारण अभाव को तुच्छ या निरुपाख्य नहीं मानते हुये जैनों के यहां भाव-आत्मकपन की सिद्धि का कोई प्रतिबन्धक नहीं है।

अर्थात्-अभावों में अनेक स्वभाव तभी रह सकते हैं जब कि अभावों को भावआत्मक माना जाय। भूतल में घटका अभाव रीते भूतल स्वरूप है, हां उस अभाव में भावों के ज्ञान की अपेक्षा कुछ विशेषताओं के लिये हुये ज्ञान का होजाना तो पर्याय विशेष अनुसार बन जाता ही है, जैसे कि घट में नवीन, पुराना, नीला, काला, पुष्ट, शिथिल, आदि ज्ञान उन उन विशेष पर्यायों अनुसार होजाते हैं। अर्थात्—जिस ही प्रकार नवीन या पुराना घड़ा है इस प्रकार विशिष्ट ज्ञान की विषयता को आत्मा-धीन करता हुआ भी वह घट अपने घट स्वरूप को नहीं छोड़ता है जिस प्रकार "पदार्थ है अथवा पदार्थ नहीं है" इस प्रकार विलक्षण ज्ञानों की विषयता को स्वीकार कर रहा भी भाव-पदार्थ अपने भावपन को नहीं छोड़ता है घटकी नई, पुरानी, आदि अवस्थाओं और भाव की सत्ता या असत्ता रूप अवस्थाओं में कोई अन्तर नहीं है, अतः भाव का पर्याय होरहा अभाव पदार्थ कोई भाव से न्यारा तत्व नहीं है।

न चाभावो भावपर्याय एव न भवति सर्वदा भावपरतंत्रत्वादभावप्रसंगात्। न च — सर्वदाभावपरतंत्रो नीलत्वादिर्भावधर्मोऽप्रसिद्धो येनाभावोऽपि तद्वद्भावधर्मो न स्यात्।

यदि वैशेषिक यों कहे कि सातवां अभाव पदार्थ तो स्वतंत्र है किसी भी भाव पदार्थकी पर्याय ही नहीं है ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो वैशेषिक नहीं कहैं क्योंकि सदा भावपदार्थों के ही पराधीन वर्त रहा अभाव पदार्थ है, इस कारण नील, नीलत्व, आदि के समान वह भावाधीन वर्त रहा अभाव पदार्थ भी भाव पदार्थों का ही पर्याय है। अभाव को यदि भाव या भावाधीन नहीं माना जायगा तो उस खर-विषाण के समान तुच्छ अभाव का प्रसंग होजायगा यहां "अभावप्रसंगात्" के स्थानपर "नीलत्वादिवत्" इस दृष्टान्तका पाठ अच्छा शोभता है। अस्तु। ग्रन्थकार हेतु को पुष्ट करते हैं कि सदा भावों के पराधीन वर्त रहे नीलत्व, नील, आदिक पदार्थ भाव के धर्म हैं, यह बात अप्रसिद्ध नहीं है जिससे कि अभाव भी उन्हीं नीलत्व आदिक के समान भाव का धर्म नहीं होसके।

अर्थात्-नीलं द्रव्यं, नीलवान् घटः, नीलत्वजातिमत् नीलरूपं, यहां नील गुण वाला द्रव्य है नील में नीलत्व जाति रहती है, यों द्रव्य का विशेषण नील और नील का विशेषण नीलत्व प्रसिद्ध ही है, इसी प्रकार घटःपटो न, घटाभाववद्भूतलं, आकाशे ज्ञानाभावः, कपाले घट-ध्वंसः, मृत्तिकायां घटा-भावः आदि स्थलों पर भाव पदार्थों का विशेषण होरहा अभाव पदार्थ प्रतीत होरहा है। विशेष्यों के अधीन विशेषण रहता है। मुख्य रूपसे प्रथमा विभक्ति वाला पद विशेष्य होता है, यह नियम ठोस नहीं है सिद्धान्त यह है कि चाहे पर्वतो वन्हिमान् कहो अथवा पर्वते वन्हिः कहो पर्वत विशेष्य है और अग्नि

विशेषण है। केवल प्रत्यय बदल जानेसे आधार भूत विशेष्य कोई आधेय नहीं होसकता है और आधेय भूत विशेषण बिचारा आधार नहीं बन सकता है, अतः जो पदार्थोंको धारता है वह विशेष्य होगा और जो उसमें वर्तता है वह विशेषण होगा।

न च सर्वदा भावपरतंत्रत्वमभावस्यासिद्धं, घटस्याभावः पटस्य चेत्येवं प्रतीतेः स्वतंत्रस्याभावस्य जातुचिदप्रतीतेः अत एव भाववैलक्षण्यमभावस्येति चेन्न, नीलादि व्यभिचारात्। नीलमिदमित्येवं नीलादेः स्वतंत्रस्य संप्रत्ययात्सर्वदा भावपारतंत्र्याभावान्नी लादेर्न तेन व्यभिचार इति चेत्, तर्हि तथाप्यसदिदमित्येवमभावस्य स्वतंत्रस्य निश्चयात् सर्वदा भावपारतंत्र्यं न सिद्ध्येत् इदमिति प्रतीयमानस्य विशेषणतयाप्रतीतेः प्रतीतेरस्वतंत्रत्वे नीलादेरपि स्वतंत्रत्वं [illegible] अभावस्य भावस्वभावत्वमिति न प्रपंच्यते

स्वरूपासिद्ध दोष का निराकरण करते हुये ग्रन्थकार पक्ष में हेतु का वर्तना पुष्ट करते हैं, कि अभाव के सदा भावों के पराधीन रहनापन असिद्ध नहीं है। देखिये घट का अभाव है, यहां पट का अभाव है, अत्र पुस्तकं नास्ति, इस प्रकार भाव के अधीन होरहे ही अभाव की प्रतीति होती है। "अभाव है, अभाव है" इस प्रकार स्वतंत्र होरहे अभाव की कदाचित् भी प्रतीति नहीं होती है यानी अभावको कहने पर उसी समय उसका प्रतियोगी किसी प्रकार लग बैठेगा जैसे कि उष्णता के कहने पर अग्नि, बिजली आदि षष्ठी विभक्ति वाले पद विशेष्य होकर लग जाते हैं। यहां वैशेषिक कहते हैं कि इस ही कारण से अभाव को भावों से विलक्षणपना माना जाता है। जैसे कि अग्नि की उष्णता है यहां अग्नि को हम वैशेषिक द्रव्य पदार्थ मानते हैं, और उष्णता को उस अग्नि से विलक्षण गुण पदार्थ अभीष्ट किया गया है। प्रकरण में भी घटस्य अभावः यहां घट न्यारा पदार्थ है। और अभाव उससे विलक्षण निराला तत्व है जो भाव के अधीन होगा वह भाव से न्यारा अवश्य होगा, इस कारण आप जैनों का भावों के पराधीनपना हेतु ही अभाव को भावों से निराला साध रहा है।

आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि नील, पीत, सुगन्ध, दुर्गन्ध आदि करके व्यभिचार होजायगा यानी नील, पीत, आदिभी सदा भावोंके पराधीन रहते हैं किन्तु वे नील आदिक तुम्हारे यहां छह भाव पदार्थों से विलक्षण नहीं माने गये हैं। तब तो "अत एव" आदि इस वैशेषिकों के कथन अनुसार भावविलक्षणपना साधने के लिये दिया गया सदाभावपरतंत्रत्व हेतु व्यभिचारी है। अभावों के सर्वथा भावों से विलक्षणपन का ग्राहक कोई प्रमाण भी नहीं है। यदि वैशेषिक यों कहे कि हेतु के शरीर में सदा यह पद पड़ा हुआ है, जो सर्वथा ही भावों-अधीन रहेगा वह तो भावों से विलक्षण अवश्य होगा किन्तु "यह नील है, यह पीत है, यह दुर्गन्ध है" इस प्रकार स्वतंत्र होरहे नील आदि की भी समीचीन प्रतीति होरही है अतः नील आदि का सर्वदा भावों के पराधीनपना असिद्ध है, कभी कभी वे स्वतंत्र भी प्रतीत होजाते हैं, इस कारण उन नील, आदि करके व्यभिचार नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यों कहोगे तब तो तुम वैशेषिकों के यहां भी "यह असत् है, यह अभाव है" इत्यादि इस प्रकार स्वतंत्र होरहे अभाव का भी निश्चय होरहा है, अतः अभावों को सदा भावों का परतंत्रपना नहीं सिद्ध होसकेगा, कभी कभी अभाव स्वतंत्र भी जाने जाते हैं।

यदि वैशेषिक यों कहें कि "असत् है, अभाव है" यहां भले ही कोई विशेष्य मानेगये भाव को कण्ठोक्त नहीं कहे फिर भी भाव पदार्थ अर्थापत्ति करके गम्यमान होजाता है। घट असत् है, पुस्तकका

नास्तित्व है, यह यों असत् है, इस प्रकार अनुमान या अर्थापत्ति द्वारा प्रतीत किये जारहे भावों के विशेषण होरहेपन करके ही यहां असत् यानी अभाव की प्रतीति होरही है। अतः अभावों का स्वतंत्र-पना नहीं माना जाकर भावों के पराधीन होना ही माना जावेगा। यों तुम्हारे कहने पर तो हम जैन भी कहते हैं, कि तिस ही कारण से नील आदि को भी स्वतंत्रपना नहीं होवे अर्थात्—नील है, सुगन्ध है, इत्यादि स्वतंत्र नीलादि की जहां प्रतीति होरही मानी गयी है। वहां भी विशेष्य होरहे भावों की अर्थापत्त्या प्रतीति करली जाती है, अतः वे नील आदि भी स्वतंत्र नहीं हैं, भावों के पराधीन हैं। तात्पर्य यह निकलता है कि भावों के पराधीन होरहे नील आदिक जैसे भावों की पर्याय ही हैं, उसी प्रकार भावों के पराधीन वर्त रहा अभाव भी भाव पर्याय ही है कोई स्वतंत्र तत्व नहीं है। एक बात यह भी है कि अभावों को भाव पदार्थों का स्वभावपना हम पूर्व प्रकरणों में प्राय (कईबार) व्यव-स्थापित कर चुके हैं, इस कारण यहां फिर उसका विस्तार नहीं किया जाता है।

यत्पुनरस्तित्वं विपरिणमनं च जातस्य सतस्तत्सदृशपरिणामात्मकं तत्र वैसादृश्यप्रत्ययानुत्पत्तेः।

वृद्धि, अपक्षय, जन्म, और विनाश इन चार विकारों का विचार किया जा चुका है, फिर जो छह विकारों में अस्तित्व और विपरिणाम नाम के विकार हैं। वे तो उत्पन्न होचुके सद्भूत पदार्थ के सदृश पर्याय स्वरूप हैं, क्योंकि उनमें विसदृशपन के ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है। अर्थात्—जायते अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षयते, विनश्यति, इस क्रम अनुसार पदार्थ पहिले उत्पन्न होता है। पीछे आत्मलाभ कर चुका जो अपना अवस्थान करता है, वही अस्तित्व है, उसके पश्चात् उस पदार्थ की अन्य सदृश अवस्थाओं की प्राप्ति होजाना विपरिणाम है। अतः अस्तित्व और विपरिणाम सदृश अवस्थायें ही हैं, जन्म के समान विसदृश परिणतियां वे नहीं हैं।

ननु च सर्वस्य वस्तुनः सदृशेतरपरिणामात्मकत्वे स्याद्वादिनां कथं कश्चित्सदृश-परिणामात्मक एव कश्चिद्विसदृशपरिणामात्मकः पर्यायो युज्यते इति चेत्, तथा पर्यायार्थिक-प्राधान्यात् सादृश्यार्थप्राधान्याद्वैसादृश्यगुणभावात् सादृश्यात्मकोयं परिणाम इति मन्यामहे, न पुनर्वैसादृश्यनिराकरणात्। तथा वैसादृश्यार्थप्राधान्यात्सादृश्यस्य सतोपि गुणभावाद्विसदृशा-त्मकोयं परिणाम इति व्यवहरामहे। तदुभयार्थप्राधान्यात्तु सदृशेतरपरिणामात्मक इति संगि-रामहे तथा प्रतीतेः। ततोपि न कश्चिदुपालंभः।

यहां कोई शंका उठाता है कि स्याद्वादियों के यहां सम्पूर्ण वस्तुयें जब सदृशपर्याय और विस-दृश पर्याय स्वरूप मानी जा चुकी हैं। तो फिर जन्म, विनाश, आदि के विषय में किया गया यह सिद्धान्त किस प्रकार युक्तियों से भरपूर होसकता है? कि कोई कोई अस्तित्व और विपरिणाम नाम के विकार तो सदृश परिणाम स्वरूप ही होवें तथा कोई जन्म और विनाश नामक पर्याय अकेले विस-दृश परिणाम स्वरूप ही होवें। अर्थात्—"सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः" सामान्य विशेष-आत्मक सम्पूर्ण पदार्थ हैं जो कि प्रमाण के विषय हैं, ऐसी दशा में जन्म, विनाश, तो विसदृश परिणाम ही और अस्तित्व, विपरिणाम, ये सदृशपर्याय ही कैसे माने जा सकते हैं? हां वृद्धि और अपक्षय को सदृश, विसदृश-आत्मक पर्याय स्वीकार करना यह समुचित है। यों कहने पर तो ग्रन्थकार समाधान करते हैं कि तिस प्रकार अस्तित्व और विपरिणाम नामक विकारों में पर्यायार्थिकनय की प्रधानता से सदृशपन अर्थ की प्रधानता है। विसदृशपन की गौणता है। अतः यह अस्तित्व या विपरिणाम नामकी

पर्याय सादृश्य स्वरूप है इस प्रकार हम स्याद्वादी विद्वान् मान रहे हैं। किन्तु फिर विसदृशपनका सर्वथा निराकरण कर देने से हम अस्तित्व को केवल सदृश-आत्मक नहीं कह रहे हैं। अर्थात्—गौण रूप से इनमें विसदृशता विद्यमान है।

तिसी प्रकार जन्म और विनाश में भी समझ लेना, यहां विसदृशपन अर्थ की प्रधानता है, विद्यमान भी होरहे सादृश्य का गौणभाव है। इस कारण यह जन्म या विनाश नामक विकार विसदृश स्वरूप हैं यों हम स्याद्वादी कोविद व्यवहार कर रहे हैं, जैसे कि स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, चारों गुणों के होते हुये भी मखमल या रूई को कोमल स्पर्शवान् और नीबू, लड्डू, आदि को रसवान् पदार्थ तथा कपूर, इत्र, को गन्धवान् एवं सुन्दर शरीर, चित्र, आदि को रूपवान् पदार्थ कह दिया जाता है। हां उन सादृश्य, वैसादृश्य, दोनों अर्थोंकी प्रधानता से तो वृद्धि या अपक्षय ये विकार सदृश परिणाम और विसदृश परिणाम-आत्मक हैं। इस प्रकार हम स्याद्वादी प्रतिज्ञा पूर्वक कहते हैं। क्योंकि तिस प्रकार की समीचीन प्रतीति होरही है। प्रतीतिसिद्ध पदार्थ का कौन अपलाप कर सकता है ? तिस कारण हमारे ऊपर कोई भी उलाहना नहीं आता है "अर्पितानर्पितसिद्धेः" यों स्वयं सूत्रकार महोदय कहने वाले हैं।

संकरव्यतिकर—व्यतिरेकेणाविरुद्धस्वभावानां निःसंशयं तदतत्परिणामानां विनिश्चितात्मनां जीवादिपदार्थेषु प्रसिद्धेः। सुखादिपर्यायेषु सत्त्वाद्यन्वयविवर्तसंदर्भोपलक्षितजननादिविकारविशेषवत्। जीवादयो द्रव्यपदार्थाः सुखादयः पर्यायाः विनियततदतत्परिणाममयस्वविवर्तयितृविकारा। इत्यकलंकदेवैरप्यभिधानात्।

"परस्परात्यंताभावसमानाधिकरणत्वे सति धर्मिणोरेकत्र समावेशः संकरः" परस्पर के अत्यन्ताभाव का समान अधिकरणपना होते सन्ते धर्मियों अथवा विजातीय धर्मों का एक स्थल में समागम होजाना संकर दोष है। अथवा "येन रूपेण भेदस्तेन भेदश्चाभेदश्चेति संकरः"। "परस्परविषयगमनं व्यतिकरः" परस्पर में एक दूसरे के विषय में चला जाना व्यतिकर दोष है। जीव आदि पदार्थों में संकर और व्यतिकर दोष का पृथग् भाव करते हुये अविरुद्ध अनेक स्वभावों को धार रहे और विशेषरूप से निर्णीत होकर अपने अपने स्वरूप में निमग्न होरहे सदृश, विसदृश, परिणामों की प्रसिद्धि होरही है, इस में कोई सन्देह नहीं है जैसे कि सुख आदि पर्यायों में सत्त्व, द्रव्यत्व आदि अन्वयी विवर्तों के सन्दर्भ से उपलक्षित होरहे जन्म, विनाश, आदि विशेष विकारों की लोक में प्रसिद्धि होरही है। अर्थात्—जीव आदिक सम्पूर्ण पदार्थ सदृश, विसदृश, परिणाम-आत्मक हैं। इस बात का बालक बालिका तक जानते हैं। इसीप्रकार सुखादि पर्याय भी सत्त्व, द्रव्यत्व, आदि के अन्वय को धारती हुई सदृश-आत्मक हैं वे ही सुखादि पर्यायें जन्म आदि विकारों वाली विसदृश-आत्मक भी हैं। कोई संकर व्यतिकर, उभय, विरोध, आदि दोष नहीं आते हैं, हां इन धर्मों के अपेक्षणीय स्वभाव न्यारे न्यारे हैं।

माननीय श्री अकलंक महाराज ने भी इस प्रकार कहा है कि जीव, पुद्गल, आदिक द्रव्य स्वरूप पदार्थ और सुख, मतिज्ञान, आदि पर्यायें ये सब विशेष विशेष के लिये नियत होरहे सदृश विसदृश परिणाम कराने वाले विवर्तयिता तत्त्व के विकार हैं। अथवा सदृश, विसदृश, परिणामों को स्व के अधीन कर रहे पर्यायी तत्त्व के ये जीवादि द्रव्य या सुखादि पर्याय विवर्त हैं। वस्तु अंशी है और द्रव्य या पर्याय उसके अंश हैं जो कि मूल धारा से सामान्य विशेष-आत्मक हैं।

ततो नावस्थितस्यैव द्रव्यस्य परिणामः, पूर्वापरस्वभावत्यागोपादानविरोधात् । नाप्यनवस्थितस्यैव सर्वथान्वयरहितस्य परिणमनाघटनादिति स्यादवस्थितस्य द्रव्यार्थादेशात्, स्यादनवस्थितस्य पर्यायार्थादेशादित्यादि सप्तभंगीभाक् परिणामो वेदितव्यः । सोयं परिणामः कालस्योपकारः, सकृत्सर्वपदार्थगस्य-परिणामस्य बाह्यकारणमंतरेणानुपपत्तेर्वर्णनात् यत्तद्बाह्यं निमित्तं स कालः ।

तिस कारण से सिद्ध होजाता है कि सर्वथा नित्य अवस्थित होरहे ही द्रव्य के ये जन्म आदि परिणाम नहीं हैं, सर्वाङ्ग ध्रुव द्रव्य के ही इनको विकार मानने पर पूर्व स्वभावों के त्याग और उत्तर स्वभावों के ग्रहण का विरोध होजावेगा तथा सर्वथा अनवस्थित होरहे ही क्षणिक परिणाम के भी ये जन्म आदि विकार नहीं हैं । क्योंकि कालत्रय में ओत प्रोत होरहे अन्वय से सर्वथा रहित पदार्थका परिणाम होना घटित नहीं होता है, जो दूसरे क्षण में ही मर जाता है वह परिणामों को क्या धारेगा इस कारण यहां स्यद्वादनीति की योजना यों कर लेना कि द्रव्यार्थिक नय अनुसार कथन करने से कथंचित् अवस्थित होरहे द्रव्य के जन्म, वृद्धि, आदिक परिणाम हैं और पर्यायार्थिक नय अनुसार कथन करने से कथंचित् अनवस्थित होरहीं पर्यायों के जन्म आदि विवर्त हैं, स्यात् उभय है, स्यात् अनुभय है, इत्यादि रूप से सप्तभंगी को धार रहा यह परिणाम समझ लेना चाहिये जो कि यह प्रसिद्ध होरहा परिणाम काल का उपकार है । कारण कि सम्पूर्ण पदार्थों में युगपत् (एक बार) प्राप्त होरहे परिणामों की बाह्य कारण के बिना सिद्धि नहीं होपाती है, इसका हम वर्णन कर चुके हैं । जो उस परिणाम का बहिरंग निमित्त है वह काल पदार्थ है, वर्तना का निमित्त मुख्य काल द्रव्य है और परिणाम का बहिरंग कारण व्यवहारकाल है ।

ननु च कालस्य परिणामो यद्यस्ति तदासौ बाह्यान्यनिमित्तापेक्षः सन्निमित्तं परिणामात्मसात्कुर्वदपरनिमित्तापेक्षमित्यनवस्था स्यात् । कालपरिणामस्य बाह्यनिमित्तानपेक्षत्वे पुद्गलादिपरिणामस्यापि बाह्यनिमित्तापेक्षा माभूत् । अथ कालस्य परिणामो नास्ति "सर्वार्थपरिणा निमित्तत्वात्" साधनमप्रयोजकं स्यात्तेन व्यभिचारात् ततो न कालस्य परिणामोऽनुमापक इति कश्चित् ।

यहां किसी का आक्षेप प्रवर्तता है कि जिस प्रकार जीव, घट, आदि का परिणाम होना अन्य बहिरंग निमित्तों की अपेक्षा रखता है, उसी प्रकार यदि काल का भी परिणाम होता है । तब तो वह काल का परिणाम यदि बहिरंग अन्य निमित्त कारण की अपेक्षा रखता सन्ता तज्जन्य परिणति को अपने अधीन करता हुआ पुनः तीसरे इतर निमित्त की अपेक्षा करेगा और तीसरे का परिणाम भी अन्य चौथे काल सारिखे बहिरंग कारण की अपेक्षा रखेगा यों पांचवें, छठे आदि बहिरंग कारणों की अपेक्षा की आकांक्षा बढ़ते बढ़ते अनवस्था होजायगी, काल के परिणाम को स्वात्म-लाभ में यदि बहिरंग निमित्तों की अपेक्षा नहीं मानी जावेगी तब तो पुद्गल, जीव, आदि के परिणामों को भी बहिरंग निमित्त कारण माने जा रहे काल की अपेक्षा नहीं होवे, काल के और पुद्गल आदि के परिणामों में बहिरंग कारण की अपेक्षा रखने या नहीं रखने का कोई अन्तर नहीं दीख रहा है, या तो दोनों दोनों

अथवा कोई भी पर की अपेक्षा नहीं रखेगा। यदि आप जैन अब ऐसी विपन्न दशा में यों कहैं कि काल का परिणाम होता ही नहीं हैं, तब तो हम आक्षेप-कर्ता कहेंगे कि सम्पूर्ण अर्थोंके परिणाम का निमित्त कारणपना यह हेतु अनुकूल तर्क वाला नहीं ठहरेगा क्योंकि उस काल के परिणाम करके व्यभिचार होजायगा सम्पूर्ण अर्थों में काल भी आगया किन्तु काल का परिणाम होना ही आप जैन नहीं मानते हैं। ऐसी दशा में सम्पूर्ण अर्थों के परिणाम करा देने में काल निमित्त नहीं होसका। एक बात यह भी है कि सम्पूर्ण वस्तुओं को परिणामी मानने वाले जैनों के यहाँ काल का परिणाम नहीं मानने पर अपसिद्धान्त दोष आजाता है तिस कारण सिद्ध होता है, कि परिणाम होजाना काल का अनुमान कराने वाला नहीं है। जो कि आप जैनों ने पहिले कहा था, इस प्रकार कोई प्रतिवादी कह रहा है।

सोऽपि न विपश्चित्, कालस्य सकलपरिणामनिमित्तत्वेन स्वपरिणामनिमित्तत्वसिद्धेः सकलावगाहहेतुत्वेनाकाशस्य स्वावगाहहेतुत्ववत् सर्वविदः सकलार्थसाक्षात्कारित्वेन स्वात्मसाक्षात्कारित्ववदन्यथा तदनुपपत्तेः । न चैवं पुद्गलादयः सकलपरिणामहेतवः, स्वपरिणामहेतुत्वेऽपि सकलपरिणामहेतुत्वाभावात् प्रतिनियतस्वपरिणामहेतुत्वात् ।

आचार्य कहते हैं कि वह भी आक्षेप कर्त्ता विचारशाली पण्डित नहीं है जब कि काल को सम्पूर्ण पदार्थों का निमित्तपना निर्णीत होचुका है, इस व्यवस्था करके काल को स्वकीय परिणामों का भी निमित्तपना सिद्ध है। काल की परिणति में अन्तरंग कारण भी काल है, और बहिरंग कारण भी काल है अपनी परिणति में स्वयं निमित्त बनजाना कोई असिद्ध नहीं है। यों समझिये जैसे कि आकाश को सम्पूर्ण पदार्थों के अवगाह का हेतुपन करके अपने भी अवगाह का हेतुपना सिद्ध है अथवा सर्वज्ञ को सम्पूर्ण अर्थों का प्रत्यक्षदर्शीपना होने से स्वकीय आत्मा का भी प्रत्यक्ष दर्शनपना सिद्ध है। अन्यथा वह स्वभाव बन नहीं सकता है। अर्थात्—आकाश यदि अपने को अवगाह नहीं देगा तो सकल अर्थों के अवगाह का हेतु नहीं होसकता है जो सर्वज्ञ स्वात्मा को ही नहीं जानता है, वह अन्य सम्पूर्ण पदार्थों को भी नहीं जान सकता है, स्वयं अनुदार होरहा पुरुष दूसरे को उदार नहीं बना सकता है। जिस प्रकार काल अपनेसे सहित अन्य सम्पूर्ण पदार्थोंके परिणामका हेतु है, इस प्रकार पुद्गल आदिक द्रव्य तो सर्व द्रव्यों के परिणाम करानेके हेतु नहीं होसकते हैं क्योंकि अपनी अपनी परिणति का अन्तरंग हेतु होते हुये भी उनमें सम्पूर्ण द्रव्यों की परिणति के हेतुपन का अभाव है, जब कि सम्पूर्ण पदार्थों में स्वकीय स्वकीय परिणति का अन्तरंग हेतुपना प्रतिनियत होरहा है, हां सूर्यके स्वप्रकाशकपनके समान काल द्रव्य में स्व-परनिमित्तपना स्वभाव व्यवस्थित है "स्वभावोऽतर्कगोचरः।"

ये त्वाहुः, नान्योन्यं परिणामयन्ति भावान् नासौ स्वयं च परिणमते विविधपरिणामभाजां निमित्तमात्रं भवति काल इति । तेऽपि न कालस्यापरिणामित्वं प्रतिपन्नाः, सर्वस्य वस्तुनः परिणामित्वात् । न च स्वयं परिणमते इत्यनेन पुद्गलादिवत् महत्त्वाद्परिणामप्रतिषेधात् । न चासौ भावानन्योन्यं परिणामयतीत्यनेनापि तेषां स्वयं परिणममानानां कालस्य प्रधानकर्तृत्वप्रतिषेधात । तथापि परिणामहेतुत्वं निमित्तमात्रं भवति काल इति वचनात् । ततः सर्वो वस्तुपरिणामो निमित्तद्रव्यहेतुक एवान्यथा तदनुपपत्तेरिति प्रतिपत्तव्यः ।

जो कोई पण्डित यहाँ यों कह रहे हैं कि आप जैनों के यहां तो काल द्रव्य के लिये यों लिखा है कि वह काल द्रव्य भावों को स्वयं नहीं परिणमाता है और स्वयं भी परिणमन नहीं करता है, हां नाना प्रकार परिणामों को धारने वाले पदार्थों का वह काल केवल निमित्त होजाता है, इस प्रकार काल के परिणाम नहीं होना सिद्ध है, फिर आप जैनों ने कालके परिणाम होना कैसे कहा ? अर्थात्— काल द्रव्य का परिणाम नहीं होना चाहिये, गोम्मटसार में कहा है कि—

ण य परिणमदि सयं सो ण य परिणामेइ अण्णमण्णेहिं ।
विविहपरिणामियाणं हवदि हु कालो सयं हेदु ॥५६९ ॥

काल द्रव्य स्वयं परिणमन नहीं करता है और न दूसरे द्रव्यों को अन्य द्रव्यों के साथ परिणमन कराता है, हाँ स्वतः अनेक प्रकार परिणमन कर रहे पदार्थोंका काल द्रव्य हेतु होजाता है। यों कह चुकने पर ग्रन्थकार कहते हैं कि वे पण्डित भी काल के अपरिणामीपन को विश्वास प्राप्त नहीं करें, जब कि सम्पूर्ण वस्तुयें परिणामी हैं तो काल का अपरिणामीपना नहीं समझा जा सकता है उक्त पंक्ति या गाथाका ऐदम्पर्य यह है कि काल स्वयं परिणमन नहीं करता है, इस विशेषण करके जीव पुद्गल आदि के समान महत्व आदि परिणतियों का निषेध कर दिया जाता है। यानी पुद्गल की जैसे स्थूल, सूक्ष्म, भेद, आदि परिणतियां होती हैं अथवा जीव की जैसे मतिज्ञान, क्रोध, आदि परिणतियां होती हैं वैसी शुद्ध काल द्रव्य की विभाग परिणतियां नहीं होती हैं तथा वह काल भावों को परस्पर में नहीं परिणमाता है, इस दूसरे विशेषण करके भी कालके स्वयं परिणमन कर रहे उन भावोंके प्रधानकर्त्तापन का प्रतिषेध किया गया है। अर्थात्–परिणाम करने में प्रधान कर्त्ता वे पदार्थ स्वयं हैं, हां निश्चय काल या व्यवहारकाल साधारण निमित्त हैं, प्रेरक निमित्त नहीं हाँ कालकी कारणता उस उदासीन कारणता या प्रेरक–कारणता के बीच में वर्त्तरही-सी है, प्रधान कर्त्ता या प्रेरक कारण काल नहीं है फिर भी उसके परिणाम का हेतुपना यानी परिणामोंका केवल निमित्त कारण काल होजाता है, ऐसा जैन सिद्धान्त का वचन है, तिस कारण सिद्ध होताहै कि वस्तुओं के सम्पूर्ण परिणाम उस निमित्त कारण होरहे काल द्रव्यको बहिरंग हेतु मान कर ही होते हैं अन्यथा यानी बहिरंग निमित्त के विना उन परिणामों का होना बन नहीं सकता है, यह भले प्रकार विश्वासपूर्वक समझ लेना चाहिये ।

का पुनः क्रिया ?

परिणाम का विचार होचुका अब कोई जिज्ञासु प्रश्न करता है कि सूत्र में कही गयी क्रिया भला फिर क्या पदार्थ है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार वार्त्तिकों द्वारा क्रिया के लक्षण और भेदों को कहते हैं।

परिस्पंदात्मको द्रव्यपर्यायः संप्रतीयते ।
क्रिया देशांतरप्राप्तिहेतुर्गत्यादिभेदभृत् ॥३९॥
प्रयोगविस्रसोत्पादाद्द्वेधा संक्षेपतस्तु सा ।
प्रयोगजा पुनर्नानोत्क्षेपणादिप्रभेदतः ॥४०॥

त्रिस्रसोत्पत्तिका तेजोवातांभःप्रभृतिष्वियं।
सर्वाप्यदृष्टवैचित्र्यात् प्राणिनां फलभागिनाम् ॥४१॥

द्रव्य की हलन, चलन आदि परिस्पन्द-आत्मक जो पर्याय भले प्रकार प्रतीत होरही है वह क्रिया है जो कि पदार्थों के प्रकृत देश से अन्य देशों की प्राप्ति का कारण है, यह क्रिया गमन, भ्रमण, आकुंचन, आदि भेदों को धार रही है, जीव के प्रयोग करके उत्पत्ति होने से और जीवप्रयत्नके अतिरिक्त अन्य विस्रसा-आत्मक कारणों करके उत्पत्ति होजाने से वह क्रिया संक्षेप से तो दो प्रकार है, हां कुशल नृत्यकारिणी के नाच या एंजन, मशीन, यंत्रालय, आदिके अनेक परिस्पन्दोंकी अपेक्षा विस्तार से क्रिया के असंख्य भेद होसकते हैं, गेंद का ऊपर उछालना, नीचे कूदना,पैंता फांदना, पांव फैलाना इन उत्क्षेपण आदिक प्रभेदोंसे वह जीवप्रयोग करके उपज रही क्रिया फिर अनेक प्रकार की है। दूसरी विस्रसा यानी जीव प्रयोगके सिवाय अन्य कारणों से जिस क्रिया की उत्पत्ति है ऐसी यह वैस्रसिक क्रिया तो तेजो द्रव्य, बिजली. अग्नि, वायु, आंधी, जलप्रपात, बादल, तरंगितसमुद्र, भूकम्प. आदि में होरही अनेक प्रकार हैं ये सभी क्रियायें शुभ अशुभ फलको भोगने वाले प्राणियोंके पुण्य पाप,कर्मोंकी विचित्रता से होरही हैं। जगत् के बहुभाग कार्यों में जीवों का पुण्य पाप ही साक्षात् या परम्परा से कारण पड़ जाता है।

क्रिया क्षणक्षयैकांते पदार्थानां न युज्यते।
भूतिरूपापि वस्तुत्वहानेरेकांतनित्यवत् ॥४२॥
क्रमाक्रमप्रसिद्धिस्तु परिणामिनि वस्तुनि।
प्रतीतिपदमापन्नाप्रमाणेन न बाध्यते ॥४३॥

बौद्धों के यहां मानेगये क्षणिकपन के एकान्त पक्ष में पदार्थों की क्रिया का होना युक्त नहीं पड़ता है क्योंकि कुछ पूर्वदेशस्थिति की अवस्था को त्याग रहे और उत्तरदेशस्थिति की अवस्था को ग्रहण कर रहे तथा अन्वित रूप से कालान्तर-स्थायी होरहे नित्य, अनित्य-आत्मक पदार्थ में ही क्रिया होना सम्भवता है "भूतिर्येषां क्रिया प्रोक्ता" जिन बौद्धों के यहां सर्वथा असत् की उत्पत्ति को ही पदार्थ की क्रिया माना गया है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि 'नैवासतो जन्म, सतो न नाशो" सर्वथा असत् का उत्पाद नहीं होता है और सत् का सर्वथा विनाश नहीं होता है. परिणामी वस्तु का कथंचित् उत्पाद, विनाश होता रहता है अतः कूटस्थ नित्यपन का एकान्त मानने वाले सांख्यों के यहां जैसे सर्वथा नित्य पदार्थमें क्रिया नहीं होपाती है उसीके समान क्षणिकपक्षमें भी क्रिया नहीं सम्भवती है, पदार्थों में परिस्पन्द या अपरिस्पन्द स्वरूप क्रिया को माने विना वस्तुत्वकी हानि है, जैसे कि खर विषाण कोई वस्तु नहीं है।

'सत्वमर्थक्रियया व्याप्तं' 'अर्थ-क्रिया क्रमयौगपद्याभ्यां व्याप्ता' अर्थ-क्रियाको करने वाला पदार्थ ही सत् है, प्रत्येक सत् पदार्थ में क्रमसे या युगपत् अर्थक्रिया अवश्य होती रहती है। क्रम और अक्रम की प्रसिद्धि तो परिणाम को धारने वाली वस्तु में होरही सच्ची प्रतीतियों के स्थान को प्राप्त होरही है जो कि किसी भी प्रत्यक्ष, अनुमान, आदि प्रमाण करके बाधित नहीं है। अर्थात्-श्री अकलंक देव का

सिद्धान्त वाक्य है "स्वपरात्मोपादानापोहनव्यवस्थापाद्यं हि वस्तुनो वस्तुत्वं" स्वकीय अंशों को पकड़े रहना और परकीय स्वभावों का परित्याग करते रहना इस व्यवस्था से वस्तु का वस्तुत्व प्राप्त कराया जाता है। श्री माणिक्यनन्दि आचार्य महाराजका सूत्र है कि "पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षण-परिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च., पूर्व आकारों का परित्याग और उत्तर आकारों की प्राप्ति तथा अन्वित ध्रौव्यसे स्थिति इस परिणाम करके अर्थमें अर्थक्रिया होना बन जाता है, अतः परिणाम वस्तुमें अर्थक्रिया या क्रमयौगपद्यकी प्रसिद्धि है.यही प्रमाणों द्वारा प्रतीति होरही है। सर्वथा क्षणिक या सर्वथा नित्य अर्थ में क्रिया नहीं होसकती है।

कथं पुनरेवं सर्वथा क्रिया कालस्योपकारोस्तु यतस्तं गमयेत ? कालमंतरेणानुपपद्यमानत्वात् परिणामवत् । तथाहि—सकृत्सर्वद्रव्यक्रिया बहिरंगसाधारणकारणा, कारणापेक्षकार्यत्वात् परिणामवत् सकृत्सर्वपदार्थगतिस्थित्यवगाहनवद्वा यत्तद्बहिरंगसाधारणकारणं स कालोऽन्यासंभवात् ।

कोई जिज्ञासु प्रश्न करता है कि आप जैनों ने वर्तना' परिणाम, क्रिया, परत्व, अपरत्व इन उपकारों करके काल का अनुमान ज्ञान किया जाना बताया है किन्तु इस प्रकार की क्रिया फिर किस प्रकार काल का उपकार होवे ? जिससे कि क्रिया उस काल को अनुमान द्वारा समझा सके ? इस प्रश्न का समाधान श्री आचार्य महाराज करते हैं कि काल के बिना वह क्रिया का होना किसी भी प्रकार नहीं बन सकता है जैसे कि काल के बिना परिणाम होने की कोई युक्ति नहीं है, अतः अन्यथानुपपत्ति की सामर्थ्य से क्रिया करके काल का अनुमान होजाता है, इसी को अनुमान बनाकर यों स्पष्ट समझ लीजिये कि सम्पूर्ण द्रव्यों की युगपत् होरही क्रिया (पक्ष) बहिरंग किसी साधारण कारण करके की जाती है (साध्यदल) कारणों की अपेक्षा रखने वाली कार्य होने से (हेतु) परिणाम के समान (अन्वय दृष्टान्त) अथवा सम्पूर्ण गतिमान् जीव, पुद्गल पदार्थों की युगपत् होरही गति और सम्पूर्ण स्थितिशील पदार्थों की एक ही बार में होरही स्थिति तथा सम्पूर्ण पदार्थों का एक ही साथ होरहा अवगाह ये क्रियायें जैसे बहिरंग साधारण कारणों की अपेक्षा रखती हैं (अन्य तीन अन्वयदृष्टान्त) जो कोई यहां क्रियामें बहिरंग साधारण कारण है वही काल पदार्थ है अन्य किसी पदार्थ की सम्भावना नहीं है।

अर्थात्-पदार्थों के परिणाम होने में साधारण कारण काल (व्यवहार काल) निर्णीत कर दिया गया है पदार्थों की गति में साधारण कारण धर्म द्रव्य को बता दिया है, पदार्थों की स्थिति में उदासीन निमित्त अधर्म द्रव्य समझाया जा चुका है, आकाश द्रव्य को सब के अवगाह का हेतुपना प्रतीत करा दिया है। इसी प्रकार सभी परिस्पन्द-आत्मक क्रियाओंका बहिरंग कारण काल है। उदासीन कारण तथा च—प्रेरक कारण, निमित्त, उपादान कारण, प्रयोजक कर्ता, साधकतमकरण, अन्तरंग कारण, बहिरंग कारण, इत्यादि अनेक प्रकार कारणों में किसी को निर्बल दूसरे को सबल या किसी को छोटा बड़ा अथवा प्रधान अप्रधान, या मूल्यवान् नहीं कह देना चाहिये देखो पुत्र की उत्पत्ति में माता पिता निमित्त हैं, विद्या पढ़ाने में गुरू जी निमित्त हैं, मोक्ष प्राप्ति में देव, शास्त्र, गुरू भी निमित्त ही हैं, सिद्ध क्षेत्र,जिनालय,जिनबिम्ब ये सब धर्मलाभके निमित्त ही तो हैं। इन सब निमित्तों की हम पूजा करते हैं। उपादान का उतना आदर नहीं है। हां उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणीमें

निज शुद्ध आत्माका ध्यान करनेपर उपादानका आदर बढ़ जाता है। उदासीन कारण रूप वृद्धाके पड़े रहनेसे चोर या कुशील पुरुष घरमें नहीं घुस पाते हैं। अचेतन उपादान कारणोंसे नाना कार्योंको चेतन कर्त्ता बना रहे हैं। यहाँ निमित्त कारण चेतन कर्त्ताओं की अपेक्षा, काठ, कुल्हाड़ी, छैनी आदि का अधिक सम्मान नहीं है, हां सोने के कड़ों को गढ़ते समय, हथौड़ा, चीमटा, आदि निमित्तों से उपादान मानेगये सोने का मूल्य अधिक है, जब कि कांच को काटने वाली हीरा की कनी के मूल्य से कांच का मूल्य अल्प है, मछली को चलाने में उदासीन निमित्त होरहे जलकी सामर्थ्य न्यून नहीं समझी जा सकती है।

उपादान कारण होरहे जीवों की अपेक्षा निमित्त कारण कर्मों की शक्ति प्रबल है तभी तो वे कर्म इस जीव को नाना गतियोंमें नचाते फिरते हैं, हां स्वकीय पुरुषार्थद्वारा कर्मोंका ध्वंस करते समय उपादान की शक्ति बढ़ जाती है। न्यायी राजा, इह लोकभय, पर लोकभय, सभ्यता, ये प्रेरक निमित्त नहीं होते हुये भी अनेक पुरुषों को पापक्रिया करने से बचा लेते हैं, गर्म कील को स्थान दे रहे काठकी अवगाह शक्ति की अपेक्षा सबको युगपत् अवकाश दे रहे आकाश की अवगाह शक्ति बढ़ी चढ़ी है, यहाँ वहाँ फुदक रहे जीव की गति में प्रेरक कारण होरही शक्ति की अपेक्षा स्थिर कालाणु की वह शक्ति प्रबल है जो कि नित्य निगोदिया जीव के व्यवहार राशिमें आगमन का कारण है अतः झट से बिना विचारे ही किसी उदासीन कारण को अप्रधान और प्रेरक या उपादान को प्रधान नहीं कह बैठना चाहिये। कारणोंका अपमान इससे अधिक और क्या होसकता है? पहिले कतिपय दृष्टान्तों में लोहे को अल्प मूल्य और सोने को बहुमूल्य कह दिया गया है, यह कहना भी व्यावहारिक है, कोई लोहा भी सोने से अधिक मूल्य रखता है। अनेक धान्य, वनस्पतिओं को उपजाने वाली मिट्टी की प्रशंसा सोने से कम नहीं है, जल अग्नि, वायु भी बड़े मूल्यवान् पदार्थ हैं। उक्त बातें केवल कारण तत्व की तह पर पहुंचाने के लिये कही गयी थीं वस्तुतः विचारा जाय तो सभी कारण अपनी अपनी योग्यता अनुसार परिपूर्ण सामर्थ्यको रखते हैं, कोई छोटा बड़ा नहीं है। अन्न या जलमें अथवा माता या पितामें किसको छोटा बड़ा कह दिया जाय? कारणों की शक्ति पर किसी प्रकार का पर्यनुयोग नहीं चलाना चाहिये प्रकरण में उदासीन कारण या साधारण कारणको छोटा मत समझो, अपेक्षा वश सभी कारण उच्च आसन पर विराजमान किये जा सकते हैं। यहां तक क्रियामें साधारण कारण होरहे काल की अनुमान द्वारा सिद्धि कर दी गयी है।

के पुनः परत्वापरत्वे ?

वर्तना, परिणाम, और क्रिया का विवेचन समझ लिया है। अब महाराज यह बताओ कि सूत्र में कहे गये परत्व और अपरत्व भला क्या पदार्थ हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार परत्व और अपरत्व का लक्षण करते हैं—

विप्रकृष्टेतरदेशापेक्षाभ्यां प्रशस्तेतरापेक्षाभ्यां च परत्वापरत्वाभ्यामनेकांतप्रकरणात् अपरदिक्संबंधिनि निवेद्य वृद्धलुब्धके परत्वप्रत्ययकारणं परत्वं, परदिक्संबंधिनि च प्रशस्ते कुमारतपस्विन्यपरत्वप्रत्ययहेतुरपरत्वं न तद्धि गुणकृतं नचाहेतुकमिति तद्वतुना विशिष्टेन भवितव्यं स नः काल इति।

दूरदेश-वर्ती और उससे न्यारे निकटदेश-वर्ती पदार्थों की अपेक्षासे होनेवाले तथा प्रशंसनीय और अप्रशंसनीय पदार्थोंकी अपेक्षाओं करके होने वाले दैशिक या गुणकृत परत्व, अपरत्व दोनों करके व्यभिचार हो जानेका प्रकरण आता है। अर्थात्-कालिक परत्वापरत्वके प्रकरणमें देश, दिशा या गुण, दोषकी अपेक्षासे होरहे परत्व,अपरत्वोंमें वैपरीत्य होजाता है । देखिये निकट देश-वर्त्ती अपर दिशाका सम्बन्ध रखने वाले अप्रशस्त (चाण्डाल) लोभी वृद्ध मनुष्य में परत्व (ज्येष्ठत्व) ज्ञान का कारण परत्व स्वभाव है। तथा दूर देश-वर्ती पर दिशाका सम्बन्ध कर रहे प्रशस्त कुमार अवस्थावाले तपस्वी में अपरत्व ज्ञान का कारण अपरत्व धर्म विद्यमान है, वह बुड्ढे पुरुष में वर्त रहा परत्व और कुमार मुनि में पाया जा रहा अपरत्व धर्म जब कि गुणों के द्वारा किया गया तो नहीं है यानी गुण के द्वारा किया गया होता तो युवा तपस्वी को पर कहना चाहिये था और निकृष्ट लोभी वृद्ध को अपर कहा जा सकता था। इसी प्रकार वह परत्व, अपरत्व दिशाकृत भी नहीं हैं। दिशा कृत होते तो निकट देश में वर्त रहे बुड्ढे को अपर कहना चाहिये और बुड्ढे की अपेक्षा बहुत दूर देश में स्थित होरहे कुमार तपस्वी को पर कहना चाहिये था किन्तु यहां उल्टी ही, दशा है वृद्ध को पर कहा जा रहा है और युवा साधुको अपर कहा जा रहा है। उक्त परत्व, अपरत्व स्वभाव विचारे हेतु के बिना ही किये जा रहे तो नहीं माने जा सकते हैं, क्योंकि जो पहिले नहीं होता हुआ पुन: उपजता है वह अवश्य कारणों से जन्य है। इस कारण उन परत्व, अपरत्वों का कारण दिशा या देश और गुण या दोष तो नहीं है। उनका कारण इन दिशा या गुण के अतिरिक्त कोई विशिष्ट पदार्थ होना चाहिये, बस वही पदार्थ हम स्याद्वादियों के यहां काल माना गया है, इस प्रकार काल की सिद्धि हो जाती है।

काले तर्हि दिग्भेदगुणदोषानपेक्षे परत्वापरत्वे परः कालोऽपरः काल इति प्रत्ययविशेषनिमित्ते किं कृते स्यातामिति चेत्, अध्यारोपकृते गौणे इति केचित्, स्वहेतुके मुख्ये एव स्वान्यप्रत्ययसमधिगमत्वादित्यन्ये।

यहां किसी पण्डित का आक्षेप है कि ज्येष्ठ, कनिष्ठ, जीव आदि पदार्थों में परत्व, अपरत्व, यदि काल कृत हैं तो फिर काल में "यह सौ वर्ष का काल पर है, यह दो वर्ष का काल अपर है" इस प्रकार ज्ञान विशेष कराने के निमित्त होरहे परत्व, अपरत्व भला किस पदार्थ के द्वारा किये गये होंगे ? बताओ, दिशाओं के भेद या गुण दोषों की अपेक्षा से तो काल में परत्व अपरत्व नहीं किये जा सकते हैं, कारण कि व्यवहार काल में दिशा भेद का अथवा गुण दोषों का प्रकरण ही कोई नहीं है, यदि अन्य कालकी अपेक्षा इस कालमें परत्व अपरत्व किये जायंगे तो उसमें भी परत्व,अपरत्वको करने के लिये अन्य कालोंकी अपेक्षाको आकांक्षा बढ़ती जा रही होने से अनवस्था दोष आजावेगा इस आक्षेप का उत्तर कोई उतावले पण्डित झट यों दे बैठते हैं, कि काल में परत्व, अपरत्व तो केवल आरोप किये गये हैं। मूर्त द्रव्यों में पाये जा रहे परत्व, अपरत्व के समान वे मुख्य नहीं हैं, गौण हैं। जैसे कि जपाकुसुम की लालिमा का आरोप स्फटिक में कर लिया जाता है। इस समाधान में अस्वरस है, अत: ग्रन्थकार दूसरे अन्य विद्वान् करके इसको योग्य समाधान कराये देते हैं, कि व्यवहार काल में होरहे वे परत्व अपरत्व भी मुख्य ही हैं, और उनका कारण वह काल स्वयं है। क्योंकि स्व और अन्य के परत्व, अपरत्व, का कारण होरहेपन करके वह काल भले प्रकार जाना जा रहा है, आकाश भी तो स्व और पर को अवगाह देता है, सर्वज्ञका ज्ञान या सभी ज्ञान स्व-पर-ज्ञायक हैं, सूर्य स्व-पर-प्रकाशक है इत्यादि दृष्टान्तों अनुसार काल का भी स्व और पर के परत्व, अपरत्वों, का हेतुपना निर्णीत

होजाता है, इस अन्य विद्वानों के समाधान में ग्रन्थकार की भी शुभ सम्मति है।

न चैवं सर्वद्रव्येषु स्वहेतुके परत्वापरत्वे प्रसज्येते, निम्बादौ स्वहेतुकस्य तिक्तत्वादे-र्दर्शनादोदनादावपि तस्य स्वहेतुकत्वप्रसंगात् निम्बादिसंस्कारानपेक्षत्वापत्तेः।

यदि यहां कोई यों कहे कि जैसे काल में परत्व अपरत्व स्वयं कृत हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण द्रव्यों में भी स्वयं निज को हेतु मान कर परत्व अपरत्व होजायंगे, व्यर्थ काल को मानने की आवश्यकता नहीं। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार प्रसंग नहीं उठाया जा सकता है, क्योंकि यों तो नीम, नीबू मिरच, लवण आदि में स्वयं को ही हेतु मान कर उपज रहे तिक्तपन (कडुआ) कटुपन (चरपरा) नुनखरा आदि रसों का देखना होने से भात, दाल, साग, आदि में भी प्राप्त हुये उस कडुआपन आदि को स्व यानी भात आदि को ही हेतु मानकर उपज जानेका प्रसंग आवेगा, ऐसी दशा में भात आदिको नीम, जीरा, मिरच, निबुआ आदि के संस्कार (छोंक) की अपेक्षा नहीं रखने की आपत्ति आवेगी जो किसी को इष्ट नहीं है, दीपककी स्व पर प्रकाशकत्व धर्म मिट्टीके घड़ेमें नहीं धरा जा सकता है।

व्यवहारकालस्य परिणामक्रियापरत्वापरत्वैरनुमेयत्वं च न मुख्यकालापेक्षया बाध-मनवद्यं। द्विविधो ह्यत्र कालो मुख्यो व्यवहाररूपश्च तत्र मुख्यो वर्तनानुमेयः, परस्तु परि-णामाद्यनुमेयः प्रतिपादितः सूत्रेऽन्यथा परिणामादिग्रहणानर्थक्यप्रसंगात् वर्तनाग्रहणेनैव पर्या-प्तत्वात्।

एक बात यह भी है कि वर्तना करके मुख्य काल का अनुमान करा दिया गया था अब परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व करके व्यवहार कालका अनुमान कर लेना योग्य है, अतः मुख्य काल की अपेक्षा करके उठाया गया उक्त तर्क (कटाक्ष) निर्दोष नहीं है। देखो यहां प्रकरण में एक मुख्य दूसरा व्यवहार रूप यों काल दो प्रकारका माना गया है। उन दो में मुख्य काल आचार्य करके वर्तना के द्वारा अनुमान करने योग्य बताया जा चुका है, दूसरा व्यवहार काल तो परिणाम, क्रिया आदि करके अनुमान कर लेने योग्य है, यह सूत्र में समझा दिया गया है। अन्यथा यानी सूत्रकार द्वारा दो मुख्य और व्यवहार काल का प्रतिपादन किया जाना यदि नहीं माना जायगा तो सूत्र में परिणाम, क्रिया, आदि के ग्रहण के व्यर्थपन का प्रसंग होगा क्योंकि निश्चय काल की सिद्धि के लिये तो केवल सूत्र में वर्तना के ग्रहण करके ही परिपूर्ण कार्य का निर्वाह होजाता। अर्थात्—परिणाम आदिक व्यर्थ होकर ज्ञापन करते हैं, कि मुख्य काल से अतिरिक्त व्यवहार काल भी है। द्रव्य संग्रह में कहा है कि " दव्वपरिवट्टरूवो जो सो कालो हवेइ ववहारो। परिणामादीलक्खो वट्टणलक्खोय परमट्ठो " शुद्ध द्रव्य मानेगये मुख्य काल में तो परत्व, अपरत्व, प्रत्यय उपजते ही नहीं हैं। वैशेषिकों ने भी मूर्त द्रव्यों में ही दैशिक या कालिक परत्व, अपरत्व स्वीकार किये हैं। फिर भी कोई यदि सुदर्शन मेरु की चोटी में बैठी हुई कालाणु की अपेक्षा सर्वार्थसिद्धि में धरी हुई कालाणु को पर कहे या सौ वर्ष पहिले का कालाणु की पर्याय को दश वर्ष पूर्व की कालाणु अपर पर्याय अपेक्षा पर कहे तो हमको काल में भी दिशा या व्यवहार काल करके किये गये परत्व, अपरत्व, मानने में कोई आपत्ति नहीं है, हां व्यवहार-कालमें ही यदि परत्व अपरत्व धरा जाय तो वह स्वयं व्यवहार काल करके सम्पादित होजाता है जैसे कि प्रभावशाली धार्मिक पुरुष स्वयं धर्मको बढ़ाता हुआ दूसरे भद्र जीवोंको भी समीचीन धर्मसे संस्कारित कर देता है, अतः व्यवहार काल की पुष्टि, करते समय मुख्य काल की अपेक्षा करके उठाया गया कुतर्क अच्छा नहीं है।

कः पुनरसौ मुख्यः कालो नाम ?

कोई जिज्ञासु पूंछता है कि फिर भला वह मुख्य काल क्या पदार्थ सम्भवता है ? समझाओ तो सही। ऐसी जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार वार्तिकों द्वारा समाधान करते हैं।

लोकाकाशप्रभेदेषु कृत्स्नेष्वेकैकवृत्तितः।
प्रतिप्रदेशमन्योन्यमबद्धाः परमाणवः ॥४४॥
मुख्योपचारभेदैस्तेऽवयवैः परिवर्जिताः।
निरंशा निष्क्रिया यस्मादवस्थानात्स्वदेशवत् ॥४५॥
अमूर्तास्तद्वदेवेष्टाः स्पर्शादिरहितत्वतः।
कालाख्या मुख्यतो येऽस्तिकायेभ्योऽन्ये प्रकाशिताः ॥४६॥

अखण्ड लोकाकाश के परमाणु बराबर कल्पित किये गये सम्पूर्ण प्रभेदों पर प्रत्येक प्रदेश में एक एक कालद्रव्य की वृत्ति अनुसार परस्पर में एक दूसरे से नहीं बंध रहीं काल परमाणुयें हैं, भले ही निरन्तराल ठसाठस भर रही होने के कारण उन का परस्परमें संयोग बना रहे। वे कालाणुयें मुख्य या उपचार इन भेदों वाले अवयवों करके रहित हैं। अर्थात्—पुद्गल परमाणु जैसे उपचरित अवयवों करके सहित हैं, और घट, पट, आदि स्कन्ध तो मुख्य अवयवों करके सहित हैं ही वैसे अवयवों से युक्त कालाणु नहीं हैं, कालाणुयें निरवयव हैं, अत एव अंशों यानी अवयवों करके रहित होरहीं कालाणुयें निरंश कही जाती हैं, कालाणुयें देश से देशान्तर होना स्वरूप क्रिया से रहित हैं, जिस कारण आकाश प्रदेशों के समान अवस्थित होने से वे क्रियारहित होरहीं हैं। अर्थात्—आकाश के प्रदेश जैसे जहां के तहां स्थित हैं, वैसे ही कालाणुयें अवस्थित हैं, अथवा आकाश द्रव्य जैसे अपनी एक संख्या को नहीं छोड़ता है या आकाश के प्रदेश अपना नियत होरही जिनहष्ट मध्यम अनन्तानन्त-संख्याका न्यून, अधिक-पना नहीं करते हुये उतने के उतने ही अवस्थित रहते हैं, उसी प्रकार कालाणुयें भी अपनी नियत होरही मध्यम असंख्यातासंख्यात यह इतनी परिमाणवाली संख्या का अतिक्रमण नहीं करती हैं।

तथा उन्हीं आकाश द्रव्य या आकाश प्रदेशों के समान वे कालाणुयें भी अमूर्त इष्ट की गयी हैं, क्योंकि वे स्पर्श रस, गन्ध आदिसे रहित हो रही हैं हां कालाणुओंमें ठीक घन समचतुरस्र छह पैलू बरफीके आकार वाली पुद्गल परमाणु के समान आकृति अवश्य है। जगत्में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसकी कुछ न कुछ लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई नहीं होय, सम्पूर्ण द्रव्यों में पाये जा रहे प्रदेशवत्त्वगुण के विकार होरही आकृति का होना अनिवार्य है, इस प्रकार सूत्रकार ने धर्म, अधर्म आकाश, द्रव्यों के लिये "नित्यावस्थितान्यरूपाणि" "निष्क्रियाणि च" सूत्रों करके जो विधान किया है वह विधान ग्रन्थकार ने काल द्रव्य में भी व्यवस्थित कर दिया है, हां "अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः" इस सूत्र द्वारा धर्म आदिकों में जो प्रदेश प्रचय होने से कायपन की विधि की है, वह सर्वदा परमाणु के

बराबर होरहे काल द्रव्य में लागू नहीं है, कारण कि जो मुख्य रूप से काल नामक द्रव्य हैं, वे श्रुत ज्ञान में पांच अस्तिकायों से न्यारे प्रकाशित किये गये हैं, काल द्रव्य में प्रदेशों का संचय कथमपि नहीं है।

व्यवहारात्मकः कालः परिणामादिलक्षणः।
द्रव्यवर्तनया लब्धकालाख्यस्तु ततोऽपरः ॥४७॥

मुख्य काल और अन्य पांचों द्रव्यों में पाये जा रहे अनेक परिणाम जिसके ज्ञापक चिन्ह हैं वह व्यवहार-आत्मक काल है। तथा जीव पुद्गलों में पायी जा रही परिस्पन्दआत्मक क्रिया भी जिसका ज्ञापक लक्षण है वह व्यवहार काल है एवं जीव पुद्गलोंके विवर्तोंमें पाये जारहे कालिक परत्व अपरत्व भी जैसे व्यवहारके ज्ञप्तिकारक लिंग हैं। अर्थात्-धर्म,अधर्म,आकाश काल इन द्रव्यों का अनादि अनन्त अवस्थान का कोई छोटा या बड़ा नहीं है अतः इनमें कालिक परत्व,अपरत्व नहीं माना जा सकता है, हां धर्म आदिकों के पर द्रव्य को निमित्त मानकर हुये कतिपय स्वभावों में परत्व अपरत्व माना जा सकता है जैसे कि श्री ऋषभदेव भगवान् की मोक्ष के प्रति गतिहेतुत्वगुण के स्वभाव की अपेक्षा भगवान् श्री महावीर स्वामी की मोक्षगमनहेतुत्व नामक धर्म द्रव्य का स्वभाव अपर है एक वर्ष पूर्व नित्य निगोद से निकलने वाले व्यवहार राशि क जीव की मन्द कषाय परिणति के सम्पादक कालाणु के तत्कालीन उपजे स्वभाव की अपेक्षा सौ वर्ष पहिले नित्य निगोद से निकालने वाली किसी जीव की, परिणति का सम्पादक हुआ सौ वर्ष पहिला कालाणु का स्वभाव पर है।

भगवान् शान्तिनाथ को सिद्धक्षेत्र में अवगाह देने वाले आकाश के अवगाहकत्व स्वभाव की अपेक्षा श्री नेमिनाथ को सिद्धक्षेत्र में अवस्थान देने वाला आकाश के अवगाहगुण का स्वभाव अपर (पुराना) था शुद्ध द्रव्यों में भी भिन्न भिन्न समयों में होने वालीं अनेक द्रव्यों की परिणतियों के सम्पादक अनन्तानन्त उत्पाद विनाश-शाली स्वभाव माने जाते हैं उस द्रव्य के आत्मभूत होरहे विशेष स्वभाव को माने विना उस द्रव्यके द्वारा किसी भी विशेष कार्यका सम्पादन नहीं हो सकता है। दर्पण में हजारों,लाखों पदार्थों का प्रतिविम्ब पड़ता है इसका रहस्य भी यह है कि पुद्गल-निर्मित दर्पण नामक अशुद्ध द्रव्य के स्वच्छत्व या प्रतिविम्बकत्व नामक पर्यायशक्तिस्वरूप गुण के अनेक उत्पाद विनाशशाली स्वभाव हैं जो कि प्रतिबिम्ब्य पदार्थों के योग,वियोग-अनुसार उपजते,विनशते,रहते हैं।

एक युवा मनुष्य अपने मुख करके पान, इलायची, सुपारी, रबड़ी,कड़ी रोटी,नरमपूरी,हलुआ भुंजेचना,दूध,मलाई,रसगुल्ला,इमर्ती,पेड़ा,सकलपारे,चिरवा,ककड़ी,भुरभुरो गजक,आदि को खाता है। यहां प्रत्येक के खाने में मुख की क्रिया और जबड़ों का प्रयत्न न्यारा न्यारा है जिस प्रयत्न से हलुआ खाया जाता है उस प्रयत्न से चने नहीं चबे जा सकते हैं तथा जो देवदत्त वीस सेर वजन ले जाता है वह एक सेर बोझ को भी ढो लेता है किन्तु वीस सेर,पन्द्रह सेर,दस सेर,पांच सेर, बोझा ढोने के प्रयत्न न्यारे न्यारे हैं, पांच सेर को ढोनेके लिये किये गये पुरुषार्थ करके वीस सेर बोझा नहीं लादा जा सकता है यहां तक कि सूक्ष्म दृष्टि से विचारने पर सेर,छटांक,तोला,माशा,रत्ती,चावल,पोस्त, बालाग्र, तक के ढोने में न्यारा न्यारा पुरुषार्थ तारतम्य मुद्रा से मानना पड़ेगा। कुर्सी, मूढा, खाट, गदेला, तख्त, भूमि चौकी,पलंग,गाड़ी,हाथी,घोड़ा,ऊंट,खच्चर,टट्टू,अरबी घोड़ा आदि पर बैठने के स्वभाव न्यारे न्यारे हैं सीधे साधे टट्टू पर ही धरे रहनेवाले पण्डितजी महाराज तुर्की घोड़ा या ऊंट पर नहीं बैठ सकते हैं क्योंकि उनके पास वैसे उसके उपयोगी स्वभाव या पुरुषार्थ नहीं हैं।

बात यह है कि अल्प से अल्प कार्य के लिये भी कारण में न्यारा न्यारा स्वभाव मानना पड़ता है चाहे वह कारण शुद्ध द्रव्य हो अथवा अशुद्ध द्रव्य होय। पर निमित्त-जन्य ऐसे स्वभावोंके उपजने या विनशजाने से शुद्ध द्रव्य के शरीर में कोई क्षोभ नहीं पहुँचता है जैसे कि दर्पण में पवित्र, अपवित्र, नरम कठोर, भक्ष्य अभक्ष्य, साधु, वेश्या, अग्नि जल, गोप्य अगोप्य, चल स्थिर, शास्त्र शस्त्र, आदि असंख्य पदार्थों का प्रतिबिम्ब के पड़ जाने से दर्पण के निज डील में कोई क्षति नहीं आजाती है हां दर्पण के स्वभावों का परिवर्तन अवश्य मानना पड़ेगा। एक छींके पर दस सेर, पांच सेर, एक तोला, आदि बोझके लटकाने की अवस्थाओं में उसकी रस्सी की परिणति न्यारी न्यारी अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी इसीप्रकार सभी द्रव्यों में भिन्न भिन्न छोटे बड़े कार्यों की अपेक्षा उतने अनेक स्वभाव मानने पड़ते हैं, यह जैन न्याय का बहुत अच्छा परिष्कृत सिद्धान्त है।

इस प्रकार परिणाम आदि ज्ञापक लक्षणों करके अनुमित हो रहा व्यवहार-आत्मक काल है और द्रव्य की वर्तना करके जिसने काल इस संज्ञा को प्राप्त किया है वह मुख्य काल तो उस व्यवहार काल से निराला है। अर्थात्—द्रव्यों के पर्यायों की वर्तना करके मुख्य काल का [illegible] कर लिया जाय और परिणाम आदि करके व्यवहार काल की अनुमिति कर ली जाय जगत् का छोटे से छोटा भी कोई पूरा कार्य एक समयसे कमती कालमें नहीं हो पाता है, उस अविभागी कालांश समय के समुदायों की या सूर्योदय आदि की अपेक्षा अनेक व्यवहार काल मान लिये जाते हैं। द्रव्य के परिवर्तन रूप व्यवहार काल है।

कुतश्चित् परिच्छिन्नो ऽन्यपरिच्छेदनकारणम्।
प्रस्थादिवत्प्रपत्तव्योन्योन्यापेक्षभेदभृत् ॥४८॥
ततस्त्रैविध्यसिद्धिश्च तस्यभूतादिभेदतः।
कथंचिन्नाविरुद्धा स्यात् व्यवहारानुरोधतः ॥४९॥

वह व्यवहार काल किसी एक पदार्थ करके परिच्छिन्न (नाप) कर लिया जाता है, और अन्य की परिच्छित्ति का कारण होजाता है, प्रस्थ अढइया, धरा; आदि के समान समझ लेना चाहिये। अर्थात्—जैसे दक्षिण देश में आधा सेर, सेर, ढाई सेर आदि को नापने के लिये बर्तन बने हुये हैं, वे पहिले दूसरे नापने वाले पदार्थ करके ठीक मर्यादित कर दिये जाते हैं और पीछे अन्य गेंहू, चावल, आदिसे नापने या तोलने के कारण होजाते हैं, उत्तर प्रान्त में भी दूध का पऊआ, अधसेरा, सेर, आदि के नियत बर्तनों करके परिच्छेद कर लिया जाता है अथवा लोहे, पथरा, पीतल, के बांट भी दूसरे बांटों से तोल नाप कर बना लिये जाते हैं, पुनः वे सेर, दुसेरी, मनौटा आदि के बांट इतर, चना, गेंहू, घृत, खांड, सुपारी आदिको तोलने के कारण होजाते हैं, इसी प्रकार गायों के दोहने के अवसर को गोदोहन वेला कह दिया जाता है, गायें धूल उड़ाती हुयीं चरागाह से जब घर को लौटती हैं, इस क्रिया अनुसार गो धूल समय नियत करलिया जाता है. कलेऊ करने की क्रियासे कलेऊ का समय निर्धारित होजाता है, कलेऊ के समय शुभ गांव को जाना, यों उस व्यवहार काल द्वारा गांव को जाने की परिच्छित्ति करा दी जाती है।

परमाणु की एक प्रदेश से दूसरे आकाश प्रदेश तक होने वाली मन्दगति अनुसार सबसे छोटे कालांश होरहे समय को नाप लिया जाता है, जगत् का कोई भी पूरा कार्य एक समय से कमती काल में नहीं होसकता है। यह व्यवहार काल परस्पर की अपेक्षा से होरहे प्रभेदों को धार रहा है यानी भविष्यकाल कुछ देर पीछे वर्तमान होजाता है, वर्तमान काल थोड़ी देर पश्चात् भूत होजाता है, भूतकाल चिरभूत होजाता है, तथा भूत को पूर्व-वर्ती मान कर काल में वर्तमानपन का व्यपदेश है, और वर्तमान को पीछे में डाल कर आगे पीछे के कालों को भूत, भविष्य-पन का व्यवहार कर दिया जाता है, तिस कारण परस्परापेक्ष होने से उस काल से भूत, वर्तमान आदि भेदों करके त्रिविधपन की सिद्धि होजाती है- लौकिक व्यवहारों के अनुसार काल में किसी न किसी अपेक्षा से होरही भूत, वर्तमान भविष्यपन की व्यवस्था अविरुद्ध है, कोई भी वादी, प्रतिवादी इसका विरोधी नहीं है जो भी कोई पण्डित "वर्तमानाभाव-पततः पतित-पतितव्य-कालोपपत्तेः ॥३७॥" तयोरप्यभावो वर्तमानाभावे-तदपेक्षत्वात् ॥ ३८ ॥" नातीतानागतयोरितरेतरापेक्षासिद्धिः ॥ ३९ ॥" गौतम न्यायसूत्र में यों वर्तमान काल का खण्डन मण्डन करते हैं, उन सब को व्यवहार के अनुरोध से तीनों काल मानने पड़ते हैं।

यथा प्रतितरु प्राप्तप्राप्नुवत्प्राप्स्यदुच्यते ।
तरुपंक्तिं क्रमादश्वप्रभृत्यनुसरन् मतं ॥५०॥
तथावस्थितकालाणूनां जीवाद्यनुसंगमात् ।
भूतं स्याद्वर्तमानं च भविष्यच्चाप्यपेक्षया ॥५१॥

काल के त्रित्व को आचार्य दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करते हैं, कि बाग में गमन कर रहे घोड़ा, देवदत्त, आदि द्रव्य जिस प्रकार वृक्षों की पंक्ति का क्रम से अनुसरण कर रहे सन्ते एक एक वृक्ष के प्रति प्राप्त होचुके, प्राप्त होरहे, प्राप्त होवेंगे, यों कहे जा रहे माने गये हैं, तिस प्रकार जहां तहां अवस्थित होरहे कालाणुओं का अनुगमन करने से जीव आदि द्रव्य भी अपेक्षा करके भूत और वर्तमान तथा भविष्य कह दिये जाते हैं।

भूतादिव्यवहारोतः काले स्यादुपचारतः ।
परमार्थात्मनि मुख्यस्तु स स्यात् सांव्यवहारिके ॥५२॥

इस कारण यानी क्रियावान् द्रव्यों की अपेक्षा होने से अथवा व्यवहार काल के द्वारा किया गया होने से परमार्थ स्वरूप मुख्य काल में भूत आदि का व्यवहार तो उपचार से ही कहा गया माना जाता है। अर्थात्—निकट-वर्ती विवक्षित द्रव्य की वर्तना का अनुभव कर चुकी कालाणु भूत कही जाती है, और उस द्रव्य को वर्ता रही कालाणु वर्तमान मानी जाती है, तथा भविष्य में उस द्रव्य की वर्तना का सम्बन्ध करने वाली कालाणु भी भविष्य कह दी जाती है। हां समीचीन व्यवहार काल में, तो वह भूत, वर्तमान, आदि का व्यपदेश मुख्य ही होगा जैसे "यष्टिः पुरुषः,, यहां लकड़ी में छड़ीपन का व्यवहार मुख्य है, और पुरुष में लकड़ीपनका व्यवहार लाक्षणिक होरहा गौण है, उसी प्रकार काल परमाणु में भूत आदि व्यवहार गौण है, हां व्यवहारकाल में भूत, वर्तमान, भविष्यपन मुख्य हैं।

एवं प्रतिक्षणादित्यगतिप्रचयभेदतः ।
समयावलिकोच्छ्वासप्राणस्तोकलवात्मकः ॥५३॥
नालिकादिश्च विख्यातः कालोनेकविधः सतां ।
मुख्यकालाविनाभूतां कालाख्यां प्रतिपद्यते ॥५४॥

इस प्रकार ढाई द्वीप में प्रति क्षण होरही सूर्य की गति के समुदाय के भेद प्रभेदों से समय, आवलि, उच्छ्वास, प्राण, स्तोक, लव स्वरूप और नाली, मुहूर्त, दिन, पक्ष, मास, ऋतु, वर्ष, पूर्व आदिक अनेक प्रकार व्यवहार काल सज्जन विद्वानों के यहाँ प्रसिद्ध होरहा है, जो कि मुख्य काल के बिना नहीं होने वाले व्यवहार काल इस संज्ञा को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् मन्दगति से परमाणु का दूसरे प्रदेशपर गमन जितने काल में हो वह एक समय नामका व्यवहार काल है।

जघन्य युक्तासंख्यात प्रमाण समयों की पिण्डित काल आवलि है, संख्यात आवलियों का समूह उच्छ्वास काल है, नीरोग पुरुष का एक बार में श्वास चलना या नाड़ी की गति होना उच्छ्वास प्राण कहा जाता है, सात उच्छ्वास काल का समुदाय एक स्तोक होता है सात स्तोक काल का एक लव होता है, साढ़े अड़तीस या साढे सैंतीस लव कालका संघात एक नाली यानी घड़ी है, दो घड़ीका एक मुहूर्त होता है, तीसमुहूर्तका एक दिन रात, और पन्द्रह दिन रात का एक पक्ष दो पक्षका एक मास, दो मास की एक ऋतु, और तीन ऋतु का एक अयन होता है, दो अयन काल का एक वर्ष होता है, चौरासी लाख वर्षों का एक पूर्वाङ्ग होता है, चौरासी लाख पूर्वाङ्गों का एक पूर्व होता है, अथवा सात नील पांच खर्व साठ अरब ७०५६०००००००००० वर्षों का एक पूर्व होता है, असंख्याते पूर्वों का एक उद्धार पल्य होता है, दस कोटाकोटि उद्धार पल्यों का एक उद्धार सागर होता है असंख्याते उद्धार सागरों का एक अद्धासागर होता है, बीस कोटाकोटी अद्धासागरों का एक कल्प काल होता है, असंख्यात कल्प कालों का एक सूच्यंगुल काल होता है।

यानी एक प्रदेश लम्बे चौड़े और आठ पड़े जौ प्रमाण उत्सेधांगुल परिमित ऊंचे आकाश में परमाणु बरोबर उतने प्रदेश हैं, जितने कि असंख्याते कल्पकालों के समय हैं यों अनेक प्रकार व्यवहार काल सज्जनों के यहां मान्य है। श्वेताम्बर भाई मुख्य काल को नहीं मान कर केवल व्यवहार काल को मान बैठे हैं, वे उचित मार्ग पर नहीं चल रहे हैं, व्यवहार काल मुख्य का अविनाभावी है जैसे कि देवदत्त में उपचार से आरोपा गया सिंहपना क्वचित् मुख्य सिंह को माने बिना नहीं घटित होपाता है।

परापरचिरक्षिप्रक्रमाक्रमधियामपि ।
हेतुः स एव सर्वत्र वस्तुतो गुणतः स्मृतः ॥५५॥

किसी बुड्ढे में परपने की बुद्धि, बालक में अपरपने की कनिष्ठ बुद्धि, देरी से किये गये कार्य में चिरपने की बुद्धि, शीघ्र किये गये कार्य में शीघ्रता का ज्ञान, इसी प्रकार क्रम से होरहा अक्रम से होरहा इत्यादि ज्ञानों का भी बहिरंग कारण प्रधानतया वह व्यवहार-काल ही सर्वत्र माना गया

है । हां वास्तविक मुख्य कालको भी गौण रूप से परापर आदि बुद्धियों का कारण आचार्य परिपाटी अनुसार स्मरण किया गया है । अर्थात्-जहां व्यवहारकाल प्रधान कारण है, वहां भी गौण रूप से मुख्य काल कारण होरहा है. वैशेषिकों ने भी "अपरस्मिन्नपरं युगपत् चिरं क्षिप्रमिति काल-लिङ्गानि,, ॥६॥ इस कणाद सूत्र द्वारा काल की ज्ञप्ति करायी है ।

क्रियैव काल इत्येतदनेनैवापसारितं ।
वर्तनानुमितः कालः सिद्धो हि परमार्थतः ॥५६॥
धर्मादिवर्गवत्कार्यविशेषव्यवसायतः ।
बाधकाभावतश्चापि सर्वथा तत्र तत्त्वतः ॥५७॥

कोई पण्डित कह रहे हैं कि काल केवल क्रिया स्वरूप ही है परमाणु एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर मन्दगति अनुसार चलती है वह क्रिया समय कही जाती है, प्रातः कालसे सायकाल तक सूर्यका भ्रमण तो दिवस माना जाता है, गोदोहन क्रिया तो गोदोहन वेलासे प्रसिद्ध ही है । ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार किसी का कथन तो इस उक्त कथन करके ही दूर फेंक दिया गया है जब कि वर्तना करके अनुमान किये जा चुके मुख्य रूप से काल द्रव्य को सिद्ध कर दिया है जैसे कि गति,स्थिति,आदि कार्य-विशेषों का निर्णय होजाने से तथा सभी प्रकारों करके वास्तविक रूप से उन धर्मादिकों में (के) बाधक प्रमाणों का अभाव हो जाने से भी धर्म आदि द्रव्यों के समूह को सिद्ध कर दिया गया है । अर्थात्-धर्म आदि करके हुये गति आदि कार्यों के समान काल द्रव्य करके भी वर्तना नामक काय हो रहा है और "असम्भवद्बाधकत्वात् सत्वसिद्धिः,, काल द्रव्य का कोई बाधक भी नहीं है ।

सांप्रतं सर्वेषां धर्मादीनामनुमेयार्थानामानुमानिकी प्रतिपत्तिः सूत्रसामर्थ्यादुपजाता प्रत्यक्षार्थप्रतीतिवन्न बाध्यत इत्युपसंहरन्नाह ।

जिस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण से जाने हुये घट आदि अर्थों की प्रतीति का बाधक कोई नहीं है उसी प्रकार "गतिस्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः" इस सूत्र से प्रारम्भकर "वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य" यहां तक के सूत्रों की सामर्थ्य से अनुमान करने योग्य धर्म,अधर्म आदि सम्पूर्ण पदार्थों की अनुमान प्रमाण से होने वाली प्रतिपत्ति उपज चुकी भी किसी प्रमाण से बाधी नहीं जाती है । इस अवसर पर इसी बात के प्रकरणको संकोचते हुये ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिकको कहते हैं ।

एवं सर्वानुमेयार्थप्रतिपत्तिर्न बाध्यते ।
सूत्रसामर्थ्यतो जाता प्रत्यक्षार्थप्रतीतिवत् । ॥५८॥

यद्यपि धर्म,अधर्म,आकाश और कालाणुयें अत्यन्त परोक्ष हैं, हां कितने ही पुद्गलोंका प्रत्यक्ष होता है फिर भी पुद्गल का बहुभाग अस्मदादिकों को परोक्ष है, स्वयं अपने जीवका प्रत्यक्ष भले ही होजाय किन्तु सामान्य जीवों का सम्पूर्ण जीवों का प्रत्यक्ष होजाना अलीक है, हां बोलना,चेष्टा, आदि से कतिपय जीवों का अनुमान किया जा सकता है । यह अच्छी बात है कि श्रुतज्ञानसे सम्पूर्ण द्रव्यों की

प्रतिपत्ति हो जाती है तथापि प्रकाण्ड विद्वान् श्री उमास्वामी महाराज के इन सूत्रों की सामर्थ्य से अनुमान करने योग्य सम्पूर्ण छहों द्रव्यों की इस प्रकार होचुकी प्रतिपत्ति तो किसी भी प्रमाण करके बाधी नहीं जाती है जैसे कि हथेली पर रखे हुये आमलेके समान प्रत्यक्ष किये जारहे पदार्थोंको प्रतीति निर्बाध है। अर्थात्-सूत्रकार महाराज ने बड़ी विद्वत्ता के साथ ज्ञापकलिंगों करके अतीव परोक्ष धर्मादिकोंका निर्बाध अनुमान करा दिया है। आस्तिक पुरुष थोड़ासाभी विचार करेंगे तो कुशलता पूर्वक वे धर्मादि द्रव्यों को बाधारहित समझ जायगे।

यों स्थूल बुद्धि वाले जीव तो प्रत्यक्ष किये जा चुके पदार्थों का ही अपलाप कर दें तो कोई क्या कर सकता है? शरीर में रक्त को सदा गतिमान् रखने वाली शक्ति अवश्य माननी पड़ेगी। हड्डी, मांस,आदिको स्थिर रखने वाले प्रयत्न भी स्वीकार करने पड़ते हैं। भोजन,पान,वायु,आदिको अवगाह देने वाले कारण भी शरीर में विद्यमान हैं, पुद्गल पिण्ड-आत्मक तो शरीर है ही। जीवित शरीर में आत्म-द्रव्य को सभी इष्ट कर लेते हैं, अन्न आदि को पचाने या रस आदि को यहां वहां योग्य अवयवों में पहुंचाने अथवा अवयवों को जीर्ण कराने वाले पदार्थ भी इस शरीर में पाये जाते हैं। इसी प्रकार लोक में छहों द्रव्य भरे हुये हैं यदि किसी को स्वबुद्धि की न्यूनता से उनका परिज्ञान नहीं होय तो इसमें पदार्थों का कोई दोष नहीं है खरहा(खरगोश) यदि कानों से आंखों को ढककर प्रत्यक्ष पदार्थों को नहीं देखे एतावता उन पदार्थों की असत्ता नहीं मानी जायगी,अथवा उष्णस्पर्श वाले और नाड़ी की क्रिया को रखने वाले शरीर को कोई कुवैद्य मृत शरीर कह रहा यदि उसमें चैतन्य का अनुमान नहीं कर सकता है इतने ही से उस शरीर-वर्त्ती जीव का अभाव नहीं मान लिया जाता है। सर्वज्ञ प्रणीत आगम और गति,उपग्रह,आदि लिंगों से उपजे अनुमानोंकरके अथवा सर्वज्ञ प्रत्यक्ष करके धर्म आदि द्रव्यों की निर्बाध प्रसिद्धि होरही है।

न हि धर्मास्तिकायाद्यनुमेयार्थप्रतिपत्तिरस्मदादिप्रत्यक्षेण बाध्यते तस्य तदविषयत्वात् न संति धर्मादयोऽनुपलब्धेः खरशृंगवदित्याद्यनुमानेन बाध्यते इतिचेन्न,तस्याप्रयोजकत्वात्। परचेतोवृत्त्यादिना व्यभिचारात्। दृश्यानुपलब्धिः पुनरसिद्धैव सर्वथा धर्मादीनामस्मदादिभिः प्रत्यक्षतोनुपलभ्यत्वात्। कालात्ययापदिष्टश्च हेतुः प्रमाणभूतागमबाधितपक्षनिर्देशानंतर प्रयुक्तत्वात् एवमबाधितप्रतीतिगोचरार्थप्रकाशिनः सूत्रकारादयः प्रेक्षावतां स्तोत्रार्हा इति स्तुवंति।

अनुमान करने योग्य धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आदि अर्थों की होरही प्रतिपत्ति कुछ हम लोगों के प्रत्यक्ष करके बाधित नहीं होती है। क्योंकि हम लोगों का प्रत्यक्ष उन धर्म आदिकों को विषय ही नहीं कर पाता है, जो ज्ञान जिस पदार्थको विषय ही नहीं कर पाता है। वह उसका बाधक या बाधक क्या होगा ? जैसे कि घास खोदने वाला गंवार पुरुष किसी वैज्ञानिक के गूढ़ रहस्यों पर कोई उपपत्ति या अनुपपत्ति नहीं दे सकता है। कोई पण्डित यहां धर्म आदि द्रव्यों का बाधक अनुमान प्रमाण यों उपस्थित करता है, कि धर्म आदिक द्रव्य (पक्ष) नहीं हैं (साध्य) उपलब्धि नहीं होने से (हेतु) गधे के सींग समान (अन्वय दृष्टान्त)। अथवा धर्म आदि द्रव्य नहीं हैं, (प्रतिज्ञा) क्योंकि उनके द्वारा किये माने गये गति, स्थिति आदि कार्य सब प्रेरक निमित्त या उपादान कारणों करके ही

निष्पन्न होजायंगे, साधारण कारणों की आवश्यकता नहीं है। (हेतु) इत्यादिक अनुमानों करके धर्म आदि बाध डाले जाते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं, कि यह तो नहीं कहना क्योंकि वह अनुपलब्धि हेतु अपने साध्य का प्रयोजक नहीं है। अनुकूल तर्क यहां नहीं है [illegible] नियत किये गये नास्तित्व साध्य को नहीं साध पाता है। तथा दूसरे जीवोंके चित्त की वृत्तियां, कृपणों के धन, गुप्त रोग, आदि करके व्यभिचार होजायगा कुटिल मायाचारियोंकी चित्त वृत्तिका बड़े बड़े बुद्धिमानोंको पता नहीं चलपाता है कृपण के धन का परिज्ञान दूसरे पुरुषों को नहीं होता है। कई भिखारियों के पास हजारों रुपये पाये गये सुने जाते हैं। अपने अपने छोटे छोटे रोग और दूसरों के गुप्त रोग नहीं दिखते हैं, फिर भी इस अनुपलब्धि से उनका अभाव नहीं मान लिया जाता है।

हां देखने योग्य होरहे पदार्थों की अनुपलब्धि से उनका अभाव साधा जा सकता है, किन्तु वह दृश्य की अनुपलब्धि तो फिर यहां असिद्ध ही है। क्योंकि अस्मदादि जीवों करके धर्म आदिकों की प्रत्यक्ष प्रमाण से सर्वथा उपलब्धि नहीं होसकती है। अतः देखने योग्य नहीं होने से दृश्यानुपलब्धि हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। तथा यह अनुपलब्धि हेतु बाधितहेत्वाभास भी है क्योंकि प्रमाण भूत आगम से अबाधित होरहे धर्म आदि पक्षों के कथन हो चुकने के अनन्तर प्रयुक्त किया गया है "कालात्ययापदिष्टः कालातीतः" इस प्रकार बाधा रहित होरहीं प्रतीतियों के विषय-भूत अर्थों के प्रकाशने वाले सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज और श्री समन्तभद्र, श्री अकलंक देव, आदिक आचार्य तो हित अहित, को विचारने वाले प्रेक्षावान् पुरुषों के स्तवन करने योग्य हैं। इस कारण ग्रन्थकार भक्ति वश होकर उन आचार्यों की स्तुति करते हैं। अतीन्द्रिय अनेक सूक्ष्म पदार्थों की निर्बाध प्रतिपत्ति कराने वाले ठोस आचार्यों के ऊपर कृतज्ञ विद्वानों की श्रद्धा होजाना और उन की स्तुति करना स्वाभाविक ही है।

निरस्तनिःशेषविपक्षसाधनैरजीवभावा निखिलाः प्रसाधिताः।
प्रपंचतो यैरिह नीतिशालिभिर्जयंति ते विश्वविपश्चितां मताः ॥५६॥

सम्पूर्ण विपक्ष यानी बाधकों का निराकरण कर चुके समीचीन साधनों करके जिन नीति-न्याय-शाली सूत्रकार आदि महाराजों ने विस्तार के साथ सम्पूर्ण अजीवपदार्थों को यहां बाईसमें सूत्र तक पांचवे अध्याय में भले प्रकार सिद्ध करादिया है, जगत् के सम्पूर्ण विद्वानों के यहां मान्य होरहे वे आचार्य महाराज जयवन्ते होरहे हैं। अर्थात्—धन्य हैं वे आचार्य महाराज जिन्होंने न्याय पूर्वक समीचीन युक्तियों करके धर्म आदि अजीव पदार्थों की प्रमाणों से सिद्धि करा दी है, ऐसे तत्वज्ञान के बोधक विद्वानों को सभी शिरसा मान्य करते हैं, वे महामनाः सद् गुरु इस सर्वदा सर्वहित–कारिणी क्रिया करके जयवन्ते होरहे हैं।

इति पंचमस्याध्यायस्य प्रथममाह्निकम्।

इस प्रकार पांचवें अध्याय का श्री विद्यानन्द स्वामी कृत पहिला प्रकरण-समूह-स्वरूप पहला आन्हिक यहांतक समाप्त हुआ।

इसके आगे अन्य प्रकरणों का प्रारम्भ किया जायगा।

अतिशयितमहत्त्वाणुत्वमात्रेण भिन्नं ।
समघनचतुरस्रं व्योमवत्पुद्गलाणुं ॥
अनुमितमुपकारैर्द्रव्यमात्मादिकानां स्यात्
जयति विपुलविद्यानन्दधामास्वामिसूरिः ॥ १ ॥

यहां कोई विनीत शिष्य श्री उमास्वामी महाराज के प्रति जिज्ञासा प्रगट करता है कि गुरु जी महाराज जो आपने धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, जीव और काल के उपकार बहुत अच्छे कहे हैं वे हमने समझ लिये हैं, किन्तु पुद्गल आपने नहीं कहा कृपा कर उसको समझाइये ऐसी शिष्य की नम्र जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महोदय अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

स्पर्शरसगंधवर्णवन्तः पुद्गलाः ॥ २३ ॥

स्पर्श, रस, गन्ध, और वर्ण ये गुण जिन द्रव्योंमें पाये जाते हैं वे पुद्गल हैं। अर्थात्—कोमल, कठिन-भारी, हलका, शीत,उष्ण, रूखा, चिकना, इन आठ पर्यायों वाला स्पर्श-गुण और कडुआ, चरपरा, कसायला, मीठा, आमला (खट्टा) इन पांच विवर्तों को धार रहा रस गुण है। मधुर में नुनखरे का अन्तर्भाव होजाता है, दक्षिण में नोंन को मीठ कहते भी हैं। तथा सुगन्ध, दुर्गन्ध, दो पर्यायों को धार रहा गन्ध एवं काला, नीला, पीला, सफेद, लाल, इन पांच परिणामों का धारी वर्ण ये गुण पुद्गल के अनुजीवी गुणोंमें से हैं। एक गुणकी एक समयमें एक ही परिणति होसकती है, न्यून, अधिक नहीं। स्पर्श गुण में इतनी विशेषता समझी जाय कि कोमल, कठिन, भारी, हलका, ये चारों परिणाम पुद्गल स्कन्ध के हैं, परमाणु के नहीं। पुद्गल परमाणु में स्पर्श नाम के दो गुण हैं, एक ही स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा उन दोनों गुणों के विवर्त ज्ञात होजाते हैं। इस कारण दोनों का नाम एक स्पर्शगुण रख दिया गया है, सहभावी नित्य होरहे प्रथम स्पर्श गुण की एक समय शीत या उष्ण इन दो पर्यायों में से किसी भी एक पर्याय स्वरूप परिणति होगी और दूसरे स्पर्श गुण का विकार एक समय में चाहे चिकना अथवा रूखा कोई भी एक होगा, यों पुद्गल में स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु: इन चार इन्द्रियों से जानने योग्य पांच गुणों के नानाकालवर्त्ती सोलह या बीस परिणतियों में से एक समय में पांच पायी जाती हैं। हां पुद्गल स्कन्धों में सात परिणतियां युगपत् होरहीं मानी जायगी जैसे कि सम्पूर्ण संसारी अशुद्ध जीवों में अनादि काल से तेरहमे गुणस्थान तक योगशक्ति पायी जाती है, अथवा अनादि काल से चौदहमे गुणस्थान तक पर्याप्ति शक्ति पायी जाती है पश्चात् शुद्ध जीवमें उक्त दोनों पर्याय शक्तियां विनश जाती हैं, उसी प्रकार स्कन्ध अवस्था में पुद्गल के दो पर्याय शक्तियां उपज जाती हैं एक का परिणाम एक समय में हलका या भारी दोनों में से कोई भी एक होगा और दूसरी का विवर्त एक समय नरम, कठिन दोनों में से एक कोई भी होगा पुद्गल की शुद्ध अवस्था होजाने पर परमाणुओं में वे दोनों पर्याय शक्तियां विघट जाती हैं।

स्पर्शग्रहणमादौ विषयबलदर्शनात् । सर्वेषु हि विषयेषु रसादिषु स्पर्शस्य बलं

दृश्यते स्पृष्टग्राहिष्विंद्रियेषु स्पर्शस्यादौ ग्रहणव्यक्तेः, सर्वसंसारिजीवग्रहणयोग्यत्वाच्चादौ स्पर्शस्य ग्रहणं ।

इस सूत्र में सब की आदि में स्पर्श का ग्रहण किया गया है क्योंकि स्पर्श नामक विषय का बल अधिक देखा जाता है, सम्पूर्ण रस, गन्ध आदि विषयोंमें स्पर्शका बल प्रधान देखा जा रहा है। छुवे जा चुके पदार्थों को ग्रहण करने वाली इन्द्रियों में स्पर्श का ग्रहण आदि में व्यक्त रूप से हो जाता है। अर्थात्— " पुट्ठं सुणोदि सद्दं अपुट्ठं पुण पस्सदे रूवं । फासं रसं च गंधं बद्धं पुट्ठं वियाणादि " इस क्रम अनुसार कतिपय इन्द्रियविषयों का शरीर के साथ स्पर्श होते ही आदि में झट स्पर्श छू लिया जाता है। एक बात यह भी है कि यह स्पर्श सम्पूर्ण संसारी जीवोंके ग्रहण करने योग्य है, रस आदिको केवल त्रस ही ग्रहण (सम्वेदन) कर सकते हैं। किन्तु त्रसों से असंख्यात लोकगुणे पृथिवी, जल, तेज, वायु, काय के जीव और त्रसों से या उक्त चार धातु से अनन्तानन्त गुणे वनस्पति काय के जीव हैं, ये सभी संसारी जीव स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा स्पर्श का ज्ञान कर लेते हैं, अतः आदि में स्पर्शका ग्रहण किया गया उचित है।

रसग्रहणमादौ प्रसज्यते विषयबलदर्शनात् स्पर्शसुखनिरुत्सुकेष्वपि रसव्यापारदर्शनादिति चेन्न, स्पर्शे सति तद्व्यापारात् । तत एवानंतरं रसवचनं, स्पर्शग्रहणानंतरभावि हि रसग्रहणं ।

यहां कोई पण्डित कटाक्ष करता है कि यों तो आदि में रस के ग्रहण करने का भी प्रसंग आता है, कारण कि रसयुक्त पदार्थों के रस विषय की सामर्थ्य भी अधिक देखी जाती है। स्पर्शके सुख में उत्कण्ठा रहित हो रहे भी जीवों में रस का व्यापार देखा जाता है। मैथुन संज्ञा, कामपुरुषार्थ, अनुकूल छूना, इन क्रियाओं से उदासीन होरहे अनेक जीव प्रेम के साथ रसीले पदार्थके रस का आस्वादन करते देखे जाते हैं, भले ही स्पर्श का जानने वाले जीव गिनती में अधिक होंय एतावता रस का बल न्यून नहीं होजाता है शक्तिशाली पदार्थों के भोक्ता जीव जगत् में थोड़े ही हुआ करते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि स्पर्श के हो चुकने पर ही उस रस का व्यापार देखा जाता है तिस ही कारण सूत्रकार ने स्पर्श के अव्यवहित पीछे रस को कहा है जिस कारण से कि स्पर्श-ग्रहण के अनन्तर होने वाला रस का ग्रहण है।

रूपात्प्राग्गंधवचनमचाक्षुषत्वात् अन्ते वर्णग्रहणं स्थौल्ये सति तदुपलब्धेः । नित्ययोगे मतोर्विधानात् क्षीरिणो न्यग्रोधा इत्यादिवत् स्पर्शादिसामान्यस्य नित्ययोगात्पुद्गलेषु ।

रूपसे पहिले गन्धका निरूपण करना तो यों उचित है कि गन्धका चक्षु इन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। अन्त में वर्ण का ग्रहण किया जाता है क्योंकि स्थूलता होने पर उस रूप की उपलब्धि हो पाती है। प्रशस्त, नित्ययोग, पुष्कल, निन्दा, अतिशय, आदि अनेक अर्थों को मतुप् प्रत्यय कहता है किन्तु यहां सदा योग बने रहने के अर्थमें मतुप् प्रत्ययका विधान है जैसे कि नित्य ही क्षीरका योग रखने वाले बड़ के पेड़ हैं, यहां मत्वर्थीय इन प्रत्यय नित्ययोग अर्थमें हो रहा है, ज्ञानवान् आत्मा, गुणपर्यायवद्द्रव्यं, इत्यादि स्थलों में नित्य योग अर्थ को कह रहा मतुप् प्रत्यय है। इसी प्रकार अनादि काल से पुद्गलों में स्पर्श आदि गुणों का सामान्य रूप से नित्य योग हो रहा है, अतः " स्पर्शरसगंध-

वर्णवन्तः पुद्गलाः" यह सूत्ररचना समीचीन हो रही समझ ली जाय।

अथ स्पर्शादिमंतः स्युः पुद्गला इति सूचनात्।
क्षित्यादिजातिभेदानां प्रकल्पननिराकृतिः॥ १ ॥

स्पर्श आदि गुणों वाले पुद्गल होते हैं इस प्रकार सूत्रकार द्वारा सूचना कर देने से अब पृथिवी, जल, आदि भिन्न भिन्न जातियों के द्रव्यों की बढ़िया मानी गयी कल्पना का निराकरण कर दिया जाता है। अर्थात्— वैशेषिकों ने एक पुद्गल तत्व को नहीं मानकर पृथिवी, जल, तेज, वायु, इन चार जाति के न्यारे न्यारे चार द्रव्य स्वीकार किये हैं "पृथिव्यपस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगा-त्मा मन इति नव द्रव्याणि । ५।।" वैशेषिक दर्शन के पहिले अध्याय का पांचवा सूत्र है। तत्वान्तर होने से इनका परस्पर में उपादान उपादेय भाव भी नहीं माना गया है किन्तु यह सर्वथा अलीक है। वायु से मेघ बन जाता है, मेघ जल से काठ पत्थर अन्न, आदि उपज जाते हैं। लक्कड़ जलाया गया अग्नि हो जाता है, दीप कलिका का उत्तर परिणाम काजल बन जाता है, पेट में चनों की वायु बन जाती है, जल से मोती हो जाता है इत्यादि रूप से पृथिवी आदि का परस्पर में उपादान उपादेय भाव देखा जाता है अतः विज्ञान मुद्रा से भी एक पुद्गल तत्व की सिद्धि अनिवार्य हो जाती है।

पृथिव्यप्तेजोवायवो हि पुद्गलद्रव्यस्य पर्यायाः स्पर्शादिमत्वात् येन तत्पर्यायास्ते न स्पर्शादिमंतो दृष्टा यथाकाशादयः स्पर्शादिमंतश्च पृथिव्यादय इति तज्जातिभेदानां निरा-करणं सिद्धं।

पृथिवी, जल, तेज, वायु, ये (पक्ष) पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं (साध्य) स्पर्श, रस, आदि गुण वालीं होने से (हेतु) जो पदार्थ उस पुद्गल की पर्याय नहीं हैं वे स्पर्श आदि गुणों वाले भी नहीं देखे गये हैं जैसे कि आकाश, काल, आदिक हैं (व्यतिरेकदृष्टान्त) पृथिवी आदिक जब कि स्पर्श आदि गुण वाले हैं (उपनय) अतः वे पुद्गल के पर्याय निर्णीत हो जाते हैं (निगमन)। इस अनुमान द्वारा उस पृथिवी आदिक जातियों के भेद से भिन्न भिन्न माने जा रहे पृथिवी आदि विशेष तत्वान्तरों का निराकरण सिद्ध हुआ।

नन्वयं पक्षाव्यापको हेतुः स्पर्शादिर्जले गंधस्याभावात्तेजसि गंधरसयोः वायौ गंध-रसरूपाणामनुपलब्धेरिति ब्रुवाणं प्रत्याह।

यहां वैशेषिक का पूर्व पक्ष है कि आप जैनों का कहा गया स्पर्श आदि से सहितपना या "तद्वत्वं तदेव" इस नियम अनुसार स्पर्श आदि यह हेतु पूरे पक्ष में नहीं व्याप रहा है, पक्ष के एक देश में वृत्ति और पक्ष के दूसरे देशों में अप्रवृत्ति होने से भागासिद्ध हेत्वाभास है, कारण कि पक्ष किये जा रहे पृथिवी, जल, तेज, वायुओं में से पृथिवी में तो स्पर्श आदि चारों रह जाते हैं किन्तु जल में गन्ध नहीं है, तेजो द्रव्य में गन्ध और रस इन दो का अभाव है। वायुमें गन्ध, रस, और रूप तीनों की उपलब्धि नहीं है। वैशेषिक मत अनुसार "वायोर्नवैकादशतेजसो गुणाः। जलक्षितिप्राणभृतां चतु-र्दश। दिक्कालयोः पंच षडेव चाम्बरे, महेश्वरेऽष्टौ मनसस्तथैव च।।" पृथिवी में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, नैमित्तिकद्रवत्व, वेग यों चौदह गुण माने गये हैं और जल में रूप, रस, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व,

गुरुत्व, सांसिद्धिकद्रवत्व, वेग, स्नेह ये चौदह गुण वर्त रहे कल्पित किये गये हैं तथा तेजो द्रव्य में रूप स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग विभाग, परत्व, अपरत्व, नैमित्तिकद्रवत्व, वेग, ये ग्यारह गुण स्वीकार किये गये हैं एवं वायु द्रव्य में स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, वेग ये नौ गुण वर्त रहे इष्ट किये गये हैं। इस प्रकार कह रहे वैशेषिक पण्डित के प्रति श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम वार्तिक द्वारा समाधान वचन को कहते हैं।

नाभावोऽन्यतमस्यापि स्पर्शादीनामदृष्टितः।
तस्यानुमानसिद्धत्वात्स्वाभिप्रेतार्थतत्त्ववत् ॥ २ ॥

स्पर्श आदि चारों गुण एक दूसरे के अविनाभावी हैं स्पर्श आदि चारों में से किसी एक की भी अज्ञान-वश अनुपलब्धि होजाने से झट उसका अभाव नहीं कह दिया जाता है। (प्रतिज्ञा) जब कि उन में से अन्तरंग, बहिरंग, कारणों के नहीं मिलने के कारण नहीं देखे जारहे उस किसी एक (या दो, तीन) की अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्धि कर दी जाती है (हेतु) अपने अपने दर्शन शास्त्रों अनुसार अभीष्ट किये गये अनेक अप्रत्यक्ष पदार्थों का जैसे तत्त्वरूपेण सद्भाव मानना पड़ जाता है। (अन्वय दृष्टान्त) अर्थात्—सभी पदार्थ तो किसी भी दार्शनिक पण्डित को प्रत्यक्ष गोचर नहीं हैं, आकाश, काल, परमाणु, स्वर्ग अपवर्ग, प्रेत्यभाव, [illegible] विशेष पदार्थ, इनका वैशेषिकों ने सर्वज्ञ के अतिरिक्त युष्मदादिकों को प्रत्यक्ष होना नहीं माना है। किन्तु इनकी अनुमानों से सिद्धि कर दी जाती है। छिपे रखे हुये भी कस्तूरी या इत्र की गन्धका निकट देश में घ्राण इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होजाता है, अपने आश्रय भूत पृथिवी को छोड़ कर अकेला गन्ध गुण तो घ्राण में घुस नहीं जाता है, गुण में क्रिया भी नहीं मानी गयी है, द्रव्य के बिना अकेला गुण ठहर नहीं पाता है। अतः गन्धगुण वाले पृथिवी के स्कन्ध ही शीशी से निकल रहे मानने पड़ेंगे अथवा जैन सिद्धान्त अनुसार शीशी में से सुगन्धित पदार्थ नहीं भी निकले फिर भी उस सुगन्धित वस्तु को निमित्त पाकर दूर तक फैल रहे पुद्गल पिण्ड सुरभि होजाते हैं। किन्तु उन नासिका के निकटवर्ती सुगन्धित पुद्गलों की गन्ध का जैसा प्रत्यक्ष होजाता है, वैसा उनके रस, स्पर्श, या रूप का इन्द्रियों द्वारा उपलम्भ नहीं होपाता है। इस अवसर पर वैशेषिक जैसे उस सुगन्धित पृथिवी में रूप आदि चारों को स्वीकार कर लेते हैं, नहीं दीखना होने से गन्धवान् द्रव्य में तीन गुणों का अभाव नहीं कह दिया जाता है, उसी प्रकार जलमें गंध, तेज में गन्ध, रस, तथा वायु में गन्ध, रस, रूप, गुणों का अभाव नहीं कह कर सद्भाव स्वीकार करना अनिवार्य है।

किमियं प्रत्यक्षनिवृत्तिरनुपलब्धिराहोस्वित्सकलप्रमाणनिवृत्तिः ? प्रथमा चेन्न ततः सलिलादिषु स्पर्शादीनामन्यतमस्याप्यभावः सिद्ध्येत्। स्वाभिप्रेतेनातीन्द्रियेण धर्मादिनानेकांतात् तस्यानुमानसिद्धत्वेऽप्सु गंधस्य, तेजसि गंधरसयोः, पवने गंधरसरूपाणामनुमानसिद्धत्वमस्तु। तथाहि आपो गंधवत्यस्तेजो गंधरसवद्वायुः गंधरसरूपवान् स्पर्शवत्त्वात् पृथ्वीवत्।

वैशेषिकों को आचार्य पूछते हैं कि वायु आदि में स्पर्श, रस, आदिकों की प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा उपलब्धि नहीं होना यह यहां मानी गई अनुपलब्धि क्या भला अकेले प्रत्यक्ष प्रमाण की निवृत्ति

है अथवा क्या सम्पूर्ण प्रमाणों की निवृत्ति है ? बताओ । यदि पहिली प्रत्यक्ष प्रमाणकी निवृत्तिको अनुपलब्धि पकड़ोगे तब तो उस प्रत्यक्ष की अनुपलब्धि से जल आदि पदार्थों में स्पर्श आदिकों में से किसी भी एक का भी अभाव सिद्ध नहीं होसकेगा। अनुमान को प्रमाण मानने वालों के प्रति अनुमान से जलादि में गन्धादि की सिद्धि करदी जायगी । तथा वह प्रत्यक्षानुपलब्धि हेतु स्वयं वैशेषिकों के यहां अभीष्ट होरहे अतीन्द्रिय पुण्य, पाप, परमाणु, मन आदि करके व्यभिचारी होजायगा, असर्वज्ञ पुरुषोंको धर्मादिकों का प्रत्यक्ष नहीं होता है फिर भी उनका सद्भाव वैशेषिकों ने स्वयं माना है। जैनों के यहां भी धर्म आदिक अतीन्द्रिय पदार्थोंकी सत्ता स्वीकार की गयीहै। यदि उन पुण्य आदि अतीन्द्रिय पदार्थों की अनुमान से सिद्धि होना इष्ट किया जायगा तब तो जल में गन्ध की, तेजो द्रव्य में गन्ध और रस की, तथा वायु में गन्ध, रस, रूप गुणों की भी अनुमान से सिद्धि करली जाओ, इसका अधिक स्पष्टीकरण यों समझ लिया जाय कि सम्पूर्ण जल (पक्ष) गन्ध वाले (साध्य) स्पर्शवाले होने से (हेतु) पृथ्वी के समान (अन्वय दृष्टान्त)। तथा तेजो द्रव्य (पक्ष) गन्ध, रस, गुणों वाला है (साध्य) स्पर्शवान् होने से (हेतु) पृथिवी के समान (अन्वयदृष्टान्त)। एवं वायु (पक्ष) गन्ध, रस, रूप, गुणों वाला है (साध्य) स्पर्श वाला होने से (हेतु) पृथिवी द्रव्य के समान (अन्वयदृष्टान्त)।

कालात्ययापदिष्टो हेतुः प्रत्यक्षागमविरुद्धपक्षनिर्देशानंतरं प्रयुक्तत्वात् तेजस्यनुष्णत्वे साध्ये द्रव्यत्ववदिति चेन्न नायनरश्मिष्वनुद्भूतरूपस्पर्शविशेषे साध्ये तैजसत्वहेतोः कालात्ययापदिष्टत्वप्रसंगात् ।

वैशेषिक कहते हैं कि जैनों की ओर से कहा गया यह स्पर्शवत्व हेतु बाधितहेत्वाभास है क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण और आगम प्रमाणसे विरुद्ध होरहे पक्षनिर्देश के पश्चात् वह हेतु प्रयुक्त किया गया है जैसे कि अग्नि में अनुष्णपना साध्य करने पर प्रयुक्त किया गया द्रव्यत्व हेतु बाधित है इसीप्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण से जल में गन्ध नहीं सूंघी जा रही है, अग्निमें गन्ध या रस का इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होरहा है, वायुमें गन्ध, रस, रूपों की घ्राण, रसना, और चक्षु से उपलब्धि नहीं होती है। तथा हमारे वैशेषिक दर्शन के द्वितीय अध्यायमें यह सूत्र है "रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी" ।१॥ रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः ॥२॥ तेजो रूपस्पर्शवत् ॥३॥ स्पर्शवान् वायुः ॥४॥"इस आगमसे भी जैनोंका हेतु बाधित है ।

ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों तो मनुष्य आदि के चक्षु की किरणों में अप्रकट रूप और अव्यक्त उष्णस्पर्श विशेष को साध्य करने पर तैजसत्व हेतु से बाधित हेत्वाभासपन का प्रसंग आवेगा अर्थात्-वैशेषिकों ने चक्षु का तेजो द्रव्य से निर्मित होना स्वीकार किया है और तेजोद्रव्य में उष्णस्पर्श और भासुर रूप गुण माने जा चुके हैं, दूरवर्त्ती पदार्थों के साथ प्राप्यकारी चक्षु इन्द्रिय की किरणें संयुक्त होरही मानी गई हैं।

अब वैशेषिकों के प्रति यह प्रश्न उठाया जाता है कि पांचसौ हाथ दूर रखे हुए पदार्थ को देख रहीं दोनों आंखोंकी किरणें भला क्यों नहीं दीखती हैं ? रेलगाड़ी के एंजिन या मोटरकार में लगे हुये विद्युत् प्रदीपों की किरणें तो स्पष्ट दीख जाती हैं, इसी प्रकार चक्षुः की तैजस किरणों का उष्ण स्पर्श और चमकदार शुक्ल रूप का प्रत्यक्ष भी होना चाहिये आप वैशेषिकों ने तेजो द्रव्य में रूप, स्पर्श,

दोनों का अनुद्भूतपना स्वीकार नहीं किया है, उष्णजल में घुसे हुये तेजो द्रव्य के भास्वर रूप का भले ही प्रत्यक्ष नहीं होय किन्तु प्रविष्ट होरहे माने गये उस अग्नि द्रव्य के उष्ण स्पर्श का प्रत्यक्ष हो रहा है, हां तेजोद्रव्य माने गये सुवर्ण में उष्ण स्पर्श के अनुद्भूत होने पर भी भास्वर रूप अनुद्भूत नहीं होरहा है। अब उस बात उत्तर दो कि आंखों की दूरवर्ती पदार्थ तक पहुँच रहीं मध्यवर्ती तैजस किरणों के भास्वर रूप और उष्ण स्पर्श का प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता है ?।

इस पर वैशेषिक यह अनुमान कह कर समाधान करते हैं कि चक्षु की किरणों में रूप, रस गन्ध, अवश्य हैं भले ही वे अनुद्भूत होंय, कारण कि वे चक्षुकी किरणें तेजोद्रव्यकी बनी हुई हैं। इस पर हम जैनों का कहना है कि जैसे जल में गन्ध को साधने पर या तेजो द्रव्य में गन्ध और रस गुण के साधने पर अथवा वायु में रस, गन्ध, रूपों से सहितपना साध्य करने पर प्रयुक्त किये गये स्पर्शवत्त्व हेतु को आपने बाधित कह दिया है और प्रत्यक्ष या आगम से विरोध दिखलाने का दुस्साहस किया है इसी प्रकार मनुष्य आदि के चक्षु की किरणों में अनुद्भूत रूप स्पर्शों के साधने पर कहा गया तुम्हारा तैजसत्व हेतु भी बाधित क्यों नहीं होजावे ? प्रथम तो मनुष्य, कबूतर, चिड़िया आदि की आंखों में किरणें ही नहीं दीखती हैं यदि बिल्ली, व्याघ्र, कुत्ता, बैल आदि की आंखों में किरणें भी मान ली जांय तो उनका चन्द्रमा, तारागणों तक पहुँचना या बीसों कोस तक के पर्वतों तक पहुँचना तो प्रत्यक्षबाधित है ही और उन मध्यदेश में से होकर जारहीं मानी गयीं किरणों में उष्ण स्पर्श या रूप का स्वीकार करना तो प्रत्यक्ष प्रमाण से नितान्त बाधित है।

जिनागम में "मूलुण्हपहा अग्गी आदावो होदि उण्हसहियपहा। आइच्चे तेरिच्छे उण्हूणपहा हु उज्जोओ ॥३३॥ (गोम्मटसार कर्मकाण्ड), मूल में उष्ण होरहे और उष्णप्रभा वाले पदार्थ को अग्निद्रव्य कहा है, सुवर्ण कथमपि अग्नि द्रव्य नहीं है तथैव आंखें या उनकी किरणें भी तेजोद्रव्यसे निर्मित नहीं हैं, ऐसी दशा में चक्षुकी किरणों में उष्णस्पर्श या भास्वररूप स्वीकार करना बाधित पड़ जाता है, यदि अपने तैजसत्व हेतुको अबाधित कहते हो तो हमारे स्पर्शवत्व हेतुको भी अबाधित कहना पड़ेगा। न्याय मार्ग समान होना चाहिये ॥

तत्रागमेन विरोधाभावात्तद्भावप्रतिपादनान्न दोष इति चेत्, तत एवान्यत्र दोषा माभूत। स्याद्वादागमस्य प्रमाणत्वमसिद्धमिति चेन्न, तस्यैव प्रामाण्यसाधनात्। यौगागमस्यैव सर्वत्र दृष्टेष्टविरुद्धत्वेन प्रामाण्यानुपपत्तेः।

यदि वैशेषिक यों कहैं कि चक्षुःकी किरणोंमें अनुद्भूत रूप या स्पर्शके मानने पर स्थूल प्रत्यक्ष से भले ही विरोध आवे किन्तु आगम प्रमाण से कोई विरोध नहीं आता है, अतः हमने नयन किरणों में रूप या स्पर्श के सद्भाव को अनुमान द्वारा कह कर भी समझा दिया है कोई दोष नहीं आता है अथवा उन जल आदिमें आगम से विरोध नहीं आनेके कारण उन गन्ध आदिका अभाव होरहा समझा दिया है। यों कहने पर तो हम जैन सिद्धान्तीभी आपको प्रतिपत्ति कराते हैं कि तिस ही कारणसे यानी आगमविरोध होने से अन्य स्थल पर भी कोई बाधा भागासिद्ध, व्यभिचार ये दोष नहीं प्राप्त होओ, अर्थात्—जल आदि में गन्ध आदि को साध्य करने पर भी किसी समीचीन आगम से विरोध नहीं आता है, अतः हमने पृथिवी, जल, तेज, वायु, चारों में रूप, रस गन्ध, स्पर्श, गुणों का सद्भाव साध दिया है।

यदि वैशेषिक या नैयायिक यों कहें कि जैनों के स्याद्वाद सिद्धान्त आगम का प्रमाणपन सिद्ध नहीं होसका। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना चाहिये क्योंकि सत्यबात यह है कि उस जिनागम को ही प्रमाणपन की सिद्धि होचुकी है ? पूर्वापर अविरोध, बाधकासम्भव, युक्तिसद्भाव, सम्बन्धाभिधेय, शक्यानुष्ठान इष्टप्रयोजन–सहितपन, तत्त्वोपदेश, आप्तोपज्ञता, अनुल्लंघ्यता, दृष्टेष्टाविरोध आदि हेतुओं से जिनागम को ही प्रमाणपना सधता शोभता है प्रत्युत नैयायिक या वैशेषिकों के आगम को ही सर्वत्र प्रत्यक्ष, अनुमान, प्रमाणों द्वारा विरोध आने का कारण प्रमाणपना नहीं बन पाता है भावार्थ–नवीन नैयायिक या प्राचीन नैयायिकों के मन्तव्यों में अनेक स्थलों पर विरोध आता है कोई वायु का प्रत्यक्ष मानते हैं अन्य पण्डित वायु का प्रत्यक्ष नहीं मानते है, वैशेषिक दर्शन के छठे अध्याय प्रथम आन्हिकमें "एतेन हीनसम विशिष्टधार्मिकेभ्यः परस्वादानं व्याख्यातम् ॥१२॥ तथा विरुद्धानां त्यागः ॥१३॥ हीने परत्यागः ॥१४॥ समे आत्मत्यागः परत्यागो वा ॥१५। इन सूत्रों द्वारा चोरी और हिंसा का विधान पाया जाता है जो कि पण्डित शंकरमिश्रकृत उपस्कार को देखने पर अधिक स्पष्ट होजाता है।

युक्त्यनुगृहीतत्वेन चागमस्य प्रामाण्यमनुमन्यमानः कथमितरेतराश्रयदोषं परिहरेत् ? सिद्धे ह्यागमस्य तत्प्रतिपादकस्य प्रामाण्ये तत्र हेतोरतीतकालत्वाभावसिद्धिः तत्सिद्धौ च तदनुमानेनानुगृहीतस्य तदागमस्य प्रामाण्यसिद्धिरिति। स्याद्वादिनां तु सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वेनागमस्य प्रामाण्यसिद्धौ नायं दोषः। अत एव जलादिषु गंधाद्यभावसाधने सर्वस्य हेतोरतीतकालत्वं प्रत्येतव्यं, तस्य प्रमाणभूतजैनागमविरुद्धत्वात्। ततो न कालात्ययापदिष्टो हेतुः। नाप्यनैकांतिको विपक्षवृत्त्यभावात्।

तथा युक्तियों द्वारा अनुग्रह को प्राप्त होरहेपन करके आगम का प्रमाणपना स्वीकार कर रहा वैशेषिक अपने ऊपर आये हुये इस अन्योन्याश्रयदोष का परिहार भला कैसे कर सकेगा ? कि उस चक्षुरश्मियों के अनुद्भूत रूप, स्पर्श, सहितपन के प्रतिपादक आगम का प्रमाणपना सिद्ध होचुकने पर तो उस चक्षु रश्मियों के अनुद्भूत रूप, स्पर्श, सहितपन को साधने में प्रयुक्त कियेगये तैजसत्व हेतु के बाधितपनेका अभाव सिद्ध होय और हेतुके उस अबाधितपनकी सिद्धि हो चुकने पर उस निर्बाध अनुमान करके अनुग्रहीत होरहे उस आगम के प्रमाणपन की सिद्धि होसके। यह वैशेषिकों के ऊपर परस्पराश्रय दोष आरहा है। हाँ स्याद्वादियोंके यहां तो बाधक प्रमाणोंके असम्भवपनेका बढ़िया निश्चय होचुका है इस कारण जिनोक्त आगमके प्रमाणपनकी सिद्धि करनेमें यह इतरेतराश्रय दोष नहीं आता है, इस ही कारण से जल आदि में गन्ध आदि का अभाव साधने में कहे गये वैशेषिकों के सम्पूर्ण हेतुओं के (में) बाधित हेत्वाभासपन का विश्वास कर लेना चाहिये क्योंकि वह जल आदि में गन्ध आदि का अभाव तो प्रमाणभूत जिनागमों से विरुद्ध पड़ता है तिस ही कारण से हमारा स्पर्शवत्व हेतु कालात्ययापदिष्ट (बाधित) नहीं है और पूरे विपक्ष या विपक्ष के एक देश में वृत्ति नहीं होने के कारण स्पर्शवत्व हेतु व्यभिचारी भी नहीं है तथा पृथिवी, जल, तेज, वायुओं को पुद्गल द्रव्य की पर्याय होना साधने में दिया गया स्पर्शादिमत्व हेतु भी निर्दोष है।

अन्वयाभावादगमक इति चेन्न, सर्वस्य केवलव्यतिरेकिणोऽप्यगमकत्वप्रसंगात्

साध्याविनाभावनियमनिश्चयात् कस्यचित्प्रयोजकत्वे प्रकृतहेतोस्तत एव प्रयोजकत्वमस्तु । पुद्गलद्रव्यपर्यायत्वाभावे क्षित्यादीनां स्पर्शवत्त्वाभावनियमनिश्चयात् ।

यहां कोई वैशेषिक आक्षेप करता है कि अन्वयदृष्टान्त नहीं मिलनेके कारण जैनोंका स्पर्शादिमत्व हेतु अपने साध्य किये जा रहे पुद्गल द्रव्य की पर्याय होने को नहीं साध सकता है, अतः इस साध्य का ज्ञप्तिकारण नहीं है अन्वयदृष्टान्त में साध्य के साथ जिनकी व्याप्ति ग्रहण करली जाती है, वे ही हेतु अपने नियत साध्य के गमक होते हैं ।

अब आचार्य कहते हैं, कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों तो प्रमेयत्व आदि केवलान्वयी या अन्वयव्यतिरेकी धूम आदि हेतु भले ही ज्ञापक होजांय किन्तु "जीवच्छरीरं सात्मकं प्राणादिमत्वात् लोष्ठवत्" "पृथिवी इतरजलादिभ्यो भिद्यते गन्धवत्त्वात् जलादिवत्" इत्यादिक सम्पूर्ण केवल व्यतिरेकी हेतुओं की प्रयोजकता के रहितपन का प्रसंग आवेगा । नैयायिक या वैशेषिकों ने त्रैविध्यमनुमानस्य केवलान्वयिभेदतः, द्वैविध्यं तु भवेद् व्याप्तेरन्वयव्यतिरेकतः।। अन्वयव्याप्तिरुक्तैव व्यतिरेकादथोच्यते" यों कह कर केवलव्यतिरेकी लिंग को इष्ट किया है । यदि साध्य के साथ अविनाभाव स्वरूप नियम का निश्चय हो रहने से किसी भी चाहे जिस केवल व्यतिरेकी हेतु को साध्य का प्रयोजक मान लिया जायगा तब तो तिस ही कारण यानी साध्यके साथ अपनी अन्यथानुपपत्ति का निश्चय होजानेसे प्रकरणप्राप्त स्पर्शादिमत्व हेतुका भी प्रयोजकपना स्वीकार कर लिया जाओ, कारण कि साध्य होरहे पुद्गल द्रव्य की पर्यायपन का अभाव होने पर पृथिवी आदिकों को स्पर्शसहितता के अभाव रूप नियम का निश्चय होरहा है "साध्याभावे साधनाभावो व्यतिरेकः" ।

एतेन सर्वप्रमाणनिवृत्तिरनुपलब्धिरसिद्धा न तोयादिषु गन्धाद्यभावसाधिनीत्युक्तं वेदितव्यं, प्रवचनस्यानुमानस्य च तद्भाववेदिनः प्रवृत्तेः ।

इस सूत्र की दूसरी वार्तिक का विवरण प्रारम्भ करते हुये दो विकल्प उठाये गये थे कि वह अनुपलब्धि क्या प्रत्यक्ष प्रमाण की निवृत्ति है ? अथवा क्या सम्पूर्ण प्रमाणों की निवृत्ति स्वरूप है । पहिले विकल्प का अच्छा विचार कर दिया गया है, अब दूसरे विकल्प अनुसार ग्रन्थकार कहते हैं कि सम्पूर्ण प्रमाणों की निवृत्ति होजाना स्वरूप अनुपलब्धि तो असिद्ध ही है । नैयायिकों का अनुपलब्धि हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है, जब कि अनुमान प्रमाण या आगम प्रमाण ही जल आदि में गन्ध आदि के साधक विद्यमान हैं । अतः जल आदि में गन्ध के अभाव को साधने वाली वह सर्व प्रमाण की निवृत्ति सिद्ध नहीं होसकती है । यों यह दूसरा विकल्प भी इस उक्त कथन करके कह दिया गया समझ लेना चाहिये क्योंकि जल आदि में उन गन्ध आदि के सद्भाव को निवेदन कर रहे आगम प्रमाण और अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति होरही है ।

अब पुद्गलों के सम्पूर्ण विशेष परिज्ञान के होचुकने पर भी पुद्गलों के निरूपण में शेष रहे कुछ विकारों का परिज्ञान कराने के लिये सूत्रकार अगले सूत्र को कहते हैं ।

शब्दबंधसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च ॥ २४ ॥

शब्द होना, बंधजाना, सूक्ष्मपना, स्थूलपना, आकृति होना, टुकड़ा होजाना, अन्धकार परिणति, छाया, आतप (घाम) उद्योत (अनुष्णप्रभा) इन दश स्वकीय विकारों वाले भी पुद्गल द्रव्य हैं। अर्थात्—स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः, इस सूत्र करके शुद्ध पुद्गल और अशुद्ध पुद्गलों की सहभावी या क्रमभावी पर्यायों का निरूपण किया गया है किन्तु इस "शब्दबंध" आदि सूत्र करके अशुद्ध द्रव्य होरहे पुद्गल स्कन्धों के विकारों का प्रज्ञापन कियागया है ये शब्द आदि तो उपलक्षण हैं, इन के सिवाय संयोग, प्रकाश, ज्योतिः, वेग, झोंक, आदि का भी ग्रहण कर लिया जाय। शब्द आदि में अनेक प्रवादियों की विप्रतिपत्ति है, अतः इनको कण्ठोक्त करदिया है।

पुद्गला इत्यनुवर्तते। तत्र शब्दादीनामभिहितनिर्वचनानां परिप्राप्तद्वंद्वानामेवाभिसंबंधः।

पहले सूत्र से "पुद्गला" इस शब्द की अनुवृत्ति कर ली जाती है जिनकी निरुक्ति की जा चुकी है और द्वन्द्व समास को परिप्राप्त होचुके ऐसे शब्द, बंध, आदि पदों का ही परस्परापेक्ष सम्बन्ध यहाँ पुद्गलोंमें जोड़ लिया जाता है। अर्थात्—"शपति इति शब्दः" बध्यते इति बन्धः, सूच्यते सूचनमात्रं वा सूक्ष्मः, स्थूल्यते यः स स्थूलः, संस्थीयते संस्थितिर्वा संस्थानं, भिद्यते भेदः, तम्यते अनेन तमः, छिद्यते इति छाया, आतप्यते इति आतपः, उद्योत्यते उद्योतनमात्रं उद्योतः, यों उक्त पदोंकी व्युत्पत्ति कर पुनः "शब्दश्चबंधश्च,, इत्यादि रूप से द्वन्द्व समास कर दिया जाता है, वे शब्द आदिक जिनके विकार हैं, वे शब्द आदि वाले पुद्गल हैं।

शब्दो द्वेधा भाषालक्षणो विपरीतश्च। भाषात्मको द्वेधा अक्षरात्मको अनक्षरात्मकश्च। प्रथमः शास्त्राभिव्यंजकः संस्कृतादिभेदादार्यम्लेच्छव्यवहारहेतुः, अनक्षरात्मको द्वींद्रियादीनामतिशयज्ञानस्वरूपप्रतिपादनहेतुश्च। स एषः प्रायोगिक एव।

उन दस विकारोंमें शब्द नाम का विवर्त दो प्रकार है, द्वीन्द्रिय जीवों से प्रारम्भ कर पंचेन्द्रिय पर्यन्त त्रस जीवों द्वारा बोला जा रहा वचन भाषास्वरूप है। दूसरा उससे विपरीत अभाषा-आत्मक है, पहिला भाषाआत्मक शब्द तो अक्षर-आत्मक और अनक्षर-आत्मक यों दो प्रकार है, पहला अक्षरात्मक शब्द तो शास्त्र के अर्थोंका प्रकट करने वाला है जो कि संस्कृत, प्राकृत, देशभाषा, अपभ्रंश, आदि भेदों से आर्यपुरुष या म्लेच्छ पुरुषों के व्यवहार का कारण है। दूसरा अनक्षर-आत्मक शब्द तो द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, आदि जीवोंके अतिशय ज्ञानके स्वरूपकी प्रतिपत्ति करानेका हेतु है, अर्थात्—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, जीव भी कुछ बोलते हैं, मक्खी बर्र, ततैया, झींगुर, डाँस, भनभनाते रहते हैं, भले ही इनका बोलना मन नहीं होने से विचारपूर्वक नहीं है, फिर भी एकेन्द्रिय की अपेक्षा इनका ज्ञान कुछ अतिशय युक्त है, तभी तो विशेष विशेष संध्याकाल, ऋतु, विपत्ति, हर्ष, आदि का अवसर मिलने पर वे बोला करते हैं।

इस पंक्ति का अर्थ यह भी किया जा सकता है, कि अनेक अतिशयों से युक्त होरहे केवलज्ञान के स्वरूप या श्रुत के प्रतिपादन का कारण होरहा श्री अर्हन्त परमेष्ठी का शब्द भी अनक्षर-आत्मक है। प्राचीन विद्वानों द्वारा सुना जा रहा है, कि केवलज्ञानी महाराज की सर्वांगों से उपज रही भाषा अनक्षर-आत्मक है पीछे देवकृत अतिशयों द्वारा श्रोताओं के कानमें अक्षर-आत्मक परिणाम जाती है. अस्तु-इतना अवश्य कहना है कि केवलज्ञानी महाराज की भाषा को सर्वथा अनक्षर-आत्मक कहने में जी हिचकता है "देवकृतो ध्वनिरित्यसदेतद्देवगुणस्य तथा विहतिः स्यात्। साक्षर एव च वर्ण-समूहान्नैवविनार्थगतिर्जगति स्यात्,, इस पर भी विद्वानों को विचार करना चाहिये, हाँ सयोगकेवली के "ण य सच्चमोसजुत्तो जो दु मणो सो असच्चमोसमणो,, यह अनुभय वचन सम्भवता है गोम्मटसार जीवकाण्ड में "मज्झिमनउमणावयणे सण्णिप्पहुदि दु जावखीणोत्ति। सेसाणं जोगित्ति य अणुभयवयणं तु वियलादो,, विकलेन्द्रियों से प्रारम्भ कर तेरहमे गुणस्थान तक अनुभय वचन स्वीकार किया है। सो ये अक्षर अनक्षर-आत्मक शब्द तो द्वीन्द्रिय आदि जीवों के कण्ठ तालु, आदि अवयवों द्वारा किये गये प्रयोग (पुरुषार्थ) को निमित्त पाकर ही उपजते हैं।

अभाषात्मको द्वेधा प्रयोगविस्रसानिमित्तत्वात्। तत्र प्रयोगनिमित्तश्चतुर्धा,ततादिभेदात्। चर्मतननात्ततः पुस्करादिप्रभवः, तंत्रीकृतो विततो वीणादिसमुद्भवः, कांस्यतालादिजो घनः, वंशादिनिमित्तः शौषिरः, विस्रसानिमित्तः शब्दो मेघादिप्रभवः।

दूसरा उस भाषात्मक शब्द से विपरीत होरहा अभाषात्मक शब्द तो दो प्रकार है पहिला प्रायोगिक तो जीव-प्रयोगों को निमित्त पाकर उत्पन्न होता है और दूसरा वैस्रसिक तो जीव प्रयत्न के अतिरिक्त अन्य सभी शब्द उत्पादक जड़ कारणों की निमित्तता अनुसार उपजा जाता है, उन दो में प्रयोग को निमित्त पाकर हुआ अभाषात्मक शब्द तत, वितत, आदि भेदों से चार प्रकार इष्ट किया गया है, चमड़ा के तनने से जो आघात पूर्वक शब्द उपजता है वह तत है, पुष्कर (ढप) नगाड़ा आदि वादित्रों से उपजा हुआ शब्द तत है। तांत बजा कर किया गया शब्द वितत है जो कि वीणा, सारगी चिकाड़ा, आदि बाजों से सुन्दर उपज रहा है। जो कांसे के बने हुये घड़ियाल, घण्टा, झांझरी, मंजीरा आदि बाजोंके अभिघातसे जन्य है वह घन है. बांसरी, बांस, वैन, तुरई, शंख आदि को निमित्त पाकर उपजा हुआ शब्द शौषिर है। दूसरा अभाषात्मक शब्द वैस्रसिक तो मेघ, बिजली, समुद्र आदि से उपज रहा माना जाता है।

बंधो द्विविधो विस्रसाप्रयोगभेदात्. विस्रसा बंधोऽनादिरादिमांश्च. प्रयोगबंधः पुनरादिमानेव पर्यायतः।

पुद्गल की बन्ध नामक पर्याय भी विस्रसा और जीव प्रयोग करके उपजने के अनुसार भेद से दो प्रकार है यहां प्रकरण में विस्रसा शब्द का अर्थ जीव प्रयत्न के अतिरिक्त अन्य सभी कारण हैं। उनमें वैस्रसिक बन्धके दो भेद हैं, उनमें पहिला महास्कन्ध आदि का अनादि बन्ध है और चिकनापन या रूखापन को निमित्त पाकर बिजली. मेघ. इन्द्र धनुष आदि का बन्ध हुआ सादि बन्ध है। अर्थात्-इतनी लम्बी चौड़ी, बिजली - अनेक चमकीले पुद्गलों का पिण्ड है वे पुद्गल परस्पर में एक दूसरे के साथ बंध रहे हैं सूर्य की किरणों को निमित्त पाकर आकाश में भरे हुए बादल आदि पुद्गलों का इन्द्र धनुष स्वरूप परिणमन होजाता है। जैसे कि एक शुभ्र नग. मोती, पैलदार, कांच को या पैलदार

हीरा को घाम में रख देने से अथवा प्रकाश में कांच या हीरा को आंख के पास लगा कर पार दृष्टि [illegible] निमित्त, शक्ति अचिन्त्य है, अभव्य मुनियों के उपदेश से भी असंख्य जीवों ने मुक्ति प्राप्त की है। पीली हल्दी का शुक्ल चूना लाल कर देता है, जल अमृत है और घृत भी अमृत है किन्तु दोनोंको कई बार घोंट देने पर उनमें विष शक्ति उपज जाती है एक ही पदार्थ किसी को हानिकर होता हुआ दूसरे को लाभकर होजाता है। अनेक धातुयें कांच में अपने रंग से न्यारी जाति के रंगों को उपजा देती हैं, कसैली हरड़ खा चुकने पर पीया हुआ जल अधिक मीठा लगने लगता है, शुक्ल वर्ण सूर्य या हीरा में कोई पांच या सात रंगों का सम्मेलन नहीं है। तथा दूसरा प्रयोग-जन्य बन्ध तो फिर सादि ही है, आत्मा का मन, वचन, कायों के साथ संयोग होना रूप पर्याय से उपज रहा वह आदिमान् ही होसकता है।

सौक्ष्म्यं द्विविधमन्त्यमापेक्षिकं च। तथा स्थौल्यं संस्थानमित्थंलक्षणं चतुरस्रादिक-मनित्थंलक्षणं च अनियताकारं। भेदः षोढा. उत्करश्चूर्णः खण्डश्चूर्णिका प्रतराणुचटनमिति। तमो दृष्टिप्रतिबंधकारणं केषांचित्। छाया प्रकाशावरणं। आतप उष्णप्रकाशलक्षणः। उद्योतश्चंद्रादिप्रकाशोऽनुष्णः। त एते शब्दादयः स्वरूपतो भेदतश्च सुप्रसिद्धा एव।

सूक्ष्मपना परिणाम तो अन्त में होने वाला और अपेक्षा से होने वाला यों दो प्रकार है। उसी प्रकार अन्त में होने वाला और अपेक्षा से होने वाला स्थूलपन भी दो प्रकार समझ लेना चाहिये संस्थान नामक पुद्गल परिणति तो एक इस प्रकार नियत आकार स्वरूप है और दूसरी नहीं नियत होरहे आकार स्वरूप है। चौकोर, गोल, तिकौना, लम्बा चौकोर, घन चौकोर, अण्डाकार आदि संस्थान तो इत्थंलक्षण हैं, इनसे अन्य बादलों, वायुओं आदि का आकार अनित्थं-लक्षण है। पुद्गल की भेद नामक पर्याय तो उत्कर, चूर्ण, खण्ड, चूर्णिका, प्रतर, अणुचटन, इन भेदों से छह प्रकार है, करोंत (आरा) बरमा आदि करके काठ, लोहा, चांदी, आदि का उत्कर नामक भेदन किया जाता है, जौ, गेंहूं, आदि का सतुआ, चून आदि स्वरूप से भिदना तो चूर्ण है, घट आदिकों के टुकड़े, कपाल ठिकुच्री, आदि खण्ड कहे जाते हैं। उड़द, मूंग, आदि के टुकड़े चूनी कही जाती है, मेघपटल, आदि के छिन्न, भिन्न, होजाने पर किये गये टुकड़े प्रतर हैं, संतप्त लोह-पिण्ड आदि को हथौड़ा, घन, आदि करके ताड़न करने पर जो फुलिंगा उछलते हैं, वह अणुचटन नामका भेद होना है, यों भेद के छः विकल्प हैं।

पुद्गल की अन्धकार नामक पर्याय तो किन्हीं दिवाचर जीवों के देखने का प्रतिबन्धक हेतु है। अर्थात्—बिल्ली, सिंह, कुत्ता उल्लू, चमगादर आदि रात्रिचर जीवों की दृष्टि को अन्धकार नहीं रोक पाता है, हां मनुष्य, कबूतर, चिड़िया आदि के चाक्षुष प्रत्यक्षों को अन्धकार रोकदेता है। प्रकाश को रोकाने वाले पदार्थों के निमित्त से पुद्गल की छाया नामक पर्याय उपज जाती है।

भावार्थ—जगत् में सर्वत्र पुद्गल स्कन्ध भरे हुये हैं। सूर्यका प्रकाश होजाने पर वे ही पुद्गल जैसे आतप रूप परिणम जाते हैं। चन्द्रमा का निमित्त पाकर उद्योत स्वरूप चमकीले परिणम जाते हैं। उसी प्रकार प्रकाशक पदार्थों का आवरण होजाने पर वे पुद्गल स्कन्ध ही काले काले अन्धकार या स्वल्प काली छाया अथवा अन्य जाति के प्रतिबिम्ब स्वरूप परिणाम जाते हैं। निमित्त, नैमित्तिक, कई प्रकार के होते हैं, अग्नि को निमित्त पाकर हुयी काली ईंट को लाल ईंट रूप पर्याय तो निमित्त के

नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होती है। जल में अग्नि के निमित्त से आगयी उष्णता घण्टे दो घण्टे पीछे विघट जाती है। वैशेषिक जो ऐसा मानते हैं कि उष्ण जल में अग्नितत्व घुस आता है। उस अग्नि का ही उष्ण स्पर्श प्रतीत होता है, अग्नि के उद्भूत उष्ण स्पर्श से जल की गांठ का शीतस्पर्श छिप जाता है, यह वैशेषिकों का सिद्धान्त असत्य है। वास्तविक सिद्धान्त यह है कि जल का शीत स्पर्श ही अग्नि का निमित्त पाकर उष्ण स्पर्श होकर बदल गया है, पानी जल पुद्गल के स्पर्श गुण का पहिले शीत परिणाम था अग्नि को निमित्त पाकर अब उस स्पर्श गुण की उष्ण पर्याय उपज गयी है जैसे कि भिन्न भिन्न वृक्षों को निमित्त पाकर बरसात हो रहे मेघ जल का उन उन वृक्षों के रस स्वरूप परिणाम होजाता है।

राजगृहीके कुण्डोंका जल प्रथम मे ही उष्ण है, शीतकालमें अन्य कूपोंका जल भी कुछ उष्ण रहता है हां पीछे वायु, बहिर्भूमि, को निमित्त पाकर शीतल होजाता है। तथा कोई नैमित्तिक कार्य तो नैमित्तिकके नष्ट होजाने पर झट नष्ट होजाते हैं, जैसेकि बिजलीका प्रकाश है। दर्पण स्वच्छ जल, चांदी का थाल, आदि में पड़ रही छाया, वर्ण आकृति आदि स्वरूप से परिणामी है किन्तु घाम, चांदनी, आदि के अवसर पर वृक्ष, मनुष्य, आदि की पड़ रही छाया तो केवल प्रतिबिम्ब स्वरूप है वस्त्र के अनेक परत अथवा कई कागजों की तह के भीतर "ऐक्सरे" यंत्र के द्वारा प्रकाश के पहुँचा देने पर उस तहों के भीतर रखे हुये पदार्थ का प्रतिबिम्ब पड़ जाता है अतः छाया का लक्षण उचित है। आतप तो उष्ण प्रकाश स्वरूप है, तथा चन्द्र, पटबीजना, पन्ना आदि का अनुष्णप्रकाश तो पुद्गल की उद्योत पर्याय है।

अर्थात्—" मूलुण्हपहा अग्गी आदावो होदि उण्हसहियपहा। आइच्चे तेरिच्छे उण्हूणपहा हु उज्जोओ " (गोम्मटसार कर्मकाण्ड) इस गाथा अनुसार आतप का लक्षण तो मूल में अनुष्ण और प्रभा में उष्ण होरहे पदार्थ का प्रकाश स्वरूप किया गया है, और मूल में अनुष्ण होते हुये अनुष्ण प्रभा के उत्पादक पदार्थ का प्रकाश उद्योत है, सूर्य का विमान अनुष्ण है वह उष्ण आतप का निमित्त होजाता है। जैसे कि मूल में शीतल होरही पानी की बर्फ उदर में दाह को बढ़ा देती है, लाल वस्त्र आंखों में उष्णता का सम्पादक है, अनुष्ण होरहा मकरध्वज या अभ्रक भस्म रोगी के उदर में आग फूंक देता है। इत्यादि दृष्टान्तों से निमित्तों की अचिंत्य शक्तियों का प्रभाव प्रकट होरहा है। यो ये शब्द, बन्ध, आदिक पुद्गल परिणाम स्वरूप से और भेदों से भले प्रकार प्रसिद्ध ही हैं, विज्ञान भी इस सिद्धान्त का परिपूर्ण रीत्या पोषक है।

कुतः पुनः पुद्गलाः शब्दादिमन्तः सिद्धा इत्याह।

कोई शिष्य पूछता है कि ये पुद्गल फिर किस युक्ति से शब्द आदि पर्यायों वाले सिद्ध हैं? बताओ, ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अगली वार्तिक द्वारा समाधान को कहते हैं।

प्रोक्ताः शब्दादिमन्तस्तु पुद्गलाः स्कंधभेदतः।
तथा प्रमाणसद्भावादन्यथातदभावतः॥१॥

अणुस्वरूप पुद्गल तो केवल अनुजीवी गुण, प्रतिजीवीगुण, सप्तभंगी-आत्मक अनेक स्वभाव तथा इतर धर्मों को धार रहे हैं किन्तु स्कन्ध नामक भेदों से प्रसिद्ध होरहे स्थूल पुद्गल ही शब्द आदि

विकारों वाले स्कन्धे कहे जाचुके हैं क्योंकि तिस प्रकार शब्द आदि पर्याय वाले पुद्गलों के साधक प्रमाणों का सद्भाव है। अन्यथा उन शब्द आदिकों का अभाव होजावेगा अथवा पुद्गल की पर्याय नहीं ज्ञापन कर शब्द आदिकों को दूसरे प्रकार साधने वाले प्रमाणों का अभाव है। अर्थात्—जैसे वैशेषिक शब्द को आकाश का गुण मानते हैं। कोई बंध को संयोग विशेष स्वीकार करते हैं, स्थूलता, सूक्ष्मता, तो परिमाणत्व की व्याप्य जातियां हैं। आकृति भी परिमाण विशेष है, भेद को विभाग या ध्वंस में गर्भित कर लेते हैं। तेजोद्रव्य का अभाव-स्वरूप अन्धकार माना गया है। आतप और उद्योत को दूरवर्ती सूर्य, चन्द्रमा, पटबीजना, के निमित्त से यहां ही के फैले हुये पुद्गलों का विकार नहीं मानकर सूर्य या चन्द्रमा की चली आई किरणों स्वरूप अभीष्ट किया गया है जो कि तैजस या पार्थिव होसकेंगी किन्तु यह उन पण्डितों का मन्तव्य अप्रामाणिक है।

न हि परमाणवः शब्दादिमन्तः सन्ति विरोधात् स्कंधस्यैव शब्दादिमत्तया प्रतीतेः। शब्दस्याकाशगुणत्वान्न तद्वान् पुद्गलस्कंध इत्येके, तस्यामूर्तद्रव्यत्वादित्यन्ये। तान् प्रत्याह।

परमाणुयें तो शब्द आदि पर्यायों के धारी नहीं हैं क्योंकि विरोध आता है देखिये शब्द, बंध, आदिक परिणतियों का हम, तुम, आदि को बहिरंग इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष हो जाता है सूक्ष्म परमाणु अतीन्द्रिय है यदि परमाणु के ये शब्द आदि परिणाम होते तो छद्मस्थ जीवों को इनका इन्द्रियप्रत्यक्ष ही नहीं हो पाता। हाँ अन्तिम सीमा को प्राप्त होरही सूक्ष्मता भले ही परमाणु में पायी जाय यदि एक परमाणु का दूसरी परमाणु के साथ बंध होगा तो वह बन्ध पर्याय द्व्यणुक स्कन्ध की समझी जायगी। परमाणुओं का संयोग कहा जा सकता है जो कि अबद्ध पुद्गल परमाणुओंमें, कालाणुओं में, धर्म अधर्म में भी पाया जाता है, अतः सिद्ध है कि शब्द, बंध आदि विकारों से सहितपने करके स्कन्ध की ही प्रतीति होरही है। यहां कोई एक पण्डित यों आक्षेप कर रहे हैं कि आकाश द्रव्य का गुण शब्द है अतः शब्दवान् आकाश कहा जा सकता है, उस शब्दवाला पुद्गल स्कन्ध नहीं है तथा अन्य कोई मीमांसक पण्डित यों कह रहे हैं कि वह शब्द द्रव्य तो है किन्तु स्पर्श आदि या परिच्छिन्न परिमाण नहीं होने के कारण वह शब्द अमूर्त द्रव्य है और भी कई-पण्डितों की अनेक विप्रतिपत्तियां हैं। उन पण्डितों के प्रति ग्रन्थकार महाराज अग्रिम-वार्तिकों द्वारा समाधान कहते हैं।

न शब्दः खगुणो बाह्यकरणज्ञानगोचरः।
सिद्धो गंधादिवन्नैव सोमूर्तद्रव्यमप्यतः ॥२॥

शब्द आकाश का गुण नहीं सिद्ध हो पाता है क्योंकि वह बहिरंग इन्द्रियों से जन्य हुये ज्ञान का विशेष होरहा है जैसे कि बहिरंग इन्द्रिय प्रत्यक्षों के विषय होरहे गन्ध आदिक पदार्थ आकाश के गुण नहीं हैं अर्थात्–जब कि आकाश अत्यन्त परोक्ष पदार्थ है तो उसके गुणों का इन्द्रिय-प्रत्यक्ष कथमपि नहीं होसकता है, केवलज्ञान या विशिष्ट श्रुतज्ञान के अतिरिक्त सर्वावधि और विपुलमति मनः पर्यय ज्ञानों की भी अरूपी आकाश या उसके ततोऽपि अधिक सूक्ष्म गुणों में प्रवृत्ति नहीं है फिर बहिरिन्द्रिय प्रत्यक्ष का यहां क्या मूल्य होसकता है ? तथा इस ही कारण से यानी बहिरंग इन्द्रियों का विषय होने से वह शब्द अमूर्त द्रव्य भी नहीं है मूर्त द्रव्य का विवर्त ही बहिरंग इन्द्रियों से जाना जा सकता है।

न स्फोटात्मापि तस्यैकस्वभावस्याप्रतीतितः ।
शब्दात्मनस्सदानानास्वभावस्यावभासनात् ॥ ३ ॥

यह सुना जा रहा शब्द तो स्फोटस्वरूप भी नहीं है अर्थात्-मीमांसकों ने वर्णस्फोट, पदस्फोट, वाक्यस्फोट, को अर्थ का वाचक माना है शब्द के समान स्फोट को भी मीमांसक नित्य और व्यापक स्वीकार करते हैं नियत अर्थ की प्रतीति का हेतु होरहा वह स्फोट अक्रम और निरंश माना गया है । आचार्य कहते हैं कि मीमांसकों के यहां स्फोट की कल्पना नहीं हो सकती है. स्फोट का नित्यपना और व्यापकपना भी निराकृत होजाता है पूर्व के अप्रकट रूप का त्याग करने पर और उत्तर वर्त्ती प्रकट रूप का ग्रहण करने पर स्फोट का कूटस्थ नित्यपना बाधित होजाता है । व्यंजक कारणों करके स्फोट की अभिव्यक्ति यदि स्फोट से अभिन्न की गयी तो फिर स्फोट ही किया गया समझा जायगा, भिन्न पड़ी हुयी अभिव्यक्ति से स्फोटका स्वरूप पूर्ववत् अंधेरेमें ही पड़ा रहेगा । यों स्फोटवाद में अनेक दोष आते हैं । तथा यह शब्द तीव्र, मन्द, खर, निषाद, धैवत, उदात्त, अपभ्रंश संस्कृत, सत्य, आमंत्रण, निष्ठुर, आदि अनेक स्वभावो वाला है एक ही स्वभाव वाले शब्द की प्रतीति नहीं हो रही है नाना स्वभावों वाले शब्द स्वरूपका सर्वदा प्रतिभास हो रहा है.किसी भी एक शब्दको दूरदेशवर्त्ती, निकटदेश-वर्त्ती,अति समीप देशवर्त्ती, अनेक पुरुष न्यारे न्यारे ढंगों से सुनते हैं, यावन्ति कार्याणि तावन्तः प्रत्येकस्वभावभेदाः ,, इस नियम अनुसार वे सम्पूर्ण स्वभाव शब्द की आत्मा में प्रविष्ट होरहे माने ही जाते हैं,स्वचतुष्टयसे शब्द है. परकीय चतुष्टयसे नहीं. यों भी शब्द अनेक स्वभावों वाला है । शब्द में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, भी है, अतः अनेक युक्तियों से नाना स्वभाव-वाला शब्द सिद्ध हो जाता है ।

अतःप्रकाशरूपस्तु शब्दस्फोटोपरोध्वनेः ।
यथार्थगतिहेतुः स्यात्तथा गंधादितोपरः ॥ ४ ॥
गंधरूपरसस्पर्शस्फोटः किं नोपगम्यते ।
तत्राक्षेपसमाधानसमत्वात्सर्वथार्थतः ॥ ५ ॥

शब्दाद्वैतवादी पण्डित सम्पूर्ण ज्ञानों या अर्थों को शब्द-आत्मक स्वीकार करते हैं उनका अनुभव है कि यदि ज्ञानों में से शब्द स्वरूप को निकाल दिया जाय तो ज्ञान का पूरा शरीर मर जायगा, वाग्रूपता ही तो ज्ञान को प्रकाशती है, वही विचार करने वाली है, अनादि अनन्त शब्द ब्रह्म ही जगत् के अनेक पदार्थों स्वरूप परिणम जाता है वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ति और सूक्ष्मा ये चार वाणी हैं, इनमें सूक्ष्म वाणी अन्तरंग प्रकाशस्वरूप है. यह शब्दस्फोट भी कहा जा सकता है जो कि वायुस्वरूप ध्वनिसे निराला है, यही शब्दस्फोट वाच्यकी यथार्थ प्रतीति का कारण है । ग्रन्थकार कहते हैं कि प्रथम तो शब्दाद्वैत ही प्रत्यक्षबाधित है अर्थ या ज्ञानों को यदि शब्द से अनुविद्ध माना जायगा तो बालक, गूंगे, मौनव्रती, आदि को पदार्थों का प्रतिभास नहीं हो सकेगा. पत्थर, अग्नि, तोपगोला, बिजली, आदि शब्दों के सुनते ही कान जलजाने, फूट जाने आदि का प्रसंग आवेगा जब कि शब्द केवल श्रोत्रइन्द्रिय का विषय है तो वह अन्य इन्द्रियों के विषयों या सम्पूर्ण ज्ञानों के साथ तादात्म्य

कथमपि नहीं रख सकता है अन्तःप्रकाशरूप तो चैतन्यपदार्थ ही है, वाणी या शब्दस्फोट अन्तर्ज्योतीरूप नहीं हैं, ध्वनि से निराला अन्तरंग प्रकाशस्वरूप शब्द स्फोट यदि न्यूनातिरिक्त अर्थों की ज्ञप्ति का हेतु समझा जायगा तब तो गन्ध, रूप, आदि से निराला गन्ध स्फोट रूपस्फोट, रसस्फोट, स्पर्शस्फोट भी [illegible] हो रहे गन्ध को अर्थ का प्रत्यायक नहीं मानकर गन्धमें एक नित्य व्यापक निरंश,गन्धस्फोट मान लियाजाय जैसे कि शब्दस्फोट गढ़ लिया गया है। यदि गन्धस्फोट पर कोई आक्षेप किया जायगा तो वही आक्षेप मीमांसकों के शब्दस्फोटपर भी लागू होगा। मीमांसक यदि शब्द स्फोट पर लगाये गये आक्षेप का कोई समाधान करेंगे वही समाधान गन्धस्फोट के लिये भी औषधी होजायगा, रसस्फोट आदि में भी यही लगा लेना। सत्यार्थ रूप से विचार करने पर शब्दस्फोट के समान उन गन्धस्फोट आदि में भी आक्षेप और समाधान सभी प्रकार तुल्यरूप से लागू होजाते हैं।

नाकाशगुणः शब्दो बाह्येंद्रियविषयत्वाद्गंधादिवदित्यत्र न हेतुर्व्यभिचारी विपक्षावृत्तित्वात्। पटाकाशसंयोगेन व्यभिचार इति चेन्न, तस्याकाशगुणत्वैकांताभावात् तदुभयगुणत्वात्। तत्र बाह्येंद्रियविषयत्वासिद्धेः संयोगिनो गगनस्यातींद्रियत्वात्। पटस्येंद्रियविषयत्वेपि तत्संयोगस्य तदयोगात्। तदुक्तमन्यैः। "द्विष्ठ (द्वय)। संबंधसंवित्तिर्नैकरूपप्रवेदनात्। द्वयस्वरूपग्रहणे सति संबंधवेदनं" इति।

शब्द (पक्ष) आकाश द्रव्य का गुण नहीं है (साध्य) बहिरंग इन्द्रियों का विषय होने से (हेतु) गन्ध आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त)। यों इस अनुमान में प्रयुक्त किया गया बाह्य इन्द्रियों का विषयपना हेतु व्यभिचार दोष वाला नहीं है क्योंकि विपक्ष या विपक्ष के एक देश में भी नहीं वर्त रहा है। यदि यहाँ कपड़ा और आकाश दोनों के संयोग करके व्यभिचार उठाया जाय कि भले ही आकाश अतीन्द्रिय है फिर भी आंखों या स्पर्श इन्द्रिय से कपड़ा जान लिया जाता है, अतः कपड़ा और आकाश का संयोग बहिरंग इन्द्रियों से ग्राह्य तो है किन्तु उस संयोग में "आकाश के गुण होने का अभाव" यह साध्य नहीं है, पटके समान आकाशका भी गुण "पटआकाश संयोग" हो रहा है

ग्रन्थकार कहते हैं कि यह व्यभिचार दोष तो नहीं उठाना क्योंकि उस पट-आकाश संयोग को एकान्तरूप से आकाश के ही गुण होजाने का अभाव है वह पट-आकाशसंयोग तो वस्त्र और आकाश दोनों का गुण है, अतः उस वस्त्र-आकाश संयोग में बहिरंग इन्द्रियों का गोचरपना असिद्ध है, कारण कि वस्त्र आकाश संयोग का धारी माना गया आकाशद्रव्य तो अतीन्द्रिय है भले ही उस संयोग का धारक पट भी है और पट बहिरंग इन्द्रियों का विषय भी हो रहा है तथापि उन अतीन्द्रिय आकाश और इन्द्रियगोचर पटके संयोगको उस बाह्य इन्द्रिय की विषयता का अयोग है। अन्य वैशेषिक विद्वानों ने भी उस बात को यों अपने ग्रन्थों में कहा है कि दोनों के या दो में रहने वाले सम्बन्ध का परिज्ञान केवल एक ही पदार्थ के स्वरूप का सम्वेदन करने से नहीं होजाता है दोनों के स्वरूप का ग्रहण होने पर ही उन में रहने वाले सम्बन्ध का ज्ञान हो सकता है "द्वौ अवयवौ यस्य तद्द्वयं, द्वयोस्तिष्ठतीति द्विष्ठः।,, बात यह है कि दोनों में एकम एक होकर ठहर रहे सम्बन्ध की प्रतिपत्ति तो दोनों का परिज्ञान होजाने पर हो सकती है, अन्यथा नहीं। अतः बहिरंग इन्द्रियों का विषय नहीं हो सकने के कारण उस वस्त्र-आकाश के संयोग करके हेतु में व्यभिचार दोष नहीं लगता है।

एतेनैतदपि प्रत्युक्तं । यदुक्तं यौगैः— न स्पर्शवद्द्रव्यगुणः शब्दोऽस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सत्ययावद्द्रव्यभावित्वादकारणगुणपूर्वकत्वाच्च सुखादिवदिति, पक्षस्य प्रकृतानुमानबाधितत्वात् । शब्दस्य द्रव्यार्थादेशाद्यावद्द्रव्यभावित्वासिद्धेश्च रूपादिवत् पर्यायार्थादेशादकारण-

गुणपूर्वकत्वस्याप्यसिद्धिः शब्दपरिणतानां पुद्गलानामपरापरसदृशशब्दारंभकत्वात् । अन्यथा वक्तृदेशादन्यत्र शब्दस्याश्रवणप्रसंगात्

इस उक्त कथन करके इस बातका भी खण्डनकर दिया गया है जो कि वैशेषिकों या नैयायिक ने यों कहा था कि शब्द (पक्ष) स्पर्शवाले पृथिवी, अप, तेज, वायु द्रव्यों का गुण नहीं है (साध्य) क्योंकि हम आदि जीवों के प्रत्यक्ष का विषय होता संता शब्द अपने आश्रय माने गये द्रव्य के परिपूर्ण भागों में वृत्ति होरहा नहीं है (एक हेतु) । अथवा अपने कारण के गुणों को पूर्ववर्त्ती मान कर शब्द नहीं उपजता है, अर्थात्—घट रूप आदिक जैसे अपने कारणके कारण होरहे मृत्तिका के रूप या कपाल के रूप से उपज जाते हैं वैसा अपने कारणों के गुणों अनुसार शब्द की उत्पत्ति नहीं है (दूसरा हेतु) सुख, इच्छा, आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त) ।

इस पर आचार्य कहते हैं कि इस प्रतिज्ञा को प्रकरण–प्राप्त अनुमान से बाधा प्राप्त होजाती है, भावार्थ–शब्दो न स्पर्शवद्विशेषगुणः, शब्दो न दिक्कालमनो गुणः विशेषगुणत्वात्, नात्मविशेष-गुणः शब्दो बहिरिन्द्रियग्राह्यत्वात्, इन अनुमानों से परिशेष न्याय द्वारा शब्द को आकाश का गुण सिद्ध करने का वैशेषिकों ने प्रयत्न किया है, किन्तु शब्द आकाश का गुण नहीं है बहिरंग इन्द्रिय (कान) का विषय होने से गन्ध आदि के समान, इस निर्दोषअनुमान करके वैशेषिकों के अनुमान का हेतु बाधित हेत्वाभास होजाता है तथा द्रव्यार्थिक नय अनुसार कथन करने से शब्द के अयावद्द्रव्यभावीपन की असिद्धि है जैसे कि रूप, रस, आदिक पदार्थ अपने आश्रय होरहे द्रव्य में यावत्द्रव्यभावि हैं द्रव्य के कुछ भागोंमें रहें, कुछ भागोंमें नहीं रहें ऐसे नहीं हैं । इसी प्रकार जो द्रव्य शब्द होकर परिणत होगया है, उस उतने द्रव्य का शब्द नाम का विवर्त यावत्द्रव्यभावी है, अयावत्द्रव्यभावि नहीं है । वैशेषिकों का दूसरा हेतु अकारणगुणपूर्वकपना भी असिद्ध है क्योंकि पर्यायार्थिक नय अनुसार कथन करने से शब्द स्वरूप परिणत होरहे पुद्गलही उत्तरोत्तर सदृश शब्दोंका आरम्भ करने वाले माने जाते हैं, अतः शब्द कारण-गुण-पूर्वक ही है, अन्यथा यानी शब्दों को यदि कारणगुणपूर्वक नहीं माना जायगा तो वक्ता के मुख प्रदेश के सिवाय अन्य स्थलों में शब्द के नहीं सुने जाने का प्रसंग आवेगा अतः वैशेषिकों के दोनों हेतु स्वरूपासिद्ध हैं ।

ननु च वक्तृव्यापारात्पुद्गलस्कन्धः शब्दतया परिणमन्नेकोऽनेको वा परिणमेत् ? न तावदेकस्तस्य सकृत्सर्वदिक्षु गमनासंभवात् । यदि पुनरनेकः सर्वदिक्कैः श्रोतृभिः श्रूयते शब्दस्तावानेव वक्तृव्यापारनिष्पन्नः तच्छ्रोत्राभिमुखं गच्छतीति मतं, तदा सदृशशब्दकोलाहलश्रवणं श्रोतृजनस्य कुतो न भवेत् ? सर्वेषां शब्दानामेकैकश्रोतृश्रोत्रसंबन्धपरिणामाभावादिति चेत्, तर्ह्येकैकः शब्द एकैकश्रोतृश्रोत्रसंबन्धपरिणतः सर्वदिक्कं गच्छन्नेकेनैव श्रोत्रा श्रूयत इत्यायातं । तच्चायुक्तं, एकदिक्केषु समश्रेणिषु श्रोतृषु एवान्यस्याश्रवणात् श्रोत्रस्य परापरशब्दश्रवणविरोधात् ।

वैशेषिकोंकी ओर से बड़ा लम्बा यह आक्षेप उठाया जारहा है, कि जैनों के प्रति वैशेषिक प्रश्न करते हैं कि वक्ता के व्यापार से पुद्गल स्कन्ध ही शब्दस्वरूप करके परिणमन कर रहा जैनों ने माना है, वह क्या एक ही शब्द होके परिणमेगा ? अथवा क्या वह पुद्गल अनेक शब्द होकर परिणम जावेगा ? बताओ, पहिले विकल्प अनुसार एक ही शब्द तो परिणाम नहीं सकता है क्योंकि अकेले उस पौद्गलिक शब्द का एक ही बार सम्पूर्ण दिशाओं में दशों ओर गमन करने का असम्भव है, एक छोटी वस्तु एक समय में एक ही दिशा की ओर जा सकती है।

यदि फिर द्वितीय विकल्पअनुसार जैनों का यह मन्तव्य होय कि सम्पूर्णदिशाओं में प्राप्त होरहे जितने भी श्रोताओं करके शब्द सुना जा रहा है, उतने ही शब्द उस वक्ता के व्यापारों से उपज रहे सन्ते उन उन श्रोताओंके कानों के सन्मुख होते हुये चले जाते हैं। जब जैनों करके यों अभीष्ट किया गया होय तब तो हम वैशेषिक कहेंगे कि ऐसी अवस्था में श्रोताजनों को सदृश शब्दों के कोलाहल का सुनना भला क्यों नहीं होगा ?

यानी एक स्थल पर अनेक उपज रहे शब्द तो मिश्रित कोलाहल रूप से सुने जाने चाहिये इस पर जैन यदि यों कहैं कि सम्पूर्ण शब्दों का एक ही एक श्रोता करके ग्राह्यपने का परिणाम उपजता है, अतः सम्पूर्ण श्रोताओं को कई शब्दों का कोलाहल सुनाई नहीं पड़ता है, तब तो हम वैशेषिकों को कहना पड़ताहै कि एक ही एक शब्द एक एक श्रोता करके ग्रहण योग्यपन की परिणति से युक्त होकर सम्पूर्ण दिशाओं की ओर जा रहा सन्ता एक एक ही श्रोता करके सुना जाता है यह अभिप्राय आया किन्तु वह कथन अयुक्त है क्योंकि एक ही दिशा में वर्त रहे और कुछ समान दूरी पर विराज रहे श्रोताओं के स्थित होते सन्ते अति निकट-वर्ती श्रोताओं के कानों द्वारा उत्तरोत्तर शब्द के सुनने का विरोध आवेगा अर्थात्—जब शब्द तो एक ही श्रोता के सुनने योग्य उपजेगा तब उसी दिशा में कुछ दूर बैठे हुये श्रोताओं ने जिन शब्दों को सुन लिया है उन शब्दों को उसी दिशा में बैठे हुये निकट देश-वर्ती श्रोता नहीं सुन सकेंगे किन्तु जिसको दूर-वर्ती श्रोता सुनते हैं उस शब्द को निकटवर्ती श्रोता तो अवश्य ही सुनते हैं इस आक्षेप का समाधान करना कठिन पड़ेगा।

परापर एव शब्दः परापरश्रोतृभिः श्रूयते न पुनः सः एवेति चेत्, स तर्हि परापरशब्दः किं वक्तृव्यापारादेव प्रादुर्भवेदाहोस्वित्पूर्वश्रोतृशब्दात् ? प्रथमपक्षे कथमसौ परापरैः श्रोतृभिः श्रूयमाणः पूर्वपूर्वैः समभाकाशश्रेणिस्थैरपि न श्रूयते इति महदाश्चर्यं। न चैवं कारणगुणपूर्वकः शब्दः सिद्ध्येत् द्वितीयविकल्पे पर्यन्तस्थितश्रोतृश्रुतशब्दादपि शब्दांतरोत्पत्तिः कथं न भवेत् ? पुद्गलस्कंधस्य तदुपादानस्य सद्भावात्। वक्तृव्यापारजनितवायुविशेषस्य तत्सहकारिणस्तत्राभावादिति चेत्, तर्हि वायवीयः शब्दोस्तु किमपरेण पुद्गलविशेषेण तदुपादानेन कल्पितेनादृष्टकल्पनामात्रहेतुना किं कर्तव्यं, तथोपगमे स्वमतविरोधस्ततः स्याद्वादिनो दुर्निवार इति कश्चित्।

वैशेषिक ही कहे जा रहे हैं, कि यदि जैन यों कहैं कि अगले अगले देशों में वर्त रहे श्रोताओं करके फिर वह का वही शब्द थोड़ा ही सुना जाता है, किन्तु वक्ता के मुख से निकले हुये शब्द करके

उपज रहे अन्य अन्य अगले अगले शब्द ही उन श्रोताओं करके सुने जाते हैं। यों जैनों के कहने पर तब तो हम वैशेषिक पूछते हैं, कि वह उत्तरोत्तर उपज रहा शब्द क्या वक्ता के व्यापार से ही उत्पन्न होगा ? अथवा क्या पहिले पहिले श्रोताओं द्वारा सुने जा चुके शब्द से उपजेगा ? बताओ. जैनों द्वारा प्रथम पक्ष ग्रहण करने पर तो हम वैशेषिक कहते हैं, कि उत्तरोत्तर देश-वर्ती श्रोताओं करके सुना जा रहा वह शब्द भला उन आकाश श्रेणियों पर बैठे हुये अन्य श्रोताओं करके भी पहिले पहिले शब्दों के साथ क्यों नहीं सुना जाता है ? यह बहुत बड़ा आश्चर्य है।

एक बात यह भी है कि इस प्रकार वक्ता के व्यापार ही से शब्द की उत्पत्ति मानने पर जैनों का यह सिद्धान्त कि शब्द कारण-गुण-पूर्वक है, सिद्ध नहीं होपायेगा अर्थात्—वीचीतरंग न्याय से यदि पूर्व शब्द परिणत पुद्गलों करके ही अन्य शब्दों की उत्पत्ति मानी जाय तब तो कारण गुण पूर्वक शब्द सध पायेगा, अन्य प्रकारों से नहीं। यदि जैन दूसरा विकल्प लेवें कि श्रोताओं के पूर्व पूर्व शब्दों से उत्तर शब्दों की उत्पत्ति होती है. उस विकल्प में यहां वहां निकट स्थित होरहे श्रोताओं करके सुने गये शब्द से भी पुनः अन्य शब्दों की उत्पत्ति क्यों नहीं होजावेगी ? उन शब्दों के उपादान कारण माने जा रहे पुद्गल स्कन्धों का सर्वत्र सुलभतया सद्भाव पाया जाता है। यदि स्याद्वादी यों कहैं कि शब्दों के उत्पादक उपादान कारण पुद्गल स्कन्ध तो हैं किन्तु उस शब्द का सहकारी कारण होरहा वक्ता के व्यापार से उत्पन्न हुये विशेष वायु का वहां अभाव है। अतः मन्द मन्द शब्द से दूर देश तक अन्य शब्दों [illegible] खेतों में असंख्यों मन पड़ी हुई है। किन्तु थोड़े से बीज या ऋतु इन सहकारी कारणों के नहीं मिलने से हजारों, लाखों, मन अन्न नहीं उपज पाता है, यों जैन कहैं तब तो शब्द वायु से निर्मित हुआ कह दिया जाओ उसके उपादानरूप से कल्पित किये जा रहे दूसरे पुद्गल विशेषों करके क्या करने योग्य कार्य शेष रह जाता है ? ऐसा असत् पुद्गल तो केवल प्रमाणों द्वारा नहीं देखे जा चुके पदार्थों की कल्पना का ही हेतु है, शब्द का उपादान माना गया पुद्गल कोई वस्तुभूत नहीं है ; अवस्तु से क्या किया जासकता है ?

इस पर जैन यों इष्ट आपत्ति करें कि हम तिस प्रकार शब्द को वायु से उत्पन्न हुआ स्वीकार कर लेंगे वैशेषिकों के यहां माना गया आकाश का गुण शब्द नहीं होना चाहिये, यों मानने पर तो उस स्वीकृति से स्याद्वादी विद्वान के यहां आरहे अपने मत से विरोध का किसी भी प्रकार से निवारण नहीं किया जा सकता है। क्योंकि स्याद्वादियों ने शब्द को केवल वायुनिर्मित नहीं मान कर भाषा-वर्गणा या शब्दयोग्य पुद्गल स्कन्धों से उत्पन्न हुआ माना है बांसरी, बैन, पीपनी, हारमोनियम, में यद्यपि विशिष्ट छेदों में से निकल रही वायु ही शब्द स्वरूप होजाती है। किन्तु जैन मत में वहां भी तिस जाति के पुद्गल स्कन्धों की ही शब्द परिणति हुई मानी जाती है, इस प्रकार ननु च से प्रारम्भ कर यहां तक कोई वैशेषिक पण्डित कह रहा है।

सोऽप्यनालोचितवचनः, शब्दस्य गगनगुणत्वेऽपि प्रतिपादितदोषस्य समानत्वात्। तथाहि—शंखमुखसंयोगादाकाशे शब्दः प्रादुर्भवन्नेक एव प्रादुर्भवदनेको वा ? प्रथमपक्षे कुतस्तस्य नानादिक्कैः श्रोतृभिः श्रवणं ? सकृत्सर्वदिक्कगगनासंभवात्। अथानेकस्तदा शब्द-कोलाहलश्रुतिप्रसंगः समानः शब्दस्यानेकस्य सकृदुत्पत्तेः, सर्वदिक्काशेषश्रोतृश्रूयमाणस्य तावद्धा भेदसिद्धेः।

अब ग्रन्थकार कहते हैं कि वह कोई वैशेषिक भी विचारे जा चुके वचनों का बोलने वाला नहीं है जब कि शब्द को आकाश का गुण स्वीकार करने पर भी जैनों के ऊपर कहे जा चुके दोष उन्हीं वैशेषिकों के ऊपर समान रूप से लागू होजाते हैं इसी बात को स्पष्टरूप से यों समझिये कि आप वैशेषिकों के यहाँ शंख और मुख के संयोग से आकाश में उपज रहा शब्द क्या एक ही उत्पन्न होगा ? अथवा क्या अनेक शब्द उपज जावेंगे ? बताओ। पहिला पक्ष ग्रहण करनेपर उस एक ही शब्द का नाना दिशाओं में विराज रहे अनेक श्रोताओं करके भला कैसे श्रवण हो सकता है ? एक ही अंगूर को भला सौ आदमी [illegible] उसी प्रकार हम भी कहते हैं कि एक ही शब्द का सम्पूर्ण दिशाओं में वृत्ति होजाने के लिये एक ही समय गमन करने का असम्भव है

अब द्वितीय कल्पना अनुसार यदि वैशेषिक यों कहें कि मुख से शंख को बजाने पर अनेक शब्द उपज जाते हैं तब तो शब्दों के कोलाहल के श्रवण का प्रसंग समान रूप से उठाया जा सकता है जैसा कि आपने हमारे ऊपर उठाया था। दो सौ, चार सौ, गज दूर से मेला या हाट का शब्द जैसे कोलाहल रूप से सुनाजाता है उसी प्रकार एक ही बार में अनेक शब्दों को उत्पत्ति होजाने से कोलाहल सुनाई पड़ेगा तथा सम्पूर्ण दशों दिशाओं में बैठे हुये अशेष श्रोताओं करके सुने जा रहे शब्द के उतने परिमाण को लिये हुये प्रकार भिन्न भिन्न सिद्ध होजावेंगे। (प्रकारे था)।

यदि पुनरेकैकस्यैव शब्दस्यैकैकश्रोतृग्राह्यस्वभावतयोत्पत्तेर्न समानशब्दकलकलश्रुतिरिति मतं, तदैकदिक्केषु समानप्रणिधिषु श्रोतृषु प्रत्यासन्नतमश्रोतृश्रुतस्य शब्दस्यांत्यत्वाच्छब्दांतरारंभकत्वविरोधाच्छेषश्रोतृणां तच्छ्रवणं न स्यात्। तस्यापरशब्दारंभकत्वे चांत्यत्वाव्यवस्थितिः। प्रत्यासन्नतमश्रोतृश्रवणमपि न भवेत् तदभावे चाद्य एव शब्दः श्रूयते नांत्य इति सिद्धांतव्याघातः।

यदि फिर हमारे ऊपर किये गये आपादन के समान वैशेषिकों का यह मन्तव्य होय कि एक एक ही शब्द की एक एक श्रोता द्वारा ग्रहण करने योग्य स्वभाव रूप से उत्पत्ति होती है अतः अनेक समान शब्दों का कलकल रूप से सुनना नहीं होता है। तब तो हम जैन भी कह देंगे कि एक दिशा में स्थितहोरहे समान निकटता वाले श्रोताओं में भी अतीव निकट–वर्ती श्रोता द्वारा सुना जा चुका शब्द तो अन्तिम है, अन्तिम शब्द को अन्य शब्दों के आरम्भ करने का विरोध है जैसे कि चरम अवयवी पुनः अन्य अवयवी का उत्पादक नहीं माना गया है, इस कारण शेष श्रोताओं को उस मन्द शब्द का श्रवण नहीं हो सकेगा। यदि उस शब्द को अन्य उत्तरोत्तर शब्दों का आरम्भक माना जायगा तो उस शब्द के अन्तिमपन की व्यवस्था नहीं होसकेगी और अधिक निकटवर्ती श्रोता को भी उस शब्द का सुनना नहीं होसकेगा। टेलीफोन या टेलीग्राफद्वारा मन्द उच्चारित शब्द भी सैकड़ों हजारों कोस चला जाता है फिर भी अन्तिम जो कोई शब्द होगा वह पुनः शब्द का उत्पादक नहीं माना गया है। यदि वैशेषिक अतीव निकटवर्ती श्रोता को उस अन्तिम भी शब्द का सुनाई होजाना मानेंगे तो आदि में उपजा हुआ ही शब्द सुना जाता है अन्तिम शब्द नहीं सुना जाता है इस सिद्धान्त का व्याघात होजायगा। अर्थात्-सरोवर के मध्य में डेल डाल देने से जैसे सब ओर को जल की लहरें उठती हुईं फैल जाती हैं उसी प्रकार वीची-तरंग-न्याय करके अथवा कदम्ब-गोलक न्यायस

शब्द उपज रहा है यो पलरहा शब्द पहिला ही पहिला जहाँ किसीके कान में पड़ेगा वह उसको सुनाई देजायगा उससे पिछला शब्द तो आगे देशमें चला जायगा अतः आगे वाले श्रोताओं के प्रति वह पहिला पहिला होता हुआ सुनाई पड़ता जायगा। वक्ता, श्रोताओं में साधारण रूप से बोला जारहा या टेलीफोन अथवा बिना तार का तार आदि द्वारा फेंका गया जो सब से अन्त का शब्द होगा उसको कोई नहीं सुनसकेगा, उत्तरक्षण में शब्द मर ही जायगा।

अथ प्रत्यासन्नतमश्रोतारं प्रत्यसौ शब्दोंऽन्त्यस्तेन श्रूयमाणत्वान्न प्रत्यासन्नतरं तेन तस्याश्रवणात् [illegible] प्रत्यासन्नं प्रति तत एव सोपि तमेव प्रत्यन्त्यो न दूरश्रोतारं प्रतीतिमतिः, सापि न श्रेयसी, शब्दस्यैकस्यांत्यत्वानंत्यत्वविरोधात्तस्य निरंशत्वोपगमात् ।

अब यदि स्याद्वाद सिद्धान्त का आश्रय लेकर वैशेषिकों का यों मन्तव्य होगया होय कि अत्यधिक निकटवर्ती श्रोता के प्रति वह मन्द शब्द बोला गया अन्तिम कहा जायगा क्योंकि धीरे से कहा गया शब्द उस करके सुना जा रहा है किन्तु कुछ थोड़े निकट-वर्ती हो रहे पुरुष के प्रति वह मन्द शब्द अन्तिम नहीं है क्योंकि उस पुरुष ने उस शब्द को नहीं सुना है तथा उस थोड़े निकटवर्ती पुरुष ने भी जिस कुछ तीव्र शब्द को सुन पाया है वह कुछ तीव्र शब्द उस कुछ अन्तर लेकर बैठे हुये निकट--वर्ती पुरुष के प्रति तो अन्तिम है किन्तु उससे अधिक अन्तर पर बैठे हुये निकट-वर्ती पुरुष के प्रति अन्तिम नहीं है क्योंकि इसने उस शब्द को सुना नहीं है तिस ही कारण से यानी उस करके सुना जा रहा होने से वह निकट-वर्ती पुरुष के लिये कहा गया शब्द उस ही के प्रति अन्तिम है, दूरवर्त्ती श्रोता के प्रति अन्तिम नहीं है।

भावार्थ—एक हाथ अन्तराल देकर बैठे हुये पुरुष के प्रति जो वक्ता का शब्द अन्तिम है वह चार हाथ दूर बैठे हुये श्रोता के लिये अन्तिम नहीं है और जो चार हाथ दूर बैठेहुये श्रोता के लिये अन्तिम है वह दस हाथ दूर वर्त रहे श्रोता के लिये चरम नहीं है, दस हाथ दूर के श्रोता द्वारा अन्तिम सुना जा रहा व्याख्याता का शब्द भी सौ हाथ दूर बैठे हुये श्रोता के प्रति अन्तिम नहीं है। वैशेषिकों की ऐसी बुद्धि होजाने पर ग्रन्थकार कहते हैं कि वह बुद्धि भी श्रेष्ठ नहीं है क्योंकि एकान्तवादी वैशेषिकों के सिद्धान्त-अनुसार एक ही शब्द के अन्तिमपन और अनन्तिमपन का विरोध है क्योंकि वैशेषिकोंने शब्दको अंशों या स्वभावोंसे रहित स्वीकार किया है, यों आदिम शब्दके सुने जानेका सिद्धान्त बिगड़ता है।

अथ तस्यापि धर्मभेदोपगमाददोषः स तर्हि धर्मशब्दस्य जातिरेव भवितुमर्हति न गुणादिः शब्दस्य स्वयं गुणत्वात् तदाश्रयत्वासंभवात् । न च तदंत्यत्वं तदनंत्यत्वं वा जातिरेकव्यक्तिनिष्ठत्वात् जातेस्त्वनेकव्यक्तिवृत्तित्वात् ।

इसके अनन्तर वैशेषिक यदि यों कहें कि हम शब्द नामक धर्मी का भेद स्वीकार नहीं करते हैं हाँ शब्द के तीव्रपन, मन्दपन, मध्यमपन, आदि धर्मभेदों को मान लेते हैं, अतः हमारे ऊपर कोई दोष नहीं आता है। इस पर ग्रन्थकार प्रश्न उठाते हैं कि शब्द का वह अन्तिमपन या आद्यपन धर्म

सामान्यस्वरूप पदार्थ होसकता है नित्य होकर अनेकों में समवाय सम्बन्ध से जाति ही ठहर सकती है अन्त्यत्व कोई गुण तो नहीं है जैसे कि पृथक्त्व, द्वित्व, आदि गुण हैं अथवा वह अन्त्यत्व कोई कर्म पदार्थ या विशेष पदार्थ, आदि स्वरूप भी नहीं है क्योंकि शब्द स्वयं गुण माना गया है, वैशेषिकों के यहां गुणों में गुण, क्रिया, विशेष, ये भाव नहीं ठहर पाते हैं " गुणादिनिर्गुणक्रियः " जब कि शब्द स्वयं गुण है, इस कारण शब्द को उन गुणादिकों के आश्रय होजाने का असम्भव है, हां जाति, समवाय, और अभाव ये कुछ नियत पदार्थ [illegible] अन्तिमपन अथवा अनन्तिमपन धर्म भला जाति तो नहीं होसकते हैं क्योंकि भले ही लाखों, करोड़ों, अनन्ते भी पदार्थ क्यों न हों उनमें अन्तिम या आद्य एक ही होगा अतः एक व्यक्ति में ही वृत्ति होने के कारण अन्तिमत्व या आदिमत्व सामान्य पदार्थ नहीं है " नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतं सामान्यं " जाति की अनेक व्यक्तियों में वृत्ति मानी गयी है " व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थितिः । रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधक संग्रहः " । तभी तो आकाशत्व को जाति नहीं माना है।

अथैकश्रोतृश्रवणयोग्योनेकः शब्दोन्त्योऽनन्तश्चापरश्रोतृश्रवणयोग्योस्तीति मतं, तर्ह्याद्योपि शब्दोन्त्यः स्यात् कस्यचिच्छ्रवणयोग्यत्वात् कर्णशष्कुल्यन्तः-प्रविष्टकाशशब्दवत् कर्णघोषवद्वा तथा चाद्यः शब्दो न श्रूयते इति सिद्धान्तविरोधः।

अब इसके पश्चात् वैशेषिकों का यह मन्तव्य है कि एक श्रोता के सुनने योग्य हो रहा शब्द भी एक नहीं है, अनेक हैं अत अनेक शब्दों में अन्त्यपन, अनन्त्यपन ये जातियां ठहर जावेंगी इस कारण वह शब्द अन्तिम या अनन्तिम अथवा दूसरे श्रोताओं के सुनने योग्य है, अथवा शब्द के धर्म जाति न सही सखण्डोपाधि अवश्य है। ग्रन्थकार कहते हैं कि तब तो आदि में हुआ शब्द भी अन्तिम हो जाओ क्योंकि वह आदिम शब्द भी किसी न किसी निकटवर्ती श्रोताके सुनने योग्य तो है ही। जैसे कि कचौड़ी के समान बहिरंग उपकरण को धार रही कर्ण इन्द्रिय के भीतर प्रविष्ट होचुका आकाश यह शब्द आदिम होताहुआ भी अन्तिम है कोई कोई एकान्त में कहा गया शब्द एक ही के कान में घुस जाता है अथवा किसी के कान के समीप मुख लगाकर बड़ेबल से बोला गया घोष आत्मक शब्द आद्य होता हुआ भी अन्त्य है और उस प्रकार होने पर वैशेषिकों के यहां आद्य शब्द नहीं सुना जाता है, इस सिद्धान्तका विरोध होजावेगा अर्थात्–वैशेषिकों ने अन्तिम शब्दका सुनना ही क्वचित् स्वीकार किया है, जो शब्द जिस व्यक्ति के प्रति अन्तिम होता जाता है यानी उसके कान में लीन हो जाता है वह उसी शब्द को सुन सकता है आदि के शब्द तो शब्दान्तरों के आरम्भक होते जाते हैं, दार्शनिकों के सिद्धान्त भी अनेक अनुभवों के अनुसार विलक्षण होजाते हैं।

अथ न श्रवणयोग्यत्वादन्त्यत्वं किं तर्हि ? आद्यापेक्षया शब्दान्तरानारंभकत्वापेक्षया चेन्त्यभिमतिस्तदाद्यस्यान्त्यत्वं तदंत्यस्यानंत्यत्वं कथमुमपद्यते ? येनैकस्यान्त्यत्वं मनंत्यत्वं च स्यात्। ततः सूक्तं प्रत्यासन्नतमश्रोतृश्रुतशब्दाच्छब्दांतरस्याप्रादुर्भावादेकदिक्कसप्रणिधिश्रोतृपंक्त्या शब्दश्रवणाभावप्रसंग इति।

अब पुनः वैशेषिकों का अभिमानपूर्वक यह मन्तव्य होय कि सुनने योग्य होने के कारण उस शब्द का अन्तिमपना नहीं है तो क्या है ? इसका उत्तर हम वैशेषिक यों कहते हैं कि आदि में हुये

शब्द की अपेक्षा करके और अन्य शब्दों का आरम्भक नहीं होने की अपेक्षा करके उस शब्द का अन्तिमपना व्यवस्थित है। आचार्य कहते हैं कि तब तो [illegible] उस अन्तिम शब्द का अन्तिमपना भला किस प्रकार युक्तियों से घटित हो सकता है, जिससे कि एक ही शब्द का अन्तिमपना और अनन्तिमपना व्यवस्थित होसके, तिसकारण हमने बहुत अच्छा कहा था कि अत्यधिक निकट बैठे हुये श्रोता के द्वारा सुने गये मन्द शब्द से अन्य शब्दों का प्रादुर्भाव नहीं होता है, अतः एकदिशा में बैठे हुये निकट निकट वर्ती श्रोताओं की पंक्ति करके शब्द के सुने जाने के अभाव का प्रसंग उठाना यों ठीक है।

स्यान्मतं, शंखमुखसंयोगादाकाशे बहवः शब्दाः समानाः प्रत्याकाशप्रदेशकदंबकं शंखादुपजायंते ते च पवनप्रेरिततरंगात्मवच्छब्दांतराण्यारभंते, ततो भिन्नदिक्कसप्रणिधिश्रोतृपंक्तेरिवैकदिक्कसप्रणिधिश्रोतृपंक्तेरपि प्रतिनियतसंततिपतितस्यैव शब्दस्य श्रावणमेकस्यैव च श्रोतुर्न पुनरन्यस्य यतो निगदितदोषः स्यादिति तदप्यनालोचिताभिधानं शब्दसंततेः सर्वतोपर्यन्ततापत्तेः। समवायिकारणस्य गगनस्यासमवायिकारणस्य च शब्दस्य शब्दांतरहेतोः सद्भावात्। शंखमुखसंयोगजपवनाकाशसंयोगस्य शब्दकारणस्याभावान्नाभिमतः शब्दः शब्दान्तरमारभते यतः शब्दसंततेरपर्यन्तता स्यादिति चेत्, तर्हि वायवीयः शब्दोऽस्तु किमाकाशेन समवायिना कल्पितेनेति मतान्तरं स्यात्। शब्दाच्छब्दोत्पादनं स्यात्तस्यापि नभःसंयोगजत्वात्।

यदि वैशेषिकों का यह मन्तव्य होय कि शंख और मुख का संयोग होजाने से समवायि कारण आकाश में बहुत से समान शब्द आकाश के प्रत्येक प्रदेशों पर सरसों या कदम्बकपुष्प की आकृति अनुसार शंख से उपज जाते हैं और वे शब्द तो पवन से प्रेरीगयीं तरंगों के समान या दूसरी दूसरी तरंगों के समान शब्दान्तरोंकी उत्पत्ति करते चले जाते हैं तिस कारण भिन्न भिन्न दिशाओं में बर्त रहे समान-निकटता वाले श्रोताओं की पंक्ति के समान एक दिशा में बैठे हुये सन्निकट श्रोताओं की पंक्ति को भी प्रतिनियत होरही शब्द धारा की संतति में पड़े हुये ही शब्द का सुनना एक ही श्रोता को होसकता है, किन्तु फिर दूसरे श्रोताओं को वह शब्द सुनाई नहीं पड़ता है, जिससे कि जैनों के द्वारा पूर्व में कहा गया दोष हम वैशेषिकों के ऊपर लग बैठे।

आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार वैशेषिकों का वह कथन भी नहीं विचार कर बकदेना मात्र है क्योंकि यों तो शब्द की संततिधारा के सब ओर से अपर्यन्तपने का प्रसंग आता है। यानी एक शब्द की धारा लाखों, करोड़ों, अनन्ते, योजनों तक चली जायगी जब कि अन्य शब्दों की उत्पत्ति के कारण माने जा रहे समवायिकारण आकाश और असमवायिकारण शब्द का सर्वत्र सब ओर सद्भाव पाया जाता है। यदि पहिले जैनों द्वारा कराये गये निवारण समान वैशेषिक शब्द के अनन्तपन का यों निवारण करें कि शब्द का कारण आकाश भले ही सर्वत्र व्यापक है, और असमवायिकारण शब्द भी अत्यधिक दूर तक शब्दों को उपजाने के लिये सन्नद्ध है। किन्तु शंख और मुख के संयोग से उपज रही वायु के साथ होरहा आकाश संयोग भी शब्द का प्रकृष्ट कारण माना गया है, उस कारणके नहीं होने

से अन्तिम माना गया शब्द पुनः अन्य शब्दोंकी लहरों को नहीं उपजाता है, जिससे कि शब्द की संतति का पर्यन्तपना नहीं होसके।

यों कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं, कि यदि शब्द को उपजाने में वायु को इतनी प्रधानता दी जाती है, तब तो शब्द को वायुतत्व से बनाहुआ मान लिया जाओ समवायिकारण होकर कल्पना किये गये आकाश तत्व से क्या लाभ है ? यों और कहने पर वैशेषिकों को अन्यमतियों के मत को स्वीकार कर लेने का प्रसंग आवेगा। जैनमत अनुसार किसी किसी शब्द को वायुनिर्मित कहने में कोई क्षति नहीं है, पीपनी बजाने, बांसरी बजाने, डकार लेने, छींकने, आदि के शब्दों में वायु ही शब्दस्वरूप से परिणम जाती है, जिसमें कि शब्दयोग्य वर्गणायें भरी हुई हैं। आहार करने योग्य या पेय पदार्थों में भी तो अतीन्द्रिय वर्गणायें घुसी हुई हैं। शब्दानुविद्ध वादी पण्डित भी "स्थानेषु विवृत्ते वायौ कृत-वर्णपरिग्रहः, आदि स्वीकार करते हैं किन्तु शब्द को आकाश का गुण मानने वाले वैशेषिक कथमपि शब्द को वायु नामक उपादान कारण से बन रहा नहीं मानते हैं, अतः शब्द को वायवीय मानने पर वैशेषिकों के ऊपर मतान्तर दोष आता है, यहां वैशेषिकों को लेने के देने पड़ जाते हैं। "दोज का बदला तीज" है। ऐसा लौकिक न्याय है, दूसरी बात यह है, कि वायु का अडंगा लगा देने पर अब शब्द से शब्द की उत्पत्ति नहीं [illegible] वायुसंयोग से जन्य मान लिया जावेगा जब अत्यन्त परोक्ष आकाश की कल्पना करली जाती है, तो शब्दों के उत्पत्तिस्थल में स्थूल (सब के यहां आवश्यक मानी जा रही) वायु की कल्पना करना तो अतीव सुलभ है।

सत्येवाकाशे शब्दस्योत्पत्तिस्तत्समवायिकारणं न तत्प्रतिषेधहेतवो गमकाः स्युर्बाधितविषयत्वादिति मतं, तदा शब्दः स्पर्शवद्द्रव्यपर्यायो बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात्स्पर्शादिवादित्यनुमानात्तस्य पुद्गलपर्यायत्वे सिद्धे तत्प्रतिषेधहेतवोनुमानबाधितविषयत्वादेव गमकाः कथमुपपद्येरन् ?

वैशेषिक कहते हैं, कि आकाश के होने पर ही शब्द की उत्पत्ति देखी जाती है अतः वह आकाश इस शब्द का समवायिकारण है, ऐसे उस आकाश का निषेध करने वाले हेतु अपने साध्य के ज्ञापक नहीं होसकेंगे क्योंकि उनका विषय तो बाधित होजायगा, अतः आकाश की सिद्धि होचुकने पर साध्य की बाधा उपस्थित होजाने से वे हेतु कालात्ययापदिष्टहेत्वाभास होजायगे। यों वैशेषिकों का मत होगा। तब तो हम जैन कहते हैं, कि शब्द (पक्ष) स्पर्शवाले द्रव्यों का पर्याय है, (साध्य) बहिरंग इन्द्रियों से जन्य हुये प्रत्यक्ष का विषय होने से (हेतु . स्पर्श, गन्ध आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त) इस अनुमान से उस शब्द का पुद्गल द्रव्य का पर्याय होना सिद्ध होचुकने पर पुनः वैशेषिकों की ओर से उस स्पर्शवान् द्रव्य की पर्याय होने का प्रतिषेध करने वाले हेतु भला अनुमानप्रमाण करके स्वकीयविषयभूत साध्य के बाधित होजाने से ही किसी प्रकार ज्ञप्तिकारक होसकेंगे ? । अर्थात्—हम आकाश द्रव्य का खण्डन नहीं करते हैं, किन्तु आकाश को शब्द का उपादान कारण नहीं मानते हुये स्पर्शवान् द्रव्यों के उपादेय होरहे शब्द को स्वीकार करते हैं । ऐसी दशा में वैशेषिकों के हेतु बाधितहेत्वाभास होजाते हैं।

एतेन यदुक्तं सौगतैः—एकद्रव्याश्रितः शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्यैकेन्द्रिय-

प्रत्यक्षत्वाद्रूपवदिति, तदपि प्रत्याख्यातं, पुद्गलस्कन्धस्यैकद्रव्यस्य शब्दाश्रयस्योपगमेः सिद्धसाधनत्वात्। गगनाश्रयत्वे साध्ये साध्यविकलो दृष्टान्तः, स्याद्धेतुश्च विरुद्धः। तथाहि—स्पर्शवदेकद्रव्याश्रितः शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् रूपादिवत्। न च हेतोरात्मना व्यभिचारस्तस्यान्तःकरणप्रत्यक्षत्वात् नापि घटादिना तस्य बाह्येन्द्रियद्वयप्रत्यक्षत्वात् न रूपत्वेन तस्यासामान्यविशेषवत्त्वान्नापि संयोगेन तस्य बाह्यानेकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वाद्द्व्यंगुलसंयोगस्यानेकद्रव्याश्रितस्य स्पर्शनेन च साक्षात्करणात्। ततः सूक्तं-न शब्दः खगुणो बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् गन्धादिवदिति तस्य पुद्गलपर्यायत्वव्यवस्थितेः।

यहां बौद्ध बोलते हैं, इस बात को नैयायिक कहैं तो और भी अच्छा लगेगा कि शब्द (पक्ष) एक ही द्रव्य के आश्रित होरहा है। (साध्य) सामान्य विशेषवान् होते सन्ते बहिरंग एक इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष किये जाने से (हेतु) रूप के समान (अन्वयदृष्टान्त)। आचार्य कहते हैं कि इसप्रकार जो बौद्धों ने कहा था इस उक्त कथन करके इसका भी खण्डन कर दिया गया है, क्योंकि इसमें सिद्धसाधन-दोष है, बंध जाने के कारण एक अशुद्ध द्रव्य होरहे पुद्गल स्कन्ध को शब्द का आश्रयपना निर्णीत कर दिया गया है। अतः आप उसी के उसी सिद्ध होरहे शब्द के एक द्रव्याश्रितपन सिद्धान्त को साध रहे हैं।

यदि एक द्रव्य पद से नैयायिक या बौद्धों का यह अभिप्राय होय कि एक आश्रयभूत गगन नामक द्रव्य के आश्रित होरहे शब्द को साध्य किया गया है। तब तो तुम्हारे अनुमान का दृष्टान्त साध्य से विकल होजायगा क्योंकि रूप तो आकाश के आश्रित नहीं है, कोई भी वादी आकाश में रूप गुण को वर्त रहा नहीं स्वीकार करता है, और तुम्हारा हेतु विरुद्ध हेत्वाभास हुआ जाता है, कारण कि गगन के आश्रित होने से विरुद्ध होरहे पृथिवी आदि के आश्रितपन के साथ हेतु की व्याप्ति है। इसी बात को यों स्पष्ट कर समझ लीजियेगा कि शब्द (पक्ष) स्पर्शवाले एक द्रव्य के आश्रित होरहा है, (साध्य) क्योंकि सामान्य के विशेष होरहे गुणत्व, शब्दत्व, आदि जातियों का धारण करते सन्ते बाह्य एकेन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष का विषय वह है (हेतु)। रूप, रस आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त)

हमारे इस हेतु का आत्मा करके व्यभिचार नहीं आता है, क्योंकि उस आत्मा का बहिरंग इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता है। अन्तरंग मन इन्द्रिय करके आत्मा का प्रत्यक्ष होना सब ने स्वीकार किया है, तथा घट, पट, आदि करके भी उस हेतु का व्यभिचार नहीं है, क्योंकि बहिरंग होरहीं दो स्पर्शन और चक्षुः इन्द्रियों करके घट आदि के प्रत्यक्ष होने की योग्यता है और हमारे हेतु में बहिरंग एक इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होना यह पद पड़ा हुआ है। तथा रूपगुण में रहने वाली रूपत्व जाति करके हमारे हेतु में व्यभिचार दोष नहीं आता है, क्योंकि जाति में पुनः कोई साधारण सामान्य सत्ता द्रव्य या विशेष सामान्य पृथिवीत्व, घटत्व, आदि नहीं रहता है "जातौ जात्यन्तरानङ्गीकारात्" अतः रूपत्व जाति किसी भी सामान्य विशेष को धारने वाली नहीं है, हेतु का सत्यन्त विशेषण वहां नहीं घटा। तथा संयोग गुण करके भी हेतु का व्यभिचार नहीं आता है क्योंकि वह संयोग तो बहिरंग अनेक इन्द्रियों द्वारा हुये प्रत्यक्ष का गोचर है यद्यपि दो अंगुलियों का संयोग विचारा स्पर्श वाले अनेक द्रव्यों के आश्रित है किन्तु उस संयोग का चक्षु और स्पर्श इन्द्रिय करके भी साक्षात्कार होजाता है। तिस कारण हमने यों दूसरी वार्तिक में बहुत अच्छा कहा था कि शब्द (पक्ष) आकाश का गुण नहीं

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज किया गया होने से (हेतु) गन्ध, रस, आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त)। कारण कि उस शब्द को पुद्गल द्रव्य का पर्यायपना युक्तिपूर्वक व्यवस्थित कर दिया है, यहां तक पहिली वार्त्तिक के विवरण में एक विद्वान् करके उठाये गये शब्द को आकाश के गुण होने के आक्षेप का निराकरण कर दिया है। अब वहीं उठाये गये शब्द को अमूर्त द्रव्य कहने वाले किसी अन्य विद्वान् के कटाक्ष का ग्रन्थकार निवारण करते हैं।

तथा नामूर्तिद्रव्यं शब्दः बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् घटादिवत्। न नभसा व्यभिचारः साधनस्य, नभसो बाह्येन्द्रियाप्रत्यक्षत्वात्। ननु च शुषिरस्य चक्षुषा स्पर्शनेन च प्रत्यक्षकरणात् यच्छुषिरं तदाकाशमिति वचनाद्बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षमेवाकाशं तस्येदंप्रत्ययप्ररूपणादिति चेत्, नैतत्सत्यं, शुषिरस्य घनद्रव्याभावरूपत्वादुपचारतस्तत्राकाशव्यपदेशात् घनद्रव्याभावस्य च द्रव्यान्तरसद्भावरूपत्वात्। तत्र चक्षुषः स्पर्शनस्य च व्यापारात्। परमार्थतस्त्वप्रत्यक्षत्वान्नभसः तथ हि—नभो न बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षममूर्तद्रव्यत्वादात्मादिवत् यत्तु बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षं तन्नामूर्तद्रव्यं यथा घटादिद्रव्यं इति न नभसा व्यभिचारी हेतुः।

तथा शब्द (पक्ष) अमूर्त द्रव्य नहीं है (साध्यदल) वहिरंग इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष का विषय होने से (हेतु) घट आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त)। हमारे इस बाह्येन्द्रिय प्रत्यक्षत्व हेतु का आकाश करके व्यभिचार नहीं आता है। क्योंकि अत्यन्त परोक्ष आकाश का वहिरंग इन्द्रियों से प्रत्यक्षज्ञान नहीं होने पाता है। यहाँ कोई प्रश्न उठाते हैं, कि छिद्र का चक्षु या स्पर्श इन्द्रिय करके प्रत्यक्ष किया जारहा है, और जो छेद है, वह आकाश है। ऐसा शास्त्रीय वचन है. अतः आकाश भी वहिरंगइन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष का विषय है ही। उस आकाशका "यह छेद, यह कुआ, यह मुख,, आदि इस प्रकार "यह ये" ऐसे प्रत्यक्षसूचक इदं शब्द की वाच्यता करके निरूपण किया जाता है। अर्थात्—यह मोरी बड़ी है, यह छेद छोटा है,यह कुआ गहरा है, मुखमें कौर धर दो, कान में दवाई डाल दो, इसी प्रकार ऐंड़ा, गुदस्थान, तिखाल, घर, गुहा, ये सब आकाश स्वरूप ही पदार्थ हैं, चारों ओर के मिट्टी या ईंट के घेरे को मोरी नहीं कहते हैं, किन्तु घेरे के बीच में आगये आकाश को मोरी कहा जाता है, चलनी में से चून छनता है, कोतवाली में मनुष्य जा रहा है, पेट में रोटी रखी है, यहां गली, पेट, आदि शब्दों से पोल ही समझी जाती है और जो पोल है, वह आकाश है, इस प्रकार आंखों या स्पर्शन से आकाशका प्रत्यक्ष भी स्पष्ट किया जा रहा है। अतः जैनों के हेतु का आकाश करके व्यभिचार दोष लगना तदवस्थ रहा।

इस प्रकार कह चुकने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कहना सत्य नहीं है, कारण कि छेद तो घने द्रव्यों का अभाव स्वरूप है, अतः उपचार से उस छेद में आकाशपने का वचनव्यवहार कर दिया जाता है। वस्तुतः विचारा जाय तो जैन सिद्धान्त में तुच्छ अभाव स्वीकार नहीं किया गया है,

घनद्रव्य का अभाव तो अन्य द्रव्यों के सद्भाव स्वरूप है, उस अन्य पौद्गलिक द्रव्य में चक्षु: या स्पर्शन इन्द्रिय का व्यापार होरहा है। अत: परमार्थरूप से उस द्रव्यान्तर का प्रत्यक्षहोना तो आकाश का प्रत्यक्ष हुआ नहीं कहा जा सकता है,आकाश द्रव्य अत्यन्त परोक्ष है। अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान की भी उस में प्रवृत्ति नहीं है, इन्द्रियजन्य ज्ञान को कौन पूछे ? अन्धकार, उजाला, या चारों ओर घेरा, यहां वहां के चमड़ा, आदि पौद्लिक पिण्ड पदार्थों को ही कूप, तिखाल, घर, गुद स्थान, कान आदि मानना चाहिये। आकाश का "इदम: प्रत्यक्षकृते समीपतरनिष्ठं एतदो रूपं, अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात्,, इस नियम अनुसार प्रत्यक्ष होरहे अर्थ के वाचक इदम् शब्द द्वारा प्ररूपण नहीं होसकता है, किसी भी दार्शनिक ने आकाश का बहिरिन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होना स्वीकार नहीं किया है। इसी बात का स्पष्टीकरण यों समझो कि आकाश (पक्ष) बहिरंग इन्द्रियों से उपजे प्रत्यक्षज्ञान का विषय नहीं है, (साध्य) अमूर्तद्रव्य होने से (हेतु ,परमाण्वादिककालआत्मादि की सदृशसिद्धि(व्यतिरेकदृष्टान्त)) जो बाहरली इन्द्रियों द्वारा हुये प्रत्यक्ष का गोचर है वह तो अमूर्त द्रव्य नहीं है, जैसे कि घट, पट, आदि अशुद्ध द्रव्य हैं (व्यतिरेकदृष्टान्त)। इस कारण हमारा बाह्यइन्द्रियप्रत्यक्षत्व हेतु आकाश करके व्यभिचारी नहीं है।

स्यादाकूतं ते अमूर्तं द्रव्यं शब्द: परममहत्त्वाश्रयत्वादाकाशवदित्यनुमानबाधित: पक्ष इति। तदसम्यक् परममहत्त्वाश्रयत्वस्यासिद्धत्वात्। तथाहि—न परममहान् शब्द: अस्मदादिप्रत्यक्षत्वात् पटादिवत् न पि मुख्यप्रत्यक्षेण नभसा,तस्यास्मदादिमन:प्रत्यक्षत्वासिद्धे:। सांव्यवहारिकेन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षस्य स्वसंवेदनस्य सुखादिप्रतिभासिनश्चक्षुरादिपरिच्छिन्नार्थस्मरणस्य च विशदस्याभ्युपगमात् गगनादिष्वतीन्द्रियेषु मानसप्रत्यक्षानवतारात्।

यदि तुम मीमांसकों की यह चेष्टा होय कि शब्द (पक्ष) अमूर्तद्रव्य है, (साध्य), परम महत्त्व नामक परिणाम का आश्रय होने से (हेतु), आकाश के समान (अन्वयदृष्टान्त)। इस अनुमान से जैनों की "शब्द अमूर्त है" यह प्रतिज्ञा बाधित होजाती है। ग्रन्थकार कहते हैं, कि यह कुतर्क करना समीचीन नहीं है, कारण कि शब्द को परम महत्परिणाम का आश्रयपना असिद्ध है अत: तुम्हारा हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है, इस बात को हम यों स्पष्ट रूप से समझाते हैं, कि शब्द (पक्ष) परममहान् नहीं है (साध्यदल) हम आदि छद्मस्थ जीवों के प्रत्यक्षज्ञान का विषय होने से (हेतु) पट आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त)। इस अनुमान के हेतु में भी मुख्यप्रत्यक्ष का विषय होरहे आकाश करके व्यभिचार दोष नहीं आता है। क्योंकि उस आकाश को हम आदि अर्वाग्दर्शी जीवों के मन से उत्पन्न हुये प्रत्यक्ष का गोचरपना असिद्ध है।

सांख्यों के यहां मानी गयी व्यापक प्रकृति करके भी हेतु का व्यभिचार नहीं आताहै, आकाश या सांख्यों की प्रकृति अथवा वैशेषिकों के काल द्रव्य का मन: इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होपाता है। बात यह है, कि "इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशत: सांव्यवहारिकम्,, समीचीन व्यवहार के अनुरोध से मन:

अनिन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष का, और स्वसंवेदन प्रत्यक्षका, तथा सुख आदि को प्रतिभास कर रहे ज्ञान का, एवं चक्षु आदि द्वारा ज्ञात किये अर्थों के स्मरणका, विशद प्रत्यक्ष होना स्वीकार किया गया है।

भावार्थ–भले ही स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, आदिक परोक्ष ज्ञान होंय, संशय, विपर्यय, विचारे मिथ्याज्ञान होंय किन्तु इनका स्वसंवेदन तो प्रत्यक्ष ही होरहा है। "भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवः। बहिःप्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च ते" (देवागम)। सुख, इच्छा, वेदना, आदि को जानने वाले ज्ञान का स्वसम्वेदन संज्ञी जीव के प्रमाणात्मक हुआ मानस प्रत्यक्ष कहा जा सकता है, यद्यपि स्मरणज्ञान परोक्ष है फिर भी चक्षु आदि से जाने जाचुके अर्थ के स्मरण का पुनः पुनः इन्द्रिय करके प्रत्यक्ष होना सब को अभीष्ट है, अतः इन्द्रिय और अनिन्द्रिय से उत्पन्न हुये एक देश विशदज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहदेते हैं, गगन, काल, आदि अतीन्द्रियपदार्थोंमें मानस प्रत्यक्ष द्वारा अवगति होना कथमपि नहीं इष्ट किया गया है।

नचैवं मतिज्ञानस्य सर्वद्रव्यविषयत्ववचनं विरुध्यते, गगनादीनामतीन्द्रियद्रव्याणां स्वार्थानुमानमतिविषयत्वाभ्युपगमात्।

यहां कोई आक्षेप करता है कि "मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु" यह श्री उमास्वामी महाराज द्वारा निर्णीत हो चुका है "तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं" वह मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रिय को निमित्त पाकर उपजता है यह भी समझा दिया गया है आकाश में भले ही बहिरंग इन्द्रियों की प्रवृत्ति नहीं होय, यह उचित है किन्तु अनिन्द्रिय मन से जन्य भी मतिज्ञान की विषयता यदि आकाश में नहीं मानी जायगी तो इस प्रकार मतिज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण द्रव्यों का विषय होजाना यह सूत्रकार का कथन विरुद्ध पड़ जाता है, जैन आचार्यों को परस्पर-विरोधी वचन नहीं बोलना चाहिये। आचार्य कहते हैं कि यह आक्षेप नहीं करना क्योंकि "मतिस्मृतिःसंज्ञाचिन्ताभिनिरोध इत्यनर्थान्तरम्" इस सूत्र करके अनुमान ज्ञानको मतिज्ञान स्वरूप ठहराया है।

"अत्थादो अत्थंतरमुवलंभंतं भणंति सुदणाणं।
"आभिणिबोहियपुव्वं णियमेणिह सद्दजं पमुहं" (गोम्मटसारजीवकाण्ड)

इस लक्षण गाथा अनुसार अर्थ से अर्थान्तर का ज्ञान श्रुतज्ञान समझा जाता है। अर्थात् जहां साधन से साध्य का भेद दृष्टिगोचर होरहा है वहां न्यारे ज्ञापकहेतु से हुआ साध्य का ज्ञान तो श्रुतज्ञान कहा जायगा किन्तु साध्य और साधन में कथंचित् अभेद को विचारते हुये जो अनुमान प्रवर्तेगा वह मतिज्ञान कहा जायगा। स्वार्थानुमान और परार्थानुमान यों अनुमान के दो भेद हैं अभिनिबोधनामक मतिज्ञान स्वार्थानुमान है, परार्थानुमान तो श्रुतज्ञान में जायगा। आकाश, काल, धर्म आदि अतीन्द्रिय द्रव्यों को हम स्वार्थानुमान नामक मतिज्ञान का विषय होना स्वीकार करते हैं, अतः कोई पूर्वापर विरोध नहीं है। मन इन्द्रिय से सुख, वेदना, आत्मा आदि पदार्थों का सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष होजाता है तथा अनिन्द्रिय नामक मन को आलम्बन

करता हुआ नो-इन्द्रियावरण कर्म का क्षयोपशम स्वरूप लब्धि को पूर्ववृत्ति कर आकाश आदि द्रव्यों का अवग्रह आदि मतिज्ञान-स्वरूप उपयोग पहिले ही हो जाता है उसके पश्चात् झट उस मतिज्ञान से श्रुतज्ञान प्रवर्त जाता है, मतिज्ञान से जाने हुये अर्थ में अन्य विशेषों को जानने के लिये श्रुतज्ञान प्रवर्तता है, अतः आकाश, धर्म, आदि को मतिज्ञान कुछ जान लेता है पश्चात् श्रुतज्ञान उनका अधिक प्रतिभास कर लेता है "श्रुतं मतिपूर्वं"

आकाश की अवगति में श्रुतज्ञान का पूरा हाथ होते हुये भी कुछ मतिज्ञान का हाथ रह चुका है। मतिज्ञान कितने अंश का परिज्ञायक है ? इसके विवेक को विचक्षण विद्वान ही कर सकते हैं जैसे कि ईहा मतिज्ञान-पूर्वक हुये ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान के विषय में ईहा का हाथ कितना है ? इसका भेद-विज्ञान करना साधारण बुद्धि वाले का कार्य नहीं है। मनःपर्ययज्ञान और श्रुतज्ञान के पहिले उस विषय के स्वल्प अंशों को जानने वाला मतिज्ञान प्रवर्त जाता है तभी तो इन दो ज्ञानों के प्रथम दर्शन होने की आवश्यकता नहीं। विभङ्ग ज्ञान के प्रथम भी दर्शन नहीं होता है, हाँ मतिज्ञान के पहिले महासत्ता का आलोचक दर्शन उपयोग अवश्य हो गया था, अतः आकाश के कुछ विषय अंश का मनःपूर्वक परोक्ष मतिज्ञान होते हुये भी आकाश का मानसप्रत्यक्ष होना स्वीकार नहीं किया गया है, जैसा कि सुख, दुःख, आत्मा आदि का मन इन्द्रिय से सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष हुआ इष्ट किया गया है, अतः हमारे हेतु का आकाश से व्यभिचार दोष नहीं लगता है।

अस्मदादिप्रत्यक्षतया सत्तयानेकांत इत्यपि न स्याद्वादिना चाम्यते, सत्तायाः सर्वथा परममहत्त्वाभावात् । परममहतो द्रव्यस्य नभसः सत्ता हि परममहती नामवगत-द्रव्यादिसत्ता। न च नभसः सत्तास्मदादिप्रत्यक्षा ततो न तया व्यभिचारः । न च सकल-द्रव्यपर्यायव्यापिन्येकैव सत्ता प्रसिद्धा, तस्यास्तथोपचारतः प्रतिपादनात् । परमार्थतस्तदेकत्वे विश्वरूपत्वविरोधात् । सत्प्रत्ययाविशेषादेकैव सत्तेति चेन्न सर्वथा सत्प्रत्ययाविशेषस्यासिद्धत्वात् संयुक्तप्रत्ययाविशेषवत् ।

यदि वैशेषिक हमारे अस्मदादि प्रत्यक्षत्व हेतु का सत्ता जाति करके व्यभिचार उठावें कि द्रव्य, गुण, कर्मों, में वर्त रही सत्ता जाति का हमको प्रत्यक्ष होता है किन्तु वहाँ परम महत्वाभाव यह साध्य तो नहीं है क्योंकि सत्ता जाति सर्वत्र व्याप रही है। आचार्य कहते हैं कि स्याद्वादी विद्वान करके यह व्यभिचार भी सहन करने योग्य नहीं है क्योंकि सत्ता जाति के सभी प्रकार परम महापरिमाण-धारीपन का अभाव है, एक तो वैसे ही वैशेषिकों ने सत्ता की द्रव्य, गुण, कर्मों, में ही वृत्ति स्वीकार की है, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव, इन चार पदार्थों में सत्ता जाति नहीं ठहरती कही है दूसरे परम महत्व परिमाण नामक गुण तो द्रव्य में ठहर सकता है, जाति में गुणों का निवास नहीं माना गया है। हाँ जिसी आकाश में परममहत्वगुण समवाय से रहता है उसी में सत्ता जाति भी समवाय सम्बन्ध से ठहर जाती है, इस कारण

सत्ता में परममहत्त्वगुण एकार्थसमवाय सम्बन्ध से पाया भी गया किन्तु आकाश की सत्ता का हम आदि को प्रत्यक्ष नहीं होपाता है, तिस कारण हेतु के नहीं ठहरने से उस आकाश की सत्ता करके व्यभिचार दोष नहीं आया। अव्यापक हो रहे घट, पट, आदि द्रव्यों की या अव्यापी रूप, रस, क्रिया आदि पदार्थों की सत्ता तो मुख्यनियामक हुये एकार्थ समवाय सम्बन्ध से भी परम महान नहीं है।

एक बात यह भी है कि सम्पूर्ण द्रव्य अथवा पर्यायों में व्यापरही और एक ही मानी जा रही सत्ता जाति प्रसिद्ध भी नहीं है। देवदत्त, घट, पट, कालाणु, आदि में कोई भी एक व्यापक सत्ता की प्रतीति नहीं होती है। केवल अनेक पदार्थों में न्यारी न्यारी वर्त रहीं अवान्तरसत्ताओं का कल्पित पिण्ड मान कर गढ़ ली गयी उस महासत्ता का जिस प्रकार उपचार से ही एकपन या व्यापकपन क्वचित् शास्त्र में समझा दिया गया है यदि वास्तविक रूप से उस सत्ता को एक माना जायगा तो वह जगत के सम्पूर्ण पदार्थों-स्वरूप नहीं हो सकेगी जगत का कोई भी एक पदार्थ बिचारा जड़ चेतन, विषअमृत, परमात्मा अशुद्धात्मा, आदि में एक स्वरूप होकर नहीं ठहर सकता है, जड़ या चेतन द्रव्यों के सामान्य गुण कहे जा रहे अस्तित्व, वस्तुत्व, आदिक स्वभाव भी प्रत्येक में न्यारे न्यारे हैं। विष अमृत, अग्नि जल, आदि पर्यायों के विवर्तयिता माने गये पुद्गलों के रूप रस, आदि आदि गुण भी प्रत्येक में अलग अलग हैं किन्तु सत्ता को विश्वरूप माना गया है।

" सत्ता सयलपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया।
भंगोप्पादधुवत्था सप्पडिवक्खा हवदि एगा।" (पंचास्तिकाय)

विश्वरूप वही पदार्थ हो सकता है जो सम्पूर्ण विरुद्ध, अविरुद्ध, पदार्थों में तन्मय होकर ओत-प्रोत घुस रहा हो। परीक्षा-दृष्टि से विचारने पर निर्णीत हो जाता है कि ऐसा सब में ओत पोत घुसने वाला कोई पदार्थ जगत में नहीं है सब को न्यारी न्यारी अनन्तानन्त अवान्तर सत्तायें ही संग्रहनय की अपेक्षा महासत्ता नाम को पाजाती हैं जैसे कि न्यारे न्यारे अनेक वृक्षों का एक विशिष्ट सन्निकटपन हो जाने से उपवन या वन यह नाम पड जाता है, अतः वैशेषिकों को वस्तुतः एक ही व्यापक सत्ताजाति का आग्रह नहीं करना चाहिये।

वैशेषिक कहते हैं " सदिति लिंगाविशेषात् विशेषलिंगाभावाच्चैको भावः " ॥ १७। (वैशेषिक दर्शन के पहिले अध्याय में द्वितीय आह्निक का सूत्र है) तदनुसार घटः सन् है, आत्मा सन् है, रूपं सत् है, क्रिया सती है, इत्यादि सत् सत् इत्याकारक प्रत्ययों में कोई विशेषता नहीं देखी जाती है, इस कारण सत्ता जाति एक ही है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि सत् सत् इन ज्ञानों का सभी प्रकारों से अन्तर रहित होजाना असिद्ध है, जैसे कि पट के साथ साथ घट संयुक्त है, आत्मा के साथ कर्म संयुक्त है, अधर्म द्रव्य के साथ धर्मद्रव्य संयुक्त है, आकाश का काल के साथ संयोग हो रहा है, इत्यादिक संयुक्तपने को विषय कर रहे ज्ञानों की अविशेषता प्रसिद्ध है अर्थात्-स्थूल रूप से उक्त स्थलों पर संयुक्त हैं, संयुक्त है, ऐसे एक से ज्ञान

उपज जाते हैं किन्तु वस्तुतः विचारने पर वे संयोग गुण जैसे विशिष्ट हो रहे न्यारे न्यारे माने गये हैं उसी प्रकार समान आनुपूर्वी होते हुये भी सत्ता जाति न्यारी न्यारी माननी पड़ेगी अतः असिद्ध हेत्वाभास हो रहे "सत्प्रत्ययाविशेष" हेतु से सत्ता का एकपना सिद्ध नहीं होसकता है। समवाय भी एक नहीं सधपाता है। यहाँ तक निर्णय हुआ कि अस्मदादि करके प्रत्यक्षका विषय होने से शब्द परम महान नहीं है, भले ही लहरी प्रवाह से शब्द को हजारों कोस लम्बा मान लिया जाय किन्तु मीमांसकों के अभिप्राय अनुसार शब्द का आकाश के समान व्यापक द्रव्यपना नहीं प्रतीत किया जा रहा है।

अत्रान्ये प्राहुः—न द्रव्यं शब्दः किं तर्हि ? गुणः प्रतिषिद्धमानद्रव्यकर्मत्वे सति सत्त्वाद् रूपवत्। शब्दो न द्रव्यमनित्यत्वे सत्यस्मदाद्यचाक्षुषप्रत्यक्षत्वात्। शब्दो न कर्माचाक्षुषप्रत्यक्षत्वाद्रसवदिति। तदयुक्तं—मीमांसकान् प्रति तेषां वायुनास्मदाद्यचाक्षुषप्रत्यक्षत्वस्य व्यभिचाराद्वायोरस्मदादिप्रत्यक्षत्वात्। अनित्यत्वविशेषणस्य चाप्रसिद्धत्वात् द्रव्यत्वप्रतिषेधानुपपत्तेः। कर्मत्वप्रतिषेधनस्याचाक्षुषप्रत्यक्षत्वस्य वायुकर्मणानैकान्तिकत्वात्।

यहां प्रकरण पाकर कोई दूसरे वैशेषिक विद्वान् अपने मन्तव्य को बहुत बढ़िया मानते हुये यों कह रहे हैं कि शब्द (पक्ष) द्रव्य नहीं है (साध्य)। तो शब्द क्या पदार्थ है ? इसका उत्तर यह है कि शब्द तो गुण है (प्रतिज्ञा) द्रव्यों और कर्मों से भिन्न होते सन्ते सत्तावाला होने से (हेतु) रूप के समान (अन्वयदृष्टान्त)। अर्थात्—सत्तावाले तीन ही द्रव्य, कर्म, गुण, पदार्थ हैं तिन में से द्रव्य और कर्म से भिन्नपना यों विशेषण लगा देने पर सविशेषण सत्तावत्व हेतु से शब्द में गुणत्व की सिद्धि होजाती है। वैशेषिक अपने हेतु के विशेषण का यों अनुमान द्वारा पुष्ट करते हैं, कि शब्द (पक्ष) द्रव्य नहीं है, (साध्य) अनित्य होते सन्ते अस्मदादिकों के चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय नहीं होने से (हेतु) रस के समान (अन्वयदृष्टान्त)। हम आदि के चक्षुओं द्वारा नहीं जानने योग्य आकाश आदि नित्य द्रव्य हैं, अतः अनित्यत्वे सति इस विशेषण से आकाश, दिक्, काल, आत्मा, मन और पृथिवी आदि चारों धातुओं के परमाणुओं करके सम्भवने योग्य व्यभिचार की निवृत्ति होजाती है, शेष घट आदि अनित्य द्रव्यों द्वारा आपादन करने योग्य व्यभिचार का निवारण अस्मदादि अचाक्षुषप्रत्यक्षत्व से होजाता है। तथा शब्द (पक्ष) कर्म पदार्थ नहीं है, (साध्य) क्योंकि वह चक्षुरिन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष का विषय नहीं है (हेतु), रस के समान (अन्वयदृष्टान्त)। इस प्रकार शब्दका द्रव्यपन और कर्मपन का अभाव साध दिया गया है।

आचार्य कहते हैं, कि मीमांसकों के प्रति या जैनों के प्रति वह वैशेषिकों का कथन युक्ति रहित है क्योंकि उन मीमांसकों के यहाँ वायु करके अस्मदादि के चाक्षुषप्रत्यक्ष का नहीं गोचरपन हेतु का व्यभिचार आता है, वायु का हम आदि की स्पर्शन इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है। वैशेषिकों ने भी वायु का चक्षुः द्वारा प्रत्यक्ष होना अभीष्ट नहीं किया है, अतः बीजना की वायु, आंधी, श्वास

लेना, आदि वायुयें अनित्य होरही सन्ती हम आदि के चक्षुओं द्वारा नहीं जानी जाती हैं, किन्तु वे वायुयें द्रव्य तो हैं, यह व्यभिचार हुआ। एक बात यह भी है, कि मीमांसकोंके प्रति कथन करने से शब्द का अनित्यपना विशेषण अप्रसिद्ध है जब कि मीमांसक शब्द का नित्यपना स्वीकार कर रहे हैं। अत: अस्मदादि अचाक्षुष प्रत्यक्षपन हेतु से शब्द में द्रव्यपन का निषेध नहीं सध सकता है, तथा शब्द में कर्मपन का निषेध करने वाले अचाक्षुष प्रयक्षत्व हेतु का वायु की चलन क्रिया करके व्यभिचार आता है। अर्थात्-वायु की क्रिया चक्षुरिन्द्रिय से नहीं जानी जाती है किन्तु उस क्रिया में क्रियात्वा-भाव नामक साध्य नहीं रहा, वायु क्रिया तो कर्म पदार्थ है।

द्रव्यं शब्दः क्रियात्वाद्बाणादिवदित्यपरे । ते यदि स्याद्वादमतमाश्रित्याचक्षते तदापसिद्धान्तः शब्दस्य पर्यायतया प्रवचने निरूपणादन्यथा पुद्गलानां शब्दवत्वविरोधात् । द्रव्यार्थादेशाद्द्रव्यं शब्दः पुद्गलद्रव्याभेदादिति चेत् किमेवं गंधादिरपि द्रव्यं न स्यात ।

यहां कोई दूसरे पण्डित जी यों कह रहे हैं कि शब्द (पक्ष) द्रव्य है, (साध्य) क्रियावाला होने से (हेतु), बाण, गोली, वायु, आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त)। आचार्य कहते हैं कि वे पण्डित जी यदि स्याद्वाद सिद्धान्त का आश्रय लेकर कहरहे हैं तब तो उनके ऊपर अपसिद्धान्त नामक दोष है, क्योंकि वे जैन सिद्धान्त से बाहर जा रहे हैं, जैन शास्त्रों में शब्द को पर्यायरूप से कथन किया है "सद्दो बंधो सुहमो थूलो संठाण भेदतमछाया। उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया" यानी शब्दको पुद्गलकी पर्याय नहीं माना जायगा तो पुद्गलोंको शब्द-सहितपन का विरोध होजावेगा द्रव्य ही सहभावी क्रमभावी पर्यायों को धारते हैं, हां स्याद्वाद सिद्धान्त के बल बूते पर द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से पुदगल द्रव्यके साथ शब्द पर्याय का अभेद होजाने के कारण यदि शब्द को द्रव्य कहा जायगा तब तो इस प्रकार गन्ध आदिक भी क्यों नहीं द्रव्य होजावें पोली या चापलूसीकी बातें हमको मनोहर नहीं भासती हैं, युक्तिसिद्ध निर्णीत जैन-सिद्धान्त का निर्भय होकर आश्रय लेना चाहिये। द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि अनुसार गन्ध गुण, की सुगन्ध दुर्गन्ध, पर्यायें नहीं ज्ञात हुयीं केवल नित्य द्रव्य ही प्रतीत होता रहता है। अतः शब्द के समान गन्ध, रूप आदि भी द्रव्य हो जाओ किन्तु यह प्रामाणिक मार्ग नहीं है।

गन्धादयो गुणा एव द्रव्याश्रितत्वात् निर्गुणत्वाच्च "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" इति वचनान्निष्क्रियत्वाच्चेति चेत्,शब्दस्तत एव गुणोस्तु ।

शब्द को द्रव्य मानने वाले अपर विद्वान् कहते हैं। कि गन्ध, रूप, आदि तो गुण ही हैं, (प्रतिज्ञा), द्रव्य के आश्रित होरहे होने से और गुणों करके रहित होने से (दो हेतु)। देखो स्वयं सूत्रकार ने ऐसा कहा है, कि जो अधिकरण भूत द्रव्य के आश्रित होरहे सन्ते स्वयं पुनः अन्यगुणों से रहित हैं, वे गुण हैं। एक बात यह भी है कि क्रियाओं से रहित होने के कारण (तीसरा हेतु) भी गन्ध आदिक तो गुण ही समझे जायंगे। यों कहने पर तो आचार्य कहते हैं कि तिस ही कारण यानी

द्रव्य के आश्रित होने से तथा गुण रहित होने से और क्रिया रहित होने से, शब्द भी गुण होजाओ शब्द के द्रव्यपन का एकान्त बखाने जाना ठीक नहीं है।

सहभावित्वाभावान्न गुण इति चेत्, कथं रूपादिविशेषास्तस्य गुणा भवेयुः। सामान्यार्पणात्तेषां सहभावित्वात् पुद्गलद्रव्यस्य तद्गुणास्त इति चेत्, शब्दसहभावित्वं समवायिकारणमस्तु भवत एव पृथिवीद्रव्याभावे सत्यप्याकाशे गन्धस्यानुत्पत्तेः पृथिवी द्रव्यमेव तस्य समवायिकारणमाकाशं तु निमित्तमिति चेत् तर्हि वायुद्रव्यस्याभावे शब्दस्यानुत्पत्तेः तदेव तस्य समवायिकारणमस्तु गगनं तु निमित्तमात्रं तस्य सर्वोत्पत्तिमतामुत्पत्तौ निमित्तकारणत्वोपगमात्। पवनद्रव्याभावेपि भेरीदण्डसंयोगाच्छब्दस्योत्पत्तेर्न पवनद्रव्यं तत्समवायि पृथिव्यप्तेजोद्रव्यवदिति चेत् तर्हि शब्दपरिणामयोग्यं पुद्गलद्रव्यं शब्दस्योपादानकारणमस्तु वाय्वादेरनियततया तत्सहकारित्वसिद्धेः।

यदि अपर विद्वान् यों कहें कि "सहभाविनो गुणाः" अनादि से अनन्त काल तक द्रव्य के साथ विद्यमान रहने वाले गुण होते हैं, सहभावी नहीं होने से शब्द गुण नहीं होसकता है, यों कहने पर तो हम जैन कहेंगे कि तिस ही कारण से यानी सहभावी नहीं होने से रूप, रस, आदि गुणों के काले, खट्टे, आदि विशेष विवर्त भला किस प्रकार गुण होसकेंगे ? बताओ यदि आप यों कहो कि रूप, रस, आदि के विवर्तों में अन्वित होरहे सामान्य की विवक्षा करने से उन काले आदि विशेषों का पुद्गल द्रव्य के साथ सहभावीपना है, अतः वे उस पुद्गल के गुण कह दिये जाते हैं तब तो हम जैन कहते हैं, कि यों पुद्गल द्रव्य के साथ शब्द का भी सामान्य रूप से सहभावीपना है अतः शब्द का समवायीकारण भी पुद्गल द्रव्य होजाओ। केवल आप वैशेषिकों के यहां ही गन्ध का समवायी कारण पृथिवी और स्नेह का समवायी कारण जल तथा भास्वर रूप का समवायी कारण तेजो द्रव्य आदि मान रखे हैं, सामान्य की अपेक्षा से सहभावी होने के कारण आकाश के भी गन्ध आदि गुण होजाओ। सत्य बात तो यह है कि शब्द हो चाहे गन्ध, स्नेह रूप अनुष्णाशीत, आदि होवे इन सब का समवायी कारण पुद्गल द्रव्य ही प्रतीति सिद्ध है।

यदि तुम यों कहो कि पृथिवी द्रव्य के नहीं होने पर और आकाश द्रव्य के होते सन्ते भी गन्ध की उत्पत्ति नहीं होपाती है। अतः पृथिवी द्रव्य ही उस गन्ध का समवायी कारण होसकेगा आकाश द्रव्य तो केवल निमित्त कारण है, जैसे कि काल द्रव्य सब कार्यों का निमित्त माना गया है "जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः", यों कहो तब तो हम जैन आपादन करते हैं, कि वायु द्रव्य के नहीं होने पर कहीं भी शब्द नहीं उपज पाता है अतः वह वायु द्रव्य ही उस शब्द का समवायीकारण होजाओ, आकाश तो केवल निमित्तकारण मान लिया जाय क्योंकि सम्पूर्ण उपजने वाले कार्यों की उत्पत्ति में उस आकाश का निमित्त कारण होजाना स्वीकार किया गया है।

यदि तुम यह कटाक्ष करो कि बड़े नगाड़े के साथ वेग युक्त दण्ड का संयोग होजाने से शब्द की

उत्पत्ति होजाती है। बांस आदिके फटने पर विभाग से भी शब्द पैदा होता है, शब्द से भी शब्द उपज जाता है "संयोगाद्विभागाच्छब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः ३१ (वैशेषिक दर्शनके द्वितीय अध्यायमें प्रथमआन्हिक का यह सूत्र है।) अतः वायु द्रव्य तो उस शब्द का समवायीकारण नहीं माना जाता है, जैसे कि

अन्वय व्यतिरेक नहीं घटने से पृथिवी, जल, तेजो द्रव्य, ये शब्द के समवायी कारण नहीं हैं तुम्हारे यों कहने पर, तब तो यही जैन सिद्धान्त अच्छा जंचजाता है, कि शब्द नामक पर्याय रूप से परिणमने योग्य पुद्गल द्रव्य ही शब्द का उपादान कारण मान लिया जाओ, वायु, आकाश, आदि तो अत्यावश्यक होकर नियत कारण नहीं हैं, यानी वायु या आकाश ही शब्द स्वरूप होकर नहीं परिणमते हैं, हां ये शब्द की उत्पत्ति में सहायक मात्र हैं, अतः उस शब्द के सहकारी कारण होकर प्रसिद्ध होजाते हैं।

कुतस्तत्सिद्धिरिति चेत्, पृथिव्यादेः कुतः? प्रतिविशिष्टस्पर्शरूपरसगंधानामुपलंभात्पृथिव्याः सिद्धिः, स्पर्शरूपरसविशेषाणामुपलब्धेरपां, स्पर्शरूपविशेषयोरुपलब्धेस्तेजसः। स्पर्शविशेषस्योपलंभाद्वायोः। स्वाश्रयद्रव्याभावे तदनुपपत्तेरिति चेत्, तर्हि शब्दस्य पृथिव्यादिष्वसंभविनः स्फुटमुपलंभात्तदाश्रयद्रव्यस्य भाषावर्गणापुद्गलस्य प्रसिद्धिरन्यथा तदनुपपत्तेः।

यदि वैशेषिकों का पक्ष ले रहे अपर पण्डित यों बिभीषिका दिखलावें कि बताओ उस शब्द परिणतियोग्य पुद्गल द्रव्य की किस प्रमाण से सिद्धि करोगे? यों कहने पर तो हम जैन भी यों धौंस देसकते हैं, कि तुम ही बताओ कि पृथिवी आदि न्यारे न्यारे चार तत्वों को आप कैसे किस ढंग से साधोगे? यदि वैशेषिक यों कहें कि अन्य द्रव्यों की अपेक्षा प्रत्येक पृथिवी तत्व में विशिष्ट रूप से पाये जा रहे पार्थिव स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, गुणों की उपलब्धि होजाने से पृथिवी द्रव्य की सिद्धि होजाती है, विशिष्ट होरहे स्पर्श, रूप, रसों, की उपलब्धि होजाने से जल द्रव्य को साध लिया जाता है, उष्णस्पर्श और भास्वर रूप इन विशेषगुणों के देखने से तेजोद्रव्य की प्रसिद्धि होजाती है, योगवाही अनुष्णाशीतस्पर्श विशेष का उपलम्भ होजाने से वायु द्रव्य को सिद्ध कर दिया जाता है, क्योंकि अपने आश्रय होरहे नियत द्रव्य के बिना उन स्पर्श आदि विशेषों का उपलम्भ होना नहीं बन पाता है, यों वैशेषिकों के कथन करने पर, तब तो हम स्याद्वादी कहते हैं कि पृथिवी, जल, आदि में कथमपि उपादेय होकर नहीं सम्भव रहे शब्द का विशदरूप से उपलम्भ होरहा है, अतः उस शब्द के उपादानरूप से आश्रय होरहे भाषावर्गणा स्वरूप पुद्गल द्रव्यकी प्रमाणोंसे सिद्धि होजाती है, अन्यथा यानी भाषा वर्गणा या शब्द योग्यवर्गणा के बिना उस शब्द की उत्पत्ति होना नहीं बन सकता है, उपादान कारण के बिना शब्द का उपजना असम्भव है।

न च परमाणुरूपः पुद्गलः शब्दस्यास्मदादिबाह्येन्द्रियग्रहणात् आयातपादिवत् स्कंधरूपस्तु स्यादिति सूक्ष्मगुणद्गुणस्कंधः सूक्ष्मभाषावग पुद्गलोऽस्मदादिबा-

बाह्येन्द्रियग्राह्यपुद्गलस्कंधात्मा शब्दः प्रादुर्भवन् कारणगुणपूर्वक एव पटरूपादिवत्। ततोऽकारणगुणपूर्वकत्वादित्यसिद्धो हेतुरयावद्द्रव्यभावित्वादिवत् ।

रूप, रस, आदि का आश्रय भले ही परमाणु होजाओ किन्तु परमाणु स्वरूप पुद्गल द्रव्य सूक्ष्म स्थूल माने गये शब्द का आश्रय नहीं होसकता है, (प्रतिज्ञा) बाह्य इन्द्रिय करके ग्रहण करने योग्य होने से (हेतु) बादरसूक्ष्म, होरहे छाया, घाम, चाँदनी, आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त) हाँ मोटा स्कन्धस्वरूप पुद्गल तो शब्दका आश्रय होसकेगा इसकारण सूक्ष्मरूप से शब्द गुण को तदात्मक होकर धार रहे सूक्ष्म भाषा वर्गणा नामक पुद्गलों से हम आदि की बाहरली इन्द्रियों करके ग्रहण करने योग्य पुद्गलस्कन्ध स्वरूप शब्द-पर्याय प्रगट होजाती है, जो कि कारण गुण-पूर्वक ही है, जैसे कि पटरूप, मोदकरस, आदि हैं। अर्थात्-सूतों के रूप अनुसार कपड़े में रूप उपज जाता है, खांड या बूरे की मिष्टता अनुसार लड्डू मीठा होजाता है, इसी प्रकार सूक्ष्मरूप से शब्द गुण को धार रहीं यानी शक्ति रूप से झटिति शब्द होने की योग्यता को धार रहीं पुद्गलवर्गणाओं करके शब्द उपज जाता है, पूर्ववर्त्ती होरहे कारण के गुण कार्य में आजाते हैं, तिस कारण वैशेषिकों द्वारा कहा गया "अकारणगुणपूर्वकत्वात्" यह हेतु असिद्धहेत्वाभास है जैसे कि अयावद्द्रव्य-भावित्व, द्रव्यकर्मभिन्नत्वे सति सत्व, आदिक हेतु असिद्ध हैं। भावार्थ-यौगों ने शब्द में स्पर्शवान् द्रव्य के गुण नहीं होने को साध्य करने पर अयावत् द्रव्यभावित्व और अकारणगुणपूर्वकत्व ये दो हेतु कहे थे उक्त विचारणा होचुकने पर वे दोनों हेतु सिद्ध नहीं होपाये हैं।

कश्चिदाह अकारणगुणपूर्वकः शब्दोऽस्पर्शद्रव्यगुणत्वात् सुखादिवदिति तस्यापि परस्पराश्रयः। सिद्धे ह्यकारणगुणपूर्वकत्वे शब्दस्यास्पर्शवद्द्रव्यगुणत्वं सिद्ध्येत् तत्सिद्धौ चाकारणगुणपूर्वकत्वमिति। तथा नाकारणगुणपूर्वकः शब्दोऽस्मदादिबाह्येन्द्रियज्ञानपरिच्छेद्यत्वे सति गुणत्वात् पटरूपादिवदित्यनुमानविरुद्धश्च पक्षः स्यात् नचात्र हेतोः परमाणुरूपादिना व्यभिचारः सुखादिना वा, बाह्येन्द्रियज्ञानपरिच्छेद्यत्वे सतीति विशेषणात्।

कोई वैशेषिक का एक-देशी पण्डित यों यहां कह रहा है कि शब्द (पक्ष) स्वकीय कारणों के गुणों को पूर्व-वृत्ति मानकर आत्म-लाभ कर रहे निज गुणों का धारी नहीं है (साध्य) स्पर्श गुण से रीते हो रहे किसी द्रव्य विशेष का गुण होने से (हेतु) सुख, इच्छा आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त)। ग्रन्थकार कहते हैं कि उस वैशेषिक के यहां भी अन्योन्याश्रय दोष आता है। शब्द को अकारणगुणपूर्वकपना सिद्ध हो चुकने पर विचारा नहीं स्पर्श वाले द्रव्य का गुण होना सिद्ध होय और शब्द को स्पर्शरहित द्रव्य का गुण होना सध चुकने पर तो शब्द का अकारण-गुण पूर्वकपना सध सके। अर्थात्-वैशेषिकों ने पहिले "यदुक्तं यौगैः" यहां से प्रारम्भ कर "न स्पर्शवद्द्रव्यगुणः शब्दः अकारणगुणपूर्वकत्वात्" इस

अनुमान द्वारा अकारणपूर्वकत्व हेतु से स्पर्शवद्द्रव्यगुणत्वाभाव को शब्द में साधा था और अब अस्पर्शवद्द्रव्यगुणत्व हेतु से अकारण गुण पूर्वकत्व को साध रहे हैं, यह स्पष्ट इतरेतराश्रय दोष दीख रहा है, दोनों में से यदि एक सिद्ध होय तब तो दूसरे असिद्ध साध्य को वह समझा सकता है किन्तु जब दोनों ही अंधेरे में पड़े हुये हैं तो किस असिद्ध से कौन से असिद्ध की सिद्धि की जा सकती है ? एक अन्धे को दूसरे अन्धे द्वारा अज्ञात या अपरिचित पथ का प्रदर्शन नहीं कराया जा सकता है तथा एक बात यह भी है कि शब्द (पक्ष) कारण के गुणों को पूर्ववर्ती स्वीकार कर उपज रहा नहीं है (साध्य) हम आदि असर्वज्ञ जीवों की बहिरंग इन्द्रियों से उपजे हुये ज्ञान द्वारा जाना जा रहा सन्ता गुण होने से (हेतु) घटरूप, पटरूप, आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त)।

इस निर्दोष अनुमान करके भी तुम्हारा पक्ष विरुद्ध होजाता है अर्थात्-वैशेषिकों का अस्पर्शवद्द्रव्यगुणत्व हेतु सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास है। इस अनुमान में कहे गये हेतु का परमाणुरूप, द्व्यणुकरूप, आदि करके अथवा सुख, इच्छा, आदि करके व्यभिचार दोष नहीं आता है क्योंकि हेतु के शरीर में बहिरंग इन्द्रिय-जन्य ज्ञान से ज्ञेय होते सन्ते ऐसा विशेषण दे रखा है। भावार्थ-यदि केवल गुणत्व ही विशेष्य दल होता तो व्यभिचार अवश्य ही हो जाता, जब कि परमाणुरूप आदि या सुख आदि गुण तो हैं किन्तु वे अकारणगुणपूर्वक ही हैं, कारण गुणपूर्वकत्व या अकारण-गुणपूर्वकत्व का अभाव वाले वे नहीं हैं। वैशेषिकों के यहां परमाणुरूप के कारण होरहे परमाणु का और सुख के कारण होरहे नित्य आत्मा का कोई कारण ही नहीं माना गया है। जैनसिद्धान्त अनुसार यद्यपि "भेदादणुः" भेदसे अणु पर्याय की उत्पत्ति और पर्यायार्थिक नय अनुसार आत्मा के भी उत्पाद, व्यय ध्रौव्य माने गये हैं फिर भी परमाणु या आत्मा के गुणों का कारण-गुणपूर्वकपना नियत नहीं है। एक बात यह भी यहां विचार में रखने की है वैशेषिकों के मत की अपेक्षा यह विशेषण दिये जा रहे हैं, वैशेषिकों की युक्तियों से ही यदि वैशेषिकों के सिद्धान्त का निराकरण होजाय यह हमें प्रशस्त मार्ग जंचता है क्योंकि इसमें अधिक झंझटें नहीं उठानी पड़ती हैं।

तथापि योगिबाह्येंद्रियप्रत्यक्षेण परमाणुरूपादिनानेकांत इति न शंकनीयमस्मदादिग्रहणात्। पृथिवीत्वादिसामान्येनानित्यद्रव्यविशेषेण समवायेन कर्मणा वा व्यभिचार इत्यपि न मंतव्यं गुणत्वादिति वचनात् न चैवं स्याद्वादिनामपसिद्धान्तः शब्दस्य पर्यायत्ववचनात् पर्यायस्य च गुणत्वात् तथा चाहुरकलंकदेवाः, शब्दः पुद्गलपर्यायः स्कंधः छायातपादिवदिति।

तिस प्रकार बाह्य-इन्द्रिय इस विशेषण द्वारा परमाणुरूप या सुख आदि करके व्यभिचार की निवृत्ति होते हुये भी यदि वैशेषिकों के मन में यह आशंका होय कि जैनों के

अस्मदादि बाह्येन्द्रिय ज्ञान परिच्छेद्यत्वे सति गुणत्व हेतु का योगी की बहिरंग इन्द्रियों से उपजे हुये प्रत्यक्षज्ञान के विषय होरहे परमाणु रूप आदि करके व्यभिचार होजायगा। आचार्य कहते हैं कि यह तो वैशेषिकों को शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि तुम्हारे सिद्धान्त का विचार कर ही हेतु में " अस्मदादि " इस पद का ग्रहण है अर्थात् हम आदि लौकिक प्रत्यक्ष करने वाले जीवों की बहिरंग इन्द्रियों से परमाणु के रूप या आत्मा के सुख की ज्ञप्ति नहीं हो पाती है सन्निकर्ष को प्रत्यक्षप्रमाण मानने वाले वैशेषिकों ने तीन प्रकार के अलौकिक सन्निकर्षों में योगज सन्निकर्ष भी स्वीकार किया है। युक्त और युंजान स्वरूप दो योगियों के समाधि विशेष से उत्पन्न हुआ सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान और चिन्ता की सहकारिता से उपजा सूक्ष्म, स्थूल, व्यवहित विप्रकृष्ट अर्थों का प्रत्यक्ष होजाता है वे योगी तो हम आदि से विलक्षण हो रहे जीव ही समझे जावेंगे, जैन सिद्धान्त अनुसार यदि हेतु कहा जाता तो " अस्मदादि" पद व्यर्थ ही था क्योंकि चाहे सर्वज्ञ होय या अवधि ज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी होय, बहिरंग इन्द्रियों से ये अतीन्द्रिय पदार्थों को कथमपि नहीं जान पाते हैं तथा हमारे बाह्येन्द्रियज्ञानपरिच्छेद्यत्वे सति गुणत्व हेतु का पृथिवीत्व, घटत्व, आदि जातियों करके तथा नित्य द्रव्यवृत्ति अन्त्य विशेषों से नहीं किन्तु अनित्य द्रव्यों के विशेष करके अथवा अनित्य द्रव्यों के विशेषण हो रहे समवाय करके एवं हलन, चलन, आदि क्रिया करके व्यभिचार दोष आजाय यह तो नहीं मान लेना चाहिये क्योंकि गुणत्वात् ऐसा हेतु का विशेष्य दल कहा गया है।

अर्थात्-भले ही " उद्भूतरूपं नयनस्य गोचरो, द्रव्याणि तद्वन्ति पृथक्त्वसंख्ये। विभागसंयोगपरापरत्वस्नेहद्रवत्वं परिमाणयुक्तम् ॥ ५४ ॥ क्रियां जाति योग्यवृत्ति समवायं च तादृशं। गृह्णाति चक्षुः सम्बन्धादालोकोद्भूतरूपयोः ॥ ५५ ॥ (कारिकावली) इस नियम अनुसार पृथिवीत्व आदि जातियों का अनित्य द्रव्य, गुण, कर्मों, में वर्त रहे समवाय का और प्रत्यक्षयोग्य क्रियाओं का, बहिरंग इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष हो जाना वैशेषिकों के यहाँ मान लिया गया है, वे पृथिवीत्व आदिक कारणगुणपूर्वक नहीं है किन्तु गुण नहीं होने से उन करके व्यभिचार नहीं होपाता है वैशेषिकों के सिद्धान्त अनुसार शब्द में गुणपना मान लेने से इस प्रकार शब्द में कारणगुणपूर्वकपन या अकारणगुणपूर्वकत्वाभाव का साधन करने पर स्याद्वादियों के यहाँ अपसिद्धान्त यानी सर्वज्ञ की आम्नाय करके प्राप्त होरहे स्वकीय सिद्धान्त से कोई विरोध नहीं आता है क्योंकि जैन सिद्धान्त में शब्द का पर्यायरूप से कथन किया गया है और पर्याय का गुणपना मान लिया गया है।

इसी बात को यों श्री अकलंकदेव महाराज तिस प्रकार कह रहे हैं कि छाया, आतप उद्योत, आदि के समान शब्द नामक स्कन्ध भी पुद्गल द्रव्य की पर्याय है अर्थात् " सहभाविनो गुणाः क्रमभाविनः पर्यायाः" यों गुणों को द्रव्य का सहभावी पर्याय अभीष्ट किया ही गया है तभी तो पुद्गल द्रव्य के अनादि से अनन्त काल तक साथ हो रहे रूप, रस, आदि गुण सहभावी पर्याय हैं और जीव के चेतना, सुख, वीर्य, सम्यक्त्व, चारित्र, अस्तित्व, वस्तुत्व, आदि गुण सहभावी पर्याय माने गये हैं " गुणसमुदायो द्रव्यं " गुणों का समुदाय द्रव्य है, नित्य गुणों का समुदाय जैसे नित्यद्रव्य है उसी प्रकार पर्याय शक्ति या अनित्य गुणों का तादात्म्यक पिण्ड होरहा अशुद्ध द्रव्य है। संसारी जीव में भावयोग, पर्याप्ति, आदि तो पर्यायात्मक गुण हैं, अग्नि

नामक पुद्गल में दाहकत्व पाचकत्व, शोषकत्व स्फोटकत्व आदि पर्याय-शक्तियां (अनित्यगुण)

विद्यमान हैं। विष पुद्गल में मारकत्व शक्ति है किन्तु विष की कालान्तर में अमृत, औषधि दुग्ध, आदि परिणति होजाने पर उसमें जीवकत्व शक्ति उपज जाती है। सर्प के मुख में दूध विष हो जाता है। शब्द नामक पुद्गल स्कन्ध या अशुद्ध द्रव्य भी अनेक पर्याय शक्तियों को धार रहा है। गाली के शब्दों से दुःख उपजता है, प्रशंसा-सूचक शब्दों से हर्ष उत्पन्न होता है, मंत्र-आत्मक शब्दों से अनेक सिद्धियां होजाती हैं, सांप, बिच्छू, आदि के विष उतर जाते हैं तोपके या बिजली के शब्दों से गर्भपात हो जाता है, भीतें फट जाती हैं, हृदय को धक्का लगता है, किसी किसी के कान बहरे हो जाते हैं। यों शब्द में भी अनेक पर्यायात्मक शक्तियां विद्यमान हैं। शक्ति और शक्तिमान् का अभेद है, अतः शब्द को गुण कहने में जैनों को कोई जैन सिद्धान्त से विरोध नहीं आता है। एक बात यह भी है कि इस प्रकरण में वादी आचार्य महाराज ने प्रतिवादी वैशेषिकों के प्रति उन्हीं की युक्तियों से उन्हीं के सिद्धान्त का प्रत्याख्यान करना अपना ध्येय कर लिया दीखता है वैशेषिकों ने शब्द को आकाश का गुण स्वीकार कर रक्खा है।

स्यान्मतं, न शब्दः पुद्गलस्कंधपर्यायोऽस्मदाद्यनुपलभ्यमानस्पर्शरूपरसगंधाश्रयत्वात्सुखादिवदिति। तदसत् द्व्यणुकादिरूपादिना हेतोर्व्यभिचारात् शब्दाश्रयत्वेऽस्मदाद्यनुपलभ्यमानानामप्यनुद्भूततया स्पर्शादीनां सद्भावसाधनात् गन्धाश्रयत्वे स्पर्शरूपरसवत्। गंधो हि कस्तूरिकादेर्गंधद्रव्याद्दूरे गंधे समुपलभ्यमाने घ्राणेंद्रियं समागतः स्वाश्रयद्रव्यरहितः न संभवति, गुणत्वाभावप्रसंगात्। नापि तदाश्रयद्रव्यमस्मदादिभिरुपलभ्यमानस्पर्शरूपरसं न च तत्रानुद्भूतवृत्तयः स्पर्शरूपरसा न संति पार्थिवेऽप्यविरोधात्।

यदि वैशेषिकों ने यह मत ठान लिया होय कि शब्द (पक्ष) पुद्गलस्कंध की पर्याय नहीं है (साध्य) हम आदि अल्पज्ञ जीवों के द्वारा नहीं देखे जा रहे स्पर्श, रूप, रस, गन्धों का आश्रय होने से (हेतु) सुख आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त)। अर्थात्-शब्द यदि पुद्गल का पर्याय होता तो उसके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, हमको इन्द्रियों द्वारा दीख जाते किन्तु नहीं दीखते हैं अथवा हम आदि करके स्पर्श, रूप, रस गन्धों का आश्रयपना शब्दों में नहीं देखा जाता है, यों हेतु मानकर अन्वयदृष्टान्त में घटित कर लो। अतः सुख ज्ञान आदि के समान शब्द भी पुद्गल की पर्याय नहीं है, गुण कारण भी पूर्वक शब्द नहीं है। आचार्य कहते हैं कि वैशेषिकों का वह कथन प्रशंसनीय नहीं है क्योंकि दो या तीन अणुओं के संयोग अथवा बन्ध से उपजे हुये द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि के रूप, रस, आदि गुणों करके तुम्हारे हेतु का व्यभिचार दोष आता है द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि के रूप, रस, आदि का हमें, तुम्हें, प्रत्यक्ष नहीं है किन्तु वे पुद्गल या पुद्गल-स्कन्ध के पर्याय माने गये हैं। अधिकरण भूत शब्द के आश्रित होते सन्ते उन हम आदि द्वारा अनुद्भूत होने के कारण नहीं भी देखे जा रहे स्पर्श रूप आदिकों का शब्द में

सद्भाव साध दिया जाता है।

अथवा शब्द गुण का आश्रयपना होते सन्ते पुद्गल में हम आदि द्वारा अप्रकट होने के कारण नहीं देखे जा रहे भी स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णों का सद्भाव साध दिया जाता है जैसे कि उद्भूत गन्ध गुण का आश्रय होते हुये गन्धिल द्रव्य में अनुद्भूत हो रहे स्पर्श, रूप, रसों, का सद्भाव सिद्ध किया जा चुका है, देखिये कस्तूरी, इत्र, आदिक गन्धयुक्त द्रव्यों से कुछ दूर प्रदेशों में सुगन्ध को भले प्रकार प्रत्यक्ष कर रही नासिका इन्द्रिय में अच्छा प्राप्त हो रहा गन्ध बेचारा अपने आश्रय-भूत द्रव्य से रहित हो रहा तो नहीं सम्भवता है, गुण या पर्याय बेचारे द्रव्य के बिना अकेले तो कथमपि नहीं ठहर सकते हैं आश्रय हो रहे द्रव्य के बिना यदि गुण ठहर जाय तो गुणपन के अभाव का प्रसंग आजायगा " द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः " यह गुणों का सिद्धान्त लक्षण है, अतः नाक में आया हुआ गन्ध अपने आधार होरहे द्रव्य के साथ ही आया वह गन्ध का आश्रयभूत द्रव्य भी हम तुम आदि करके देख लेने योग्य स्पर्श रूप रसों का धारी नहीं है और उस गन्ध द्रव्य में अप्रकट होकर वर्त रहे स्पर्श, रूप रस नहीं होंय यह तो आप वैशेषिक नहीं मान सकते हैं क्योंकि पृथिवी में गन्ध के साथ रूप, रस, स्पर्शों का अनिवार्य अविनाभाव सम्बन्ध है पृथिवी द्रव्य से निर्मित होते सन्ते गन्ध युक्त माने गये कस्तूरी आदि में स्पर्श, रूप, रसों के भी ठहरने का कोई विरोध नहीं है।

यथा वायोरनुपलभ्यमानरूपरसगन्धस्य तेजसश्चानुपलभ्यमानरसगंधस्य सलिलस्य चानुपलभ्यमानगंधस्य पर्याया अनत्ययनुमानागम स्पर्शरूपरसगन्धाः प्रसिद्धास्तथानुपलभ्यमानस्पर्शरूपरसगंधस्यापि भाषावर्गणापुद्गलस्य पर्यायः शब्दो निस्संदेहं प्रसिद्धत्येव।

आचार्य महाराज अभी वैशेषिकों को समझा ही रहे हैं कि जिस प्रकार अनुद्भूत होने के कारण नहीं देखे जा रहे रूप, रस, गन्धों को धार रही वायु के और इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा नहीं देखे जा रहे अप्रकट रस, गन्धों को धारने वाले तेजोद्रव्य के, तथा नासिका द्वारा नहीं जानी जा रही अव्यक्त गन्ध के धारी जल के, पर्याय हो रहे स्पर्श, रूप, रस गन्ध गुण प्रसिद्ध हैं, इस प्रसिद्धि में अनुमान प्रमाण या समीचीन आगम का कोई अतिक्रमण नहीं होता है तिसी प्रकार अप्रकट होने के कारण हम तुम आदिकों को नहीं भी दीख रहे स्पर्श, रूप, रस, गन्धों को धारनेवाले भाषावर्गणा स्वरूप पुद्गल की पर्याय होरहा शब्द संदेह-रहित प्रसिद्ध हो जाता ही है। अर्थात्-भाषावर्गणा नामक पुद्गल के परिणाम होरहे अकेले शब्द का ही बहिरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है, भाषावर्गणा की या उससे बने हुये शब्द की रूप, रस, गन्ध, स्पर्श परिणतियों का वहिरंग इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता है जैसे कि वायु की पर्यायों में यद्यपि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, चारों हैं फिर भी वायु के प्रकट स्पर्श का त्वचाइन्द्रिय से प्रत्यक्ष होजाता है अप्रकट रूप, रस, गन्ध का नहीं।

कथमन्यथैवमाचक्षाणः प्रतिक्षिप्यन्ते परैः । न वायुगुणोनुष्णाशीतस्पर्शोऽपाकजः उपलभ्यत्वे सत्यस्मदाद्यनुपलभ्यमानगन्धाश्रयत्वात्सुखादिवत् । तथा न भासुररूपोष्णस्पर्शस्ते-जोद्रव्यगुण उपलभ्यत्वे सत्यस्मदाद्यनुपलभ्यमानगन्धाश्रयत्वात् तद्वत् । तथा न शीतस्पर्शनील-रूपमधुररसाः सलिलगुणा उपलभ्यत्वे सत्यस्मदाद्यनुपलभ्यमानगंधाश्रयत्वात्तद्वदेवेति ।

आचार्य ही समझा रहे हैं कि अन्यथा यानी उन उन द्रव्यों में आवश्यक होरहे वे वे विशेष-गुण नहीं दीखने मात्र से यदि नहीं माने जायगे तो इस वक्ष्यमाण प्रकार कह रहा कोई आक्षेपकर्ता

तो इन दूसरे वैशेषिक विद्वानों करके भली कर्म निराकृत कर दिया जाता है ? आक्षेपकर्ता का वैशेषिकों के प्रति यह वचन है कि वैशेषिकों करके "अपाकजोऽनुष्णाशीतः स्पर्शस्तु पवने मतः" वायु में अनुष्णाशीत होरहा अपाकज (अग्निपाक से नहीं उपजा) स्पर्श मानागया है, किन्तु अनु-ष्णाशीत होकर अपाकज होरहा स्पर्श (पक्ष) वायु का गुण नहीं है । (साध्य) उपलम्भ करने योग्य होते सन्ते हम आदि करके नहीं देखेजारहे रूप, रस, गन्धों, का आश्रय होजाने से (हेतु) सुख आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त) । तथा दूसरा अनुमान यों है । कि "स्पर्श उष्णस्तेजसस्तु स्याद्रूपं शुक्लभास्वरं" इस प्रमाण अनुसार माने गये चमकीला शुक्लरूप और उष्णस्पर्श (पक्ष) तेजो द्रव्य के गुण नहीं हैं (साध्य) दीखने योग्य होते सन्ते हम आदि करके तेजोद्रव्य में गन्ध का आश्रयपना नहीं देखा जा रहा होने से (हेतु) उसी के समान यानी जैसे कि तेजो द्रव्य के गुण ये सुख, ज्ञान, आदिक नहीं हैं, (अन्वयदृष्टान्त) ।

तिसी प्रकार तीसरा अनुमान यों कहा जा रहा है कि शीत स्पर्श और नील रूप या अभा-स्वर शुक्ल तथा मीठा रस ये (पक्ष) जल के गुण नहीं समझे जा सकते हैं । (साध्य) क्योंकि इनके आश्रय माने गये जल द्रव्य में उपलम्भ होते सन्ते हम आदि करके गन्ध का आश्रयपना नहीं देखा जाता है । जैसे कि वे ही सुख आदिक जल के गुण नहीं माने गये हैं, केवल पृथिवी के ही तो अभीष्ट किये गये गुण रूप आदि प्रसिद्ध होजाते हैं । भावार्थ—वैशेषिक जैसे यों कह बैठते हैं, कि जिस भाषावर्गणा नामक पुद्गल के स्वकीय गुण मान लिये गये रूप, रस, गन्ध, स्पर्शों, की हमें उपलब्धि नहीं होती है, अतः शब्द उस भाषावर्गणा पुद्गल की पर्याय नहीं माना जा सकता है । उसी प्रकार दूसरा प्रतिवादी भी वैशेषिकों को यों उलाहना दे सकता है, कि जिस वायु के रूप, रस, गन्ध हमें उपलम्भ होने योग्य होते सन्ते भी नहीं दीख रहे हैं, उस वायु का गुण अनुष्णाशीत स्पर्श नहीं होसकता है इसी प्रकार जिस जल का प्रत्यक्ष करने योग्य गन्ध हमें नहीं दीखता कहा जाता है उस जल के शीत स्पर्श अभास्वर शुक्ल रूप और मधुर रस ये भी गुण नहीं कहे जा सकते हैं । जैसे कि जिस शरीर में प्रत्यक्ष करने योग्य सिर नहीं दीखता है । उसका धड़ जीवित नहीं माना जा सकता है, फिर वैशेषिकों ने "वर्णः शुक्लो रसस्पर्शौ जले मधुरशीतलौ" क्यों कहा था अपने ऊपर पक्षपात करते हुये दूसरे पर उसी आक्षेप को करना उचित मार्ग नहीं है, पर विद्वान् वैशेषिक जैसे

बखानने वाले अन्य पण्डित का प्रतिक्षेप कर देते हैं, उसी प्रकार वैशेषिकों का भी प्रतिक्षेप किया जा सकता है। वैशेषिक जो समाधान करेंगे वही समाधान शब्द को भाषावर्गणा नामक पुद्गल की पर्याय मानने में किया जा सकता है, कोई अन्तर नहीं है।

नदी, सरोवर, बावड़ी में भरा हुआ स्वच्छ जल कुछ नीला दीखता है यह सूर्य प्रकाश के निमित्त से हुआ गम्भीर जल का औपाधिक रूप है, उसी जल को यदि आकाश में उछाला जाय तो धौला प्रतीत होता है। जल में घुस गये कुछ प्रकाश और कुछ अन्धकार के अनुसार जल नीला दीख जाता है, जैसे कि कथैली हर्र आदि को खा लेने के पश्चात् पोये गये जल का स्वाद पहिले से अधिक मीठा भासता है, नील आकाश का प्रतिविम्ब पड़ना भी स्वच्छ जल का नील दिखाने में सहायक होजाता है। वस्तुतः विचारा जाय तो आकाश अत्यन्त परोक्ष है, आंखों से नहीं दीख सकता है। यहां से हजारों कोसों ऊपरले प्रदेश में पाई जा रही सूर्यकान्ति और अन्धकार का सम्मिश्रण होजाने

से नीले नीले देखे जा रहे अभ्र मण्डल को व्यवहारीजन आकाश कह देते हैं। सच पूछो तो वह अन्धकार या प्रभा का अथवा दोनों का मिल कर बन गया कोई रूप है, तभी तो रात्रि में अन्धकारवश वह नभोमण्डल काला काला दीखता है, उद्योत, बिजली, की चमक आदि से भी बादलों में कतिपय वर्ण दीखने लग जाते हैं, ये सब पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं।

यदि पुनः स्पर्शादयो द्रव्याश्रया एव गुणत्वात्सुखादिवत् यत्तद्द्रव्यं तदाश्रयः स वायुरनलः सलिलं क्षितिरित्यनुमानसिद्धत्वात्स्पर्शविशेषादीनां वाय्वादिगुणत्वे शब्दोपि सामान्यार्पणया किं न भाषावर्गणापुद्गलद्रव्येण सहभावीष्टो येन तद्गुणो न स्यात्। विशेषार्पणात् यथा रूपादयः पर्यायास्तथा शब्दोपि पुद्गलपर्याय इति कथमसौ द्रव्यं स्यात्? षड्द्रव्यप्रतिज्ञानविरोधाच्च।

यदि फिर वैशेषिक यों कहें कि स्पर्श आदिक तो (पक्ष) द्रव्य के आश्रय पर ही ठहर सकते हैं। (साध्य) गुण होने से (हेतु) सुख आदि के समान (अन्वय दृष्टान्त)। जो कोई उनका अधिकरण होरहा द्रव्य है, वह वायु, अग्नि, जल, अथवा पृथिवी होसकेगा। इस प्रकार अनुमान के सिद्ध होजाने के कारण अनुष्णाशीत नामक स्पर्शविशेष या भास्वररूपविशेष, सांसिद्धिक द्रवत्व आदि को वायु, अग्नि, आदि का गुणपना है यों कहने पर तो हम जैन कहते हैं, कि शब्द की सामान्य धर्म की विवक्षा करने से भाषावर्गणा नामक पुद्गलद्रव्य का सहभावी क्यों नहीं इष्ट करलिया जाय? जिससे कि शब्द उस भाषावर्गणा का गुण नहीं होसके।

अर्थात्—द्रव्य के सहभावी गुण होते हैं। "सहभाविनो गुणाः" क्रमभाविनः पर्यायाः,, सामान्य अंशों के अनुसार रूप, रस, आदि भी तो पुद्गल द्रव्य के गुण माने गये हैं, तद्वत् सामान्य रूप से भाषावर्गणा का सहभावी शब्द है, कण्ठ, तालु, आदि निमित्तों के मिलने पर कोई भी भाषावर्गणा किसी भी अकार आदि शब्द होकर परिणाम सकती है, हां विशेष अंशों की अर्पणा करने से तो जिस

प्रकार रूप आदिक पर्याय हैं, उसी प्रकार शब्द भी पुद्गल का पर्याय है, इस कारण वह शब्द भला किसप्रकार द्रव्य होसकेगा ?। अर्थात्-शब्द कोई द्रव्य नहीं है. हां किसी पुद्गल द्रव्यका गुण या पर्याय अवश्य सध जाता है, दूसरी बात यह है कि "शब्दो द्रव्यं क्रियावत्त्वात् बाणादिवत्" इस दूसरों के

अनुमान अनुसार शब्द को द्रव्य मानने पर जीव आदि छः द्रव्यों की नियत संख्या अनुसार की गयी प्रतिज्ञा से विरोध आता है, शब्द को मिला कर जीव आदि द्रव्य सात हुये जाते हैं, द्रव्यों की सात संख्या इष्ट नहीं ।

शब्दद्रव्यस्य पृथिव्यादिवत्पुद्गलद्रव्येंतर्भावान्न तद्विरोध इति चेत्, गंधद्रव्यादीनामपि तद्वत्तत्रान्तर्भावात्तद्विरोधासिद्धेर्गुणत्वं किमभिधीयते, ज्ञानादीनां च द्रव्यत्वमस्तु जीवद्रव्येंतर्भावप्रसक्तेः द्रव्यसंख्यानियमाविघातात् । तथा च न कश्चिद्गुण इति द्रव्यस्याप्यभावः तस्य गुणवत्त्वलक्षणत्वात् । ततो द्रव्यगुणपर्यायव्यवस्थामिच्छता ज्ञानादिरूपादीनामिव शब्दस्य सहभाविनो गुणत्वं क्रमभुवस्ते पर्यायत्वमभ्युपगंतव्यं । क्रियावत्त्वं च शब्दस्यासिद्धं गंधादिवत् तदाश्रयस्य पुद्गलद्रव्यस्य क्रियावत्त्वोपचारात् ।

शब्द को द्रव्य कहने वाले वादी यदि यों कहैं कि आप जैन भाई पृथिवी, जल अग्नि, वायु को पुद्गल द्रव्य में ही गर्भित करेंगे, शब्द को द्रव्य मानने पर भी पृथिवी, जल आदि के समान उसका पुद्गल द्रव्य में अन्तर्भाव होजायगा, अतः द्रव्यों की छह संख्या के अतिक्रमण की शंका करते हुये जैनों को कोई उस प्रतिज्ञा से विरोध नहीं आता है । अर्थात् जाति की अपेक्षा पुद्गल द्रव्य एक है, किन्तु व्यक्तियों की अपेक्षा तो जीव द्रव्य से भी अनन्तानन्त गुणे पुद्गल द्रव्य हैं । अतः शब्द को द्रव्य होजाने दो, कोई भय नहीं है । यों कहने पर तो आचार्य कहते हैं, कि इसी प्रकार उन पृथिवी आदिकों के समान गन्धवान् द्रव्य के गुण होरहे गन्ध आदि का भी उस पुद्गल द्रव्य में अन्तर्भाव होजाने से उस प्रतिज्ञात से विरोध आजाना असिद्ध है, अतः क्यों फिर गन्ध, रूप, आदि के गुणपन का समर्थन किया जाता है ?। तथा इसी ढंग से ज्ञान, सुख आदि को भी द्रव्यपना सध जाओ ज्ञान आदि द्रव्यों का जीव द्रव्य में अन्तर्भाव होजाना प्रसंगप्राप्त होजाने से द्रव्यों की संख्या के नियम का कोई विघात नहीं होपाता है, और तिस प्रकार दशा होने पर कोई भी अस्तित्व, वस्तुत्व, रूप, रस, ज्ञान, सुख, आदि गुण बेचारे स्वकीय स्वरूप से नहीं ठहर पायेंगे, सभी गुण द्रव्य बन बैठेंगे । तथा यों द्रव्यों का भी अभाव होजायगा क्योंकि गुण-सहितपना उन द्रव्यों का लक्षण माना गया है, जब गुण ही नहीं रहे तो गुणवान् की सिद्धि कैसे होसकती है ?। तिस कारण यदि अनिष्ट प्रसंगों को निवारण करने की आशा है, तो बने बनाये सिद्धान्त को मत बिगाड़ो । द्रव्य और गुण तथा पर्यायों की सुव्यवस्था को चाहने वाले विद्वानों करके सहभावी होरहे ज्ञान सुख, आदि अथवा रूप, रस, आदिकों के गुण होजाने-समान सहभावी होरहे शब्द का भी

गुणपना और क्रमभावी होरहे ज्ञान आदि या रूप आदि के पर्यायपन-समान इस क्रमभावी शब्द का स्वीकार कर लेने योग्य है।

एक बात यह भी है, कि शब्द को द्रव्य साधने पर प्रयुक्त किया गया क्रियावत्व हेतु तो स्वरूपासिद्धहेत्वाभास है। पक्ष में हेतु नहीं वर्तता है, गन्ध आदि के समान उस शब्द के आधार होरहे पुद्गलद्रव्य के मुख्य क्रिया-सहितपन का शब्द में उपचार कर दिया गया है अर्थात्-दूर-वर्ती कस्तूरी के छोटे छोटे कण नासिका के निकट आगये हैं। अथवा कस्तूरी के निमित्त से गन्ध युक्त होगये यहाँ वहाँ के दूसरे वायु, धूल, आदि अशुद्ध द्रव्य क्रियावान् होकर घ्राण में आगये हैं गन्धगुण बेचारा आश्रयरहित होकर अकेला नहीं आसकता है। अतः गन्धवान् की मुख्यक्रिया का जैसे गन्ध में उपचार कर लिया जाता है, उसी प्रकार शब्द के आश्रय होरहे पुद्गल की मुख्य क्रिया का शब्द में उपचार से कथन कर दिया जाता है। आधार का धर्म आधेय में रख दिया जाय इसमें आश्चर्य नहीं। अतः मुख्यतया क्रियावान् नहीं होने से शब्द का द्रव्यपना नहीं सिद्ध होसकता है। असिद्ध हेत्वाभास से प्रकृत साध्य की सिद्धि नहीं होपायगी।

स्यान्मतं, न शब्दपर्यायः श्रोत्रग्राह्यो द्रव्यं साध्यते किं तु तदाश्रयः पुद्गलविशेष इति, तर्हि क्रियावद्द्रव्यपर्यायः शब्दः परमार्थतः साध्यः।

सम्भवतः मीमांसकों का मन्तव्य यह होवे कि हम कान से ग्रहण करने योग्य शब्द नामक पर्याय को द्रव्य नहीं साध रहे हैं, किन्तु उस शब्द के आश्रय होरहे पुद्गल विशेष को द्रव्य सिद्ध करते हैं, तब तो हम जैन कहते हैं। कि यों तो क्रियावान् द्रव्य का पर्याय होरहा शब्द ही वास्तविक रूप से साधने योग्य हुआ, चलो अच्छी बात है, जैन सिद्धान्त भी ऐसा ही है, कि पुद्गल द्रव्य का विवर्त यह शब्द है, जो कि पुद्गलद्रव्य भाषावर्गणा स्वरूप होरहा सन्ता क्रियावान् भी है। तभी तो पुरुषप्रयत्न से अथवा वायु, बिजली, आदि शक्ति से शब्द बहुत दूर तक फेंका हुआ चला जाता है। आघात, प्रतिघात, प्रतिवायु करके शब्द लौट भी आता है, अतः द्रव्य गुण, पर्यायों में से शब्द को पुद्गल द्रव्य का पर्याय मान लेना अच्छा जंचता है शब्द कहने से पर्याय ही पकड़ी जाती है। जैसे कि मतिज्ञान कहने से चेतना गुण की विशेषपर्याय का झटिति बोध होजाता है, चेतनागुण या जीव द्रव्य की मतिज्ञान से उपस्थिति होजाना कठिन है।

स्याद्वादाकूतं तु, न द्रव्यं शब्दः साध्यते, नापि सर्वथा पर्यायः किं तर्हि ? द्रव्यपर्यायात्मा, ततो न कश्चिद्दोषः क्रियावत्त्वस्य हेतोरपि परमार्थतस्तत्र सिद्धेः अनुवातप्रतिवाततिर्यग्वातेषु शब्दस्य प्रतिपत्त्यप्रतिपत्तीषत्प्रतिपत्तिदर्शनात् क्रियाक्रियावत्साधनादिति। किमेवं गन्धादिर्द्रव्यपर्यायात्मा न साध्यते ? 'द्रव्यपर्यायात्मार्थ' इत्यकलङ्कदेवैरभिधानात् स्पर्शादीनां चेन्द्रियार्थत्वकथनात्, स्पर्शरसरूपगन्धशब्दास्तदर्था इति सूत्रसद्भावात्।

यदि तुम प्रतिवादियों की यह भी चेष्टा होय कि हम शब्द को कोरा द्रव्य नहीं साध रहे है, और सभी प्रकारों से शब्द को केवल पर्याय भी नहीं साधते हैं, फिर हम शब्द को कैसा स्वीकार करते हैं ? इसका उत्तर यह है कि यह शब्द तो द्रव्य और पर्याय इनका उभयआत्मक है, तिस कारण द्रव्यपर्याय-आत्मक होने से शब्द के विचार में हमारे ऊपर कोई दोष नहीं आता है, उस द्रव्य पर्याय स्वरूप शब्द में क्रिया-सहितपन हेतु की भी परमार्थ रूप से सिद्धि होजाती है जो कि "द्रव्यं शब्दः क्रियावत्वात् बाणादिवत्" इस अनुमान में अपर विद्वान् ने हेतु कहा था। शब्द में क्रिया का होना प्रसिद्ध ही है, देखिये अनुकूल वायु चलने पर शब्द की अच्छी प्रतिपत्ति होती दीखती है, अर्थात्-जिस ओर से वायु आरही है उसी ओर से बोला जा रहा यदि शब्द सुनाई देवे तो शब्द अच्छा विशदरूप से सुन लिया जाता है। हां यदि वायु पश्चिम से पूर्व की ओर वेग से बह रही है, और वक्ता पूर्व की ओर से पश्चिम दिशा में बैठे हुये श्रोता को कोई शब्द कह रहा है तो ऐसी प्रतिकूल वायु की दशा में वक्ता के शब्द की श्रोता को प्रतिपत्ति नहीं होपाती है, तथा तिरछी वायु चलने पर तो शब्द की कुछ थोडी सी प्रतिपत्ति होजाती है, यानी पूर्व, पश्चिम, दिशा में वक्ता श्रोता बैठे होंय और उत्तर से दक्षिण या दक्षिण से उत्तर की ओर वायु चल रही होय तो शब्द की थोड़ी श्रुति यानी कुछ प्रतिपत्ति कुछ अप्रतिपत्ति होरही देखी जाती है, अतः शब्द के क्रिया या क्रियासहितपन को यों साध दिया जाता है।

यहां तक कह चुकने पर आचार्य कहते हैं, कि क्यों जी इस प्रकार गन्ध, रस, आदि को द्रव्यपर्याय-आत्मक क्यों नहीं साधा जाता है ? बताओ। श्री अकलंकदेव महाराज ने भी 'अर्थ तो द्रव्य-पर्याय-आत्मक है।" इस प्रकार निरूपण किया है, तथा स्पर्श गन्ध, आदिकों को इन्द्रियों के गोचर पदार्थ होजाना कहा जा चुका है, क्योंकि इसी तत्त्वार्थसूत्र के द्वितीय अध्याय में स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, शब्द, ये उन इन्द्रियों के विषयभूत अर्थ हैं, ऐसे तत्व-सूचक सूत्र का सद्भाव है।

अथ पर्यायार्थप्राधान्यात् पर्याय एव गंधादयः शब्दस्तथा किमपर्यायः ? शब्दो द्रव्यार्थादेशात् द्रव्यमिति चेत्, तर्हि तथा विशेषणं कर्तव्यं। स्याद्द्रव्यं शब्द इति तदप्रयुक्तमपि वा नत्रेष्टव्यं। ततो नैकांतेन द्रव्यं शब्दः स्याद्वादिनां सिद्धो यतस्तस्य द्रव्यत्वप्रतिषेधेऽपसिद्धांतः तस्यामूर्तद्रव्यत्वप्रतिषेधाद्वा न दोषः कश्चिदवतरति

अब यदि पूर्वपक्ष को धारने वाले यों कहैं कि पर्याय को जानना ज्ञातव्य समझ रही पर्यायार्थिकनय के अनुसार पर्याय अर्थ की प्रधानता होजाने से गन्ध आदिक तो पर्यायें ही हैं, द्रव्य नहीं। तब तो हम जैन कहेंगे कि तिस प्रकार पर्याय अर्थ की प्रधानता से शब्द को क्या पर्याय नहीं समझ रखा है ? यानी शब्द भी पर्याय से भिन्न नहीं है, यदि तुम यों कहो कि द्रव्यार्थिकनय अनुसार कथन करने से शब्द को द्रव्य कह दिया जाता है, तब तो हम स्याद्वादवादी कहदेंगे कि शब्द को द्रव्य कहते हुये तिस प्रकार 'द्रव्य अर्थ पर दी गयी दृष्टि अनुसार, यों विशेषण करना चाहिये "शब्द कथं-

चित् द्रव्य है" इस प्रकार 'द्रव्यं शब्दः' यहां नहीं भी प्रयुक्त किया गया-'स्यात्' शब्द लूढ़ लेना चाहिये अर्थात्-"स्यात् द्रव्यं शब्दः, स्यात्पर्यायः शब्दः" यों जैन सिद्धान्त अनुसार द्रव्य-पर्याय-आत्मक ही शब्द

सिद्ध हुआ। तिस कारण स्याद्वादी विद्वानों के यहां एकान्तरूप से शब्द को द्रव्य नहीं सिद्ध किया गया है, जिससे कि उस शब्द को द्रव्यपन का निषेध करनेपर स्याद्वादियों के यहां अपसिद्धान्त दोष आजाता।

अथवा शब्द को अमूर्तद्रव्यपन का प्रतिषेध करने से भी जैनों के यहां कोई दोष नहीं उतर पाता है अर्थात्-एकान्त रूप से शब्द जब द्रव्य नहीं सध चुका तो शब्द को गुणपना साधते हुये अन्य विद्वानों ने जो द्रव्यपन का निषेध ध्वनित किया था उस द्रव्यपन का निषेध करने में स्याद्वादसिद्धान्त से कोई विरोध नहीं आता है। तथा 'नामूर्तिद्रव्यं शब्दः बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वात् घटादिवत्' इस अनुमान करके शब्द के अमूर्तद्रव्यपन का निषेध करने में भी हमें कोई जिनागम से विरोध प्राप्त नहीं होना है, जब शब्द के एकान्त रूप से द्रव्यपन का निषेध किया जा चुका है, तो अमूर्त द्रव्यपन का निषेध तो सुतरां होगया परिश्रम नहीं करना पड़ा। इस सूत्र की दूसरी वार्तिक का विवरण होचुका अब तीसरी वार्त्तिक का व्याख्यान प्रारम्भ होता है।

कश्चिदाह-स्फोटोऽर्थप्रतिपत्तिहेतुर्न ध्वनयस्तेषां प्रत्येकं समुदितानां वार्थप्रतिपत्तिनिमित्तानुपपत्तेः। देवदत्तादिवाक्ये दकारोच्चारणादेव तदर्थप्रतिपत्तौ शेषशब्दोच्चारणानर्थक्यात्। प्रत्येकं तन्निमित्तत्वं युक्तं, दकारस्य वाक्यांतरेपि दर्शनात् संशयनिरासार्थं शब्दांतरोच्चारणमुचितमेवेति चेन्न, आवृत्त्या वाक्यार्थप्रतिपत्तिप्रसंगात्। वर्णान्तरेपि तस्यैवार्थस्य प्रतिपादनात्।

कोई मीमांसकों के एकदेशी वैयाकरण पण्डित यहां स्फोट को सिद्ध करते हुये अपना लम्बा चौड़ा पूर्व-पक्ष रखते हैं कि जिससे वाच्यार्थ स्फुटित होता है, वह शब्दों में वर्त रहा नित्य-स्फोट ही अर्थ की प्रतिपत्ति कराने का हेतु है, ध्वनियां यानी वर्ण, पद, वाक्य, या गर्जन, हुँकार, चीत्कार आदि शब्द तो वाच्यार्थों के प्रतिपादक नहीं हैं क्योंकि प्रत्येक प्रत्येक होरहे उन शब्दों को या समुदाय प्राप्त होरहे भी शब्दों को शाब्दबोध कराने का निमित्तकारणपन बन नहीं सकता है, देखिये 'देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन' इत्यादि शब्द में सब से पहिले के केवल दकार वर्ण का उच्चारण करदेने से ही उस पूरे वाक्यार्थ की यदि प्रतिपत्ति होजायगी तो शेष दशों शब्दों का उच्चारण करना व्यर्थ पड़ता है। किन्तु अकेले वर्ण से पूरे पद, वाक्य या श्लोक के अर्थ की प्रमिति नहीं होपाती है, अतः युक्तियों से यह सिद्ध हुआ कि प्रत्येक प्रत्येक वर्ण तो उस अर्थज्ञप्ति का निमित्त नहीं होसकता है

यदि कोई यों कहे कि दकार का तो 'दधि भोजय दिवा भुंजीत, आदि अन्य वाक्यों में भी दर्शन होरहा है। अतः देवदत्त गामभ्याज का अर्थ क्या देवदत्त करके गाय का घेर लाना या दही को खवाना अथवा क्या दिन में खाना आदि अर्थ है ? तथा गकार से गाय की प्रतीति होती है, तो

औकार इस पद से औषधि इस पद का अर्थ भी जान लिया जाओ, ऐसे संशयों का निराकरण करने के लिये दकार के अतिरिक्त अन्य शब्दों का उच्चारण करना उचित ही है। वैयाकरण कहते हैं, कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों तो कई बार आवृत्ति करके वाक्यो के अर्थ की प्रतिपत्तियों के होजाने का प्रसंग आवेगा जबकि अन्य वर्णों में भी उस ही अर्थ का प्रतिपादन किया जा चुका है।

अर्थात्–एक शब्द कई वाक्यों में आकर सुना जाता है। जब अनेक वाक्यों में प्रत्येक वर्णों का सांकर्य होरहा है, तो अनेक बार कई वाक्यार्थों की प्रतिपत्ति होजाना अनिवार्य है। 'देवमर्चयेत्, कुदेवम् नार्चयेत्, तिष्ठति प्रतिष्ठते, पण्डितानां मतः पण्डितंमन्य, अभिनन्दन नाभिनन्दन, गौः (पशु) गौः (वाणी) आदि अनेक समान अनुपूर्वी वाले शब्दों करके कई बार उन उन अर्थों की प्रतिपत्ति होना बन बैठेगा जो कि इष्ट नहीं है। अतः प्रत्येक वर्ण तो अर्थ का प्रत्यायक नहीं होसकता है।

न च समुदितानामेव वाक्यार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वं प्रतिक्षणं विनाशित्वे समुदायासंभवात्। कल्पितस्य तत्समुदायस्य तद्धेतुत्वेऽतिप्रसंगात्।

वैयाकरण ही अभी आक्षेप किये जा रहे हैं कि पद या वाक्य में समुदित हो रहे ही शब्दों को भी वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति का निमित्तपना नहीं बन पाता है क्योंकि नैयायिक, बौद्ध या जैनों के यहां भी प्रत्येक क्षणमें शब्द का विनाश होजाना मानने पर उन नष्ट होचुके शब्दों का उस क्षणवर्ती एक शब्द के साथ समुदाय नहीं बन सकता है दैशिक समुदाय बनाने के लिये एक समय में सजातीय अनेक पदार्थों का विद्यमान रहना आवश्यक है जब कि बौद्धों ने " द्वितीयक्षणवर्तिध्वंस प्रतियोगित्वं क्षणिकत्वं " पहिले क्षण में आत्म–लाभ होकर दूसरे क्षण में विनश जाना क्षणिकत्व माना है और नैयायिकों ने "तृतीयक्षणवर्तिध्वंस-प्रतियोगित्व क्षणिकत्व,, पहिले क्षण में उपज कर दूसरे क्षण में विद्यमान रहते हुये शब्द का तीसरे क्षण में विनशजाना क्षणिकपन स्वीकार किया है हां जैनों ने शब्द का कतिपय आवलि कालों तक ठहरना स्वीकार किया है, वस्त्रों को धो रहे धोबी के मोंगरा का शब्द कई आवलि के पश्चात् सौ हाथ दूर खड़े हुये श्रोता को सुनाई पड़ता है, रात के समय तोप दगने पर प्रकाश दर्शन के अन्तर्मुहूर्त पश्चात् कोस दो कोस दूरवर्ती श्रोता को उसका शब्द सुनाई देता है भले ही यहाँ शब्द की लहरों की कल्पना कर उत्पाद, विनाश–शाली अन्य ही शब्दों का श्रोता के कान तक पहुँचना माना जा सकता तथापि सुगन्धित पदार्थ का निमित्त पाकर दूर तक के सुगन्धित बन गये लम्बे, चौड़े, पिण्ड के समान अथवा अग्नि को निमित्त पाकर चारों ओर फैल रहे उपादान कारण पुद्गल स्कन्धों की उष्णपरिणति होजाने के समान दूर तक उसी शब्द का सुनना निर्णीत किया जाता है अन्यथा गोम्मटसार जीवकाण्ड में "अट्ठसहस्स धणूणं विसया दुगुणा असण्णित्ति,, और " सण्णिस्स बार सोदे,, इस प्ररूपण अनुसार असंज्ञी जीव के कर्ण इन्द्रिय का विषय आठ हजार धनुष दूर तक का शब्द कहा गया है तथा संज्ञी जीव का कान बारह योजन तक के शब्द को सुन लेना माना गया है, यह सिद्धान्त भला रक्षित कैसे रह सकेगा ?

बताओ शब्द-धारायें तो बारह योजनों से भी अधिक दूर तक पहुँचती होंगी किन्तु चक्रवर्ती की भी कर्ण इन्द्रिय का विषय इससे अधिक दूर वर्त रहा शब्द नहीं है, अतः शब्द के सुने जाने की प्रकृष्ट मर्यादा केवल बारह योजन की नियत करदी गयी है शब्द की धारायें तो सैकड़ों योजन तक पहुँच जाती होंगी। आजकल भी टेलिफोन [illegible] यंत्रों के सहारे हजारों मीलों के दूरवर्ती शब्द को यहां सुन लिया जाता है। प्रकरण में यह कहना है कि नष्ट हो चुके पदार्थों का दैशिक समुदाय नहीं बन सकता है यदि बौद्ध या नैयायिक यों कहें कि भले ही पूर्व उच्चारित शब्द नष्ट हो चुके हैं फिर भी उनके सद्भाव की कल्पना कर उनका समुदाय गढ़ लिया जाता है जो कि वाच्य अर्थ का प्रतिपादक हो जाता है, यों कहने पर तो हम वैयाकरण कहते हैं कि यदि उन मरे हुये शब्दों के कल्पित किये गये समुदाय को वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति का निमित्तकारणपना माना जायगा तो अति प्रसंग होजायगा अर्थात्-महीनों पहिले सुने जा चुके विनष्ट शब्दों द्वारा भी अर्थप्रतिपत्ति होने लग जायगी ऐसी दशा में अनेक शब्दबोधों के होजाने का प्रसंग आ जाने पर व्यर्थ में उन्मत्तता छा जायगी जो कि किसी को अभीष्ट नहीं है, अतः प्रत्येक शब्द या समुदित शब्द तो वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति को नहीं करा सकते हैं।

नित्यत्वाद्वर्णानां समुदायः संभवतीति चेत् न, अभिव्यक्तानां तेषां क्रमवृत्तित्वात्तदभिव्यंजकवायूनामनित्यत्वात् क्रमभावित्वात् क्रमशस्तदभिव्यक्तिसिद्धेः। तेषामनभिव्यक्तानामर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वे तदभिव्यंजकव्यापारवैयर्थ्यादतिप्रसंगाच्च तत एवाभिव्यक्ताभिव्यक्तशब्दसमूहादर्थप्रतिपत्तिरिति प्रतिव्यूढं।

वैयाकरण ही कह रहे हैं कि यदि कोई मीमांसक यों कहे कि शब्द क्षणिक या कालान्तर-स्थायी नहीं है किन्तु सभी अकार आदि वर्ण नित्य हैं, अतः नित्य वर्णों का समुदाय होजाना अक्षुण्ण सम्भव जाता है, यों कहने पर तो हम वैयाकरण कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि शब्द को नित्य मानने वालों के यहाँ भी उन शब्दों की अभिव्यंजकों द्वारा होरही अभिव्यक्तियों की प्रवृत्ति क्रम से मानी गयी है। अतः अभिव्यक्त होरहे उन नित्य भी वर्णों की क्रम से वृत्ति मानी जायगी क्योंकि उन शब्दों की अभिव्यक्ति करनेवाली वायुयें अनित्य हैं इस कारण उन वायुओं का क्रम करके उपजना होने से उन शब्दों की भी क्रम से अभिव्यक्ति सिद्ध हुयी, अतः अभिव्यक्त वर्णों का समुदाय नहीं बन सका। यदि नहीं भी अभिव्यक्त होरहे उन वर्णों को अर्थ की प्रतिपत्ति कराने में हेतु मान लिया जायगा तो उन वर्णों के अभिव्यंजक होरहे वायु, कण्ठ, तालु, अंशविभाग, दो हथेलियों का संयोग, तार, तांत, आदि के व्यापारों का व्यर्थपना हुआ जाता है।

एक बात यह भी है कि शब्द को नित्य मानने वाले वादी के यहाँ अनेक शब्द अनभिव्यक्त पड़े हुये इष्ट किये गये हैं, वे शब्द भी अर्थ की प्रतिपत्ति को करा देवेंगे, यह अति प्रसंग दोष आजायगा। इस शब्दों को अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्ति के पुण्य से पाये हुये अवसर को हाथ से

नहीं खोदेना। विचार कर कोई यों कह बैठता है कि कुछ अभिव्यक्त हो रहे उच्चारित शब्द और नहीं प्रकट हुये आगे, पीछे, के शब्दों का समूह होजाने से वाक्य अर्थ की प्रतिपत्ति होजायगी। उत्तर पक्ष पर बैठे हुये वैयाकरण कहते हैं कि तिस ही कारण से यानी अभिव्यंजकों के व्यापार का व्यर्थ पना आजाने से और अतिप्रसंग होजाने से उक्त सिद्धान्त का खण्डन कर दिया है अर्थात् जैसे मरे हुये और जीवित पुरुषों का कोई सम्मेलन नहीं बन सकता है उसी प्रकार अभिव्यक्त और अनभिव्यक्त शब्दों का समूह बन जाना अलीक है ;

पूर्वपूर्ववर्णज्ञानाहितसंस्कारापेक्षादन्त्यवर्णश्रवणाद्वाक्यार्थप्रतिपत्तिरिति चेन्न न,तत्संस्काराणामनित्यत्वेन्त्यवर्णश्रवणकाले सत्वविरोधादसतोपेक्षानुपपत्तेः ।

यदि नैयायिक या वैशेषिक यों कहें कि भले ही पहिले पहिले वर्ण नष्ट हो जाते हैं फिर भी वे पहिले पहिले वर्ण अगले अगले वर्णों में संस्कार को प्रविष्ट करते जाते हैं अर्थात् जैसे कि ऋण देने वाला वणिक् अपने अधमर्ण होरहे किसान से ब्याज के ऊपर ब्याज लगाता हुआ प्रति तीसरे वर्ष सरकारी स्टाम्पों को बदलवाता रहता है अथवा रसायन को बनाने वाला वैद्य उसी औषधि में अनेक भावनायें देता रहता है, वनस्पति शास्त्र का वेत्ता फूल या फलों को उत्तरोत्तर वृक्ष या वेलों की सन्तान अनुसार बहुत बड़ा कर लेता है, विशेष बलधारी जीव एक गाय के दूध को दूसरी गाय को पिलाकर और दूसरी गाय के दूध को तीसरी गाय को पिलाकर यों चौथी, पांचवीं आदि सौ गायों तक प्रक्रिया करके सौवीं गाय के दुग्ध का मावा बना कर पौष्टिक मोदक बनाते सुने जाते हैं एक निकृष्ट हिंसक हकीम ने किसी कामातुर यवन को यों पुष्टि-कर प्रयोग बताया था कि कितने ही सांड़ों यानी सरपट चलने वाले विशेष विषधर जन्तुओं को प्रथम चालीस मुर्गे खांय पुनः चालीसवें मुर्गे को वे उनतालीस मुर्गे खाजांय यों उनतालीसवें को शेष अड़तीस और अड़तीसमे को शेष सेंतीस आदि क्रम से भक्षण करते हुये जब एक मुर्गा शेष रहे उसका मांस भक्षण करने से बड़ा भारी काम विकार हो जाता है।

इस प्रयोग को धिक्कार है, वक्ता और श्रोता दोनों ने तीव्र पाप से अनन्त कामवासना के महापापों को उपजा कर अनन्त नरक निगोद को बढ़ाया है (धिक्, मोह) इसी प्रकार पहिले शब्द का ज्ञान दूसरे शब्द के ज्ञान में अपने संस्कार को घर देता है और तीसरे शब्द के ज्ञान में पहिले शब्द से संस्कृत द्वितीय शब्द के ज्ञान का संस्कार घर दिया जाता है यों पहिले, दूसरे, तीसरे, आदि के संस्कारों को क्रम क्रम से लेरहे चौथे, पांचमे, आदि शब्द ज्ञानों के संस्कारों से युक्त होरहा अन्तिम शब्द का श्रावणप्रत्यक्ष झटिति वाक्य अर्थ की प्रतिपत्ति करा देता है वैयाकरण कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि शब्द या ज्ञान के समान उनके संस्कार भी तो अनित्य हैं, ऐसी दशा में अन्तिम वर्ण के सुनने के अवसरपर उन संस्कारों के विद्यमान रहनेका विरोध है जो वस्तु विद्यमान ही नहीं है उसकी "वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति करना" आदि किसी भी कार्य में अपेक्षा करते रहना उचित नहीं पड़ता है।

कल्पनारोपितसंस्कारापेक्षायां कल्पनारोपितादेव वाक्यार्थप्रतिपत्तिप्रसंगात् तत्संस्काराणां कालांतरस्थायित्वेंत्यवर्णश्रवणाहितसंस्कारस्य पूर्ववर्णश्रवणाहितसंस्कारैः सहार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वमिति तत्संस्कारसमूहोऽर्थप्रतिपत्तिहेतुर्न शब्द इत्यायातं । न चैतद्युक्तं, वर्णश्रवणाहितसंस्कारेभ्यो वर्णस्मरणमात्रस्यैवोत्पत्तेः पदश्रवणाहितसंस्कारेभ्यः पदस्मरणमात्रवत् ।

वैयाकरण के प्रति वैशेषिक कह रहे हैं कि भले ही पूर्व शब्दों या उनके पूर्व-वर्ती ज्ञानों के समान उन ज्ञानों के संस्कार भी मर चुके हैं फिर भी कल्पना से आरोपे जा चुके उन संस्कारों की अपेक्षा करना वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति में मान लिया जाता है, मरे हुयेकी मूर्तियां या चित्र कुछ कार्य को कर ही देते हैं " यो लुप्यते स लुप्यमानार्थ-विधायी" । यों कहने पर तो हम वैयाकरण कहेंगे कि तब तो कल्पना करके आरोपे गये ही संस्कार से वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति होने का प्रसंग प्राप्त हुआ मर गयीं गाय, भैंसों की तस्वीरें या खिलोने दूध नहीं देते हैं, कल्पित कारणों से झूठ मूठ कल्पित ही कार्य होसकते हैं जैसे कि बच्चे खेला करते हैं, किन्तु यह कार्यकारण भाव कोई बच्चों का खेल नहीं है, वस्तुभूत भाव-आत्मक कारण को यथार्थ कार्य की उत्पत्ति में व्यापार करना पड़ता है झूट मूठ कल्पित कर लिये गये संस्कार कुछ भी कार्यकारी नहीं हैं ।

हां उन संस्कारों को क्षणिक नहीं मान कर यदि देर तक कालान्तर–स्थायी माना जायगा, तब तो अन्तिम वर्ण के सुनने से धार लिये गये संस्कार को पहिले पहिले वर्णों के सुनने द्वारा आधान किये जा चुके संस्कारों के साथ अर्थ की प्रतिपत्ति का कारणपना आया और यों उन संस्कारों का समूह ही अर्थ की प्रतिपत्ति कराने का हेतु हुआ शब्द तो वाच्य अर्थ का प्रतिपादक नहीं होसका यह अनिष्ट आपत्ति आई किन्तु यह शब्द को पदार्थ का प्रतिपादक नहीं मानते हुये संस्कारों को अर्थ की प्रतिपत्ति का कारण मान लेना वैशेषिकों को कथमपि उचित नहीं है, दे-व-द-त्त आदि वर्णों के सुनने से जमालिये गये संस्कारों से केवल वर्णों का ही स्मरण होना बन सकता है, जैसे कि देवदत्त–गां–अभ्याज शुक्लाम् दण्डेन इत्यादि पदों के श्रावण–प्रत्यक्ष द्वारा जड़ लिये गये संस्कारों से केवलपदों का ही स्मरण हो सकता है वाक्य के अर्थ की या प्रकरण के अर्थ की अखण्ड प्रतिपत्ति नहीं होसकेगी ।

अथ संकेतग्रहणोपजातपदाभिधेयज्ञानाहितसंस्कारेभ्योऽर्थप्रतिपत्तिरिष्यते तथापि पदार्थप्रतिपत्तिरेव स्यान्न वाक्यार्थप्रतिपत्तिः । न च पदार्थसमुदायप्रतिपत्तिरेव वाक्यार्थप्रतिपत्तिरिति युक्तं, वर्णार्थसमुदायप्रतिपत्तिरेव पदार्थप्रतिपत्तिरिति प्रसंगात् । न च वर्णानामर्थवत्त्वाभावे पदस्यार्थवत्त्वं घटते, तस्य प्रकृतिप्रत्ययादिसमुदायात्मकत्वात् प्रकृत्यादीनां च अर्थवत्त्वोपगमात् ।

वैयाकरण ही कहे जा रहे हैं कि अब यदि वैशेषिक यों इष्ट करें कि भले ही वर्णों के संस्कार से वर्णों का स्मरण होसके किन्तु जो वृद्धव्यवहार से हमने पूर्व में यो संकेत ग्रहण कर रक्खा है

कि गम् डोस् सु मकार के उत्तरवर्ती ओकार वर्ण वाले गो पद से सींग सासना वाला पशु समझा जाता है, घट शब्द से शंख की सी ग्रीवा और बड़े पेट वाला पदार्थ कहा जाता है, इत्यादिक रूप से पदों के संकेतों की सामर्थ्य से उत्पन्न होचुके अभिधान करने योग्य अर्थों के ज्ञान द्वारा धरदिये गये संस्कारों करके वाच्य की प्रतिपत्ति होजायगी। इस पर हम वैयाकरण कहते हैं कि तो भी पदों के अलग अलग अर्थों की ही प्रतिपत्ति होसकेगी वाक्य के अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं होसकेगी। वही वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति नहीं होसकना, दोष खड़ा रहा। यदि वैशेषिक यों कह बैठें कि पदार्थों के समुदाय की प्रतिपत्ति ही वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति है, इस पर हम वैयाकरण कहते हैं कि यह कहना युक्तिपूर्ण नहीं है, इस ढंग से तो प्रत्येक वर्णों करके कहे गये अर्थों के समुदाय की प्रतिपत्ति को ही पदार्थ की प्रतिपत्ति स्वरूप होजाने का प्रसंग आजावेगा क्योंकि गकार, ओकार आदि वर्णों के अर्थसहितपन का अभाव हो जाने पर गौ आदिक पद को गाय अर्थ करके सार्थकपना नहीं घटित हो पाता है।

बात यह है कि प्रकृति, प्रत्यय, विकरण, आगम आदि का समुदाय स्वरूप वह पद है और व्याकरण शास्त्र में प्रकृति आदि को अर्थसहित स्वीकार किया गया है। अर्थात्-जिससे प्रत्यय लाया जाता है वह प्रकृति है भू, गम, दिव, जिन, आदि प्रकृतियां हैं प्रतीयते विधीयते इति प्रत्ययः प्रकृतियों से जो लाया जाता है वह प्रत्यय है जो कि तिप्, तस्, झि, सु, औ, जस् आदि हैं और प्रकृति तथा प्रत्यय के बीच में शप्, श्नम्, श्नु, आदि विकरण आजाते हैं नुम्, कुक्, टुक्, धुट् आदि आगम होजानेके वर्ण हैं। प्रकृतियोंके अर्थ सत्ता गमन, आदि न्यारे न्यारे हैं, प्रत्ययों के भी, कर्ता, एकत्व, वर्तमान काल आदि अनेक अर्थ हैं यों अर्थवान् होरहे प्रकृति, प्रत्यय, आदि वर्णों का समुदाय ही पद है, अतः वर्णों के अर्थों का समुदाय ही पदार्थ मान लिया जाओ।

यदि पुनः प्रकृत्यादयः स्वार्थापेक्षयार्थवंतोपि पदार्थापेक्षया निरर्थका एवेति मतं तदा पदान्यपि स्वाभिधेयापेक्षयार्थवंत्यपि वाक्यार्थापेक्षया निरर्थकानि किं न भवेयुः ! तदुक्तं— "ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद्ब्राह्मणकम्बले देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्थकाः। इति।

वैयाकरण ही कहे जा रहे हैं, कि नैयायिकों का फिर यदि यह मन्तव्य होय कि प्रकृति, प्रत्यय, आदिक यद्यपि अपने अपने नियत होरहे अर्थ की अपेक्षा सार्थक हैं। फिर भी वर्णों के समुदाय होरहे पद के स्वकीय अर्थ की अपेक्षा करके वे निरर्थक ही हैं। यों मन्तव्य होने पर तब तो हम वैयाकरण कहेंगे कि यों तो वाक्य रूप समुदाय में पड़े हुये अनेक पद भी अपने अपने कथन करने योग्य अर्थों की अपेक्षा सार्थक होते हुये भी वाक्य के अर्थ की अपेक्षा करके क्यों नहीं निरर्थक होजाओ? कोसों दूर पड़े हुये एक एक मनुष्य की अपेक्षा अनुसार दस, बीस मनुष्यों का मिल जाना मेला नहीं कहा जा सकता है, अतः देवदत्त, गाय, आदि पद केवल स्वार्थ का ही कह सकेंगे समुदित वाक्यार्थ को नहीं, वही हमारे ग्रन्थ में यों कहा गया है कि जिस प्रकार ब्राह्मण करके ओढ़े जा रहे

कम्बल में कोई ब्राह्मणता का सूचक अर्थ नहीं है, उस ही प्रकार "देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन" इस वाक्य में देवदत्त आदि पद भी निरर्थक हैं।

तथा च न पदार्थसमुदाय एव वाक्यस्यार्थस्तस्य ततोन्यत्वादेकत्वेनाप्रतीयमानत्वादभ्याजनक्रियादेर्देवदत्तादिवाक्यार्थत्वात्। न च तस्य वर्णेभ्य इव पदेभ्योपि प्रतिपत्तिः संभवतीति तत्प्रतिपत्तिहेतुर्वर्णपदव्यतिरिक्तः कश्चिद्वस्त्वात्माभ्युपगंतव्यः। स च स्फोट एव, स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोट इति तस्यैकरूपता पुनरेकाकारप्रतिभासादवसीयते नानाकारेभ्यो हेतुभ्यस्तदयोगादहेतुकत्वप्रसंगादिति।

व्याकरणवेत्ता ही अपना सिद्धान्त कह रहे हैं कि और उक्त ढंग से तिस प्रकार दशा
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
होजाने पर पदों के अर्थों का समुदाय ही वाक्य का अर्थ नहीं होसका क्योंकि उस वाक्य का अर्थ उन पदों के न्यारे न्यारे तितरे बितरे अर्थों से भिन्न है. पदों के अर्थ और वाक्य के अर्थ की एकपन करके प्रतीत नहीं होरही है, अभ्याजन यानी घेर लाना क्रिया आदिक तो देवदत्त गां इत्यादिक वाक्य का अर्थ है।

"एकतिङ् वाक्यं" उस वाक्य के अर्थ की न्यारे न्यारे वर्णों से जैसे प्रतिपत्ति नहीं होती है, उसी प्रकार पुष्पप्रकीर्ण समान यहां वहां बिखर रहे स्वतन्त्र पदों से भी वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति होना नहीं सम्भवता है। इस कारण उस वाच्य अर्थ की प्रतिपत्ति को कराने का कारण कोई वर्णों और पदों से व्यतिरिक्त होरहा वस्तुभूत-आत्मक पदार्थ स्वीकार कर लेना चाहिये और मीमांसकों के साथ स्वल्प मतभेद को धार रहे हम वैयाकरणों के यहां वही वस्तु स्फोट माना गया है।

स्फोट शब्द की निरुक्ति से भी यही अर्थ निकलता है, कि जिससे वाच्य अर्थ स्फुट होजाता है, इस कारण वह स्फोट माना गया है।

यों उस स्फोट का एक-रूपपना तो फिर एक आकार वाले होरहे प्रतिभास से निर्णीत कर लिया जाता है, क्योंकि अनेक आकार वाले हेतुओं से एक अखण्ड वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति होजाने का अयोग है, यदि शब्द में ठहर रहे स्फोट को एक स्वरूप नहीं माना जायगा तो वाक्यार्थ की एक अखण्ड प्रतिपत्ति को निर्हेतुकपन का प्रसंग होगा किन्तु प्रतिनियत देश, काल, आकारों वाली यह समीचीन प्रतिपत्ति तो बिना कारणोंके नहीं होसकती है। यहां तक मीमांसक पण्डित अपने स्फोटवाद के पूर्व पक्ष को पूर्ण कर चुके हैं।

सोप्ययं स्फोटवादी प्रष्टव्यः, किमयं स्फोटः शब्दात्मकोऽशब्दात्मको वा? इति। न तावदाद्यः पक्षः श्रेयान्, तस्य स्फोटस्य शब्दात्मनः सदैकस्वभावस्याप्रतीतेः वर्णपदात्मनो नानास्वभावस्यावभासनात्, वर्णपदेभ्यो भिन्नस्यैकस्वभावस्येव शब्दस्य श्रोत्रबुद्धौ प्रतिभासनादसिद्धा स्वभावानुपलब्धिः स्वभावविरुद्धोपलब्धिर्वा न स्फोटाभावमावनीति चेत् न, तस्य वर्णपदश्रवणकाले पश्चाद्वा प्रतिभासाभावात्।

अब आचार्य महाराज समाधान करते हैं, कि इस प्रकार कह रहा यह प्रसिद्ध विद्वान् स्फोट-वादी भी यों प्रश्न करलेने योग्य है, कि क्योंजी यह तुम्हारा स्फोट क्या शब्द-आत्मक है ? अथवा क्या शब्द स्वरूप नहीं होरहा किसी अन्य पदार्थ स्वरूप है ? बताओ, आदि का पक्ष ग्रहण करना तो श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि शब्द स्वरूप मान लिये गये उस स्फोट की सर्वदा एक स्वभाव वाले होरहे की प्रतीति नहीं होती है, वर्णों, पदों, स्वरूप होरहे अनेक स्वभाववाले शब्दका सदा प्रतिभास होरहा है।

यदि वैयाकरण यों कहैं कि वर्ण और पदों से भिन्न होरहे एक स्वभाव वाले ही शब्द का कर्ण इन्द्रिय-जन्य ज्ञान में प्रतिभास होरहा है। अतः स्फोट के अभाव को साधने वाली स्वभाव अनुपलब्धि अथवा स्वभावविरुद्धोपलब्धि तो असिद्ध है। अर्थात्- "स्फोटो नास्ति अनुपलब्धेः अथवा स्फोटो नास्ति अनेक स्वभावात्मकशब्दस्यैवोपलब्धेः" इन अनुमानों में पड़े हुये दोनों हेतु बेचारे स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास हैं। असत् हेतु तो स्फोट के अभाव को नहीं साध सकते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि शब्द और वाच्यार्थ के मध्य में व्यर्थ गढ़ लिये गये उस स्फोट का वर्ण और पदों के श्रावण प्रत्यक्ष के अवसर पर अथवा पीछे भी प्रतिभास नहीं होता है। जिस उपलम्भ योग्य माने गये पदार्थका ज्ञान नहीं होय फिर भी उसका सद्भाव माने चले जाना केवल बालाग्रह मात्र है।

स हि यदि तावदाख्यातशब्दः प्रतिभासत एव वाक्यात्मा तदा नैकस्वभावोऽनेकवर्णात्मकत्वात् भिन्न एवाख्यातशब्दोऽभ्याजेन्यादिवर्णेभ्य इत्ययुक्तं, तथा प्रतीत्यभावात्।

वैयाकरणों का विचार है-

"आख्यातशब्दः सङ्घातो जातिः संघात-वर्तिनी। एकोऽनवयवः शब्दःक्रमो बुद्ध्यनुसंहृतिः॥ १॥
पदमाद्यं पदं चान्त्यं पदं सापेक्षमित्यपि। वाक्यं प्रतिमतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवेदिनाम्॥ २॥"

न्याय को जानने वाले विद्वानों की वाक्य के लक्षण प्रति अनेक प्रकार भिन्न भिन्न मतियां हैं। कोई भवति, पचति, इत्यादि आख्यात शब्द को वाक्य मानते हैं। एक तिङ् वाक्यं,,।

अन्य पण्डित तो वर्णों या पदों के संघात यानी समुदाय को वाक्य कहते हैं. कोई संघात में वर्त रही जाति को वाक्य कहते हैं, दूसरे पण्डित बेचारे अवयवों से रहित होरहे एक अखण्ड स्फोट-आत्मक शब्द को वाक्य मान रहे हैं, वर्णों के क्रम को वाक्य कोई कोई मान बैठे हैं, चारों ओर से संकोच कर बुद्धि का एक शब्द पिण्ड द्वारा परामर्श किया जाना वाक्य भी क्वचित् माना जा रहा है, तथा अन्य पदों की अपेक्षा रखने वाला आद्यपद अथवा अन्य पदों की अपेक्षा रखने वाला अन्तिम पद भी वाक्य होसकता है, यों वाक्य के लक्षण में कई सम्मतियां हैं तदनुसार आचार्य महाराज एक एक मन्तव्य पर क्रम से विचार चलाते हैं।

वाक्य के लक्षणों में सब से पहिले तिङन्त आख्यात शब्द को वाक्य मानने वाले वैयाकरण यदि यों कहैं कि यह आख्यात शब्द तो वाक्यस्वरूप होता हुआ सब को प्रतिभासता ही है, तब तो हम

जैन कहेंगे कि वह आख्यातशब्दस्वरूप वाक्य बेचारा (पक्ष) एक स्वभाव वाला हो नहीं है। अनेक वर्ण-आत्मक होने से (हेतु) देखो पचति, करोति, आदि वाक्य अनेक स्वभाव वाले हैं, पच् धातु का अर्थ पाक स्वभाव है, तिप् प्रत्यय के अर्थ तो वर्तमानकाल- स्वतन्त्रकर्तृत्व, एकत्व संख्या आदि स्वभाव है, अतः एक स्वभाव वाला आख्यात शब्द नहीं होसका जोकि स्फोट माना गया है। यदि वैयाकरण यों कहैं कि अभ्याज, पचति इत्यादि आख्यात तो इन छिपे हुये अभि × आ × अज × शप् × हि। पच् × शप् + तिप् इत्यादि वर्णों से आख्यात शब्द भिन्न ही है। जोकि स्फोट माना गया है, आचार्य कहते हैं कि यह वैयाकरण का कहना अयुक्त है, क्योंकि तिस प्रकार की प्रतीति नहीं होती है, अभ्याज में पड़े हुये वर्णों के सिवाय या पचति में पड़े हुये वर्णों के अतिरिक्त किसी आख्यात शब्द की प्रतीति नहीं होरही है।

वर्णव्यंग्योंत्यवर्णश्रवणानंतरमेकः प्रतीयत एवेति चेन्न, वर्णानां प्रत्येकं समुदितानां वा स्फोटाभिव्यक्तौ हेतुत्वाघटनादर्थप्रतिपत्ताविव सर्वथा विशेषाभावात् । यदि पुनः कथंचिद्वर्णाः स्फोटाभिव्यक्तिहेतवः स्युस्तदा तथैवार्थप्रतिपत्तिहेतवः संतु किमनया परम्परया ? वर्णेभ्यः स्फोटस्याभिव्यक्तिस्ततोभिव्यक्तादर्थप्रतिपत्तिरिति । कथंचिद्व्यतिरिक्तः स्फोटो वर्णेभ्य इति तस्य श्रोत्रबुद्धौ प्रतिभासनोपगमे कथमेकानेकस्वभावोसौ न स्यात् ? सुखदुःखादिपर्यायात्मकात्मवद् नवपुराणादिविशेषात्मकस्कंधवद्वा ।

यदि वैयाकरण यों कहैंकि वर्णों से प्रगट होने योग्य और अन्तिम वर्णके सुनने के पश्चात् एक स्वभाववाला आख्यात शब्द प्रतीत हो ही जाता है। आचार्य कहते हैं, कि यों तो नहीं कहना क्योंकि प्रत्येक प्रत्येक होरहे वर्णों को अथवा समुदाय प्राप्त होरहे वर्णों को स्फोट की अभिव्यक्ति में कारण-पना घटित नहीं होता है, जैसे कि मीमांसकों ने अर्थ की प्रतिपत्ति कराने में प्रत्येक ध्वनियों या समुदित ध्वनियों को निमित्त कारण नहीं होने दिया था। हमारे यहां अर्थ की प्रतिपत्ति कराने में और तुम्हारे यहां स्फोट की अभिव्यक्ति कराने में प्रत्येक शब्द या समुदित शब्दों की कारणता की सभी प्रकारों से कोई विशेषता नहीं है। अर्थात्–"स्फोटोऽर्थप्रतिपत्तिहेतुर्न ध्वनयः,, इत्यादि ग्रन्थ द्वारा जैसे आप वैयाकरण प्रत्येक शब्द या समुदित शब्दों को अर्थ की प्रतिपत्ति का निमित्त–पना उड़ा देते हैं, उसी प्रकार हम जैन भी स्फोट की अभिव्यक्ति करने में प्रत्येक या समुदित शब्द को कारण होजाने का खण्डन कर देवेंगे, आप जो अपने लिये समाधान करेंगे वही समाधान हमारे लिये लागू होजायगा हमारे सिद्धान्त का प्रत्याख्यान करना तुम्हारे सिद्धान्तपर भी चरितार्थ कर दिया जायगा, इस विषय का हम, तुम, में कोई रेफ मात्र भी अन्तर नहीं है, आपके यहां मीमांसा-श्लोकवार्तिक ग्रन्थ है, तो हमारे यहां तत्वार्थश्लोकवार्तिक महान् ग्रन्थ है, वार्तिकों की चिकित्सा वार्तिकों से कर दी जायगी।

यदि सम्हल कर आप फिर यों कहैं कि अनेक वर्ण ही कथंचित् स्फोट की अभिव्यक्ति

कराने में हेतु होसकेंगे तब तो हम जैन कह सकेंगे कि तिस ही प्रकार कथंचित् एकपन और अनेकपन धार रहे वे वर्ण ही अर्थ की प्रतिपत्ति कराने में निमित्त कारण होजाओ. इस व्यर्थकी लम्बीपरम्परा से क्या लाभ है ? कि प्रथम तो बहुत से वर्णों से नित्य स्फोट को प्रगट किया जाय पश्चात् उस अभिव्यक्त हुये स्फोट से अर्थ की प्रतिपत्ति की जाय, दार्शनिकों के यहां ऐसी निरर्थक परम्परा नहीं मानी जाती है। इस कारण सिद्ध होता है कि आपका माना हुआ वह स्फोट वर्णों से कोई भिन्न नहीं है, कथंचित् अभिन्न है यों वर्णों से अभिन्न होरहे उस स्फोट का यदि श्रोत्र-जन्य ज्ञान में प्रतिभास जाता स्वीकार किया जायगा तो वैयाकरणों के यहां वह स्फोट भला एक अनेक स्वभाव वाला क्यों नहीं हो सकेगा ? यानी-शब्दआत्मक स्फोट एक, अनेक स्वभाव वाला है। जैसे कि सुख, दुख, ज्ञान, पुरुषार्थ (प्रयत्न) आदि अनेक पर्यायों के साथ तदात्मक होरहा आत्मा बेचारा एक अनेक स्वभाव वाला है, देखिये स्वयं आत्मा द्रव्य एक है। उससे अभिन्न होरहे सुख दुःख आदिक अनेक विवर्त हैं, अतः आत्मा यह एक-अनेक-आत्मक है।

अथवा दूसरा दृष्टान्त यों समझिये कि नवीन, पुरानी, अर्धजीर्ण, आदि अवस्था विशेषों के साथ तदात्मक होरहा वस्त्र, गृह, आदि पुद्गल स्कन्ध जैसे एक अनेक-आत्मक है, अनेक पुद्गल द्रव्यों का पिण्ड होरहा स्कन्ध नामक अशुद्ध पुद्गल द्रव्य एक है, उसकी अभिन्न होरहीं नयी, पुरानी, आदि अवस्थायें न्यारी न्यारी अनेक हैं, इसी प्रकार शब्द भी एक-अनेक स्वभाव वाला है, भले ही शब्द की किसी एक शक्ति या पूरे शब्द का नाम स्फोट कर लिया, इस अर्थ के बिना हुये कोरे शब्द मात्र के भेद से हम वैयाकरणों के साथ कोई विवाद नहीं करते हैं "अर्थे तात्पर्यं न तु शब्दजाले,,

भाषावर्गणापुद्गलद्रव्यं हि स्वसहकारिविशेष-वशादकाररूपतामासाद्य मकारादि-रूपतामासादयत् क्रमशः प्रतिनियतवक्तृविशेषादभ्याजेत्यादिराख्यातशब्दः प्रतिभासते न चासौ वाक्यं देवदत्तादिपदनिरपेक्षस्तदुच्चारणवैयर्थ्यापत्तेः। सत्तापेक्षस्य तु वाक्यत्वे देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेनेत्यादि कथंचित्पदात्मकं वाक्यमेकानेकस्वभावमाख्यातशब्दवदभिधातव्यं, तथास्वीकृतौ च सर्वैकान्तावलंबनप्रसंगात्।

भाषा वर्गणा स्वरूप पुद्गल द्रव्य तो नियत होरहे अपने विशेष विशेष सहकारी कारणों के वश से "अभ्याज" यहां अकार स्वरूप को प्राप्त कर भकार, यकार आदि-पन को धार रहा सन्ता क्रम क्रम से प्रति-नियत होरहे वक्ता विशेष या श्रोता विशेष आदि को अभ्याज, पच, गच्छ, आदिक आख्यात शब्द स्वरूप करके प्रतिभास जाता है किन्तु वह अकेला आख्यात शब्द तो देवदत्त, गो, आदि पदों की नहीं अपेक्षा रखता हुआ कथमपि वाक्य नहीं होसकता है, वैयाकरणों के यहां यदि केवल तिङन्त आख्यात शब्द ही पूरा वाक्य मान लिया जायगा तो उन देवदत्त, गां, आदि पदों के उच्चारण करने के व्यर्थपन का प्रसंग आजावेगा। यदि उन देवदत्त आदि पदों के सद्भाव की अपेक्षा रखने वाले आख्यात शब्द को वाक्यपना इष्ट करोगे तबतो " हे देवदत्त तू धौली गाय

को उपदे करके घेरता " इत्यादि पदों के साथ कथंचित् तादात्म्य को धार रहा वाक्य एक अनेक स्वभाव वाला ही कथन करने योग्य उचित पड़ा जैसे कि पहिले अभि, आङ्, अनु, शप्, इ, आदिक शब्दों के साथ कथंचित् तदात्मक होरहा आख्यात शब्द बेचारा एक और अनेक स्वभाव वाला मान लिया जा चुका है यदि वाक्य के एक अनेक स्वभावों का निराकरण किया जायगा तो वैयाकरणों को बौद्धों के क्षणिकत्व एकान्तके अवलम्बन करने का प्रसंग आजावगा। शब्द को नित्य मानने वाले वैयाकरण उन क्षणिकवादी बौद्धों का सहारा लेने के लिये कथमपि उत्कण्ठित नहीं होंगे।

क्रमभुवां केषांचिद्वर्णानां वास्तवैकपदत्वाभावे वर्णैकवर्णभागानामपि पारमार्थिकैकवर्णत्वासिद्धेस्तथोपगमे वांतर्बहिश्चात्मनो घटादेश्च क्रमभाव्यनेकपर्यायात्मकत्वस्याभावानुषंगात्। तांस्तत्सद्भावमभ्युपगच्छता क्षणिकानेकक्रमभुवर्णभागात्मकमेकं वर्णमभ्युपेयं, तद्वदनेकक्रमवर्तिवर्णात्मकमेकं पदं तादृशानेकपदात्मकं च वाक्यमेषितव्यं। ततो न ख्यातशब्दो वाक्यात्मैकस्वभाव एव कथंचिदनेकस्वभावस्य तस्य प्रतीतेः।

क्रम क्रम से हुये देखे जा रहे नियत किन्हीं किन्हीं वर्णों का यदि वास्तविक रूप से एक पदपना नहीं माना जायगा तो एक वर्ण के क्षणिक अंशों को भी समुदित होकर वास्तविक एक वर्ण होजाना नहीं सिद्ध होसकेगा और तैसा स्वीकार कर लेने पर यानी क्रमभावी अनेक अंशों का एक पिण्ड होजाना नहीं मानने पर तो अन्तरंग आत्म तत्व को और बहिरंग घट, पट, आदि पदार्थों को क्रमभावी अनेक पर्यायों के साथ तदात्मक होरहेपन के अभाव का प्रसंग आजावेगा। अर्थात् एक आत्मा अनेक सुख, दुख, राग, द्वेष, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, दान, लाभ, आदि परिणति-आत्मक नहीं होसकेगा। तथा एक घट अनेक कपाल, कपालिका आदि अवयव-आत्मक और कपड़े का एक थान अनेक तन्तु-आत्मक नहीं बन सकेगा तिस कारण उन आत्मा घट, पट, आदि अंशी पदार्थों के सद्भाव को स्वीकार करने वाले वैयाकरण करके क्रम से वर्त रहे और क्षणिक होरहे अनेक वर्ण भागों के साथ तदात्मक होरहा एक वर्ण प्रसन्नता-पूर्वक मान लेना चाहिये अर्थात्-आठ अंशों की एक खाट, या दो हाथ, दो पांव, नितम्ब, पीठ, उर:स्थल, सिर, इन आठ अंगों का एक शरीर माना ही जाता है, प्रत्येक सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के अंग भी आठ इष्ट किये गये हैं, इसी प्रकार अ का स्वर पूर कर गाने वाले गन्धर्व देर तक अलापते रहते हैं वहां अवर्ण के कितने ही अंश स्पष्ट सुने जा रहे हैं, शीघ्र बोल दिये गये अकार में भी अनेक उसके अवयव भूत अंश हैं उनका समुदाय एक " अ " अक्षर है।

बस उसी " अ " के समान क्रम से वर्त रहे अनेक अ, म, आदि वर्णों के साथ तदात्मकै को धार रहा एक पद होता है और पिण्ड होरहे तिन्हीं वर्ण या पदों के समान अनेक पदों के साथ तदात्मक होरहा वाक्य इष्ट कर लेना चाहिये देखिये फूली पौनी में पाये जा रहे छोटे छोटे रूओं

से मिलकर लम्बा सूत उपजता है, सूत से अंडियां और अंडियों से आंटे और आंटों से थान होजाता है उसी प्रकार अक्षर के छोटे छोटे अंशों से एक अक्षर और अनेक अक्षरों से एक पद, तथा अनेक पदों से एक वाक्य होजाता है तिस कारण वाक्य स्वरूप माना गया आख्यात शब्द बेचारा एक स्वभाव वाला ही नहीं है जो कि वैयाकरणों ने मान रखा है किन्तु कथंचित् अनेक स्वभावों वाले उस आख्यात शब्द की प्रतीति होरही है प्रतीति-सिद्ध पदार्थ को सहर्ष स्वीकार करलेना चाहिये। यहाँ तक वैयाकरणों के मत में वाक्य माने गये आख्यात शब्द का विचार कर दिया गया है।

एतेन पदमाद्यमंत्यं चान्यद्वा पदांतरापेक्षं वाक्यमेकस्वभावमिति निरस्तं, तस्या स्याख्यातशब्दवत्कथंचिदनेकस्वभावस्य प्रतिभासनात्।

इस उक्त कथन करके "देवदत्तः ओदनं पचति" देवदत्त भात को पकाता है यहां आदि का पद देवदत्त अथवा अन्त का पद पचति एवं और भी कोई मध्य का पद तो अन्य पदों की अपेक्षा रखता हुआ एक स्वभाव वाला वाक्य है, इस वैयाकरणों के मन्तव्य का भी आचार्य ने निराकरण कर दिया है क्योंकि अन्य पदों की अपेक्षा रखते हुये उस आद्य पद या अन्तिम पद का आख्यात शब्द के समान कथंचित् अनेक स्वभाव वाले का ही प्रतिभास होरहा है। बात यह है कि जितने भी कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, विशेषण, क्रिया इत्यादिक अर्थों के वाचक पदों करके शब्दबोध होता है परस्पर-अपेक्षा रखते हुये उन पदों के निराकांक्ष होरहे समुदाय को वाक्यपना प्रसिद्ध है, अतः वह वाक्य आख्यात शब्द के समान अनेक स्वभावों वाला है।

एकोऽनवयवः शब्दो वाक्यमित्ययुक्तं, तस्य सावयवस्य प्रतिभासनात्। तस्य चावयवेभ्योऽनर्थान्तरत्वेऽनेकत्वमेव स्यात्, तदर्थान्तरत्वे संबंधासिद्धिः उपकारकल्पनायां वाक्यस्यावयवकार्यत्वप्रसंगस्तैरुपकार्यत्वादवयवानां वा वाक्यकार्यता तेनोपक्रियमाणत्वात् उपकारस्य ततोऽर्थान्तरत्वे संबंधासिद्धिरनुपकारात् तदुपकारांतरकल्पनायामनवस्थाप्रसंग इति वाक्यतदवयवभेदाभेदकांतवादिनामुपालंभः। स्याद्वादिनां यथाप्रतीतिकथंचित्तदभेदोपगमात् एकानेकाकारप्रतीतेरेकानेकात्मकस्य जात्यंतरस्य व्यवस्थितेः।

अंशों से रहित होरहा एक निरवयव शब्द तो वाक्य है यह न्यायवेदियों का कथन भी युक्तियों से रीता है क्योंकि उस अवयवों से सहित होरहे वाक्य का सभी विद्वानों को परिज्ञान होता है कर्ता, कर्म, क्रिया, करण आदि सभी तो अपने अपने अर्थों को लिये हुये वाक्य के अवयव होरहे हैं जैसे कि एक थान के अनेक तन्तु अवयव होरहे हैं, यदि उस वाक्य को अपने कर्ता, कर्म, आदि अवयवों से अभिन्न माना जायगा तो वह वाक्य अनेक अनेक स्वभाव वाला ही होगा। अनेकों से अभिन्न अनेक पदार्थ हैं या अनेक स्वभावों वाला ही है। हां यदि वाक्य का उन अवयवों से भेद माना जावेगा तो वाक्य और अवयवों के परस्पर हो रहे सम्बन्ध की सिद्धि नहीं बन सकेगी क्योंकि

तब तो सम्बन्ध के बिना "इन अवयवों का यह वाक्य है" अथवा उस वाक्य के ये अवयव हैं यों सम्बन्ध का निरूपण करने वाली षष्ठी विभक्ति नहीं उतर सकती है, उपकार किये जाने पर ही सम्बन्ध की व्यवस्था मानी गयी है, पिता पुत्र सम्बन्ध, गुरु शिष्य सम्बन्ध, पति पत्नी सम्बन्ध, स्व-स्वामी सम्बन्ध, कार्य कारण भाव, आदि में परस्पर उपकार द्वारा नाता जुड़ा हुआ है, शिष्य का उपकार गुरु पढ़ा कर कर देता है और शिष्य भी गुरु जी की सेवा, अनुकूल व्यवहार, श्रद्धा, करता हुआ उपकार करता है। इत्यादि प्रकार अनुसार यदि यहाँ वाक्य और उसके अवयव होरहे पदों में सम्बन्ध की स्थिरता के लिये उपकार की कल्पना की जायगी, तब तो वाक्य को अवयवों के कार्य होजाने का प्रसंग होजायेगा क्योंकि उन अवयवों ने वाक्य के ऊपर उपकार किया है जो कि उप-कार उस उपकृत हुये वाक्य से अभिन्न है, अतः अवयवों ने उपकार क्या किया मानो वाक्य को ही बनाया। अथवा यदि वाक्य की ओर से अवयवों के ऊपर उपकार कियाजाना माना जायेगा तो अवयवों को वाक्य के कार्य होजाने का प्रसंग आवेगा क्योंकि उस वाक्य करके अनेक अवयव उप-कार को प्राप्त किये जा रहे हैं, वाक्य ने अवयवों से अभिन्न होरहा अवयवों का उपकार किया मानो अवयवों को ही बनाया, शब्द को नित्य मानने वाले मीमांसक या वैयाकरण उन पद या उन वाक्यों का बनाया जाना इष्ट नहीं कर सकेंगे।

शब्द अनित्य नहीं होजांय इसलिये वैयाकरण यदि अवयवों की ओर से वाक्य पर किये गये उपकार को वाक्य से भिन्न पड़ा रहा स्वीकार करेंगे अथवा वाक्य की ओर से किये गये अव-यवों के ऊपर उपकार को अवयवों से निराला पड़ारहा मान बैठेंगे तब तो उपकृत से उपकार को भिन्न मानने पर उन उपकृत और उदासीन होकर भिन्न पड़े हुये उपकारों के परस्पर सम्बन्ध की सिद्धि नहीं हो सकी क्योंकि उपकार होने से सम्बन्ध व्याप्य होरहा है जहाँ उपकार कोई नहीं है वहाँ सम्बन्ध भी नहीं है। जगत में स्वार्थ का नाता है, साक्षात् या परम्परा प्रयोजन सिद्धि के बिना कोई किसी से सम्बन्ध ही नहीं रखता है, अतः अवयव और वाक्यों में उपकार हुये विना जैसे सम्बन्ध की सिद्धि नहीं हो सकी थी उसी प्रकार उपकृत और भिन्न पड़े हुये उपकारों में परस्पर उप-कार हुये विना सम्बन्ध (गठ बन्धन) नहीं हो सकता है, अतः इन उपकृत वाक्य या पदों को न्यारे उपकार के साथ जोड़ने के लिये यदि उनके अन्य उपकारों की कल्पना की जायगी तो अनवस्था दोष होजाने का प्रसंग आता है, कारण कि भेदपक्ष में वे उपकार भी भिन्न ही पड़े रहेंगे उनके जोड़ने के लिये पुनः अनेक उपकारों को मध्य में लाने की आकांक्षा बढ़ती ही चली जायगी, हाँ किये गये उपकारों को यदि उपकृत से अभिन्न मान लिया जाय तो अनवस्था टल सकती है किन्तु यों मान लेने पर उपकृत वाक्य या पद अनित्य हुये जाते हैं, शब्द को नित्य मान रहे पण्डित अनवस्था को भले ही सहन करलें परन्तु शब्द का अनित्यपना उनको सह्य नहीं है।

इस प्रकार वाक्य और उसके अवयवों का भेद-एकान्त अथवा अभेद एकान्त को बखान

रहे वादी पण्डितों के ऊपर ये उपर्युक्त उलाहने आते हैं भेदैकान्त-वादी जैसे वाक्य और अवयवों के अथवा उपकृत या उपकारों के अभेद होने को बखान रहे अभेद-वादी को उक्त उलाहना दे देता है तथा अभेदैकान्तवादी सांख्य पण्डित जैसे वाक्य और अवयवों या उपकृत और उपकारों के सर्वथा भेद को बखान रहे भेदैकान्तवादी के ऊपर उक्त उपालम्भ उठादेता है, उसी प्रकार स्याद्वादी विद्वान दोनों भेदवादी या अभेदवादी पण्डितों के ऊपर दोनों उपालम्भ धर देते हैं। हां स्याद्वादियों के ऊपर कोई उलाहना नहीं आता है क्योंकि स्याद्वादियों के यहां प्रतीतियों का अतिक्रमण नहीं कर उन वाक्य या उसके अवयवों में कथंचित् अभेद होना स्वीकार किया गया है। घट, पट, वाक्य, गृह, आदि अर्थों की एक और अनेक आकारों के साथ तदात्मकपने करके प्रतीति होरही है, सर्वथा एक और सर्वथा अनेक से निराली तीसरी ही जातिका एक-अनेक-आत्मकपना व्यवस्थित होरहा है, अतः कथंचित् भेद अभेद को मानने वाले अनेकान्त-वादियों के यहां कोई उलाहना नहीं आता है, स्याद्वादी ही प्रत्युत एकान्तवादियों के ऊपर अनेक उलाहने लाद देते हैं।

न हि वाक्यश्रवणानंतरमनेकाकारप्रतीतिः सर्वदा सर्वत्र सद्भावप्रसंगात् । नापि वर्णपदमात्रहेतुका तदाकारत्वप्रसंगाद्वर्णपदप्रतीतिवत् । ततो वाक्याकारपरिणतशब्दद्रव्यहेतुकवाक्यप्रतीतिश्च तथा परिणतशब्दद्रव्यमेकानेकाकारं परमार्थतः सिद्धं बाधकाभावात् ।

"नमः श्री वर्द्धमानाय, देवदत्तो गच्छति, देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन, इत्यादि वाक्यों को सुनने के पश्चात् अनेक आकारों की ही प्रतीति नहीं होती है ? यदि ऐसा होता तो सभी कालों में और सभी देशों में अनेक आकार वाली प्रतीति होने के ही सद्भाव का प्रसंग आजावेगा अर्थात्-वाक्य या श्लोक ही क्या बड़े बड़े प्रकरणों व्याख्यानों से भी पीछे एक अखण्ड शाब्दबोध का होना अनुभूत होरहा है, तभी तो बड़े बड़े व्याख्यानों या ग्रन्थों का सार एक वाक्य में सामान्य रूप से कह दिया जा रहा है। इतने बड़े महान् तत्वार्थ-सूत्र ग्रन्थ में जीव आदि सात तत्वों का अधिगम कराते हुये मोक्षमार्ग का प्रदर्शन किया गया है। देखिये जैसे एक महा काव्य में अनेक सर्गों का एकीकरण है। एक सर्ग में कतिपय प्रकरणों का अन्वित अभिधान है. एक प्रकरण में कतिपय श्लोकों का समवाय किया गया अर्थ परस्पर जुड़ रहा है, एक श्लोक में कई वाक्य गुंथ रहे हैं, एक वाक्य में कई पद और एक पद में कई वर्ण समुदित होरहे हैं। अथवा जैसे कई सिपाहियों के ऊपर एक जमादार और कई जमादारों के ऊपर एक थानेदार तथा कई थानेदारों को स्वाधिकार वृत्ति कर रहा एक सुपरिटेन्डेन्ट है, एवं इनके ऊपर भी अधिकारी-वर्ग इसी क्रम से नियत है, इसी प्रकार वाक्यों के सुने जाने के पश्चात् एक आकार वाली भी प्रतीति होजाती है, बड़े से बड़े ग्रन्थों की संक्षेप से एक वाक्यता कर ली जाती है। ऋद्धिधारी मुनि अन्तर्मुहूर्तमें द्वादशाङ्गका पाठ कर लेते हैं, द्वादशाङ्गके प्रमेय अर्थ का तो उससे भी अल्पकाल में अध्यवसाय कर लेते हैं। परीक्षार्थी छात्र अपने स्वभ्यस्त

ग्रन्थ का दो मिनट में सङ्कलनात्मक पारायण कर जाता है।

 तथा [illegible] केवल वर्ण या पद को ही हेतु मान कर कोई प्रतीति नहीं होती है, यदि ऐसा माना जायगा तो वाक्य द्वारा उन वर्णों या पदों के एक आकार को धारने वाली ही प्रतीति होने का प्रसंग आवेगा। जैसे कि वर्ण को या पद को सुन कर वर्ण की प्रतीति हुआ करती है, तिस कारण सिद्ध होता है कि वाक्यके आकार होकर परिणाम गये शब्द द्रव्यको हेतु मानकर उपजी वाक्यकी प्रतीति जैसे एकाकार और अनेकाकार वाली है, उसी प्रकार तिस तिस पद या वाक्यस्वरूप से परिणमने योग्य शब्द द्रव्य भी एक, अनेक-आकारों वाला वास्तविक रूप से सध जाता है, इसको बाधने वाले प्रमाणों का अभाव है। जब शब्द द्रव्य में कथंचित् एक और कथंचित् अनेक आकार विद्यमान हैं तो उसके अनुसार हुई वाक्य की प्रतीति भी एक, अनेक आकारों को धारेगी ही। अथवा वाक्य-प्रतीति को भी दृष्टान्त बना कर शब्द-योग्य द्रव्य में एक अनेक आकारों को साध लिया जाय, जैन सिद्धान्त अनुसार सभी पदार्थों में एकत्व और अनेकत्व धर्म विद्यमान हैं। जो एकत्व को ही पदार्थ में मानते हैं, वे अनेकत्व का निषेध करते हैं, तो भी पहिला एकत्व धर्म और दूसरा अनेकत्व का अभाव, यों ही सही, दो धर्म तो पदार्थों में ठहर ही गये, झगड़ा बढ़ाना व्यर्थ है।

कथं नानाभाषावर्गणापुद्गलपरिणामवर्णानामेकद्रव्यत्वमिति चेत् तत्रोपचारान्नानाद्रव्यादिसंतानवत् । किं पुनस्तदेकत्वोपचारनिमित्तमिति चेत्, तथा सदृशपरिणाम एव तद्वत् ।

यहाँ किसी की शंका है, कि भाषावर्गणा स्वरूप अनेक पुद्गल द्रव्यों के पर्याय होरहे वर्णों का भला एक द्रव्य का ही परिणाम होना किस प्रकार बन सकता है ? यों कहने पर आचार्य समाधान करते हैं, कि उन वर्गणाओं में एक अशुद्धद्रव्य-पने का उपचार है। जैसे कि अनेक द्रव्य, गुण, अविभागी प्रतिच्छेद आदि की संतान को एक कह दिया जाता है। अर्थात्-जैसे दैशिक समुदायवाली धान्यराशि बेचारी अनेक धान्यों से अभिन्न है, उसी प्रकार कालसम्बन्धी प्रत्यासत्ति को धार रहे अनेक संतानियों से सन्तान भी अभिन्न है, एक द्रव्य की नाना पर्यायों को सुलभतया एक कहा जा सकता है, क्योंकि उन सहभावी या क्रमभावी पर्यायों में एक द्रव्य का अन्वित होना प्रसिद्ध है। अतः एक द्रव्य की असंख्यात या अनन्त पर्यायों में मुख्य रूप से भी एकत्व धरा जा सकता है। किन्तु नाना द्रव्यों की सन्तानों में तो एकपना उपचार से ही आरोपा जा सकता है।

यहाँ शंकाकार पुनः पूछता है, कि उपचार तो निमित्त या प्रयोजन के बिना नहीं प्रवर्तता है, अतः अनेक भाषा वर्गणाओंमें एकपनके उपचार करनेका निमित्त क्या है ? इसका उत्तर आचार्य श्री कहते हैं कि तिसप्रकार अनेक भाषावर्गणाओं की सदृश परिणति ही एकपन के उपचार का निमित्त कारण है, जैसे कि अनेक द्रव्य या गुणों की सन्तानों में एकपने के उपचार का निमित्त कारण तिस तिस प्रकार उनका सदृश परिणमन होना है। अर्थात्-जीवकाण्ड गोम्मटसार में 'अणु संखा संखेज्जा'

णंताय अगेज्जगेहिं अन्तरिया । आहारतेजभासामण-कम्मइया धुवक्खंधा ॥ अणु आदि पुद्गल के तेईस भेदों को दिखलाते हुये "सिद्धाणंतिमभागो पडिभागो गेज्झगाण जेट्ठं,, इस प्रतिभाग अनुसार भाषावर्गणाओं का बनना समझाया है ।

कण्ठ तालु आदि के निमित्त अनुसार उन भाषावर्गणाओं की समान रूप से किसी भी अकार, चकार आदि शब्द बन जाने की योग्यता है, जैसे कि मेघ जल उन उन वृक्षों में वैसा वैसा रस होकर परिणाम जाता है । अतः "सदृशपरिणामस्तिर्यक् सामान्यं,, समान परिणति वालों में सामान्य (जाति) रहता है 'सामान्ये एकत्वं,, जाति की अपेक्षा एकवचन कह देने में कोई क्षति नहीं पड़ती है, अतः भाषावर्गणा स्वरूप अनेक अशुद्धपुद्गल द्रव्यों को उपचार से कह दिया गया है, अनेक तन्तुओं से जैसे एक अवयवी थान बन जाता है । उसी प्रकार अनन्त भाषावर्गणाओं से एक एक अ, ख, गौः, आदि शब्द बन जाते हैं, यह एकत्व के उपचार करने का प्रयोजन भी है ।

वर्णक्रमो वाक्यमित्यपरः । सोऽपि वर्णेभ्यो भिन्नमेकस्वभावं क्रमं यदि ब्रूयात्तदा प्रतीतिविरोधः तस्य श्रोत्रबुद्धावप्रतिभासनात् । सम्बन्धानुपपत्तेश्चानवयववाक्यवत् । वर्णेभ्योऽनर्थान्तरत्वे तु क्रमस्य वर्णा एव न कश्चित्क्रमः स्यात् ।

अब व्याकरण का एक देशी दूसरा विद्वान् यों कह रहा है । कि वर्णों का क्रम ही वाक्य है अर्थात्- पहिले एक वर्ण सुनाई दिया पुनः दूसरा वर्ण, पश्चात् तीसरा वर्ण सुनने में आया इत्यादि प्रकार करके वर्णोंका क्रम होजाना ही वाक्य है । आचार्य कहते हैं कि वह वर्ण क्रम को वाक्य कह रहा विद्वान् भी क्रम को यदि वर्णों से भिन्न ही या एक स्वभाव वाला ही कहेगा तब तो प्रतीतियों से विरोध आता है, क्योंकि उन वर्णों से सर्वथा भिन्न और एक स्वभाव वाले मानेजारहे क्रम का कर्णेन्द्रियजन्य ज्ञान में प्रतिभास नहीं होता है । दूसरी बात यह है, कि सर्वथा भिन्न होरहे क्रम का और उन वर्णों का सम्बन्ध भी तो नहीं बन सकता है । जैसे कि अनवयव एक शब्द को वाक्य कहने वाले पण्डित के यहां निरंश वाक्य का अपने भिन्न पड़े हुये अवयवों के साथ सम्बन्ध नहीं बन पाता है, इस बात को ग्रन्थकार अभी पूर्व प्रकरण में सिद्ध कर चुके हैं ।

हां वर्णों से क्रम का अभेद मानने पर तो सम्बन्ध नहीं बन सकने का दोष टल गया किन्तु सर्वथा अभेद पक्ष लेने पर अनेक वर्ण ही ठहरते हैं, कोई क्रम नहीं ठहर पायेगा ऐसी दशा में क्रम को वाक्य कहे चले जाना उचित नहीं जंचता है ।

मन्यमेतदेवं यावंतो यादृशा ये च पदार्थप्रतिपादने वर्णा विज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैव बोधका इति वचनात ततोन्यस्य वाक्यस्य निराकरणादितीतरः । सोपि यदि वर्णानां क्रमं प्रत्याचक्षीत तदाग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इत्याकारादयो ये यावंतश्च वर्णाः स्वेष्टवाक्यार्थप्रतिपादने विज्ञातसामर्थ्यास्ते तावंत एव वैरयुद्गमेनापि समुच्चार्यमाणास्तथा स्युर्विशेषाभावात् ।

अथ येन क्रमेण विशिष्टास्ते तथा दृष्टास्तादृशा एव तदर्थस्यावबोधका इति मतं, तर्हीष्टः क्रमो वर्णानामन्यथा तेन विशेषणाघटनात् ।

वर्णक्रम को वाक्य मानने वाले विद्वान् पर ठेस जमा रहा कोई इतर पण्डित यों कहता है, कि यह कथन इस प्रकार सत्य होसकता है कि जितने और जिस जिस प्रकार के जिन जिन वर्णों की पदार्थ के प्रतिपादन करने में सामर्थ्य जानी जा चुकी है, वे वर्ण उस ही प्रकार से वाच्यार्थ का बोध करा देते हैं, इसप्रकार हमारे शास्त्रोंमें निरूपण है, उन वर्णों से न्यारे वाक्य का निराकरण करदिया जाता है । अर्थात् – योग्य अनुपूर्वी को लिये हुये वर्ण ही वाक्य हैं, उनसे न्यारा कोई क्रम वाक्य नहीं है ।

आचार्य कहते हैं कि वह मीमांसक पण्डित भी वर्णों के क्रम का यदि निराकरण करेगा तब तो स्वर्ग की अभिलाषा रखने वाला पुरुष अग्निष्टोम नामक यज्ञ करके याग करे इस मंत्र के आकार, मकार आदिक जितने भी जो जो वर्ण हैं, जिनकी कि अपने इष्ट वाक्यार्थ का प्रतिपादन करनेमें शक्ति जानी जा चुकी है, वे वर्ण उतने ही यानी न्यून, अधिक, नहीं होरहे ही वाक्यार्थ को कहेंगे तब तो उद्गम यानी क्रम भंग होजाने से भी उच्चारण किये जारहे तिस प्रकार वाक्यार्थ के प्रतिपादक होजाओ क्योंकि वर्णों के क्रम को नहीं मानने वाले के यहां चाहे वर्ण ठीक क्रम से बोल दिये जांय ? अथवा अक्षरों को आगे पीछे कर विपरीत क्रम से भी बोल दिया जाय वे अपने अर्थ को कहतेही रहने चाहिये कोई अन्तर नहीं है । ऐसी दशा में घट को टघ या साधन को नधसा कहने वाले व्युत्क्रमभाषी के शब्दों करके भी अर्थ प्रतिपत्ति बन बैठेगी, अशुद्धियां भी नष्ट प्राय होजांयगी ।

अब यदि तुम यों कहो कि वे वर्ण जिस क्रम करके विशिष्ट होरहे तिस प्रकार संकेत काल में देखे जा चुके हैं, उनके समान जातीय वर्ण ही उस वाच्य अर्थ का परिज्ञान कराते हैं । आचार्य कहते हैं, कि यों मन्तव्य होय तब तो वर्णों का क्रम तुमने इष्ट ही कर लिया अन्यथा यानी वर्णों के क्रम का प्रत्याख्यान करते ही चले जाते तो उस क्रम करके सहित पना यह वर्णों का विशेषण घटित नहीं होसकता था इससे सिद्ध है, कि वर्णों के क्रम को वाक्य मानना कोई बुरा पक्ष नहीं है ।

वर्णाभिव्यक्तेः क्रमो न वर्णानां तेषामक्रमत्वात् । उपचारात्तु तस्य तत्र भावाद्विशेषणत्वमुपपद्यत एवेति चेन्न, एकांतनित्यत्वे वर्णानामभिव्यक्तेः सर्वथानुपपत्तेः, उपपादितम-मर्थनात्तत्र मुख्यक्रमस्य प्रसिद्धेः ।

वर्णों के क्रम को वाक्य नहीं चाहने वाले मीमांसक यदि यों कहैं कि वर्ण तो नित्य हैं, व्यापक हैं, नित्य विद्यमान होरहे पदार्थ का काल-सम्बन्धी क्रम और व्यापक होरहे पदार्थ का दैशिक क्रम बन नहीं सकता है, हां कण्ठ, तालु, ध्वनि, आदि अभिव्यंजकों द्वारा होरही वर्णों की अभिव्यक्ति का क्रम तो माना जा सकता है, किन्तु वर्णों का क्रम नहीं है, क्योंकि उन वर्णों का क्रम–रहितपना निर्णीत है, हां उपचार से तो उस क्रम का उन वर्णों में सद्भाव मान लियाजाता है, अतः क्रम से वर्ण

सुनाई देरहे हैं, यों क्रम को उन वर्णों का विशेषण होजाना बन जाता ही है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि वर्णों को एकान्त रूप से सर्वथा नित्य मानने पर वर्णों की अभिव्यक्ति की सभी प्रकारों से असिद्धि होजाने का युक्तियों द्वारा समर्थन किया जा चुका है। अर्थात्-अनभिव्यक्त स्वभाव को छोड़ कर अभिव्यक्त परिणति को ग्रहण कर रहे वर्ण सर्वथा नित्य नहीं कहे जा सकते हैं, नित्य पक्ष में सभी वर्णों की संकीर्ण श्रुति होने लग जायगी, आदि अनेक दोषों की सम्भावना है, अतः वर्णों की अभिव्यक्ति का पक्ष सर्वथा निर्बल है, युक्तियों से वर्णों में मुख्य क्रम की ही प्रसिद्धि होरही है, अतः वर्णों के क्रम को वाक्य कहने वाले का मत अनेकान्त पक्ष का अवलम्ब करते हुये हमें अच्छा जंचता है, व्यर्थ ही चाहे जिस सन्मुख आये हुये का निराकरण या तिरस्कार करने की टेव हमें अच्छी नहीं जंचती है।

कः पुनरयं क्रमो नाम वर्णानामिति चेत्, कालकृता व्यवस्थेति ब्रूमः। कथमसौ वर्णानामिति चेत्, वर्णोपादानादुदात्ताद्यवस्थावत्। तर्ह्यौपाधिकः क्रमो वर्णानामिति चेन्न, उदात्ताद्यवस्थानामप्यौपाधिकत्वप्रसंगात्। औपाधिक्युदात्ताद्यवस्था एव वाचो वर्णत्वात् ककारादिवदिति चेन्न, तेषां स्वयमनंशत्वासिद्धेः स्वभावतस्तथात्वोपपत्तेरन्यथा ध्वनीनामपि स्वाभाविकोदात्तत्वाद्ययोगात्।

ग्रन्थकार के प्रति कोई पूछता है, कि आप क्रम को वाक्य मानने वाले का इतना अधिक पक्षपात कर रहे हैं, तो बताओ जैन सिद्धान्त अनुसार यह वर्णोंके क्रमका लक्षण भला फिर क्या है? न्यायवेदियों के यहां जो भी कुछ क्रम का लक्षण किया जायगा उसमें न्यून, अधिक, करते हुये आप अवश्य ही अनेकान्तप्रक्रिया को जड़ देंगे।

यों कहने पर इसके उत्तर में ग्रन्थकार कहते हैं, कि व्यवहारकाल करके की गई वर्णों की व्यवस्था ही क्रम है, ऐसा हम स्पष्ट निरूपण करते हैं। इस पर पुनः प्रश्न उठाया जाता है कि वह कालकृत व्यवस्था भला वर्णों का क्रम कैसे कही जा सकती है? बताओ, यानी यह तो वही कथन हुआ कि "पेट में पीड़ा और आंख में ओषधि लगाई गयी"।

यों आक्षेप प्रवर्तने पर तो आचार्य कहते हैं, कि वर्णों करके व्यवहारकाल को निमित्त पाकर हुई परिणतियों का ग्रहण कियाजाता है, जैसे कि उदात्त, अनुदात्त, प्लुत, अनुनासिक, निरनुनासिक ह्रस्व, आदिक अवस्थाओं का उपादान वर्ण कर लेते हैं, अतः पहिले, पिछले, समयों में क्रम से होरही वर्णों की उत्पत्ति अनुसार वर्णों का क्रम माना जाताहै। "कालो न यातो वयमेव याताः" इसका अभिप्राय भी यही है कि समय नहीं गया उन उन समयों में हुई हमारी अमूल्य अवस्थायें व्यर्थ निकल गयीं, समय बेचारा चला भी जाय तो हमें कोई अनुताप नहीं है।

पूर्व पक्ष वाला पण्डित कहता है कि तब तो वर्णों का क्रम वास्तविक नहीं होकर केवल उपाधि के अनुसार कियागया औपाधिक हुआ जैसे कि जपापुष्प के सन्निधान से स्फटिक को लाल

कह दिया जाता है। ग्रन्थकार कहते हैं यह तो नहीं कहना क्योंकि वर्णों के क्रम को यदि औपाधिक माना जायगा तो वर्णों की स्व शरीर होरही उदात्त, स्वरित, आदि अवस्थाओं के भी औपाधिक पने का प्रसंग आजावेगा जो कि इष्ट नहीं है। पुनः यदि तुम कहो कि वचन की उदात्त, अनुदात्त, आदि अवस्था तो उपाधियों से जन्य ही है यानी वर्णों की गांठ का स्वरूप नहीं है (प्रतिज्ञा) वर्ण होने से (हेतु) ककार चकार, आदि वर्णों के समान (अन्वय दृष्टान्त)। अर्थात्–न्यारे न्यारे अभिव्यजको अनुसार वाचाओं की क, च, ह, आदि वर्ण व्यवस्था प्रकट हो जाती है, उच्च उच्चारण नीच उच्चारण, आदि अभिव्यंजकों द्वारा उदात्त आदि अवस्था गढ़ ली जाती है किन्तु ये अवस्थायें शब्द का मूल शरीर नहीं हैं।

ग्रन्थकार कहते हैं यह तो नहीं कहना क्योंकि उन वर्णों का स्वय मूल शरीर से अंश रहित-पना असिद्ध है, यथार्थरूप से विचारा जाय तो वर्णों के स्वकीय स्वभाव मे ही जिसप्रकार ककार, चकार, उदात्त, अनुदात्त, आदि अवस्थायें गांठ की बन रही हैं अन्यथा यानी ककार, उदात्त आदि अवस्थाओ को अभिव्यञ्जक कारणोंका ही स्वरूप मानते हुये यदि शब्दोंकी मूल पूंजी नहीं माना जायेगा तो हम कह सकते हैं कि ध्वनियों के भी अपने गांठ की स्वाभाविक उदात्तपन आदि अव-स्थाओं का योग नहीं बन सकेगा यानी ध्वनियों में भी उदात्तपन गांठ का नहीं है किसी दूसरे पदार्थ से ऋण लिया गया है और दूसरे पदार्थ में भी कहीं अन्य स्थल से उधार लियागया होगा यों कहने वाले का मुख कोई पकड़ा नहीं जा सकता है। एक बात यह भी है कि ककार, अकार, उदात्त, आदि अवस्थाओं को यदि वाचाओं का औपाधिक स्वरूप माना जायगा तो फिर वाचाओं की गांठ का कोई निज शरीर ठहरता ही नहीं है, जब गांठ का कोई शरीर नहीं तो औपाधिक धर्म किस पर चढ़ बैठे ? बात यह है कि जगत् के सभी पदार्थ अनेक अंशों से सहित हैं जो जिसका स्वरूप, प्रमाणों से सिद्ध है वह उसी का अंग माना जाता है, वर्णों के ककार, उदात्त, आदि निज अंश प्रतीत-सिद्ध हैं, अतः वे औपाधिक नहीं कहे जा सकते हैं। खांड़ का मीठापन, जल का द्रवपन, अग्नि की उष्णता, वायु का बहना, पत्थर का गुरुत्व, ये सब गांठ के अंश हैं, औपाधिक नहीं हैं।

ततः स्वकारणविशेषवशात् क्रमविशेषविशिष्टानामकारादिवर्णानामुत्पत्तेः कथंचिद-नर्थान्तरं क्रमः। स च सादृश्यसामान्यादुपचारादेकः प्रतिनियतविशेषाकारतया त्वनेक इति स्या-द्वादिनामेकानेकात्मकः क्रमोपि वाक्यं न विरुध्यते।

तिस कारण सिद्ध हुआ कि अपने अपने उत्पादक विशेष कारणों के वश से हुये क्रम विशेष करके विशिष्ट होरहे ही आकार आदि वर्णों की उत्पत्ति होरही है, अतः वह काल-सम्बन्धी क्रम वर्णों से कथंचित् अभिन्न है जैसे कि यथाक्रम आतान, वितान, स्वरूप किये गये तन्तुओं का दैशिक क्रम थान से अभिन्न है और वह अनेक वर्णों से अभिन्न होरहा क्रम यद्यपि वस्तुतः अनेक है तो भी सदृशपरिणाम-स्वरूप सामान्य के पाये जाने से वह क्रम उपचार से एक कह दिया जाता है प्रत्येक

वर्णों में आनुपूर्वी–अनुसार नियत होरहे स्वकीय विशेष आकारों करके तो वे क्रम अनेक ही हैं। इस प्रकार स्याद्वादियों के यहां एक-आत्मक और अनेक–आत्मक होरहा क्रम भी वाक्य होजाय तो कोई जैन सिद्धान्त से विरोध नहीं आता है "बालादपि हितं ग्राह्यं",, शत्रोरपि गुणा वाच्या, दोषा वाच्या गुरोरपि,. परीक्षा–प्रधानियों को उक्त दोनों नीतियां पालनी पड़ती हैं, हां वर्णों से सर्वथा भिन्न या एक स्वभाव वाला ही मान लिये गये क्रम का तो हम स्याद्वादी भी निराकरण कर देते हैं "सारं ततो ग्राह्यमपास्य फल्गु हंसैर्यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्" इस नीति अनुसार वाक्य के लक्षण माने गये क्रम को सम्हालते हुये हमें वाक्यों से अभिन्न और एकानेकात्मक होरहे क्रम को वाक्य कह देना उचित जान पड़ता है।

वर्णसंघातो वाक्यार्थप्रतिपत्तिहेतुर्वाक्यमित्यन्ये, तेषामपि न वर्णेभ्यो भिन्नः संघातोनंशः प्रतीतिमार्गावतारी, संघातत्वविरोधाद् वर्णान्तरवत्। नापि ततोऽनर्थान्तरमेव संघातः प्रतिवर्णं–संघातप्रसंगात्। न चैको वर्णः संघातो भवेत्। कथंचिदन्यानन्यश्च वर्णेभ्यः संघात इति चेत्, कथमेकानेकस्वभावो न स्यात्? कथंचिदनेकवर्णादभिन्नत्वादनेकस्तत्स्वात्मवत्। संघातत्वपरिणामादेशात्ततो भिन्नत्वादेकः स्यादिति प्रतीतिसिद्धेः।

अब कोई अन्य पण्डित वाक्य का लक्षण यों कहते हैं कि वर्णों का संघात ही वाक्य है जो कि वाक्य द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ की प्रतिपत्ति का ज्ञापक कारण है। आचार्य कहते हैं कि उनके यहां भी वर्णों से सर्वथा भिन्न होरहा और अंशों से रहित माना गया ऐसा कोई संघात तो प्रतीतियों के निश्चित मार्गपर नहीं उतरता है क्योंकि संघातपने का विरोध होजायगा जैसे कि अन्य वर्णों का समुदाय न्यारा पड़ा हुआ उन वर्णोंका संघात नहीं है। भावार्थ–जैसे अन्य वर्णों का संघात कर दिया गया इन प्रकृत वर्णों का सम्मेलन नहीं कहा जा सकता है उसी प्रकार इन प्रकृत वर्णों से भिन्न पड़ा हुआ संघात भला इन वर्णों का कैसे भी नहीं होसकता है, चावलों के समुदाय को गेहूँ का ढेर कोई नहीं कहता है भेड़ों का झुण्ड भी मनुष्यों का मेला नहीं कहा जासकता है, उसी प्रकार देवदत्त इस पद में एकत्रित होरहे वर्णों का समुदाय बेचारा महावीरदास इस पद स्वरूप संघात नहीं हो सकता है। यों उन वर्णों से भिन्न पड़ा हुआ संघात भी उन्हीं वर्णों का अविष्वग्भाव नहीं कहा जायेगा। तथा उन वर्णों से संघात अभिन्न ही होय ऐसा भी एकान्त करना ठीक नहीं है क्योंकि यों तो प्रत्येक वर्ण अनुसार संघात होजाने का प्रसंग आजावेगा किन्तु एक वर्ण तो संघात हो नहीं सकता है।

अर्थात्–चार वर्णों से सर्वथा अभिन्न यदि संघात माना जायगा तो चार संघात अनायास ही बन बैठेंगे कोरे एक को संघात कहना विरुद्ध है, सर्वथा भेद और सर्वथा अभेद पक्षों में आये हुये दोषों को टालते हुये आप यदि वर्णों से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न होरहा संघात मानो तब तो जैन मत का अनुसरण करते हुये आपके यहां वह संघात–स्वरूप वाक्य बेचारा एक अनेक स्वभावों को धारने वाला किस प्रकार नहीं होजावेगा? देखिये अनेक वर्णों के साथ कथंचित् अभेद

होजाने से वह संघात अनेक हैं जैसे कि उन वर्णों के निज निज स्वरूप न्यारे न्यारे होरहे अनेक हैं तथा निगाले पड़े हुये पृथक पदार्थों का एकी भाव होना-स्वरूप संघातपन परिणति की अपेक्षा कथन करने से उन अनेक वर्णों से भिन्न होने के कारण वह संघात एक समझा जायेगा, यह प्रतीतियों से सिद्ध विषय है। अतः परस्पर अपेक्षा रखने वाले वर्णों के निरपेक्ष समुदाय रूप पद को प्राप्त हुये वर्णों का काल प्रत्यासत्ति स्वरूप संघात है जो कि वर्णों मे कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है। शब्दों के उच्चारण अनुसार वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति कराने में कालकृत प्रत्यासत्ति अभीष्ट है, हां पुस्तक में लिखे हुये उपचरित वर्णों की देश प्रत्यासत्ति से किया गया संघात भी चोखा माना जा सकता है, यों जैन सिद्धान्त अनुसार संघात का विवेचन करने पर वर्णों के संघात को वाक्य कह देने में कोई अनिष्टापत्ति नहीं है।

एतेन संघातवर्तिनी जातिर्वाक्यमिति चिंतितं, तस्याः संघातेभ्यो भिन्नायाः सर्वथानुपपत्तेः। कथंचिदभिन्नायास्तु संघातवदेकानेकस्वभावत्वसिद्धेर्नानंशः शब्दात्मा कश्चिदेको वाक्यस्फोटोस्ति श्रोत्रबुद्धौ जात्यंतरस्यार्थप्रतिपत्तिहेतोः प्रतिभासनात् एकानेकात्मन एव संघातात्मनो वाक्यस्य सिद्धेः।

जैन मत अनुसार उक्त प्रकार का संघात वाक्य हो सकता है, इस विवरण करके संघात में वर्त रही जातिको वाक्य कहने का भी चिन्तन (चिन्तवन) करदिया जा चुका समझ लेना चाहिये संघातों से सर्वथा भिन्न हो रही उस जाति की तो सभी प्रकारों से सिद्धि नहीं होसकती है जैसे घट से सर्वथा भिन्न घटत्व जाति नहीं सध पाई है तथा जातिवान् से सर्वथा अभिन्न भी कोई जाति नहीं सिद्ध होपाती है। हां अभी बखान किये गये संघात के समान उस संघात में वर्त रही कथंचित् अभिन्न होरही जाति के तो एक अनेक स्वभाव से सहितपने की सिद्धि होजाती है, परस्पर अपेक्षा रखते हुये पदोंके निराकांक्ष संघात में वर्त रही सदृश परिणाम स्वरूप और उन वर्णों या पदों से कथंचित् अभिन्न होरही जाति को वाक्यपना सुघटित है। उचित निर्णयों का मानने के लिये हम सर्वथा सन्नद्ध बैठे रहते हैं, अतः अंशोंसे रहित होरहा नित्य एकस्वभाव वाला कोई भी एक वाक्य स्फोट नहीं है। आख्यात शब्द, आद्यपद, अन्त्यपद, एक अन्वय शब्द, वर्णक्रम, वर्णसंघात, संघातवर्तिनी जाति, इनको यदि वाक्य स्फोट कहा जायगा तो आपके मन्तव्य अनुसार इनका एक स्वभाव और अंश रहित स्वरूप से किसी को भी प्रतिभास नहीं होरहा है किन्तु सांश, अनित्य, एक स्वभावी, कथंचिद् अनेक-स्वभावी, स्वरूप से ये जाने जारहे हैं। वाच्य अर्थ की प्रतिपत्ति कराने के करण होरहे उक्त वाक्यों का श्रोत्र इन्द्रिय जन्य श्रावणप्रत्यक्ष में तो ऐसों का तो परिज्ञान होरहा है जो कि सर्वथा एक और सर्वथा अनेक यानी अभेद और सर्वथा भेद इन दोनों पक्षों से निराली जाति के अनेक तीसरे कथंचित् भेदाभेद स्वरूप को धार रहे हैं, अपने सम्पूर्ण निज स्वरूप करके एकात्मक, अनेकात्मक हो रहे ही वाक्य की सिद्धि होरही है, विवाद बढ़ाना व्यर्थ है। तीसरी वार्तिक का विवरण होचुका, अब

इस सूत्र की चौथी वार्तिक का विवरण किया जाता है।

यदि पुनरंतःप्रकाशरूपः शब्दस्फोटः पूर्ववर्णज्ञानाहितसंस्कारस्यात्मनोन्त्यवर्णश्रवणानंतरं वाक्यार्थनिश्चयहेतुर्बुद्ध्यात्मा ध्वनिभ्योऽन्योभ्युपगम्यते, स्फुटत्यर्थोस्मिन् प्रकाशत इति स्फोट इत्यभिप्रायात्, तदाप्येतस्यैकानेकात्मकत्वे स्याद्वादसिद्धिरात्मन एव वाक्यार्थग्राहकत्वपरिणतस्य भाववाक्यस्य संप्रत्ययात्, तस्य स्फोट इति नामकरणे विरोधाभावात्। तस्य निरंशत्वे तु प्रतीतिविरोधः, सर्वदा तस्यैकानेकस्वभावस्य त्रिधांशकस्य प्रतिभासनात्।

आख्यात शब्द, संघात, आदि को वाक्य कहने वाले न्यायवेदी पण्डित बुद्धि को भी वाक्य मानते हैं बहिरंग वाक्य को शब्दस्फोट मानने में कुछ अवधीरणा पाकर अब वैयाकरण विद्वान् अन्तरंग ज्ञान को स्फोट मानते हुये पूर्व पक्ष कहते हैं। स्फोट वादी के ऊपर विचार चलाते हुये आचार्य महाराज ने सबसे प्रथम दो विकल्प उठाये थे कि यह स्फोट शब्द स्वरूप है ? अथवा क्या शब्द से किसी न्यारे पदार्थ स्वरूप है ? प्रथम विकल्प का विचार होचुका है, अब दूसरे अशब्दात्मक स्फोट के विकल्प का विचार चलाते हैं।

अन्तरंग में ज्ञानप्रकाशरूप होरहा बुद्धिस्वरूप स्फोट है, जोकि पूर्व पूर्व में सुने जा चुके वर्णों के ज्ञान के धारे गये संस्कारोंवाले आत्मा को अन्तिम वर्ण के श्रावण प्रत्यक्ष अनन्तर हुई वाक्य के अर्थ की निश्चय प्रतिपत्ति करा देने का हेतु है, यह बुद्धि-स्वरूप शब्द स्फोट उन वायु स्वरूप या शब्दस्वरूप ध्वनियों से निराला स्वीकार किया गया है। जिस ज्ञान में वाक्यार्थ स्फुट होकर भास जाता है, यानी शाब्दबोध प्रकाश जाता है, यों इस निरुक्ति करने के अभिप्राय से यह बुद्धि स्वरूप स्फोट माना गया है। आचार्य कहते हैं,कि यदि द्वितीयपक्ष अनुसार फिर यों कहोगे तब भी इस बुद्धिस्वरूप शब्द-स्फोट को एकआत्मक अनेकात्मकपना मानने पर स्याद्वाद सिद्धान्तकी ही सिद्धि होती है, क्योंकि आत्मा के ही वाक्यार्थ के ग्राहक होकर परिणाम गये ज्ञान-स्वरूप भाववाक्यपन का इस तुम्हारे स्फोट करके समीचीन ज्ञान होता है, उस भाववाक्य-स्वरूप आत्मा का स्फोट ऐसा नाम कर देने में हमें कोई विरोध नहीं करना है। पदार्थ ज्ञान को आवरण करने वाले ज्ञानावरण कर्म और तदनुकूल वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से विशिष्ट होरहा आत्मा पदस्फोट है, तथा वाक्यार्थ ज्ञान को रोकने वाले ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से सहित होरहा आत्मा वाक्यस्फोट है वाक्य या वाक्यार्थ ज्ञान के उपयोगी विशेषपुरुषार्थ से युक्त होरहे आत्मा की विशेषबुद्धि ही भाव-वाक्य या स्फोट है, हाँ उस बुद्धिस्वरूप शब्दस्फोट को यदि अंशों से रहित माना जायगा तब तो प्रतीतियों से विरोध आवेगा क्योंकि एक स्वभाव,अनेक स्वभाव, एकानेकस्वभाव, यों तीनप्रकार अंशों के धारी उस भाववाक्य का सदा प्रतिभास होता रहता है।

भावार्थ—जैन सिद्धान्त अनुसार भावमन, भाव इन्द्रियां, भाव वाक्य, ये सब आत्मा की परि-

पातियां ज्ञान स्वरूप पड़ती हैं, वीर्यान्तराय कर्म, ज्ञानावरण कर्म, श्रुतज्ञानावरण कर्म, इनके क्षयोपशम से उत्पन्न हुयी आत्मा की ज्ञान-शक्ति भाव-वाक्य है, कण्ठ, तालु, आदि में व्यापार कर रहे क्रियावान् या क्रिया-सम्पादक आत्मा की वह शक्ति पौद्गलिक वचनों को बनाने में भी सहायक होजाती है। सप्तभंगी के पहिले तीन भंगों अनुसार वह भाव-वाक्य-स्वरूप आत्मा कथंचित् एक स्वभाव, अनेक स्वभाव, और एकानेकस्वभावों को धार रहा है, प्रत्येक ज्ञान में सम्वेदक, सम्वेद्य सम्वित्ति, ये तीन अंश पाये जाते हैं। सम्पूर्ण सत् पदार्थों में उत्पाद व्यय ध्रौव्य ये तीन अंश भी पाये जाते हैं। श्री समन्तभद्राचार्य भगवान् तो "बुद्धि-शब्दार्थसंज्ञास्तिस्रो बुद्ध्यादिवाचकाः। तुल्या बुद्ध्यादिबोधाश्च त्रयस्तत्प्रतिबिम्बकाः" इस देवागम की कारिका अनुसार प्रत्येक अर्थ को तीन प्रकार से विभाजित करते हैं, घट शब्द, घटअर्थ, घटज्ञान, इन स्वरूपों से "घट" माना जा सकता है, व्याकरण पढ़ने वाले विद्यार्थी को घट कह देने से वह घटः घटौ घटाः। घटं घटौ घटान् इत्यादि शब्द रूपों को सुनाने लग जाता है, यह शब्द हुआ। कुम्हार के प्रति घट कहदेने से वह मिट्टी के घड़े को सौंप देता है, यह अर्थ है। न्याय को पढ़ने वाले छात्र के सन्मुख कहे गये घटद्वारा घटज्ञान करा दिया जाता है, यह ज्ञान-परक है, यों सभी अभिधेय अर्थों की त्रिधा अंश कल्पना होसकती है, अतः चाहे शब्द-आत्मक वाक्य को स्फोट माना जाय अथवा भले ही बुद्धिस्वरूप शब्द को स्फोट कहा जाय प्रतीतियों अनुसार इनको साथ और एकानेक स्वभाववान् मान लेने पर तो हमें कोई प्रसंग नहीं उठाना है। संज्ञा मात्र से भेद होजाने पर हमारा तुमसे कोई विरोध नहीं है हां अर्थभेद तो अवश्य खटका उत्पन्न करता है। उसके लिये जैन सिद्धान्त अनुसार समीचीन युक्तियों के मिल जाने पर स्फोट-वादी वैयाकरणों को संतोष कर लेना चाहिये।

न चायमभिनिवेशः शब्दस्फोट इति श्रेयान् गन्धादिस्फोटस्य तथाभ्युपगमार्हत्वात्। यथैव शब्दः वक्तुर्गृहीतसंकेतस्य कस्यचिदर्थप्रतिपत्तिहेतुस्तथा गंधादिरपि विशेषसंभवात्। एवंविधमेकं गंधं समाघ्रायैवंविधोऽर्थः प्रतिपत्तव्यः स्पर्शं संस्पृश्य, रसं चास्वाद्य, रूपं चालोक्येत्थंभूतमीदृशो भावः प्रत्येतव्य इति समयग्राहिणां पुनः कस्यचित्तादृगगंधाद्युपलंभात्तथाविधार्थनिर्णयप्रसिद्धेर्गंधादिज्ञानाहितसंस्कारस्यात्मनस्तद्वाक्यार्थप्रतिपत्तिहेतोर्गंधादिपदस्फोटतोपपत्तेः। पूर्वपूर्वगंधादिविशेषज्ञानाहितसंस्कारस्यात्मनोऽन्त्यगंधादिविशेषोपलम्भानन्तरं गंधादिविशेषसमुदायगम्यार्थप्रतिपत्तिहेतोर्गंधादिवाक्यस्फोटस्य घटनात्।

हमें वैयाकरणों के प्रति एक बात यह भी कहनी है कि आप को केवल शब्दस्फोट का ही आग्रह किये चले जाना श्रेष्ठ मार्ग नहीं पड़ता है क्योंकि यों तुम्हारे यहां माने गये शब्दस्फोट की प्रक्रिया अनुसार तिसप्रकार गन्धस्फोट, रसस्फोट, हस्तस्फोट आदि का स्वीकार कर लेना भी उचित पड़ जायगा देखिये जैसे ही आप वाक्यस्फोट को मानते हुये "जिससे अर्थ स्फोट होता है वह स्फोट है" यों निरुक्तिकरके शब्दस्फोटको इस प्रकार पुष्ट करते हैं कि इस घट शब्दको सुन कर कम्बु-

ग्रीवा आदि वाला अर्थ समझ लेना चाहिये, यों संकेत ग्रहण कर पुन: वक्ता के शब्द से आत्मा को शब्दस्फोट द्वारा पदार्थ की प्रतिपत्ति होजाना स्वीकार करते हैं क्योंकि संकेत किया गया शब्द कहीं न कहीं अर्थ की प्रतिपत्ति कराने का हेतु है, उसी प्रकार गन्धस्फोट आदि में भी ये ही युक्तियां चरितार्थ होजाती हैं,कोई अन्तर नहीं है, उनको सुनिये, जैसे पदस्फोट या वाक्यस्फोटका संकेत ग्रहण करलिया जाता है उसी प्रकार गन्ध आदि स्फोट का भी संकेत ग्रहण यों कर लिया जाता है कि इस प्रकार के एक गन्ध को भले प्रकार सूंघ कर इस प्रकार इस जाति का अर्थ समझ लिया जाय और इस प्रकार के स्पर्श को अच्छा छू कर इसके समानजातीय अन्य ऐसे स्पर्श वाले अर्थों को समझ लिया जाय एवं इस ढंग के रस का आस्वादन कर इस प्रकार के रस वाले इतर पदार्थों को जान लिया जाय अथवा ऐसे रूप का अवलोकन कर इस जाति के अन्य रूपवान पदार्थों की प्रतीति कर ली जाय, यों संकेतों को ग्रहण कर चुके जिज्ञासुओं को पुन: कहीं पर तिस जाति के गंध आदि का उपलम्भ होजाने से जैसा पहिले देखने, सुनने में आया था उसी प्रकार के अर्थ का निर्णय होजाना प्रसिद्ध होरहा है।

अर्थात्-" घटपदात् घटरूपोऽर्थो बोद्धव्य:, आनय-पदात् आनयन-क्रिया प्रत्येतव्य: ,, घट पद से घट अर्थ समझ लिया जाय और आनय पद से आनयन क्रिया जान ली जाय, ऐसा संकेत ग्रहण हो जानेपर पुन: उन शब्दों के श्रवण अनुसार वैसे अर्थ कि प्रतिपत्ति होजाने को देखते हुये जैसे वैयाकरण पदस्फोट या वाक्यस्फोट की उत्पत्ति कर लेते हैं उसी प्रकार बेला, मौलश्री, चम्पा, चमेली, जुही के फूलों की गन्ध को एकबार सूंघ कर वृद्ध वाक्य द्वारा संकेत ग्रहण कर चुका कुमार पुन: वैसी गंध को सूंघता हुआ उन बेला आदि के फूलों की प्रतिपत्ति कर लेता है तथा आग, मकराना, मखमल, आदि को छूकर उनमें संकेत कर चुका पुरुष पुन: अंधेरे में भी कहीं उन पदार्थों का स्पर्श होजाने पर वैसे उन अग्नि आदि अर्थों का परिज्ञान कर लेता है और आम, केला, पेड़ा, इमरती, अंगूर, अनार आदि के रसों को चाटकर संकेत ग्रहण कर चुका बालक पुन: कहीं अंधेरे में भी उन रसों का स्वाद लेता हुआ उन आम, अमरूद आदि का परिज्ञान कर लेता है एवं कामिनी, रत्न, सुवर्ण, पशु पक्षी, आदि के रूपों को देख कर उन रूपवान पदार्थों में संकेत ग्रहण कर रहा निकट बैठा हुआ युवा पुरुष पुन: अन्यत्र वैसे वैसे रूपों को देख कर कामिनी, रत्न आदि पदार्थों की ज्ञप्ति कर लेता है. रोगी की नाड़ी गति अनुसार वैद्य भूत, भविष्य के परिणाम को कह देता है, गणित ज्योतिष या फलित ज्योतिषशास्त्र के वेत्ता विद्वान भूत, भविष्य, वृत्तान्तों को जान लेते हैं।

अत: गन्ध आदि के द्वारा पूर्व में धार लिये गये धारणा नामक संस्कार को प्राप्त कर चुके और उन उन संकेत ग्रहीत वाक्यार्थों की प्रतिपत्ति के हेतु होरहे आत्मा के बुद्धि-स्वरूप गन्ध पदस्फोट, स्पर्श पद स्फोट, आदि होना युक्ति सिद्ध हो जाता है जैसे कि शब्दों का बुद्धि स्वरूप पदस्फोट मान लिया गया था। तथा पहिले पहिले संकेत ग्रहण करते समय गन्ध आदि के विशेष ज्ञानों के संस्कार को धार रहे आत्मा को अन्तिम गन्ध, स्पर्श आदि विशेषों की उपलब्धि पश्चात् गंध आदि

विशेषों के समुदाय करके जाने गये अर्थ की प्रतिपत्ति का हेतु होरहे गंध वाक्य स्फोट, स्पर्शवाक्य-स्फोट, होना भी सुघटित है।

अर्थात्–आत्मा "देवदत्त घटमानय" इस शब्द पंक्ति के देवदत्त पद को सुनाता है इस पद का संस्कार जमा लेता है पुन: " घटं ,, पद को सुन कर इसकी धारणा कर लेता है, पुन: अन्तिम आनय पद को सुन कर झट वाक्य प्रतिपत्ति कर लेता है यों होते देखकर वाक्यस्फोट को जैसे वैयाकरण मान लेते हैं उसी प्रकार पहिले गन्ध को सूंघ कर उसका संस्कार धार लिया गया पश्चात्–दूसरी गन्ध को सूंघा उसकी भी धारणा को आत्मा में जमा लिया, यों पहिले पहिले गंध ज्ञानों के संस्कारों का आधान कर रहा आत्मा अन्तिम गन्ध का घ्राणज प्रत्यक्ष कर पूरी गंध धाराओं के समुदाय की प्रतिपत्ति कर लेता है, अतः इस प्रतिपत्ति का कारण गन्ध वाक्य स्फोट भी घटित हो जाता है, इसी ढंग से स्पर्श, रस, रूपों, के पहिले पहिले धार लिये गये संस्कारों वाले आत्मा को अन्तिम स्पर्शादि की उपलब्धि हो जाने पर उन उन अर्थ समुदाय आदि की हुई प्रतिपत्ति के कारण माने जाने योग्य स्पर्श वाक्य स्फोट, रसवाक्यस्फोट, रूपवाक्यस्फोट, भी गढ़े जा सकते हैं। नाड़ीगति स्फोट आदि अनेक बुद्धि–स्वरूप स्फोटों को मानने में वैयाकरणों के यहां कोई क्षति नहीं पड़ जायगी " संग्रहःखलु कर्त्तव्यः परिणामे सुखावहः ,, इस नीति से भी कथंचित् लाभ होजाता है।

तथा लोकव्यवहारस्यापि कर्तुं सुशकत्वात् कायप्रज्ञप्तिवत्। हस्तपादकरणमात्रिकांगहारादिस्फोटवद्वा पदादिस्फोट एव घटते न पुनः स्वावयवक्रियाविशेषाभिव्यंग्यो हंसपक्ष्मादिर्हस्तस्फोटः स्वाभिधेयार्थप्रतिपत्तेर्हेतुरिति स्वल्पमतिसंदर्शनमात्रम्।

गंध पद स्फोट, गंधवाक्य स्फोट, आदि को साधने के लिये तिस प्रकार लोक व्यवहार सुलभता से किया जा सकता है। जैसे कि शरीर के द्वारा भूख, प्यास, आदि का प्रज्ञापन करने वाले सूचक चिन्ह कर दिये जाते हैं अर्थात् कोई पथिक उस देश की भाषा का नहीं जानता हुआ पानी पीने के लिये अपने होठ के साथ तिरछी अर्धअंजली को चिपटा कर ओक द्वारा संकेत कर देता है इतने से ही विभिन्न देश के मनुष्य को प्यासा जानकर पानी पिला देते हैं, घोड़े का संकेत कर देने पर चढ़ने या देखने के लिये घोड़ा ला देते हैं, आंख मीच कर या मटका कर भी कई व्यंग कर दियेजाते हैं अथवा हस्तस्फोट, पादस्फोट, करणस्फोट, मात्रिकास्फोट, अंगहारस्फोट, नितम्बचालनस्फोट आदि के समान सुलभता से लोक व्यवहार को करते हुये गन्ध स्फोट, स्पर्शस्फोट, आदि मान लेने चाहिये। यदि यहां वैयाकरण यों कहैं कि पदस्फोट, वाक्यस्फोट, आदि ही सुघटित हैं किन्तु फिर नाचते समय नर्तक के अपने अपने हाथ, पैर, अंगुली, आदि अवयवों की क्रिया विशेष से प्रगट होने योग्य हंस, पक्ष्म, आदि हस्तस्फोट तो अपने निर्देश्य या अभिनय करने योग्य अर्थ की प्रतिपत्ति का हेतु नहीं घटित होपाता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार किसी का कहना तो अपनी बुद्धि की अल्पता को दिखलाना मात्र है।

भावार्थ-नर्तक या नर्तकी गायन के अनुसार शारीरिक भावों को करते हैं, कोई कोई तो दक्ष नृत्यकार मुख से एक अक्षर भी नहीं बोलता हुआ उस गीत के सभी भावों को नृत्य द्वारा शरीरकी चेष्टाओं से ही समझा देता है। नृत्य कला में हंस, पक्ष्म, आदि सांकेतिक क्रियाओं को हस्त स्फोट सिखाया जाता है, कदाचित् हंस जैसे अपनी रोमावली को फुरफुरा देता है, उसी प्रकार नर्तक को अपने अवयवों की क्रिया करनी पड़ती है, ये क्रियायें कभी कभी शब्दों से भी अधिक प्रभाव उत्पन्न करा देती हैं। यदि कोई यों कहे कि वर्ण तो अनित्य हैं, अतः वे लम्बे, चौड़े, अर्थ के प्रतिपादक नहीं होसकते हैं इस कारण अर्थों की प्रतिपत्ति कराने का हेतु शब्द-स्फोट मान लिया जाता है, तब तो हम जैन भी कह देंगे कि क्रिया भी तो अनित्य है, कोई भी क्रिया बड़ी देर तक होने योग्य अभिनेय अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं करा सकती है अतः शब्दस्फोट के समान हस्त स्फोट या गन्ध स्फोट आदि भी वैयाकरण को अभीष्ट कर लेने चाहिये, ऐसा आचार्योंकी ओर से आपादन किया जारहा है।

एतेन विकुट्टितादिः पादस्फोटो हस्तपादसमायोगलक्षणः करणस्फोटः, करणद्वय-रूपमात्रिका स्फोटो, मात्रिका समूहलक्षणांगहारादिस्फोटश्च न घटत इति वदन्नवधेयवचनः प्रतिपादितो बोद्धव्यः, तस्यापि स्वस्वावयवाभिव्यंग्यस्य स्वाभिधेयार्थप्रतिपत्तिहेतोरशक्यनिराकरणात्।

इस उक्त गंध स्फोट आदि या हस्तस्फोट के आपादन करके वैयाकरण के ऊपर पादस्फोट आदि का भी आपादन कह दिया गया समझ लेना चाहिये। देखो यदि वैयाकरण यों कहें कि विकुट्टित यानी शरीर को घुमाना आदि क्रिया स्वरूप पाद स्फोट और हाथ, पावों, का युगपद् व्यापार करते हुए समायोग कर लेना स्वरूप करण स्फोट तथा दोनों करण स्वरूप होरहा मात्रिका स्फोट एवं सहस्रमात्रिकाओं का समूह स्वरूप अंगहार आदिक स्फोट तो घटित नहीं होपाते हैं, क्योंकि इनमें नियम रूप से ज्ञातव्य अर्थ की प्रतिपादकता नहीं देखी जाती है। ग्रन्थकार कहते हैं कि इसप्रकार कह रहा वैयाकरण तो प्रामाणिक वचन कहने वाला नहीं माना जा सकता है, यों कह दिया गया समझ लेना चाहिये। जब कि नर्तक या नर्तकी जनों के अपने अपने अवयवों द्वारा अभिव्यक्त करने योग्य उन पादस्फोट आदि का अपने अपने कहने योग्य या अभिनय करने योग्य अर्थों की प्रतिपत्ति के कारण होरहे स्वरूप करके निराकरण नहीं किया जा सकता है।

अर्थात् गाना, बजाना, नाचना, ये तीन तौर्यत्रिक हैं, नाच द्वारा अभियन जो द्रष्टा के हृदय में प्रभाव उत्पन्न करता है, वह शब्दों द्वारा साध्य कार्य नहीं है, तभी तो गीतों या अन्य गद्य, पद्यों की मुद्रित पुस्तकों के निकट होने पर भी रुपयों का व्यय कर रसीले पुरुष नाटकों को देखते हैं, बड़ी बड़ी सभाओं में हुये श्रेष्ठ वक्ताओं के व्याख्यान यद्यपि पुस्तकाकार छप कर वितीर्ण होजाते हैं। फिर भी श्रोताजन अधिक रुपया व्यय कर वक्ताओं के व्याख्यानों को सुनते हैं, इसका यही रहस्य है,

कि उनकी सूरतें मूरतें, वेगवती चेष्टायें, हाव, भाव, विभ्रम, विलास, आदि सभी क्रियायें तो पत्रों या पुस्तकों में नहीं मुद्रित होसकती हैं, अतः वैयाकरण विद्वानों को हस्तस्फोट आदि भी स्वीकार कर लेना चाहिये अन्यथा वे शब्द स्फोट से भी हाथ धो बैठेंगे।

न चैवं स्याद्वादसिद्धांतविरोध श्रोत्रमतिपूर्वस्येव घ्राणादिमतिपूर्वस्यापि श्रुतज्ञानस्येष्टत्वात् तत्परिणतात्मनस्तद्धेतोः स्फोट इति संज्ञाकरणात्।

आपादन करने वाले जैनों के प्रति यदि वैयाकरण यों आक्षेप करें कि जैसे जैनों ने आख्यात शब्द वर्णक्रम, आदि को कुछ न्यून, अधिक करते हुये जैन सिद्धान्त की प्रक्रिया अनुसार आदेश मान्य कर लिया था और बुद्धिस्वरूप शब्द स्फोट को आत्मा की ग्राहकत्व परिणति मान कर भाववाक्य कहते हुये स्याद्वाद सिद्धि इष्ट कर ली थी उसी प्रकार यदि कुछ जैनत्व का रंग चढ़ाकर गन्ध स्फोट आदि को भी इष्ट कर लिया जायगा ऐसी दशा में यदि स्याद्वादसिद्धान्त से विरोध आगया तो तुम जैन फिर कहां शरण लोगे ? दूसरों से भी गये और अपनों से भी गये।

ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार स्याद्वाद नीति अनुसार गन्ध स्फोट आदि माननेपर हमको सर्वज्ञोक्त स्याद्वाद सिद्धान्त के कोई विरोध नहीं पड़ता है क्योंकि शब्दों के श्रोत्र इन्द्रिय-जन्य मतिज्ञान को कारण मान कर हुये श्रुतज्ञान के समान हमने नासिका, स्पर्शन, आदि इन्द्रियों से उपजे गन्ध का सूंघना, स्पर्श का छू लेना, आदि मतिज्ञानों को भी पूर्ववर्त्ती मान कर हुये श्रुतज्ञानों को इष्ट किया गया है, उस ज्ञेय अर्थ की प्रतिपत्ति के हेतु होरहे और सदृशगंधवान् या अभिनेय अर्थों के ग्राहकपन परिणाम से युक्त होरहे आत्मा की गन्ध-स्फोट, हस्तस्फोट ऐसी संज्ञायें कर ली जाती हैं, चाहे शब्द स्फोट हो अथवा गन्ध-स्फोट हो बुद्धिस्वरूप ग्राहकत्व परिणति कोई आत्मतत्व से निराला पदार्थ नहीं है।

गंधादिभिः कस्यचिदर्थस्य संबंधाभावात् तत्र तदुपलंभनिमित्तकप्रत्ययानुपपत्तेर्न तथा परिणतो बुद्ध्यात्मा स्फोटः संभवतीति चेत्, तत एव शब्दस्फोटोपि मा भूत् शब्दस्यार्थेन सह योग्यतालक्षणसंबंधसद्भावात् तत्संभवे तत एवेतरसंभवः। गंधादीनामर्थेन सह योग्यतालक्षणसम्बन्धाभावे संकेतसहस्रेपि ततस्तत्प्रतीत्ययोगाच्छब्दतः शब्दार्थवत्।

वैयाकरण अपने ऊपर आये हुये आपादनों का निराकरण यों करते हैं, कि गंध, स्पर्श, हंसपक्ष्म, चित्कुटित आदि के साथ किसी भी अविनाभावी होरहे अर्थ का सम्बन्ध नहीं है। अतः "स्फुटति अर्थः अस्मिन् आत्मनि, इस निरुक्ति अनुसार उस आत्मा में स्फोट सम्पादक माने गये उन पूर्व पूर्व के गन्ध आदि विशेषों के उपलम्भ को निमित्त पाकर हुयी मानी जा रही उन सदृश गन्ध वा अभिनेय (शरीर क्रियाओं द्वारा दिखाने योग्य प्रमेय) अर्थों की प्रतीति नहीं बन पाती है। अतः तिस प्रकार ग्राहकत्व परिणति से युक्त होरहा बुद्धिस्वरूप आत्मा स्फोट नहीं सम्भवता है। यों कहने पर तो

हम जैन कहेंगे कि तिस ही कारण से अतीत में कहा गया शब्द स्फोट भी मत होओ, भैंस के सन्मुख वीणा बजाने या श्लोक सुनाने के समान बहुत से शब्दों करके भी तो नियत अर्थों की प्रतीति नहीं होपाती है। पुनः यदि वैयाकरण यों कहें कि शब्द का तो अर्थ के साथ योग्यता-स्वरूप सम्बन्ध विद्यमान है, अतः वह शब्द स्फोट सम्भव जाता है, तब तो हम स्याद्वादी कहेंगे कि तिस कारण यानी गन्ध, हंस पक्ष्म आदि का भी अपने अर्थ के साथ योग्यता नामक सम्बन्ध होजाने के कारण दूसरे गन्धस्फोट आदि भी सम्भव जायंगे, आक्षेप और समाधान दोनों स्थलों पर समान हैं। गन्ध, रूप आदिको का यदि उनके द्वारा ज्ञेय अर्थों के साथ योग्यता नामक सम्बन्ध नहीं माना जायगा तो हजार संकेत करने पर भी उन गन्ध आदिको से उन पुष्प, अग्नि, आम्रफल, कामिनी, आदिक अर्थों की प्रतिपत्ति नहीं होसकेगी। जैसे कि अपरिचित भिन्न भाषाओं के शब्दों से अथवा पशु पक्षियों के शब्दों से संकेत किये बिना शब्दों के उन वाच्यार्थों की प्रतीति नहीं होपाती है।

प्रतिपत्तुरगृहीतसंकेतस्य शब्दस्य श्रवणात् किमयमाहेति विशिष्टार्थे संदेहेन प्रश्नदर्शनादर्थसामान्यप्रतिपत्तिसिद्धेः शब्दसामान्यस्यार्थसामान्येन योग्यतासंबंधसिद्धिरिति चेत्, तत एव रूपादिसामान्यस्य स्वदर्थसामान्येन योग्यतासिद्धिरस्तु स्वयमप्रतिपन्नसंकेतस्यापि पुष्पादिरूपदर्शने केनचित्कृते किमयमाहेति विशिष्टार्थे संशयेन प्रश्नोपलंभादर्थसामान्यप्रतिपत्तिसिद्धेरविशेषात्।

वैयाकरण कहते हैं कि शब्द चाहे कैसा भी होय बुद्धिमान पुरुष को सामान्य रूप से उसका अर्थ स्वल्प भास ही जाता है। जिस शब्द के साथ संकेत ग्रहण नहीं भी किया गया है, उस शब्द का श्रवण करने से " यह शब्द किस अर्थ को कह रहा है " यों विशिष्ट अर्थ में संदेह होजाने से प्रश्न उठाना देखा जाता है। अतः अर्थापत्ति सिद्ध होजाता है, कि प्रतिपत्ति करने वाले ज्ञाता को शब्द के सामान्य अर्थ की प्रतिपत्ति हो चुकी है, इस कारण सामान्य रूप से शब्दों की सामान्य रूप से अर्थों के साथ योग्यता नामक सम्बन्ध की सिद्धि होरही समझ ली जाती है। सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च संशयः (गौतम न्याय सूत्र) अर्थात् —दूर से किसी ग्राम या नगर को देख कर यों विशेषों में संशय उपजता है कि यह कौनसा नगर है ? कानपुर है या प्रयाग है ? यों विशेषांशों में प्रश्न करना देखा जाने से प्रश्न-कर्ता पुरुष को सामान्य नगर का ज्ञान होचुका निर्णीत कर लिया जाता है। उसी प्रकार दूर से शब्द को या गायन को अथवा भूख या प्यास, काम-पीड़ा, अनुसार प्रयुक्त की गई गाय भैंस की रेंक को सुन कर भी विशेषांशों में संशय होरहा देखा जाता है। अतः अर्थापत्ति से जान लिया गया कि प्रतिपत्ता को उन शब्दों के सामान्य अर्थ की प्रतिपत्ति होचुकी है, किन्तु गंध आदि का ज्ञान कर तो किसी भी सामान्य या विशेष अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं होपाती है, अतः गन्ध स्फोट आदि का मानना अनावश्यक है, वैयाकरणों के यों कहने पर तो हम जैन कहते हैं। कि तिस ही कारण से यानी गन्ध आदि सामान्य को भी स्वकीय ज्ञातव्य अर्थ के साथ सामान्यरूप से

ज्ञापकपन की योग्यता होने से ही रूप आदि सामान्य का अपने द्वारा देखने योग्य सामान्य रूप से अन्य अर्थों के साथ भी योग्यता नामक सम्बन्ध की सिद्धि होरही मान ली जाओ तथा हस्त पाद आदि क्रियाओं की भी अपने अभिनेय अर्थ के साथ सामान्य रूप से प्रतिपादनार्थ योग्यता नामक सम्बन्ध बन रहा भी मान लिया जाय किसी पुरुष ने अंगुली आदि के रूप या अवयव-संचालन का किसी विशेष अर्थ के साथ स्वयं संकेत ग्रहण नहीं किया है, ऐसी दशा में किसी स्वामी या नतक ने अंगुली आदि के रूप का दिखलाना किया उसको देख कर उस पुरुष द्वारा ' यह चिन्ह किस अर्थ को कह रहा है ?" यों विशिष्ट अर्थ में संशय करके प्रश्न उठाना देखा जाता है, अतः सिद्ध होजाता है, कि उस पुरुष को अंगुली आदि के रूप के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ की सामान्य रूप से प्रतिपत्ति प्रथम से ही थी तभी तो विशेष अंशों में संशय उठाया गया है। शब्दसामान्य और गन्ध सामान्य या अवयव क्रिया सामान्य में कोई विशेषता नहीं है।

अर्थात् तुम्हारे परामर्श अनुसार सभी पदार्थ कुछ न कुछ अर्थों को कह ही रहे हैं, अलङ्कार की रीति से भूमि भी यह शिक्षा देती है कि मेरे समान सबको सहनशील होना चाहिये चाहे खोदले भले ही कूडा करकट डाल दे, हमें क्षमा है। खम्भ सिखा रहा है, कि अपने ऊपर आये हुये बोझ को

सहर्ष झेल लेना चाहिये। काटने वाले को भी गंध दे रहा चन्दन वृक्ष सिखाता है, कि मित्र, शत्रु, किसी के भी साथ राग द्वेष मत करो वात्सल्य भावों को बढ़ाओ। आकाश समझाता है, कि मेरे समान सम्पूर्ण जीव अलिप्त होजावें यही द्रव्यों, का स्वाभाविक स्वरूप है। अग्नि से पापों के ध्वंस करने की शिक्षा लो। घड़ी यन्त्र कह रहा है कि व्यर्थ में समय को मत खोओ, मेरे समान सदा शुभ काय करने में लगे रहो। इत्यादि प्रकारों से कुत्ता, हंस, हाथी, वेश्या, गधा, कौआ, आदि से भी स्वामिभक्ति, स्वल्पनिन्द्रा, नीरक्षीरविवेक समान न्याय करना, गमन, लोकचातुर्य, संतोष पूर्वक लोलुपताके बिना उदर भर लेना, चेष्टा, आदि कृत्य सीखे जा सकते हैं, ऐसी अवस्था में शब्दस्फोट के समान तुम गंध स्फोट आदि का प्रत्याख्यान नहीं कर सकते हो।

तदेवं शब्दस्पंयार्थे संवादीनां प्रतिपत्तिं कुर्वतामाक्षेपसमाधानानां समानत्वादंतः प्रकाशरूपे बुद्ध्यात्मनि स्फोटे शब्दादन्यस्मिन्नुपगम्यमाने गन्धादिभ्यः परः स्फोटोऽर्थप्रतिपत्तिहेतुर्गन्धादीन्द्रियमतिपूर्वश्रुतज्ञानरूपोभ्युपगन्तव्योऽन्यथा शब्दस्फोटाव्यवस्थितिप्रसंगात् स च। नैकस्वभावो नानास्वभावतया सदावभासनात्।

तिस कारण इस प्रकार शब्द के द्वारा जैसे वाच्यार्थ में प्रतिपत्ति करली जाती है अतः बुद्धि स्वरूप शब्द स्फोट मान लिया जाता है उसी प्रकार गंध, हाथ, पांव, अंगुली आदि से भी अपने अपने ज्ञेय अर्थों की प्रतिपत्ति होजाने को करने वाले विद्वानों के यहां आक्षेप और समाधान करना समान रूप से लागू होता है, अतः गन्ध स्फोट, अंगहारस्फोट, भूमि स्फोट, आदि भी मान लिये जाओ, अन्तरंग में प्रकाश स्वरूप होरहे बुद्धि आत्मक स्फोट को वैयाकरणों के यहां यदि शब्द से निराला स्वीकार

किया जायगा। ऐसा होने पर तो गंध आदि द्वारा अर्थ की प्रतिपत्ति का कारण होरहा गंध आदि से भिन्न वह स्फोट भी स्वीकार कर लेना चाहिये जो कि जैन सिद्धान्त अनुसार नासिका, चक्षु, आदि इन्द्रियों से जन्य मतिज्ञान को पूर्ववर्ती मान कर हुये श्रुतज्ञान स्वरूप है। अन्यथा यानी आक्षेपों या समाधान के समान होने पर भी यदि पक्षपात-वश केवल शब्दस्फोट को ही मान कर गंध स्फोट आदि को नहीं स्वीकार किया जायगा तो तुम्हारे शब्द स्फोट की व्यवस्था नहीं बन सकने का प्रसंग आजावेगा जो कि तुम वैयाकरणों को इष्ट नहीं है। यदि सभी स्फोटों को मानते हुये वैयाकरण इष्टापत्ति कर लें तो इतना ध्यान रहे कि वे शब्दस्फोट, गन्धस्फोट, स्पर्शस्फोट, रस स्फोट रूप स्फोट अथवा हस्त आदि स्फोट भी एक ही स्वभाव को नहीं धार रहे हैं किन्तु अनेक स्वभावों से समवेत होरहे उन श्रुतज्ञान स्वरूप स्फोटों का सदा प्रतिभास होरहा है।

बात यह है कि वैयाकरणों के यहां माने गये नित्य, निरंश, शब्दस्फोट के साथ हमें कोई इष्टापत्ति नहीं है क्योंकि ऐसे स्फोट में कोई युक्ति नहीं है, तथा स्याद्वाद प्रक्रिया अनुसार शब्दस्फोट, गन्धस्फोट, आदि को श्रुतज्ञान स्वरूप मान लेने पर हमें कोई द्वेष भी नहीं है। संयुक्त विषय में द्वेष काहे का ? श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुई अन्तःप्रकाश स्वरूप जिस लब्धि से शब्द द्वारा अथवा गन्ध, अवयव क्रिया आदि द्वारा अन्य सम्बन्धी अर्थों को स्फुटरूप से प्रतिपत्ति कर ली जाती है उस लब्धि को स्फोट कह देने में जैन सिद्धान्त का कोई अतिक्रमण नहीं होजाता है असम्भवद्बाधकत्व, और युक्तियों से भरपूर होरहा सिद्धान्त ही जिनोक्त निर्णय है।

एतेनानुसंहृतिर्वाक्यमित्यपि चिन्तितं, पदानामनुसंहृतेर्बुद्धिरूपतया प्रतीतेरनुसंधीयमानानामेकपदाकारायाः सर्वथैकस्वभावत्वाप्रतीतेः।

इस आख्यात शब्द, आद्यपद, अन्त्यपद, वर्णक्रम, वर्णसंघात, संघातवर्तिनी जाति, बुद्धि-आत्मक स्फोट, इनके उक्त निरूपण करके अनुसंहृति को वाक्य मानने वाले के मन्तव्य का भी चिन्तन कर दिया गया समझ लेना चाहिये अथवा बुद्धि को वाक्यपन का निराकरण करने वाले इस प्रकरण करके अनुसंहृति के वाक्यपन का प्रत्याख्यान कर दिया गया भी यों विचार लो कि वर्णों का या पदों का अनुसंहार यानी परामर्श करना तो बुद्धि-स्वरूप ही करके प्रतीत होरहा है। पदों को सुनकर संकेतगृहीता पुरुष के चित्त में स्फुरायमान होरहे परामर्श को जैन सिद्धान्त में भाव वाक्य प्रमाण किया गया है अनुसंधान यानी अन्वित रूपसे विचार करने योग्य पदों या वर्णों की एक पद या एक आकार वाली प्रतीति होरही है जो कि एक अनेक-आत्मक है, सर्वथा एक स्वभाव वाली ही अनुसंहृति की प्रतीति नहीं होपाती है।

अत्रापरे प्राहुः न पदेभ्योऽर्थान्तरमेकस्वभावमेकानेकस्वभावं वा वाक्यमाख्यातशब्द-

किया जायगा। ऐसा होने पर तो गंध आदि द्वारा अर्थ की प्रतिपत्ति का कारण होरहा गंध आदि से भिन्न वह स्फोट भी स्वीकार कर लेना चाहिये जो कि जैन सिद्धान्त अनुसार नासिका, चक्षु, आदि इन्द्रियों से जन्य मतिज्ञान को पूर्ववर्ती मान कर हुये श्रुतज्ञान स्वरूप है। अन्यथा यानी आक्षेपों या समाधान के समान होने पर भी यदि पक्षपात-वश केवल शब्दस्फोट को ही मान कर गंध स्फोट आदि को नहीं स्वीकार किया जायगा तो तुम्हारे शब्द स्फोट की व्यवस्था नहीं बन सकने का प्रसंग आवेगा जो कि तुम वैयाकरणों को इष्ट नहीं है। यदि सभी स्फोटों को मानते हुये वैयाकरण इष्टापत्ति कर लें तो इतना ध्यान रहे कि वे शब्दस्फोट, गन्धस्फोट, स्पर्शस्फोट, रस स्फोट रूप स्फोट अथवा हस्त आदि स्फोट भी एक ही स्वभाव को नहीं धार रहे हैं किन्तु अनेक स्वभावों से समवेत होरहे उन श्रुतज्ञान स्वरूप स्फोटों का सदा प्रतिभास होरहा है।

बात यह है कि वैयाकरणों के यहां माने गये नित्य, निरंश, शब्दस्फोट के साथ हमें कोई इष्टापत्ति नहीं है क्योंकि ऐसे स्फोट में कोई युक्ति नहीं है. तथा स्याद्वाद प्रक्रिया अनुसार शब्दस्फोट, गन्धस्फोट, आदि को श्रुतज्ञान स्वरूप मान लेने पर हमें कोई द्वेष भी नहीं है। संयुक्त विषय में द्वेष काहे का ? श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुई अन्तःप्रकाश स्वरूप जिस लब्धि से शब्द द्वारा अथवा गन्ध, अवयव क्रिया आदि द्वारा अन्य सम्बन्धी अर्थोंको स्फुटरूप से प्रतिपत्ति कर ली जाती है उस लब्धि को स्फोट कह देने में जैन सिद्धान्त का कोई अतिक्रमण नहीं होजाता है असम्भवद्बाधकत्व, और युक्तियों से भरपूर होरहा सिद्धान्त ही जिनोक्त निर्णय है।

एतेनानुसंहृतिर्वाक्यमित्यपि चिंतितं, पदानामनुसंहृतेर्बुद्धिरूपतया प्रतीतेरनुसंधीयमानानामेकपदाकारायाः सर्वथैकस्वभावत्वाप्रतीतेः।

इस आख्यात शब्द, आद्यपद, अन्त्यपद, वर्णक्रम, वर्णसंघात, संघातवर्तिनी जाति, बुद्धि-आत्मक स्फोट, इनके उक्त निरूपण करके अनुसंहृति को वाक्य मानने वाले के मन्तव्य का भी चिन्तन कर दिया गया समझ लेना चाहिये अथवा बुद्धि की वाक्यपन का निराकरण करने वाले इस प्रकरण करके अनुसंहृति के वाक्यपन का प्रत्याख्यान कर दिया गया भी यों विचार लो कि वर्णों का या पदों का अनुसंहार यानी परामर्श करना तो बुद्धि-स्वरूप हो करके प्रतीत होरहा है। पदों को सुनकर संकेतगृहीता पुरुषके चित्त में स्फुरायमान होरहे परामर्श को जैन सिद्धान्त में भाव वाक्य अभीष्ट किया गया है अनुसंधान यानी अन्वित रूपसे विचार करने योग्य पदों या वर्णों की एक पद या एक आकार वाली प्रतीति होरही है जो कि एक अनेक-आत्मक है, सर्वथा एक स्वभाव वाली हो अनुसंहृति की प्रतीति नहीं होपाती है।

अत्रापरे प्राहुः न पदेभ्योऽर्थान्तरमेकस्वभावमेकानेकस्वभावं वा वाक्यमाख्यातशब्द-

रूपं पदान्तरापेक्षं, नापि पदसंघातवर्तिजातिरूपं वा, न चैकोऽनवयवशब्दरूपं क्रमरूपं वा नापि बुद्धिरूपमनुसंहृतिरूपं वा, न चाद्यपदरूपमन्त्यपदरूपं वा, पदमात्रं वा पदान्तरापेक्षं यथा व्यावर्णयन्तेऽन्यैः "आख्यातशब्दः संघातो जातिः संघातवर्तिनी । एकोऽनवयवः शब्दः क्रमो बुद्ध्यनुसंहृती ।। पदमाद्यपदं चान्त्यं पदसापेक्षमित्यपि । वाक्यं प्रतिमतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवेदिनां" मिति ।। किं तर्हि ? पदान्येव पदार्थप्रतिपादनपूर्वकं वाक्यार्थावबोधं विदधानानि वाक्यव्यपदेशं प्रतिपद्यन्ते तथा प्रतीतेरिति ।

यहां कोई दूसरे अभिहितान्वयवादी प्राचीन नैयायिक और भाट्ट मीमांसक तथा अन्विताभिधानवादी प्राभाकर मीमांसक पण्डित यों बढ़ कर कह रहे हैं कि पदों से भिन्न होरहा एक स्वभाव वाला अथवा अनेक स्वभाव वाला आख्यात शब्द–स्वरूप वाक्य नहीं है जो कि जैनों ने पदान्तरों की अपेक्षा रखता हुआ और अन्य आख्यात शब्द–स्वरूप वाक्य की नहीं अपेक्षा रखता हुआ वर्ण समुदाय वाक्य मनवा दिया है। तथा वर्णों या पदों का संघात अथवा संघातवर्तिनी जाति–स्वरूप भी वाक्य नहीं है जैसा कि जैनों ने कथंचित् भेदाभेदात्मक होरहे एकानेक स्वभाव वाले संघात अथवा संघातों में वर्त रही सदृश परिणाम लक्षण जाति को वाक्य ठहरा दिया था। तथा एक निरवयव शब्दस्वरूप अथवा वर्णों का क्रम-स्वरूप भी वाक्य को हम मीमांसक नहीं मानते हैं जो कि जैनों ने अनवस्था का भय दिखाते हुये अपने ऊपर आये हुये उपालम्भों को दूसरे के सिर टाल कर जात्यन्तर एकानेकाकार शब्द को वाक्य समझा दिया था, वर्ण क्रम में भी व्युत्क्रम का डर दिखाकर कालकृत सांश वर्णक्रम को वाक्य सिद्ध कर दिया था। एवं बुद्धि-स्वरूप अथवा अनुसंहृति स्वरूप भी वाक्य नहीं बन पाता है जैसा कि जैनों ने अपने भाव-वाक्यों में वैयाकरणों को घसीट कर स्वानुकूल बना लिया था।

अन्य पदों की अपेक्षा रखने वाला आद्य पद और इतर पदोंकी अपेक्षासहित होरहा अन्तिम पद ये भी वाक्य नहीं हो सकते हैं या अन्य आगे पीछे के पदोंकी अपेक्षा रखरहा कोई भी मात्र मध्यवर्ती पद वाक्य नहीं हो सकता है जो कि एकानेकस्वभाव वाला नियत कर जैनों ने भी वाक्य मान लिया था। सच पूछो तो ये कोई वाक्य नहीं हैं,यह केवल सब फटाटोप है जिस प्रकार कि अन्य विद्वानोंने अपने सिद्धान्त में यों वाक्य का लक्षण बखाना है कि "भवति, पचति" ऐसा आख्यात शब्द वाक्य है, वर्णों का संघात वाक्य है, संघातों में वर्त रही जाति वाक्य है, निरंश एक शब्द वाक्य है, वर्णों का क्रम वाक्य है, बुद्धि वाक्य है, अनुसंहृति को वाक्य कहा जा सकता है, आद्य पद और पदों की अपेक्षा रखने वाला अन्तिम पद ये भी वाक्य होसकते हैं यों न्याय को जानने वाले विद्वानों के यहां वाक्य के प्रति बहुत प्रकार भिन्न भिन्न मतियां होरही हैं। मीमांसक ही कहे जा रहे हैं ये कोई भी वाक्य नहीं सम्भवते हैं तो वाक्य क्या है ? इसका उत्तर यह है कि पद ही पूर्व में अपने पदार्थों का प्रतिपादन करते हुये वाक्यार्थ के ज्ञान को कर रहेसन्ते वाक्य इस नाम को प्राप्त कर लेते हैं लोक और शास्त्र में तिसी प्रकार प्रतीति होरही है यहां तक मीमांसक कह चुके हैं। मीमांसकों का अनुभव

है कि वाक्य अर्थकी प्रतिपत्ति करते समय उन पदों की भावना (धारणा नामक संस्कार) को रखने वाले पुरुष के उस प्रतिपत्ति करने में मूल कारण तो पदों के अर्थ माने गये हैं, अतः पदार्थ-प्रतिपत्ति पूर्वक वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति होजाना इष्ट कर लिया गया है।

तेषामपि यदि पदांतरार्थैरन्वितानामेवार्थानां पदैरभिधानात् पदार्थप्रतिपत्तेर्वाक्यार्थविबोधः स्यात्तदा देवदत्तपदाद्देवदत्तार्थस्य गामभ्याजेत्यादिपदवाक्यार्थैरन्वितस्याभिधानात् तदुच्चारणवैयर्थ्यमेव वाक्यार्थावबोधसिद्धेः।

वाक्य को कहकर वाक्यार्थ की भी परिभाषा कर रहे मीमांसकों के प्रति अब आचार्य महाराज कहते हैं कि उन मीमांसकों के यहां भी "देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन" इस वाक्य में यदि अन्य पदों के अर्थ के साथ अन्वित होरहे ही अर्थों का पदों करके कथन कर देने से पदार्थ प्रतिपत्ति से ही वाक्यार्थ ज्ञान हुआ माना जायेगा अर्थात्-देवदत्त पद को देवदत्त अर्थ तो गां, अभ्याज आदि पदों के गाय, घेर लाना, आदि अर्थों के साथ अन्वित होरहा है और गां आदि पदों के अर्थ तो पहिले पिछले पदों के अर्थों के साथ अन्वित होरहे हैं, ऐसा प्राभाकरों का अन्विताभिधानवाद का पक्ष है अशेष पूर्व पदों के अभिधेय अर्थों करके अन्वित होरहे अन्तिम पदार्थ की प्रतिपत्ति से वाक्यार्थ ज्ञान होजाता है। तब तो अकेले देवदत्त पदसे ही "गामभ्याज शुक्लां" इत्यादि पद पूर्वक हुये वाक्यार्थ से अन्वित होरहे देवदत्त इस अर्थ का कथन होजायगा, अतः उन गां आदि शेष पदों का उच्चारण करना व्यर्थ ही पड़ेगा जब कि एक ही पद से पूरे वाक्य के अर्थ का चारों ओर से ज्ञान होजाना सिद्ध है "अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्" अर्थात्-कर्ता,कर्म,क्रिया ये सब पद जब अन्वित ही होरहे हैं तो एक पद के उच्चारण से ही पूरे वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति होजानी चाहिये, शेष पद व्यर्थ पड़जायंगे एक किसी अवयवमें कम्पादिया गया बांस सभी पंगोलियों में कम्प जाता है। एक बात यह भी है कि यों वाक्यों का अखण्ड अन्वय मानने पर प्रथम पद को ही जैसे पूरा वाक्यपना आजाता है उसी प्रकार जितने पद हैं उतने वाक्य बन बैठेंगे अथवा जितने पदों के अर्थ हैं उतने वाक्यों के अर्थ हो जायेंगे, अतः मीमांसकों को कथंचित् भेदाभेद या एकानेक स्वभाव की शरण लेना अनिवार्य होजाता है। अन्य पदोंके अर्थों से अन्वित होरहे ही अर्थोंका पदों करके कथन मानने वाले अन्विताभिधान-वादी प्रभाकर गुरु की मीमांसा ठीक नहीं है।

स्वयमविवक्षितपदार्थव्यवच्छेदार्थत्वान्न गामित्यादिपदोच्चारणवैयर्थ्यमिति चेत्, किमेवं स्फोटवादिनः प्रथमपदेनानवयवस्य वाक्यस्फोटस्याभिव्यक्तावपि व्यक्त्यंतराद्भिताव्यंजकपदव्यवच्छेदार्थस्य पदांतरोच्चारणमनर्थकमुच्यते ? यतस्तदेव पदैरभिव्यक्तं नतोऽन्यदेवार्थप्रतिपत्तिनिमित्तं न भवेत्। तथा सत्यवृत्त्या सत्यां वाक्याभिव्यक्तिप्रसंगः पदांतरैस्तस्याः पुनः प्रकाशनादितिचेत्, तत्राध्यावृत्त्या वाक्यार्थावबोधः स्यात्। प्रथमपदेनाभिहितस्यार्थस्य द्वितीयादिपदार्थाभिधेयैरन्वितस्य द्वितीयादिपदैः पुनः पुनः प्रतिपादनात्।

यदि प्रभाकर मीमांसक यों कहें कि "देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन" यहां देवदत्त पद को गां, अभ्याज, इन पदों की आकांक्षा होरही है, अतः गां, अभ्याज, ये तो विवक्षित पद हैं और पढो जाओ, सो ओ, पीओ, आदि क्रियापद या घडे को, पुस्तक को, आदि कर्म पद अविवक्षित पद हैं अतः स्वयं को विवक्षित नहीं होरहे ऐसे निठल्ले पदार्थों का व्यवच्छेद करना प्रयोजन होने से गां, अभ्याज, आदि पदोंके उच्चारणको व्यर्थपना नहीं है। यों कहने पर तो आचार्य कहते हैं कि तुम प्राभाकर मीमांसकों ने इस प्रकार स्फोटवादी वैयाकरण के ऊपर अन्य पदों के उच्चारण करने का व्यर्थपना दोष क्यों कहा था ? जो कि पहिले पद करके ही निरंश वाक्यस्फोट की अभिव्यक्ति होजाने पर भी अन्य शब्द व्यक्तियों से धारे गये व्यंजक पद का व्यवच्छेद करने के लिये अन्य पदों का उच्चारण वैयाकरणोंने सफल माना था अर्थात्-वैयाकरणोंके प्रति जैसा तुमने वैयर्थ्य दिया था उसी प्रकार अन्य पदों के उच्चारण का व्यर्थपना तुम मीमांसकों के ऊपर भी लागू होता है जिससे कि वहां पद अन्य पदों करके अभिव्यक्त होरहा सन्ता और उस पद से अभिव्यक्त होरहा ही पद अकेला अर्थ की प्रतिपत्ति कराने का निमित्त कारण नहीं होसके।

मीमांसक गुरु यदि वैयाकरणों पर यों आक्षेप करें कि तिस प्रकार होतेसन्ते तो होरही पदों की आवृत्ति करके वाक्य की अभिव्यक्ति होजाने का प्रसंग आजावेगा क्यों कि वाक्य की उसी अभिव्यक्ति को अन्य पदों ने फिर प्रकाशित कर दिया है अर्थात्-देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन यहां देवदत्त ने ही जिस अन्वित होरहे वाक्य को प्रकट कर दिया था उसी को "गां" पदने भी दोहराया पुनः "अभ्याज", आदि पद ने भी तिहराया यों पांच बार उसी प्रकार के वाक्य प्रकट होते जायेंगे। यों कहने पर ग्रन्थकार वैयाकरण की ओर से आक्षेप का निवारण कर देते हैं कि इस प्रकार जो तुम प्राभाकर मीमांसकों के यहां भी कई बार आवृत्ति करके वाक्यार्थ का ज्ञान होता रहेगा, कारण कि लम्बे वाक्य में पड़े हुये पहिले पद करके कहे जा चुके उस द्वितीय तृतीय आदि पदों के अभिधान करने योग्य अर्थों से अन्वित होरहे वाक्यार्थ का पुनः पुनः द्वितीय, तृतीय, आदि पदों करके कथन किया जारहा है, यही आवृत्ति है।

कथं द्वितीयपदेन स्वार्थस्य प्रधानभावेन पूर्वोत्तरपदाभिधेयार्थैरन्वितस्याभिधानात् प्रथमपदाभिधेयस्य तथानभिधानात् नावृत्त्या तस्यैव प्रतिपत्तिरिति मतं, तर्हि यावंति पदानि तावंतस्तदर्थाः पदांतराभिधेयार्थान्विताः प्राधान्येन प्रतिपत्तव्या इति तावन्त्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तयः कथं न स्युः ?

अब यदि प्राभाकर मीमांसक यों कहे कि द्वितीय पद करके स्वकीय अर्थ का प्रधान रूप से कथन किया जाता है यह स्वार्थ अपने से पहिले और पिछले पदों के द्वारा कहे जाने योग्य अर्थों करके अन्वित होरहा है, द्वितीय पद करके प्रथम पद के अभिधेय अर्थ का तिस प्रकार प्रधान रूप से कथन नहीं हो पाता है, अतः पुनः पुनः आवृत्ति करके उस ही वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति नहीं हो सकेगी।

मीमांसकों का यों मत हो, तब तो हम जैन कह देंगे कि जितने भी पद हैं उतने ही प्रधान रूपसे उनके वाक्यार्थ समझ लेने चाहिये जो कि अन्य पदों द्वारा कथन करने योग्य अर्थों से अन्वित होरहे हैं

उसी प्रकार पदों की संख्या अनुसार वाक्यार्थों की प्रतिपत्तियां भी उतनी ही संख्या में क्यों नहीं हो जावेंगी ? ।

अर्थात्–गौण रूप से गां, अभ्याज, आदि पदों के अर्थों करके अन्वित होरहे देवदत्त अर्थ को प्रधान रूप से देवदत्त यह कह देवेगा और देवदत्त, अभ्याज, आदि पद के अर्थों से अन्वित होरहे गाय अर्थ को प्रधान रूप से गां पद कह देगा अथवा अभ्याज पद भी स्वकीय अर्थ को प्रधान रूप से कह रहा सन्ता गौण रूप से देवदत्त गां, आदि पदों के अर्थों से अन्वित होरहे वाक्यार्थ को अभिव्यक्त कर देवेगा, शुक्लां पद या दण्डेन पद में भी यही प्रक्रिया दर्शा दी जावेगी। एक लक्षपति सेठ के चारों बेटे, तीनों बेटियां, छैऊ नाती, अपने अपने को लक्षाधिपति मान बैठते हैं। सच पूछो तो यह उनका अभिमान करना एक प्रकार से कदाग्रह है। हाँ इतना बड़ा तो यह असत्य भी नहीं है जैसा कि कोई दम्भ करने वाला बनियां भोले ऋणी से कई बार रुपया प्राप्त करने की कुचेष्टा करता है। बात यह है कि सन्मुख रक्खा हुआ एक घड़ा चाहे एक आंख को मीच कर दूसरी अकेली आंख से देखा जाय अथवा दोनों भी आंखों से देखा जाय, एक ही घड़ा दीखेगा दो नहीं। इसी प्रकार साकांक्ष अनेक पदों का एक ही वाक्यार्थ और वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति भी एक ही होनी चाहिये।

न ह्यंत्यपदोच्चारणात्तदर्थस्याशेषपूर्वपदाभिधेयैरन्वितस्य प्रतिपत्तिर्वाक्यार्थावबोधो भवति, न पुनः प्रथमपदोच्चारणात्तदर्थस्योत्तरपदाभिधेयैरन्वितस्य प्रतिपत्तिर्द्वितीयादिपदोच्चारणाच्च शेषपदाभिधेयैरन्वितस्य तदर्थस्य प्रतिपत्तिरित्यत्र किंचित्कारणमुपलभामहे। एतेनावृत्त्या पदार्थप्रतिपत्तिप्रसंग उक्तः द्वितीयादिपदेन स्वार्थस्य च पूर्वोत्तरपदार्थानामपि प्रतिपादनादन्यथा तैस्तस्यान्वितत्वायोगात् ।

आचार्य महाराज वैयाकरणों की ओर से दिये गये प्रभाकर मीमांसक के ऊपर आक्षेप का ही समर्थन कररहे हैं कि अन्तिम पद के उच्चारण से तो शेष सम्पूर्ण पूर्वपदों के अभिधेय अर्थों करके अन्वित होरहे अन्तिम पदार्थ की प्रतिपत्ति होते हुये वाक्यार्थ का ज्ञान होजावे किन्तु फिर प्रथम पद के उच्चारण करके उसके उत्तर-वर्ती अशेष पदों के अभिधेय होरहे अर्थों से अन्वित होरहे उस प्रथम पदार्थ की प्रतिपत्ति होते हुये वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति नहीं होय। तथा द्वितीय पद, तृतीय पद, आदि के उच्चारण से उनसे शेष सम्पूर्ण पदों के अभिधेय अर्थों करके अन्वित होरहे उस प्रथमपदार्थ की प्रतिपत्ति होते हुये वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति नहीं होय। तथा द्वितीय पद तृतीय पद आदि के उच्चारण से उनसे शेष सम्पूर्ण पदों के अभिधेय अर्थों करके अन्वित होरहे उस द्वितीय, तृतीय, आदि पद के अर्थ की प्रतिपत्ति होते हुये वाक्यार्थ ज्ञान नहीं होय, इस अयुक्त पक्षपात पूर्वक आग्रह करने में किसी भी कारण को हम नहीं देख रहे हैं।

अर्थात्–अन्तिम पद से जैसे अन्य शेष पदार्थों से अन्वित होरहे वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति कर ली जाती है उसी प्रकार अन्य आदिम या मध्य पदों द्वारा भी उतनी वाक्यार्थ-प्रतिपत्तियां बन बैठेंगी मनुष्यता या स्वाभिमान की अपेक्षा पण्डित और उसके स्वामी में कोई अन्तर नहीं है यदि अविचारी प्रभु कदाचित् विद्वान् पर अकारण क्रोध करे या अत्यल्प अपराध के वश होकर अधिक कोप करे तो मनस्वी विद्वान् भी अपने प्रभु पर अरुचि या भर्त्सना कर सकता है, पंचायत के भी सदाचारी मनुष्यों में कोई अन्तर नहीं मानना चाहिये। प्रकरण में जब आगे पीछे के सभी वाक्य एक से हैं, तो कोई हेतु नहीं है, कि अन्तिम पदसे ही वाक्यार्थ ज्ञान होसके, अन्य पदों से नहीं। कोई भोक्ता आदि अवस्था में उत्तम मिष्टान्न को खाते हैं, अन्य जीमने वाले मध्य में बढ़िया मिठाई का परत लगाते हैं तीसरा जाति के लोलुपी सेंत मत में खा लेने का लक्ष्य रख कर मिष्टान्न का सबसे पीछे भोग लगाते हैं, इसी प्रकार कोई पुरुष गीत या श्लोक के पहिले पदको ही सुनकर पूरे गीत या श्लोक का अर्थ को समझ लेते हैं। अन्य जन गीत के मध्यम अंश को सुन कर पूरे प्रमेय की प्रतिपत्ति कर लेते हैं, तीसरे प्रकार के मनुष्य अन्तिम पद को लक्ष्य कर बाजा बजाना लय, तान, स्वरावरोह, स्वरउतारना, आदि ज्ञातव्य अर्थों को जान लेते हैं।

इस उक्त निर्णय करके प्राभाकर मीमांसकों के ऊपर वैयाकरण द्वारा पुनः पुनः आवृत्ति करके कई बार पदार्थों की प्रतिपत्ति होजाने का प्रसंग भी कह दिया गया समझ लेना चाहिये कई पदों के साथ एक एक वाक्य का जो सम्बन्ध है, वैसे ही अनेक वर्णों के साथ एक पद का भी सम्बन्ध है। अतः वाक्यार्थ के ऊपर जो आक्षेप है, वही कई बार पदार्थों की प्रतिपत्ति होजाने का आपादन किया जाना पद के लिये भी लागू होजाता है, कारण कि एक वाक्य में पड़े हुये दूसरे, तीसरे आदि पदों करके अपने निज अर्थ का तो प्रतिपादन किया ही जाता है, साथ में पहिले और उत्तर-वर्ती पिछले पदों के अर्थों का भी प्रतिपादन होरहा है। अन्यथा यानी दूसरे आदि पदों करके पहिले, पिछले, पदार्थों की प्रतिपत्ति करा देना यदि नहीं माना जायगा तो उन पहिले पिछले, पदार्थों करके उस दूसरे या तीसरे पदार्थका एकान्वय होजाना नहीं बन सकेगा जैसा कि आप प्रभाकर मीमांसकों ने कहा था, अतः कई बार पदार्थोंकी प्रतिपत्ति होजाने का प्रसंग डट गया। फिर अपने ऊपर भी आये हुये दोष को भोले वैयाकरणों पर ही क्यों लगाया जाता है? यानी अपने और दूसरों के ऊपर भी आये हुये दोष तो गुण स्वरूप होजाते हैं, यदि मुख के ऊपर ऊंची उठी हुई नाक सब मनुष्यों के ऊपर रही है, तो नाक का ऊंचा उठा रहना गुण ही समझा जायेगा, तभी तो लोक में नाक उठी रहने को बड़ाई या प्रतिष्ठा का बीज समझा गया है।

गम्यमानैस्तैस्तस्यान्वितत्वं न पुनरभिधीयमानैरिति चेत्, स किमिदानीमभिधीयमान एव पदस्यार्थो न गम्यमानः? तथोपगमे कथमन्विताभिधानं? विवक्षितपदस्य पदांतराभिधेयानां गम्यमानानामविषयत्वात् तैरन्वितस्य स्वार्थस्य प्रतिपादने सामर्थ्याभावात्।

अब यदि गुरु मीमांसक यों कहें कि अभिधा वृत्ति से नहीं कहे जा रहे किन्तु अर्थापत्त्या सम्बन्ध मिला कर यों ही जान लिये गये उन पहिले पिछले पदार्थों करके उस उच्चारित दूसरे, तीसरे, आदि पद के अभिधा वृत्ति से किये गये अर्थका अन्वय होजाना हम मानते हैं, किन्तु फिर कहे जा रहे पहिले, पिछले, पदों के शब्दार्थों के साथ द्वितीय पद का अन्वय नहीं है, क्योंकि द्वितीय पद का उच्चारण करते समय पहिले पिछले पद नहीं बोले जा रहे हैं, तिस कारण कई बार पदों के अभिधावृत्ति द्वारा किये जा रहे अर्थों की प्रतिपत्ति का प्रसंग यह दोष हम प्राभाकर मीमांसकों के ऊपर नहीं लगता है, यों कहने पर तो आचार्य कहते हैं, कि क्यों जी ! क्या शब्दों से इसी अवसर पर कहा जा रहा वह अर्थ ही क्या पद का अर्थ समझा जायेगा ? शब्यार्थ सम्बन्ध रूप लक्षणावृत्ति से या साहित्य वालों के यहां मानी गयी व्यंजना वृत्ति से अथवा अन्य ज्ञापक चिन्हों करके अव्यभिचरित समझा दिया गया गम्यमान भला पद का अर्थ नहीं माना जायगा ? बताओ।

यदि उक्त प्रसंग को टालने के लिये मीमांसक तिस प्रकार पीछे सिद्धान्त को स्वीकार कर लेंगे तब तो पहिले पिछले होरहे अन्य पदों के अर्थों के साथ अन्वित होरहे स्वकीय अर्थ का उच्चार्यमाण पद करके कथन किया जाता है, यह प्रभाकरों का सिद्धान्त कैसे रक्षित रह सकेगा ? क्योंकि अब तुम्हारे विचार अनुसार वर्तमान काल में बोला जा रहा विवक्षित दूसरा पद बेचारा अन्य पहिले तीसरे आदि पदों के अभिधेय होरहे किन्तु इस समय अर्थापत्त्या जाने जा रहे स्वकीय अनभिधेय अर्थों को कथमपि विषय नहीं करता है। अतः द्वितीय पद के अर्थ की उन पहिले पिछले पदार्थों के साथ अभिधेय होकर अन्वय प्राप्ति ही नहीं है अभिधेय पदार्थ को अनभिधेय अर्थों के साथ स्वकीय अर्थ का प्रतिपादन करने में सामर्थ्य नहीं मानी गयी है, शक्ति से बाहर कोई पदार्थ किसी छोटे से छोटे कार्य को भी नहीं कर सकता है। अब बताओ अन्वित का अभिधान कहां रहा ?।

यदि पुनः पदानां द्वौ व्यापारौ स्वार्थाभिधाने व्यापारः पदार्थान्तरे गमकत्वव्यापारश्च तदा कथं न पदार्थप्रतिपत्तिरावृत्त्या प्रसज्यते ? पदव्यापारात् प्रतीयमानस्य गम्यमानस्यापि पदार्थत्वादभिधीयमानार्थवत् । न च पदव्यापारात् प्रतीयमानोर्थो गम्यमानो युक्तः कश्चिद्देवाविशेषात् ।

यदि प्राभाकर मीमांसकों का फिर यह मन्तव्य होय कि पदों के दो व्यापार हुआ करते हैं एक स्वकीय अर्थों को कहने में अभिधान व्यापार है और दूसरा अन्य अगले, पिछले, पदों के अर्थों में गमक होजाने का व्यापार है तब तो हम जैन कहते हैं कि इस प्रकार वाचकत्व और गमकत्व दो व्यापारों के होते सन्ते वही दोष यानी आवृत्ति से पदार्थों की प्रतिपत्ति होजाने का प्रसंग भला क्यों नहीं लग बैठेगा ? क्योंकि अन्य पदों का अभिधेय और इस पद के व्यापार से प्रतीयमान हो रहा सन्ता गम्यमान भी तो इसी पद का अर्थ है जैसे कि उच्चार्यमाण पद का अभिधावृत्ति द्वारा कहा गया अर्थ इस विवक्षित पद का अर्थ माना जाता है जब कि पद के व्यापार से दोनों अर्थ समान रूप

से प्रतीत किये जा रहे हैं तो किसी ही अर्थ को अभिधावृत्ति द्वारा कहा जा रहा मानना और दूसरों को यों ही गम्यमान मान बैठना यह बिना कारण विभाग कर देना उचित नहीं है क्योंकि दोनों अर्थों में कोई अन्तर नहीं दीखता है। जो जिस पद से अर्थ प्रतीत होता है वह निर्विशेष होकर उसका अर्थ मान लिया जाय, ऐसी दशा में मीमांसकों के ऊपर वही कई बार पदार्थों की प्रतिपत्ति होजाने का दोष तदवस्थ रहा।

स्यान्मतं, पदप्रयोगः प्रेक्षावता पदार्थप्रतिपत्त्यर्थो वाक्यार्थप्रतिपत्त्यर्थो वा क्रियेत ? न तावत्पदार्थप्रतिपत्त्यर्थस्तस्य प्रवृत्तिहेतुत्वाभावात्। कः पिकः ? कोकिल इत्यादि केवलपद-प्रयोगस्यापि वाक्यार्थप्रतीतिनिमित्तत्वात् कः पिक उच्यते ? कोकिल उच्यते इति प्रतीतेः। यदि तु वाक्यार्थप्रतिपत्त्यर्थः पदप्रयोगस्तदा पदप्रयोगानंतरं पदार्थे प्रतिपत्तिः साक्षाद्भवतीति तत्र पदस्याभिधानव्यापारः पदांतरार्थस्यापि प्रतिपत्तये तत्प्रयोगात् तत्र गमकत्वव्यापार इति।

यदि कोई प्रभाकर अनुयायी मीमांसक वादी अपने मन्तव्य को स्थिर रखने के लिये यों विचार चलावे कि हिताहित विचार को रखने वाले प्रयोक्ता पुरुष करके किया गया पदों का प्रयोग क्या केवल पदों के अर्थ की प्रतिपत्ति कराने के लिये किया जाता है ? अथवा क्या पदों का प्रयोग भला वाक्य के अर्थ की प्रतिपत्ति कराने के लिये किया गया है ? बताओ प्रथम पक्ष अनुसार पदार्थ की प्रतिपत्ति के लिये तो पद का प्रयोग करना सार्थक नहीं है क्योंकि प्रयोजनार्थी पुरुष के प्रति केवल देवदत्त पद या अकेले अभ्याज पद का अर्थ ज्ञात हो जाना प्रवृत्ति का हेतु नहीं होपाता है, केवल गो पदको सुनकर उसके अर्थको जानने वाले पुरुषकी कहीं भी प्रवृत्ति या निवृत्ति होना नहीं देखा जाता है पिक क्या है ? कोकिल है, "पचति, पाक करोति" इत्यादि स्थलोंपर केवल पदका प्रयोग किया गया है वह भी वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति कराने का निमित्त है तभी भले ही कुछ प्रवृत्ति करलो जब कि पिक क्या है ? यों प्रश्न कहा जाता है तो पिक का अर्थ कोयल कह दिया जाय, इस प्रकार प्रतीति हो रही दीखती है।

भावार्थ-"वनप्रियः परभृतः कोकिलः पिक इत्यपि" इस अमरकोष की कारिका को सुनने पर अथवा कोकिलः पिक-पदवाच्यः या, इह सहकारतरौ मधुरं पिको रौति इत्यादि स्थलों पर कोष, आप्तवाक्य, प्रसिद्ध पद सन्निधान, इनसे पिक पदका कोयल अर्थमें शक्ति ग्रह होजाता है जो कि 'शक्ति ग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च, वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपद-स्य वृद्धाः।' ऐसा ग्रन्थों में कहा गया है अतः अकेले पद की अवस्था में भी उपस्कारों द्वारा वाक्यार्थ बना लिया जाता है, केवल पद तो किसी काम का नहीं है। अब द्वितीय पक्ष अनुसार पद का प्रयोग करना यदि वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति कराने के लिये माना जाय तब पद के प्रयोग के अनन्तर ही पद के अर्थ में तो साक्षात् यानी अव्यवहित रूप से प्रतिपत्ति होजाती है इस कारण पदके उस अर्थ में तो पद का अभिधान व्यापार है और अर्थापत्त्या जानने योग्य पदार्थान्तर की भी प्रतिपत्ति कराने के लिये

उसका प्रयोग किया गया है अतः उस पदान्तर के अर्थ में गमकपन का व्यापार है यों अनेक पदों से अन्वित होरहा हो शब्दार्थ हुआ अर्थात्-हमारे मत अनुसार जो प्रत्येक के दो व्यापार माने गये हैं वही बात सिद्ध होगई। पद अपने निज अर्थ को अभिधावृत्ति से कहता है और दूसरे पदों के गम्यमान अर्थ को अर्थापत्त्या समझाता रहता है यहां तक प्राभाकर मीमांसक अपने मत को कहकर समाप्त कर चुके हैं।

तदप्यसत्, पादप इति पदस्य प्रयोगे शाखादिमदर्थस्यैव प्रतिपत्तिस्तदर्थाच्च प्रतिपन्नात्तिष्ठत्यादिपदवाच्यस्य स्थानाद्यर्थस्य सामर्थ्यतः प्रतीतिस्तत्र पदस्य साक्षाद्व्यापाराभावादुपरोक्षायोगात् तदर्थस्यैव तद्गमकत्वात्। परंपरया तस्य तत्र व्यापारे लिंगवचनस्य लिंगिप्रतिपत्तौ व्यापारोस्तु। तथा सति शब्दमेवानुमानज्ञानं भवेत्।

अब आचार्य कहते हैं, कि वह मीमांसकों का मन्तव्य भी प्रशसनीय नहीं है क्योंकि "पादाभ्यां पिबतीति पादपः" पादप इस पद का प्रयोग करने पर शाखा, डाली, पत्ता आदि के धारी अर्थ की ही प्रतिपत्ति होजाती है, पुनः जान लिये गये उस शाखादि वाले अर्थ से तिष्ठति, कम्पते, आदि पदों से कहे गये 'ठहर रहा है" या "कम्प रहा है" इत्यादिक अर्थों की तो कहे बिना यों ही सामर्थ्य से प्रतीति कर ली जाती है, उस ठहरने आदि अर्थों में वृक्ष इस पद का कोई साक्षात् रूप से व्यापार नहीं है अतः पादप पद उस ठहर रहा आदि अर्थ का गमक नहीं होसकता है, वस्तुतः वह पादप शब्द तो उसके वाच्यार्थ होरहे वृक्ष अर्थ का ही गमक होसकता है अथवा उन स्थान या कम्प स्वरूप अर्थों के लिये तिष्ठति कम्पते, आदि पद ही उपयोगी है, शाब्दबोध की प्रक्रिया में अनुमान प्रमाण की विक्रिया का प्रवेश करना उसी प्रकार शोभा नहीं देता है जैसे कि खीर में दाल का चमचा डुबा देना नहीं रुचता है, अतः पदों के दो व्यापार मानना अयुक्त है।

यदि मीमांसक उस स्थानादि अर्थ में इस वृक्ष पद का परम्परा करके व्यापार मानेंगे यानी वृक्ष शब्दसे शाखा आदि वाले अर्थकी प्रतिपत्ति होजाती है,पुनः वृक्षकी प्रतिपत्ति से कम्प,ठहरना आदि अर्थों की प्रतिपत्ति कर ली जाती है, यों कहने पर हम जैन कहते हैं, कि तब तो हेतु के प्रतिपादक वचन का भी लिंग से ज्ञेय होरहे साध्य की प्रतिपत्ति कराने में व्यापार होजाओ और तैसा होते सन्ते सभी परार्थानुमान स्वरूप ज्ञान बेचारे शाब्दबोध बन बैठेंगे जो कि इष्ट नहीं है। वैशेषिक भी "शब्दोपमानयोर्नैव पृथक्प्रामाण्यमिष्यते. अनुमानगतार्थत्वादिति वैशेषिकं मतं', इस प्रकार शाब्द बोध का अनुमान में अन्तर्भाव भले ही कर लें किन्तु शाब्दबोध में अनुमान का गर्भ होना कथमपि नहीं मानते हैं, पांच या छः प्रमाणों को मानने वाले मीमांसक तो शाब्द प्रमाण में अनुमान का अन्तर्भाव कभी नहीं करेंगे, अतः भिन्न भिन्न वाचक पदों की ही न्यारे २ स्थान आदि अर्थों को कहने में शक्ति मानी जाय। प्राभाकरों के यहां अन्वित पदों का अभिधान करना वाक्य माना गया किसी को ठीक जंचा नहीं।

लिंगवाचकाच्छब्दाल्लिंगस्य प्रतिपत्तेः सैव शाब्दी न पुनस्तत्प्रतिपन्नेषु लिंगाऽनुमेयप्रतिपत्तिरतिप्रसंगादिति चेत्, तत एव पादपशब्दात्स्थानाद्यर्थप्रतिपत्तिर्भवंती शाब्दी मा भूत्, तस्याः स्वार्थप्रतिपत्तावेव पर्यवसितत्वाल्लिंगशब्दवत् ।

यदि पूर्व पक्ष वाला यहां यों कहे कि लिंग को कहने वाले शब्द से तो ज्ञापक हेतु की ही प्रतिपत्ति होती है, अतः वह केवल लिंग की ही प्रतिपत्ति शाब्दबोध कही जायेगी किन्तु फिर परार्थानुमान करने वाले पुरुष के उस प्रतिपत्ति हो चुके लिंग से अनुमान करने योग्य साध्य की प्रतिपत्ति तो शाब्दबोध नहीं होसकती है, क्योंकि अतिप्रसंग होजायगा । यानी चक्षु आदि इन्द्रियों से उपज रही प्रत्यक्ष प्रतीति भी शाब्दबोध बन बैठेगी ।

यों कहे तब तो हम जैन कहते हैं, कि तिस ही कारण से यानी अपने नियत वाचक शब्द करके नियत अर्थ का ही शाब्द बोध मान लेने से पादप शब्द से वृक्ष अर्थ की प्रतिपत्ति तो शाब्दबोध होवे किन्तु वृक्ष शब्दसे स्थान,कम्प,आदि अर्थोंकी प्रतिपत्ति होरही शब्दजन्या नहीं मानी जाओ क्योंकि वृक्ष पद तो अपने निज अर्थकी प्रतिपत्ति करानेमें ही चारों ओरसे भिड़रहा चरितार्थ होरहा है,जैसेकि परार्थानुमान करने वाले श्रोता को लिंग का वाचक शब्द केवल ज्ञापक हेतु को ही कहेगा साध्य को नहीं । हां पुनः व्याप्ति का ग्रहण कर चुका या नहीं ग्रहण कर चुका पुरुष भले ही अनुमान ज्ञान को उठावे अथवा नहीं उपजावे, लिंग वाचक शब्द को इससे कोई प्रयोजन नहीं है, अतः अर्थापत्त्या गम्यमान होरहे अर्थ को शब्द का वाच्यार्थ मत कहो "वृक्षस्तिष्ठति कानने कुसुमिते वृक्षं लता संश्रिता, वृक्षेणाभिहतो गजो निपतितो वृक्षाय देह्यञ्जलिं । वृक्षादानय मञ्जरीं कुसुमितां वृक्षस्य शाखोन्नता, वृक्षे नीडमिदं कृतं शकुनिना हे वृक्ष किं कम्पसे ।" यहां स्वकीय अर्थों को कहने के लिये सभी वाचक पदों के कण्ठोक्त करने की आवश्यकता है । अतः जब उपज रहे विनश रहे पूर्वापर पदों का अन्वय ही नहीं होसका तो अन्विताभिधान पक्ष कहां ठहरा ? ।

कथमेवं गम्यमानः शब्दस्यार्थः स्यादिति चेत्, न कथमपीति कश्चित्, तस्यापि वाक्यार्थावसायो न शाब्दः स्यात् गम्यमानस्याशब्दार्थत्वात्, वाच्यस्यैव शब्दार्थत्वज्ञानात् ।

अन्विताभिधान वादी प्राभाकार पण्डित पूछता है, कि इस प्रकार स्वकीय अर्थ की प्रतिपत्ति कराने में ही शब्द यदि तत्पर रहेगा तो बिना कहे ही उपस्कार या अर्थापत्त्या जान लिया गया अर्थ भला शब्द का ज्ञेय अर्थ किस प्रकार होसकेगा ? बताओ । यों कह चुकने पर इस तर्क का कोई मध्य में कूद कर यों उत्तर दे देते हैं कि वाचक शब्द से किसी भी प्रकार गम्यमान अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं होसकती है । आचार्य कहते हैं, कि शीघ्र उत्तर देने वाले उस विद्वान् के यहां भी पूरे वाक्य के अर्थ का निर्णय करना बेचारा संकेत ग्रहण-पूर्वक शब्दों से ही उपजा नहीं हो सकेगा क्योंकि गम्यमान होरहे अर्थ तो शब्द का वाच्यार्थ नहीं माना गया है । शब्द के द्वारा अभिधान वृत्ति से वाच्य किये गये अर्थ का ही शब्द कर के ज्ञेय होरहे अर्थ रूप से परिज्ञान किया गया है ।

अर्थात्–वाक्य के क्रम से उच्चारे गये या मीमांसकों के मत अनुसार क्रम से प्रकट किये गये शब्द सभी एक ही काल में तो सुने नहीं जा सकते हैं। आगे पीछे के उच्चारे गये शब्दों का अन्वय करना ही पड़ता है, कहीं कहीं तो "पुष्पेभ्यः" कह देने से ही स्पृहयति क्रिया को बिना कहे ही जान लेना पड़ता है "गंगायां घोषः" का अर्थ तीर शब्द के बिना ही 'गंगा के तीरमें' घोष करना पड़ता है, किसी श्लोक में क्रिया का उच्चारण नहीं मिलने पर क्रिया से कर्त्ता का आक्षेप कर लिया जाता है, क्वचित्–कर्त्ता से क्रियाको गम्यमान कर लेते हैं, 'द्वारं' कहने पर पिधेहि पद का अध्याहार होजाता है, "गौ र्वाहीकः, अन्नं वै प्राणाः, पितरौ, श्वसुरौ,, अथवा "गच्छ गच्छसि चेत् कान्त पन्थानः सन्तु ते शिवाः। ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान्" आदि स्थलोंपर लक्षणा, आसत्ति, व्यंजना, उपचार आदि प्रक्रिया अनुसार जो गम्यमान अर्थ किये जाते हैं,वे कश्चित् विद्वान्के मत अनुसार वाक्यार्थ नहीं समझे जासकेंगे।

द्योत्यविषयभूतयोरपि वाच्यत्वात् शब्दमूलत्वात् वाक्यार्थावबोधः। शाब्द इति चेत्, तत एव गम्यमानोर्थः शब्दस्यास्तु, पादपशब्दोच्चारणानंतर शाखादिमदर्थप्रतिपत्तिवत्तत्स्थानाद्यर्थस्यापि गतेरिति स एवाकृत्या पदार्थप्रतिपत्तिप्रसंगोन्विताभिधानवादिनः पदस्फोटवादिवत्।

यदि कोई विद्वान् यों कहें कि स्यात्, एव, च, चेत्, आदिक निपात शब्दों को कोई कथंचित् अवधारण, समुच्चय, पक्षान्तर आदि अर्थों का वाचक नहीं मानकर उन अर्थों का द्योतक स्वीकार करते हैं, "द्योतकाश्च भवन्ति निपाताः" ऐसा वचन है। "स्यादस्ति जीवः" यहाँ अस्ति शब्द का अर्थ ही कथंचित् अस्ति है फिर भी स्याद्वाद नीति में कुशल नहीं होरहे प्रतिपाद्य के लिये प्रयोक्ता को स्यात् शब्द कहना ही पड़ता है यों द्योत्य भी शब्द का अर्थ माना जाता है, इसी प्रकार कहीं विषय भूत यानी साध्य हो चुका अर्थ भी शब्द का वाच्य मान लिया जाता है, जैसे कि अनुक्त मतिज्ञान में बिना कहे ही शब्दों के अर्थ ज्ञात कर लिये जाते हैं। लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ भी शब्दों द्वारा कहे गये हैं:, अतः वाक्य के अर्थ में पड़े हुये द्योत्य और विषय-भूत अर्थ भी शब्द को मूल कारण मान कर ज्ञात हुये होजाने से शब्द के वाच्य समझे जायेंगे तब तो उच्चार्यमाण शब्दों से ही अध्याहार, उपस्कार, स्मरण, लक्षणा, व्यंजना, संकेत-स्मरण, आकांक्षा, आदि अनुसार हुआ वाक्यार्थज्ञान शाब्द ही कहा जायेगा।

यों कहने पर तो अन्विताभिधान-वादी प्राभाकर कहते हैं, कि तिस ही कारण यानी द्योत्य या विषयभूत को भी शब्द का वाच्य मान्य कर लेने से अर्थापत्त्या या उपस्कार द्वारा जाना गया गम्यमान अर्थ भी शब्द का वाच्यार्थ होजाओ ऐसी दशा में पादप शब्द के उच्चारण पश्चात् हुई शाखा पत्ता आदि वाले अर्थ की प्रतिपत्ति के समान ठहर रहा, कम्प रहा, आदि अर्थों की भी बिना कहे ही ज्ञप्ति होजायगी। अब आचार्य कहते हैं, कि यों इस कारण अन्विताभिधानवादी पण्डित के ऊपर

वही दोष कई बार आवृत्ति से पदार्थों की प्रतिपत्ति होते रहने का प्रसंग आजावेगा जैसे कि वर्णों से अभिव्यंग्य होरहे पद-स्फोट, को कहने वाले वादी वैयाकरण पण्डित के यहां आवृत्ति से पदार्थों की प्रतिपत्ति होजाने का प्रसंग पूर्व में मीमांसकों द्वारा दिया जा चुका है। अर्थात्—तथा सत्यावृत्या सत्या पदार्थ प्रतिपत्तिप्रसंगः आदि ग्रन्थ से जो आपने कहा था उसका प्रतिफल तुम भी झेलो।

किं च, विशेष्यपदं विशेष्यविशेषणसामान्येनान्वितं विशेषणविशेषेण वाभिधत्ते तदुभयेन वा ? प्रथमपक्षे विशिष्टवाक्यार्थप्रतिपत्तिविरोधः। परापरविशेषणविशेष्यपदप्रयोगा-त्तदविरोध इति चेत्, तर्हि-अभिहितान्वयप्रसंगः।

अन्विताभिधान-वादी प्राभाकर को दूषण देते हुये हम जैनों को एक बात यह भी कहनी है कि "देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन" ऐसे प्रयोगों में शुक्लां विशेषण से युक्त होरहा गां यह विशेष्य पद क्या सामान्य रूप से शुक्ल विशेषण से अन्वित होरहे गाय नामक विशेष्य को कह देता है ? अथवा गां यह विशेष्य पद क्या विशेष (खास) विशेषण से अन्वय प्राप्त होचुके गाय विशेष्य को कह रहा है ? किं वा विशेष्य पद उन सामान्य स्वरूप और विशेष स्वरूप दोनों रूप विशेषणों करके अन्वित होरहे विशेष्य गाय का कथन करता है ? बताओ। अन्विताभिधान-वादी यदि पहिला पक्ष ग्रहण करेंगे तब तो वाक्य द्वारा सामान्य विशेषणसे युक्त होरहे विशेष्यकी प्रतीति होगी। उस वाक्य के द्वारा किसी प्रतिनियत विशेषण से विशिष्ट होरहे अर्थ की प्रतिपत्ति होने का विरोध होजायेगा जैसे कि सूखा, रूखा, सामान्य भोजन करने वाला पुरुष विशिष्ट होरहे छत्तीस भोजनों का भोगी नहीं कहा जा सकता है।

यदि वे प्राभाकर पण्डित यों कहें कि विशेषणों के उत्तरोत्तर विशेष अंशों को कहने वाले विशेषण वाचक पदों और उनसे भिन्न पर अपर विशेष्य को कहने वाले विशेष्य पद का प्रयोग कर देने से उस विशिष्ट वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति होजाने का विरोध नहीं आता है। यों कहने पर तो हम जैन कहेंगे कि तब तो तुमको शब्दों करके अभिधावृत्ति द्वारा कहे जा चुके ही अर्थों के साथ अन्य पदार्थों के अन्वय करने का प्रसंग आवेगा, ऐसी दशा में प्राभाकरों के यहां स्वार्थ के साथ शब्द का अभिधान व्यापार होरहा और पदान्तरों के अर्थ के साथ गमकत्व व्यापार होरहा सन्ता अन्वितपना रक्षित नहीं रह सका प्रत्युत भाट्टों का अभिहितान्वय-वाद सिद्ध होगया।

द्वितीयपक्षे पुनः निश्चयासंभवः प्रतिनियतविशेषणस्य शब्देनानिर्दिष्टस्य स्वोक्त-विशेष्येन्वयसंशीतेर्विशेषणान्तराणामपि सम्भवात्। वक्तुरभिप्रायात् प्रतिनियतविशेषणस्य तत्रा-न्वयनिर्णय इति चेन्न, यं प्रति शब्दोच्चारणं तस्य तदनिर्णयादात्मानमेव प्रतिवक्तुः शब्दो-च्चारणानर्थक्यात्।

आचार्य कहते हैं कि वे प्राभाकर पण्डित यदि दूसरा पक्ष ग्रहण करेंगे यानी किसी विशेष विशेषण से अन्वित होरहे विशेष्य वाचक शब्द द्वारा कहा जाना इष्ट करेंगे, तब तो फिर वाक्यार्थ

का निर्णय करना असम्भव है क्योंकि "वृत्तिर्वाधामपरसदृशी" एकीभाव स्तोत्र) वचनों की वृत्ति दूसरों के सदृश हुआ करती है। इसका अभिप्राय यह है कि जैसे दृष्टान्तमें हेतु के साथ साध्य की व्याप्ति को ग्रहण कर अनुमाता पुरुष अन्य स्थानों पर उस हेतु के सदृश दूसरे हेतुओं को देखकर पुन: उस दृष्टान्त में वर्त रहे साध्य के सदृश होरहे सजातीय साध्य का परिज्ञान कर लेता है " व्यक्तिरूपं च निदर्शनं सामान्येन तु व्याप्तिः (परीक्षामुख)। इसी प्रकार व्यवहार कालमें शब्दके साथ वाच्यार्थ का संकेत ग्रहणकर शब्दबोद्धा पुरुष अन्य स्थलोंपर तत्सदृश शब्दोंको सुनकर उस संकेत-गृहीत वाच्यार्थ के सजातीय वाच्यार्थों की प्रतिपत्ति कर लिया करता है. हेतु द्वारा यदि विशेष साध्य का अनुमान हो जाना माना जायेगा तो तृण-सम्बन्धी या पत्तों-सम्बन्धी अग्नि विशेष को साधने वाले सामान्य धूम हेतु के समान वह हेतु भी व्यभिचारी बन बैठेगा इसी ढंग अनुसार सामान्य निरूपक शब्द करके भी यदि विशेष वाच्यार्थों की प्रतिपत्ति की जायेगी तो शुक्ल घोड़ा कहने के लिये प्रयुक्त कर दिये अश्व शब्दके समान वह शब्द भी अतिप्रसग दोषवाला होजायगा। अश्व शब्दसे कर्क (श्वेताश्व) नहीं कहा जाना चाहिये, विशेष वाचक शब्द यदि विशेष को भी कहें तो सामान्य रूप से ही कहते हैं।

बात यह है कि शब्द की वाचकत्व या सूचकत्व शक्ति का उल्लंघन नहीं किया जा सकता है श्री अकलंक देव महाराज ने अष्टशती में कहा है कि शब्दस्य वचन-सूचनसामर्थ्य-विशेषानतिलङ्घनात् संकेतानुभिधानेपि कर्तृकर्मणोः शक्त्यशक्त्योरन्यतरव्यपदेशार्हत्वादयोदारुवज्जलेवनवत्, अतः द्वितीय पक्ष अनुसार विशेष का निर्णय करना असम्भव कहा गया है क्योंकि प्रतिनियत होरहे विशेषण का जब शब्द के द्वारा निरूपण ही नहीं किया जा चुका है तो स्वयं विशेषवाचक गौ इस शब्द से कहे जा चुके सास्नादि वाले गोपिण्ड नामक विशेष्य में अन्वय होने का संशय खड़ा रहता है कि जो गौ कहीं जा रही है वह धौले रग से विशिष्ट है ? अथवा क्या काले, पीले, आदि रंगों से युक्त है ? कुछ निर्णय नहीं हो पाता है जबकि अन्य काले, पीले, व पिलत्व, मुंडत्व, आदि विशेषणों की भी सम्भावना पायी जाती है जैसे कृष्ण, नील, पीत, आदि विशेषण किसी भी शब्द से निर्दिष्ट नहीं किये गये हैं उसी प्रकार विशेष होरहे किसी (खास) शुक्ल विशेषण का भी किसी शब्द से कण्ठोक्त नहीं किया गया है। यदि तुम यों कहो कि वक्ताके हार्दिक अभिप्राय से वहां विशेष्य-वाचक पद में अन्वय कर वाक्यार्थ का निर्णय कर लिया जाता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि जिस श्रोता के प्रति शब्द का उच्चारण किया गया है उस मनः-पर्यय ज्ञानी नहीं होरहे श्रोता को वक्ता के उस अभिप्राय का निर्णय नहीं होपाता है यद्यपि वक्ता को स्वयं अपने अभिप्राय का प्रत्यक्ष ज्ञान है किन्तु स्वयं अपनी आत्मा के प्रति ही तो वक्ता के द्वारा शब्द का उच्चारण किया जाना व्यर्थ है।

स्वयं अपना गाना या स्तोत्र पाठ या मत्रपाठ का श्रावणप्रत्यक्ष करने के लिये भले ही कोई रसिक या पुण्यार्थी पुरुष शब्द का उच्चारण करे किन्तु स्वयं को शब्दबोध करने के लिये कोई ठलुआ नहीं बैठा है जो कि वाचक शब्दो का उच्चारण करता फिरे, प्रत्युत वक्ताका ज्ञान तो वक्ता के उच्चारे

ग ये शब्दों का कारण है अपने बाप कोही बेटा बनाना अनुचित है, हाँ वक्ता के शब्द श्रोता के ज्ञान में निमित्त कारण पड़ जाते हैं, अतः विशेष होरहे विशेषणों से अन्वित हुये विशेष्य को विशेष्य वाचक पद नहीं कह सकता है, अन्विताभिधानवादी अपने पक्ष को लौटा लेवें।

तृतीयपक्षे तु उभयदोषानुषंगः।

 [illegible] प्रसंग आता है "प्रत्येकं यो भवेद् दोष उभयः म कथं नहि" अर्थात्-सामान्य और विशेष दोनों होरहे विशेषण से अन्वित विशेष्य को यदि विशेष्य पद का वाच्य माना जायेगा तो विशिष्ट वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति होनेका विरोध और निश्चयासंभव ये दोनों दोष आकर खड़े होजाते हैं, अतः अन्विताभिधान-वादी के यहाँ गां इस विशेष्य पद के शुक्ल इस विशेषण की विशेष अवस्था या सामान्य अवस्था-अनुसार अन्वितपन का प्रयोग निर्णय नहीं होसका है।

एतेन क्रियासामान्येन क्रियाविशेषेण तदुभयेन चान्वितस्य साधनसामान्यस्याभिधानं निरस्तं।

विशेष्यके ऊपर तीन ढंगों से उठाये गये विशेषण के अन्वित होने के इस खण्डन ग्रन्थ करके अन्विताभिधान-वादी प्राभाकारों के इस निरूपण का भी निराकरण कर दिया गया समझ लो-कि जैसे गां इस पद को शुक्लां इस विशेषण की आकांक्षा होने पर अन्वित करने के लिये तीन विकल्प उठा कर अन्वित होजानेका खण्डन कर दिया गया है उसी प्रकार गां इस साधन-सामान्य का अभ्याज क्रिया के साथ अन्वय करने के लिये आकांक्षी होने में तीन विकल्प उठाये जाते हैं, गां इस कर्मकारक के वाचक पद करके क्या क्रिया-सामान्य से अन्वित हो रहे गाय कर्म का अभिधान किया जाता है ? या गां पद करके क्रिया-विशेषसे अन्वित होरहे साधन-सामान्य का निरूपण किया जाता है ? अथवा क्या क्रिया के आकांक्षी माने गये गां इस कर्म--कारक द्वारा क्रिया-सामान्य गाय का निरूपण किया जाता है ? बताओ। प्रथम पक्ष अनुसार क्रिया सामान्य से अन्वय मानने पर विशेष क्रिया से सहित होरहे विशिष्ट वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति नहीं होसकेगी क्योंकि क्रिया-वाचक पद करके सामान्यक्रिया की ही प्रतिपत्ति हुई थी ऐसी दशा में विशेष ढंगसे घेरलेना रूप क्रिया की प्रतिपत्ति कथमपि नहीं हो सकती है। सामान्य रूप वस्त्र कह देने से ऊन का अंगरखा या लाल पगड़ी नहीं समझ ली जाती है सामान्य गमन कह देने मात्र से नाचना, उछलना, दौड़ना, नहीं उक्त हो जाता है "भ्रमणं रेचनं स्पन्दनोर्ध्वज्वलनमेव च , तिर्यग्गमनमप्यत्र गमनादेव लभ्यते।" यह प्रमाण देना व्यर्थ है। द्वितीय पक्ष ग्रहण करने पर वही विशेषण विशेष्य से विशेष्य का अन्वय मानने पर आया हुआ निश्चय के असम्भव होजाने का दोष यहां भी लग बैठता है जब कि क्रिया-वाचक शब्द ने शब्द-शक्ति का अतिक्रमण नहीं करते हुये क्रिया-विशेषको कहा ही नहीं है। दो मल्लों की केवल लड़ाई का निरूपण करने पर यदि श्रोता उनके दाव, पेच, या अन्य शारीरिक विशेष क्रियाओं को विना कहे यों ही समझ बैठे

तो यह श्रोता को अनधिकार चेष्टा है। व्यर्थ अधिक बोल कर दूसरे का माथा पचाना जैसे दोष है उसी प्रकार नहीं कही गयी यहां वहां की व्यर्थ या असद्भूत बातोंको समझ कर अपना मस्तिष्क नष्ट करना उससे भी बड़ा हुआ दोष है। जैन सिद्धान्तमें द्रव्यहिंसासे भावहिंसाका तीव्र पाप माना गया है। तृतीय पक्ष अनुसार दोनों दोष लागू होजाते हैं अतः कारक-सामान्य का तीनों विकल्पों में क्रिया से अन्वितपना नहीं ज्ञात किया जा सकता है,ऐसी दशा में प्राभाकरोंके अन्विताभिधानवादकी पुष्टि नहीं होसकी, पदों का परस्पर में अन्वय होचुकना कष्ट-साध्य विषय होगया।

क्रियायाश्च साधनसामान्येन साधनविशेषेण तदुभयेन चान्वितायाः प्रतिपादनमाख्याते न प्रत्याख्यात ततो न प्रतिपाद्यबुद्धावन्वितानां पदार्थानामभिधानं प्रतीतिविरोधात्। प्रतिपादकबुद्धौ तु तेषामन्वितत्वप्रतिपत्तावपि नान्विताभिधानसिद्धिस्तत्र तेषां परेणाभिहितानामनन्वयात्।

तथा इसी प्रकार क्रिया-वाचक "अभ्याज,, इस आख्यात पद करके भी साधन-सामान्य या साधन-विशेष अथवा उन दोनों ही करके अन्वित होरही मानी गई क्रिया का प्रतिपादन किया जाना तीनों विकल्पों में निराकृत कर दिया गया है। अर्थात्-अभ्याज इस क्रिया-पद को गौ या देवदत्त इन कर्म-कारक या कर्तृकारक पदों का आकांक्षी होने पर प्रथम पक्ष अनुसार साधन-सामान्य करके अन्वित होरही क्रिया का आख्यात शब्द द्वारा प्रतिपादन करने में विशिष्ट वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति होने का विरोध दोष उपस्थित होजाता है। द्वितीय पक्ष अनुसार साधन-विशेष करके अन्वित होरही क्रिया का आख्यात शब्द द्वारा प्रतिपादन मानने पर वाक्यार्थके निश्चय का असम्भव होजाना दोष तदवस्थ है तथा साधनसामान्य और साधन-विशेष इन दोनों से अन्वित होरही क्रिया का आख्यात शब्द करके प्रतिपादन करना इस तीसरे पक्ष में उभय दोष का प्रसंग आता है, यों आख्यात पद करके तीनों विकल्पों में क्रिया के प्रतिपादन होते रहने का प्रत्याख्यान कर दिया जा चुका है।

तिस कारण सिद्ध हुआ कि प्रतिपादन करने योग्य श्रोता की बुद्धि में अन्वित होरहे पदार्थों का अभिधान नहीं होसकता है जैसा कि प्राभाकरोंने मान रक्खा है क्योंकि इसमें प्रतीतियों से विरोध आता है, हां प्रतिपादक वक्ता की बुद्धि में तो उन अन्वित होरहे पदार्थों के अन्वित होने की प्रतिपत्ति होनेपर भी कोई प्राभाकरों के अन्विताभिधान की सिद्धि नहीं होपाती है, कारण कि प्रतिपादक की उस बुद्धि में दूसरे से कहे जा चुके उन पदार्थों का अन्वय नहीं होरहा है। प्रतिपादकके लिये किसीने शब्द बोले ही नहीं हैं। दूसरी बात यह है कि प्रतिपादक की बुद्धि में पदों का अन्वय होते भी वह श्रोता के काम का नहीं है। एक बात यह भी है कि पद के अर्थमें उत्पन्न हुआ ज्ञान यदि वाक्य के अर्थ का निर्णय करा देवेगा तो चक्षु, रसना, आदि इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ रूप, रस, आदि का ज्ञान भला गन्ध का अध्यवसायी क्यों नहीं होजाय?।

अब इस पर तुम यों कहो कि गंध, स्पर्श आदि का साक्षात्-कर्त्ता न होने से रूप ज्ञान गंध की ज्ञप्ति नहीं करा पाता है, अतः कोई दोष नहीं है, तब तो पदों से उत्पन्न हुआ पदार्थ का ज्ञान भी वाक्यार्थका प्रकाशक नहीं होओ, ऐसी दशामें अन्विताभिधान-वादियों के यहां पदार्थज्ञान किस प्रकार वाक्यार्थ का अध्यवसायी होगा ? । चक्षु आदि का जैसे गन्ध आदि में ज्ञापकत्व सम्बन्ध निर्णीत नहीं है उसी प्रकार पद का वाक्यार्थ के साथ वाच्यवाचक सम्बन्ध नहीं निर्णीत होने से पद की वाक्यार्थ को कहने में सामर्थ्य नहीं है, अतः प्राभाकरों का अन्विताभिधान पक्ष ठीक नहीं है इससे तो भाट्टों का अभिहितान्वयवाद ही कुछ अच्छा जंचता है ।

अत एवाभिहितान्वयः श्रेयानित्यन्ये, तेषामप्यभिहिताः पदार्थाः शब्दांतरेणान्वीयमाना बुद्ध्या वा ? न तावद् ग्रः पक्षः, शब्दान्तरस्याशेषपदार्थविषयस्य कस्यचिदनिष्टेः । द्वितीयपक्षे तु बुद्धिरेव वाक्यं स्यान्न पुनः पदान्येव, ततो वाक्यार्थप्रतिपत्तेः ।

इस ही कारण से यानी प्राभाकरों के अन्विताभिधान पक्ष में कुछ अरुचि होने के कारण यह अभिहित पदार्थों का अन्वय होजाने से ही हमारा अभिहितान्वय-वाद श्रेष्ठ है प्रथम ही पदों करके स्वकीय स्वकीय पदार्थ कह दिये जाते हैं, पश्चात्—उनका अन्वय कर वाक्यार्थ बोध कर लिया जाता है, इस प्रकार कोई अन्य विद्वान् भट्टमतानुयायी कह रहे हैं । भावार्थ—मीमांसकों के भट्ट, प्रभाकर, और मुरारि, ये तीन भेद हैं, शाब्दबोध के विषय में भट्ट और प्रभाकरों का मन्तव्य न्यारा न्यारा है । अभिहितान्वय-वादी भट्ट हैं , और अन्विताभिधान-वादी प्रभाकर हैं, रोटी से दाल खाना या दाल से रोटी खाना और खाकर पढ़ना या पढ़ कर खाना तथा धर्म के लिये जीवित रहना या जीवित रहने के लिये धर्म सेवन एवं आरोग्य लाभ कर चुका पुरुष व्यायाम करता है, या व्यायाम कर चुका पुरुष आरोग्य लाभ करता है, तथैव द्रव्य कर्मोंका उपार्जन कर चुका जीव भाव-कर्मों को करता है, या भाव-कर्मों को कर चुका जीव द्रव्य-कर्मों का उपार्जन करता है । इन विषयों में जैसा स्वल्प या अधिक अन्तर है, उसी प्रकार अभिहितान्वय और अन्विताभिधानमें थोड़ी विशेषता है,कहे जाचुके पदों करके अभिधावृत्ति या अपनी अपनी योग्य लक्षणावृत्ति द्वारा उपस्थित किये गये अर्थोंका अन्वयकर जो वाक्यार्थ-बोध होना मानते हैं वे प्राचीन नैयायिक या भाट्ट तो अभिहितान्वय-वादी हैं । प्रथम "देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन" इस वाक्य के प्रत्येक पद का अर्थ पदों करके कह दिया जाता है, पश्चात् तात्पर्य नामक वृत्ति के वश से उन अभिहित अर्थों का ठीक ठीक अन्वय कर श्रोता को वाक्यार्थ का शाब्दबोध होजाता है । तात्पर्य वृत्ति को मानने वाले नैयायिक पुनः तीसरी व्यंजना वृत्ति को अभीष्ट नहीं करते हैं, "घटं करोति" इस वाक्य का अर्थ तो घट में वत रहे कर्मपन के अनुकूल क्रिया करना समझा जाता है, तहां घट पद का अर्थ घड़ा है और अम् प्रत्ययका अर्थ कर्मपना है, यत्न यद्यपि किसी का अर्थ नहीं है, फिर भी तात्पर्य-वश से इन घट और कृति के संसर्ग-मुद्रा करके वह प्रतिभास-जाता है ।

अतः अभिधा या लक्षणा द्वारा पदों करके पहिले कहे जा चुके पदार्थों का पुनः आसत्ति, योग्यता, आकांक्षा, तात्पर्य अनुसार अन्वय कर शाब्दबोध करना यह भाट्टों या जरन्नैयायिकों के यहां अभिहितान्वय की अन्वर्थ संज्ञा की गयी है। दूसरे गुरु जी माने गये प्रभाकरों का यह अभिप्राय है कि अन्वय स्वरूप वाक्यार्थों को समझाने में भी पदों की शक्ति मानी जाय जैसे कि अभिधा या लक्षणा वृत्ति द्वारा पदों की स्वकीय स्वकीय अर्थ का कथन करने में शक्ति मानी गयी है, क्योंकि व्यवहार करके अन्वित होरहे ही वाक्यार्थका पदों करके उपस्थापन किया जाता है, पदार्थों के अन्वित अर्थ में ही संकेत-ग्राही पुरुष को शक्तिग्रह हुआ है,

उसको स्पष्ट यों समझिये कि एक स्थल पर उत्तम प्रयोजक वृद्ध और मध्यम प्रयोज्य बुड्ढा तथा तीसरा दो वर्ष का बालक बैठा हुआ है, आज्ञा देने वाले उत्तम वृद्ध ने देवदत्त नामक मध्यम बुड्ढे को कहा कि "हे देवदत्त गाय को लाओ" उस वाक्य को समझ कर देवदत्त बुड्ढा बेचारा सींग सासना वाली व्यक्ति का उपस्थित करदेता है। निकट बैठा हुआ बालक उस चेष्टा करके उस वाक्य की गाय को ले आना है, इस अर्थ में बोधकता को ज्ञात कर लेता है। पश्चात्- उत्तम बुड्ढे ने देव दत्त को कहा कि "गौ को ले जाओ और घोड़े को ले जाओ" ऐसा प्रयोग होने पर गाय का ले जाना और घोड़े का ला देना देख कर वह बालक अन्वय, व्यतिरेकों करके ऐसी पद-शक्ति का निर्णय कर लेता है कि कारक पदकी शक्ति तो क्रिया पदके अर्थसे अन्वित होरहे कारक अर्थको समझानेमें है, और क्रिया पद की वाचकत्व शक्ति उन कारक पदोंके अर्थोंसे अन्वित होरही क्रिया को समझाने में है। तिस ही कारण संकेत ग्रहण कर चुके बालक या किसी भी अन्य भाषा का अध्ययन करने वाले जीव को प्रयोग काल में पहिले से ही परस्पर अन्वय प्राप्त कर चुके पदार्थों को बुद्धि उपज जाती है, क्योंकि शाब्द बोध के प्रधान बीज होरहे संकेत ग्रहण को करते समय परस्पर अन्वित होरहे पदों के कथन अनुसार ही शक्तिग्रह हुआ था, उस संतान प्रतिसन्तान से प्राप्त होरही टेव का परित्याग नहीं किया जा सकता है, अतः गौरव भले ही होजाय अन्वय (वंश) के अंश छूटते नहीं हैं, पहिले से ही अन्वित होरहे क्रिया कारकों का बोध उपजता है, पश्चात् शक्तिग्रह होता है। व्यवहार काल में विशेष पदों की निकटता होजाने से तात्पर्य वृत्ति अनुसार अगले, पिछले, पदों की स्मृति कर अन्वित होरहे पदों के अभिधान अनुसार शाब्दबोध होजाता है। पहिले पद अन्वित होकर अन्वित पदार्थों को कहते हुये वाक्यार्थ को समझा देते हैं, इस कारण अन्विताभिधान-वादी प्राभाकारोंका अन्विताभिधान अन्वर्थनामा है।

इस प्राभाकारों के सिद्धान्त में भाट्टों को यह अस्वरस दीखता है कि अन्वित होकर शक्ति मानने पर भी प्राभाकारों को अन्वय विशेष की अवगति करने के लिये आकांक्षा, योग्यता, आदि कारण अवश्य स्वीकार करने पड़ेंगे। उन ही क्लृप्त होरहे आकांक्षा आदि से कार्य चल जाता है, अतः

अन्वित होरहे ही पदार्थों का अभिधान किया जाना पक्ष सुन्दर नहीं है। प्रकरण में यह कहना है, कि प्रतिपाद्य या प्रतिपादक की बुद्धि में अन्वित होरहे पदार्थों का अभिधान प्रतीत नहीं होरहा है, हां अभिहितों का अन्वय कुछ प्रतीत होता है, इस अवसरको अच्छा पाकर झट अन्य विद्वान् भट्ट बोल उठे हैं कि आपको धन्यवाद है, अभिहितान्वय पक्ष अच्छा है।

अब आचार्य कहते हैं, कि उन भट्टानुयायी पण्डितों के यहाँ भी "देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन" इस प्रयोग में देवदत्त आदि पदों करके कहे जा चुके पदार्थ क्या अन्य किसी एक शब्द करके परस्पर अन्वित कर दिये जाते हैं? अथवा क्या वे पदार्थ श्रोता की बुद्धि करके ही परस्पर में अन्वित [illegible] इन में पहिला पक्ष तो ठीक नहीं है क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थों को विषय करने वाले किसी एक अन्य शब्द को इष्ट नहीं किया गया है, अर्थात्-वाक्य में पड़े हुये सभी कारकवाची या क्रिया-वाची शब्द नियत जड़े हुये हैं, अभिहित पदार्थों के अन्वय मिला देने का कारण होरहा कोई शब्द जाना नहीं जाता है, हाँ द्वितीय पक्ष का अवलम्ब लेने पर तो बुद्धि ही वाक्य पड़ता है, अनेक पद तो फिर कथमपि वाक्य नहीं हो सकते हैं, क्योंकि उस बुद्धि से ही वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति हुई है, पदों से नहीं। भाट्टों के यहां अभिहितान्वय करने वाला पदार्थ तो बुद्धि ही नियत रहा।

ननु पदार्थेभ्योपेक्षाबुद्धिसंनिधानात्परस्परमन्वितेभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तेः परंपरया पदेभ्य एव भावात्ततो व्यतिरिक्तं वाक्यमस्तीति चेत्, तर्हि प्रकृतिप्रत्ययेभ्यः प्रकृतिप्रत्ययार्थाः प्रतीयंते तेभ्योपेक्षाबुद्धिसंनिधानादन्योन्यमन्वितेभ्यः पदार्थप्रतिपत्तिरिति प्रकृत्यादिव्यतिरिक्तं पदमपि मा भूत्, प्रकृत्यादीनामन्वितानामभिधाने वाभिहितानामन्वये पदार्थप्रतिपत्तिसिद्धेः।

भाट्टों की ओर से स्वपक्ष का अवधारण किया जाता है, कि आसत्ति, योग्यता, आकांक्षा, तात्पर्य, अनुसार परस्पर अपेक्षा रखरहे पदों को अपेक्षाबुद्धि का सन्निधान होजाने से परस्पर में अन्वित होरहे पदार्थों से जो वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति हुई है, उस वाक्यार्थ ज्ञान की उत्पत्ति सच पूछो तो परम्परा करके पदों से ही हुई है, क्योंकि पदों से ही पदार्थों की प्रतिपत्ति होते हुये वाक्यार्थ ज्ञान हुआ था अतः उन पदों से अतिरिक्त कोई बुद्धि या अन्य पद वाक्य नहीं समझा जाय। यों कहने पर हम जैन कहेंगे कि तब तो प्रकृति या प्रत्ययों से जो प्रकृति और प्रत्ययों के अर्थ प्रतीत होरहे हैं वे ही तो अपेक्षा बुद्धि का सन्निधान होजाने से परस्पर में अन्वित होरहे उन प्रकृति और प्रत्ययों से उपज रहे पदार्थ की प्रतिपत्ति हैं, इस कारण प्रकृति, प्रत्यय, आदि से भिन्न कोई पद भी नहीं होओ क्योंकि प्राभाकरों के मतानुसार प्रथम से ही अन्वित होचुके प्रकृति आदिकों के अभिधान करने पर अथवा भट्ट मतानुसार प्रथम से ही स्वकीय अर्थ सहित कहे जा चुके प्रकृति आदिकों का अन्वय कर लेने पर पदार्थ की प्रतिपत्ति होना प्रसिद्ध है।

अर्थात्-भाट्टों द्वारा बुद्धि से अतिरिक्त पदों को ही वाक्य मानने की रक्षा की जायेगी तो

प्रकृति आदिक से भिन्न पद की भी रक्षा नहीं होसकेगी साथमें मीमांसकों में गुरु मान लिये गये प्रभाकर जी का मत भी अच्छा जंचने लग जायेगा। यहां पर वही किवदन्ती चरितार्थ होजाती है, कि गुरू बन कर बिल्ली ने सिंह को कई विद्यायें या कलायें सिखाई किन्तु अवसर पड़ने पर शिष्य से अपनी रक्षा करने के लिये वृक्ष पर चढ़ जाने की कला नहीं सिखाई। परिशेष में प्रभाकर तो मीमांसकों के गुरु ही ठहरे जब पदों से भिन्न कोई वाक्य नहीं तो प्रकृति, प्रत्ययों से भिन्न कोई पद भी कैसे माना जा सकता है ?

पद के अंश होरहे प्रकृति और प्रत्यय भी तो अपने न्यारे न्यारे अर्थों को कहते हैं, अपत्य, भव, आदि अर्थों को अण् प्रत्यय कहता है, सु का अर्थ कर्ता या एकत्व होजाता है, भू, पच्, आदि प्रकृतियां, भवन, पाक आदि अर्थों में प्रवर्त्त रही हैं, अतः भट्टों का सम्प्रदाय श्रेष्ठ नहीं जंचता है। जिससे प्राभाकरों के सम्प्रदाय को ठेस दी जा सके।

बात यह है,कि वैशेषिकों के यहां आसत्ति ज्ञान,योग्यता ज्ञान,आकांक्षा ज्ञानों को शाब्दबोध का कारण माना है, कोई कोई तात्पर्य ज्ञान को भी शाब्द-बोध में कारण स्वीकार कर लेते हैं. मीमांसक और साहित्यज्ञ विद्वानों का भी कुछ न्यून अधिक ऐसा ही अभिप्राय है, मम्मट भट्ट कवि ने स्वकीय काव्य प्रकाश ग्रन्थ में "तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्", इसके विवरण में अभिहितान्वय वादी और अन्विताभिधानवादियों का यों मत दिखलाया है, कि आकांक्षा, सन्निधि, और योग्यता के वश से अभिधावृत्ति या लक्षणावृत्ति द्वारा कहे चुके पदार्थों का समन्वय करने पर वाक्यार्थ प्रतीत किया जाता है, यह अभिहितान्वयवाद है. और प्रथम से ही अन्वित होरहे पदों का वाच्य ही वाक्यार्थ है, यह अन्विताभिधान वाद है, "आकांक्षासन्निधियोग्यता-वशात् वक्ष्यमाणरूपाणां पदानां समन्वये तात्पर्यार्थः विशेषवपुः अपदार्थः अपि वाक्यार्थः समुल्लसति इति अभिहितान्वयवादिनां मतं वाच्यः एव वाक्यार्थः इति अन्विताभिधानवादिनः"

अभिप्राय यही है, कि आकांक्षाज्ञान आदि को कारण मानतेहुये अभिधा या लक्षणावृत्ति करके पहिले कहे जा चुके पदों का अन्वय करना भट्टों का मत है। और उक्त क्रम अनुसार पहिले अन्वित होचुके पदों का अभिधान होना प्राभाकरों का मन्तव्य है। खाये जा चुके को चाबना या चाबे जा चुके को खाना अथवा श्रद्धान किये जा चुके अर्थ का तत्व ज्ञान करना या तत्व-ज्ञान किये जा चुके अर्थ का श्रद्धान करना इसी ढंगों से उक्त मतों में थोड़ासा अन्तर है, जो कि गम्भीर पर्यवेक्षण करने वालों को भास जाता है।

वैशेषिकोंके यहां इन आकांक्षा आदिके लक्षण यों किये गये हैं.आसत्तिका लक्षण "सन्निधानं तु पदस्यासत्तिरुच्यते" है, जिस पद के अर्थ को जिस पद के अर्थ के साथ अन्वय होना अपेक्षित होरहा है, उन दोनों पदों की अन्तराल रहित होकर उपस्थिति होजाना आसत्ति है, "पदार्थे यत्र तद्वत्ता योग्यता परिकीर्तिता" एक पदार्थमें दूसरे योग्य पदार्थ का अविरोधी सम्बन्ध योग्यता कहा जाता है "यत्-

येन विना यस्यानतुभावकता भवेदाकांक्षा" जिस पद के बिना जिस पद को अन्वयबोध कराने की अनुभावकता नहीं होपाती है, उस पद की उस पद के साथ आकांक्षा मानी जाती है, जैसे कि कारक पद को क्रिया पद की आकांक्षा है, "वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यं परिकीर्तितं" वक्ता की इच्छा तो तात्पर्य [illegible] विशिष्ट होरही व्यक्ति स्वरूप पदार्थ के साथ पद का वाच्य वाचक सम्बन्ध तो अभिधा शक्ति है, अन्वयानुपपत्ति या तात्पर्यानुपपत्ति से सम्भाव्य अर्थ का शक्य अर्थ के साथ सम्बन्ध होजाना लक्षणा है।

प्रकरण में यह कहना है, कि पदों से भिन्न यदि कोई वाक्यार्थ नहीं है, तो प्रकृति, प्रत्ययों से निराला कोई पद भी नहीं है, भट्ट और प्रभाकर दोनों के विचार अनुसार पदार्थ की प्रतिपत्ति होजाना सध जाता है भिन्न भिन्न श्रोताओं को अनेक प्रकार शाब्दबोध होरहे हैं, कहां तक सूक्ष्मता को विचारोगे, व्यर्थ का अड़वंगा लगाना अनुचित है।

स्यान्मतं पदमेव लोके वेदे वार्थ-प्रतिपत्तये प्रयोगार्हं न तु केवला प्रकृतिः प्रत्ययो वा पदादपोद्धृत्य तद्व्युत्पादनार्थं यथाकथंचित्तदभिधानात्तत्त्वतस्तदभावः । तदुक्तं । अथ-गौरित्यत्र कः शब्दः ? गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्ष इति । यथैव हि वर्णो निरंशः प्रकल्पितमात्राभेदस्तथा गौरिति पदमप्यनंशमपोद्धृत्य गकारादिभेदं स्वार्थप्रतिपत्तिनिमित्तमव-सीयते इति ।

यदि मीमांसकों का यह भी मन्तव्य होय कि लोक में अथवा वेद में अर्थ की प्रतिपत्ति कराने के लिये पद का ही प्रयोग करना योग्य है, केवल भू पच्, देव, घट, आदि कोई प्रकृति अथवा सु, तिप्, अण्, आदि कोई भी प्रत्यय तो अकेली नहीं बोली जा सकती है, हां पद से वे प्रकृति, प्रत्यय, विकरण, उपसर्ग, आदिक यद्यपि अभिन्न हैं फिर भी उस पद को व्याकरण शास्त्र द्वारा निष्पत्ति कराने के लिये या बालकों को व्युत्पत्ति कराने के लिये जिस किसी प्रकार उन केवल प्रकृतियों या केवल प्रत्यय को कह दिया जाता है। अर्थात्-पच् धातु से तिप् प्रत्यय लगाकर शप् विकरण करने पर पचति पद साधु बन जाता है। "राज्ञः पुरुषः" ऐसा विग्रह किया पुनः षष्ठी तत्पुरुष समास करते हुये विभक्तियों का लोप कर पश्चात् मृत् संज्ञा कर सु विभक्ति लाकर राजपुरुषः बना लिया जाता है। "स्त्यै शब्द संघातयोः" या स्तृञ् आच्छादने धातुसे ड्रट् प्रत्यय कर पुनः टित्वात् ङी प्रत्यय कर स्त्री शब्द निष्पन्न होजाता है। इत्यादि व्यवस्थायें व्याकरण शास्त्र की प्रक्रिया अनुसार मात्र व्युत्पत्ति करा देने के लिये हैं, वस्तुतः विचारा जाय तो शब्द प्रथमसे ही अखण्ड होकर सिद्ध हैं पाषाणमें उकेरी गई प्रतिमा के अंगोपांग कोई न्यारे न्यारे बना कर नहीं जोड़ दिये जाते हैं

आप जैनों के यहां भी गुणनन्दि आचार्य ने जैनेन्द्र प्रक्रिया में सिद्धधिकार का प्रारम्भ करते हुये "अथ भवामीत्येवमादिकस्य सामान्याकारेण लोके प्रसिद्धेरनुत्पादविगमात्मकत्वादनित्यतामचल-स्वमानस्यान्वाख्यानाय विशेषाकारेण करणसन्निपातोपनीतोत्पादविगमात्मकत्वादनित्यतामादधान-

स्योत्पत्तये च प्रकृत्यादिप्रक्रियावतारो व्यवहारस्वार्थकालकारकसम्प्रतिपत्तये व्याख्येयः " यह बहुत अच्छा कह दिया है। बौद्धों या नैयायिकोंके एक क्षण और दो क्षण तक वर्त रहे क्षणिकत्व तथा मीमांसकों के नित्यत्व एकान्त का प्रत्याख्यान [illegible] कर दिया है। अव्युत्पत्ति पक्ष और व्युत्पत्ति पक्ष में वस्तुतः विचार करने पर पहिला पक्ष ही प्रधान माना गया है, फिर भी अन्त प्रवेश रूप व्युत्पत्ति कराने के लिये वैयाकरणों ने प्रकृति, प्रत्यय, आदि की प्रक्रिया को दर्शाया है अनादिसिद्ध बीजमंत्र में अनन्त शक्ति है, उतनी शक्ति कृत्रिम मंत्रों में शब्दों के नहीं है। पाणिनि आदि वैयाकरणों ने भी " रमन्ते योगिनोऽस्मिन् रमु–घञ्–सु " यों व्युत्पन्न किये गये राम शब्द की अपेक्षा अव्युत्पन्न राम शब्द की अत्यधिक शक्ति स्वीकार की है।

कृत्रिम सौन्दर्य को अकृत्रिम सौन्दर्य की छटा जीत लेती है, वन की शोभा उपवन में नहीं है देवदत्त का निष्प्राण चित्र गृहस्थोचित स्नेह या पुत्रोत्पत्ति का कारण नहीं होसकता है। प्रकरण में यह कहना है कि बालकों को केवल व्युत्पत्ति कराने के लिये अखण्ड पद में प्रकृति, विकरण, प्रत्यय, आदिकी खण्डशः कल्पना कर ली जाती है, वस्तुतः देखा जाय तो उस सामान्य दृष्टि अनुसार उत्पाद विगम से रहित होरहे " भवति, देव, मुनिः, " आदि अव्युत्पन्न अखण्ड पूर्ण स्वरूप, शब्दों की उस प्रकृति प्रत्यय आदि द्वारा व्युत्पत्ति कर देने का अभाव है, वहीं हमारे यहां जैमिनिऋषि प्रणीत मीमांसादर्शन के पांचवें सूत्र के श्री शबर स्वामी विरचित भाष्य में यों कह दिया है कि अब यह बताओ कि गौः यों इस अनुपूर्वी में क्या शब्द विशिष्ट होरहा है इसके उत्तर में भगवान् उपवर्ष नामक ऋषि महाराज यों उत्तर कहते हैं कि गकार, औकार, और विसर्जनीय ये शब्द हैं ये उपवर्ष ऋषि पाणिनीय महाराजके गुरु थे ऐसा कई विद्वानों का मत है अस्तु। बात यह है कि जिसही प्रकार एक अकार या ककार वर्ण नियम करके अंशों से रहित है, मात्रा, उदात्त अनुदात्त, ये सब भेद कल्पित हैं इसी प्रकार कई वर्णों का अखण्ड पिण्ड गौः यह पद भी निरंश है केवल कल्पना द्वारा गकार आदि भेद का अपोद्धार कर यानी पृथग्भाव विचार कर स्वकीय सींग, सास्ना, आदि वाले अर्थ की प्रतिपत्ति का निमित्त हो रहा जान लिया जाता है। यहां तक मीमांसक कह चुके हैं।

तदप्यनालोचितवचनं, वाक्यस्यैव तात्त्विकत्वसिद्धेस्तद्व्युत्पादनार्थं ततोपोद्धृत्य पदानामुपदेशाद्वाक्यस्यैव लोके शास्त्रे चार्थप्रतिपत्तये प्रयोगार्हत्वात्। तदुक्तं। " द्विधा कैश्चित्पदं भिन्नं चतुर्धा पंचधापि वा अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादिति" ततः प्रकृत्यादिभ्योऽवयवेभ्यः कथंचिद्भिन्नमभिन्नं च पदं प्रातीतिकमभ्युपगंतव्यं न पुनः सर्वथा निरंशं वर्णवत्तद्ग्राहकाभावात्। तद्वत्पदेभ्यः कथंचिद्भिन्नमभिन्नं च वाक्यं प्रतीतिपदमारूढमुपगम्यतां।

अब आचार्य कहते हैं कि मीमांसकों का कथन भी नहीं विचारा जा चुका निरूपण मात्र है क्योंकि इस प्रकार तो वाक्य का ही वास्तविकपना सिद्ध होता है, उस वाक्य के अर्थकी ही व्युत्पत्ति कराने के लिये उस वाक्य से अपृथक पदों के पृथग्भाव की कल्पना कर पदों का उपदेश कर दियागया

है। सत्य बात यह है कि लोक में अथवा शास्त्र में अर्थ की प्रतिपत्ति कराने के लिये वाक्य ही प्रयोग करने योग्य है, अकेला पद कुछ भी व्युत्पत्ति नहीं करा पाता है। मीमांसक जैसे वर्णों को अनंश मानते हुये पद को भी निरंश स्वीकार कर लेते हैं इसकी अपेक्षा वाक्य को ही निरंश स्वीकार कर लेना अच्छा जंचता है अर्थमें प्रवृत्ति या निवृत्ति होजाना वाक्य द्वाराही संपाद्य कार्य है वही ग्रन्थोंमें यों कहा जा चुका है कि किन्हीं पण्डितों ने पद के दो भेद कर दिये हैं " सुप्तिङन्तं पद " देवः सर्वस्मै, नद्यां, आदि सुबन्त विभक्ति वाले और पचति गमिष्यति, विपठिषतु, आदि मिङन्त या तिङन्त विभक्ति वाले यों दो प्रकार पद हैं किन्हीं विद्वानों ने पदों के चार प्रकार भेद किये हैं नाम, आख्यात, निपात, कर्मप्रवचनीय, ये चार भेद हैं जिन, चन्द्र, गंगा, ज्ञान, विद्वस्, स्रज, आयुष्, नदी, नीलोत्पल, सौध, आदि शब्द तो नाम पद हैं।

पचति, करोति, पिपतिषति, अरच्यते, बीभीति पुत्रीयति कण्डूयति, पराजयते, उपरमति उच्यते, नीयते, स्थालीपचति आदिक शब्द आख्यात पद हैं। अहो, ई उच्चैस्, नञ्, आदिक निपात पद हैं, लक्षणद्योतक अनु, अधिकद्योतक उपलक्षणद्योतक प्रति, परि आदिक निपात ही कर्मप्रवचनीय इस संज्ञा को धार लेते हैं। अथवा कोई कोई पद को पांच प्रकार भी स्वीकार करते हैं, पदों के उक्त चार भेदों में प्र, परा, उप, सम्, आदि उपसर्ग नामक भेद को बढ़ा देने पर पांच प्रकार के पद समझ लिये जाते हैं, जाति शब्द, गुणशब्द, क्रियावाचक शब्द, संयोगी द्रव्य शब्द, समवायी द्रव्य शब्द, कोई यों भी वाचक शब्द के पांच भेद कर लेते हैं पदों के प्रकार कितने भी मान लिये जाओ सिद्धान्त का विरोध नहीं आना चाहिये।

बात यह है कि कि जैसे अखण्ड पद में से प्रकृति, प्रत्यय, विकरण, आदि का पृथग्भाव कल्पित कर लिया जाता है उसी प्रकार अखण्ड वाक्य से पृथग्भाव की कल्पना कर ही क्रियापद, कारकपद, न्यारे न्यारे गढ़ लिये जाते हैं तिस कारण सिद्ध होजाता है कि पद जैसे स्वकीय अवयव होरहे प्रकृति, प्रत्यय, आगम,आदि कल्पित खण्डोंसे कथंचित् भिन्न है कथंचित अभिन्न है,प्रतीतियोंके अनुसार निर्णीत कर लिया गया ऐसा पद स्वीकार कर लेना चाहिये किन्तु फिर अकार आदि वर्णोंके समान सर्वथा अंशोंसे रहित पद नहीं माना जाय क्योंकि सभी प्रकारोंसे अंश रहित पदके ग्राहक प्रमाणोंका अभाव है तथा उसी पद के समान वाक्य भी अपोद्धृत पदों से कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न होरहा ही प्रतीतियों के समुचित स्थान पर आरूढ़ होरहा स्वीकार कर लेना चाहिये, व्यर्थका वाग्जाल उपयोगी नहीं है।

तच्च द्रव्यरूपं भावरूपं वा एकानेकस्वभावं चिंतितप्रायमिति स्थितमेतच्छब्दवंतः पुद्गला इति। शब्दस्य वर्णपदवाक्यरूपस्यान्यस्य च पुद्गलस्कन्धपर्यायत्वसिद्धेराकाशगुणत्वे नामूर्तद्रव्यत्वेन स्फोटात्मतया वा विचार्यमाणस्यायोगात्।

तथा वह वाक्य द्रव्य स्वरूप और भावस्वरूप यों दो प्रकार का है जो कि एक स्वभाव और अनेक स्वभावोंके साथ तदात्मक होरहा है। पूर्व प्रकरणों में बहुत बार हम इसका चिन्तन कर चुके हैं यहां प्रकरण बढ़ाना द्विरुक्त, त्रिरुक्त पड़ेगा, इस कारण युक्तियों से यह सिद्धान्त अब तक व्यवस्थित हो चुका है कि शब्द पर्यायवाले पुद्गल द्रव्य हैं। अकार, इकार, टकार, आदि वर्णस्वरूप शब्द या शीतल श्रेयान्, जानाति, आदि पदस्वरूप तथा देवदत्तः पठति, जिनदत्तो ग्रामं गच्छति, आदि वाक्य स्वरूप अथवा अन्य भी मेघध्वनि, समुद्रगर्जन, वादित्रनाद, आदि कोई भी शब्द क्यों न होंय उन सभी शब्दों को स्कन्ध-आत्मक पुद्गल द्रव्य का पर्यायपना सिद्ध होजाता है, आकाश का गुण होकरके अथवा अमूर्त्त द्रव्यपने करके तथा स्फोट-आत्मक स्वरूप करके शब्द के विचार किये जाने पर आकाशगुणत्व आदि स्वरूप की घटना नहीं होपाती है अर्थात्-वैशेषिकों के मन्तव्य अनुसार शब्द आकाश का गुण

नहीं सध पाया है। शब्दाद्वैतवादी या वैयाकरणों के अभिप्राय अनुसार शब्द अमूर्त द्रव्य भी नहीं सध सका है, एवं वैयाकरणों के विचार अनुसार शब्द बेचारा नित्य निरंश, स्फोट-आत्मक भी नहीं सिद्ध होसका है।

परमार्थ रूप से विचार होचुकने पर भाषा वर्गणायें या शब्दयोग्य पुद्गल वर्गणायें इन विशेष पुद्गल स्कन्धों की पर्याय होरहा शब्द सिद्ध होजाता है, जैसे कि मनुष्य, तिर्यंच, आदि जीवों का शरीर आहार वर्गणाओं से बनजाता है। तीन लोक में भरी हुई पुद्गल की संख्यातवर्गणा आदि बाईस वर्गणायें और अणुऐं इनमें से किसी का भी बहिरंग इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष नहीं होपाता है, फिर भी कौर, दूध, वायु, जल, इन में दृश्यमान आहार्य पदार्थों में बहुभाग अतीन्द्रिय आहार वर्गणायें पायी जा रहीं मानी जाती हैं, इसी प्रकार जगत् में सर्वत्र शब्द-परिणति-योग्य वर्गणायें भर रहीं हैं, फिर भी वक्ता के मुख प्रदेश या फोनाग्राफ को चूड़ा विशालप्रासाद, विद्युत्तारनाद द्वारा शब्दों को ले जाने वालों तारों के आधार होरहे पोले खम्भे आदि स्थानों पर बहुभाग शब्द योग्य पुद्गल स्कन्धों का सद्भाव माना जाता है, द्रव्यवाक्य और भाव-वाक्य दोनों पौद्गलिक हैं, उपादान पुद्गल स्कन्धों से द्रव्य वाक्य बनाने का निमित्त कारण होरहे तथा उस वीर्यान्तराय, मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण कर्मों के क्षयोपशम और अंगोपांग नामकर्म के उदय से आविष्ट होरहे क्रियावान् आत्मा के प्रयत्न-विशेष या लब्धि विशेषको भाववाक् या भाववाक्य मानते हुये पौद्गलिक कह सकते हैं, यहां तक विस्तार-पूर्वक पौद्गलिक शब्द का अच्छा समर्थन कर दिया है।

कः पुनर्बन्धः ? पुद्गलपर्याय एव प्रसिद्धो येन यंत्रसन्ताः पुद्गला एव स्युरित्यारेका-यामिदमाह।

"शब्दबंध" आदि इस सूत्र के "शब्द" का विवरण हो चुका है, अब विनीतशिष्य क्रम अनुसार प्राप्त हुये बंध की ज्ञप्ति करने के लिये आचार्य महाराज के प्रति प्रश्न उठाता है, कि महाराज यह बताओ कि वह इससे अगला फिर बन्ध क्या है ? जो कि पुद्गल पर्याय ही प्रसिद्ध मान लिया जाये

जिससे कि बंध पर्याय वाले पुद्गल द्रव्य ही होसकें ऐसी शिष्य की आकांक्षा प्रवर्तने पर श्री विद्यानन्द स्वामी इस अगली वार्तिक को कहते हैं।

बन्धो विशिष्टसंयोगो व्योमात्मादिष्वसंभवी।
पुद्गलस्कंधपर्यायः सक्तुतोयादिबन्धवत्॥

आकाश, आत्मा, कालाणुयें, आदि द्रव्यों मे नहीं सम्भव रहा ऐसा जो विशिष्ट संयोग है। जो कि अनेक पुद्गलों में कथंचित् एकत्व बुद्धि का जनक सत्ता है, वह बंध तो पुद्गल स्कन्ध की पर्याय है, जैसे कि पिसे हुये सतुआ, पानी या दूध बूरा आदि का बन्ध होरहा पुद्गल की पर्याय है।

द्रव्ययोरप्राप्तिपूर्विका प्राप्तिः संयोगः स चाविगानसंयुक्तप्रत्ययात्प्रसिद्धः, संयोगमंतरेण तस्यानुपपत्तेः। प्रत्यक्षतः क्वचित्संयुक्तप्रत्ययोऽसिद्धस्तस्य तत्पृष्ठभाविविकल्परूपत्वादिति चेत् न, अगृहीतसंकेतस्यापि प्रतिपत्तुः शब्दयोजनामंतरेण स्वार्थव्यवसायात्मनि प्रत्यक्षे संयुक्तप्रत्ययप्रसिद्धेर्निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य सर्वथा निराकृतत्वात्। तथा दृष्टे क्वचित्संयोगे संयुक्तविकल्पो युक्तो नीलप्रत्ययवत् तस्यासत्यत्वप्रसंगात्। न चासावसत्यो बाधकाभावात्।

परस्पर नहीं मिल रहे दो द्रव्यों की अप्राप्ति-पूर्वक प्राप्ति होजाने को संयोग कहते हैं। शरीर के साथ वस्त्र संयुक्त है, दाल में घृत संयुक्त है, आदिक संयुक्त द्रव्यों को जानने वाली निर्बाध प्रतीतियों से वह संयोग सभी लौकिक या शास्त्रीय जनों में प्रसिद्ध होरहा है, क्योंकि संयोग के बिना उस संयुक्त इत्याकारक ज्ञान की उपपत्ति नहीं होसकती है। यहाँ संयोग तथा किसी भी संसर्ग को वास्तविक नहीं मानने वाले बौद्धों का आक्षेप है, कि कहीं भी प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा संयुक्त ऐसे ज्ञान होने की सिद्धि नहीं होरही है, अतः संयोग पदार्थ असिद्ध है, हां वस्तुभूत स्वलक्षण अर्थ को ग्रहण कर रहे उस निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान के पीछे होने वाले अवस्तु-भूतार्थग्राही विकल्पज्ञान स्वरूप वह संयुक्त प्रत्यय है, एतावता संयोग वास्तविक पदार्थ नहीं बना। ग्रन्थकार कहते हैं, कि यह तो नहीं कहना क्योंकि जिस पुरुष ने संकेत नहीं भी ग्रहण किया है, उस प्रतिपत्ता पुरुष को भी शब्द की योजना के बिना होरहे स्व और अर्थ के निर्णय-आत्मक प्रत्यक्ष में संयुक्त प्रतीति होना प्रसिद्ध होरहा है, बौद्धों के यहां माने गये निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का सभी प्रकारों से पूर्व प्रकरणों में निराकरण किया जा चुका है।

अर्थात्—प्रत्यक्ष के पीछे हुये निर्विषय या कल्पित विषय-वाले माने गये विकल्पज्ञान द्वारा यदि संयोग की प्रतीति मानी जाती तो संकेत ग्रहण करना और संकेत गृहीत हुये शब्दों का सुनना आवश्यक था, संकेत-गृहीता पुरुष को ही शब्दों के सुने जाने पर शाब्दबोध-आत्मक विकल्पज्ञान हुआ करता है। किन्तु पुरुष में दण्ड का संयोग स्पर्शन प्रत्यक्ष से और अन्य इन्द्रियों से भी संयोग प्रतीत होरहे हैं। यहां संकेत ग्रहण या शब्द की योजना करना नहीं है। ज्ञेय अर्थों की विकल्पना कर रहे

सभी ज्ञान सविकल्पक हैं। तथा बौद्धोंके यहां निर्विकल्प प्रत्यक्ष द्वारा देखे जा चुके पदार्थ में ही पश्चात् कल्पनाओं को उठा रहे विकल्प ज्ञान होते माने गये हैं, जब कि कहीं पर संयोग प्रत्यक्ष द्वारा देख लिया जाता तब तो उस संयोगवाले में " संयुक्त है" यह विकल्प करना युक्त होसकता था जैसे कि नील स्वलक्षण को निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से देखे जा चुकने पर पश्चात् " नीलमिदं नीलउत्पलं " ऐसे विकल्प ज्ञान उठ बैठते हैं, यदि विना देखे ही नील का विकल्प ज्ञान उपज जायगा तो उस नील ज्ञान के असत्यपन का प्रसंग आजावेगा किन्तु वह नील ज्ञान असत्य तो नहीं है क्योंकि इस नील ज्ञान का कोई बाधक प्रमाण नहीं है।

अर्थात्—बौद्धों ने तदध्यवसाय करके पूर्व ज्ञान का प्रामाण्य व्यवस्थापित किया है। नील स्वलक्षणको जानने वाले निर्विकल्पक प्रत्यक्षको प्रामाण्य तभी व्यवस्थित होता है। जब कि उस प्रत्यक्ष के पीछे उसी विषय का अध्यवसाय करने वाला विकल्पज्ञान उपज जाय, एक चन्द्रमामें दो चन्द्रमाको जान रहे मिथ्या प्रत्यक्ष के पश्चात् हुये विकल्प ज्ञान करके पहिले प्रत्यक्ष का सत्यपना नहीं व्यवस्थित होपाता है। अतः अबाधित यानी सत्य संयुक्त प्रत्यय से संयोग पदार्थ वस्तुभूत सध जाता है।

ननु च न संयुक्तप्रत्ययः सत्यस्तद्विषयस्य वृत्तिविकल्पानवस्थादिदोषदूषितत्वाद्- अवयविप्रत्ययवदित्येतदस्ति तद्बाधकं। तथाहि—संयोगः स्वाश्रये वर्तमानो यद्येकदेशेन वर्तते तदा सावयवः स्यात्, स्वावयवेषु च स्वतो भिन्नेषु तस्यैकदेशांतरेण वृत्तौ परापरदेशकल्पनेऽनवस्था सर्वात्मना प्रत्येकं तत्र तस्य वृत्तौ संयोगानेकत्वप्रसंगस्तथाप्येकस्मिन् संयोगे संयोगप्रत्ययप्रसंगः। सकृदनेकसंयुक्तप्रत्ययप्रसंगश्च।

"परतंत्र्यं हि सम्बन्धः सिद्धे का परतंत्रता। तस्मात्सर्वस्य भावस्य सम्बन्धो नास्ति तत्वतः" इस अभिप्राय अनुसार सम्बन्ध को परमार्थ नहीं मान रहे बौद्ध अपने पक्ष का अवधारण करते हैं। कि संयोग सम्बन्ध से विशिष्ट होरहे पदार्थ का ज्ञान (पक्ष) सत्य नहीं है, (साध्य) उस ज्ञान के विषयभूत होरहे संयोग की वृत्ति विकल्प, अनवस्था, द्रव्यस्थूलता, साधारणत्व, उपकार्य उपकारक भावधारा आदि दोषों करके दूषित होजाने से (हेतु) अवयवी के ज्ञान समान (अन्वयदृष्टान्त)।

यों यह अनुमान उस संयुक्तप्रत्यय का बाधक है अर्थात्—अवयवों में अवयवी की वृत्ति एक देश से मानने पर वह प्रथम से ही सावयव होरहा माना जायेगा अपने उन अवयवों में भी पुनः एक देश करके वृत्ति मानने पर परापर अवयव देशों की कल्पना करते करते अनवस्था होजायगी। एक एक अवयव में सम्पूर्ण रूप से अवयवी की वृत्ति मानने पर बहुत से अवयवी हुये जाते हैं। इसी प्रकार संयोग में भी उक्त दोष आ जाते हैं। इस बात को यों स्फुटरूप से समझ लीजियेगा कि अपने आश्रय संयुक्त में वर्त रहा संयोग यदि एक देश करके वर्त रहा है। तब तो संयोग सावयव हुआ क्योंकि जो अवयव सहित है, उसी के एक देश या अनेक देश होसकते हैं। और अपने से भिन्न होरहे उन स्वकीय

अवयवों में पुनः उस संयोग की अन्य एक देश करके वृत्ति मानी जायेगी तो यों ही उत्तरोत्तर देशों

की कल्पना करते करते अनवस्था दोष आजायेगा, हां अपने प्रत्येक आश्रय में उस संयोग की वहां सम्पूर्ण अपने शरीर से वृत्ति मानी जायेगी तो संयोगों के अनेकपन का प्रसंग आजावेगा कम से कम दो, तीन, आदि जितने भी संयोगी हैं। उतने ही संयोग बन बैठेंगे और तिस प्रकार होते सन्ते एक एक संयोग में एक एक संयोग ज्ञान के होजाने का प्रसंग आवेगा, साथ ही एक ही बार में उन संयोगों से संयुक्त होरहे पदार्थों को विषय करने वाले अनेक संयुक्त प्रत्ययों के होजाने का भी प्रसंग आजावेगा सम्बन्ध-वादी पण्डित इन अनिष्ट प्रसंगों का निराकरण नहीं कर सकते हैं।

एक बात यह भी है कि एक द्रव्य का दूसरी द्रव्य के साथ आत्मभूत संयोग होजाना मान लेने पर द्रव्य का अणु शरीर स्थूल हुआ जाता है। द्रव्य की असाधारणता पर साधरणता का अधिकार होजायगा, क्षणिक पदार्थ को स्थिर बनने का अवसर दिया जाता है, सम्बन्ध को मान रहे जैनों के यहां अगुरुलघु गुण स्वरूपनिष्ठ हो रहे पदार्थों का उपकार्य उपकारकभाव की कीच में डालकर कैवल्य से वंचित किया जाता है,अतः अवयवी के समान संयोग भी सिद्ध नहीं होसका।

नैकदेशेन वर्तते नापि सर्वात्मना किं तर्हि वर्तत एवेति वायुक्तं प्रकारांतरेण क्वचित्कस्यचिद्वर्तनस्यादृष्टेः। स्वाश्रयाभिन्नरूपस्तत्संयोगिनां चैव प्रत्यासन्नतयोत्पत्तौ न ततोर्थांतरं किंचिदित्येकांतवादिनामुपालंभो न पुनः स्याद्वादिनां, तेषां स्वाश्रयात्कथंचिद्भिन्नस्य संयोगस्याभिमतत्वात्। संयोगिव्यतिरेकेणानुपलब्धेः संयोगस्यातद्भिन्नत्वसिद्धेः, प्राक् पश्चाच्च तदाश्रयद्रव्यसद्भावेपि संयोगस्याभावाचतो भेदस्यापि प्रतीतिविरोधाभावात्।

संयोग सम्बन्ध का प्रत्याख्यान कर रहे बौद्ध ही कहे जारहे हैं कि यदि कोई संसर्गवादी यों व्यर्थ आग्रह करे कि संयोग अपने आश्रय में न तो एक देशसे वर्तता है और सर्व आत्मा करके भी नहीं वर्तता है जैसा कि तुम बौद्धोंने दो विकल्प उठा कर खण्डन किया है तो फिर क्या कैसे वर्तता है। इसका उत्तर राजाज्ञा के समान यही है कि संयुक्त में संसर्ग वर्तता ही है भले ही इन दो के अतिरिक्त तीसरा ढंग होय। बौद्ध कहते हैं कि इस प्रकार संसर्ग-वादियों का कहना युक्ति रहित है क्योंकि एक देश करके या सर्व देश करके इन दो प्रकारों से अतिरिक्त किसी तीसरे प्रकार करके कहीं भी किसी भी पदार्थ का वर्तमान नहीं देखा गया है।

बात यह है कि पूर्व में दण्ड अपने स्थान पर क्षण क्षण में उपज रहा था और पुरुष स्वकीय स्थल पर अपने उत्पाद विनाशों में लवलीन होरहा था पुरुष करके हाथ में दण्ड थाम लेने पर दोनों की प्रत्यासन्न देशों में क्षणिक धारा अनुसार निज निज परिणति होने लगी है और कोई नई बात नहीं हुई है, इधर उधर अस्त व्यस्त बैठे हुये विद्यार्थियों को श्रेणी अनुसार निकट बैठा देने पर उनमें कोई नई परिणति नहीं होजाती है,हुण्डी द्वारा रुपयों के यहां वहां दूर, निकट, चले जाने या चले आने से कोई चांदी के रुपये सोने के नहीं हो जाते हैं, तभी तो वैराग्य भावना को भावने वाले तत्वज्ञानी

पुरुष इन माता, पिता, बन्धुजन, पुत्र, कलत्र, मित्र, धन, शरीर आदि के सम्बन्धों को झूठा विचारते हैं "हम न किसी के कोई न [illegible] वा संवेगवैराग्यार्थं पन्थे पहिय जणाणं जह संजोगो हवेइ खण मित्तं, बंधुजणाणं च तहा संजोगो अद्भुवो होदि" ये वचन जैनों के प्रमाण माने गये हैं।

कहना यह है कि उन संयोग वाले संयुक्त पदार्थों की निकटवर्ती होकर उत्पत्ति होजाने की दशामें संयोग कल्पित कर लिया जाता है वह संवृति रूप संयोग अपने आश्रयों से अभिन्न है उन संयोगियों से कोई सर्वथा भिन्न पदार्थ नहीं है जैसा कि वैशेषिकों या नैयायिकों ने मान रक्खा है। अब आचार्य कहते हैं कि इस उक्त प्रकार एकान्त-वादियों का उलाहना उन्हीं एकान्तवादी बौद्धों के ऊपर पड़ता है किन्तु फिर स्याद्वादियों पर कोई उपालम्भ नहीं आता है क्योंकि उन स्याद्वादियों के यहां अपने आश्रय होरहे संयुक्त पदार्थोंसे कथंचित् भिन्न होरहा संयोग पदार्थ अभीष्ट किया गया है संयोगियों से अतिरिक्त होकर के संयोग की उपलब्धि नहीं होती है, अतः संयोग का उनसे अभिन्नपना सिद्ध होजाता है। हां संयोग होने से पहिले और पीछे अवस्थाओं में उस संयोग के आश्रय होने वाले या होचुके पृथक् पृथक् द्रव्यों का सद्भाव होने पर भी संयोग का अभाव है। अतः उन संयोगके भेद की भी प्रतीति होजाने में कोई विरोध नहीं आता है यों संयुक्तोंसे संयोग कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है, यह जैन सिद्धान्त है।

नन्वसंयुक्तद्रव्यलक्षणाभ्यामुपसर्पणप्रत्ययवशात्संयुक्तयोस्तयोरुत्पत्तेर्नापरः संयोगोऽवभासत इति चेन्न, तयोरसंयुक्तपरिणामत्यागेन संयुक्तपरिणामस्य प्रतीतेः। संयुक्तयोः पुनर्विभागपरिणामवत्। यावेव संयुक्तौ तावुभयोपलब्धौ तावेव च सम्प्रति विभक्तौ दृश्येते इति प्रत्यभिज्ञानात् संयोगविभागाश्रयद्रव्ययोरवस्थितत्वसिद्धेः। न च प्रत्यभिज्ञानमप्रमाणं तस्य प्रत्यक्षवत्स्वविषये प्रमाणत्वेन पूर्वं समर्थनात्।

संसर्ग को नहीं मानने वाले बौद्ध अनुनय करते हैं कि प्रथम नहीं संयुक्त होरहे द्रव्य स्वरूपों से सरपट गमन कराने वाले कारणों के वश द्वारा उन दोनों संयुक्त होचुके द्रव्यों की नवीन उत्पत्ति होजाती है, इस व्यवहित द्रव्यों का निकट होकर उपज जाने से निराला कोई संयोग पदार्थ नहीं प्रतिभासता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि पहिले के असंयुक्त परिणाम का त्याग करके पुनः उन द्रव्यों के होरहे संयुक्त परिणामकी प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा प्रतीति होरही है. पृथक् धरे हुये भोजन, वस्त्र, भूषण, इष्टजन, की अपेक्षा भोजन, वस्त्र आदि के संयुक्त होजाने पर देवदत्त की अवस्था अन्य ही होजाती है जैसे कि पहिले संयुक्त होरहे पदार्थों का पुनः विभाग होजाने पर न्यारी परिणति होरही देखी जाती है, वस्त्र या पुत्र, कलत्र, आदि की वियोग अवस्था में उस संयुक्त अवस्था के परिणामों से न्यारी ही जाति के परिणमन होते हैं, यह बात किसी सहृदय व्यक्ति से छिपी हुई नहीं है, जब संयोग या विभाग न्यारी न्यारी अविभाग प्रतिच्छेदों वाली पर्यायोंको उपजाते है तो संयोग

या विभाग को पदार्थोंका वस्तुभूत परिणाम कहना ही पड़ता है। देखिये ऐसा प्रमाण-आत्मक प्रत्यभि-ज्ञान होता है कि दोनों की उपलब्धि होने पर पहिले जो द्रव्य संयुक्त होगये थे वे ही दोनों द्रव्य वर्तमान समय में तो विभक्त होरहे देखे जा रहे हैं, इस स्थान पर जो कोई नवीन परिणति है वे ही वास्तविक संयोग या विभाग परिणाम हैं। संयोग या विभाग अवस्था में संयोग और विभाग के आश्रय होरहे पति पत्नी, या माता पुत्र, आदि द्रव्यों की तो अवस्थिति पूर्ववत् सिद्ध है तभी तो एकत्व प्रत्यभिज्ञान होसकता है, अतः हर्ष या विषाद के उत्पादक संयोग या विभागके पर्यायों की विशिष्टता उन द्रव्यों में माननी पड़ती है।

यह प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष जैसे अपने विषय में प्रमाण माना गया है उसी प्रकार प्रत्यभिज्ञान का भी अपने नियत विषय में प्रमाणपने करके पहिले समर्थन किया जा चुका है " मतिःस्मृतिः संज्ञाचिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्" इस सूत्र का विवरण देख लिया जाय।

नन्वेवं प्रसिद्धोपि संयोगः कथं व्योमात्मादिष्वसंभवी विशेषपुद्गलेषु सिद्ध्यंद्यतो बन्धः पुद्गलानामेव पर्यायःस्यादिति चेत्, तदेकत्वपरिणामहेतुत्वात्तस्य विशिष्टत्वसिद्धिः सक्तु-तोयादिबंधवत्। नहि यथा सक्तुतोयादीनां संयोगः पिण्डैकत्वपरिणामहेतुस्तथा व्योमात्मादीनां तेषामेकद्रव्यत्वप्रसंगात्। संयोगमात्रे तु सत्यपि न तत्प्रसंगः। पुरुषतदास्तरणवत्। ततोस्ति पुद्गलानां बंधस्तदेकत्वपरिणामान्यथानुपपत्तेः।

यहां कोई प्रश्न करता है, कि इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण या समीचीन युक्तियों से प्रसिद्ध कर दिया गया भी संयोग भला आकाश, आत्मा, आदि में नहीं सम्भव होरहा केवल विशिष्ट पुद्गलों में ही किस प्रकार सिद्ध होसकेगा ? बताओ जिससे कि वह संयोग दोनों की गुणच्युति स्वरूप अवस्था को प्राप्त होकर बन्ध नाम को पा रहा सन्ता पुद्गलों की ही पर्याय होके जो कि सूत्रकार द्वारा कहा गया है। अर्थात्– संयोग तो आकाश और आत्मा का भी है, काल अणुओं का भी परस्पर संयोग है. पुद्गल का भी शुद्ध द्रव्यों के साथ संयोग होरहा है, एतावता ही किसी चमत्कार पर संयोग विशेष को बन्ध मान लेना और उस बन्ध को पुद्गल द्रव्यों का ही परिणाम कहे जाना, ये दोनों बातें कैसे सिद्ध करोगे ?

ग्रन्थकार कहते हैं, कि यों कहने पर तो हम कहेंगे कि एकम–एक होजाना स्वरूप परिणाम का हेतु होजाने से उस संयोग की विलक्षणता सिद्ध है, जैसे कि दो बतनों में न्यारे न्यारे रक्खे हुये सतुआ और जल का पुनः एक कटोरे में संयोग होजाने पर पश्चात् दोनों का एक रस होजाने के कारण घोले गये सतुआ और पानी की बन्ध परिणति ही संयोग की विशिष्टता है, दाल और उसमें डाले हुये मसाले या खोआ और बूरा का संयोग कर बने हुये पेड़ा एवं शीशी में संयुक्त होरहे विष और पी लिये गये विष आदिमें संयोग परिणतिसे हुई बन्ध परिणति न्यारी प्रतीत होरही है, वह बंध पर्याय इन आत्मा, आकाश, आदि द्रव्योंमें नहीं पायी जाती है, देखिये सतुआ पानी, या दूध, बूरा, आदिका संयोग जिस प्रकार

दोनों के पिण्ड की एकत्व परिणति कराने का हेतु होरहा है, उस प्रकार आकाश, आत्मा, या कालाणुओं का मिथः होरहा संयोग बेचारा उनकी पिण्ड बन्ध जाना-स्वरूप एकत्व परिणति का कारण नहीं है, अन्यथा उन आकाश, आत्मा आदि द्रव्यों का भी मिल कर एक द्रव्य होजाने का प्रसंग आजायगा जैसे कि दो परमाणुओं का मिल कर एक अशुद्ध द्रव्य द्व्यणुक स्कन्ध बन जाता है। हां आकाश, आत्मा, आदिकों का केवल कोरा संयोग भले ही होजाय तो भी उस एक द्रव्यपन का प्रसंग नहीं आता है, जैसे कि पुरुष और उसके बिछाने के बिछौना या आसन का केवल संयोग बन्ध नहीं है।

अर्थात्-बन्धपरिणति में दोनों या इससे अधिक द्रव्यों का एक रस होजाता है, जैसे कि कर्मों का संसारी जीव के साथ कथंचित् एकीभाव होरहा है, हां कोरा संयोग होजाने पर आत्मा आत्मा का सिद्धों सिद्धों का अथवा काल अणुओं का मिथः एक रस नहीं होपाता है। इतना अवश्य है, कि संयोग में भी अनेक विशेषतायें दृष्टि-गोचर होरही हैं. देवदत्त के साथ होरहे भूषण के संयोग से वस्त्र का संयोग विलक्षण है, वस्त्र के निमित्त से शरीर में उष्णता उपज जाती है. उष्ण वस्त्र के पहन लेने से और सौड के ओढ़ लेने से तो शरीर अधिक उष्ण होजाता है, भूषणों से आभिमानिक सुन्दरता की कल्पना या धनिक-पन का गर्व भले ही उपज जाय किन्तु वह भूषण के संयोग में पारिणामिक निमित्तता का ज्ञापक नहीं है और यदि किसी स्त्री को भूषणों से ही उक्त परिणाम उपज जांय तो चलो अच्छा हुआ वह भूषणसंयोग भी विशिष्ट परिणतिका निमित्त समझा जायगा, मांगे हुये गहने या मुलम्मा के भूषणों का संयोग वैसी परिणति का कारण नहीं है।

तथा मकराने की शिलाओं पर बैठने से या स्फटिक के स्पर्श से शीतलता उपजती है। हां मकराने के चौकों पर डाभ या पराल का आसन बिछा कर बैठने से शैत्य का प्रभाव अत्यल्प रह जाता है, ऊन या रुई के बने हुये वस्त्रों या आसनों से तो शरीर में उष्णता बढ़ जाती है। तथा कच्ची काली ईंट को पक्का और लाल कर देने वाला अग्नि-संयोग विभिन्न ही है, धीरे से मुक्के को छुआ देने की अपेक्षा बल पूर्वक छुआ दिये गये मुक्के का संयोग विलक्षण है, कान के ऊपर बल से पुकारने करके शब्द द्वारा विशेष आघात प्रतीत होता है, केवल हस्त संयोग की अपेक्षा पूरे शरीर का संयोग विशिष्ट होरहा विलक्षण परिणति का उत्पादक है, माता अपने पुत्र के मस्तक का स्पर्श करती है, शिष्य गुरु जी के चरणों का अपने हाथों से स्पर्श कर संयोग करता है, खाई गई औषधि और छुआई गई औषधि में संयोग द्वारा अन्तर पड़ जाता है, रुपयों के साथ दूसरे रुपयों का संयोग निराला ही है, यों कार्यों के निमित्त होरहे अथवा नहीं भी निमित्त होरहे संयोगों के अनेक प्रकार हैं, जिस कारण से सिद्ध होजाता है, कि पुद्गलद्रव्यों का विशिष्ट संयोग होजाने पर बन्ध परिणाम होजाता है, अन्यथा यानी बन्ध हुये बिना उन पुद्गलों की एकत्व परिणति नहीं होसकती है।

भावार्थ—पुद्गल पुद्गलों का और जीवों के साथ पुद्गलों का ही बन्ध होता है, शेष चार द्रव्यों में संयोग भले ही होय किन्तु बन्ध नहीं होने पाता है, क्योंकि बन्ध होजाने की अन्तरंग कारण

वैभाविक शक्ति का चार द्रव्यों में अभाव है, आत्मा के साथ होरहा कर्म, नोकर्म, का संयोग भी एकी-भाव का सम्पादक होकर पुद्गलों का बन्ध कहा जा सकता है, भले ही वह बन्ध जीव द्रव्य का भी होय हमारे उक्त सिद्धान्त में यानी बन्ध पर्याय वाले पुद्गल स्कन्ध हैं इस सिद्धान्त में कोई क्षति नहीं पड़ती है, पूर्व से बांधे गये कर्मों से जकड़ा हुआ मूर्त जीव ही तो पुनः मूर्त कर्मों से बंधता है, अमूर्त शुद्ध जीव का किसी भी सजातीय, विजातीय द्रव्य के साथ बन्ध नहीं है, अतः मूर्त पुद्गलों का ही बन्ध होजाने के लिये बल दिया गया है।

कस्यचिदवयवद्रव्यस्यैकस्मादनेकपुद्गल परिणामस्यासम्भवादसिद्धस्तदेकत्वपरिणाम इति चेन्न, तस्य प्राक् साधितत्वात्। जीवकर्मणोर्बंधः कथमिति चेत्,परस्परं प्रदेशानुप्रवेशलक्षणैकत्वपरिणामात्तयोरेकद्रव्यानुपपत्तेः "चेतनाचेतनावेतौ बंधं प्रत्येकतां गतौ";इति वचनात्तयोरेकत्वपरिणामहेतुर्बंधोऽस्तीति चेन्न, उपचारतस्तदेकत्ववचनात्। भिन्नौ लक्षणतोत्यंतमिति द्रव्यभेदाभिधानात्। ततः पुद्गलानामेवैकत्वपरिणामहेतुर्बंध इति प्रतिज्ञातव्यं बाधकाभावात् स च स्कंधधर्म एव।

कोई पण्डित बौद्ध मत अनुसार आक्षेप करता है, कि किसी एक अवयव से अन्य किसी एक अवयव द्रव्य का संयोग होकर पुनः अनेक पुद्गलों करके बन रहे एकत्व परिणामका असम्भव है, अतः दो आदि द्रव्यों की एकत्व परिणति होना असिद्ध है, दो, तीन आदि द्रव्य यदि मिलकर एक अशुद्ध द्रव्य बनने लगें तो यों उन्नति करते करते जगत् में एक ही द्रव्य का अद्वैत आजायगा, भेद व्यवहार सब लुप्त होजायंगे किन्तु द्रव्य अवस्थित माने गये हैं, दो का एक बनाना प्रकृति मर्यादा से भी अलीक है, ग्रन्थकार कहते हैं, कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उस अनेकों के एकत्व परिणाम स्वरूप अवयवी को पूर्व प्रकरणों में साधा जा चुका है, यहां पुनः उस प्रक्रिया को दुहराना पुनरुक्त पड़ेगा, अतः "सन्तोष्टव्यं आयुष्मता"। अब पुद्गलों के ही पर्याय होरहे बन्ध का निर्णय होजाने पर कोई प्रश्न उठाता है, कि जीव और कर्मोंका बन्ध भला किसप्रकार होरहा कहा जायगा? बताओ। यों कहने पर आचार्य कहते हैं, कि क्षीर नीर न्याय अनुसार जीव और कर्म नोकर्मों का मात्रपरस्पर में अनुप्रवेश होजाने से उनका बन्ध होजाता है, दोनों द्रव्यों के एकत्व परिणाम का हेतु होरहा बन्ध इनका नहीं होता है, क्योंकि सजातीय पुद्गल पुद्गलों का एकत्व परिणाम होकर एक द्रव्यत्व भले ही होजाय किन्तु विजातीय होरहे जीव और पौद्गलिक कर्म नोकर्मों का बंध कर एक द्रव्य हो जाना नहीं बन सकता है।

यदि कोई पण्डित जैनों के ऊपर यों ग्रन्थ-विरोध या अपसिद्धान्त की बौछार डाले कि जैनों के यहां ग्रन्थों में ऐसा वचन है, कि चेतन अचेतन ये दोनों द्रव्य बेचारे वैभाविक शक्ति या मिथ्यात्व, योग आदि द्वारा हुये बन्ध के प्रति एकपन को प्राप्त होचुके हैं, अतः इस वचन अनुसार जीव और कर्म नोकर्मों के एकत्व परिणति का हेतु होरहा बंधपरिणाम सिद्ध है। आचार्य कहते हैं, कि यह

तो नहीं कहना क्योंकि सर्वथा तत्वान्तर होरहे चेतन अचेतन द्रव्यों का वास्तविक एकत्व परिणाम नहीं होसकता है. हां उपचार से उक्त ग्रन्थ में उनका एकत्व परिणाम होरहा कह दिया है, इस ही कारण से तो आगे चल कर वे चेतन, अचेतन दोनों अपने न्यारे न्यारे लक्षणों से अत्यन्त भिन्न हैं, यों द्रव्य स्वरूप से उनके भेद का कथन किया गया है।

अर्थात्-बंधं पडि एयत्तं, लक्खणदो भवदि तस्स णाणत्तं" जीव और पुद्गल की बन्धी हुई अवस्था में बन्ध की अपेक्षा एकत्व परिणति है, किन्तु उस अवस्था में भी जीव अपने उपयोग लक्षण से और पुद्गल अपने रूप, रसादि लक्षणों से न्यारी न्यारी सत्ता को लिये बैठे हैं, तभी तो मोक्ष होने पर अपनी न्यारी न्यारी सत्ता अनुसार दोनों द्रव्य स्वतंत्र होजाते हैं। अतः सिद्ध है, कि पुद्गल पुद्गलों का एकत्व परिणाम मुख्य है. और जीवों के साथ पुद्गलों का होरहा एकत्व परिणाम उपचरित है। दाल और चावलों की जैसी खिचड़ी बन जाती है, दाल के साथ तांबे के पैसों को मिला देने पर वैसी खिचड़ी नहीं बनती है. हां संसर्ग जन्य थोड़ा पीतल या तांबे का प्रभाव दाल में अवश्य आजाता है, पीतल या कांसे के पात्र में बेसन और खटाई के व्यंजन बिगड़ जाते हैं, सुवर्ण से अतिरिक्त अन्य धातुओं के पात्र में सिंहिनी का दूध बिगड़ (फट) जाता है, तिस कारण सिद्ध है, कि द्रव्यों की एकत्व परिणतिका हेतु होरहा बन्ध तो केवल पुद्गलोंका ही परिणाम है,यह विश्वासकर लेना चाहिये क्योंकि इस सिद्धान्तका बाधक कोई प्रमाण नहीं है,तथा वह बन्ध पुद्गल स्कन्धों का ही है, जीव और पुद्गल के बन्ध को आठमे अध्याय में और परमाणुओं के बन्ध को इसी अध्याय में आगे चलकर "स्निग्धरूक्षत्वाद्बंधः" आदि सूत्रों कर न्यारा कह दिया जायगा। यहां प्रकरण में पुद्गल स्कन्धों के धर्म होरहे बन्ध का प्रतिपादन कर दिया गया है, मूर्तिमान् पदार्थ, पर्याय, स्वभाव, गुण ये सब धर्म कहे जा सकते हैं।

तथैवावांतरं सौक्ष्म्यं परमाणुष्वसंभवि।
स्थौल्यादिवत्प्रपत्तव्यमन्यथानुपपत्तितः ॥ ७ ॥

तिस ही प्रकार यानी शब्द या बन्ध के समान ही मध्यवर्ती अवान्तर सूक्ष्मता को भी समझ लेना चाहिये। वह अवान्तर सूक्ष्मपना परमाणुओं में नहीं सम्भवता है, परमाणुओंमें तो अन्तिम सूक्ष्मपना सुघटित है। यहां पुद्गल स्कन्धों के होरहे परिणामों का निरूपण-अवसर है, अतः स्कन्धों के आपेक्षिक अवान्तर सूक्ष्मपने को स्थूलता, संस्थान, आदि के समान निर्णीत कर लेना चाहिये। साध्य के बिना हेतु का नहीं होसकना स्वरूप अन्यथानुपपत्ति से उपजीवित होरहे सद्धेतु द्वारा नियत साध्य की सिद्धि होजाती है।

यह वार्तिक परार्थानुमान स्वरूप है, स्थौल्यादिवत् के स्थान पर स्थौल्यादि च ऐसा समझ कर सूत्रोक्त सौक्ष्म्य और स्थौल्य, आदि आठों पर्यायों का व्याख्यान हो लिया जान लिया जाय। ग्रन्थकार की ऐसी शैली है, कि अवान्तर सूक्ष्मता को पुद्गल स्कन्धों का पर्याय साधने पर तो स्थूलता

आदि का दृष्टान्त दे देते हैं, और स्थूलता को पुद्गल की पर्याय साध्य करने पर प्रसिद्ध होरही सूक्ष्मता को निदर्शन बना लेते हैं, पक्ष या दृष्टान्त होरहे स्थूलता और सूक्ष्मता में से कोई एक तो किसी अनुमाता के यहां प्रसिद्ध ही है, जिस अनुमाता को दोनों ही प्रसिद्ध नहीं हैं, उसके प्रति तीसरा दृष्टान्त ढूंढ लिया जाता है, यहां प्रकरण में केवल शब्द और बन्ध का व्याख्यान कर अन्य आठ पुद्गल परिणामों को उपरिष्ठात् समझने के लिये ग्रन्थकार का निदेश है, अव्यभिचरित कार्य कारण भाव और ज्ञाप्यज्ञापक भाव में अन्यथानुपपत्ति ही बीज है ।

परमसौक्ष्म्यमणुधर्मस्तेषामणूनां तत एव व्यवस्थानात् सामर्थ्यादपरसौक्ष्म्यं बिल्वाद्यपेक्षया बदरादिषु स्कन्धपरिणामः बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात् स्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवत् शब्दबंधवच्च । द्व्यणुकादिष्वबाह्येन्द्रियग्राह्यमपि सौक्ष्म्यं स्कन्धपर्याय एवापेक्षिकसूक्ष्मात्मत्वाद्बदरादिसौक्ष्म्यवत् ।

सब से उत्कृष्ट होरही यानी परम प्रकर्ष को प्राप्त होरही परम सूक्ष्मता तो अणुओं का धर्म है, तिस ही कारण से यानी अन्तिम सूक्ष्मता की क्वचित् परिनिष्ठा होजाने से ही परमाणुओं की व्यवस्था होजाती है, जैसे कि प्रकृष्यमाण परिमाणकी पराकाष्ठा आकाश में व्यवस्थित होरही है। बिना कहे ही सामर्थ्य से अपर सूक्ष्मता यानी आपेक्षिकसूक्ष्मता भी बिल्व (बेल) आमला आदि की अपेक्षा करके बेर, चना, उड़द, सरसों, आदि पुद्गल स्कन्धों की पर्याय होरही मानी गई है, (प्रतिज्ञा), वहिरंग इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने योग्य होने से (हेतु) स्थूलता, आकृति भेद, अन्धकार, छाया घाम, उद्योत, के समान (पहिला अन्वयदृष्टान्त) और बखान दिये शब्द या बन्ध के समान (दूसरा अन्वय दृष्टान्त) ।

इस अनुमान द्वारा स्थूलता आदि को दृष्टान्त बना कर आपेक्षिक सूक्ष्मता को साध दिया है, दो परमाणुओं के बने हुये द्वि-अणुक और तीन आदि अणुओं से बने त्र्यणुक, चतुरणुक, पंचाणुक आदि स्कंधों के द्वि-अणुक उपयोगी भेद से उपजा हुआ द्वि-अणुक एवं त्र्यणुक, कार्मण वर्गणा, आहारवर्गणा, आदि स्कन्धों में बहिरंग इन्द्रियों से नहीं भी ग्राह्य होरहे सूक्ष्मपन ये (पक्ष) पुद्गल स्कन्धों की ही पर्यायें हैं, (साध्य) उत्तरोत्तर छोटेपन की या एक दूसरे की अपेक्षाओं से उपजे सूक्ष्म-आत्मकपना होने से (हेतु) बेर, मकोय, फालसे, धनिया, साबूदाना, पोस्त, आदि के सूक्ष्मपन समान (अन्वय दृष्टान्त) । इस अनुमान द्वारा आपेक्षिक सूक्ष्मता को पुद्गल स्कन्धों का पर्याय साध दिया है ।

एतेन कार्मणशरीरादौ सौक्ष्म्यस्य स्कंधपर्यायत्वं साधितं । तथास्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्याः स्थौल्यादयः स्कंधपर्यायाः स्थौल्यादित्वादस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यस्थौल्यादिवत् ।

इस उक्त कथन करके ज्ञानावरणादि कर्म स्वरूप कार्मण शरीर अथवा तेजो-वर्गणा निमित तैजस शरीर, वाह्यनिर्वृत्ति स्वरूप अतीन्द्रिय स्पर्शन, आदि इन्द्रियों आदि में वर्त रहे सूक्ष्मपन को

भी पुद्गल-स्कन्धों की पर्यायपना साधा जा चुका समझ लो। बात यह है, कि "परं परं सूक्ष्मम्" इस सूक्ष्मता के प्रतिपादन अनुसार सूक्ष्म जीवों का औदारिक शरीर या देवों के विक्रिया द्वारा बना लिये कतिपय वैक्रियिक शरीर अथवा षष्ठ गुणस्थानवर्त्ती किसी मुनि के हुआ आहारक शरीर आदि में भी अवान्तर सूक्ष्मता पाई जा रही पुद्गल स्कन्धों की पर्याय कही जा सकती है।

देव चाहें तो अपने शरीरको मनुष्य या तिर्यंचों करके देखने योग्य या नहीं भी देखने योग्य बना सकते हैं। धौले, हस्त प्रमाण और सम्पूर्ण अंग उपांग वाले आहारक शरीर का भी बहिरंग इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता है, कतिपय बादर औदारिक शरीर और कुछ वैक्रियिक शरीरों का स्पर्शन आदि इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होजाता है, अकर्मण्य किन्तु लोक दक्ष प्रभु के समान इन्द्रियां भी अल्प कार्यों को कर बहुतसा यश लूटना चाहती हैं, किन्तु अनन्तमे भाग पदार्थों के भी स्पर्श, रस आदि का इन्द्रियों से ज्ञान नहीं होपाता है, तभी तो तत्वज्ञानी पुरुष इन्द्रिय-सम्बन्धी विषयों में अपेक्षा को धारते हुये उस अतीन्द्रिय आत्मीय सुख में लवलीन होजाना अच्छा समझते हैं। तथा एक अनुमान यों भी बना लिया जाय कि हम, तुम, आदि जीवोंकी बहिरंग इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने योग्य स्थूलता आकृति आदि धर्म (पक्ष) पुद्गल स्कन्धों के पर्याय हैं, (साध्य) स्थूलता आदि होने से (हेतु) हम तुम, आदि के ग्रहण करने योग्य घट, पट आदि सम्बन्धी स्थूलता, संस्थान, आदि के समान (अन्वय दृष्टान्त)। इस अनुमान में सामान्य को पक्ष बना कर विशेष को हेतु कह देने से कोई प्रतिज्ञार्थैक-देशासिद्धि दोष नहीं आता है, प्रसिद्ध दृष्टान्त से अप्रसिद्ध पक्ष में साध्य को साध दिया जाता है।

बात यह है, कि इस युग में पुद्गल का चमत्कार बड़ा भारी देखा जा रहा है, यूरोप, अमेरिका के विद्वान् विज्ञान प्रक्रियाओं द्वारा बडे बड़े पुतलीघर, बेतार का तार फोनोग्राफ, लाउड स्पीकर ऐक्सरे, हजारों कोस दूर के गाने सुनने वाले या दूरके फोटो उतारने वाले यंत्र, वायुयान, थर्मामीटर, भूकम्प ज्ञापक यन्त्र, सूर्य शक्ति आकर्षक यंत्र, विष वायु (गैस) उग्रविस्फोटक, ग्रहगतियों के घटीयंत्र, विद्युत् चिकित्सा आदि प्रयोगों करके पुद्गल का चमत्कार दिखला रहे हैं, जो कि सिद्धान्त के सर्वथा अनुकूल पड़ता है। इस प्रकरणमें पुद्गल के परिणाम होरहे शब्द का ग्रन्थकार ने व्याख्यान कर दिया है, दार्शनिक प्रक्रिया से बंध का भी थोड़ा विवेचन किया है, इसी प्रकार शास्त्रीय या लौकिक पद्धतियों से अन्धकार, छाया, भेद, आकृति आदि का भी विशद विवरण होसकता है, बुद्धिमानों को पृथक् प्रदर्शन कराने के लिये संकेत मात्र पर्याप्त है। रंध रहे भात का एक दो चावल देखा जाता है,सभी नहीं।

अब कोई शिष्य पूछता है कि स्पर्श आदि परिणाम वाले कौनसे पुद्गल हैं ? तथा स्पर्श आदि और शब्द आदि दोनों परिणामों वाले भला कौनसे पुद्गल हैं ? बताओ, ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर श्री उमास्वामी महाराज पुद्गलों के प्रकारों का निरूपण करने के लिये अगले सूत्र को कहते हैं।

अणवः स्कंधाश्च ॥ २५ ॥

व्यक्ति रूप से अनन्तानन्त परमाणुयें और अनन्तानन्त स्कन्ध ये पुद्गल के साधारणतया दो प्रकार हैं। अर्थात्—एक वर्ण, एक रस, एक गन्ध, दो स्पर्श. इन गुणों को धार रहा शक्ति की अपेक्षा छह पहलों वाला, चौकोर बर्फी के समान एक प्रदेश अवगाही, हम आदि जनों को अनुमेय, हां सर्वावधि ज्ञानी (गोम्मटसार अनुसार) या केवलज्ञानी महाराज के प्रत्यक्ष योग्य, आत्मादि आत्म-मध्य, आत्मअन्त्य, अतीन्द्रिय, अविभागी, ऐसी पुद्गल द्रव्य परमाणु है। तथा अनेक परमाणुओं का मिल कर सादि बंध अवस्था को प्राप्त हुआ या अनादि से पिण्ड स्वरूप बन्ध रहा अनेक शक्तियों का धारक ऐसा घट, पट स्कन्ध, वर्गणा, आदि भेदों वाला स्कन्ध नामका पुद्गल है। जगत में जीव राशि से अनन्तानन्त गुणे अनेक परमाणुयें और स्कन्ध ठसाठस भरे हुये हैं।

प्रदेशमात्रभाविस्पर्शादिपर्यायप्रसवसामर्थ्येनाण्यंते शब्दन्ते इति अणवः सौक्ष्म्यादात्मादय आत्ममध्या आत्मांताश्च। तथा चोक्तं " आत्मादिमात्ममध्यं च तथात्मांतमतीन्द्रियं। अविभागं विजानीयात् परमाणुमनंशकम् " इति।

केवल एक प्रदेश में ही होने वाले अनेक स्पर्श आदि गुणों की पर्यायों के उत्पादन सम्बन्धी सामर्थ्य करके जो अणन किये जाते हैं यानी शब्द द्वारा कहे जा रहे हैं। इस कारण ये अणु नामक पुद्गल हैं। सूक्ष्मता होने के कारण स्वयं अपना आत्मा ही तो उन परमाणुओं का आदि भाग है। और स्वयं अपना पूराशरीर ही उनका मध्य भाग है, तथा अपना पूरा डौल ही उन परमाणुओं का स्वकीय अन्तिम भाग है। अर्थात्—बात यह है कि परमाणु यदि स्व से छोटे अवयवों करके बना हुआ होता तब तो परमाणु के आदि भाग, मध्य भाग, पिछला भाग, ये न्यारे न्यारे होते किन्तु निरंश एक परमाणु के व्यक्ति रूप से न्यारे न्यारे कई भाग नहीं हैं। शक्ति की अपेक्षा बरफी के समान छह पहल वाली परमाणु के छह भाग माने ही जाते हैं। तभी तो पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊर्ध्व, अधः, इन छहऊ दिशाओं से परमाणु के साथ छह परमाणुयें चिपक जाती हैं। यदि शक्ति की अपेक्षा भी परमाणु निरंश होती तो यहां वहां से छह परमाणु तो क्या अनन्त परमाणुयें भी चुपक कर कभी बड़ा स्कन्ध नहीं बन सकती थीं घट, पट, सुमेरु, आदि बड़े बड़े स्कन्ध भी परमाणु के बराबर होजाते अतः परमाणु की व्यंजन पर्याय छह पहल वाली चौकोर घन आकृति वाली माननी पड़ती है।

आचारसार ग्रन्थ में श्री वीरनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती ने " अणुश्च पुद्गलोऽभेद्यावयवः प्रचयशक्तितः। कायश्च स्कन्धभेदोत्थश्चतुरस्रस्त्वतीन्द्रियः" इस श्लोक द्वारा परमाणु को चतुरस्र यानी सम घन चौकोर बताया है पुद्गल परमाणु को गोल या अण्डाकार माननेपर कालाणुयें और आकाश प्रदेश भी वैसे ही गोल मानने पड़ेंगे गोलमोल पदार्थों से कोई बर्तन ठोस नहीं भर सकता है। बीच में पोल रह जाती है, किन्तु लोकाकाश में आकाश प्रदेशों या कालाणुओं से कोई भी स्थल रीता नहीं

पड़ा है। तथा अलोकाकाश जितना ही लम्बा है, उतना ही चौड़ा है और उतना ही मोटा है। तभी तो आगे चल कर श्री वीरनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती ने "व्योमामूर्तं स्थितं नित्यं चतुरस्रं समं घनं। भावावगाहहेतुश्चानन्तानन्तप्रदेशकं" कहा है। परमाणु भी जितना लम्बा, चौड़ा, चौकोर होगा उतना ही मोटा या ऊंचा भी अवश्य होगा चतुरस्र कह देने मात्र से सम घन चतुरस्र अर्थ तो अर्थापत्त्या-निकल आता है, लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर अनन्तानन्त परमाणुयें बन्धी हुयीं या नहीं बंधी हुयी भी ठहर रही हैं, अतः सूक्ष्म परमाणुओं का अन्य परमाणुओं के साथ सर्वांग संयोग होकर अणु मात्र प्रचय होजाने के भी हम जैन विरोधी नहीं हैं, बड़ी अवगाहना वाले स्कन्धों की उत्पत्ति परमाणु के चौकोर पैल माने बिना हो नहीं सकती है, अतः शक्ति अपेक्षा परमाणु के छह ओर मानने पड़ते हैं। यों व्यक्ति रूप से विचार करने पर परमाणु स्वयं अपना आदि है, आप ही अपना मध्य है, और स्वयं ही अपना अन्तिम भाग है।

तथा वही जैन ग्रन्थों में इस प्रकार कहा गया है, कि विशेषतया परमाणु को यों समझ लिया जाय कि वह स्वयं अपना आदि है, और पूरा शरीर वाला स्वयं अपना मध्य है, तथा स्वयं पूरा का पूरा अपना अन्त है, वहिरंग इन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य नहीं होरहा परमाणु अतीन्द्रिय है, आज तक परमाणु का छोटा विभाग नहीं हुआ, [illegible] परमाणु का खण्ड नहीं होगा, अतः परमाणु अविभाग है, यद्यपि अकृत्रिम प्रतिमायें, सूर्य, चन्द्रविमान, आदि अखण्ड स्कन्ध पदार्थों का भी विभाग नहीं होता है, फिर भी अनादि-निधन अकृत्रिम पौद्गलिक स्कन्धों में से प्रति-समय अनन्तानन्त परमाणुयें निकलते और घुसते रहते हैं, अतः अकृत्रिम प्रतिमा आदि के अंश विद्यमान हैं, किन्तु परमाणु के तो अंश भी नहीं हैं, अतः परमाणु निरंश हैं, यहां तक अणुओं का व्याख्यान समाप्त कर दिया गया है।

स्थौल्यात् ग्रहणनिक्षेपणादिव्यापारास्कंदनात् स्कंधा, उभयत्र जात्यपेक्षा बहुवचनं। अणु-जात्याधाराणां स्कंधजात्याधाराणामवांतरजातिभेदानामनंतत्वात्। अणुस्कंधा इत्यस्तु-लघुत्वादिति चेन्नोभयत्रसर्वभार्थत्वाद्भेदकरणस्य। स्पर्शरसगंधवर्णवंतोणवः, शब्दबंधसौक्ष्म्य-स्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवंतश्च स्कंधा इति। वृत्तौ पुनः समुदायस्यार्थवत्वादवय-वार्थाभावात् भेदेनाभिसंबन्धः कर्तुमशक्यः।

उपस्कार करते हुये निरुक्ति द्वारा अणु शब्दका जैसे अर्थ निकाला है, उसी प्रकार स्कन्ध शब्द की व्युत्पत्ति करते हुये योगरूढ़ि अर्थ निकालते हैं, कि स्थूलता होने के कारण ग्रहण किया जाना उठा कर धर देना, फेंक देना, चाबलेना, ढक देना, आदि व्यापारों का आस्कंदन (युद्ध) यानी उक्त व्यापारों में भिड़ जाने से स्कंध कहे जाते हैं। यहां अणु, स्कन्ध, दोनों में जाति की अपेक्षा बहुवचन कहा गया है अर्थात्-"जातावेकवचनं" गेहूं मद्दा है, घोड़ा शीघ्र दौड़ा करता है, आदि जाति-वाचक शब्दों में एक वचन शोभता है, किन्तु अणुओं और स्कन्धों की जातियां भी अनेक हैं, हां सभी पुद्गलों

का संग्रह करने के लिये साधारणतया अणु और स्कन्ध ये दो भेद होसकते हैं, किन्तु अणु और स्कन्धों के अवान्तर यानी मध्यवर्ती उनकी जाति के भेद प्रभेदों को धारने वाले अणु जाति के आधारभूत और स्कन्ध जाति के आधारभूत पुद्गलों की अनन्तानन्त संख्या है। ऐसी अवस्था में कोई आक्षेप करता है, कि तब तो द्वन्द्व समास कर "अणुस्कंधाः" इतना ही सूत्र कहा जाओ, यों कह देने में लाघव गुण है, अर्द्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः"

ग्रन्थकार कहते हैं, कि यह तो नहीं कहना क्योंकि पृथक् पृथक् जस् विभक्ति वाले पदों का भेद करना तो उक्त दोनों सूत्रों में इस सूत्र का क्रम से सम्बन्ध करने के लिये है, "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः" इस तेईसवें सूत्र का अणवः के साथ सम्बन्ध किया जाय और "शब्दबंधसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च" इस चौवीसमे सूत्र का स्कंधाश्च के साथ यों अन्वय किया जाय। अर्थात्-स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, वाले अणु पुद्गल हैं, और शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, घाम, उद्योत, पर्यायों वाले स्कन्धपुद्गल हैं, इस सूत्र में पड़े हुये चकार से शब्द आदि पर्यायों वाले स्कन्धों को परमाणुओं के समान स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णों से सहितपना भी उक्त होजाता है, ये सभी पुद्गलों के सहभावी पर्याय हैं। यदि द्वन्द्व समास वृत्ति कर दी जाती तो फिर समासित पद में समुदाय ही अर्थवान् होता "समुदायो ह्यर्थवानेकदेशोऽनर्थकः" समुदित अर्थ की प्रधानता होजाने से अकेले अकेले अवयव का अर्थ अन्वित नहीं होपाता, ऐसी दशा में तेईसमे और चौवीसमे सूत्रों का यहां भेद करके दोनों ओर सम्बन्ध नहीं किया जा सकता है, अतः सूत्रकार ने लाघव को तुच्छ समझ कर प्रभूत प्रमेय की प्रतिपत्ति कराने के लिये समास नहीं कर प्रव्यक्त सूत्र कहा है।

किं पुनरनेन सूत्रेण कृतमित्याह।

यहां कोई जिज्ञासु पूछता है, कि श्री उमास्वामी महाराजने इस सूत्र करके फिर क्या प्रमेय अर्थ की सिद्धि की है ? बताओ, ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर श्री विद्यानन्द आचार्य इस उत्तर वार्त्तिक को कहते हैं।

अणवः पुद्गलाःकेचित्स्कंधाश्चेति निवेदनात्।
अण्वेकांतः प्रतिक्षिप्तः स्कंधैकांतश्च तत्त्वतः ॥ १ ॥

कोई तो पुद्गल अनेक अणुस्वरूप हैं, और कितने ही अनन्तानन्त पुद्गल स्कन्ध स्वरूप हैं, इस प्रकार सूत्रकार द्वारा निवेदन कर देने से बौद्धों का वस्तुतः केवल परमाणुओं के ही एकान्त वाद का प्रतिक्षेप (खण्डन) कर दिया गया है, और तात्विक रूप से माने गये केवल स्कन्धों के एकान्त का भी निराकरण कर दिया है। भावार्थ-जगत् में न तो केवल परमाणु ही हैं, न केवल स्कंध ही हैं, किन्तु पांच द्रव्यों के साथ छठा पुद्गल द्रव्य भी है, जो कि परमाणु और स्कन्ध इन दोनों भेदों में विभक्त होरहा व्यक्ति रूप से अनन्तानन्त संख्या वाला है। सांख्य जन आत्मा और प्रकृति इन दो

तत्वों को मानते हैं, ईश्वर-वादी कोई सांख्य के एक देशी पण्डित ईश्वर को भी तीसरा तत्व मान बैठे हैं, इनके यहां आत्मा भी परमाणु स्वरूप नहीं है, तथा सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुण, की साम्य अवस्था स्वरूप प्रकृति भी परमाणु रूप नहीं है, अतः प्राकृतिक पदार्थों को एकान्ततः स्कन्ध स्वरूप ही इन्हें मानना पड़ेगा, अतः इस सूत्र द्वारा सांख्यों के स्कन्ध एकान्त का भी प्रत्याख्यान कर दिया जा चुका है ।

न ह्यणव एवेत्येकांतः श्रेयान् स्कंधानामध्यक्षबुद्धौ प्रतिभासनात् । तत्र तत्प्रतिभासस्य भ्रांतत्वे बहिरंतश्च परमाणूनामप्रतिभासनं न प्रत्यक्षमभ्रांतं स्यात् । स्वसंवेदनेपि संविन्परमाणोरप्रतिभासनात् । तथोपगमे सर्वशून्यतापत्तिरनुमानस्यापि परमाणुग्राहकस्याभावात् भ्रांतात्प्रत्यक्षतः कस्यचिल्लिंगस्याव्यवस्थितेः कुतः परमाण्वेकांतवादः पारमार्थिकः स्यात् ? ।

अन्तरंग या वहिरंग सभी पदार्थ अणु स्वरूप ही हैं, यह एकान्त करना श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष बुद्धि में स्कन्धों का प्रतिभास होरहा है, घट, पट पुस्तक, पर्वत, आदि पिण्डों का बालकों को भी प्रत्यक्ष अवलोकन होता है, यदि उन अवयवी पदार्थों में होरहे उस स्कन्ध के प्रतिभास का भ्रान्त होना कहा जायेगा तब तो वहिरंग और अन्तरंग परमाणुओं का प्रतिभास नहीं होने के कारण कोई भी प्रत्यक्ष अभ्रान्त नहीं होसकेगा। भावार्थ बौद्धों के यहां अन्तरंग आत्म-तत्व माने गये क्षणिक विज्ञान स्वरूप परमाणुओं का तो वैसे ही अतीन्द्रिय सूक्ष्म होने से प्रत्यक्ष नहीं होसकता है, अत एव वहिरंग स्वलक्षण परमाणुओं का भी प्रत्यक्ष नहीं होपाता है, ऐसी दशा में किसी भी परमाणु का प्रत्यक्ष नहीं होसका, यदि किसी ने बलात्कार से परमाणु वधूटी के अतीन्द्रिय घूंघट में छिपे हुये मुख का दर्शन कर भी लिया तो प्रत्यक्ष भ्रान्त ही होगा, समीचीन प्रमाण स्वरूप नहीं ।

तथा स्कन्धों के प्रत्यक्षों को तो बौद्ध अपरमार्थभूत होने के कारण भ्रांत कह ही रहे हैं, ऐसी दशा में जगत् के प्राणिओंका कोई भी प्रत्यक्ष भ्रांति-रहित यानी प्रामाणिक नहीं होसका, सभी प्रत्यक्ष भ्रान्त होगये अब प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रवृत्ति के बिना, टोंटे लंगड़े पुरुष के समान बौद्ध किसी भी अर्थ-सिद्धि पर नहीं पहुंच सकेंगे क्योंकि सभी के यहां तत्व-व्यवस्थायें प्रमाणमूलक मानी गयी हैं बौद्धों ने प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो ही प्रमाण माने हैं, अनुमान का बीज प्रत्यक्ष है, यदि प्रत्यक्ष को भ्रान्त मान लिया जायगा तो बौद्धों के भी तत्व बालू की भींत पर चित्रित होरहे कल्पित ठहर जायेंगे बौद्धों के यहां माने गये स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष में भी विज्ञान परमाणुओं का प्रतिभास नहीं होने पाता है, ऐसी दशा में बौद्धों के अंगीकृत इन्द्रिय प्रत्यक्ष, मानस प्रत्यक्ष, स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष, और योगि प्रत्यक्ष, इन चारों प्रत्यक्षों का भ्रान्तपना होचुका। यदि जिस प्रकार प्रत्यक्षों का भ्रान्तपना स्वीकार कर लेंगे तब तो बौद्धों के यहां सबके शून्य होजाने का प्रसंग आजावेगा अनुमान प्रमाण भी किसी तत्व को नहीं साध सकता है ।

सौत्रान्तिक बौद्धों ने सभी अन्तरंग, बहिरंग, स्वलक्षणों को वस्तुतः परमाणु स्वरूप मात्र रक्खा है, सूक्ष्म, असाधारण, क्षणिक, मान लिये गये अतीन्द्रिय परमाणुओं का ग्रहण करने वाले (के लिये) बेचारे अनुमान प्रमाण का भी सद्भाव नहीं है, क्योंकि अनुमान में पड़े हुये हेतु का प्रत्यक्ष होना चाहिये, भ्रान्त होगये प्रत्यक्षों से किसी भी ज्ञापक हेतु की व्यवस्था नहीं होसकती है। ऐसी दशा में बौद्धों के यहां केवल परमाणुओं का ही एकान्त पक्ष पकड़े रहना भला किस प्रमाण से वास्तविक सिद्ध होसकेगा ? अर्थात्-परमाणुओं का ही एकान्त करना ठीक नहीं है।

स्कन्धैकांतस्तर्हीति चेन्नायि न सम्यक् परमाणूनामपि प्रमाणसिद्धत्वात्। तथाहि-अष्टाणुकादिस्कंधो भेद्यो मूर्तत्वे सति सावयवत्वात् कलशवत् योऽसौ तद्भेदाद्भेदांतोंशोऽवयवः स परमाणुरिति प्रमाणसिद्धाः परमाणवः स्कंधवत्।

कोई विद्वान् कहते हैं कि परमाणुओं के एकान्त-वाद में अनेक दोष आते हैं, अतः सम्पूर्ण पदार्थों को स्कन्ध स्वरूप ही माना जाय, परमार्थ रूप से स्कन्धों का एकान्त ही होओ। आचार्य कहते हैं, कि यह एकान्त भी समीचीन नहीं है क्योंकि जगत् में परमाणुओं की भी प्रमाणों से सिद्धि होचुकी है। इसको और भी यों स्पष्ट कर समझ लीजियेगा कि आठ अणुओं का बना हुआ अष्टाणुक या सात अणुओं का सप्ताणुक आदि स्कन्ध (पक्ष) भेद यानी विदारण करने योग्य है (साध्य) मूर्त होते सन्ते सावयव होने से (हेतु) घट के समान (अन्वयदृष्टान्त)। उन अष्टाणुक आदि स्कन्धों का भेद होते होते अन्त में जो कोई वह प्रसिद्ध, निरंश, अवयव उपजेगा वही परमाणु है इस प्रकार स्कन्धों के समान परमाणुयें भी प्रमाण से सिद्ध होजाती हैं। अर्थात्—अष्टाणुक को चाहे चार द्व्यणुकों से या दो त्र्यणुकों और एक द्व्यणुक से, अथवा आठों ही अणुओं से, एवं एक सप्ताणुक और एक अणु से तथा एक षडणुक और एक द्व्यणुक आदि किसी भी ढंगों से बना लिया जाय पुरुषार्थ से कोई जीव इन द्व्यणुक, त्र्यणुक, आदि को नहीं बनाते हैं। जैसे कि काठ कपास, माटी, चांदी, अन्न को कोई बढ़ई, कोरिया, कुम्हार, सुनार, बनिया, नहीं बना सकते हैं। मेघ, विद्युत्, आन्धी, उल्का, आदि के समान न जाने किन किन निमित्तों अनुसार ये अतीन्द्रिय हो रहे द्व्यणुक आदि स्कन्ध उपज जाते हैं।

छः पैल वाली बीचली परमाणु के साथ छह छः दिशाओं से छः परमाणुयें चिपट जाते हैं। बन्ध होजाने पर उन सातों का एक सप्ताणुक अवयवी बन जाता है। कभी एक ही ओर से सात परमाणु चुपट जाते हैं, तो भी अष्टाणुक बन सकता है, उस सप्ताणुक स्कन्ध में ही पुनः एक परमाणु बन्ध जाय तो भी अष्टाणुक स्कन्ध बन जाता है। वैशेषिकों की यह प्रक्रिया जैन सिद्धान्त में इष्ट नहीं की गई है। कि थान में यदि एक तन्तु भी आकर मिलेगा तो सब का सब पचास गज का थान नष्ट होजायगा और पुनः मिलाये गये उस छोटे से डोरे को साथी बना कर अवयवों द्वारा पुनः नवीन थान बनाया जायेगा एवं पचास गज के थान में से एक अंगुल भी सूत निकालने पर भी दूसरा थान

नवीन बनेगा परमाणु का भी विश्लेश होजाने पर द्वयणुक का नाश होजाने पर त्र्यणुक का नाश होते होते महापट का नाश होजावेगा पुनः परमाणुओं में क्रिया द्वारा द्वयणुक आदि की सृष्टि होते होते नवीन महापट की उत्पत्ति होगी, वही पट है, यह प्रत्यभिज्ञान तो सादृश्य मूलक माना जायेगा।

जैसे कि वही दीप कलिका है, यहां सजातीय अन्य कलिकाओं में भ्रान्तिवश एकत्व प्रत्यभिज्ञान होगया है। सत्य बात यों है कि वैशेषिकों की यह प्रक्रिया कोरा ढोंग है इस में कोई प्रमाण नहीं है। अतः इसका खण्डन प्रसिद्ध ही है। हां परमाणुओं की सूक्ष्मता चमत्कार है स्थूल बुद्धि वाले जीवों के ग्रहण, आकर्षण, धारण, आदि प्रवृत्ति निवृत्ति के उपयोगी व्यवहारों में आरहा सब से छोटा पिण्ड भी अनन्तानन्त परमाणुओं का पुंज है। देखिये यहां अब लोक व्यवहार में बाल का अग्रभाग बहुत छोटा टुकड़ा समझा जाता है जो कि अनन्तानन्त परमाणुओं के पिण्ड होरहे उत्संज्ञासंज्ञा नामक पुद्गल स्कन्ध से ८×८×८×८×८×८×८×८=१६७७७२१६ एक करोड़ सरसठ लाख सतत्तर हजार दो सौ सोलह गुणा बड़ा है। अब बताओ कितने ही सूक्ष्म यन्त्र से बालाग्र को देखाजाय जो कि वंश केश के अग्र भाग को पर्वत के समान भी बड़ा दिखा दे फिर भी सप्ताणुक, अष्टाणुक, कोट्यणुक, स्कन्धों का बहिरंग इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होसकता है. जब कि दृश्यमान बड़े बड़े पर्वत या समुद्र तो बालाग्र से संख्याते गुणे ही हैं हां स्वयंप्रभ पर्वत या स्वयम्भूरमण समुद्र भले ही बालाग्र से असंख्यातगुणा हैं। किन्तु परमाणु, अष्टाणुक, कोट्यणुक से बालाग्र तो अनन्तानन्त गुणा है ऐसी दशा में कार्यान्यथानुपपत्ति से ही छोटे छोटे अवयवों का अनुमान द्वारा साध दिया जाता है। आगम प्रमाण तो सभी के गुरु हैं।

प्रकरण प्राप्त इस अनुमान में केवल मूर्तत्व ही हेतु कहा जाता तो परमाणु करके व्यभिचार होजाता क्योंकि स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, वाली परमाणु मूर्त है। किन्तु पुनः भिन्न होकर टुकड़ा करने योग्य नहीं है। सावयव कह देने से परमाणु करके आये व्यभिचार का निवारण होजाता है। हां यदि सावयवत्व ही हेतु कह दिया जाता तो आकाश, आत्मा, आदि, अखण्डनीय पदार्थों से व्यभिचार दोष आजाता प्रदेशों वाले आकाश आदिक सावयव होते हुये भी भेदने योग्य नहीं हैं, अतः मूर्तत्व विशेषण देना आवश्यक होजाता है। मूर्त होते हुये अवयव सहितपन हेतु से अष्टाणुक, सप्ताणुक, पंचाणुक, चतुरणुक, त्र्यणुक, द्वयणुक, स्कन्धों का भेद होना साध दिया जाता है। पर्वत, घट, पट, आदि का फटना, फूटना, तो प्रसिद्ध ही है, किन्तु परमाणु की सिद्धि कराने में विशेष उपयोगी नहीं है।

बात यह है, कि पर्वत आदि बड़े बड़े अवयवियों के टूटे फूटे हुये टुकड़े भी स्कन्ध रूप होवे हैं, यद्यपि जैसे वस्त्र को फटकारने पर धूल झड़ जाती है, उसी प्रकार घट आदि के टूटे हुये भाग से अनन्त परमाणुयें भी झड़ पड़ती हैं, तथापि उन स्थूल पिण्ड होरहे टुकड़ों की गणना में विचारी अतीन्द्रिय परमाणुओं को कौन पूंछता है?

अकृत्रिम चैत्यालय, सूर्य, पर्वत, घट, पट, आदि अवयवियों से अनन्तानन्त परमाणुयें तो

वैसे ही सदा निकलते प्रविशते रहते हैं, अतः बड़े अवयवियों के टूटने पर बिखर गये परमाणुओं की विवक्षा नहीं की गयी है, हाँ आठ अणुओं के पिण्ड अष्टाणुक, या सात अणु के बने हुये सप्ताणुक आदि को विभक्त किये जाने पर परमाणु स्वरूप टुकडा होजाना झट इति लक्ष्य होजाता है, अन्न की ढेरी में से हाथ डाल कर सेरों अनाज के पिण्ड उछाले जाँय तो बहुत से अन्न सम्मिलित होकर भी गिर पड़ते हैं, हाँ आठ या सात ही धान्य बीजों को उछाला जाय तो कई बीज अकेले भी प्रमाण गोचर होजाते हैं, इस हार्दिक भाव के अनुसार ग्रन्थकार ने घट, कपाल, कपालिका, आदि स्कन्धों का विदारण होना साध कर अष्टाणुक, सप्ताणुक आदि स्कन्ध का भेदने योग्य-पना साधा है, जो कि परमाणुओं के सद्भाव का परिज्ञापक है ।

अब यहां कोई जिज्ञासु शिष्य मानो पूंछता है, कि यह अणुस्वरूप और स्कन्ध स्वरूप जो पुद्गलों का परिणाम बत रहा है, [illegible] उत्पत्ति स्वरूप होने से अणुओं और स्कन्धों सादि माना जायगा तो बताओ किस निमित्त कारण से ये उपजते हैं ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इन पुद्गलों की उत्पत्ति में निमित्त होरहे कारणों की सूचना करने के लिये इस अगले सूत्र को कह रहे हैं ।

भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते ॥ २६ ॥

चीरना, फाड़ना, टूटना, फूटना, नासना, दलना, कूटना आदि छिन्न भिन्न करना स्वरूप भेद से और मिलजाना चिपटजाना, बंधजाना ढलजाना, घुलजाना, पिण्डी-भूत होजाना, आदि न्यारे न्यारे पदार्थों को कथंचित् एकत्वापत्ति स्वरूप संघात से तथा कतिपय अन्य अंशों का भेद और साथ ही दूसरे कतिपय अंशों का संघात इन तीन कारणों से पुद्गल (स्कन्ध) उत्पन्न होते हैं ।

संहतानां द्वितयनिमित्तवशाद्विदारणं भेदः, विविक्तानामेकीभावः संघातः द्वित्वाद्द्विवचनप्रसंग इति चेन्न, बहुवचनस्यार्थान्तरज्ञापनार्थत्वात् भेदेन संघातः इत्यस्याप्यविरोधः ।

परस्पर मिलकर संघात को प्राप्त होचुके स्कन्धों का पुनः अन्तरंग, बहिरंग, इनदोनों निमित्त कारणों के वश से विदीर्ण होजाना भेद है, और पृथग्भूत अनेक पदार्थों का कथंचित् एक होजाना संघात है । यदि यहां कोई यों पूंछे कि भेद और संघात तो दो ही हैं, अतः द्वित्व की विवक्षा अनुसार "भेदसंघाताभ्यां" यों केवल द्विवचन होना चाहिये सूत्रकार ने भ्यस् विभक्ति वाले बहुवचन का प्रयोग क्यों किया है ? आचार्य कहते हैं, कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यहां विशेष अर्थ को ज्ञप्तिकराने के लिये बहुवचन कहा गया है, तिस कारण भेद के साथ युगपत् होरहा संघात इस तीसरे कारण को भी पकड़ लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है, अर्थात् जैन सिद्धान्तमें तीनोंको स्कन्धका कारण इष्ट किया है, पत्थर में से कुछ टुकड़ों का छिन्न, भिन्न कर प्रतिमा उकेर ली जाती है, चून में पानी डाल कर पिण्ड

बना लिया जाता है, तथा जल में औषधिओं का क्वाथ करते समय अग्नि द्वारा जल का कुछ भाग जल कर विदीर्ण होजाता है, और कुछ भाग औषधियों का जल में आकर उसी समय मिलजाता है, यों एक काढ़ा नामक पेय औषधिस्कन्ध बन जाता है जो कि अग्निसंयोग को निमित्त पाकर हुई औषधिओं और जल की तीसरी ही अवस्था है।

उत्पूर्वः पदिर्जात्यर्थस्तेनोत्पद्यंते जायंत इत्युक्तं भवति तदपेक्षो हेतुनिर्देशो भेदसंघातेभ्य इति निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां प्रदर्शनाद्भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्त इति।

पद गती धातु से पूर्व में उत् उपसर्ग लगा देने पर उसका अर्थ जन्म होजाता है, तिस कारण सूत्र के उत्पद्यन्ते इस पद द्वारा 'उत्पन्न होजाते हैं" यह अर्थ कहा जा चुका हो जाता है, उपजना क्रिया को किसी हेतु की अपेक्षा है, अतः उस उत्पद्यन्ते की अपेक्षा रखता हुआ "भेदसंघातेभ्यः" यह पंचमी विभक्ति वाले हेतु का निर्देश कर दिया "जनि कर्तुः प्रकृतिः" वैयाकरणों का निमित्त या

कारण अथवा हेतुओं में सम्पूर्ण विभक्तियों के होजाने का आदेश है "हेतौ हेत्वर्थे सर्वाः प्रायः" धर्मेण हेतुना, धर्माय हेतवे, धर्माद्धेतोः, धर्मस्य हेतोः, धर्मे हेतौ, वर्तते, ऐसे प्रयोग मिलते हैं। "निमित्तपर्याय-प्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनं", अतः हेतु अर्थों में सभी विभक्तियों का प्रदर्शन होजाने से यहां प्रकरण में सूत्रकार ने पंचमी विभक्ति को कहते हुये "भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते" यों सूत्र कहा है, ज्ञापक हेतु या कारक हेतु दोनों में पंचमी विभक्ति अधिक शोभती है।

ननु च नोत्पद्यंतेऽणवोऽकार्यत्वादगनादिवदिति कश्चित्, स्कंधाश्च नोत्पद्यन्ते सतामेव तेषामाविर्भावादित्यपरः। तं प्रत्यभिधीयते।

यहां किसी एकान्त-वादी पण्डित के स्वपक्ष का अवधारण है, कि परमाणुयें (पक्ष) नहीं उपजती हैं, (साध्य) किसी भी कारण के द्वारा बनानेयोग्य कार्य नहीं होने से (हेतु) आकाश, आत्मा, आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त)। इस प्रकार कोई नैयायिक या वैशेषिक पण्डित कह रहा है, तथा कोई दूसरा पण्डित यों भी कह रहा है, कि स्कन्ध (पक्ष) नहीं उपज रहे हैं, (साध्य) क्योंकि अनादि काल से सद्भूत होरहे स्कन्धों का ही अभिव्यंजक कारणों द्वारा आविर्भाव होजाता है, (हेतु) रात्रि में देखे जा रहे तारागण के समान (अन्वयदृष्टान्त)। इस प्रकार दूसरे किसी सांख्य पण्डित का कहना है। अर्थात्-परमाणुओं को वैशेषिक नित्य द्रव्य मानते हैं, अतः परमाणुओं की उत्पत्ति नहीं होसकती है, एवं परमाणुओं को नहीं मान कर प्राकृतिक नित्य स्कंधों का ही आविर्भाव तिरोभाव माननेवाले सांख्योंके यहां स्कन्धोंकी कथमपि उत्पत्ति नहीं मानी गयी है, इन दोनों पण्डितों के प्रति अब ग्रन्थकार करके वार्त्तिक द्वारा समाधान कहा जाता है उसको आप सज्जन भी सुनें—

उत्पद्यंतेणवः स्कन्धाः पर्यायत्वाविशेषतः।
भेदात्संघाततो भेदसंघाभ्यां चापि केचन (संघाताभ्यां च केचन)॥१॥

इति सूत्रे बहुत्वस्य निर्देशाद्वाक्यभिद्गतिः ।
निश्चीयतेन्यथा दृष्टविरोधस्यानुषंगतः ॥२॥

परमाणुयें और स्कन्ध (पक्ष) उपजते रहते हैं,(साध्य) विशेषताओं करके रहित होरहा पर्यायपना होनेसे (हेतु) इस अनुमान द्वारा अणुओंके समान स्कन्धोंकी या स्कन्धोंके समान पुद्गलपरमाणुओं की अथवा परमाणु और स्कन्ध दोनों की उत्पत्ति होना सिद्ध कर दिया है, कई अणुयें या स्कन्ध तो [illegible] कोई कोई स्कन्ध बेचारे मिश्रण होजाने रूप संघात से उत्पन्न होजाते हैं, तथा कतिपय स्कन्ध तो एक साथ हुये कुछ पिण्डों के भेद और कुछ पिण्डों के संघात से आत्मलाभ करते हैं। इस प्रकार सूत्र में "भेदसंघातेभ्यः" यों बहुवचन का निर्देश किया गया है, अतः १ भेद से उत्पन्न होते हैं, २ संघात से उपजते हैं, ३ भेद और संघात दोनों से उपजते हैं। यों भिन्न भिन्न तीन वाक्यों की ज्ञप्ति होजाना निर्णीत कर लिया जाता है। अन्यथा यानी इन तीन के सिवाय अन्य किन्हीं एक, दो, या चार, पांच, प्रकारों से अणुओं या स्कन्धों की उत्पत्ति मानी जायगी तो प्रत्यक्ष प्रमाणों से ही विरोध आजाने का प्रसंग आवेगा जब कि प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा या युक्तियों से भी तीन ही प्रकारों करके पुद्गलों की उत्पत्ति होना जगत्-प्रसिद्ध होरहा है. ऐसी दशा में अन्य किसी प्रकार को अवकाश नहीं मिलता है।

स्कंधस्यारंभका यद्वदणवस्तद्वदेव हि ।
स्कंधाणूनां भिदारंभनियमस्यानभीक्षणात् ॥३॥

नैयायिक या वैशेषिकों ने अणुओं को स्कन्ध का उत्पादक जैसे मान लिया है- उस ही प्रकार स्कन्ध भी छिन्न भिन्न होजाने से अणुओं की उत्पत्ति कराने वाला है, परमाणुओं या स्कन्ध के आरम्भ करने वाले न्यारे न्यारे विजातीय कारण होंय या इन दोनों में से किसी एक स्कन्ध की तो उत्पत्ति मान ली जाय और परमाणुओं की उत्पत्ति नहीं मानी जाय ऐसे पक्षपातपूर्ण नियम कर देने का दर्शन नहीं होरहा है, अतः स्कन्धों के समान परमाणुयें भी स्कन्धों के भेद से उपज जाती हैं, यों स्वीकार कर लो। यद्यपि जगत् में अनन्तानन्त परमाणुयें ऐसी हैं, जो कि अनादि काल से परमाणु अवस्था में ही निमग्न हैं, वे स्कन्ध से उपजी हुई परमाणुयें नहीं हैं, तथापि स्कन्धों से परमाणुओं की उत्पत्ति होजाने के सिद्धान्त मे कोई क्षति नहीं पड़ती है, अनन्तानन्त अकृत्रिम स्कन्ध भी तो परमाणुओं से नहीं उपजे हुये जगत् में अनादि काल से स्कन्ध पर्याय में ही लवलीन होरहे हैं, एतावता परमाणुओं और स्कन्धों के होरहे मिथःकार्य कारण भाव की अक्षुण्ण रक्षा होजाती है, कार्यकारणभाव की मनीषा इतनी ही है, कि नवीन ढंग से जो परमाणुयें उपजेंगी वे विदारण करने से ही निपजेंगी तथा जो स्कन्ध नवीन रीति से आत्मलाभ कर रहे हैं वे भेद, संघात और भेदसंघात इन तीन प्रकारों से ही उपजते हैं, अन्य कोई उपाय नहीं। "चतुर्थी नैव कारणम्"।

उत्पद्यन्तेऽणवः पुद्गलपर्यायत्वात् स्कन्धवत् । न हि पार्थिवादिपरमाणवोपि पृथिव्यादिद्रव्याण्येव, पृथिव्यादिपरमाणुस्कंधद्रव्यव्यक्तिषु पृथिवीत्वादिप्रत्ययहेतोरूर्ध्वतासामान्याख्यस्य पृथिव्यादिद्रव्यस्य व्यवस्थापनात् । ततो न तेषां पर्यायत्वमसिद्धं ।

परमाणुयें (पक्ष) उपजती हैं, (साध्य) पुद्गल की पर्याय होने से (हेतु) स्कन्ध के समान (अन्वय दृष्टान्त)। यहां वैशेषिकों का यह मन्तव्य होसकता है, कि पृथिवी परमाणुयें तो पृथिवी द्रव्य ही हैं, जल परमाणुयें जल द्रव्य ही हैं, तैजसपरमाणुयें तैजसद्रव्य ही हैं, वायवीय परमाणुयें वायु द्रव्य ही हैं, ये चारों जाति की न्यारी न्यारी परमाणुयें कथमपि पर्याय नहीं हैं, हां इन चारों द्रव्यों के बने हुये पृथक् पृथक् शरीर, इन्द्रिय और विषय इन तीन भेदों अनुसार अनित्य स्कन्ध अनेक हैं, जो कि स्कन्ध पर्याय स्वरूप ही हैं, द्रव्य नहीं हैं । इस मन्तव्य का प्रत्याख्यान करते हुये ग्रन्थकार कहते हैं, कि प्रथम तो पृथिवी, जल, आदि चार जाति की न्यारी न्यारी परमाणुयें ही नहीं हैं, एक रूप, एक रस, एक गन्ध और दो स्पर्श गुणों को धारने वाला एक एक परमाणु होकर यों एक ही प्रकार की अनन्तानन्त पुद्गल परमाणुयें हैं, भिन्न भिन्न वृक्षों में प्राप्त हुये मेघ जल के समान वे परमाणुयें न्यारे न्यारे स्कन्धों में परिणत हुईं अनेक अर्थक्रियाओं को कर देती हैं ।

दूसरी बात यह है, कि पार्थिव, जलीय, आदि परमाणुयें भी केवल पृथिवी द्रव्य, जल द्रव्य आदि द्रव्य स्वरूप ही नहीं हैं, परमाणुयें भेद होजाने से उपज रही पर्यायें भी हैं, यों द्रव्यदृष्टि से या सदृश परिणाम स्वरूप द्रव्यत्व जाति पर लक्ष्य देकर विचारा जाय तो स्कन्ध भी द्रव्य होजाते हैं। परमाणुओं ने ही द्रव्यपने का ठेका नहीं मोल ले लिया है । वैशेषिकों ने भी स्कन्ध को द्रव्य मान लिया है, पृथिवी परमाणुयें और घट, पट, आदि पार्थिव स्कन्धों इन द्रव्य-व्यक्तियों में ये पूर्वापर परिणाम पृथिवी है, ये पृथिवी हैं, इत्यादि अन्वयरूप से ज्ञान कराने के कारण होरहे ऊर्ध्वतासामान्य नामक पृथिवी द्रव्य को पूर्व प्रकरणों में व्यवस्था कराई जा चुकी है ।

अर्थात्-"परापरविवर्तव्यापि द्रव्यमूर्द्ध्वता मृदिव स्थासादिषु" कालत्रय सम्बन्धी अनेक विवर्तों में पृथिवीत्व या द्रव्यत्व नामके ऊर्ध्वता सामान्य ठहर रहे हैं, इसी प्रकार पहिले पिछले कालोंमें बतरहे जल आदि के व्यक्तिरूप से परमाणु द्रव्यों और स्कन्ध द्रव्यों में जलत्व, तैजसत्व आदि अन्वय ज्ञानों के हेतु होरहे ऊर्ध्वता सामान्य इस संज्ञा के धारी जल आदि द्रव्यों की व्यवस्था कर दी गई है, तिस कारण स्कन्धों में भी कथंचित् द्रव्यपना सिद्ध है, तिस ही कारण उन परमाणुओं का पर्यायपना असिद्ध नहीं है, अनेक कालों में उपज रहे परमाणु विवर्तों में तभी तो एक द्रव्य की अनेक भूत, वर्तमान, भविष्य परिणतिओं में ठहरने वाला ऊर्ध्वतासामान्य बत रहा है, अतः परमाणुओं की उत्पत्ति होना सधै जाता है, जैनों का पुद्गल पर्यायत्व हेतु पक्ष में ठहर गया, यह हेत्वाभास नहीं है ।

परमाणूनां कारणद्रव्यत्वनियमादसिद्धमेवेति चेन्न, तेषां कार्यत्वस्यापि सिद्धेः ।

यथैव भेदात् संघाताभ्यां च स्कंधानामुत्पत्तेः कार्यत्वं तथाणूनामपि भेदादुत्पत्तेः कार्यत्वसिद्धेर-न्यथा दृष्टविरोधस्यानुषंगात् । न हि स्कंधस्यारंभकाः परमाणवो न पुनः परमाणोः स्कंध इति नियमो दृश्यते, तस्यापि भिद्यमानस्य सूक्ष्मद्रव्यजनकत्वदर्शनात् भिद्यमानपर्यं-तस्य परमाणुजनकत्वसिद्धेः ।

यहां कोई वैशेषिक आक्षेप करता है, कि परमाणुयें कारण द्रव्य ही हैं, ऐसा नियम है, पर-माणुयें किसी के कार्य होरहे नहीं हैं, अतः परमाणुओं के कारण द्रव्यपने का नियम होजाने से जैनों का परमाणुओं में उत्पत्ति को साधने के लिये दिया गया पुद्गल पर्यायत्व हेतु असिद्ध हेत्वाभास ही है। ग्रन्थकार कहते हैं, कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उन परमाणुओं का कार्यपना भी सिद्ध है, देखो जिस प्रकार भेद से या संघात से अथवा भेद-संघात, दोनों से उत्पत्ति होजाने के कारण स्कन्धों का कार्यपना प्रसिद्ध है, तिसी प्रकार अणुओं का भी छिन्नता से भिन्नता से उत्पत्ति होजाने के कारण कार्यपना सिद्ध है, अन्यथा यानी ऐसा नहीं मान करके अन्य प्रकारों से यदि परमाणुओं को सर्वथा नित्य ही माना जायगा तो प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा देखी जा रही पदार्थ व्यवस्था से विरोध ठन जाने का प्रसंग आजावेगा। बालक बालिका भी पिंड के छिद, भिद जाने से छोटे छोटे टुकड़ों की उत्पत्ति होरही को देखते हैं, इसी तारतम्य अनुसार टुकड़े होते होते अन्त में जाकर सब से छोटे टुकड़े हुये परमाणु पर विश्राम करना पड़ेगा तरतमभाव से हुआ प्रकर्षमाणपना कहीं अन्त में जाकर अवश्य विश्राम लेता है, उपजे हुये छोटे अवयव का विश्रान्तिस्थल परमाणु है।

वैशेषिकों के यहां स्कन्ध के आरम्भ तो परमाणुयें मान लिये जावें किन्तु फिर परमाणु का आत्म-लाभ कराने वाला स्कन्ध नहीं माना जाय यह कोई नियम अच्छा नहीं देखा जाता है, जबकि मूसल, चाकी, मोंगरा, आदि भेदक कारणों से भेदे जा रहे उस स्कन्ध को भी सूक्ष्म द्रव्य का जनकपना देखा जारहा है, उत्तरोत्तर भेदा जा रहा पदार्थ पर्यन्त अवस्था में परमाणु तक पहुँच जाता है, अतः भेद को ही परमाणु का जनकपना सिद्ध हुआ। यहां अशुद्ध द्रव्य या वैशेषिकों के मत अनुसार अथवा ऊर्ध्वता सामान्य की प्रक्रिया अनुसार परमाणु को द्रव्य कह दिया गया है, जीव आदि द्रव्यों के समान जब वास्तविक पुद्गल द्रव्य को जताया जायेगा तो पुद्गल परमाणुओं पर ही दृष्टि ठहर जायेगी पुद्-गल की स्वाभाविक शुद्ध परिणति परमाणु द्रव्य में होरही निर्णीत कर ली जाती है, इस सूत्र द्वारा पुद्गलों की उत्पत्ति का समीचीन परामर्श करा दिया गया है।

उक्त सूत्र द्वारा सामान्य रूप करके अणुओं और स्कन्धों की भेद या संघात अथवा एक समय में होरहे दोनों भेद संघातों से उत्पत्ति होजाने का प्रसंग प्राप्त होने पर विशेष प्रतिपत्ति कराने के लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

भेदादणु ॥ २७ ॥

केवल भेद से ही अणु की उत्पत्ति होती है। संघात या भेद-संघात दोनों से अणु नहीं उपज

पाती है अर्थात्—"सिद्धे सत्यारम्भो नियमाय" पूर्व सूत्र करके सभी पुद्गलोंकी उत्पत्ति प्रतीत होचुकी थी पुनः सूत्रकार करके जो इस सूत्र का प्रारम्भ किया गया है, वह नियम करने के लिये ही समझा जायेगा, नवीन मुख्य अर्थ की ज्ञप्ति तो पहिले सूत्र से ही होचुकी थी।

सामर्थ्यादवधारणप्रतीतेरेवकाराऽवचनं। अभक्षवत्। यस्मात्।

बिना कहे ही अर्थापत्ति की सामर्थ्य से अवधारण (नियम) करने की प्रतीति होजाती है, अतः सूत्र में अन्ययोग का व्यवच्छेद करने वाले एवकार का कण्ठोक्त निरूपण नहीं किया है। जैसे कि अप् भक्षण, में एव लगाने की कोई आवश्यकता नहीं दीखती। अर्थात्—कोई सज्जन पुरुष कहता है कि आज अष्टमी के दिन हमने अनुपवास किया है, जल पिया है, यहां ही को लगाये बिनाही नियम अर्थ निकल आता है। जब कि अन्न, खाद्य, स्वाद्य पेय, इन चारों प्रकारके भोजनों को करने वाला भी जल पीता है, ऐसी दशा में जल पीने का निरूपण करना व्यर्थ पड़ता है किन्तु वह सज्जन जल भक्षण कर रहा है अतः जलों का ही भक्षण माना जाता है, उस सज्जन ने शेष चार प्रकार की भुक्तियों का परित्याग कर दिया है। बंगालमें स्वल्प खाकर पानी पी लेने को या कलेऊ कर लेने को "जल खाइया छी" कहते हैं इस उत्तर देश में ल के साथ भक्षण क्रिया का जोड़ना खटकता है, यों अप् भक्षण से बिना कहे [illegible] मध्यान्ह का पूर्ण भोजन और सायंकाल के अवमोदर्य भोजन का व्यवच्छेद होजाता है, जिस कारण से कि।

भेदादणुरिति प्रोक्तं नियमस्योपपत्तये।
पूर्वसूत्राततोऽणूनामुत्पादे विदितेपि च॥ १॥

यद्यपि "भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते" इस पहिले सूत्र से ही उस भेद करके अणु का उत्पत्ति होना ज्ञात होचुका था तथापि नियम करने की सिद्धि करने के लिये सूत्रकार ने भेद से अणु उपजता है, यों यह सूत्र बढ़िया कह दिया है अर्थात्—पूर्व सूत्र से भेद करके अणू की उत्पत्ति होना कहा जा चुका है किन्तु "एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः" इस परिभाषा अनुसार साथ में संघात और भेद-संघातों से भी अणू का उपजना कहा जा सकता है जो कि इष्ट नहीं है। अतः भेद से ही अणू की उत्पत्ति का नियम करने के लिये ही यह सूत्र बनाना पड़ा।

अणवः स्कंधाश्च भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्त इति वचनात्स्कंधानामिवाणूनामपि तेभ्य-उत्पत्तिविधानान्नियमोपपत्त्यर्थमिदं सूत्रं भेदादणुरिति प्रोच्यते। तस्मात्भेदादेवाणुरुत्पद्यते न संघातात्भेदसंघाताभ्यां वा स्कंधवत्। भेदादणुरेवेत्यवधारणानिष्टेश्च न स्कन्धस्य भेदादुत्पत्तिनिवृत्तिर्भेदादेवेत्यवधारणस्येष्टत्वात्।

भेद और संघात तथा भेद-संघात दोनों इन तीन उपायों से अणुयें और स्कन्ध उत्पन्न हो जाते हैं। इस पूर्व सूत्र के वचन से ही स्कन्धों के समान अणुओं का भी उन तीनों उपायों से उत्पत्ति

होजाने का विधान होचुका है, फिर भी नियम की सिद्धि कराने के लिये "भेदादणुः" यों यह सूत्र बढ़िया कहा जा रहा है जिस कारण सिद्ध होजाता है कि भेद से ही परमाणु उपजता है संघात अथवा भेदसंघातों से परमाणु नहीं उपजता है। जैसे कि तीनों से या भेद से अथवा भेद संघातों से स्कन्ध उपजता है (व्यतिरेक दृष्टान्त)। भेद से अणु ही उपजे ऐसा अयोग व्यवच्छेदक नियम करना इष्ट नहीं है। अतः भेद से स्कन्ध की उत्पत्ति होजाने की निवृत्ति नहीं होसकी हां भेद से ही अणु की उत्पत्ति होना इस पूर्व अवधारण को इष्ट किया गया है उत्तरवर्ती अवधारण करना ठीक नहीं है।

अर्थात्—एवकार तीन प्रकार का है जो कि अयोगव्यवच्छेद, अन्ययोगव्यवच्छेद और अत्यन्तायोगव्यवच्छेद इन तीन अर्थों में प्रवर्त रहा है "पार्थ एव धनुर्धरः" यहां विशेष्य के साथ लग रहा एव अर्जुन से भिन्न वीरों में प्रकृष्ट धनुर्धरपने का व्यवच्छेद कर देता है "शंखः पाण्डुर एव" यहां विशेषण के साथ जुड़ रहा एवकार शंख में पाण्डुरत्व के अयोग का व्यवच्छेद कर देता है "नीलं सरोजं भवत्येव" यहां क्रिया के साथ लग रहा एवकार कमल में नीलत्व के अत्यन्त अयोग का व्यवच्छेद करता है। तब तो कहीं नीला और क्वचित् पीला, लाल आदि भी कमल होता है यह सध जाता है, प्रकरण में "भेदात् अणुः" यहां पंचमी विभक्ति का अर्थ हेतुत्व मान लिया तो "भेदहेतुका या उत्पत्तिस्तत्प्रतियोगी अणुः" यों शाब्दबोध होगा अतः "भेद-हेतुक एव अणुः" यह विशेषणसंगत एवकार लगाना अच्छा दीखता है, भेदहेतुकः अणुरेव यह विशेष्य संगत एव अन्ययोगव्यवच्छेदक ठीक नहीं। पहिले यही एवकार इष्ट किया गया है, विवक्षा की विचित्रता से विशेषण भी विशेष्य होजाता है।

विभागः परमाणूनां स्कंधभेदान्न वाणवः।
नित्यत्वादुपजायंते मरुत्पथवदित्यसत् ॥ २ ॥
संयोगः परमाणूनां संघातादुपजायते ।
न स्कंधस्तद्वदेवेति वक्तुं शक्तेः परैरपि ॥ ३ ॥

यहां वैशेषिक आक्षेप करते हैं कि स्कन्ध का भेद होजाने से परमाणुयें नहीं उपजती हैं। क्योंकि पृथिवी, जल तेज, वायु, द्रव्यों की जाति से चतुर्विध और व्यक्ति अपेक्षा अनन्तानन्त परमाणुयें नित्य हैं, परमाणुओं का उत्पाद और विनाश नहीं होता है हां क्रिया आदि करके स्कन्ध का विदारण होजाने से परमाणुओं का विभाग गुण उपज जाता है "क्रियातो विभागः" विभाग गुण तो कारणों से जन्य माना गया ही है। आकाश के समान नित्य परमाणुओं की छेदन से उत्पत्ति नहीं होसकती है। आचार्य कहते हैं कि यह तुम वैशेषिकों का कहना प्रशंसायोग्य नहीं है, झूंठा है, निंदनीय दूषणीय है क्योंकि स्कन्ध के विषय में तुम्हारे ऊपर भी यों आक्षेप किया जा सकता है कि परमाणुओं का सम्मिश्रण होजाने से स्कन्ध नहीं उपजता है किन्तु परमाणुओं का पृथग्भूत संयोग ही उपज जाता है

उसमें ही आकाश का दृष्टान्त यहां भी उपयोगी होजाता है अर्थात्—अणुओं के संघात से नित्य आकाश के समान स्कन्ध नहीं उपजते हैं।

दूसरे बौद्ध पण्डित करके भी यों कहा जा सकता है कि असंसृष्ट परमाणुयें मिल कर पुनः अत्यासन्न अवस्था में नवीन ढंग से उपज जाती हैं, कोई नवीन अवयवी स्कन्ध नहीं बन जाता है। सांख्य यों कह सकते हैं कि अनादि काल से आकाश के समान सद्भूत होरहे नित्य स्कन्ध उपजते ही नहीं हैं। " सर्वं सर्वत्र विद्यते " केवल तिरोभूत स्कन्ध ही मिश्रण अवस्था में व्यक्त होजाते हैं। जैन तो वैशेषिकों के ऊपर वैसा का वैसा ही आक्षेप उठा सकते हैं, कि परमाणुओं के संघात से कोई अवयवी द्रव्य नहीं उपजा है केवल संयोग ही उपज गया है। अवयविने दत्तो जलाञ्जलिर्वैशेषिकेण महापण्डितेन, अपसिद्धान्तोयं वैशेषिकाणाम्"।

ननु च संघातः संयोगविशेष एव ततः कथं परमाणूनां परस्परं संयोगः समुपजायेत तस्यासंयोगजत्वात्। सर्वत्रावयवसंयोगपूर्वस्यावयविसंयोगस्य प्रसिद्धेवीरणादौ द्वितंतुकसंयोगवत् परस्परमवयवानां तु संयोगस्यान्यतरकर्मजस्योभयकर्मजस्य वा प्रतीतेरस्खलद्रूपत्वात्। ततः संघातादवयविन एव स्कंधापरनाम्न उत्पत्तिर्न संयोगस्येति चेत्, तर्हि विभागो भेद एव प्रतिपाद्यते ततः कथं द्व्यणुकादेः स्कन्धस्य विभागः समुपजायेत तस्याविभागजत्वात्सर्वत्रावयवविभागपूर्वस्यावयविविभागस्य विभागजविभागस्य प्रसिद्धेःकाष्ठस्कन्धदलविभागवत्। परस्परमवयवानां तु विभागस्यान्यतरकर्मजस्योभयकर्मजस्य वा प्रतीतेरन्यथानुपपत्तेः कथं द्व्यणुकादिस्कंधभेदाद्विभागस्यैवोत्पत्तिरणुरभ्युपगम्यते भवद्भिः।

वैशेषिक अपने ऊपर आये हुये जैनोक्त आक्षेपका निवारण करते हुये स्व-पक्ष का अवधारण करते हैं कि हमने जो यों कहा था कि स्कन्ध का छेदन, भेदन होजाने से परमाणुओं का विभाग गुण उपज जाता है, आकाश के समान नित्य परमाणुयें नहीं उपजती हैं। इस पर जैनों ने हम वैशेषिकों के ऊपर भी यही आक्षेप ज्यों का त्यों धर दिया कि परमाणुओं के सम्मिश्रण से भी परमाणुओं का संयोग मात्र ही उपजेगा स्कन्ध या अवयवी नहीं उपजेगा, इस पर हम वैशेषिकों का यह कहना है, कि संघात तो एक प्रकार का संयोग विशेष ही है। उस संघात से परमाणुओं के परस्पर में संयोग भला कैसे उपज सकेगा? बताओ तो सही। क्योंकि परमाणुओं का वह संयोग तो किसी अन्य संयोग विशेष से जन्य नहीं है, क्रिया से परमाणुओं का संयोग होजाना माना गया है। पहिले ईश्वर इच्छा, अग्निसंयोग, वेग, अदृष्ट, आदि कारणों से परमाणुओं में क्रिया उपजती है, क्रिया से परमाणुओं का विभाग होजाता है तदनन्तर पूर्व संयोग का नाश होता है पुनः उसी क्रिया से उत्तर देश-वर्त्ती पदार्थ के साथ संयोग होजाता है, अतः परमाणुओं का संयोग किसी अन्य संघात यानी संयोगसे जन्य नहीं है।

सभी स्थलों पर अवयवों के संयोग को पूर्ववर्ती मानकर अवयवी का संयोग होना ही प्रसिद्ध होरहा है, जैसे कि तृण विशेष से बने हुये वीरण (खस) तृण आदि में दो दो तन्तु वाले दूसूता का

संयोग बेचारा अवयव संयोग पूर्वक है । यानी अवयवों के संयोग से भले ही अवयवी का संयोग होजायगा किन्तु अवयवी संयोग से अवयवों का संयोग कथमपि नहीं उपजता है. तो फिर जैन या दूसरे पण्डित यों कैसे कह सकते हैं कि संघात से परमाणुओं का संयोग ही उपजेगा, स्कन्ध नहीं ? हां अवयवों के परस्पर में होरहे संयोग तो कोई अन्यतर कर्म-जन्य हैं और कोई उभय कर्म-जन्य हैं । संयुक्त होने वाले दोनों सूत्रों में से किसी एक सूत में क्रिया होकर दूसरे स्थिर सूत के पास उसका चला जाना रूप क्रिया से जो संयोग होता है वह अन्यतर कर्म-जन्य है, एक कपाल में क्रिया होकर धरे हुये दूसरे कपाल में उसका भिड़ जाना भी अन्यतर कर्मजन्य संयोग है । विभक्त होरहे मल्लों या मेंढ़ों दोनों में क्रिया होकर भिड़ जाना उभय कर्म-जन्य संयोग माना गया है । कोरिया कभी दोनों तन्तुओं को सरका कर उनका संयोग कर देता है, कुलाल भी दोनों कपालों को भिड़ा कर संयुक्त कर देता है, यह अवयवों का उभय कर्म-जन्य संयोग है।

परमाणुओं के संयोग भी दोनों ढंगों अनुसार क्रियाओं से होजाते हैं, यों अवयवों के अन्यतर कर्मजन्य अथवा उभय कर्म-जन्य होरहे संयोग की निर्बाध प्रतीति होरही है. इस प्रतीति के स्वरूप का किसी भी कारण से स्खलन नहीं होता है तिस कारण सिद्ध होजाता है कि परमाणुओं या अवयवों के संघात से स्कन्ध इस दूसरे नाम को धार रहे अवयवी की ही उत्पत्ति नहीं होपाती है । ऐसी दशा में आप जैनों ने हमारे ऊपर जो आक्षेप किया था, वह ठीक नहीं है । वैशेषिकों के यों कहने पर अब आचार्य कहते हैं कि तब तो इसी ढंग से तुम्हारे कटाक्ष का भी निवारण होजाता है । देखिये आप वैशेषिकों ने यों कटाक्ष किया था कि स्कन्ध का विदारण होजाने से परमाणुओं का मात्र विभाग होजाता है अणुयें नहीं बनती हैं इस पर हम जैनों का यह कहना है कि स्कन्धों का भेद तो एक प्रकार का विभाग ही समझाया जाता है उस विभाग स्वरूप भेद से द्व्यणुक, त्र्यणुक,आदि स्कंधों का विभाग भला कैसे उपज सकता है ? किंचित् विचारो तो [illegible] । यह द्व्यणुकका विभाग कोई विभागज विभाग थोड़ा ही है जो कि विभाग से उपज जाय । वह द्व्यणुक आदि अवयवों का स्कन्ध विभाग तो दूसरे विभागों से जन्य नहीं है । सभी स्थलों पर अवयवों के विभाग-पूर्वक हो रहे अवयवी के विभाग की ही विभागज विभाग स्वरूप करके प्रसिद्धि होरही है, जैसे कि आकाश के साथ वृक्ष की पीढ़ के दो भागों के एक दल का विभाग से जन्य विभागज विभाग है ।

अर्थात्—वृक्ष के नीचले भाग तने में कुठारसंपात-जन्य क्रिया करके विभाग उपजा यह क्रिया-जन्य पहिला विभाग है जो कि एक दल का दूसरे दल के साथ है । पुनः इस विभाग करके उस पीढ़ के आधे दल का आकाश देश के साथ विभाग उपजता है. वह कारण-मात्र विभाग-जन्य दूसरा हुआ विभागज विभाग है । अथवा किसी ने वृक्ष के साथ हाथ को भिड़ा रखा है, अब पुरुषार्थ द्वारा हाथ में क्रिया उपजा करके हाथ और वृक्ष का विभाग किया पश्चात् उस हस्त वृक्ष विभाग करके शरीर के साथ वृक्ष का विभाग भी उपज जाता है । यह कारणाकारण विभाग-जन्य विभागज

विभाग है। बात यह है कि अवयवों के विभाग से भले ही अवयवी का विभाग होजाय किन्तु अवयवों (स्कन्ध) के विभाग (भेद) से अवयवों (परमाणुओं) का विभाग कथमपि नहीं होसकता है, हां अवयवों के परस्पर में होरहे अन्यतर कर्म-जन्य अथवा उभय कर्म-जन्य विभागों की प्रतीति होरही है जो कि प्रतीति किसी के द्वारा बाधी नहीं जाती है।

अर्थात्—अवयवों के विभाग तो क्रियाओं से ही होते माने गये हैं, फिर आप वैशेषिकों ने इससू- की दूसरी वार्तिक द्वारा द्व्यणुक, त्र्यणुक, आदि स्कन्धों के भेद (विभाग) से परमाणुओं के विभाग की ही उत्पत्ति होना किस प्रकार स्वीकार कर लिया है ? बताओ. यदि आप वैशेषिक स्कन्ध के विदारण से परमाणुओंका विभाग होजाना इष्ट कर लेंगे तो दूसरे पण्डितों करके यों अवश्य कहा जा सकता है कि संघात से परमाणुओं का संयोग ही उपजता है स्कन्ध या अवयवी नहीं। इस आक्षेप का आप कोई समुचित उत्तर नहीं दे सके, तीसरी वार्तिक द्वारा किया गया आक्षेप वैशेषिकों के ऊपर तदवस्थ है।

तस्यावयवभेदादाकाशादिविभागो विभागज एवेति चेत् नहि परमाणुसंघातादाकाशदेशादिना संयोगोपि संयोगजोस्तु। अथ परमाणुसंघातादुत्पन्नेनावयविना व्योमादेः संयोगः संयोगजो न पुनः परमाणुभिस्तस्य संयोग इति मतं तर्हि स्कन्धभेदादुत्पन्नस्य परमाणोराकाशदेशादिभ्यो विभागो न विभागजः किं तु स्कन्धभेद इति सर्वं समानं पश्यामः।

यदि वैशेषिक यों कहें कि उस स्कन्ध के अवयवों का भेद होजाने से हुआ आकाश के साथ विभाग तो विभागजन्य है, अतः स्कन्ध के विदारण से परमाणुयें नहीं उपजी हैं, किन्तु अवयव भेद स्वरूप विभाग से उस अवयवी स्कन्ध का उन पूर्ववर्त्ती आकाश प्रदेशों के साथ विभाग उपज जाता है यह हमारे यहां विभागज विभाग माना गया है। यों कहने पर तो आचार्य कहते हैं कि तब तो परमाणुओं के संघात से हुआ आकाश देश, भूमि प्रदेश आदि के साथ संयोग भी संयोगज ही होजाओ अर्थात्—वैशेषिकों ने जैसे स्कन्ध के अवयवों का विदारण होजाने से अणु की उत्पत्ति नहीं मानकर केवल स्कन्धावयवों का आकाश के साथ हुआ विभागज विभाग ही इष्ट कर लिया है। उसी प्रकार हम भी विक्षेप डाल देंगे कि परमाणुओं के संयोग-विशेष स्वरूप संघात से कोई अवयवी स्कन्ध उत्पन्न नहीं होता है केवल पूर्व प्रदेशों से न्यारे आकाश प्रदेशों के साथ उन अणुओं का संयोग होगया है जो कि संयोगज संयोग है।

इस पर यदि वैशेषिकों का यह मन्तव्य प्रकाशित होय कि परमाणुओं के संघात से अवयवी उत्पन्न होता है और उस उपजे हुये अवयवी के साथ हुआ आकाश, भूमि, आदि का संयोग ही संयोगज होता है, किन्तु फिर परमाणुओं के साथ उस आकाश आदि का संयोग नहीं होपाता है। जब कि परमाणुओं के अवयवी बन चुके तो परमाणुओं के साथ आकाश का संयोग होजाना अलीक है। अब आचार्य कहते हैं कि तब तो हम जैन भी अपना अभीष्ट यों प्रकाशित कर देते हैं, कि स्कन्ध का

विदारण होजाने से परमाणुयें उपजते हैं। स्कन्ध भेद से उपज चुके परमाणु का भी एक देश, भूमि प्रदेश, आदि के साथ हुआ विभाग तो विभागज विभाग नहीं है किन्तु स्कन्ध का भेद ही है इन सभी पर्यायवाचकों को हमने सभी [illegible] स्वीकार किया है

यानी वैशेषिक जो आक्षेप करते हैं, उसी प्रकार उनके ऊपर दूसरे विद्वानों द्वारा भी आक्षेप किया जा सकता है, तथा वैशेषिक जो अवयवी की उत्पत्ति होजाने में समाधान करते हैं, वही परमाणुओं की उत्पत्ति में भी समाधान होजाता है, यहां रूक्ष पक्षपात के सिवाय कोई अन्य गम्भीर प्रमेय का अन्तर नहीं है, जिससे कि वे स्कन्ध की उत्पत्ति तो मान लेवें और परमाणु की उत्पत्ति में रोड़ा अटका देवें। अतः सिद्ध है, कि स्कन्ध के भेद से परमाणु की उत्पत्ति होजाती है, द्व्यणुक स्कन्ध से एक परमाणु का एक देश के साथ विभाग होकर परमाणु उपजता है और त्र्यणुक अवयवी से द्व्यणुक को अलग कर एक परमाणु का दो देश से विभाग होजाने पर परमाणु उपजता है. एवं चतुरणुक का विदारण होजाने से एक साथ चारों अणुयें भी उपज सकती हैं, और कदाचित् एक परमाणु का तीन प्रदेश वाले त्र्यणुक से विभाग होकर एक अणु उपजता है, एक देश आदि यहां पड़े हुये आदि शब्द का यही तात्पर्य जंचता है।

यदि पुनरवयवानां संयोगादवयविनः प्रादुर्भावस्तद्भावे भावात्तदभावे चाभावात् विभाव्यते तदा तत एव परमाणूनां स्कंधभेदात्प्रादुर्भावोऽस्तु।

यदि फिर वैशेषिक यों कहें कि अवयवों के संयोग से अवयवी की उत्पत्ति होरही बालक, बालिकाओं, तक को दृष्टि-गोचर है, क्योंकि अवयवी और अवयवों के कार्य कारण भाव में अन्वय और व्यतिरेक घटित होरहा है, अवयवों के उस संयोग के होने पर अवयवी का भाव (उत्पत्ति) है, और उस अवयवों के संयोग का अभाव होने पर अवयवी का उत्पाद नहीं होपाता है, अतः अवयवी और अवयवों का उत्पाद्य, उत्पादक भाव विचार लिया जाता है। तब तो हम जैन भी कहेंगे कि तिस ही कारण से यानी कार्यकारण भाव के परिनिष्ठापक माने गये अन्वय व्यतिरेकों अनुसार परमाणुओं की भी स्कन्ध के विदारण से उत्पत्ति होजाओ। अर्थात् स्कन्ध का विदारण होने पर अणुयें उपजती हैं, यों यहां अन्वय घट गया और स्कन्ध का विदारण नहीं होने पर अणुयें नहीं उपजती हैं, यह व्यतिरेक घटित होगया। अतीन्द्रिय पुण्य पाप या ईश्वर के साथ भी कार्यों का अन्वय व्यतिरेक बनाने में जो आपका शरण्य है, उसी प्रमाण की शरण इस अवसर पर भी ले लीजियेगा, जब कि बड़े स्कन्धों का भेद होकर छोटे छोटे अवयव उपज जाते हैं, तो यों उत्तरोत्तर धारा चलते हुये यह छोटे अवयवों का अन्तिम विश्राम लेने का स्थल परमाणु ही होगा। न्यायप्राप्त होरहे समीचीन सिद्धान्त का विचारशाली विद्वानों करके स्वीकार कर लेना ही प्रशस्त मार्ग है।

नित्यत्वात् तेषां न प्रादुर्भाव इति चेन्न, तन्नित्यत्वस्य सर्वथा अनवसायात्। नित्याः परमाणवः सदकारणवत्त्वादाकाशादिवदित्यपि न सम्यक्, तेषामकारणवत्त्वासिद्धेः। पुद्गलद्र-

ण्यस्य तदुपादानकारणस्य भावात् स्कंधभेदस्य च सहकारिणः प्रसिद्धे स्तद्भावे वा भावात् ।

वैशेषिक कहते हैं, कि परमाणुयें तो अनादि से अनन्त काल तक ध्रुव बनी रहने के कारण नित्य हैं, अतः स्कन्धों के विदारण से उन परमाणुओं की उत्पत्ति नहीं होती है । ग्रन्थकार कहते हैं, कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उन परमाणुओं के सर्वथा नित्यपन का निश्चय नहीं होरहा है, हां कथंचित् नित्य परमाणुओं का स्कन्ध से उत्पन्न होजाना अविरुद्ध है । यदि वैशेषिक पुनः आवेश में आकर यों अनुमान बना कर कहें कि परमाणुयें (पक्ष) नित्य हैं, (साध्यदल) सत् होते सन्ते कारणवाले नहीं होने से (हेतु) आकाश, आत्मा, आदि द्रव्यों के समान (अन्वयदृष्टान्त) इस अनुमान के हेतुदल में यदि केवल सत्पना ही कहा जाता तो घट, पट, आदि अनित्य पदार्थों करके व्यभिचार आजाता अतः अकारणवान् कहा गया है, घट पट, आदि अपने जनक कारणों करके सहित होरहे कारणवान् हैं । और यदि अकारणवान्पना इतना ही हेतु कह दिया जाता तो प्रागभाव करके व्यभिचार होजाता है, "अनादिः सान्तः प्रागभावः" अनादि काल से चला आरहा प्रागभाव अपने उत्पादक कारणों से रहित है, अतः "सत्वे सति" यह विशेषण दिया गया है ।

हमारे यहां प्रागभाव को द्रव्य आदि सद्भूत षड्–वर्ग में नहीं गिनाया गया है, चारों अभाव पदार्थों में प्रागभाव पड़ा हुआ है, अतः "सत्वे सति अकारणवत्व., हेतु से परमाणु में नित्यत्व सिद्ध होजाता है । अब आचार्य कहते हैं, कि वैशेषिकों का यह कहना भी समीचीन नहीं है, क्योंकि उन परमाणुओं का स्वकीय कारणोंसे रहितपना असिद्ध है, अतः वैशेषिकों का सद्अकारणवत्व हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है, जब कि उन परमाणुओं के उपादान कारण होरहे द्व्यणुक, त्र्यणुक, आदि अशुद्ध पुद्गल द्रव्यों का सद्भाव है और उन परमाणुओ के सहकारी कारण होरहे स्कन्ध विदारण की सर्वत्र प्रसिद्धि है । अथवा उन उपादान कारण और सहकारी कारणों के होने पर परमाणुओं का भाव (उत्पत्ति) है, इस अन्वय से परमाणुओं का कार्य पना प्रसिद्ध होजाता है, अपने उपादान कारण और सहकारी कारणों के साथ परमाणुओं का व्यतिरेक भी बन जाता है, अतः बड़े स्कंध के विदारण से छोटे छोटे परमाणुओं का उत्पाद होजाना सिद्ध हुआ ।

सूक्ष्मपूर्वकः स्कन्धो न स्कंधपूर्वकः सूक्ष्मोस्ति यत स्कंधादणुरुत्पद्यत इति चेन्न, प्रमाणाभावात् ।

वैशेषिक कहते हैं कि सूतों से वस्त्र बनता है, चून की कणिकाओं से लूंड़ बन जाती है, बूरे से पेड़ा बन जाता है, अतः सूक्ष्म परिमाण वाले द्रव्य को पूर्ववर्ती मान कर बड़ा स्कन्ध बन जाता है, किन्तु बड़े परिमाणवाले स्कन्ध को पूर्ववर्ती कारण मान कर अल्प परिमाण वाला छोटा अवयव उपज कर आत्म लाभ नहीं करता है, जिससे कि जैनमत अनुसार बड़े स्कन्ध से परमाणु की उत्पत्ति मानी जाय अर्थात्–बड़े स्कन्ध से छोटे परमाणु की उत्पत्ति नहीं होसकती है, जगत् में छोटों ने बड़ों को उत्पन्न किया है, बड़ों ने छोटों को नहीं, हां बड़े नष्ट होकर भले ही छोटे होजांय ।

ग्रन्थकार कहते हैं, कि यह तो नहीं कहना क्योंकि इस तुम्हारे मनमाने सिद्धांत का पोषक कोई बलवत्तरप्रमाण नही है, छोटों से जैसे बड़े उपजते है, उसी प्रकार बड़ों से भी छोटे उपज जाते हैं, कीच से कमल उपज जाता है, साथ ही कमल का भी सड़, गल, कर कूड़ा बन जाता है, बड़े बड़े कुलीन पुरुषों के यहां तुच्छ प्रकृति के मनुष्य जन्म ले लेते हैं, राजा महाराजाओं, या बादशाहों के सन्तान, प्रतिसन्तानमें झाड़ बुहारना, पल्लेदारी करना,पंखा हाँकना, आदि नीच कर्मकरके आजीविका चलाने वाले उपज जाते हैं, संसार की गति बड़ी विचित्र है। बड़े माता पिताओं से छोटे बच्चे उपजते हैं, बड़े गेंहू से पिस कर चून के कण बन जाते हैं, मीठे खण्डों से कुटकर बूरा बनता है, पहाडों को काट कूट कर पटियां, चाकी, मूर्तियां, गट्टियां, आदि टुकडे, कर लिये जाते है, इसी प्रकार बड़े स्कन्धों से भी छोटे अणु उपज जाते हैं, इस सिद्धान्त में प्रमाणों का सद्भाव है।

विवादाध्यासितः स्कंधो जायते सूक्ष्मतोन्यतः।
स्कंधत्वात्पटवत्प्रोक्तं यैरेवं ते वदंत्विदम् ॥ ४ ॥
विवादगोचराः सूक्ष्मा जायंते स्कंधभेदतः
सूक्ष्मत्वाद् दृष्टवस्त्रादिखंडवद्भ्रान्त्यभावतः ॥ ५ ॥

वैशेषिकों का अनुमान है, कि प्रतिवादी के यहां विवाद में प्राप्त होरहा स्कन्ध (पक्ष) किसी अन्यसूक्ष्म परिणाम वाले कारणों से उपजता है, (साध्य) स्कन्ध होने से (हेतु) पट के समान (अन्वयदृष्टान्त)। आचार्य कहते हैं, कि इस प्रकार जिन वैशेषिकों ने इतना बहुत अच्छा कहा है। साथ ही वे यह और भी कहें कि वैशेषिक या नैयायिकों के यहां यों विवाद में पड़े हुये कि सूक्ष्म अवयव उपजते भी हैं, या नहीं उपजते हैं ? सम्भव है, सूक्ष्म पदार्थ नहीं उपजते होंयगे, अथवा उपजते ही होंयगे तो अपने से छोटे परिमाणवाले कारणों से ही उपज सकते हैं, ऐसे विवाद विषय होरहे सूक्ष्म अवयव (पक्ष) स्कन्ध के विदारण से उपजते हैं, (साध्य) सूक्ष्म होने से (हेतु) देखे जा चुके या फाड़े जा चुके वस्त्र, पत्ता, आदि के खण्ड समान (अन्वयदृष्टान्त)। यह अनुमान निर्दोष है, स्कन्धों से परमाणुओं की उत्पत्तिका ज्ञान करनेमें भ्रम ज्ञान होजाने का अभाव है, अभ्रान्त या असम्भवद्बाधक प्रमाणों से वस्तु की सिद्धि होजाती है।

घनकार्पासपिण्डेन सूक्ष्मेण व्यभिचारिता।
हेतोरिति न वक्तव्यमन्यस्यापि समत्वतः ॥ ६ ॥
श्लिष्टावयवकर्पासपिंडसंघाततो यथा।
घनावयवकर्पासपिंडः समुपजायते ॥ ७ ॥

तथा स्थविष्ठपिंडेभ्योऽणिष्ठो निविडपिण्डकः
प्रतीतिगोचरोऽस्तु स्कन्धभावप्रयोगकारिभिः ॥ ८ ॥

यदि वैशेषिक उक्त अनुमानों में दोष लगाते हुये यों कह बैठें कि कपास की उठी हुई रूई को घना कर सूक्ष्म पिण्ड बन जाता है, बड़ी रूई की गठरिया को दबा कर छोटी पोटली बना ली जाती है, काटनप्रेसमिल द्वारा पांच मन रूई के बड़े पिंडों की छोटी गांठ बनाली जाती है, अतः रूई की गांठ में छोटापन हेतु रह गया किन्तु वहां बड़े स्कन्ध का विदारण नहीं है, प्रत्युत वहां गांठ से चौगुनी, पचगुनी, बड़ा कई पुटरियों का संघात है, इस कारण जैनों के सूक्ष्मत्व हेतु का रूई के दबे हुये घने पिंड करके व्यभिचार हुआ। आचार्य कहते हैं, कि यह तो वैशेषिकों को नहीं कहना चाहिये क्योंकि यों तो तुम वैशेषिकों के दिये हुये अन्य स्कन्धत्व हेतु का भी समान रूप से व्यभिचार दोष आता है, देखिये जैसे शिथिल अवयव वाले कपास पिंडों के संघातसे दबाया जाकर घन अवयव वाले कपास पिण्ड की अच्छी उत्पत्ति होजाती है, उसी प्रकार अधिक स्थूल पिण्डों से अतिशय सूक्ष्म होरहा घन पिण्ड उपजता प्रतीतिओं का विषय होरहा समझा जाओ। अर्थात्-स्थूल पदार्थों के संघात (सम्मिश्रण) से अल्पपरिमाणवाला घन पिण्ड उपज जाता है।

बड़े बड़े रूई के घनीभूत पिण्डों से जो छोटे छोटे घन पिण्ड उपजे हैं, उनको तो स्कधभेद-पूर्वक ही कहा जायगा, सूक्ष्म मीमांसा करने पर प्रतीत होजाता है, कि वृक्ष में लगे हुये कपास के टेंटों को ओट कर कुछ बड़े परिमाणवाली रुई उपज जाती है, रुई को देशान्तरों में भेजने के लिये पुनः दबाकर के घनी गांठ बना ली जाती है, गांठ को खोल कर पुनः फैला लिया जाता है, फैली हुई रुई को पुनः तांत या दूसरे यंत्र से पीन कर फुला लिया जाता है, रुई के फूले हुये रेशों को बट कर सूत बनाने के लिये पुनः चरखा द्वारा ऐंठा जाता है, इस प्रक्रिया में कई बार छोटे से बड़े और बड़े से छोटे अवयव बनते रहे हैं, सुवर्ण के भूषणों को कई बार तोड़ फोड़ कर बनाने में भी छोटों से बड़े और बड़े से छोटे अवयव बनाने पड़ते हैं, तोल समान होते हुये भी गेंहू से गेंहू का चून अधिक स्थान को घेरता है, अतः छोटे अवयवों के संघात से जैसे बड़े अवयव की उत्पत्ति मानी जाती है, उसी प्रकार बड़े अवयवी के विदारण से छोटे अवयवों या परमाणुओं की उत्पत्ति को स्वीकार कर लेना चाहिये, सर्वज्ञ की आम्नाय अनुसार कहे गये "भेदादणुः" इस सूत्र में उसी सिद्धान्त का ही तो प्रतिपादन किया गया है, जो कि बड़े पिण्ड के छेदन, भेदन, से छोटे अवयव का उत्पाद होना जगत्प्रसिद्ध है।

विवादापन्नोऽवयवी स्वपरिमाणादणुपरिमाणकारणारब्धोऽवयवित्वात् पटवदिति यैरुक्तमनुमानं ते यदान्यदपि विवादगोचराः सूक्ष्माः स्थूलभेदपूर्वकाः सूक्ष्मत्वात् पटखण्डादिवदिति। घनकर्पासपिंडेन सूक्ष्मेण शिथिलावयवकर्पासपिंडसंघातारब्धेन सूक्ष्मत्वस्य हेतोर्व्यभिचारान्नैवं वदंतीति चेत्, समानमन्यत्र तेनैव स्वपरिमाणान्महापरिमाणकारणारब्धेनावयव-

स्वस्य हेतोर्व्यभिचारात् । यथैव हि शिथिलावयवकार्पासपिंडानां सतां समुपजायमानो घनावयवः कार्पासपिंडः सूक्ष्मो न स्थूलभेदपूर्वकस्तथा स एव तेषां स्थविष्ठानां संयोगविशेषादुपजायमानो घनावयवः स्वपरिमाणादनणुपरिमाणकारणारब्धः प्रतीतिविषयः ततो नाल्पज्ञाविद् नियम-कल्पनमिति यथा सूत्रोपपादितं तथैवास्तु ।

उक्त वार्तिकों का विवरण इस प्रकार है कि विवाद-ग्रस्त होरहा अवयवी (पक्ष) स्वकीय परिमाण से अल्प परिमाण वाले कारणों से बनाया गया है, (साध्य) अवयवी होने से (हेतु) पट के समान (अन्वयदृष्टान्त) । इस प्रकार जिन वैशेषिकों ने अनुमान कहा था वे इस अनुमान को भी प्रसन्नता पूर्वक स्पष्ट बोल देवें, मन में कोई भ्रम नहीं करें कि जैनों के निर्णीत और नैयायिकों के यहां विवाद के विषय होरहे सूक्ष्म अवयव (पक्ष) स्थूल अवयवियों के छिद, भिद, जाने को पूर्ववर्ती कारण मान कर उपजे हैं, (साध्य) सूक्ष्मपन होने से या अवयवपन होने से (हेतु) पट के टुकड़े या घट की ठिकुच्ची अथवा गेंहू के चून आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त) ।

इस अनुमान को कहने में वैशेषिक यदि यों विचार करें कि ढिल्लक ढिल्ले अवयव वाले रुई के पिण्ड का सम्मिश्रण होजाने से बनाये गये रुई के सूक्ष्म (छुटे) परिमाणवाले घने पिण्ड करके इस सूक्ष्मत्व हेतुका व्यभिचार आता है, अतः बलात्कार से स्वीकार कराये ये इस प्रकार अयुक्त दूसरे अनुमान को वैशेषिक नहीं कहते हैं । यों कहने पर तो आचार्य कहते हैं, कि तुम वैशेषिकों के कहे जा चुके अन्य पहिले अनुमान में भी समान रूप से व्यभिचार दोष आता है, देखिये अपनी घनी गांठ के परिमाण से महापरिमाण वाले कारणों से बनाये गये उसी घनी रुई के पिण्ड करके अवयवित्व हेतु का भी व्यभिचार आता है, कारण कि जिस ही प्रकार कार्य के अव्यवहित पूर्व समय में उपादान कारण होकर सद्भूत होरहे ढीले बिखर रहे अवयव वाले रुई के पिण्डों का उपादेय होकर अच्छा उपज रहा घने अवयवों वाला रुई का पिण्ड सूक्ष्म परिमाणवान् है, वह छोटी रुई की गांठ बेचारी स्थूल अवयवी के विदारण को कारण मान कर नहीं उपज रही है, तिसी प्रकार उन शिथिल होरहे अति स्थूल कपासों के संयोगविशेषों से उपज रहा वही घन अवयववाला रुई की गांठ का पिण्ड बेचारा स्वकीय परिमाण से अनल्प (महा) परिमाण वाले कारणों से बनाया गया प्रतीतियों का विषय होरहा है, तब तो तुम वैशेषिकों का पहिला कहा गया हेतु भी अनैकान्तिक हेत्वाभास है, तिस कारण सिद्ध होजाता है, कि "सूक्ष्मपरिमाणवाले कारणों से ही स्थूल परिमाण वाले कार्य बनते हैं, स्थूल परिमाण वाले कारणोंसे सूक्ष्म परिमाण वाले कार्य नहीं बनते हैं"यह वैशेषिकों द्वारा की गई नियमकी कल्पना कोई सर्वज्ञ आप्तके आद्यज्ञानका विषय नहीं है,अल्पज्ञ पुरुष दीन हैं त्रिलोक, त्रिकालमें अबा-धित होरहे नियम का प्रतिपादन नहीं करसकते हैं, अतः सर्वज्ञ की परम्परा से प्राप्त होरहे उमास्वामी महाराजकृत सूत्र में जिस प्रकार भेद से अणु की उत्पत्ति कही गई है, और आचार्यों द्वारा उसमें जो समीचीन युक्तियां दी गई हैं, उसी प्रकार नियम की कल्पना करो ।

अर्थात्—भेद यानी विदारण से ही अणु उपजता है, यह पूर्व अवधारण करना अच्छा है। रूई की पंचमनी गांठ से जो छोटी इकमनी, दुमनी, गांठें तोड़ फोड़ कर बना ली जाती हैं वे अवयव तो भेद से ही उपजे हुये माने जायंगे वैशेषिकों की उत्पादविनाश-प्रक्रिया केवल फटाटोप दिखाना है उसमें रहस्य कुछ भी नहीं है, कपड़े को फाड़देने पर अव्यवहित उत्तर समय में झट खण्ड पट उपज जाता है। वहां अवयवों का भेद होते होते षडणुक, पंचाणुक, चतुरणुक, त्र्यणुक, द्व्यणुक, परमाणुयें होकर पुनः परमाणुओं में क्रिया द्वारा द्व्यणुक, त्र्यणुक, आदि उपजकर खण्ड पट बना है, ऐसी शेख-चिल्ली की सी कल्पनाओं में कोई प्रमाण नहीं है।

तथाहि—द्वयोः परमाण्वोः संघातादुत्पद्यमानो द्विप्रदेशः स्कन्धः कश्चिदाकाश-प्रदेशद्वयावगाही कश्चित् परमाणुपरिमाण एव स्यात् । द्व्यणुकाभ्यां च स्वकारणादधिक परिमाणाभ्यामुत्पद्यमानः कश्चिदाकाश-प्रदेशचतुष्टयावगाही महान् । कश्चित्पुनरेकाकाश-प्रदेशावगाही तत्रोगुरेवावगाहविशेषस्य नियमाभावात् ।

" भेदसंघातेभ्य उत्पद्यंते, भेदादणुः " इन दो सूत्रों करके उमास्वामी महाराज ने जो कहा है उसको पुनः स्पष्ट यों समझ लीजियेगा कि दो परमाणुओं के एकीभाव से उपज रहा दो प्रदेशों वाला द्व्यणुक स्कन्ध कोई तो आकाश के दोनों प्रदेशों को घेर कर अवगाह कर रहा है और कोई दो परमाणुओं के मेल से बना द्व्यणुक एक परमाणु के बराबर परिमाण का धारी होकर आकाशके एक प्रदेश में ही ठहर रहा है यहां तक कि अनन्त परमाणुओं का समुदाय या बद्ध पिण्ड भी एक परमाणु बराबर होकर आकाश के एक प्रदेश में समा जाता है, हां एक परमाणु दो प्रदेशों पर नहीं ठहर सकती है।

तथा अपने कारण होरहे परमाणुओं के प्रत्येक के परिमाण से अधिक परिमाण वाले दो द्व्यणुकों से उपज रहा कोई कोई चतुरणुक तो आकाश के चारों ही प्रदेशों पर अवगाह करता सन्ता महान् है और कोई चतुरणुक फिर आकाश के एक प्रदेश में ही अवकाश कर लेता है कभी कभी ऐसा होजाता है कि दो दो प्रदेशों पर बैठे हुये दो द्व्यणुको से एक चतुरणुक महान् स्कन्ध उपज गया वह केवल आकाश के एक प्रदेश पर ही अवस्थान कर लेता है। अतः अपने यानी चतुरणुक के परिमाण से उसके कारण द्व्यणुक का परिमाण अधिक यो भी कहा जा सकता है। संयुक्त या बद्ध अनन्तानन्त परमाणुयें भी एक, दो, तीन, संख्यात असंख्यात, प्रदेशों पर ठहर जाती हैं यह बात अवश्य है कि तीन परमाणु यदि दो प्रदेशों पर ठहरें या नौ परमाणुयें चार प्रदेशों पर ठहरेंगी तो डेढ़ डेढ़ परमाणु एक एक प्रदेश पर या सवा दो, सवा दो परमाणुओं का एक एक प्रदेश पर ठहरने का ठीक बांट नहीं कर देना चाहिये अखण्ड परमाणुयें पूरे एक प्रदेश को घेरेंगी नौ परमाणुयें यदि अबद्ध होकर दो प्रदेशों पर ठहरेंगी तो एक प्रदेश पर एक और दूसरे प्रदेश पर शेष आठों ही या एक प्रदेश पर दो और दूसरे प्रदेश पर शेष सातों अथवा एक प्रदेश पर तीन और दूसरे प्रदेश पर शेष छहों एवं एक प्रदेश पर चार

और दूसरे प्रदेश पर पांच यों इसी ढंग से ठहर सकेंगी, परिपूर्ण परमाणु एक प्रदेश से न्यून स्थल पैर जैसे नहीं ठहर पाती है उसी प्रकार स्व एक परमाणु के लिये नियत होरहे एक प्रदेश से अतिरिक्त, दूसरे प्रदेश या उसके किसी भाग में भी अपना शरीर नहीं फैला सकती है । अतः संघात से उत्पन्न हुआ अवयवी अधिक से अधिक अपने कारण माने गये परमाणुओं की संख्या बराबर प्रदेशों में ठहर [illegible] ठहर जाय क्योंकि प्रदेश के लक्षण में " सव्वाणुट्ठाणदाण रिहं " पद पड़ा हुआ है । जगत् की सम्पूर्ण परमाणुओं को एक ही प्रदेश अवकाश दे सकता है यों कोई विशेष नियम करना तो ठीक नहीं है कि उन स्वकीय कारणों के अवगाह से छोटा ही कार्य का अवगाह स्थान होगा जब कि जितने परमाणुओं के संघातसे स्कंध उपजता है उन परमाणुओं की संख्या बराबर प्रदेशोंमें और उसके स्वल्प प्रदेशोंमें भी स्कन्ध रहसकता है,लोकाकाशमें ही पुद्गल ठहरते हैं ।

अतः परमाणुओं की गणना असंख्यात तक पहुंच जावेगी किन्तु परमाणुओं की अनन्तानन्त संख्या तो लोकाकाश के प्रदेशों से बहुत बढ़ जाती है, भले ही अलोकाकाश के प्रदेश सम्पूर्ण पुद्गल परमाणुओं से अनन्तानन्त गुणे हैं, किन्तु अलोकाकाश में एक भी परमाणु नहीं है । खेद है, जहां स्थान है, वहां अवगाह करने योग्य द्रव्य नहीं है, और जहां अनन्तानन्त द्रव्यें भरी पड़ी हैं, वहां उनको फैल फूट कर रहने के लिये परिपूर्ण स्थान नहीं है, हां निर्वाह तो सबका सर्वत्र हो ही जाता है, अथवा इस पंक्ति का यों अर्थ कर लिया जाय कि अन्न यानी स्वयं द्व्यणुकों के कारण होरहे अणुपरिमाण वाले परमाणुओं से अधिक परिमाण वाले दो द्व्यणुकों से उपज रहा कोई चतुरणुक तो आकाश के चारों प्रदेशों में अवगाह करने वाला समचतुरस्र उपजेगा अर्थात्–छह पैलू घन चौकोर चार बरफियों को सटा कर समभाग में धर दिया जाय उसी आकृति के समान चार अणुओं के बने चतुः प्रदेशी चतुरणुक का संस्थान है, या तल ऊपर चार बरफियों का धर दिया जाय अथवा दो बरफियों के ऊपर पुनः दो बरफियां धर दी जावें एवं एक से एक बरफी को मिला कर सम प्रदेश में लम्बा बिछा दिया जाय इन आकृतियों के समान चतुःप्रदेशी स्कन्ध का आकार है, गोल कुआ या अर्धगोल नाली को बनाने के लिये सपाट ईंटों को गोलाई के उपयोगी स्वरूप छील लिया जाता है, या कुछ गोलाई को लिये हुये ईंटें ही प्रथम से वैसे ही सांचे में ढाल ली जाती हैं । किन्तु परमाणुओं की नौकें कालत्रय में भी किसी अनन्तबलशाली जीव या पैनी छैनी करके भी घिसी नहीं जा सकती हैं, अतः परमाणुओं के गोल या नौकीले पिण्ड में परमाणुओं की नौकें अवश्य रहेंगी स्पर्शन इन्द्रिय या चक्षुसे अतीन्द्रिय परमाणुओं की नौकें टटोई या देखी नहीं जाती हैं, फिर भी अतीन्द्रिय-दर्शी विद्वान् सर्वावधि या केवलज्ञान से गोल तिकोने, पंच कोने, आदि पिण्डों में उभर रहीं परमाणुओं के एक प्रदेशी पैल को स्पष्ट देख लेते हैं, "अत्तादिअत्तमज्झं अत्तन्तं णेव इंदिये गेज्झं" यह सिद्धान्त बेचारा सूक्ष्म गवेषणा में सम-चतुरस्र परमाणुओं के कोनों के सद्भाव का विघात नहीं कर पाता है, एक प्रदेशी परमाणु के निरंशपन की प्रशंसा उसके ऊपर नाचने के भागों का नहीं कर सकेगी अन्यथा परमाणु करके बड़े स्कन्ध का बनना

असंभव होजायगा अतः किसी चतुरणुक का यों उक्तप्रकार चार प्रदेशोंमें ठहरना सिद्ध होजाता है,तथा कोई कोई चतुरणुक फिर आकाशके एक ही प्रदेशमें अवगाह कर रहा सन्ता उस चार प्रदेशों में ठहरने वाले चतुरणुक से छोटा अणु परिमाणवाला ही है। अवगाह के विशेषों का कोई नियम नहीं है, चार अणुओं का चतुरणुक स्कन्ध भले ही एक प्रदेश में रह जाय दो, तीन, या चार प्रदेशों में भी ठहर जाय, हां पांच, छः, आदि अधिक प्रदेशों में नहीं ठहर सकता है।

स्वकीय परमाणु संख्या से अधिक प्रदेशों में नहीं ठहरने का नियम है, क्योंकि एक परमाणु दो या तीन प्रदेशों में अपने पांव नहीं फैला सकती है, किन्तु सूक्ष्मत्व गुण के योग से एक परमाणु के स्थान में अनेक परमाणुऐं घुस कर अपनी संख्याते न्यून प्रदेशों में ठहर जाती हैं, आकाश के एक प्रदेश में यदि द्व्यणुक, त्र्यणुक, आदि कोई भी स्कन्ध ठहर जाय तो वह अणु कहा जा सकता है, उसे परम अणु नहीं कह सकते हैं, अप्रदेश, अखण्ड एक शुद्ध पुद्गल द्रव्य को ही परमाणु कहा जाता है, परम शब्द का अर्थ अन्तिम, सब से छोटा एक निरंश अवयव है, वैशेषिक पण्डित केवल परमाणु और द्व्यणुकों में ही अणुपना बखानते हैं, यह प्रशस्त नहीं है, साथ ही वे मूर्त कई परमाणुओं का एक प्रदेश में ठहरने का विरोध स्वीकार करते हैं, " मूर्तयोः समानदेशताविरोधात् " ऐसी दशा में अनन्तानन्त परमाणुयें, अनन्त स्कन्ध, अनन्त मन, अनन्त अवयवी, ये बेचारे असंख्यात प्रदेशी लोक में किस प्रकार ठहरेंगे ? गम्भीर प्रश्न के उत्तरदायित्व को वे नहीं झेल सकते हैं।

तथा शताणुकावयविभेदादुत्पद्यमानोऽवयवी कश्चित्सूक्ष्मः स्तोकाकाशप्रदेशावगाहित्वात्। कश्चिच्च तस्मादल्पाकाशप्रदेशावगाहिनोऽल्पाद्बहुकाशप्रदेशावगाहित्वान्महान्।

जिस प्रकार अणुओं या स्कन्धों के संघात से उपजे हुये स्कन्धों का आकाश प्रदेशों में अवगाह होरहा यथायोग्य निर्णीत किया है, उसी प्रकार स्कन्धों के भेद से उपजे हुये अवयवी या परमाणुओं का आकाश के प्रदेशों में यथायोग्य अवगाह होजाना समझ लिया जाय, देखिये सौ परमाणुओं से बने हुये शताणुक नामक अवयवी का विदारण होजाने से उपज रहा कोई कोई अवयवी तो उस शताणुक से छोटा परिमाण वाला होगा क्योंकि आकाश के स्वल्प प्रदेशों में वह टुकड़ा स्थान पा रहा है, यदि शताणुक ने बीस प्रदेश घेरे तो उसके दो टुकड़े होकर बने पचास, पचास,अणु वाले दो टुकड़ों ने दस दस प्रदेशोंमें स्थान पालिया। या सौ प्रदेश वाले शताणुक के टुकड़े पचास पचास प्रदेशों में ठहर गये, अस्सी, बीस, अणुओं वाले टुकड़े अस्सी बीस प्रदेशों में ठहर जांयगे। और कोई कोई टुकड़ा स्वरूप अवयवी तो आकाश के अल्प प्रदेशोंमें अवगाह को धार रहे उस ही छोटे अवयवी से आकाश के बहुत प्रदेशों में अवगाह धारने वाला होने के कारण महान् होजाता है।

अर्थात्-यदि शताणुक अवयवी ने आकाश के दश प्रदेशों को घेरा है, तो शताणुक के भेद से बन गये पचास पचास अणु वाले अवयवियों करके आकाश के बीस, बीस प्रदेश भी घेरे जा सकते हैं।

अथवा दस प्रदेशों में समा रहे शताणुक के पंचविंशति प्रदेशी चार टुकड़े पुनः पच्चीस पच्चीस प्रदेशों को भी घेर कर सानन्द विराजते हैं, ठिगनी माता के पुत्र उससे लम्बे, चौड़े, शरीर वाले होसकते हैं, कोई बाधा नहीं है, छोटी कण्डे की कस्सी से बीसों गज लम्बा, चौड़ा, धुंआ निकल पड़ता है, रूई की गांठ के टुकड़ों को पीन कर दसों गज में फैला दिया जाता है, छोटी मकड़ी के उदरस्थ कारण से बड़ा जाला बन जाता है, अतः अल्प परिमाण वाले अवयवी के टुकड़े अपने जनक के अधिकृत स्थान से अधिक स्थान पर भी अपने पांव फैला देते हैं, अवकाश के विशेषों का कोई नियम नहीं है, जब कि इस जम्बूद्वीप सम्बन्धी भरतक्षेत्र के पांचसौ छब्बीस और छः बटे उन्नीस योजन आकाश में इससे कई गुनी बादर बादर भूमि समा सकती है, तो फिर एक अवयव के स्थल में अनेक अवयवों का ठहर जाना कोई चमत्कारक नहीं है, अवगाह देना स्वरूप उपकारकत्व को धार रहे आकाश में छःऊ द्रव्य एक दूसरे को अवकाश देने के लिये सतत सन्नद्ध रहते हैं, मानो वे सम्पूर्ण प्राणियों को निःस्वार्थ अतिथि सत्कार करने के लिये शिक्षा दे रहे हैं। छोटी मुर्गी के अपत्य बड़े मुर्गे के समान ही छोटे अवयवी के विदारण करके महान् परिमाण स्कन्ध उपज जाता है, पदार्थों की शक्तियां विचित्र हैं।

एवमेवैकसमयिकाभ्यां भेदसंघाताभ्यामुत्पद्यमानोपि स्कंधः कश्चित्स्वकारणपरिमाणादधिकपरिमाणः कश्चिन्न्यूनपरिमाण इति सूक्तमुत्पश्यामो दृष्टविरोधाभावात् प्रतीयते हि तादृशः।

संघात अथवा भेद से उपज गये अवयवियों के अवगाह का विचार जैसे कर दिया है, इस ही प्रकार तीसरे कारण माने गये एक ही समय में होने वाले भेद और संघात दोनों से उपज रहा स्कन्ध भी कोई कोई तो अपने कारण के परिमाण से अधिक परिमाण वाला होजाता है, और कोई कोई स्कन्ध अपने कारण से न्यून परिमाण वाला होकर उपज जाता है, भावार्थ-दस प्रदेशों में ठहर रहे एक शताणुक स्कन्ध में से चार प्रदेशों में स्थित दशाणुक पिण्ड का विदारण होजाने से और दश प्रदेशों में ठहर रहे दूसरे विंशत्यणुक पिण्ड का सम्मिश्रण होजाने से उपजा एकसौ दश अणुओं वाला अवयवी अपने जनक कारणों के सोलह प्रदेशी या बीस प्रदेशी स्थान से अधिक एक सौ दश प्रदेशों को भी घेर कर ठहर सकता है, अथवा एक सौ दश अणुओं का स्कन्ध दश, आठ आदि स्वल्प प्रदेशों में भी अवगाह कर लेता है, तथा अपने कारणों के परिमाण से समान परिमाण वाले क्षेत्र में भी समा सकता है। इस प्रकार सूत्रकार द्वारा बढ़िया कहे जा चुके "भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते" इस सिद्धान्त के वैज्ञानिक रहस्य को हम कई ढंगों से प्रसिद्ध होरहा देखते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण से उक्त सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं आता है, जैसी वस्तु व्यवस्था प्रतीत होरही है, वैसा ही प्रयोग सूत्रकार द्वारा लिखा गया है, वैसा ही त्रिकाल त्रिलोक में अबाधित होकर प्रतीत होरहा है, प्रतीत पदार्थों में कुतर्कों की गति नहीं है।

यहां कोई जिज्ञासु मोटा आक्षेप उठाता है, कि जब संघात से ही स्कन्धों का आत्म-लाभ

होना सिद्ध होचुका है, और अणुओं की उत्पत्ति भेद से ही होरही कही जा चुकी है,ऐसी दशामें तीसरे उपाय माने गये भेद और संघात का कोई प्रयोजन शेष नहीं रहता है, ऐसा आक्षेप प्रवर्तने पर उस एक समय में हुये भेद, संघात, दोनों से स्कन्ध की उत्पत्ति होजाने के ग्रहण का प्रयोजन समझाने के लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः ॥ २८ ॥

एक ही समय में हुये भेद और संघात से वह स्कन्ध चक्षु-इन्द्रिय द्वारा ज्ञातव्य होजाता है। अर्थात्- जो स्कन्ध प्रथम चक्षु इन्द्रिय से ग्रहण करने योग्य नहीं था वह कुछ अवयव का भेद और कुछ अन्य अवयव के संघात से दर्शन विघातक सूक्ष्मपना को छोड़ता हुआ स्थूलता परिमाण के उपज जाने पर चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हो जाता है, सूक्ष्म परिणत स्कन्ध का अन्य स्कन्धों के साथ संघात होजाने से तो आंखों द्वारा दीखना ना प्रसिद्ध ही है. किन्तु सूक्ष्म स्कंध के कुछ अवयवों का विदारण होजाना और उसी समय स्थूलता या दृश्यता के सम्पादक अन्य अवयवों का मिश्रण होजाने से उपजी

स्थूल पर्याय को आंखों से देख लिया जाता है, सूक्ष्म का भेद होजाने से चक्षु-उपयोगी स्थूलता नहीं उपज सकती है, प्रत्युत सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होजायेगा, अतः सूक्ष्म को चाक्षुष बनाने के लिये इस सूत्र करके कहा गया उपाय प्रशंसनीय है।

भेदात्संघाताद्भेदसंघाताभ्यां च चक्षुर्ज्ञानग्राह्यावयवी कश्चित् स्वपरिमाणादणुपरिमाणकारणपूर्वकः, कश्चिन्महापरिमाणकारणपूर्वकः, कश्चित्समानपरिमाणकारणारब्धस्तद्वदृष्टोपि स्याद्बाधकाभावात् । तदाहुः ।

केवल विदारणसे या अकेले संघातसे अथवा भेद और संघात दोनोंसे उपज रहा नेत्र इन्द्रिय-जन्य ज्ञान द्वारा ग्रहण करने योग्य अवयवी कोई कोई तो अपने (अवयवी कार्य के) परिमाण से छोटे परिमाण वाले कारणों को पूर्ववर्त्ती उपादान कारण मानकर होजाता है, और कोई चक्षु इन्द्रिय-जन्य ज्ञान द्वारा ग्रहण करने योग्य होरहा अवयवी अपने परिमाण से अधिक परिमाण वाले कारणों को पूर्ववर्त्ती उपादान कारण लेकर उपज जाता है, तथा तीसरी जाति का कोई अवयवी अपने समान परिमाण वाले ही उपादान कारणों से आरब्ध होजाता है. यानी आकाश के सौ सौ प्रदेशों को घेर रहे तीन शलाकाओं के संघात से उपज रहा त्रिशलाका अवयवी बेचारा आकाश के सौ प्रदेशों में ही तिष्ठ जाता है, तीनसौ में भी विराजता है। अर्थात्-भेद से जो अवयवी उपजा है, वह अपने कारणों के परिमाण से न्यून परिमाण को घेरे यह तो ठीक ही है, किन्तु भेद से उपजा अवयवी (परमाणु द्व्यणुक आदि कतिपय छोटे अवयव नहीं) अपने कारणों के परिमाण से अधिक परिमाण या समान परिमाण वाले स्थान को घेर कर भी ठहर जाता है, यों भेद से उपजे हुये अवयवी में भी अवगाह के तीनों ढंग लागू होजाते हैं। इस प्रकार संघात से उपजा अवयवी अपने कारणों से

अधिक परिमाण वाला होय यह तो उचित ही है, किन्तु अवगाहना शक्ति अनुसार वह संघात-जन्य अवयवी अपने कारणों के परिमाण से न्यून परिमाण और सम परिमाण वाले प्रदेशों में भी सानन्द निवास करता है।

तथैव भेद और संघात दोनों से उपज रहा अवयवी अपने कारणों के परिमाण के समान परिमाण का धारी भले ही होय किन्तु भेद-संघात-जन्य अवयवी स्वकीय कारण परिमाण से अधिक और न्यून होरहे आकाश प्रदेशों में भी ठहर जाता है, जब कि एक उत्सज्ञा संज्ञा नामक छोटा अवयवी भी फैलना चाहे तो तीनों लोको में बिखर जाता है, तब भी लोकाकाश के एक एक प्रदेश पर अनन्तानन्त परमाणुओं के ठहरने का बांट आता है, तथा तीनों लोक की सम्पूर्ण अनन्तानन्त अणुयें भी एक प्रदेश में समा सकती हैं, तो फिर उक्त तीनों कारणों करके जन्य अवयवियों की स्व कारणों के अधिकरण-स्थल से न्यून, अधिक, और सम प्रदेशों, में तीन प्रकार से ठहर जाना असंदिग्ध हो जाता है।

जिस प्रकार अवयवियों के उपजने और ठहरने की व्यवस्था निर्णीत है, उसी प्रकार वह भेद संघात दोनों से उपज रहा अवयवी चक्षुः इन्द्रिय द्वारा देखा जा चुका है, क्योंकि बाधक प्रमाणों का अभाव है। बात यह है, कि जगत् के अनन्तानन्त अवयवियों का अनन्तवां भाग नेत्रों द्वारा देखने योग्य है, चक्षु इन्द्रिय से देखे जाने में विषय होरहे अवयवी की विशिष्ट रचना होजाना आवश्यक है, अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा नेत्र के लिये सामग्रीकी योजना विशेष रूप से करनी पड़ती है, नेत्र द्वारा ज्ञान करने में भ्रान्ति के कारण भी अनेक विघ्न उपस्थित होजाते हैं तभी तो भिन्न भिन्न ढंगों के उपनेत्र चश्मे। द्वारा मनुष्य छोटे बड़े पदार्थोंको बड़ा छोटा या चमकदार देखलेते हैं,दुरबीन सूक्ष्मबीन आदि नेत्र सहायक यंत्रों से हुये ज्ञान सूक्ष्म दृष्टि से विचारने पर कुछ भा में भ्रांति रूप निर्णीत होते हैं किन्तु वे ज्ञान विवेकी जीव को सम्यग्ज्ञान की ओर ले पहुंचाते है। सिनेमा में चित्रपट देखना या अन्य प्रतिबिम्बों (तसवीरों)का देखना भी भुलावा देते देते विचारशील पुरुषको समीचीन प्रतीति करा देता है, शेष स्थूल-बुद्धि पुरुषों या रागी को उनके द्वारा भ्रान्तिज्ञान बने रहने में ही बड़ा आनन्द आतारहता है। चक्षु इन्द्रिय से किस किस प्रकार विषय का ग्रहण होता है, इस विषय का एक बड़ा भारी पोथा बन सकता है। प्रकरण में सूत्र द्वारा आचार्य महाराज ने भेद संघातों से बने हुये विशेष अवयवी का चक्षु इन्द्रिय से ग्राह्य होजाना कह दिया है, उसीको और भी स्पष्ट करके श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिम वार्त्तिक द्वारा कह रहे हैं :

चाक्षुषोवयवी कश्चिद्भेदात्संघाततो द्वयात्।
उत्पद्यते ततो नास्य संघातादेव जन्मनः ॥ १ ॥

कोई कोई अवयवी तो भेद और संघात दोनों से चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने योग्य उपज जाता है, तिस कारण इस चक्षु इन्द्रिय ग्राह्य अवयवी का केवल संघात से ही जन्म होना हम स्याद्वा-

दियों के यहां नहीं माना गया है। अर्थात्-संघात से अचाक्षुष पदार्थ का चाक्षुष अर्थ उपज जाय, इसमें आश्चर्य नहीं है, किन्तु भेद और संघात दोनों से भी अचाक्षुष अर्थ चाक्षुष अर्थ होजाता है। हां राजवार्त्तिक में केवल भेद से चाक्षुष होना नहीं इष्ट किया है इस कारिकामें "भेदसंघाताद्वयात्" ऐसा पद नहीं कहा है, किन्तु "भेदात् संघातात्, द्वयात्,, इस प्रकार तीनपद न्यारे न्यारे कहे हैं, इससे यह भी श्री विद्यानन्द आचार्य महाराज का अभिप्राय ध्वनित होता है, कि तीनों स्वतंत्र कारणों से अचाक्षुष का चाक्षुष अर्थ बन जाता है, विज्ञान (साइंस) का सिद्धान्त है, कि किन्हीं किन्हीं दो गैसों के मिल जाने से बन गये पदार्थ का चाक्षुषप्रत्यक्ष नहीं होता है, हां उन मिली हुई गैसों का विदारण कर देने से उपजे पदार्थ का चक्षु से प्रत्यक्ष होजाता है। मोती या हीरा का विदारण कर देने से उसके भीतर का समल या निर्मल, अवयवी, टुकड़ा दृष्टिगोचर होजाता है, कई अवयवियों के पिण्ड में मिल जुल रहे छोटे अवयवी का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता था किन्तु उस पिण्ड का भेदन कर देने से वह अव्यक्त अवयवी व्यक्त दीख जाता है।

मूंग गेंहू उड़दों, में अन्य तुच्छ धान्य या कंकरियां मिल जाती हैं, या पुरानी मूंग आदि मिला दिये जाते हैं, चतुर ग्राहक ढेर में से थोड़े मुट्ठी भर धान्य को पृथक् कर गुप्त होरहे कूड़े, करकट को व्यक्त देख लेता है, सोने को घिस कर उसके अन्तरंग रूप को जांच लेते हैं, हल्दी, कत्था, सुपारी, बादाम को छिन्न, भिन्न, कर देख लिया जाता है। बात यह है, कि अप्रतिष्ठित प्रत्येक भी होरहे आम्रवृक्ष, केला आदि में यद्यपि पूरा एक एक जीव है, तथापि उनके छोटे छोटे टुकड़ों में भी वनस्पति कायिक जीव विद्यमान हैं, सचित्त का त्यागी आम्रवृक्ष से तोड़ लिये गये फल को नहीं खा सकता है, हां "सुक्कं पक्क तत्त" इत्यादि आगमोक्त प्रक्रिया से अचित्त होजाने पर अचित्त आमको खा लेता है, सिलोटिया और लुढ़िया से कच्चे आम की चटनी रगड़ने पर भी यदि बड़े बड़े अवयव रह जायेंगे तो वे सचित्त ही समझे जायगे, हां अधिक बट (घिस) जाने पर अचित्त होसकते हैं।

त्याग की मीमांसा यह है, कि भले ही इन्द्रियसंयम को पालने वाला व्रती सूखे, पके, तपाये गये या तीक्ष्ण रस वाले पादार्थ से मिलाये गये और यंत्र द्वारा छिन्न किये गये अचित्त पदार्थ को नहीं खाय किन्तु इनको अचित्त हो माना जायेगा। इस प्रकार एक अवयवी में अनेक अवयवियों या अवयवों का सम्मिश्रण है, लड्डू में बादाम, पिस्ता, इलायची, काली मिर्च, सोना चांदी के वर्क, सालम मिश्री आदि द्रव्य डाल कर मिला दिये जाते हैं,सुन्दर वस्त्र में गोटा, सलमा, मोती, लगा दिये जाते हैं, कोरे कागजों पर स्याही लगा कर अक्षर लिखदिये जाते हैं, गृह में ईंट चूना लकडी, सोटें, किवाड़, सींकचा लगाये जाते हैं, इस प्रकार के संयुक्त एक एक अवयवी का विदारण होजाने से उनके अव्यक्त छोटे अवयवियों का चाक्षुष प्रत्यक्ष होजाना प्रसिद्ध है, खांड के डेल, गुड़, आदि बद्ध अवयवी में क्वचित् यही व्यवस्था देखी जाती है, तथा संघात और भेद संघात दोनों से चाक्षुष अवयवी का उपज जाना कह दिया गया है, अतः संघात से ही चाक्षुष होने का अवधारण करना चाहिये।

पटादिरूपव्यतिरेकेण चक्षुर्बुद्धावप्रतिभासमानोऽवयवी कथं चाक्षुषो नाम ? गंधादेरपि चाक्षुषत्वप्रसंगादिति चेन्न, पटाद्यवयविन एव चक्षुर्बुद्धौ प्रतिभासनात् । तद्व्यतिरेकेण रूपस्य तत्राप्रतीतेर्गंधादिवत् ।

यहां कोई बौद्ध या वैशेषिक का एक-देशी पण्डित आक्षेप करता है कि चक्षु इन्द्रिय-जन्य ज्ञान में पट, पुस्तक, आदि के रूप के सिवाय अन्य कोई भी अवयवी नहीं प्रतिभास रहा है, ऐसी दशा में वह असत् अवयवी भला किस प्रकार चक्षु इन्द्रिय द्वारा उपजे हुये ज्ञान का विषय होसकता है ? बताओ। यों तो गन्ध, रस, आदि का भी चक्षु इन्द्रिय से ग्राह्य होजाने का प्रसंग आजावेगा यानी रूप या रूप जातीय के अतिरिक्त अन्य पदार्थों का भी यदि नेत्रों से प्रतिभास होने लगे तो गन्ध, स्पर्श, आदिक का भी नेत्र से ही प्रतिभास होजावेगा, नेत्र के अतिरिक्त शेष चार, पांच, अतीन्द्रिय इन्द्रियों की कल्पना करना व्यर्थ पड़ेगा। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि घट, पट, आदि अवयवियों का ही [illegible] प्रतिभास होरहा है, इन पट आदिक से सर्वथा व्यतिरिक्तपने करके रूप की उस स्थल में प्रतीति नहीं हो रही है। जैसे कि फूल इत्र कस्तूरी, आदि सुरभि स्कन्धों के अतिरिक्त गन्ध की या मोदक, पेड़ा, इमरती, आदि रसीले पदार्थों से भिन्न कोई रस आदि की प्रतीति नहीं होती है। तभी तो गन्ध या रस के प्राप्त करने की अभिलाषा प्रवर्तने पर गन्धवान्, रसवान् पदार्थ हो लाये जाते हैं। भावार्थ—भोजन करने के लिये केवल मुख ही नहीं चौका में भेज दिया जाता है, किन्तु तदभिन्न पूरा शरीर ले जाना पड़ता है। एक अंग या उपांग की ही अभिलाषा जागृत होने पर पूरे अंगी को प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करना आवश्यक है। अंगी से अंग अलग नहीं है। अनेक लोभी या तुच्छ मितव्यय की कोरी डींग मारने वाले पुरुष अपने शिक्षक गुरु के अकेले ज्ञान को ही अपने निकट बुलाना चाहते हैं। शिक्षक की आत्मा के अन्य गुण या गुरु के भोजन, वसन, बाल गोपाल आदिक को वे लोभी लक्ष्यमें नहीं रखना चाहते हैं, हितोपदेशक को भोजन कराने में भी उनका कंजूस हृदय संकुचित होजाता है, हमें तो गुरु के ज्ञान से ही प्रयोजन है, अन्य गुणों या अंगोंका आदर,सत्कार,पुरस्कार,क्यों किया जाय ? ऐसा वे अविनीत, अशिष्ट, कृतघ्न, लोभी पुरुष विचार कर लेते हैं "धिक् एतादृशं"। लेखनी का पांचसौवां अग्रवर्ती भाग केवल लिखने में उपयुक्त है। किन्तु पूरी एक बितस्त की लेखनी थामनी पड़ती है। प्रति दिन के सैकड़ों कार्यों में शरीर के छोटे छोटे सैंकड़ों अवयव ही न्यारे न्यारे कार्य कर रहे हैं, लेखक, सुनार, सूजी, रसोइया, पल्लेदार अध्यापक, चिट्ठीरसा, मल्ल,सैनिक, आदि पुरुषोंके न्यारे न्यारे अंग,उपांग विशेषतया कार्य करते रहते हैं। कितने ही शरीर के अवयव तो ऐसे हैं जो जन्म भर में एक वार भी काम में नहीं आते हैं, एतावता अखण्ड अंगीका तिरस्कार नहीं कर दिया जाता है। प्रकरण में यह कहना है कि केवल अवयवी से सर्वथा अतिरिक्त मान लिये गये रूप रस, गंध, स्पर्श, आदि की कदाचित् भी प्रतीति नहीं होती है।

चक्षुर्बुद्धौ रूपं प्रतिभासते न पुनस्तदभिन्नोऽवयवीति ब्रुवाणः कथं स्वस्थः ? कथं रूपादभिन्नोऽवयवी रूपमेव न स्यादिति चेत् तस्य ततः कथंचिद्भेदात् । न हि सर्वथा गुण-गुणिनोरभेदमात्रमाचक्ष्महे प्रतीतिविरोधात् पर्यायार्थतस्तयोर्भेदस्यापि प्रतीतेः । सर्वथाऽभेदे तयोर्भेद इव गुणगुणिभावानुपपत्तेः गुणस्वात्मवत्कुटपटवच्च ।

चक्षु: इन्द्रिय-जन्य ज्ञान में अकेला रूप ही प्रतिभासता है किन्तु फिर उससे अभिन्न होरहा अवयवी नहीं दीखता है इस प्रकार कहने वाला पण्डित भला कैसे स्वस्थ कहा जा सकता है ? मूर्छित पुरुष ही ऐसी पूर्वापर विरुद्ध बातों को बकता है । यदि वह पण्डित यों कहे कि रूप से अभिन्न होरहा अवयवी तो रूप ही क्यों नहीं होजायगा ? अतः रूप का दर्शन उस अवयवी का ही दर्शन समझ लिया जाय । यों कहने पर आचार्य कहते हैं कि उस रूपी अवयवीका उस अकेले रूप गुण से कथंचित् भेद है सर्वथा अभेद नहीं है, हम गुण और गुणीके केवल सर्वथा अभेद को नहीं बखान रहे हैं । ऐसा व्याख्यान करने में तो प्रतीतियोंसे विरोध आता है ।

सत्य बात यह है कि पर्यायों को जानने वाली पर्यायार्थिक नय अनुसार विचारने से उन गुण और गुणी का भेद भी प्रतीत होरहा है । कच्चे घड़े को पका देने पर उसी घड़े की श्यामता का नाश होकर रक्तता का उत्पाद होजाता है, रूप, रस, आदि के क्रमसे हुये अनेक ज्ञान नष्ट होते रहते हैं । किन्तु ज्ञाता, स्मर्ता, प्रत्यभिज्ञाता आत्मा वह का वही बना रहता है । यदि गुण और गुणीका सर्वथा अभेद मान लिया जायगा तो सह्य विंध्य, मल्ल प्रतिमल्ल, स्वर्ग नरक, आदिक सर्वथा भिन्न होरहे पदार्थों के सर्वथा भेद पक्ष में जैसे इनका गुण गुणी भाव नहीं बनता है । उसी के समान सर्वथा अभेद पक्ष में भी रूप और रूपवान्‌का गुणगुणीभाव नहीं बन सकता है, देखो गुण और उससे सर्वथा अभिन्न होरही गुण की आत्मा (स्वरूप) में गुण गुणी भाव नहीं है तथा सर्वथा भिन्न होरहे घट और पट में भी गुणगुणीभाव नहीं माना गया है इन्हीं के समान अन्य भी सर्वथा भिन्न या सर्वथा अभिन्न पदार्थों में स्वभाव स्वभाववान्‌पना या गुणगुणीपना नहीं घटित होसकेगा ।

तत्र द्रव्यार्थिकप्राधान्याद्द्रव्यस्वरूपादभिन्नत्वाद्रूपस्य चाक्षुषत्वे द्रव्यस्य चाक्षुषत्वसिद्धिः स्पृश्यादभिन्नस्य स्पर्शस्याभावात्तत्र स्पार्शनत्वसिद्धिरिति चेत् पर्यायार्थिकप्राधान्याच्च द्रव्याद्भेदेपि रूपस्येव द्रव्यस्यापि चाक्षुषत्वोपगमान्न तस्याचाक्षुषत्वं, नाप्यस्पार्शनत्वं स्पर्शस्येव तद्द्रव्यस्य स्पार्शनत्वप्रतीतेः । न च दार्शनं स्पार्शनं च द्रव्यमिति द्वींद्रियग्राह्यं द्रव्यमुपगम्यते तस्य घ्राणरसनश्रोत्रमनोग्राह्यत्वेनापि प्रसिद्धेः ।

उस गुण गुणी स्वरूप वस्तु में द्रव्यार्थिक दृष्टि को प्रधानता अनुसार द्रव्य स्वरूप से अभिन्न होजाने के कारण रूप यदि चाक्षुष माना जायेगा तो साथ ही तदभिन्न द्रव्य को भी चाक्षुषपने की सिद्धि होजाती है । यदि यहां कोई वैशेषिक पण्डित यों कटाक्ष करे कि छूने योग्य स्पृश्य द्रव्य से अभिन्न होरहे स्पर्श का अभाव है, द्रव्य से गुण सर्वथा भिन्न है अतः उस वस्तु में स्पर्श के तो स्पर्शन

इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होजाने की सिद्धि होजाती है । यों कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि पर्यायार्थिक नय की प्रधानता से द्रव्य से भेद होने पर भी रूप के समान द्रव्य का भी चाक्षुषपना अभी स्वीकार किया गया है । अतः द्रव्यार्थिक विषय के समान पर्यायार्थिक विषय से भी द्रव्य को चाक्षुषपना है, उस रूपवाले द्रव्य का अचाक्षुषपना नहीं है और इसी प्रकार द्रव्य को स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा गोचर होजाने का निषेध भी नहीं है द्रव्यार्थिक या पर्यायार्थिक नय अनुसार स्पर्श को जैसे स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा ग्राह्यपना है उसी प्रकार उस स्पर्शवाले द्रव्यका भी स्पार्शनपना प्रतीत होरहा है ।

बात यह है कि वैशेषिक पण्डित द्रव्यों के बहिरिन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष में रूप को कारण मानते हैं । " रूपमत्रापि कारणं द्रव्याध्यक्षे " प्राचीन वैशेषिक वायु द्रव्यका प्रत्यक्ष नहीं मानते हैं, विजातीय स्पर्श करके विलक्षण शब्द करके, तृण आदिकों का उड़ कर अधर डटे रहने से और शाखा, पत्ते, वस्त्र, आदिके कम्प करके वायु का अनुमान कर लिया जाता है इसी प्रकार प्राचीन वैशेषिक पण्डित रसना इन्द्रिय की और घ्राण इन्द्रिय की द्रव्य के ग्रहण करने में सामर्थ्य नहीं मानते हैं नाना जाति के रस वाले अवयवों करके बनाये गये अवयवी को वे नीरस स्वीकार कर लेते हैं, उस अवयवी में अवयवों के रस का ही रासन प्रत्यक्ष होता है ।

हां नवीन वैशेषिक वायु का प्रत्यक्ष मान लेते हैं, अनेक रस वाले अवयवों से उपजे हुये अवयवी में चित्र रस मानने के लिये भी वे उद्युक्त हैं, इत्यादिक वैशेषिकों का समस्या बड़ी विषम है । " उद्भूत स्पर्शवद्द्रव्यं गोचरः सोऽपि च त्वचः, रूपान्यच्चक्षुषोयोग्यं " यों कह नवीन वैशेषिकों ने रूप और स्पर्श गुण तथा रूपवान् और स्पर्शवान् द्रव्यों का बहिरंग इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होजाना अभीष्ट कर लिया है किन्तु इतना लक्ष्य रहे कि द्रव्य को केवल चक्षुः इन्द्रिय और स्पर्शन इन्द्रिय से ही ग्रहण करने योग्य नहीं स्वीकार कर लिया जाय यानी चक्षु इन्द्रिय-जन्य चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय होरहा दार्शन और स्पर्शन इन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष का विषय होरहा स्पार्शन यों केवल दो ही इन्द्रियों करके ग्रहण करने योग्य नहीं मान बैठना चाहिये क्योंकि उस पुद्गल द्रव्य को नासिका, जिह्वा, कान और मन इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करने योग्यपन करके भी प्रसिद्धि होरही है अतः वैशेषिकोंका एकान्त प्रशंसनीय नहीं है ।

रूपादिरहितस्य द्रव्यस्येव द्रव्यरहितानां रूपादीनां प्रत्यक्षाद्यविषयत्वादसर्वपर्यायाणां मतिश्रुतयोर्विषयत्वव्यवस्थापनात् ।

जैन सिद्धान्त अनुसार गुण और गुणी में कथंचित् अभेद है, गुणों से रहित होकर केवल गुणी का सद्भाव असम्भव है, वैशेषिकों ने आद्य क्षण में अवयवी का गुणरहित उपजना स्वीकार किया है यह मन्तव्य सर्वथा पोच है तथा गुणी द्रव्यके बिना अकेले गुणों का निवास करना भी उस ही प्रकार असम्भव है । तभी तो रूप, रस, आदिक से रहित होरहे द्रव्य का जैसे प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों द्वारा गोचर होजाना नहीं अभीष्ट किया है । उसी के समान द्रव्य से रहित होरहे केवल रूप आदि गुणों का भी किसी भी प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से ग्रहण नहीं होसकता माना है, आश्रय के बिना रूप

आदिक गुण बेचारे कहां ठहर रहे माने जासकते हैं ? द्रव्य के प्रत्यक्ष में जैसे रूप आदिकों का सहित

पना वैशेषिकों के यहां आवश्यक है। उसी प्रकार रूप आदिकों के प्रत्यक्ष में भी उनके अधिकरण होरहे द्रव्यों का साथ ही अवलोकन होजाना अपेक्षणीय है। यदि कोई यहां यों तर्क करे कि दीपक ओट में रक्खा रहता है उसकी प्रभा दीख जाती है, कुटकी परोक्ष में दूर कुटती रहती है फिर भी उसके रस का प्रत्यक्ष होजाता है, शीशी के इत्र का प्रत्यक्ष नहीं होजाने पर भी उसकी फैली हुई सुगन्ध सूंघ ली जाती है, दूरवर्ती अग्नि आदि के स्पर्श को छू लिया जाता है।

इस पर जैनों को यह कहना है, कि वस्तुतः गवेषणा की जाय तो दीपक अपनी कलिका-शरीर में ही निमग्न है, प्रभा या प्रकाश के उपादान कारण तो घर या चौके में फैल रहे पुद्गल स्कन्ध हैं, सूर्य या दीपक तो प्रकाश के निमित्त मात्र हैं, इसी प्रकार दूर वर्त्ती नैमित्तिकों अनुसार इन्द्रियों के निकटवर्त्ती पुद्गल स्कन्ध ही कड़वे, सुगंधित, उष्णस्पर्शवाले, परिणत होगये हैं, अतः जब कभी रूप आदिकों का प्रत्यक्ष होगा वह द्रव्य-सहितों का ही होगा यह जैन सिद्धान्त निरवद्य है। उमास्वामी महाराज ने प्रथम अध्याय में "मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु" इस सूत्र द्वारा छः द्रव्यों की असर्व पर्यायों और सम्पूर्ण छः छः द्रव्यों की मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के गोचर-पने करके व्यवस्था करादी है, कतिपय पर्यायों से सहित होरहे द्रव्य का मतिज्ञान या श्रुतज्ञान से प्रतिभास होता है, इसी बात को दूसरी वचन भंगी से यों कह लो कि मतिज्ञान या श्रुतज्ञान द्वारा द्रव्यों में वृत्ति होकर जाने जा रहे रूप, रस, आदि कतिपय पर्यायों का परिज्ञान होता है, अतः दर्शन, स्पर्शन, के समान द्रव्य को रासन, नासिक्य, श्रौत्र, मानसिक भी स्वीकार किया जाय। गुण और गुणी का कथंचित् अभेद मानने पर वैशेषिकों को चित्र रूप, चित्र रस, चित्र स्पर्श, चित्र गन्ध, मानने का बोझ नहीं बढ़ाना पड़ेगा और रसनासंयोगसन्निकर्ष, त्वक्संयोगसन्निकर्ष तभी सफल होसकेंगे।

इदमेव हि प्रत्यक्षस्य प्रत्यक्षत्वं यदात्मनोऽर्थान्तरविवेकेन बुद्धौ स्वरूपस्य समर्पणं। इमे पुनः रूपादयो द्रव्यरहिता एवामूल्यदानक्रयिणः स्वरूपं च नादर्शयन्ति प्रत्यक्षतां च स्वीकर्तुमिच्छन्तीति स्फुटमभिधीयतां।

चूंकि प्रत्यक्षज्ञान का प्रत्यक्षपना यही है, अथवा प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय होरहे अर्थ का प्रत्यक्ष होजाना यही है, जो कि अपने (विषय स्वरूप) से भिन्न होरहे अनन्त पदार्थों का पृथक् भाव करके प्रत्यक्षबुद्धि में स्वकीय रूप का भले प्रकार अर्पण करदेना है, द्रव्य से रहित होरहे ये रूप आदिक ही फिर मूल्य नहीं देकर क्रय करने वाले होरहे हैं, बुद्धि में अपने स्वरूप को नहीं दिखलाते हैं, और अपने प्रत्यक्ष होजाने को स्वीकार करना चाहते हैं, इसी बात को आप बौद्ध स्पष्ट करते रहियेगा। अर्थात्-विक्रेय पदार्थ को मूल्य नहीं देकर क्रय करना (खरीदना) बड़ा भारी चोरी का दोष है, बौद्ध स्थान स्थान पर यों कह देते हैं, कि आप जैनों या नैयायिकों के यहां माना स्कन्ध या अवयवी

कोई पदार्थ नहीं है, वह स्कन्ध अपने प्रत्यक्ष ज्ञान में अपनी आत्मा का समर्पण नहीं करता है, और अपना प्रत्यक्ष होजाना चाहता है, विषय का अपना प्रत्यक्ष कराने में ज्ञान के लिये अपना आकार अर्पण कर देना ही मूल्य दे देना है, ज्ञान में पदार्थों का प्रतिबिम्ब पड़ जाना स्वरूप आकार को मानते हुये साकार ज्ञान-वादी बौद्धजन ज्ञान के लिये अपने आकार का समर्पण करदेना ही विषय करके मूल्य दे देने की उत्प्रेक्षा कर लेते हैं।

हां जैन विद्वान् विषय भूत अर्थों की ज्ञान द्वारा विकल्पना होजाना ही आकार मानकर ज्ञान को साकार इष्ट करते हैं, ज्ञान में अर्थों का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता है। सत्य बात यह है कि बौद्धों के यहां मानी गयीं सूक्ष्म असाधारण, क्षणिक, परमाणु, स्वलक्षणों का ही किसी को कदाचित् प्रतिभास नहीं होपाता है, ये परमाणुयें ही प्रत्यक्षबुद्धि में अपने स्वरूप का समर्पण नहीं करती हुईं अपना प्रत्यक्ष होजाना मांगती हैं, अतः बौद्धों की कल्पित परमाणुयें अमूल्यदान-क्रयी हैं, अवयवी तो अपने अर्थविकल्प स्वरूप आकार को प्रत्यक्षमें समर्पण कर अपना प्रत्यक्ष करना चाहता है, अतः अमूल्यदानक्रयी नहीं है, अपने से भिन्न पदार्थों का पृथग्भाव कर बुद्धि में शुद्ध प्रमेय के निज स्वरूप की विकल्पना होजाना ऐसा मूल्य देकर सौदा लेना जैनों को अभीष्ट है।

अपने आश्रय द्रव्यके सहित होरहे ही रूप,रस,आदिक विषय बुद्धिके लिये अपना मूल्य देकर प्रत्यक्ष होना चाहते हैं, द्रव्य रहित अकेला रूप या रस-रहित कोरा द्रव्य चोर है, डांकू है, गंठकटा है, उठाईगीरा है, अतः न्यायशालिनी बुद्धि केवल गुण या केवल गुणी का प्रत्यक्ष नहीं कराती है, यह बौद्धों को स्पष्ट कहना पड़ेगा अब वे द्रव्य-रहित कोरे रूप या रस को नहीं स्वीकार कर सकते हैं, क्योंकि मतिज्ञान में द्रव्य से सहित होरहे रूप आदिकोंका ही परिज्ञान होरहा है "वर्णादय एव न स्कन्धाः" अथवा "अवयवा एव न अवयवी" ये मन्तव्य समाचीन नहीं है।

एतेन श्रुतज्ञानेप्यप्रतिभासमानाः श्रुतज्ञानपरिच्छेद्यत्वं स्वीकर्तुमिच्छंतस्त एवामूल्यदानक्रयिणः प्रतिपादितास्तद्रहितद्रव्यवत् ततः प्रतीतिसिद्धमवयविनः चाक्षुषत्व स्पार्शनत्वादि समुपलक्षयति बाधकाभावात्।

इस उक्त कथन करके इस बात का भी प्रतिपादन कर दिया गया है, कि सर्वथा असत् होरहे पदार्थ का प्रतिभास नहीं होसकता है, अतः अर्थ से अर्थान्तर को जानने वाले श्रुतज्ञान में भी नहीं प्रतिभास रहे ये द्रव्यरहित कोरे रूप आदिक पदार्थ अपना श्रुतज्ञान द्वारा परिच्छेद होजाना स्वीकार करना चाह रहे ये अमूल्यदान-क्रयी हैं, जैसे कि उन रूप आदिकों से रहित होरहा कोरा द्रव्य अमूल्यदान-क्रयी है। अर्थात्- जब वर्ण,संस्थान आदिक-आत्मक स्कन्ध की स्फुट प्रतिपत्ति होरही है, और द्रव्य-रहित कोरे रूप आदिक या रूप आदिक रहित कोरे द्रव्य की क्वचित्,कदाचित्, कस्यचित्, प्रतीति नहीं होरही है, ऐसी दशा में इनका श्रुतज्ञान में भी प्रतिभास नहीं होसकता है, अतः मूल्य नहीं देकर यों ही झपटलेना यह दोष सांख्य या बौद्धों के ऊपर ही आता है, स्याद्वादियों के यहां तो विषय करके

विक्रेता को स्वकीय विकल्पना स्वरूप पूरा मूल्य देकर अपना प्रत्यक्ष कराना मानागया है, जिस कारण अवयवी का चाक्षुषपना सूत्रोक्त अनुसार प्रतीतियों से सिद्ध होजाता है।

भेद संघातों से चाक्षुष होय इतना ही नहीं सूत्रकार का अभिप्राय है, प्रत्युत चाक्षुषपना के पद स्पार्शन, रासनपन, आदि का भी भले प्रकार उपलक्षण कर लेता है, कोई बाधक प्रमाण नहीं है। भावार्थ–"तद्भिन्नत्वे सति तत्सदृशत्वमुपलक्षणं" अचाक्षुष भी अवयवी इन भेद और संघात से चक्षु इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होजाता है, उक्त सूत्र का इतना ही अभिप्राय नहीं लिया जाय किन्तु पहिले अस्पार्शन, अरासन, आदि होरहे पदार्थ भी भेद और संघात से पुनः स्पार्शन, रासन आदि होजाते हैं, ऐसा उक्त सूत्र का उदार अभिप्रेतार्थ है।

किं पुन द्रव्यस्य लक्षणमित्याह।

जीव आदि छः द्रव्यों का विशेष लक्षण तो उन स्थलों पर सूत्रकार महाराज ने कह दिया है, किन्तु साधारण रूप से द्रव्य का लक्षण अभी नहीं कहा जा चुका है, अतः यह कहना चाहिये कि द्रव्य का लक्षण फिर क्या है? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर श्री उमास्वामी महाराज इस अगले सूत्र को कहते हैं।

सद्द्रव्यलक्षणम् ॥ २९ ॥

द्रव्य या द्रव्यों का लक्षण सत् है। अर्थात्–जो विद्यमान रह चुका है, विद्यमान है, विद्यमान रहेगा वह सत् पदार्थ द्रव्य है, जो सत् नहीं है, वह द्रव्य नहीं है, नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक, बौद्ध, आदि के यहां तत्व या द्रव्य का लक्षण ठीक ठीक नहीं बन सका है, जोकि अव्याप्ति, अतिव्याप्ति असम्भव दोषों करके रहित होय वैशेषिकोंद्वारा द्रव्यत्व के योग से द्रव्य समझा जाता है, इत्यादि लक्षणों का विचार किया जा चुका है। परमार्थ रूप से देखा जाय तो यह द्रव्य का सूत्रोक्त लक्षण सर्वत्र, सर्वदा, निर्दोष है। जैसे कि अर्थ-क्रिया-कारित्व वस्तु का लक्षण है, "स्वपरात्मोपादानापोहनव्यवस्थापाद्यं हि वस्तुनो वस्तुत्वं" इसी प्रकार द्रव्य या तत्व भी सत् लक्षण वाला है, पंचाध्यायीकार पण्डित राजमल्ल जी द्वारा "तत्वं सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वतः सिद्धं। तस्मादनादिनिधनं स्व-सहायं निर्विकल्पं च" इस पद्य करके तत्व के सत् लक्षण को पुष्ट किया गया है, क्यों न हो जब कि महान् पूज्य श्री कुन्दकुन्द आचार्य महाराज ने सत्ता को ही द्रव्य का आत्मा निर्धारित किया है, अनन्तानन्त गुणों के पिण्ड होरहे द्रव्य में अस्तित्व का प्रभाव ओत पोत छा रहा है, द्रव्य से अस्तित्व अभिन्न है, अतः द्रव्य का सत्पना आत्मभूत लक्षण है।

अथ विशेषतः सद्द्रव्यस्य लक्षणं सामान्यतो वा? यदि विशेषतस्तदा पर्यायाणां द्रव्यत्वप्रसंगादतिव्याप्तिर्नाम लक्षणदोषः, अव्याप्तिश्च त्रिकालानुयायिनि द्रव्ये सद्विशेषाभावात् वर्तमानद्रव्य एव तद्भावात्। यदि पुनः सामान्यतस्तद्द्रव्यस्य लक्षणं शुद्धमेव द्रव्यं स्यादिति सैवाव्याप्तिरशुद्धद्रव्ये तदभावदिति वदंतं प्रत्युच्यते।

अब यहाँ किसी का पूर्व पक्ष प्रारम्भ होता है कि यह द्रव्य का लक्षण जो सत किया गया है वह क्या विशेष रूप से सत्पना द्रव्य का लक्षण है ? अथवा क्या सामान्य रूप से सत्पना द्रव्य का लक्षण इस सूत्र में कहा गया है ? बताओ। यदि प्रथम पक्ष अनुसार विशेष रूप से सत्पना द्रव्य का लक्षण माना जायेगा तब तो घट, पट, नारंगी, अमरूद, काला, नीला, खट्टा, मीठा, आदि पर्यायों को भी द्रव्यपन का प्रसंग आजावेगा यह लक्षण का अतिव्याप्ति नामक दोष हुआ, पर्यायें भी विशेष रूप से सद् हैं किन्तु वे पर्यायें द्रव्य नहीं मानी गयीं हैं. अन्यथा यानी अभेद पक्ष पर बल दिया जायगा तब तो द्रव्य, गुण, पर्याय, इन तीन अर्थों की व्यवस्था नहीं की जा सकेगी तथा विशेष रूप से सत् को द्रव्य का लक्षण मानने पर अव्याप्ति दोष भी आता है। क्योंकि भूत, वर्तमान, भविष्य, इन तीनों कालों में अन्वय रूप से अनुयायी होरहे द्रव्य में विशेषतया सत्पना नहीं है, वर्तमान द्रव्य में ही वह विशेष सत्पना विद्यमान है त्रिकाल अनुयायी द्रव्य में तो सामान्य रूप से सत्पना ठहर सकता है अतः गौ का लक्षण शुक्ल कह देने से जैसे अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, दोनों दोष आते हैं, उसी प्रकार विशेष सत् को द्रव्य का लक्षण करने पर अतिव्याप्ति, अव्याप्ति, ये दोनों दोष आते हैं।

यदि फिर द्वितीय पक्ष अनुसार सामान्य रूप से उस सत् को द्रव्य का लक्षण कहा जायेगा तब तो शुद्ध द्रव्य ही द्रव्य होसकेगा इस कारण फिर वही अव्याप्ति दोष आया क्योंकि द्व्यणुक, त्र्यणुक, नारकी जीव, मनुष्य, आदि अशुद्ध द्रव्यों में उस सामान्य रूप से सत्पन लक्षण का अभाव है। अतः द्रव्य का उक्त लक्षण निर्दोष नहीं है, इस प्रकार वाद कर रहे किसी पण्डित के प्रति आचार्य महाराज करके अग्रिम वार्तिक द्वारा स्पष्ट समाधान कहा जाता है।

सद्द्रव्यलक्षणं शुद्धमशुद्धं सविशेषणं।
प्रोक्तं सामान्यतो यस्मात्ततो द्रव्यं यथोदितं ॥ १ ॥

जिस कारण से कि चाहे शुद्ध द्रव्य हो या अशुद्ध द्रव्य हो अथवा अन्य किसी प्रकार जीवत्व पुद्गलत्व, आदि विशेषणों से सहित द्रव्य होय यह सब सामान्य रूप से सत्पना बहुत अच्छा कहा गया है तिस ही कारण सर्वज्ञ आम्नाय से चले आ रहे श्रुतज्ञान अनुसार द्रव्य का लक्षण सूत्रकार महाराज ने कह दिया है जो कि त्रिकाल, त्रिलोक में अबाधित होकर अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, दोषों का निवारण करता हुआ यथार्थ है।

न हि विशेषतः सद्द्रव्यलक्षणं यतोऽतिव्याप्त्यव्याप्ती स्यातां सामान्यतस्तस्य तल्लक्षणत्वात्। नन्वेवं शुद्धद्रव्यमेव सल्लक्षणं स्यादशुद्धद्रव्यमेव सल्लक्षणं स्यादशुद्धद्रव्यस्यापि तल्लक्षणत्वोपपत्तेः। ततो नाव्याप्तिर्लक्षणस्य। यथैव हि देशकालैरविच्छिन्नं सर्वत्र सर्वदा सर्वथा वस्तुनि सत्सदिति प्रत्ययाभिधानव्यवहारनिबंधनं सत्तासामान्यं शुद्धद्रव्यलक्षणं सदाबाधमनुभूयमानमाबालप्रसिद्धं तथा सर्वद्रव्यविशेषेषु द्रव्यं द्रव्यमित्यनुभूतबुद्ध्यभिधाननिबंधनद्रव्योपाधि सदेवद्रव्यस्यमशुद्धद्रव्यसविशेषणस्य सत्त्वस्याशुद्धत्वात्।

हम आर्हत सिद्धान्ती प्रथम पक्ष अनुसार विशेष रूप से सत्को द्रव्य का लक्षण नहीं स्वीकार करते हैं। जिससे कि इस लक्षण में अतिव्याप्ति, अव्याप्ति दोष होजाते, हम तो सामान्य रूपसे उस सत् को उस द्रव्यका लक्षण होजाना स्वीकार करते हैं। इस प्रकार मानने पर शुद्ध द्रव्य ही सत् लक्षण वाला नहीं हो सकेगा जिससे कि द्वितीय पक्ष अनुसार अव्याप्ति दोष आजाय अशुद्ध द्रव्य को भी उस सामान्यत: सत्पन लक्षण से युक्तपना बन जाता है, तिस कारण सम्पूर्ण लक्ष्यों में सामान्य सत् इस लक्षण की घटना होजाने से लक्षण के ऊपर अव्याप्ति दोष नहीं आता है, कारण कि जिस ही प्रकार सम्पूर्ण देश और सम्पूर्ण कालों करके नहीं विच्छिन्न होरहा अटूट सत्तासामान्य बेचारा सभी स्थलों पर सम्पूर्ण कालों में सभी प्रकारों करके वस्तु में " सत् है सत् है " ऐसे ज्ञान और व्यवहारियों में बोले जा रहे शब्दव्यवहार का कारण होरहा सत्ता शुद्ध द्रव्य का लक्षण है जोकि बालक, बालिका, पामर, से प्रारम्भ कर प्रकृष्ट विद्वानों तक बाधारहित होकर अनुभवा जा रहा सत्ता प्रसिद्ध है।

तिस प्रकार सम्पूर्ण जीव, पुद्गल, धर्म, आदि विशेष द्रव्यों में भी " ये द्रव्य हैं यह द्रव्य है" इत्यादिक रूप से अनुभवे जा रहे ज्ञान और शब्द व्यवहार के कारण होरहे द्रव्य को विशेषण मान रहा सत् ही द्रव्यपन है। " मनुष्य जीव: सन्" यों अशुद्ध द्रव्य करके विशेषण सहित होरहा सत्व ही अशुद्धता है। अर्थात्—श्री सिद्धभगवान्, आकाश, आदि शुद्ध द्रव्यों में जैसे " सत् सत् " इस ज्ञान और शब्द योजनाके व्यवहार का कारण सत्ता सामान्य ही द्रव्यकी शुद्धता है, उसी प्रकार द्व्यणुक, नारकी, आदि अशुद्ध द्रव्यों या विशेष विशेष जीव आदि द्रव्यों में " द्रव्य है द्रव्य है " ऐसे ज्ञान या शब्दों के होजाने का कारण होरहा सत्व ही द्रव्य की अशुद्धता या विशेष व्यक्तित्व है। अत: द्रव्य का लक्षण सामान्यत: सत्पना शुद्धद्रव्य के समान अशुद्ध द्रव्यों में भी चरितार्थ है।

एवं जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशकालद्रव्यं प्रत्येतव्यं। क्रमयौगपद्यवृत्ति-स्वपर्याय-व्यापि-जीवत्वविशेषणस्य सत्वस्य जीवद्रव्यत्वात्तादृक् पुद्गलत्वविशिष्टस्य पुद्गलद्रव्यत्वात् क्रमाक्रमभाविधर्मपर्यायव्यापिधर्मत्वविशेषणस्य धर्मद्रव्यत्वात्, तथाविधाधर्मत्वोपहितस्याधर्मद्रव्यत्वात्, तादृशाकाशत्वोपाधेराकाशद्रव्यत्वात्, क्रमाक्रमभाविपर्यायव्यापिकालत्वविशिष्टस्य कालद्रव्यत्वात्।

जैसे शुद्ध द्रव्य अथवा अशुद्ध द्रव्य इस सामान्य रूप से सत्पन लक्षण करके तदात्मक होरहे हैं। इसी प्रकार विशेषणसहित सत्व को धार रहे जीवद्रव्य, पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश द्रव्य और काल द्रव्य भी विश्वास कर लेने योग्य हैं, कारण कि जीव की क्रम से वर्त्त रहीं क्रमभावि पर्यायें, और युगपत्पन से वर्त रहे गुणनामक सहभावी पर्यायें यों अपनी दोनों जाति की पर्यायों में व्याप रहा जीवत्व नामक विशेषण का धारी सत्व ही जीव द्रव्य है। अर्थात्—जीव में सामान्य सत्व रह गया जो कि त्रिकाल-वर्त्ती सहभावी, क्रमभावी पर्यायों में व्याप रहे जीवन नामक विशेषण से संयुक्त है। उसी ढंग से तिस प्रकार की क्रम और युगपत्पने से वर्त रही अपनी अपनी पर्यायों में व्याप-

रहे पुद्गलत्व से विशिष्ट होरही सत्ता ही पुद्गलद्रव्य है।

क्रम और अक्रम से होने वालीं धर्मद्रव्य की निज पर्यायों में व्याप रहे धर्मद्रव्यपन विशेषण से आलीढ हो रहे सत्व को धर्मद्रव्यपना है। तथा तिसी प्रकार यानी अपनी क्रम, अक्रमवर्ती अधर्म-द्रव्य सम्बन्धी पर्यायों में व्याप रहे अधर्म द्रव्यपन विशेषण को पहन रही सत्ता ही अधर्म द्रव्य है। तिन्हीं के सदृश अपनी आकाश-सम्बन्धी क्रम, अक्रमवर्त्ती पर्यायों में व्याप रहे आकाशत्व नामक उपाधिधारी सत्व को आकाश द्रव्य माना जाता है। तथैव क्रम, अक्रम, से होने वालीं अपनी काल द्रव्य की पर्यायोंमें व्याप रहे कालत्व विशेषणमे विशिष्ट होरहा सत्व ही काल द्रव्य है अतः विशेषण होकर उन द्रव्यों में वर्त्त रहा सत्व ही जीव आदि द्रव्यों का तदात्मक लक्षण है प्रत्येक जीव द्रव्य या एक एक पुद्गल द्रव्यमें भी उस निज पर्यायोंमें व्याप रहे व्यक्तित्व विशेषण से युक्त होरहे सत्वका तादात्म्य बन रहा है जो कि द्रव्य का लक्षण किये जाने योग्य है।

नन्वस्तु सद्द्रव्यस्य लक्षणं तत्तु नित्यमेव, तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञानात् तदनित्यत्वे ऽघटनात् सर्वदा बाधकरहितत्वादिति कश्चित्, प्रतिक्षणमुत्पादव्ययात्मकत्वान्नश्वरमेव तद्विच्छेदप्रत्ययस्याभ्रांतस्यान्यथानुपपत्तेरित्यपरः। तं प्रत्याह।

यहां कोई पण्डित अनुनय करता है कि द्रव्य का लक्षण जो सामान्यतः सत् कहा गया है वह बहुत अच्छा है किन्तु वह सत्व नित्य ही है, क्योंकि "यह वही है" इस प्रकार सत्व का एकत्व प्रत्यभिज्ञान होता रहता है, यदि उस सत् का अनित्य होना माना जायेगा तो सादृश्य प्रत्यभिज्ञान भले ही होजाय किन्तु "यह वही है" ऐसा एकत्व प्रत्यभिज्ञान वहां अनित्यपक्ष में घटित नहीं होपाता है सभी कालों में सत् के नित्यपन को साध रहा एकत्व प्रत्यभिज्ञान नाम का प्रमाण बाधकों से रहित है। इस प्रकार कोई सांख्यमत के पक्ष का अवलम्ब लेकर कह रहा है। तथा दूसरा पण्डित बौद्ध मत का आश्रय लेकर यों अवधारण कर रहा है कि वह सत् प्रत्येक क्षण में उत्पाद और व्यय-आत्मक होने से नाशशील ही है पहली पर्याय नष्ट होकर दूसरे क्षण में अन्य ही पर्याय उपजती रहती है, घूम रहे पहिये के अरा और अर विवर के समान उस उत्पाद और व्ययकी चल रही धारा में पड़े हुये विच्छेदों (अन्तरों) का होरहा भ्रान्ति-रहित ज्ञान अन्यथा हो नहीं सकता है अर्थात्—उत्पाद, व्यय, यदि नहीं माने जायेंगे तो स्थास, कोष, कुशूल, घट, कपाल, या बिजली, दीप कलिका, आदि में होरहे मध्यवर्ती विच्छेदों का ज्ञान झूंठ पड़ जायेगा सर्वथा नित्य पदार्थ सदा एक ही रहता है उस में अनेक उपज रहे, विनश रहे भावों का अन्तराल नहीं पड़ता है, अतः सत् नश्वर है। इस प्रकार कोई दूसरा पण्डित कह रहा है। अब सूत्रकार उन एकान्त नित्यवादी और एकान्त क्षणिक-वादी पण्डितों के प्रति समाधान कारक सूत्र को कहते हैं।

उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥ ३० ॥

द्रव्य के उत्तर समयवर्त्ती परिणाम का उपजना स्वरूप उत्पाद और पूर्व समयवर्त्ती पर्याय का

विघट जाना रूप व्यय तथा अनादि कालीन पारिणामिक स्वभाव करके स्थिर बने रहना स्वरूप ध्रौव्यसे युक्त यानी समाहित होरहा सत् है। अर्थात्—सत् वस्तु का प्राण अर्थ-क्रियाकारित्व है, उत्पाद व्यय, ध्रौव्यों करके अर्थ क्रिया होजाती है। भावान्तर की प्राप्ति होना और पूर्व भाव का विगम होने तथा दीर्घ कालसे अन्वित चले आरहे स्वकीय पारिणामिक भाव करके ध्रुवपना ये सत् के स्वरूप हैं। अद्वैत वादियों का प्रतिभास स्वरूप सत् या वैयाकरणों का मात्र अस्तित्व रूप सत् अथवा वैशेषिकों की नित्य और द्रव्य, गुण, कर्मों में समवेत होरही सत्ता यहां सत् नहीं पकड़ी गई है "हां सत्वं अर्थक्रियया व्याप्तं" अर्थ क्रिया च क्रमयौगपद्याभ्यां व्याप्ता, क्रमयौगपद्ये तु उत्पादव्ययध्रौव्यैर्व्याप्ते" यह प्रक्रिया अच्छी है।

स्वजात्यपरित्यागेन भावांतरावाप्तिरुत्पादः, तथा पूर्वभावविगमो व्ययः, ध्रुवेः स्थैर्यकर्मणोध्रुवतीति ध्रुवस्तस्य भावः कर्म वा ध्रौव्यं तैर्युक्तं सदिति बोद्धव्यम्।

अपनी सदृश परिणामरूप जीवत्व, पुद्गलत्व, आदि जातियों का परित्याग नहीं करके चेतन अथवा अचेतन द्रव्य के परिणामान्तरों की प्राप्ति होजाना उत्पाद है. और तिसी प्रकार यानी स्वजाति का अपरित्याग करके पूर्ववर्ती भावों का विनश जाना व्यय है। "ध्रुव गतिस्थैर्ययोः" इस तुदादि गण की धातु या "ध्रुव स्थैर्ये" इस भ्वादि गणकी स्थिर क्रिया को कहने वाली "ध्रुवति" इस धातु से अच् प्रत्यय करने पर ध्रुव शब्द बनता है, उस ध्रुव का भाव अथवा कर्म ध्रौव्य है,यों तद्धित में ष्यञ् प्रत्यय कर ध्रौव्य शब्द साधु बना लिया जाता है। इन उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यों करके युक्त होरहा सत् है। इस प्रकार सूत्र का अर्थ समझ लेना चाहिये। बात यह है. कि सत् को उत्पाद व्ययों करके युक्त कह देने से सर्वथा नित्य-वादका खण्डन होजाता है और सत्को ध्रौव्ययुक्त कह देनेसे क्षणिकवाद का निराकरण कर दिया जाता है. तीनों से समाहित होरहा सत् परमार्थ वस्तु है, भेद पक्ष अनुसार "युजिर् योगे" धातु से और अभेद पक्ष अनुसार "युज समाधौ" धातु से युक्त शब्द साधु बना लिया जाय।

तत्रोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति सूचनात्।
गुणसत्वं भवेन्नैव द्रव्यलक्षणमंजसा ॥ १ ॥

द्रव्यलक्षणके उस प्रकरण में,उत्पाद,व्यय, ध्रौव्य इनसे युक्त होरहा सत् है, यों श्री उमास्वामी महाराज करके सूत्रद्वारा सूचना कर देने से गौण सत्ता तो द्रव्य का लक्षण निर्दोष नहीं होसकेगा। अर्थात्–जिसमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य यानी अन्वित स्वरूप को अक्षुण्ण बनाये रखती हुई षट् स्थान-पतित हानि वृद्धियां होती रहती हैं, वह वास्तविक सत् तो द्रव्य है। बौद्धों के यहां कल्पित किया गया सत्व या वैशेषिकों की सत्ता जाति अथवा अद्वैतवादियों का चित् स्वरूप सत्व तो द्रव्य के लक्षण नहीं होसकते हैं। सूत्र के उद्देश्यदल में एवकार लगा देनेसे अन्य गौणसत्ता या कल्पित सत्ता अथवा कापिलों के सत्वगुण की व्यावृत्ति होजाती है, अतः वस्तुभूत सत्व ही द्रव्य का लक्षण है।

न हि गुणभूतं सत्त्वमुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तमुपपद्यते तस्य कल्पितत्वात्, नांजसा, द्रव्यस्य लक्षणं वस्तुभूतस्यैव सत्त्वस्योत्पादादियुक्तत्वोपपत्तेः भेदज्ञानादुत्पादव्ययसिद्धिवदभेदज्ञानाद्ध्रौव्यसिद्धेरप्रतिबंधत्वात् ।

गौणरूप से कल्पित होगया सत्व या सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुण, में गुण होकर पड़ा हुआ सत्व तो नियम करके उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यों, से युक्त नहीं बन सकता है, क्योंकि वह कल्पित है, झूंठ मूठ कल्पना कर लिये गये पदार्थ में वास्तविक पदार्थ के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य नहीं पाये जाते हैं, 'न हि कल्पितो गौर्वाहदोहादावुपयुज्यते' तमारा या चकाचौंध दोष से रीते आकाश में दीख रहे तमः पिण्ड या तेज पिंड सारिखे पदार्थों की उत्पत्ति विनाश, और स्थिरता नहीं प्रतीत होरही है। इस प्रकार गुण (गौण) भूत सत्ता द्रव्य का निर्दोष लक्षण नहीं है, वास्तविक होरहे सत्व को ही उत्पाद, व्यय आदि से सहितपना युक्तिपूर्ण माना जाता है, पूर्वोत्तर अवस्थाओं में भेद को ग्रहण करने वाले ज्ञान से जैसे उत्पाद और व्यय की सिद्धि होजाती है, उसी प्रकार द्रव्य का पूर्वापर अवस्थाओं में अभेद का ज्ञान करने से ध्रुवपन की सिद्धि होजाने का कोई प्रतिबन्ध नहीं है, अर्थात्-वस्तु भेदाभेदात्मक है, भेद की अपेक्षा से उत्पाद, व्यय, इन दो की व्यवस्था है, और अभेद की अपेक्षा ध्रुवपना निर्णीत है।

ननु च ध्रौव्ययुक्तं सद्द्रव्यस्य लक्षणं उत्पादव्यययुक्तं सत् पर्यायस्य लक्षणमिति व्यक्तं वक्तव्यमविरोधात् । नैवं वक्तव्यं, सर्व एकत्वादेका सत्तेति वचनात्तदेकं द्रव्यमनंतपर्यायमित्युच्यते न पुनर्द्विविधा द्रव्यसत्ता पर्यायसत्ता चेति । ततोन्यस्य महासामान्यस्यैकस्य तद्व्यापिनो द्रव्यस्य प्रसंगात् । तदपि यद्यसद्रूपं तदा न द्रव्यं खरविषाणवत् सद्रूपं चेत्, सैवैका सत्तेति सिद्धं सल्लक्षणं द्रव्यमेव पर्यायस्य पर्यायांतररूपेण सद्रूपत्वप्रतीतेः ।

यहां किसी पंडित का अनुनय है, कि जब वस्तु बेचारी द्रव्य पर्याय-आत्मक मानी गई है, तो ध्रौव्य-युक्त सत् को तो द्रव्य का लक्षण कह दिया जाय तथा उत्पाद और व्यय से युक्त होरहे सत् को पर्याय का लक्षण मान लिया जाय तो इस प्रकार जैन-सिद्धान्त में कोई विरोध आता नहीं दीखने से सूत्रकार द्वारा व्यक्त कह देना चाहिये। अर्थात्- 'स्पष्टवक्ता न वंचकः, यह नीति अच्छी है, कवि जन भले ही 'वक्रोक्तिः काव्य-जीवितं' स्वीकार करें किन्तु दार्शनिकों को वक्र कथन शोभा नहीं देता है। अब आचार्य कहते हैं, कि इस प्रकार नहीं कहना चाहिये कारण कि सत्ता या सत् एक ही है, 'सत्ता एक है, ऐसा जैन सिद्धान्त ग्रन्थों में कहा गया है, 'एका हि महासत्ता' 'सत्ता सव्वपयत्था स-विस्सरूवा अणंत-पज्जाया। भंगोप्पादधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एगा॥" ऐसे सर्वज्ञ आम्नायसे चले आरहे शास्त्रों के वचन हैं। वह एक ही सत् द्रव्य है, जो कि अनन्त पर्यायों वाला है, यों कह दिया जाता है, किन्तु सत्ता फिर द्रव्य सत्ता और पर्याय-सत्ता यों दो प्रकार की नहीं है, यदि सत्तायें दो मानी जायगी तो एक महासत्ता को मानने वाले जैनों के यहां फिर उन द्रव्य और पर्यायों का द्रव्यसत्ता, पर्याय सत्ता, इन दोनोंमें व्यापने वाले उनसे न्यारे एक महासामान्य द्रव्य को स्वीकार करनेका प्रसंग आवेगा।

सत्ताओं में पुनः सत्ता के मानने की आवश्यकता तो नहीं है.

यदि वैशेषिकों के मत अनुसार स्वयं असत् पदार्थों का सत्ता के योग से सत् होजाना माना जायगा तो दो सत्ताओं को सती बनाने के लिये तीसरी महासत्ता माननी पड़ेगी और वह निराला महासामान्य सत्व भी असत् स्वरूप होगा तब तो वह द्रव्य नहीं होसकता है, जैसे कि सर्वथा असत् खरविषाण कोई द्रव्य नहीं है, हां उस महासामान्य को यदि सत् स्वरूप मान लोगे तो यही सिद्धान्त सिद्ध हुआ कि वह सत्ता एक ही है, सत् इस लक्षण का धारी द्रव्य ही है, अथवा जब सत्ता एक ही है, तो इस कारण सिद्ध [illegible] भी अन्य पर्यायों के स्वरूप से सद्रूपपना प्रतीत होरहा है, घट, पट, मतिज्ञान, सुख दुःख आम्रफल केला आदि पर्यायों में अन्य काला, पीला, अविभाग प्रतिच्छेद, खट्टा, मीठा, आदि पर्यायों के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, अनुसार सत्-पना है, अकेले उत्पाद अंश या विनाश अंश अथवा एक अविभाग प्रतिच्छेद में भले ही सत् पना नहीं होय कोई क्षति नहीं पड़ती है, अभेद या अभेद उपचार से एक एक अंश या उपांशों में सत्पना घटित होजाता है, स्याद्वाद सिद्धान्त अक्षुण्ण है।

तत एव सल्लक्षणमेव द्रव्यं शुद्धमित्यवधार्यते, तस्यासद्रूपत्वाभावात् प्रागभावादेरपि भावांतरस्वभावस्यैव सदसत्त्वसिद्धेः। सदिति प्रत्ययाविशेषाद्विशेष-लिंगाभावादेका सत्तेति परैरप्यभिधानात् केवलध्रौव्ययुक्तमेव सदित्येकांतव्यवच्छेदनार्थमुत्पादव्ययायुक्तमित्युच्यते, तस्यानंतपर्यायात्मकत्वात् पर्यायाणां चोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वात्। [illegible] नित्यं सदेकमसत्यमनुस्यूताकारं तस्यासद्रूपव्यावृत्त्याकल्पितत्वात् स्वलक्षणस्यैवोत्पादव्ययवतः सत्त्वादित्येकांतव्यवच्छित्तये ध्रौव्य-युक्तमित्यभिप्रायवशात्।

तिस ही कारण से "सद्द्रव्यलक्षणं" इस पहिले सूत्र में पूर्व अवधारण कर सत् लक्षण वाला ही द्रव्य शुद्ध है, यों सत् एव द्रव्य लक्षणं,, अवधारण कर लिया जाता है, उस द्रव्य को असत् स्वरूप पना नहीं है, वैशेषिकों के यहां प्रागभाव, ध्वंस, आदि को सर्वथा भावों से भिन्न असत् पदार्थ मान रक्खा है, सो ठीक नहीं है, अन्य मिट्टी, कपाल, भूतल आदि भावों के भाव स्वरूप होरहे ही प्रागभाव आदि का भी कथंचित् सत् असत् पना सिद्ध कर दिया गया है। अर्थात्-मृद् आदि द्रव्य या उपादान होरहीं पर्यायें ही घट आदि कार्यों का प्रागभाव है, तथा उपादेय की उत्पत्ति ही उपादान का ध्वंस है, स्वभावान्तरों से स्वभाव की व्यावृत्ति होजाना परिणाम अन्योन्याभाव है, और अगुरुलघु गुण अनुसार त्रैकालिक भेद को बनाये रखनेवाली परिणतियें अत्यन्ताभाव है, यों भावस्वरूप ही अभाव है, तुच्छ निरुपाख्य कोई अभाव पदार्थ नहीं है।

दूसरे विद्वान् वैशेषिकों ने भी वैशेषिक दर्शनके प्रथम अध्याय-सम्बन्धी पन्द्रहवें "सदिति लिङ्गाविशेषाद् विशेषलिंगाभावाच्चैको भावः,, इस सूत्र में सत्ता को एक कहा है, जब कि द्रव्य, गुण,

कर्मों, में या इनकी विशेषव्यक्तियों में 'सत् सत्, ऐसी प्रतीति विशेषता से रहित होरही है, और एक सत्ता के पुन: विशेष भेद करने वाले लिंगों का अभाव है, अत: सत्ता नाम का सामान्य एक है, हां कुछ सत्ता के विशेषणों में न्यून अधिक करते हुये हम जैन सत्ता को एक स्वीकार कर लेते हैं, वैशेषिकों ने सर्वथा नित्य, एक, और अनेकों में समवायिनी सत्ता का स्वीकार किया है, जैन सिद्धान्त में पूर्व उक्त गाथा अनुसार सम्पूर्ण पदार्थों में ठहर रही, विश्व स्वरूप से होरही, अनन्त पर्यायों वाली उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, इन प्रयोजनों को साध रही, और अपनी प्रतिपक्ष-भूत अवान्तर सत्ताओं से सहित होरही एक महासत्ता स्वीकार की गई है, जो कोई एकान्त-वादी वैशेषिक, नैयायिक, या ब्रह्माद्वैत-वादी पण्डित उस सत्ता को केवल ध्रुवपन धर्म से ही युक्त होरही बखानते हैं, यानी सत् केवल ध्रौव्य से ही समाहित है, ऐसा कह रहे हैं, उन पण्डितों के एकान्त मन्तव्य का व्यवच्छेद करने के लिये सत् उत्पाद और व्यय से युक्त है, यों कह दिया जाता है, क्योंकि वह त्रिलक्षणात्मक सत् तो अनन्तानन्त पर्यायों के साथ तदात्मक होरहा है, और पर्यायें सभी उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यों करके युक्त हैं, अत: सत् स्वतः ही उत्पत्ति, विनाश, स्थितिशाली हुआ ।

हां दूसरे सत् को क्षणिक या अनित्य स्वीकार करने वाले पण्डित जो यों कह रहे हैं कि वह सत् नित्य नहीं है,एक भी नहीं है, 'सत् सत्' ऐसी अन्वय बुद्धि करके ओत पोत होरहे शुद्ध सत् आकार वाली भी सत्ता नहीं है, क्योंकि सत्पना धर्म कोई वस्तुभूत नहीं है, असत्पने की व्यावृत्ति करके उस सत् को कल्पित कर लिया गया है, जैसे कि संसार में सच पूछो तो कोई बलवान्, ज्ञानवान्, सुखी, सुन्दर नहीं, है, केवल निर्बलतारहितपन, मूर्खतारहितपन उग्रदुःखव्यावृत्ति, कुरूप व्यावृत्ति द्वारा वैसी वैसी कल्पना कर ली जाती है, प्रचण्ड और अनीतियुक्त प्रभु यदि कतिपय व्यक्तियों को हानि नहीं पहुचावे इतने से ही बड़े बड़े कवि या भाट अथवा भयभीत मिथ्याप्रशंसी जन (चापलूस) उस प्रभु को परम परोपकारी, विश्वबन्धु, धार्मिकवरेण्य, प्रशान्तकषाय, दीनोद्धारक, महामना, आदि पदवियों से अलंकृत कर देते हैं । इसी प्रकार सत् भी असत् का निषेध रूप होकर सत्ता रूप से कल्पित कर लिया गया है,जगत् में नित्य, स्थिर, स्थूल, साधारण, माना जाय ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है, वस्तुत: क्षणिक, असाधारण, सूक्ष्म ऐसे उत्पाद, व्यय, स्वभावों वाले स्वलक्षण को ही सत् स्वरूपपना है ।

आचार्य कहते हैं, कि बौद्धों के इस एकान्त का व्यवच्छेद करने के लिये सत् के लक्षण में ध्रौव्य से युक्त इस चारों ओर से तदात्मक होरहे विशेषण का भाषण किया गया है, अत: उक्त सूत्र में कहा गया उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यों से युक्त होरहा सत् निर्दोष है ।

स्यान्मत,यद्युत्पादादीनि परैरुत्पादादिभिर्विना सन्ति तदा द्रव्यमपि तैर्विनैव सदस्त्विति व्यर्थं तद्युक्तवचनं, अथ परैरुत्पादादिनियोगात् तदानवस्था स्यात् प्रत्येकमुत्पादादीनामपरोत्पादादित्रययोगात्तदुत्पादादीनामपि प्रत्येकमपरोत्पादादित्रययोगतः सत्त्वसिद्धेः । सुदूरमपि गत्वोत्पादादीनां स्वतः सत्त्वे सतोपि स्वत एव सत्त्वं भवेदुत्पादादीनां सतोनर्थान्तरत्वे लक्ष्यल-

[illegible] प्रज्ञाकरेणोक्तं तस्याप्रज्ञाविजृंभितमित्यर्थं दर्शयति ।

यहां किसी पण्डित का मन्तव्य सम्भवतः यों होय कि उत्पाद आदिक धर्म यदि दूसरे उत्पाद आदिकों के विना ही सत् स्वरूप हैं, तब तो द्रव्य भी उन उत्पाद आदिकों के बिना ही स्वतः सत् स्वरूप होजाओ, इस प्रकार सूत्रकार करके उन उत्पाद आदिकों से युक्त उस सत् का निरूपण किया जाना व्यर्थ है, अब यदि वैयर्थ्य दोष को टालते हुये यों कहना प्रारम्भ करो कि वे सत् में वर्त रहे उत्पाद आदिक तो अन्य उत्पाद आदिकों करके योग होजाने से सत् स्वरूप हैं, तब तो जैनों के यहां अनवस्था दोष आजावेगा क्योंकि प्रत्येक उत्पाद, विनाश, आदिकों का पुनः दूसरे दूसरे उत्पाद आदि तीनों करके योग होजाने से सत्व व्यवस्थित किया जायगा तथा पुनरपि उन तीसरे, चौथे आदि उत्पाद आदिकों का भी प्रत्येक प्रत्येक में अन्य अन्य उत्पाद आदि तीनों के योग से सत्पना सिद्ध होगा अतः महान् अनवस्था दोष हुआ। इस दोष को टालने के लिये कहीं बहुत दूर भी चल कर यदि उत्पाद आदिकों की स्वतः सत्ता मान ली जायगी तब तो द्रव्य के लक्षण होरहे सत् का भी स्वतः ही सत्पना होजाओ, ऐसी दशा में इस सूत्र को व्यर्थ ही क्यों गढ़ा जाता है ? ;

जैन इस बात का भी ध्यान रक्खें कि उत्पाद आदिकोंका सत् से अभेद होना मानने पर उनके यहां सत् और उत्पाद आदिकोंके लक्ष्यलक्षणभाव होजानेका विरोध आता है,क्योंकि अभेदपक्ष अनुसार उन उत्पाद आदि लक्षण और लक्ष्यभूत् सत् में कोई अन्तर नहीं माना गया है, यहां तक कट्टर बौद्ध पण्डित प्रज्ञाकर द्वारा बौद्धों का मत कहा जा चुका है। अब ग्रन्थकार कहते हैं, कि तिस प्रकार यह जो प्रकाण्ड बौद्ध पण्डित प्रज्ञाकर जी ने कहा है, वह सब उन पण्डित जी की अविचारशालिनी अप्रज्ञा की मात्र चेष्टा है नाम निक्षेपमात्र से जो प्रज्ञा के आकर (खानि) बने हुये हैं, या प्रज्ञा को बनाने वाले कहे जाते हैं, उनके कार्य प्रज्ञाशालिता के नहीं हैं, गांमों में गुड़ तक भी नहीं खाने वाले दीन भिखारी किन्हीं पुरुषों का नाम मिश्रीलाल रख दिया जाता है, कितने ही दरिद्रों के नाम लक्ष्मीचन्द्र हैं, निर्बल पुरुषों को अर्जुनसिंह नामसे पुकारा जाता है, कुरूप मनुष्य का स्वरूपचन्द्र संज्ञा करके सम्बोधन किया जाता है,इसी प्रकार प्रज्ञाकर नामधारी पण्डितजी अप्रज्ञा व्यापारके विलासमें व्यग्र बने रहते हैं,उनकी इसी अबुद्धिपूर्वक चेष्टा को ये ग्रन्थकार श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम वार्त्तिकों द्वारा दिखलाते हैं।

यथोत्पादादयः संतः परोत्पादादिभिर्विना ।
तथा वस्तु न चेत्केनानवस्था विनिवार्यते ॥ २ ॥
इत्यसत्सर्वथा तेषां वस्तुनो भिदसिद्धितः ।
लक्ष्यलक्षणभावः स्यात्सर्वथैक्यानभीष्टितः ॥ ३ ॥
उत्पादव्ययध्रौव्यैक्यैर्युक्तं सत्समाहितं ॥

बौद्धोंके मन्तव्यका अनुवाद है,कि उत्पाद आदिक तीनों धर्म जिस प्रकार दूसरे उत्पाद आदिकों के बिना सत् स्वरूप हैं, तिसी प्रकार सत् आत्मक वस्तुत भी उत्पाद आदि के बिना ही सत् होजाओ यदि ऐसा नहीं माना जायेगा यानी वस्तु को सत् रक्षित करने के लिये उत्पाद आदिकों की उसमें निष्ठा की जायगी इसी न्याय अनुसार उत्पाद आदिकों को भी सत् व्यवस्थित करने के लिये अन्य उत्पाद आदिकों की उत्तरोत्तर कल्पना की जायेगी तब तो आरहे अनवस्था दोष का भला किस विद्वान् करके निवारण किया जा सकता है ? अर्थात्— कोई भी शक्ति-शाली पुरुष अनवस्था दोष को नहीं टाल सकता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

आचार्य कहते हैं, कि यह बौद्धों का मन्तव्य सभी प्रकारों से असत्य है, क्योंकि सत् स्वरूप वस्तु के साथ उन उत्पाद आदि धर्मों के सर्वथा भेद की असिद्धि है, अर्थात् वस्तु से उत्पाद आदि सर्वथा भिन्न होते तब तो उत्पाद आदि का न्यारा सद्भाव रक्षित करने के लिये पुन: उनमें उत्पाद आदि तीनों की योजना करते करते अनवस्था आजायेगी किन्तु जब समीचीन कुटुम्ब के समान धर्मी धर्मों का एकीभाव होरहा है, तो पुन: आकांक्षा नहीं बढ़ने पाती है, पीले आम्र के शेष दूसरे धर्म भी पीले हैं, आम का मीठा रस उसके शेष सभी धर्मों में ओत पोत होकर घुस रहा है, हाथ, पांव मुख, ये अवयव सब पेट को पुष्ट करते हैं, पेट भी माता के समान सबको ठीक बांट पहुंचा देता है, स्वभावों में दम्भ का प्रवेश नहीं है, अत: अनवस्था दोष का अवकाश नहीं है।

दूसरे आक्षेप पर हम जैनों को यों कहना है, कि हमारे यहां उत्पाद आदिकों का सत् के साथ सर्वथा अभेद भी अभीष्ट नहीं किया गया है, अत: बड़ी प्रसन्नता के साथ सत् और उत्पाद आदि में लक्ष्यलक्षण भाव बन जावेगा। अग्नि उष्णता,आत्मा ज्ञान आदि में लक्ष्यलक्षण भाव बेचारा कथंचित् भेद अभेद अनुसार सुघटित है। सूत्र में युक्त शब्द डाल देने से भेद पक्ष का भ्रम नहीं कर लेना चाहिये कि जैसे धनयुक्त, दण्ड-युक्त में युक्त शब्द सर्वथा भिन्न के साथ पुन: योजना करने पर प्रयुक्त किया गया है, वैसा ही यहां भी होगा, किन्तु बात यह है, कि यहां केवल रुधादिगण की 'युजिर योगे' धातु से युक्त शब्द नहीं बना कर दिवादिगणीय युज समाधौ इस धातु से भी निष्ठा प्रत्यय कर युक्त शब्द बना दिया गया है, अत: उत्पाद व्यय,ध्रौव्यों,की एकताओं करके युक्त सत् है, इस सूत्रोक्त का अभिप्राय यों है, कि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यों के अभेद सम्पादक ऐक्यों करके वह सत् समाहित होरहा है, अर्थात्– तीनों से तदात्मक होकर एकाग्रभूत सत् है, अत: भेद पक्ष में आने वाले दोष यहां नहीं फटक सकते हैं, कथंचित् भेद,अभेद पक्षका दुर्ग अभेद्य है,क्षुद्र मनुष्य अलंघ्य रत्नों पर आक्रमण नहीं कर सकते हैं।

तादात्म्येन स्थापितं सदिति युजेः समाध्यर्थस्य व्याख्यानान्न तेषां सतोर्थान्तरत्व-मुच्यते येन तत्पक्षभावी दोषोनवस्था तद्योगवैयर्थ्यलक्षणः स्यात्। चानर्थान्तरत्वमेव यतो लक्ष्य-लक्षणभावविरोधः कथंचिद्भेदोपगमाद्युजेर्योगार्थस्यापि व्याख्यानात्।

युक्त का अर्थ तदात्मकपने करके व्यवस्थापित होरहा सत् है इस प्रकार " युज समाधौ " इस समाधान यानी तादात्म्य अर्थ को कह रही युज धातु का व्याख्यान यहां किया गया है इस कारण उन उत्पाद आदिकों का सत् से भेद नहीं कहा जाता है। जिससे कि उस सर्वथा भेद पक्ष में होने वाला अनवस्था दोष या उन उत्पाद आदिकों के योगका व्यर्थपना स्वरूप दोष होजाता। अर्थात्—'स्यान्मतं' करके जो भेद में उत्पाद आदि के योग का व्यर्थपना या उत्पाद आदि से सत्व मानने पर पुनः उत्पाद आदि द्वारा सत्व की व्यवस्था करने पर अनवस्था दोष उठाया गया था वह अब सर्वथा भेद के नहीं स्वीकार करने पर लागू नहीं होपाता है, उत्पाद आदिका सत् के साथ कथंचित् अभेद माना गया है। तथा उन उत्पाद आदिकों का सत् से सर्वथा अभेद ही होय ऐसा भी नहीं है जिससे कि लक्ष्य लक्षण भाव का विरोध होजावे क्योंकि कथंचित् भेद भी स्वीकार किया गया है, योग अर्थ को कह रही युज धातु का भी यहां युक्त शब्द में व्याख्यान किया गया है। तदनुसार भेद अर्थ व्यक्त होजाता है।

किं पुनः सतो रूपं नित्यं ? यद्ध्रौव्ययुक्तं स्यात् किं वानित्यं ? यदुत्पादव्ययुक्तं भवेदितिनिर्णयार्थमाह — आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यहां किसी जिज्ञासु का प्रश्न है कि उस सत् का स्वरूप क्या फिर नित्य है ? जिससे कि वह सत् ध्रौव्य युक्त होजाय। अथवा क्या सत् का निज स्वरूप अनित्य है ? जिससे कि वह सत् बेचारा उत्पाद और व्यय से युक्त होजावे ? बताओ। इस प्रकार जिज्ञासा प्रवर्तने पर सिद्धान्त विषय को दिखला रहे श्री उमास्वामी महाराज इस अगले सूत्र को कहते हैं।

तद्भावाव्ययं नित्यं ॥ ३१ ॥

एकत्व प्रत्यभिज्ञान के हेतु होरहे तद्भाव का जो व्यय नहीं होना है वह नित्य है। अर्थात्— जिस स्वरूप करके वस्तु पहिले समयों में देखी गई है उसी स्वरूप करके पुनः पुनः उस वस्तु का ध्रुव परिणमन है ऐसे तद्भाव का अविनाश नित्य माना जाता है, जैसे कि शिवक, स्थास, कोष, कुशूल, घट, कपाल, आदि अवस्थाओं में कालान्तर-स्थायी मृत्तिका स्वरूप भावका अव्यय है। यद्यपि मृत्तिका को नित्य कहने में भी जी झिचकिचाता है फिर भी लोक व्यवहार या द्रव्यार्थिकनय अनुसार नित्यपन का उपचार है वैसे तो त्रिकालान्वयी द्रव्य और उसके सहभावीगुण नित्य हैं यहां प्रकरण अनुसार ध्रौव्य के व्यवस्थापक नित्यत्व का निरूपण कर दिया है, द्रव्य या गुण को परिणामीनित्य मानने वाले जैनों के यहां तदभिन्नपर्यायों के ध्रुवत्व अंश की इसी ढंग से संघटना होसकती है।

सामर्थ्याल्लभ्यते द्वितीयं सूत्रं अतद्भावेन सव्ययमनित्यं, इति तस्य भावस्तद्भावस्तत्त्वमेकत्वं तदेवमिति प्रत्यभिज्ञानसमधिगम्यं तदित्युपगमात्। तेन कदाचिद्व्ययासत्त्वादव्ययं नित्यं सामर्थ्यादनुत्पादमिति गम्यते व्ययनिवृत्तावुत्पादनिवृत्तिसिद्धेरुत्तराकारोत्पादस्य पूर्वाकारव्ययेन व्याप्तत्वात् तन्निवृत्तौ निवृत्तिसिद्धेः।

सूत्रकार ने नित्य का लक्षण कंठोक्त कर दिया है, किन्तु अनित्य का लक्षण सूत्र द्वारा नहीं कहा गया है, तथापि इसी सूत्र की सामर्थ्य से यह दूसरा सूत्र कहा गया लब्ध होजाता है अर्थात्-स्वल्प व्यक्तियों में अत्यधिक प्रमेय अर्थको ठूंस लेने वाले सूत्रों द्वारा बहुतसा अर्थ विना कहे ही प्राप्त होजाता है। यह सब गुरु, गम्भीर, सूत्र की ही महिमा है। गुरुजी महाराज सभी ग्रन्थों को नहीं पढ़ाते हैं तथापि उनकी पाठन प्रक्रिया अनुसार विनीत शिष्य को अनेक ग्रन्थ स्वतः लग जाते हैं कृतज्ञ शिष्य को यह सब गुरु जी का ही प्रसाद समझना चाहिये। प्रकरण में यह कहना है कि प्रतियोगितान्याय या परिशेष न्याय से यहां अनित्य का लक्षण करने वाला यह दूसरा सूत्र ध्वनित होजाता है कि अतद्भाव करके यानी सादृश्य या वैलक्षण्य को विषय करने वाले प्रत्यभिज्ञान के हेतु होरहे तादृश अन्यादृश, परिणतियों करके जो विनाशसहित होजाता है वह अनित्य है, यों लगे हाथ अनित्यका भी लक्षण होगया है।

उक्त सूत्र का अर्थ यह है कि उसका यानी विवक्षित पदार्थ का जो भाव है वह तद्भाव है यों षष्ठी तत्पुरुष वृत्ति द्वारा बनाये गये तद्भाव शब्द का तत्पना यानी एकपना अर्थ होता है जो कि तत् बेचारा "यह वही है" ऐसे प्रत्यभिज्ञान प्रमाण द्वारा भले प्रकार समझ लेने योग्य है। इस प्रकार तत् का भाव स्वीकार किया गया है उस तद्भाव करके कदाचित् भी विनाश होजाने का अभाव है। इस कारण तद्भाव करके नहीं विनाश होने को नित्य माना गया है, यहां सूत्र में व्यय पद उपलक्षण है "एकसंबंधिज्ञानमपरसंम्बधिस्मारकं" यों बिना कहे ही अन्य उक्त शब्दों की सामर्थ्य से नञ् सकलित उत्पाद पद का भी अध्याहार होरहा अवगत होजाता है। अतः तद्भाव करके उत्पाद नहीं होना भी नित्य के उदर में संप्रविष्ट है। अनुत्पाद और अव्यय का अविनाभाव है, अतः लाघव प्रयुक्त अव्यय शब्द से ही अनुत्पाद को गतार्थ कर दिया गया है। सूत्रकार महाराज की अप्रतिम प्रतिभा की जितनी भी प्रशंसा प्रतिष्ठित की जाय वह स्वल्प है। जिस पदार्थ में व्यय की निवृत्ति होगई है उसमें व्यय निवृत्ति होते ही उसी समय उत्पाद की निवृत्ति स्वतः सिद्ध होजाती है जैसे कि अश्वके दक्षिण शृंग की निवृत्ति होते ही वामशृङ्गकी तत्काल निवृत्ति होजाती है। बात यह है कि उत्तर आकार के उत्पाद की पूर्व आकार के विनाश के साथ व्याप्ति होचुकी है "कार्योत्पादः क्षयो हेतोः"। अतः उस व्यय की निवृत्ति होने पर नित्य द्रव्य में उत्पाद की निवृत्ति विना कहे ही सिद्ध होजाती है।

अतद्भावोन्यत्वं पूर्वस्मादन्यदिदमित्यन्वयप्रत्ययादवसेयं। तत्प्रयोज्यमनित्यमुत्पादव्ययोगात् तदुक्तं "नित्यं तदेवेदमिति प्रतीतेर्न नित्यमन्यत्प्रतिपत्तिसिद्धेरिति तदेव युक्तमेतत्सूत्रद्वितयमित्युपदर्शयति।

अनित्य का ज्ञापक सिद्ध लक्षण करने पर प्रयुक्त किये गये अतद्भाव का अर्थ अन्यपना है जो कि "पूर्व परिणाम से यह परिणाम अन्य है" इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान स्वरूप अन्वय प्रत्यय से वह अतद्भाव जान लेने योग्य है। वह अतद्भावका प्रयोजक तो अध्रौव्य यानी अनित्य है। क्योंकि

उत्पाद और व्यय का योग होरहा है। अर्थात्—ध्रुवपन से जैसे नित्यपना व्यवस्थित है उसी प्रकार उत्पाद व्ययों करके वस्तु का अनित्य स्वरूप नियत होरहा है। वही गुरुवर्य श्री समन्तभद्राचार्य महाराज ने बृहत्स्वयंभू स्तोत्र में पुष्पदन्त महाराज की स्तुति करते समय यों कहा है कि " नित्यं तदेवेदमिति प्रतीतेर्न नित्यमन्यत्प्रतिपत्तिसिद्धेः। न तद्विरुद्धं बहिरन्तरङ्गनिमित्तनैमित्तिकयोगतस्ते" तदेव इदं " यह वही है " जो पहिले था ऐसी धाराप्रवाह अनुसार नवनवांशों को ग्रहण करने वाली प्रतीति होते रहने से अर्थ नित्य माना जाता है और यह इससे अन्य है " सैष न " ऐसी प्रतिपत्ति की सिद्धि होने से अर्थ नित्य नहीं यानी अनित्य समझा जाता है। बहिरंग और अन्तरंग होरही निमित्त परिणतियों के योग से होरहे वे नित्यपन, अनित्यपन, धर्म एकत्र विरुद्ध नहीं हैं, दोनों धर्म वस्तुभूत परिणमनों की भित्ति पर डटे हुये हैं। हे जिनेन्द्रदेव तुम्हारे स्याद्वादशासन में विरोध आदि दोषोंका अवतार नहीं है। इस प्रकार सूत्रकार को वही कहना युक्त पड़ा " तद्भावाव्ययं नित्यं " और अर्थात्—आपन्न होगये " अतद्भावेन " सव्यय यों दोनों सूत्र ठीक हैं, इसी सूचित की गई बात को श्री विद्यानन्द आचार्य [illegible] वार्तिकों द्वारा [illegible]

तद्भावेनाव्ययं नित्यं तथा प्रत्यवमर्शतः।
तद्ध्रौव्यं वस्तुनो रूपं युक्तमर्थक्रियाकृतः ॥ १ ॥
सामर्थ्यात्सव्ययं रूपमुत्पादव्यय-संज्ञकं।
सूत्रेस्मिन् सूचितं तस्यापाये वस्तुत्वहानितः ॥ २ ॥

तिस वस्तु का जो भाव है वह तद्भाव है, तद्भाव करके जो व्यय नहीं होना है वह नित्य है क्योंकि तिस प्रकार " यह वही है" सैषः ऐसा एकत्वप्रत्यभिज्ञान होनेसे उस प्रत्यभिज्ञान का विषयभूत होरहा ध्रुवपना अर्थक्रिया कारी वस्तु का स्वरूप मान लेना समुचित है "अर्थक्रिया-कारित्वं वस्तुनो रूपं"। बहिरंग, अन्तरंग कारणों अनुसार स्वोचित अर्थक्रिया को करते रहना वस्तुका निज स्वरूप है, अर्थक्रिया को किये चले जाने में ध्रुवपना बीज है, अतः इस सूत्र का यह कण्ठोक्त अर्थ हुआ।

सूत्रकार द्वारा कहे बिना ही परिशेष न्याय की सामर्थ्य से इस सूत्र में यह भी सूचित किया गया है कि अतद्भाव करके व्ययसहित होरहा अनित्य भी वस्तु का स्वरूप है जो उत्पाद और व्यय संज्ञा को धारे हुये है। वस्तु के उस व्ययसहित स्वरूपका अभाव मानने पर वस्तुपन की ही हानि हो जावेगी। अर्थात्—वस्तुका ध्रुवपना स्वरूप नित्य अंश है और उत्पाद, व्यय, नामक व्यय सहितपना अनित्य अंश है, उत्पाद, व्यय ध्रौव्य, इन तीनों से अर्थक्रियाओं को कर रही वस्तु अनादि अनन्त काल तक बनी रहती है 'अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात्पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च " अनुवृत्त आकार और व्यावृत्त आकार तथा उत्पाद,व्यय, ध्रौव्यों को ले रही वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है।

न ह्येकांततो नित्यं सन्नाम तस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात् । नाप्यनित्यमेव तत एव । न चार्थक्रियारहितं वस्तु सत् खरशृंगवत्, अर्थक्रियाकारिण एव वस्तुनः सत्त्वोपपत्तेः । ततस्तन्नित्यानित्यं च युक्तं सूचितमविरुद्धत्वात्

जो सर्वथा एकान्त स्वरूप से नित्य है वह सत् इस नाम को कथमपि नहीं पा सकता है। क्योंकि सर्वथा नित्य एकान्त में क्रम से और युगपत्पन से अर्थक्रिया होजाने का विरोध है। और सभी प्रकारोंसे अनित्य ही सत् कैसे भी नहीं होसकता है,तिस ही कारण यानी क्रम और युगपत्पन करके सर्वथा अनित्य पदार्थ में अर्थक्रिया होने का विरोध है। नित्य में क्रम नहीं बनता है और अनित्य में युगपत्पना रक्षित नहीं रह पाता है। जो अर्थक्रिया से रहित वस्तु है, वह खरविषाण के समान सत् नहीं है। कारण कि अर्थ–क्रिया को करने वाली ही वस्तु का सत्पना युक्तियों से निर्णीत होरहा है। तिस कारण से इस सूत्र द्वारा वह सत् नित्य और अनित्य भी सूचित किया जा चुका समुचित है। कोई जैन सिद्धान्त से विरोध नहीं आता है। पूर्व सूत्र करके सत् के उत्पाद व्यय से युक्त कह देने पर अनित्यपना और ध्रौव्य से युक्त कह देने पर नित्यपना ध्वनित कर दिया है, इस सूत्र द्वारा नित्यपन अनित्यपन दोनों की सूचना कर दी गई है।

कुतस्तदविरुद्धमित्याह ।

किसी जिज्ञासु शिष्य की आकांक्षा है कि स्याद्वाद सिद्धान्त अनुसार वह नित्यपन और अनित्यपन एक वस्तु में भला किस कारण से विरुद्ध नहीं हैं ? बताओ, ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥ ३२ ॥

प्रयोजन के वश से अनेकान्तात्मक वस्तु के जिस किसी भी एक धर्म की विवक्षा होने पर प्रधानता को धार रहा स्वरूप अर्पित है और प्रयोजन नहीं होने से विद्यमान भी धर्म की अविवक्षा होजाने से वस्तुका गौणभूत स्वरूप तो अनर्पित है, अर्पित और अनर्पित स्वरूपों करके वस्तु के नित्यत्व अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व, अपेक्षितत्व, अनपेक्षितत्व दैवकृतत्व, पुरुषार्थकृतत्व, आदि धर्मों की सिद्धि होजाती है, अतः वस्तु में नित्यपन और अनित्यपन विरोधरहित होकर सकुशल ठहर रहे हैं।

तद्भावेनाव्ययं नित्यमतद्भावेन सव्ययमनित्यमिति साध्यं । ततः

"अर्पितानर्पितसिद्धेः।" इस सूत्र को तो हेतुवाक्य बना लो तथा तद्भाव करके अव्यय होना नित्य है, और तादृश, विसदृश, अतद्भाव करके व्ययसहित होना अनित्य है, इसको यहां साध्य बना लिया जाय वस्तुका पक्ष कोटि में धर लिया जाय तिस कारण इस सूत्र का पूर्वापर सम्बन्ध मिला कर यों परार्थानुमान वाक्य बना लिया जा सकता है, कि

नित्यं रूपं विरुध्येत नेतरेणैकवस्तुनि ।
अर्पितेत्यादिसूत्रेण प्राहैवं नयभेदवत् ॥ १ ॥

एक वस्तु में इतर यानी अनित्य स्वरूप के साथ वर्त रहा नित्यस्वरूप धर्म विरुद्ध नहीं होता है, (प्रतिज्ञा वाक्य) अर्पित और अनर्पित करके सिद्ध होजाने से (हेतु) नय के भेदों के समान (अन्वयदृष्टान्त) । अर्थात्-निश्चयनय व्यवहारनय या द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक, संग्रहनय, ऋजुसूत्रनय, आदि के भिन्न विषयों में अविरुद्ध होकर नाना धर्म जैसे व्यवस्थित होरहे हैं, उसी प्रकार प्रधानता और अप्रधानता से आरोपे गये अनेक रूप युगपत् वस्तु में ठहर रहे हैं, प्रतीयमान धर्मों मे कोई विरोध नहीं है । "नयभेदावत्, यह पाठ अच्छा जंचता है, नय के भेद प्रभेदों को जानने वाले सूत्रकार महाराज इस अर्पितानर्पित इत्यादि सूत्र करके इस प्रकार अनुमान वाक्य को बहुत अच्छा कह रहे हैं ।

कुतः पुनः सतो नित्यमनित्यं च रूपमर्पितमनर्पितं चेत्याह ।

यहां पुनः किसी की जिज्ञासा है कि सत् वस्तुका नित्य रूप और अनित्यरूप भला किसी कारण से अर्पित यानी प्रधानपने से विवक्षित होजाता है ? तथा नित्यपना या अनित्यपना क्यों अनर्पित होजाते हैं ? बताओ ऐसा प्रश्न प्रवर्तने पर ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्तिक को कहते हैं ।

द्रव्यार्थादर्पितं रूपं पर्यायार्थादनर्पितं ।
नित्यं वाच्यमनित्यं तु विपर्यासात्प्रसिद्ध्यति ॥ २ ॥

द्रव्यार्थिक नय के विषय होरहे द्रव्य स्वरूप अर्थ से प्रधानपन को प्राप्त होरहा और पर्यायार्थिकनय के विषय माने गये पर्याय स्वरूप अर्थसे अविवक्षित होकर अनर्पित होरहा वस्तु का नित्य स्वरूप कहना चाहिये तथा इसके विपरीतपने यानी द्रव्यार्थिक से अनर्पित और पर्यायार्थिक से अर्पित स्वरूप करके तो वस्तु का अनित्य स्वरूप प्रसिद्ध होरहा है । भावार्थ- जैसे कि धूम हेतु में अग्नि की अपेक्षा साधकत्व और पाषाण की अपेक्षा असाधकत्व धर्म विराजमान है, सद् गृहस्थ यदि स्व स्त्री के लिये काम पुरुषार्थी होय और परस्त्री के लिये सुदर्शन सेठ के समान नपुंसक होय तो यह कुलीन पुरुष का निज स्वरूप है, कोई अपयश या गाली नहीं है ।

द्रव्यार्थादादिष्टं रूपं पर्यायार्थादनादिष्टं यथा नित्यं, तथा पर्यायार्थादादिष्टं द्रव्यार्थादनादिष्टमनित्यमिति सिद्ध्यत्येव । ततस्तदेकत्र सदात्मनि न विरुद्धं । यदेवं रूपं नित्यं तदेवानित्यमिति वचने विरोधसिद्धेः विकलादेशात्मकनयनिरूपणायां सर्वथा विरोधस्यानवतारात् ।

जिस प्रकार द्रव्य स्वरूप अर्थ से निरूपित किया गया और पर्याय-आत्मक अर्थ से नहीं कहा जा चुका स्वरूप नित्य है, उसी प्रकार पर्याय अर्थ स्वरूप से आदिष्ट किया गया और द्रव्य अर्थ से नहीं

प्ररूपा गया रूप अनित्य है, यह सिद्ध होही जाता है, तिस कारण वह नित्यपन या अनित्यपन धर्म एक अखण्ड सत् आत्मक वस्तु में पाये जा रहे विरुद्ध नहीं। जो ही रूप नित्य है, वही अनित्य है, इस प्रकार कहने में तो विरोध दोष की सिद्धि है, किन्तु विकल देश या विकलादेश कथन के अधीन होकर नय की प्ररूपणा करने पर सभी प्रकारों से विरोध दोष का स्याद्वादसिद्धान्त में अवतार नहीं है।

नन्वेवमुभयदोषाद्यनुषंगः स्यादित्यारेकायामिदमाह।

यहां किसी का प्रश्न है, कि इस प्रकार एक वस्तु में नित्य, अनित्य दो रूपों को मानने पर उभय दोष, संकर आदि आठ दोषों के आजाने का प्रसंग होगा अर्थात्-भेदाभेद या नित्यानित्य पक्ष में उभय, विरोध, वैयधिकरण्य, संकर, व्यतिकर, संशय, अनवस्था और अप्रतिपत्ति हेतुक अभाव ये आठ दोष आजावेंगे ? नित्यपन, अनित्यपन, दोनों प्रतिकूल धर्मों को एक वस्तु का रूप मानने पर उभय दोष है, जैसे धर्म, अधर्म दोनों का उभय नहीं होसकता है, 'उभौ अवयवौ यस्य तदुभयं' शुद्ध अशुद्ध आत्माओं का ऐक्य जैसे अलीक है, ' उभौ आत्मानौ यस्य '। उसी प्रकार नित्य अनित्य रूपों की एक वस्तु में निष्ठा अलीक है। २ विधि और निषेध स्वरूप नित्य अनित्य रूपों का एक अभिन्न वस्तु में असम्भव है, अतः शीत स्पर्श और उष्णस्पर्श के समान विरोध है।

३ नित्य रूप का अधिकरण न्यारा होना चाहिये और सर्वथा भिन्न माने गये अनित्य का अधिकरण्य भिन्न होना चाहिये यों दोनों रूपों को एक स्थान पर ठहरा देने से वैयधिकरण्य हुआ एक स्थान में दो तलवारें नहीं ठहर पाती हैं। तथा जिस स्वरूप से नित्यपन है, उसी स्वरूप से अनित्यपन मानने पर भी विरोध अथवा वैयधिकरण्य दोष घुस पड़ते हैं।

४ वस्तु के जिस स्वरूपसे नित्यपन माना गया है, उसी स्वरूप से अनित्यपन क्यों नहीं होजाय या जिस स्वरूप करके अनित्यपन है, उसी स्वरूप करके नित्यपन प्रतिष्ठित होजाय, सहोदर भाइयों में अपना तेरई का प्रवेश नहीं होना चाहिये, यों धर्मों के अवच्छेदकों का यौगपद्य या मिश्रण होजाने से संकर दोष हुआ जाता है।

५ जिसस्वरूप से अनित्यपन है, वस्तु के उसी स्वरूप से नित्यपन क्यों न होजाय ? और जिस स्वरूप से नित्यपन है, उस स्वरूप से अनित्यपन भी होजाओ, यों परस्पर विषयगमन होजाने से व्यतिकर दोष हुआ।

६ वस्तुको नित्य, अनित्य-आत्मक मानने पर असाधारण स्वरूप करके निश्चय नहीं किया जासकता है,अतः संशय दोष ठहरा। ७ जिस स्वरूपसे नित्यपन है उसी स्वरूप से कथंचित् अनित्यपन मानने पर फिर उन दोनों स्वरूपों का वस्तु के साथ अभेद माना जायेगा, पुनः एक एक उभ सत् रूप में नित्यपन अनित्यपन की कल्पना करते हुये आकांक्षा बढ़ती हुई रहने के कारण अनवस्था दोष आजावेगा।

८ एक वस्तु में नित्यपन किस प्रकार माना जाय ? और साथ ही अनित्यपन भी कैसे माना

जा सकता है ? यों धर्मों का कुछ भी निर्णय नहीं होने से वस्तु का परिज्ञान नहीं हो सकना अप्रतिपत्ति है, जिसकी प्रतिपत्ति नहीं उसका अभाव ही माना जायेगा। यों जैनों के स्याद्वाद सिद्धान्त में उभय दोष आदि का प्रसंग आजावेगा इस प्रकार किसी शिष्य की संशय पूर्वक आरेका के प्रवर्तने पर ग्रंथकार इस समाधानकारक अग्रिम वार्तिक को कहते हैं।

प्रमाणार्पणतस्तत्स्याद्वस्तु जात्यंतरं ततः।
तत्र नोभयदोषादिप्रसंगोनुभवास्पदे ॥ ३ ॥

प्रमाण ज्ञान की प्रधानता से विचारा जाय तो वह वस्तु उन नित्यपन और अनित्यपन दोनों से तीसरी ही जाति की नित्यानित्यात्मक प्रतीत होरही है, तिस कारण प्रामाणिक पुरुषों के अनुभव में स्थान पा चुकी उस वस्तु में उभय दोष, विरोध दोष आदि का प्रसंग नहीं है। बौद्धों के मेचक ज्ञान और वैशेषिकों के सामान्य विशेष (पृथिवीत्व आदि व्याप्य भी व्यापक जातियां) तथा सांख्यों की त्रिगुण-आत्मक प्रकृति इन दृष्टान्तों से आठों दोषों का परिहार होजाता है, पक्की हवेलियों में लगे हुये पत्थर के पतले पतले लम्बे टोडों पर तीन तीन चारचार खन की गोखें ऊपर ऊपर लद रहीं देखी जाती हैं। टोड़ों के बिल को देख कर कितने ही पुरुष यों आशंका करते हैं, कि इतनी इमारत इन टोड़ों पर नहीं डट सकती है, किन्तु जब कार्य होरहा है, पचासों वर्ष तक चार चार खन उन पर लदे हुये अटूट देखे जा रहे हैं, तथा उन छज्जों पर भीतर सामान रखना, खेलना कूदना आदि क्रियायें भी होरहीं देखी जाती हैं, तो ऐसी दशा में खटका रखने वाले पुरुषों का ज्ञान भ्रान्त होजाता है। छटांक भर की ककड़ी हजार मन के पत्थर को गिरने से रोके रखती है, पतली सी डालपर अधिक बोझ लाद दिया जाता है, व्यर्थ में संशय आदि दोष उठाना ठलुआ पुरुषों का बेहूदा कार्य है, प्रतीत किये जा रहे पदार्थ में कोई दोष नहीं, इसको हम पूर्व प्रकरणों में भी कई बार कह चुके हैं।

न हि सकलादेशे प्रमाणायत्ते प्रतिभासनमुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं तदुभयविरोधदोषाभ्यां स्पृश्यते, तस्य नित्यानित्यैकांताभ्यां जात्यंतरत्वात्।

द्रव्य और पर्यायों से तदात्मक होरही वस्तु है, वस्तु के द्रव्य अंश को द्रव्यार्थिक नय जानती है, और पर्यायों को पर्यायार्थिक नय द्वारा जान कर विकलादेश द्वारा निरूपण किया जाता है, अखण्ड वस्तु के अंशों का निरूपण करना विकलादेश है।

जब कि कोई भी शब्द हो अपने प्रकृत्यर्थ अनुसार वस्तु के एक गुण को ही कहेगा अतः एक गुण की मुख्यता करके अभिन्न एक वस्तु का कथन किया जाता है, वह सकलादेश है।

सकलादेश वक्ता के पूर्व प्रकरण ज्ञान से उपजता है. और श्रोता के प्रमाण ज्ञान को उपजाता है,अतः सकलादेश प्रमाणाधीन माना जाता है,तथा विकलादेश नयाधीन होता है,यह प्रतिपादक के नय ज्ञान से उपज रहा सन्ता श्रोता प्रतिपाद्य के नय ज्ञान को उपजा देता है।

'एकगुणमुखेनाऽशेषवस्तुरूपसंग्रहात् सकलादेशः' 'निरंशस्यापि गुणभेदादंशकल्पना विकलादेशः' यह श्री अकलंक देव महाराज का वचन है। यहां ग्रन्थकार कहरहे हैं, कि प्रमाण के अधीन होकर जब सकलादेश की व्यवस्था है, तो प्रमाण द्वारा वस्तुका सर्वांग निरूपण या बहुअंग-प्रतिपादन होजाने पर जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यों से युक्त होरहे सत् का प्रतिभास होरहा है, वह उभय दोष और विरोध दोष करके नहीं छुआ जाता है, क्योंकि यह अनेकान्तात्मक सत् वेचारा सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य इन दोनों दूषित एकान्तों से तृतीय ही निराली जाति का नित्यानित्यात्मक है, उस सत् के नित्य अनित्य दोनों आत्मा हैं। खांड और पानी को मिला कर दूध नहीं बनाया गया है, किन्तु प्रथम से ही दूध स्वकीय पौष्टिकत्व, द्रवता, मिष्टता, आदि गुणों से युक्त होकर आत्मलाभ कर चुका है।

बौद्धोंके यहां माना गया चित्र ज्ञान प्रथमसे ही नीलाकार, पीलाकार, आदि को स्वायत्त कर रहा इन्द्र धनुष के समान बना बनाया है. वैशेषिकों के यहां सत्ता की अपेक्षा व्याप्य होरही और घटत्व, पटत्व, आदि जातियों की अपेक्षा व्यापक होरही पृथिवीत्व जाति वेचारी अनादि से अनन्त काल तक सामान्यविशेषात्मक ठहर रही मानी गई है। एक धूप–दान अवयवी में कुछ ऊपरले अंशो में उष्णता और निचले भाग में शीतता का जब प्रत्यक्ष होरहा है, तो यहां विरोध दोष का अवकाश नहीं है, 'अनुपलम्भसाध्यो विरोधः' दोनों का एकत्र अनुपलम्भ होता तो सहानवस्थान विरोध साधा जाता। प्रकरण-प्राप्त नित्य अनित्यपन. का एकत्र उपलम्भ हो जाने से कोई विरोध दोष नहीं आता है।

तत एव नानवस्था वैयधिकरण्यं संकर–व्यतिकरौ वा संशयो वा यतो प्रतिपत्तेर भावस्तस्यापाद्येत चित्रसंवेदनवदनुभवास्पदे वस्तुनि तदनवतारात्।

तिस ही कारण से यानी सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य से तीसरी ही जाति वाली वस्तु की व्यवस्था होजानेसे अनवस्था, वैयधिकरण्य, और संकर, व्यतिकर अथवा संशय दोष भी नहीं होस कते हैं, जिन दोषों के वश से कि प्रतिपत्ति नहीं होजाने के कारण उस वस्तु का अभाव होजाना इस आठवें दोष का आपादन किया जा सके। चित्र संवेदन या मेचक ज्ञान के समान जब अनेकान्तात्मक वस्तु प्रामाणिक पुरुषों के अनुभव में आलीढ होरही है, तो ऐसी प्रतीत वस्तु में उन अनवस्था आदि दोषों का अवतार नहीं है। अर्थात्-वस्तु को नित्यपन, अनित्यपन, तदात्मक आक्रान्त मान लेने पर पुनः उत्तरोत्तर आकांक्षा नहीं बढ़ पाती है, जैसे कि सामान्य के विशेष होरहे पृथिवीत्व में पुनः अन्य सामान्य विशेषों को धर देने की अभिलाषा नहीं होती है, अतः अनवस्था दोष नहीं आता है. कहीं कहीं तो यानी द्रव्य कर्म से भाव कर्म और भावकर्म से द्रव्य कर्म आदि स्थलों में अनवस्था वेचारी गुण का रूप धारण कर लेती है,जैसे कि अनेक पुरुषों की एकता सम्यग्दर्शन,ज्ञान चारित्रों की एकता के समान गुण है, किन्तु वात, पित्त, कफ, की सूचक नाड़ियों की एकता तो त्रिदोष है।

यहां प्रकरण में अनवस्था दोषका कोई अवसर नहीं है, उत्पाद व्ययों की अपेक्षा अनित्यपन और ध्रौव्य की अपेक्षा नित्य वस्तु में क्रीड़ा कर रहे हैं। और अनन्त गुणों की पर्यायों में अनन्ते,

उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, होते रहे ऐसे अनन्तानन्त से स्याद्वादियों को कोई भय नहीं है, आकाश के समान अनन्त सर्वत्र किसी न किसी ढंग से प्रत्येक वस्तु में प्रविष्ट होरहा है, इस वस्तु-स्वभाव के लिये हम क्या कर सकते हैं, वस्तु को अनेक धर्म-आत्मकपन रुचता है।

तथा नित्यपन, अनित्यपन दोनों धर्मों की एक ही अधिकरण में वृत्ति होजाने करके प्रतीत होजाने से वैयधिकरण्य दोष को भी वस्तु में स्थान नहीं मिलता है। मेचक ज्ञान के दृष्टान्त से संकर का और सामान्य विशेष के दृष्टान्त से व्यतिकर दोष का प्रत्याख्यान कर दिया जाता है। पक्षपात को छोड़ कर उभय-आत्मक वस्तु का निर्णय होचुकनेपर संशय दोष भी हट जाता है, चलायमान ज्ञप्ति होती तो संशय होता जबकि उक्त दोषों रहित होरही वस्तु की बालक बालिका तक को समीचीन प्रतिपत्ति होरही है, तो फिर [illegible] दोष [illegible] नहीं [illegible] सकता है। अतः स्याद्वाद सिद्धान्त अनुसार प्रतीत किये जा रहे वस्तु में कोई भी दोष नहीं आते हैं।

तदित्थं परापरद्रव्यस्य सल्लक्षणस्य प्रसिद्धेर्न चाक्षुषमवयविद्रव्यं पुद्गलस्कंधसंज्ञकं प्रतिक्षेप्तुं शक्यं, सर्वप्रतिक्षेपप्रसंगात्।

तिस कारण अब तक इस प्रकार शुद्ध द्रव्य और अशुद्ध द्रव्य अथवा सामान्यतः पर द्रव्य और विशेषतः जीव पुद्गल आदि अपर द्रव्य के सत् लक्षण की प्रसिद्धि होरही है। सत् लक्षण वाले नित्य, अनित्य-आत्मक द्रव्य की प्रसिद्धि होजाने से चक्षु इन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष का विषय होरहा और पुद्गल स्कन्ध इस नाम के धारी अवयवी द्रव्य का प्रतिक्षेप नहीं किया जा सकता है। यों प्रत्यक्ष प्रमाण आदि से अनुभवे जा रहे पदार्थों का यदि निराकरण कर दिया जायेगा तब तो सभी वादियों के यहां इष्ट पदार्थों के खण्डन होजाने का प्रसंग आजावेगा जो कि किसी को इष्ट नहीं पड़ेगा। यहां तक "भेदसंघाताभ्यां चाक्षुषः" इस सूत्र की संगति को बखानते हुये ग्रन्थकार ने अवयवी पुद्गल स्कन्ध में द्रव्यपना अक्षुण्ण कर दिया है। सूत्रकार महाराज की उक्त सूत्ररचना भी सुसंगत है।

कुतः पुनः पुद्गलानां नानाद्रव्याणां संबंधो यतः स्कन्ध एकोवतिष्ठत इत्यारेकायामिदमाह।

अग्रिम सूत्र का अवतारण यों है कि कोई जिज्ञासु यहां शंका उठाता है कि भिन्न भिन्न होरहे अनेक पुद्गल द्रव्यों का सम्बन्ध फिर भला किस कारण से होगा? जिससे कि एक पौद्गलिक स्कन्ध द्रव्य प्रतिष्ठित होजाय? इस प्रकार बौद्ध मत के आभास अनुसार शिष्य की आशंका प्रवर्तने पर श्री उमास्वामी महाराज इस अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्धः ॥ ३३ ॥

स्निग्धपन और रूक्षपन से पुद्गलों का बन्ध होजाता है। अर्थात्—अनन्त गुण वाले पुद्गल द्रव्य में दो स्पर्श गुण भी हैं, एक स्पर्शन इन्द्रिय से ही दोनों का या दोनों की परिणतियों का परिज्ञान

होजाता है। अतः दोनों को भले ही एक " स्पर्श" शब्द करके कह दिया जाय। दोनों में से नियत एक स्पर्श गुण की किसी समय शीत और किसी समय उष्ण स्वरूप पर्याय होती रहती है तथा दूसरे प्रतिनियत स्पर्श गुण की तो कदाचित् स्निग्ध और कभी रूक्ष परिणति बनती रहती है। परमाणुओं में भी पाई जाने वाली शीत या उष्ण परिणतियां अथवा स्कन्धोंमें ही पाये जाने वाली स्पर्शकी हलका भारी, नरम, कठोर, ये परिणतियें एवं अन्य अनन्त गुणों की परिणतियां ये कोई भी बन्ध का हेतु नहीं हैं, जल का केवल स्निग्धपना ही सतुआओं के कणों को बांध कर पिण्ड कर देता है, जल के रूप, रस, गन्ध, द्रवत्व, अस्तित्व, आदिक अनेक गुण बांधने के उपयोगी नहीं है।

पत्थर या ककड़ों के बने हुये चूने को प्रथम ही जल डाल कर बुझा लिया जाता है उस गीले चूने में जितनी ईंट, पत्थर को परस्पर चुपकाने की शक्ति है, सूखे हुये चून में पुनः दुबारा, तिबारा, भिगो कर उतना चूपकाट नहीं रहता है। पर्वत, कंकड़, मिट्टी, आदि रूक्ष प्रकृति के पदार्थ स्वकीय रूक्षता से स्वांशों में दृढ़ बंध रहे हैं, दन्तधावन में प्रमाद करने वाले पुरुषों के दान्तों में दाल, रोटी, का कोमल भाग ही कालान्तर में हड्डी होकर दृढ बंध जाता है। मगद से लड्डुओं में जैसे चिकनापन बंध का हेतु स्पष्ट दीख रहा है, उसी प्रकार पाषाण, काठ पक्की ईंट, में रूक्षता भी बन्ध का कारण प्रत्यक्षगोचर है, सूखे काठ या ईंट में दस बीस वर्ष पहिले के जल को बांधे रखने वाले कारणपन की कल्पना करना अनुचित है, कारण कि गीली अवस्थासे सूखी अवस्था का बन्धन अतीव दृढ़ है, अग्नि संयोग से पक गयी ईंट रूखेपन गुण करके दृढ़ बंध गया है सर्वथा सूखे में जल की कल्पना करना घोड़े में सींग की कल्पना करना है, अतः स्निग्धपन, रूक्षपन, दोनों ही परमाणुओं के परस्पर बंध जाने में कारण माने गये हैं।

स्नेहगुणयोगात्स्निग्धाः रूक्षगुणयोगाद्रूक्षास्तद्भावात् पुद्गलानां बंधः स्यात्। न रूक्षो नाम गुणोस्ति, स्नेहाभावे रूक्षव्यवहारसिद्धेरिति चेन्न, रूक्षाभावे स्नेहव्यवहारप्रसंगात् स्नेहस्याप्यभावोपपत्तेः, शीताभावे चोष्णव्यवहारप्रवृत्तेरुष्णगुणाभावानुषंगात्। स्पर्शनेन्द्रियज्ञाने शीतवदुष्णगुणस्य प्रतिभासनादुष्णो गुणः स्पर्शविशेषोनुष्णाशीतपाकजेतरस्पर्शवदिति चेत्, तर्हि स्नेहस्पर्शनकरणज्ञाने रूक्षस्य लघुगुरुस्पर्शविशेषवदवभासनात् कथं रूक्षो गुणो न स्यात्? तस्य बाधकाभावादप्रतिक्षेपार्हत्वाच्चतुर्विंशतिरेव गुणा इति नियमस्याघटनात्। तथा सति-

बौद्धों के मत अनुसार चिकनापन, रूखापन, कल्पित पदार्थ होंय सो नहीं समझ बैठना किन्तु द्रव्य के स्नेह नामक गुण के योग से पुद्गल स्निग्ध कहे जाते हैं और वस्तु के अनुजीवी रूक्ष गुण के योग से कोई पुद्गल रूक्ष कहे जाते हैं। जल, बकरी का दूध, भैंस का दूध, उंटनी का दूध, अथवा घी इनमें उत्तरोत्तर स्निग्धता बढ़ती जाती है, तथा रेत, बजरी, बालु, आदि में रूक्षता बढ़ रही देखी जाती है तिसी प्रकार पुद्गल परमाणुओं में गांठ के वास्तविक बन स्नेह रूक्ष गुणों का सद्भाव होवे

से पुद्गलों का बंध होजाता माना गया है।

यहां कोई आक्षेप करता है कि रूखापन नामका कोई गुण नहीं है, चिकनेपन गुण के अभाव होजाने पर रूक्षता का व्यवहार सिद्ध होरहा है जहाँ चिकनापन नहीं है उसको रूखा कहदिया करते हैं, अतः दुग्ध, घृत, चिकने सुन्दर वस्त्र भूषण, आदि भव्य जड़ पदार्थों में (यहां तक कि स्नेही इष्ट बन्धुजन आदि चेतन पदार्थोंमें भी) क्लृप्त स्नेह गुणको भावात्मक अनुजीवी गुण मान लिया जाय और रूक्ष गुण को रीता अभाव मान लिया जाय,रूखापन, नीरसपन, अनुष्णाशीत, निर्गन्ध आदि का व्यर्थ बोझ वस्तु के ऊपर क्यों लादा जाता है ?

ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों तो रूक्ष के अभाव में स्नेह के व्यवहार होजाने का भी प्रसंग आसकता है,वास्तविक रूक्षता के नहीं होने से रबड़ी,मलाई, तैल आदिमें चिकनेपन की कल्पना है, ऐसी दशामें चालिनी न्याय से स्नेह गुणका भी अभाव होजाना बन जाता है। इसी प्रकार शीत[illegible]संग आजाने से उष्ण गुण के अभाव का भी प्रसंग होजावेगा। पण्डिताईको मूर्खता का अभाव कहा जा सकता है, अधार्मिकपन की व्यावृत्ति ही धार्मिकता है, हलकेपन का अभाव ही बोझ है, सुगंध का अभाव ही दुर्गन्धपन है, निबल का अभाव ही सबल है, इत्यादि आक्षेप करने वाले का मुख पकड़ा नहीं जाता है तब तो किसी भी पदार्थ की सिद्धि करना अन्यापोहवादियों के यहां असम्भव है। जोड़े होरहे पदार्थों में से अन्य दूसरे दूसरे पदार्थों का यदि अभाव मान लिया जायेगा तो जगत् के आधे पदार्थों का निराकरण हुआ जाता है, प्रायः सभी पदार्थ अपने प्रतिपक्ष को ले रहे सप्रतिपक्ष हैं।

यदि आक्षेपकर्त्ता यों कहे कि स्पर्शन इन्द्रिय-जन्य ज्ञान में शीत गुणके समान अग्नि, घाम आदि के उष्णका भी समीचीन प्रतिभास होरहा है अतः वास्तविक उष्णगुण एक भावात्मक स्पर्श विशेष है, जैसे कि वैशेषिकों के यहां अनुष्णाशीत स्पर्श या पाकज और उससे निराला अपाकज स्पर्श माना गया है। वैशेषिकों ने स्पर्श के उष्ण, शीत, और अनुष्णाशीत ये तीन भेद किये हैं। जल में शीत स्पर्श है तेजो द्रव्य में उष्ण स्पर्श है, पृथिवी और वायु में अनुष्णाशीत स्पर्श माना गया है " एतेषां पाकजत्वं तु क्षितौ नान्यत्र कुत्रचित् " पकी ईंट, घड़ा, आदि पृथिवी में अग्नि-संयोग करके हुये पाक से जायमान पाकज स्पर्श है किसी पृथिवी में अपाकज स्पर्श भी है।

यों कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि तब तो स्नेह का ग्रहण करने वाली स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा उपजे हुये ज्ञान में हलकापन, भारीपन, इन विशेष स्पर्शोंके समान रूक्ष का भी स्पष्ट प्रतिभास होजाता है, अतः स्वतंत्र भावात्मक रूक्ष गुण क्यों नहीं होवेगा ? अर्थात्—स्नेह का सहोदर भाई रूक्ष गुण अवश्य है। जो ही स्पर्शन इन्द्रिय स्नेह को जानती है वही रूखेपन का प्रत्यक्ष कर रही है। अभाव कह देने मात्र से अर्थक्रिया को करने वाले परिणाम का निराकरण नहीं होजाता है। वैशेषिकों ने अन्धकार को तेजोऽभाव मान रखा है किन्तु यह निर्दोष सिद्धान्त नहीं है जबकि काला काला अन्धकार

उन रात्रिचर पक्षियों के हृदय में विशेष ढंग की गुदगुदी उत्पन्न करना, दिवा जागर जीवोंको निद्रा लाना, मनुष्य, स्त्री, भैंस, गाय, आदि के शरीरों में आलस या विश्राम लेने के भाव आदि कार्यों को उपजाता है, चित्र (तसवीर) खींचने में अन्धकार का प्रभाव पड़ता है, रुग्ण आंखों में अन्धकार शक्ति को बढ़ाता है, अनेक सम्मूर्छन जीवों की उत्पत्ति करने में सहायक होता है तो इत्यादि अर्थ-क्रियाओं को करने वाला होने से अन्धकार पदार्थ वस्तुभूत है।

सूर्य, चन्द्रमा, दीपक, आदि के निमित्त से जैसे यहां फैल रहे पुद्गल स्कन्ध स्वयं धौले पीले प्रकाशमय परिणाम जाते हैं, उसी प्रकार प्रकाशक पदार्थों के हट जाने पर उन्हीं पुद्गल स्कन्धों का ही काला काला परिणमन होजाता है, जैसे कि जाड़ों में सूर्य की घाम फैलने पर जो पुद्गल उष्ण होगये थे थोड़े बादल आजाने पर वे ही पुद्गल झट शीतल होजाते हैं, उष्ण काल में सूर्य के ऊपर स्वल्प बादल आड़े आते ही उष्णता न्यून होजाती है, मेघवृष्टि को कराने वाली उष्णता न्यारी है। यहां प्रयोजन केवल तत्कालीन झटिति पुद्गलों का परिणति-परिवर्तन होजाने से है। बरफ, ओला आदि में कठिनपन की प्रतीति को भ्रान्त ज्ञान कह कर वैशेषिकों ने जैसे स्वकीय मन्तव्य की हंसी कराई है, उसी प्रकार अन्धकार को तुच्छ अभाव मानने वाले वैशेषिकों के ऊपर परीक्षक या वैज्ञानिक विद्वानों को हंसी आती है।

शीत का अभाव उष्ण नहीं होसकता है, क्योंकि उष्ण से दाह,सन्ताप, आदि कार्य होरहे देखे जाते हैं, इसी प्रकार उष्ण का अभाव शीत भी नहीं बन सकता है, क्योंकि शीत से बरफ जम जाना, अरहर के पेड़, आम के पौधे आदि वनस्पतियों का झुलस जाना, तप्त लोहे सोने आदि का जम जाना शीताङ्गहेतुक मृत्यु काल की उपस्थिति होजाना आदि अनेक कार्य होरहे देखे जाते हैं। तथा हलकापन का अभाव भारीपन और भारी का अभाव हलकापन इनमें विनिगमना का विरह होजानेसे दोनों वस्तुभूत पदार्थ मानने योग्य हैं, नरम और कठोर दोनों का सद्भाव मानने पर ही उनके योग्य अर्थक्रियायें हो सकेंगी।

इसी प्रकार स्निग्ध और रूक्ष दोनों की न्यारी न्यारी अर्थक्रियायें और अलग अलग प्रतिपत्तियां होरहीं देखी जाती हैं,अतः स्निग्ध, रूक्ष दोनों गुणों का सद्भाव मान लेना अनिवार्य है। यद्यपि जैनसिद्धान्त अनुसार रूक्ष और स्निग्ध कोई स्वतंत्र नित्य गुण नहीं हैं, किन्तु स्पर्श गुण की पर्यायें ही रूखापन और चिकनापन हैं, कथंचित् अभेद नामका सम्बन्ध होजाने से क्वचित् गुण को पर्याय (सहभावी) और पर्याय को गुण कह दिया जाता है। जैसे कि चेतना गुण के परिणाम होरहे ज्ञान को अनेक स्थलों पर गुण स्वरूप करके कह देते हैं। पर्यायों में किसी प्रधान होरही पर्याय को गुण कह देना अनुचित नहीं है, पर्याय से ऊंची पदवी गुण है। ब्राह्मणों को भूसुर यानी पृथवी का देव और क्षत्रियों को भूपसिंह या रणवीरसिंह, वैश्यों को धनकुबेर आदि उपाधियों से भूषित कर दिया जाता है। गुरु की प्रशंसा करते हुये कभी एक गुण को पूरा द्रव्य कह दिया जाता है, जैसे कि कस्तूरी कपूर

आदि के गंध गुण का गन्ध द्रव्य की मुख्यता से निरूपण होजाता है, द्रव्य की प्रशंसा हांकते हुये वस्तु बखान दी जाती है, क्योंकि द्रव्य से बड़ी पदवी वस्तु की है, अनन्तानन्त शक्तियों को धार रही वस्तु की पुनः प्रशंसा करना उसी प्रकार व्यर्थ पड़ता है, जैसे कि सम्माननीय श्री समन्तभद्राचार्य ने "गुणस्तोकं सदुल्लंघ्य तद्बहुत्वकथा स्तुतिः । आनन्त्यात्ते गुणा वक्तुमशक्यास्त्वयि सा कथं" इस पद्य द्वारा अनन्त गुण सागर श्री अरनाथ भगवान् की स्तुति करने में असामर्थ्य प्रगट की है।

जो वादीभसिंह कलिकाल-सर्वज्ञ, सिद्धान्त-चक्रवर्ती, स्याद्वादवारिधि, सिद्धान्तमहोदधि सरनाइट् रायबहादुर, रायसाहब, सी० आई० ई, जे० पी० आदि पदवियों का प्रदान करने वाला है, वह मूलस्वरूप करके प्रशंसक पदवियों से रीता है। प्रकरण में यह कहना है, कि स्निग्ध रूक्ष, दोनों भाव पदार्थ हैं, उस रूखेपन का बाधक कोई प्रमाण नहीं है। अतः बड़ा ही मनोज्ञ "रूक्षपन" गुण प्रतिक्षेप करने योग्य नहीं है।

गुण चौबीस ही हैं, इस वैशेषिकों के नियम की घटना नहीं होसकती है. यानी १ रूप, २ रस, ३ गंध, ४ स्पर्श, ५ संख्या, ६ परिमाण, ७ पृथक्त्व, ८ संयोग, ९ विभाग, १० परत्व, ११ अपरत्व, १२ गुरुत्व, १३ द्रवत्व, १४ स्नेह, १५ शब्द, १६ बुद्धि, १७ सुख, १८ दुःख, १९ इच्छा, २० द्वेष, २१ प्रयत्न, २२ धर्म, २३ अधर्म, २४ संस्कार, ये ही चौबीस ही गुण नहीं हैं, इनके अतिरिक्त भी अनेक गुण द्रव्यों में विद्यमान हैं।

कुछ गुण तो चौबीस में भी अधिक हैं। जैसे कि पौद्गलिक स्कन्ध होरहे शब्द और पुण्य पाप को व्यर्थ ही गुणों में गिन लिया गया है। परत्व, अपरत्व, गुणोंका भी कोई मूल्य नहीं है। सुख और दुःख कोई स्वतंत्र दो गुण नहीं हैं, सुख गुण की विभावपरिणति ही दुःख है। गुरुत्व को यदि गुण माना जाता है, तो झोक को भी गुण मानना चाहिये जिस झोक के कारण-वश तीन गज लम्बी लठिया को एक ओर से एक अंगुल हिरछा पकड़ कर बड़ा मल्ल भी नहीं उठा सकता है, जिस खाट पर आठ मनुष्य बैठ सकते हैं, एक चंचल लड़का अपनी झोक से उसे अकेला तोड़ देता है, और भी वैशेषिकों के कई गुण परीक्षा की कसौटी पर ठीक नहीं उतर सकते हैं।

अतः सिद्ध होजाता है, कि जैन सिद्धान्त अनुसार रूक्ष गुण स्वतंत्र है। स्निग्धपन और रूक्षपन से बन्ध होजाता है। और तिसप्रकार होते सन्ते जो सिद्धान्त स्थिर हुआ उसको अग्रिम वार्तिकों द्वारा यों समझो कि—

स्कंधो बंधात्स चास्त्येषां स्निग्धरूक्षत्वयोगतः।
पुद्गलानामितिध्वस्ता सूत्रेस्मिंस्तदभावता ॥ १ ॥
स्निग्धाः स्निग्धैस्तथा रूक्षा रूक्षैः स्निग्धाश्च पुद्गलाः।
बंधं यथासते स्कंधसिद्धेर्बाधकहानितः ॥ २ ॥



सूत्र का अर्थ यह है, कि स्निग्धपन और रूक्षपन का योग होजाने से इन पुद्गलों का बंध होजाता है, और बंध होजाने से वह प्रसिद्ध स्कन्ध उपज बैठता है, यों इस 'स्निग्धरूक्षत्वाद्बंधः' सूत्र में निरूपण है, अतः उस बंध का अभाव या स्कन्ध का अभाव ध्वस्त कर दिया गया है । अर्थात्–बौद्ध पण्डित न तो बंध को मानते हैं, और न स्कन्ध को स्वीकार करते हैं, इस सूत्र द्वारा दोनों के अभाव का खण्डन कर दिया है । कारण कि जिस प्रकार चिकने पदार्थ सचिक्कण पदार्थों के साथ बंध जाते हैं, तिसी प्रकार रूखों के साथ रूखे पदार्थ और स्निग्ध पुद्गल भी बंध कर बैठ जाते हैं । अथवा जैसे रूखों को चिकने पदार्थ बांध लेते हैं, या चिकने चिकनों को बांध लेते हैं, उसी प्रकार रूखे पुद्गल भी रूखे या चिकने पुद्गलों को बांध बैठते हैं, यों बंध द्वारा स्कन्ध की सिद्धि होजाने के बाधक प्रमाणों की हानि है । अर्थात्– जगत् में स्निग्ध का स्निग्ध के साथ, स्निग्ध का रूक्ष के साथ, रूक्ष पुद्गल का स्निग्ध पुद्गल के साथ, रूक्ष का रूक्ष के साथ, बंध कर अनेक स्कन्ध बन रहे निर्बाध प्रतीत होरहे हैं ।

नैकदेशेन कार्त्स्न्येन संसर्गस्याघटनतः ।
कार्यकारणमाध्यस्थ्यक्षणवत्तद्विभावनात् ॥ ३ ॥

जिस कारण से कि संसर्ग कर बंधने वाले पदार्थों का एक देश करके अथवा सम्पूर्ण देशवृत्तिपने करके बंध होजाने की घटना नहीं होसकती है, तिस कारण से कार्य क्षण (क्षणिक कार्य स्वरूप स्वलक्षण) और कारणक्षण (पूर्वसमयवर्ती क्षणिक कारण स्वरूप स्वलक्षण) के साथ उनके मध्य में स्थित होरहे संसर्गी क्षणिक स्वलक्षण के समान उन स्निग्ध रूक्ष पदार्थों का भी परस्पर में बंध जाने का विचार कर लिया जाता है । अर्थात्–अर्थों में कार्य कारणभाव को मानने वाले सौत्रान्तिक बौद्धों के यहां जैसे उन कार्य कारणों के मध्यवर्ती सन्तान की एक-देशपने करके या सर्वदेशपने करके संसर्ग नहीं घटित होने पर भी मध्यस्थता बन जाती है, उसी प्रकार जैनों के यहां अवयवसहितपन और अनवस्था दोष को टालते हुये एकदेशेन या सर्वात्मना सम्बन्ध की व्यवस्था नहीं कर केवल स्निग्धत्व रूक्षत्व, परिणतियों अनुसार परमाणुओं का बंधजाना निर्णीत करलिया गया है ।

यथैककार्यकारणक्षणाभ्यां तन्मध्यस्थस्यैकदेशेन संबंधे सावयवत्वमनवस्था च तदेकदेशस्याप्येकदेशांतरेण संबंधात् । कार्त्स्न्येन संबंधे पुनरेकक्षणमात्रसंतानप्रसंगः कार्यकारणभावाभावश्च सर्वथैकस्मिंस्तद्विरोधात् । किं तर्हि ? संबंध एवेति कथ्यते । तथा परमाणूनामपि युगपत्परस्परमेकत्वपरिणामहेतुर्बंधो नैकदेशेन सर्वात्मना वा सावयवत्वानवस्थाप्रसंगादेकपरमाणुमात्रपिंडप्रसंगाच्च । किं तर्हि ? पिंड एव स्निग्धरूक्षत्वविशेषायत्तत्वात्तस्य तथा दर्शनात् सक्तुतोयादिवत् ।

बौद्धमत की बात है, कि जिस प्रकार एक कार्यक्षण और दूसरे एक कारणक्षण के साथ उस मध्य में स्थित होरहे अनुस्यूत कार्यकारणभावापन्न अर्थ का यदि एकदेश से सम्बन्ध माना जायेगा तो

प्रथम से ही अवयव सहितपना मानना पड़ेगा जैसे कि पंचांगुल के ऊपर दूसरे पंचांगुल को धर देने पर एक एक अंगुलीस्वरूप एकदेश से सम्बन्ध मानने पर पहिले ही दूसरे पंचांगुल में अंगुलियां स्वरूप अवयव मानने पडते हैं, और उन अवयवों का भी पुनः अपने अवयवी के साथ एकदेश से संसर्ग मानने पर पुनः अवयवों की कल्पना करनी पड़ेगी, यों पहिले से ही उसके कतिपय देश पुनः मानने पड़ेंगे, इस प्रकार अवयवों की धारा बढ़ते बढ़ते अनवस्था दोष आवेगा क्योंकि उस एक देश का भी अन्य एक एक देशों के साथ सम्बन्ध चला जायेगा। यदि कार्य कारणों के साथ उस मध्यवर्त्ती सन्तान का परिपूर्ण रूप करके सम्बन्ध माना जायेगा तब तो फिर सन्तान को केवल एकक्षणिक स्वलक्षण स्वरूप होजाने का प्रसंग आजावेगा जैसे कि एक परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ सर्वांग सम्बन्ध होजाने पर परमाणुमात्र ही प्रचय रह जाता है, अथवा एक कटोरी भर पानी का अन्य कटोरी भर बूरे के [illegible] का धारी ही पदार्थ बन जाता है।

एक बात यह भी है, कि कार्य कारण क्षणों का परस्पर सर्वांगीण सम्बन्ध मान लेने पर बेचारे कार्य कारण भाव का ही अभाव होजावेगा क्योंकि सर्वथा एक होरहे पिण्ड में उस कार्य कारण भाव के होने का विरोध है, अतः उक्त चार दोषों के भय से हम बौद्ध एक-देशेन या सर्वात्मना तो सम्बन्ध मान नहीं सकते हैं, और कार्यकारण भाव की धारा निर्णीत करना ही है, ऐसी दशा में कोई हम बौद्धों से प्रश्न करे कि तब तो फिर संतान बनानेका उपाय क्या है ? इसका उत्तर यही होगा कि उन कार्य कारण क्षणों का सम्बन्ध है ही, यह कह दिया जाता है।

आचार्य महाराज कहते हैं, कि जिस प्रकार बौद्ध अपने कार्य कारणक्षणों के सन्तान की धोंस दिखाते हुवे रक्षा कर लेते हैं, उसी प्रकार हम जैन भी कह देंगे कि तिसी प्रकार परमाणुओं का भी जो युगपत् परस्पर में संसर्ग होकर एकत्व परिणति का हेतु जो बंध होरहा है, वह न तो एक देश करके है, क्योंकि एक परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ एक देशेन संसर्ग मानने पर परमाणु के पहिले से ही कई एक देश मानने पड़ेंगे उन एक देशोंका भी परस्पर या परमाणुके साथ एक एक देश करके सम्बन्ध मानते मानते अनवस्था दोष भी आजावेगा। यों परमाणु के अवयव सहितपन दोष और अनवस्था दोष का प्रसंग आया। तथा परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ सर्वात्मना बंध जाना मानने पर पिंड को केवल एक परमाणु बराबर होजाने का प्रसंग आता है, जो कि क्षम्य नहीं है, अन्यथा जगत् में कोई भी लम्बा चौड़ा पदार्थ दृष्टि-गोचर नहीं होसकेगा, तब तो फिर परमाणु के साथ दूसरे परमाणु का किस प्रकार से बंध माना जाय ?।

इसका उत्तर हम जैन भी धोंस दिखाते हुये यही कहेंगे कि परमाणुओं का भी पिण्ड ही बंध रहा है, क्योंकि विशेष स्निग्धपन और रूक्षपन के अधीन होकर वह पिण्ड स्कन्ध बन गया है, वस्तु परिणतिके अनुसार तिसी प्रकार बंध होरहा देखा जाता है,जैसे कि सतुआ पानी, दही, बूरा, क्षीर,नीर चांदी, टांका आदि का पिण्ड बंध रहा देखा जाता है, भट्टा में कदाचित्, क्वचित्, ईंटों का डिम्मा बंध

जाता है। यों तीसरी कारिकाका व्याख्यान है, पंक्तिके सबसे पहिले ' यथा ' का इस ' तथा ' के साथ सम्बन्ध कर लेना चाहिये।

बंध परिणति में दोनों का कथंचित् एकत्व होजाता है. अतः तादात्म्य की ओर दुलक रहा संयोग सम्बन्ध बेचारा एक अनिर्वचनीय योजक है, जोकि बंधे हुये पदार्थों में तादात्म्य सम्बन्ध को ढालता हुआ संयोगको भी डाल देता है,पदार्थोंकी बंध परिणतिका प्रत्यक्ष अवलोकन कर इस सम्बन्ध को वाचक शब्दों के बिना अवक्तव्य ही समझ लो, किसी पदार्थ के वाचक शब्द यदि नहीं मिलें तो उस वस्तुभूत निर्विकल्पक तथ्य प्रमेय का अपलाप नहीं किया जा सकता है।

पूर्वापरविदां बंधस्तथाभावात् परो भवेत् ।
नानाणुभावतः सांशादणोर्बन्धोऽपरोस्ति किम् ॥ ४ ॥
निरंशत्वं न चाणूनां मध्यं प्राप्तस्य भावतः ।
तथा ते संविदोर्मध्यं प्राप्तायाः संविदः स्फुटम् ॥ ५ ॥

बौद्ध पण्डित अनेक स्थलों पर यह दक्षता (पौलिसी) कर जाते हैं, कि बहिस्तत्ववादी बन कर झट अन्तस्तत्त्व-वादी का वेष (पार्ट) ले लेते हैं, सौत्रान्तिक बौद्धों के यहां बहिरंग स्वलक्षण अन्तरंग स्वलक्षण यों जड़, चेतन, अनेक तत्व माने गये हैं, किन्तु योगाचार के यहां केवल विज्ञान स्वलक्षण ये अन्तस्तत्व ही स्वीकार किये गये हैं, अतः विज्ञानाद्वैतवादी योगाचार के मतानुसार पूर्वक्षणवर्त्ती और उत्तरक्षणवर्त्ती विज्ञानों का सन्तान या संसर्ग अथवा बंध माना ही गया है, तिसी प्रकार लड़ी में बंधे हुये मोतियों के समान ज्ञानों का परस्पर बंध होरहा क्या भिन्न पदार्थ होगा ? अर्थात् –नहीं ? । इसी प्रकार अनेक अणुओं के तथा-भाव से होरहा अंश–सहित अणु के साथ बन्ध क्या अपर पदार्थ होगा ? अर्थात्–जैसे वैशेषिकों ने विशिष्ट संयोग को बंध मान कर द्रव्यों से उस संयोग को भिन्न गुण माना है, उस प्रकार बौद्ध या जैन उस बंध को भावों से भिन्न नहीं मानते हैं. अणु के एक देश से दूसरे अणु का संसर्ग होना प्रतीत होता है. अतः अणु को सांश मानने में कोई क्षति नहीं है अनेक अणुओं के मध्य में प्राप्त होरहे अणु का भावदृष्टि से निरंशपना नहीं है,तिस प्रकार होने पर ही तो तुम योगाचार बौद्धों के यहां दो संवित्तियों के मध्य में प्राप्त होरही एक संवित्ति का स्फुट रूप से सांशपना बनेगा ज्ञान परमाणुओं के सांशपन समान पुद्गल परमाणुओं का शक्ति अपेक्षा सांशपना निर्बाध है।

संविदद्वैततत्त्वस्यासिद्धौ बंधो न केवलं ।
स स्यात् किन्तु स्वसंतानाद्यभावात्सर्वशून्यता ॥ ६ ॥
तत्संविन्मात्रसंसिद्धौ संतानस्ते प्रसिद्धयति ।
तद्वद्बंधः स्थितोर्थानां परिणामो विशेषतः ॥ ७ ॥

जब कि जगत् में अनेक जड़, चेतन, पदार्थ, या स्थूल, सूक्ष्म पदार्थ, अथवा-कालान्तर-स्थायी पदार्थ स्पष्ट प्रत्यक्ष गोचर होरहे हैं। ऐसी दशा में योगाचारों का संवित्-अद्वैत सध जाना असम्भव है, अतः विज्ञानाद्वैत तत्व की सिद्धि नहीं होसकने पर केवल वह प्रसिद्ध बंध ही तो नहीं होसकेगा किन्तु स्वकीय सन्तान आदि का अभाव होजाने से सम्पूर्ण पदार्थों के शून्यपन का प्रसंग आजावेगा और उस संविन्मात्र तत्व की भले प्रकार सिद्धि होचुकने पर तो तुम बौद्धों के यहां सन्तान पदार्थ अवश्य प्रसिद्ध होजाता है, उसी सन्तान के समान बंध पदार्थ भी पदार्थों का परिणाम होकर व्यवस्थित है। कोई अन्तर नहीं है। अर्थात्—सम्वेदनाद्वैत-वादियों के सिद्धान्त की सिद्धि नहीं होसकती है। उन्हीं युक्तियों करके स्वकीय सन्तान, परकीय सन्तान अथवा अन्य पदार्थों का अभाव होजाने से शून्यवाद आजाता है जो बहिरंग ज्ञेयको नहीं मान कर अन्तस्तत्व ज्ञानको ही मान बैठा है और अन्य आत्माओं के विज्ञानों का स्वसम्वेदन नहीं होने से परकीय ज्ञान-सन्तानों का अभाव कह चुका है। यों संकोच होते होते अपने भूत भविष्य क्षणिक ज्ञानों का भी अभाव मान चुकेगा वह बेचारा एक वर्तमान काल के ज्ञान स्वलक्षण का सद्भाव नहीं साध सकता है। क्योंकि "नाकारणं विषयः" बौद्धों ने ज्ञान के कारण को ही ज्ञान का विषय मान रक्खा है, ज्ञान को जानने वाले द्वितीय ज्ञान के अवसर पर प्रथम ज्ञान जो विषय था वह नष्ट होचुका और पूर्व ज्ञान समय पर उसका परिज्ञाता ज्ञान उपजा ही नहीं था, ऐसी दशा में सर्वशून्यता छा जाती है, अने[illegible] सम्वेदनाद्वैत की सिद्धि यदि मानी जायगी तब तो सन्तान और बंध अवश्य मानने पड़ेंगे जो कि बंध उन पदार्थों की वास्तविक परिणति के वश है, सांवृत या कल्पित नहीं है।

शून्यवादिनापि संविन्मात्रमुपगन्तव्यं तस्य चावश्यं कारणमन्यथा नित्यत्वप्रसंगात् कार्यमभ्युपगन्तव्यमन्यथा तदवस्तुत्वप्रसंगादिति तत्संतानसिद्धिः। तत्सिद्धौ च कार्यकारणसंविदोर्मध्यमध्यासीनायाः संविदस्तत्संबंधेपि सांतत्वाभावस्वपरमाणूनां मध्यमधिष्ठितोपि परमाणोरंशत्वसिद्धेस्तत्सर्वसमुदायविशेषोप्यनेकपरिणामो बंधः प्रसिद्ध्यत्येव।

शून्यवादी पण्डित करके भी केवल शुद्ध सम्वेदन तो अवश्य ही स्वीकार कर लेना चाहिये अन्यथा स्वपक्ष की सिद्धि और परपक्ष में दूषण देना ही असम्भव होजायेगा। दूसरों को ठगने वाले पण्डित आत्म-वंचना तो नहीं करें। सम्वेदनके बिना तो पर-प्रत्यायन तथा स्वप्रत्यायन भी नहीं होपाता है। और उस सम्वेदन का कोई कारण भी अवश्य मानना पड़ेगा अन्यथा यानी कारण माने बिना उस सम्वेदन के नित्य होजाने का प्रसंग आजावेगा "सदकारणवन्नित्यं" तथा उस सम्वेदन का कोई कार्य भी स्वीकार करना चाहिये अन्यथा यानी सम्वित्ति के कार्य को माने बिना उस सम्वेदन के अवस्तुपन का प्रसंग आजावेगा "अर्थक्रियाकारित्वं वस्तुनो लक्षणं"। यों उस सम्वेदन तत्व के पूर्वोत्तर-वर्त्ती सन्तान की सिद्धि हो ही जाती है।

तथा उस सन्तान की सिद्धि होचुकने पर कार्य-सम्वेदन और कारण-सम्वेदन के मध्य में

बैठी हुई सम्वित्ति को उन कार्यकारणों का सम्वेदन होनेपर भी जैसे सांशपना नहीं माना गया है उसी प्रकार अनेक परमाणुओं के या छःऊ दिशाके छः परमाणुओं के मध्य में अधिष्ठित होरही परमाणु का भी अनंशपना सिद्ध होजाता है, अतः उन अनेकों या सातों अथवा दो आदि सम्पूर्ण परमाणुओं का विशेष रूप से होरहा समुदाय भी अनेक परमाणुओं का वस्तुभूत परिणाम होरहा बंध पद्‌ध प्रसिद्ध हो ही जाता है। भावार्थ—निरंश परमाणुओं का सांश बंध होगया। शक्ति की अपेक्षा परमाणुओं में सांशपना भी अभीष्ट किया जा चुका है, यदि परमाणु में सांशपना नहीं होता तो कार्य-स्कन्धों में सांशपना कहां से आता ? सन्तान, समुदाय, प्रेत्यभाव, को साधने के लिये बौद्ध भी कुछ न कुछ उपाय रखते हैं। वह बंध का प्रयोजक होसकता है अतः सूत्रकार का यह सिद्धान्त निर्दोष है कि स्निग्धपन और रूक्षपन से बंध होजाता है।

रूखापन तो विभाग कर देगा, बांधेगा नहीं, ऐसी शंका नहीं करना क्योंकि वणिग् वृत्ति के पुरुष रूखे व्यवहार से बंध जाते हैं "भय बिन होय न प्रीति" की नीति इसी बूतेपर डटी हुई है। गीले चूना में कुछ ककरी, बजरी, रूखा, बालू रेत डाल कर उसको दृढ़ बांधने वाला बना लिया जाता है। कहीं कहीं चिकनापन बंध में उल्टा विघ्न डाल देता है थाली में घी लगा देने से पुनः खांड की बरफी थाली से चुपटने नहीं पाती है, चिकनी कीच में पांव रपट जाता है, रूखी रोटी में जितना शीघ्र दूध या पानी मिल जाता है चुपड़ी रोटी में उतना शीघ्र दूध या पानी नहीं बंधने पाता है तभी तो रूखी रोटी से चुपड़ी रोटी पचने में भारी है। जल द्वारा लड्डू ईंट, पुल, भींत, आदि के बंधजाने पर भी मनुष्य उनका दृढ़बंधन होजाने के लिये रूखेपन की प्रतीक्षा किया करते हैं। कई चिकने पदार्थ बंधेहुये पदार्थों को पृथग्भूत कर देते हैं, रूखापन उनको जोड़ देता है। पौष्टिक औषधियों या धातुओं, उपधातुओं अथवा दूध आदि पदार्थों में इस खेल को हम देखते हैं।

माना कि रूखेपने से स्कन्धों का कदाचित् विभाग भी होजाता है, किन्तु चिकने तेल या घी के बीच में डाल देनेपर भी अनेक पदार्थ विभक्त होजाते हैं। पहाड़ोंमें पानी भरते भरते बड़ी शिलाओं के खण्ड होजाते हैं, दूध खांड का मैल विभक्त होजाता है अण्डी के तेल से आन्तों में घुसा हुआ मल हटा दिया जाता है " तृणानि दहतो वन्हेः सखा भवति मारुतः। स एव दीपनाशाय कृशे कस्यास्ति सौहृदं।" चिकनी, चुपड़ी, कांचकी शिला या बढ़िया चटाईपर सांप नहीं चल पाता है, अधिक चिकनी सड़क पर घोड़ा या मनुष्य भी रपट जाता है। वस्तुतः देखा जाय तो गीलेपन की प्रधानता से स्निग्धता और आर्द्रता (गीलापन) के अभाव से या शुष्कता से रूखापन व्यवस्थित है। वस्तुओं की विभिन्न परिणतियों के अनेक कारण हैं जो कि लोक में विदित होरहे हैं। तदनुसार परमाणुओं के बंधने में आर्द्रता और रूखापन हेतु माना गया है " अनेकान्तो विजयतेतरां " " सिद्धिरनेकान्तात् "।

स च सर्वपरमाणूनामविशेषेण प्रसक्त इति न्यक्कृ गुणानामनिष्टगुणानां बंधप्रतिषेधार्थमाह।

यों उक्त सूत्र द्वारा विशेषता रहित होकर सम्पूर्ण परमाणुओं का वह बंध होजाना प्रसंग प्राप्त हुआ इस अति प्रसंग के निवारणार्थ न्यक् यानी जघन्य गुणों वाले अथवा बंध योग्य गुणों से रहित होरहे अनिष्ट गुण वाले परमाणुओं के बंध का प्रतिषेध करने के लिये श्री उमास्वामी महाराज इस अगले सूत्र को कहते हैं।

न जघन्यगुणानाम् ॥ ३४ ॥

जघन्य गुण वाले यानी निकृष्ट गुण वाले परमाणुओं का बंध नहीं होता है। अर्थात्—पूर्व सूत्र से स्निग्ध रूक्षपने करके परमाणुओं का बंध जाना सामान्य रूप से कह दिया था अब इस सूत्र से जघन्य गुण वाले परमाणुओं के बंध का निषेध कर दिया है। जघन्य गुण वालेका अर्थ एक गुण वाला नहीं होसकता है क्योंकि स्पर्श गुण की स्नेह परिणति या रूक्ष परिणति के अविभाग प्रतिच्छेद घटते घटते भी संख्याते रह जाते हैं। एक ही अविभागप्रतिच्छेदके शेष रह जाने का अवसर नहीं मिल पाता है " अविभागपडिच्छेओ जहण्ण उददी पयेसानं " वस्तुभूत अखण्ड शक्ति के परिज्ञानार्थ तारतम्य दिखाने के लिये कल्पित किये गये शक्ति अंशोंको अविभाग प्रतिच्छेद कहते हैं। जैसे कि जघन्य ज्ञान के अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेद माने गये हैं।

अथवा लकड़ी की छोटी अग्नि-ज्वाला से उतनी ही तैल दीप कलिका, घृत दीप कलिका, गैस, बिजली, सर्च लाइट में उत्तरोत्तर चाकचक्य के अविभाग प्रतिच्छेदों की अधिकता है। घास की लकड़ी, बबूल की लकड़ी, खैर की, कोयले की,पत्थर के कोयले की अग्नियों में उत्तरोत्तर उष्णता अधिक है, यह अविभागी अंशों की कल्पना का मार्ग बता दिया है। इसी प्रकार स्नेह पर्याय या रूक्ष पर्याय में पाये जा रहे संख्यात असंख्यात या अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदों की जघन्य अवस्था घटित होजानेपर उन स्निग्धता, रूक्षताओंसे बंध नहीं होताहै, कभी कभी विशेष परिणतिओं अनुसार टांका या गोंद उन चांदी, सोने, लोहे, कागज, पत्र आदि को जोड़ नहीं पाते हैं, चूना भी कदाचित् ईंट से अलग पड़ा रह जाता है, दूध फट जाता है, अतः कतिपय दृष्टान्तों से अतीन्द्रिय जघन्य गुणवाले परमाणुओं का नहीं बंध होसकना युक्तियों द्वारा सिद्ध होजाता है।

जघनमिव जघन्यं निकृष्टमिति शाखादित्वाद्देहांगत्वाद्वा जघन्य शब्दसिद्धिः जघने भवो जघन्यो निकृष्टः जघन्य इव जघन्योऽत्यंताप्रकृष्ट इति। गुणशब्दस्यानेकार्थत्वे विवक्षावशाद्भागग्रहणं द्विगुणा यवा इति यथा द्विभागा इत्यर्थस्ततो जघन्या गुणा येषां ते जघन्यगुणाः परमाणवः सूक्ष्मत्वाद्वा तेषां न बंध इत्यभिसंबन्धः। तेनैकगुणस्य स्निग्धरूक्षस्य वा परेण स्निग्धेन रूक्षेण चैकगुणेन द्वित्रिसंख्येयासंख्येयानंतगुणेन वा नास्ति बंधस्तथाद्व्यादिभिर्द्व्यादिगुणैरेकगुणैश्चेति सूचितं भवति।

जघन्य यानी अन्त्य के समान जो है वह जघन्य है इस प्रकार जघन्य शब्द का शाखादि गण में पाठ होने से जघन्य शब्द की सिद्धि होजाती है। शाखा, मुख, शृङ्ग, अघन्, मेघ, आदि शब्द शाखादिगण में हैं, अतः " शाखादिभ्यो यः " इस सूत्र से य प्रत्यय कर " जघन्यमिव जघन्यं " यों निरुक्ति करते हुये जघन्य शब्द बना लिया जाता है। जिस प्रकार कि शरीरके अवयवों में जघन निकृष्ट अवयव है, उसी प्रकार अन्य भी जो निकृष्ट है, वह जघन्य कहा जाता है, शाखादित्व, स्वार्थ, आदि से जघन्य शब्द को साध लिया जाय। अथवा देहांग होने से भावार्थ में जघन्य शब्द की सिद्धि कर ली जाय जघन में जा हो रहा है, वह जघन्य है, यानी निकृष्ट है, जघन्य के समान जघन्य है,जघन्य का अर्थ यों अत्यन्त अपकृष्ट यानी सब से नीचली अवस्था को प्राप्त हुआ कहा जाता है।

गुण शब्द के अप्रधान, तेज, भाग, उपकार, रूपादि, विशेषण, आदि अनेक अर्थ हैं, किन्तु प्रकरणवश वक्ताकी विवक्षा की अधीनता से यहां भाग अर्थ ग्रहण किया गया है। जैसे कि इस गोजई में दुगुने जौ हैं,यानी गेहूं और जौ का मिला हुईढेरामें एक भाग गेंहू है,और दो भाग जौ हैं, यों द्विगुण यानी दो भाग जो कहे जाते हैं, अतः दुगुने जौ से यहां जिस प्रकार दो भाग जौ इस अर्थ की प्रतिपत्ति होजाती है, वैसे ही जिन परमाणुओं के गुण यानी भाग (अविभाग प्रतिच्छेद) निकृष्ट होगये हैं। उन जघन्य गुण वाले परमाणुओं का बंध नहीं होता है, यों अर्थ जान लिया जाता है। अथवा सूक्ष्म होने के कारण जिन परमाणुओं का गुण जघन्य होगया है, वे परमाणुयें जघन्य गुण हैं, उनका परस्पर बन्ध नहीं होता है, इस प्रकार वाक्यार्थ को दोनों ओर से सम्बन्ध कर लेना चाहिये जिस कारण एक गुण वाले स्निग्ध परमाणु अथवा रूक्ष परमाणु का दूसरे एक गुण वाले स्निग्ध परमाणु और रूक्ष परमाणु के साथ बंध नहीं होगा।

इसी प्रकार स्नेह के या रूक्ष के एक गुण को यानी जघन्यभाग अविभाग-प्रतिच्छेदों को धार रही एक परमाणु का दूसरी दो, तीन, संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त गुणों को धार रही परमाणु के साथ बंध नहीं होसकेगा। जिसी प्रकार दो, तीन, चार आदि की वृद्धि अनुसार दो, तीन, आदि गुणवाले परमाणु के साथ एक गुण वाले परमाणुओं करके बंध नहीं होगा। अर्थात्-दो दो बढ़ा कर या तीन, तीन, चार, चार, बढ़ा कर गुणों के धारी परमाणुओं का एक गुण वाले कई परमाणु के साथ बन्ध नहीं होपाता है, दो परमाणुओं करके द्व्यणुक बनाने के अवसर पर जैसे ' न जघन्यगुणानां' लागू होता है, उसी प्रकार सैकड़ों, संख्याते, अनन्ते परमाणुओं का स्कन्ध बनने की योग्यता मिलने पर भी उक्त अपवाद लागू होजाता है, यह सूत्रकार का अभिप्राय इस सूत्र करके सूचित कर दिया गया समझ लिया जाता है।

ननु न जघन्यगुणाः परमाणवः केचित्सन्तीति कुतो निश्चयः स्निग्धरूक्षगुणयोः प्रकर्षातिशयदर्शनात् परमापकर्षस्य सिद्धजघन्यगुणसिद्धिः। उष्ट्रीक्षीराद्धि महिषीक्षीरस्यापकृष्टः स्नेहगुणः प्रतीयते ततो गव्यादेस्ततोजादेस्य अन्यत्रापि सोपवर्त्येति ! तथा रूक्षगुणोपि

शर्करातः कणिकानामपकृष्टः प्रतीयते ततोपि पांशूनामिति । स्निग्धरूक्षगुण: क्वचिदत्यंतमपकर्षमेति प्रकृष्यमाणापकर्षत्वादा नभसः परिमाणे परिमाणवदित्यनुमानाज्जघन्यगुणसिद्धिः । एतेनोत्कृष्टगुणसिद्धिर्व्याख्याता, प्रकर्षातिशयदर्शनात्क्वचित्परमप्रकर्षसिद्धेः ।

यहां कोई प्रश्न उठाता है, कि जगत् में जघन्य गुण वाले कितने ही एक परमाणुयें हैं, इसका निश्चय किस प्रमाण से किया जाय ? बताओ । अब आचार्य महाराज उत्तर करते हैं, कि स्निग्ध गुणों और रूक्ष गुणों के अपकर्ष यानी हीनता होते चले जाने का अतिशय देखा जा रहा है, जिसके अपकर्ष का तारतम्य देखा जाता है, क्वचित् उसका अतिशय होजाने से चरम अवस्था पर परम अपकर्ष की सिद्धि होजाती है, जैसे कि आकाश, धर्मद्रव्य स्वयम्भूरमणसमुद्र, सुमेरुपर्वत, घट, बेर, पोस्त, आदि में परिमाण की घटी होते होते परमाणु पर पहुंच कर सब से छोटा अणुपरिमाण विश्राम कर लेता है । उसी प्रकार स्निग्धता और रूक्षता के अविभागी अंशों में न्यूनता होते होते अन्तिम जघन्य गुणों की सिद्धि होजाती है, जिससे पुनः न्यूनता होने की सम्भावना नहीं है ।

देखिये जब कि ऊंटिनी के दूध से भैंस के दूधका चिकनापन गुण हीनता को लिये हुये प्रतीत होता है, और तिस भैंस के दूध से गाय के दूध का चिकना गुण अपकृष्ट है, उस गाय के दूध से भी बकरी के दूध का चिकनापन अल्प है, उस बकरी के दूध से भी जल का चिकनापन न्यून है, यों तारतम्य होते होते क्वचित् स्नेह गुण की अन्तिम जघन्य-अवस्था प्राप्त होजाती है, उस अवस्था में बंध होना असम्भव है ।

जिस प्रकार स्नेह गुण का अपकर्ष बढ़ता बढ़ता दिखा दिया है, तिसी प्रकार रूक्ष गुण का अपकर्ष प्रतीत होरहा है, देखिये कंकड़ियों या माणिक-रेती के रूखेपन से कणिकाओं यानी कनियों का रूखापन अपकृष्ट दीखता है, और उन कनकियों के रूखेपन से भी धूलियों का रूखापन न्यून है,बालू रेतसे मिट्टीका रेत कमती रूखा है । इस प्रकार स्निग्धगुण या रूक्षगुण (पक्ष) कहीं न कहीं अत्यन्त अपकर्ष को प्राप्त होजाते हैं, (साध्य) प्रकर्ष को प्राप्त होता जारहा अपकर्ष होने से (हेतु) आकाश के परिमाण से प्रारम्भ कर जैसे परिमाण में न्यूनता होते होते परमाणु में परिमाण का अपकर्ष अन्तिम विश्रान्त होजाता है, (दृष्टान्त) । इस अनुमान से पुद्गलों के जघन्य गुणों की सिद्धि होजाती है, इस उक्त कथन करके पुद्गलों के स्नेह या रूक्ष सम्बन्धी उत्कृष्ट गुणों की सिद्धि का भी व्याख्यान किया जा चुका है ।

प्रकर्ष यानी वृद्धि का अतिशय बढ़ता बढ़ता दीखता रहने से कहीं जाकर परम प्रकर्ष की सिद्धि होजाती है, जैसे कि परमाणु द्व्यणुक घट, पट, पर्वत आदि में परिमाण बढ़ते बढ़ते आकाश में विश्रान्ति लेता है, अथवा सूक्ष्म निगोदिया के अनन्तानन्त अविभागप्रतिच्छेद वाले अक्षरज्ञान की वृद्धि होते रहते सन्ते अनन्तानन्त स्थलों पर तारतम्य अनुसार वृद्धि होते होते केवल-ज्ञान में ज्ञान के

गुणों का परम प्रकर्ष सिद्ध होजाता है, सूक्ष्मनिगोदिया के ज्ञान में भी एक नहीं किन्तु अनन्तानन्त अविभागप्रतिच्छेद हैं, वे ज्ञान के जघन्य गुण हैं, इसी प्रकार पुद्गलों में भी स्निग्ध रूक्ष परिमाणों के कतिपय जिन-दृष्ट संख्याते या असंख्याते गुण रह जाते हैं. वे जघन्य गुण हैं, ऐसे जघन्यगुण वाले पुद्गलों का बंध होना निषेधा गया है।

राजवार्त्तिक या श्लोकवार्त्तिक में यद्यपि जघन्य का अर्थ एक किया गया है, 'एकगुणस्निग्धस्य एकगुणस्निग्धेन वा एकगुणस्य स्निग्धरूक्षस्य वा परेण स्निग्धेन रूक्षेण चैकगुणेन' आदि लिखा गया है। छः वृद्धियों और छः हानियों अथवा चतुः स्थान-पतित हानि वृद्धियों के भी अनुसार अविभाग-प्रतिच्छेदों की एक संख्या का शेष रह जाना जंचता नहीं है, जघन्य ज्ञान में सब से प्रथम उपरला अनन्तवेंभाग वृद्धि का स्थान कह रहा है, कि जघन्य ज्ञान भी किसी अपेक्षा एक है, तभी तो उस अवयवी के भाग मान कर अनन्तवां भाग बढ़ाया गया है। उसी प्रकार परमाणु के अनेक जघन्य गुणों को सब से पहिली अवस्था मान कर एक गुण का व्यवहार कर दिया जाता है, विद्वान जन और भी इस पर प्रकाश डालेंगे, गम्भीर विचार करेंगे।

ननु न कदाचिदबंधः परमाणूनां सर्वदा स्कंधात्मतयैव पुद्गलानामवस्थितेः। बुद्ध्या परमाणुकल्पनोपपत्तेरविभागपरिच्छेदवदिति कश्चित् प्रत्याह।

यहां कोई पण्डित स्वपक्ष का अवधारण करता हुआ पूर्वपक्ष उठाता है, कि सूत्रकार ने जो जघन्य गुण वाले परमाणुओं का अबंध कहा है, यानी वैसे जघन्य गुणो परमाणुओं का बंध नहीं होता है, सो हमको ठीक नहीं जंचा है, क्योंकि परमाणुओं का कदाचित् भी अबंध नहीं होता है, यानी परमाणु सदा बंधे ही रहते हैं, स्कन्ध स्वरूप-पने करके ही पुद्गलों की सर्वदा अवस्थिति पाई जाती है, जगत् में किसी को न्यारा न्यारा परमाणु नहीं दीख रहा है, हम आदि सब को सर्वत्र पिण्ड ही पिण्ड दीखते हैं, हां बुद्धि करके परमाणुओं की कल्पना करना भले ही बन जाय जैसे कि अविभागप्रतिच्छेद कल्पित माने जा रहे हैं।

अर्थात्-जैनों ने उतने ही लम्बे चौड़े बोझ-वाले जैसे नील, नीलतर, नीलतम पदार्थों में रूप के अन्तस्थल को समझाने के लिये, सौ, पांचसौ, पांच सहस्र, संख्यात, आदि अंशों की कल्पना कर ली है, वस्तुतः अविभागप्रतिच्छेद कोई न्यारे न्यारे वस्तुभूत टुकड़े नहीं हैं, जैसे कि वस्त्र में न्यारे न्यारे सूत आतान वितान अवस्था अनुसार प्रतिभास रहे हैं, लंगड़ा या मालदा आम को मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करते हुये कुछ दिन तक रक्खे रहने देने में उनमें मिष्टता के अंश बढ़ जाते हैं, इस क्रिया के अवसर पर आम में कहीं बाहर से आकर मिश्री या बक्खर नहीं मिल जाता है, अथवा मर्यादा के अधिक दिन तक रखे रहने देने से जो मिष्टता कम होजाती है, तब कोई उसमें से रस या बक्खर चू करके टपक नहीं पड़ता है, केवल अन्तरंग बहिरंग कारणों अनुसार उपज रहीं आम की पूर्वापर

परिणतियों में तारतम्य अनुसार मीठेपन के अविभाग प्रतिच्छेद रूप अंशों की कल्पना कर ली जाती है।

किसी पुष्प में पहिले अल्प गन्ध थी पुनः उसी गंध गुण की उत्तरोत्तर-सुगन्ध पर्यायें तीव्र सुगन्ध स्वरूप होगई हैं यहां भी गंध की परिपूर्ण परीक्षा करने के लिये सुगंध परिणामों के अंश गढ़ लिये जाते हैं, उड़द की दाल में कुछ देर तक धरी रहने से चिकनेपन के अंश बढ़ते हुये कल्पित कर लिये जाते हैं। विद्यार्थी की परीक्षा लेते हुये पूर्ण उत्तरों के सौ अंश कल्पित कर छात्र की व्युत्पत्ति अनुसार अस्सी, पचास, चालीस आदि लब्धांक दे दिये जाते हैं, इसी ढंग से अविभाग प्रतिच्छेदों की कल्पना समान अखण्ड पुद्गल स्कन्ध में तिर्यग् अंश कल्पना करते हुये परमाणुओं को गढ़ लिया गया है, वस्तुतः एक भी परमाणु अबंध, स्वतंत्र, एकाकी नहीं है। इस प्रकार कोई एकान्त पिण्ड-वादी पण्डित कह रहा है उसके प्रति ग्रन्थकार महाराज समाधान-कारक अगली वार्तिक को कहते हैं।

न जघन्यगुणानां स्याद्बंध इत्युपदेशतः।
पुद्गलानामबन्धस्य प्रसिद्धेरपि संग्रहः ॥ १ ॥

निकृष्ट गुण वाले परमाणुओं का बंध नहीं होता है, इस प्रकार सूत्रकार महाराज का उपदेश होने से पुद्गलों के अबंध की प्रसिद्धि का भी संग्रह होजाता है। अर्थात्—श्री उमास्वामी महाराज के "न जघन्यगुणानां" इस सूत्र द्वारा अनेक परमाणुओं का नहीं बंधना भी प्रसिद्ध होजाता है युक्तियों से भी कई परमाणुओं का अबन्ध सध जाता है।

स्कंधानामेव केषांचिद्वालुकादीनामबंधोस्तु न परमाणूनामित्ययुक्तं, प्रमाणविरोधात्। "पृथिवी सलिलं छाया चतुरिन्द्रियविषयकर्मपरमाणुः षड्विधभेदं भणितं पुद्गलतत्वं जिनेन्द्रेण" इत्यागमेन पारमार्थिकपरमाणुप्रकाशकेन कल्पितपरमाणुवादस्य बाधनात्। परमार्थेनो असंबंधपरमाणुवादस्य च परमाणूत्पत्तिसूत्रेण निराकरणात्।

कोई पण्डित कह रहे हैं कि अनन्तपरमाणुओं के तदात्मक पिण्ड होरहे बालू, माणिकरेती, रत्नधूल, आदि किन्हीं किन्हीं स्कन्धों का ही अबंध होरहा है इस सूत्रोपदेश-अनुसार जो कतिपय परमाणुओं का अबंध कहा गया है वह तो नहीं प्रसिद्ध है। आचार्य कहते हैं कि यह आक्षेप करना अयुक्त है, क्योंकि प्रमाणों से विरोध आता है जगत् में केवल स्कन्ध ही नहीं हैं किन्तु परमाणुयें भी द्रव्य हैं। देखिये आगम में यों लिखा है "पुढवी जलं च छाया चउरिन्दिय-विसय कम्म परमाणू। छव्विहभेयं भणियं पोग्गलदव्वं जिणवरेहिं" (गौम्मटसार जीवकाण्ड) जिसका छेदन, भेदन या स्थानान्तर में प्रापण होसके वे पृथिवी, पत्थर, वस्त्र आदि बादर बादर स्कन्ध हैं। जिसका छेदन, भेदन, तो नहीं होसके किन्तु अन्यत्र प्रापण होजाय वह जल, दूध, आदि बादरस्कन्ध हैं। और जिस पिण्ड का छेदन, भेदन, अन्यत्र प्रापण कुछ भी नहीं होय ऐसे नेत्र-ग्राह्य छाया, घाम, आदि पुद्गल पिण्डों को बादर

सूक्ष्म कहते हैं। नेत्रके अतिरिक्त शेष चार बहिरिन्द्रियों के विषय होरहे पुद्गलों को सूक्ष्म स्थूल कहते हैं जैसे जिस कढ़ी या दाल में नीबू का रस पहिले से निचोड़ दिया है, अथवा इत्र की शीशी में से सुगन्ध आरही है। भगौना में धरे हुये शीतल जल के साथ थोड़ा उष्ण जल मिला दिया जाय तथा शब्दों को सुना जाय ऐसे चक्षुः इन्द्रिय के विषय नहीं होरहे रसवान् गन्धवान्, स्पर्शवान् या पौद्गलिक [illegible] पिण्ड का किसी भी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होसके वे कार्माणवर्गणा, आहारवर्गणा, कर्म, आदि स्कन्ध तो सूक्ष्म कहे जाते हैं, ये पांच तो स्कन्ध के भेद हुये श्री जिनेन्द्रदेव महाराजों ने पुद्गल द्रव्य का छठा भेद सूक्ष्म सूक्ष्म परमाणुओं का कहा है, यों वास्तविक न्यारी न्यारी परमाणुओं का प्रकाश करने वाले आगम वाक्य करके परमाणुओं के कल्पित मानने वाले वाद की बाधा प्राप्त होजाती है। अर्थात्—सिद्धान्त ग्रन्थों में परमाणुओं को वस्तुभूत स्वतंत्र साधा गया है, यदि परमाणुयें ही कल्पित होंगी तो उनकी भींत पर रचा गया स्कन्ध ततोपि अधिक कल्पित होगा, कल्पित ईंटों का घर वस्तुभूत नहीं है।

श्री विद्यानन्द स्वामी, श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती के ग्रन्थों का प्रमाण दे सकते हैं या नहीं ? इसमें आगे पीछे कौन हुये हैं यह सब इतिहास से सम्बन्ध रखने वाला अन्वेषण है, प्रचलित प्रणाली अनुसार देशभाषाकार मैं ने प्राकृत गाथा अनुसार संस्कृत आर्याछन्द का सादृश्य होने से गोम्मटसार के वाक्य का उल्लेख कर दिया है, हां धवल आदि सिद्धान्त ग्रन्थ तो अधिक प्राचीन हैं श्री गोम्मटसार भी तो उन्हीं सिद्धान्त ग्रन्थों के अवलम्ब पर रचे गये हैं। सम्भव है उक्त आर्या अधिक प्राचीन होय, अतः समीचीन आगम से कल्पित परमाणुवादका प्रतिविधान होजाता है। एक बात यह भी है कि " भेदादणुः " इस परमाणु की उत्पत्ति के सूचक सूत्र करके परमाणुओं के वास्तविक रूप से असम्बन्ध होजाने के पक्ष-परिग्रह का निराकरण कर दिया जाता है यानी सूत्र पुकार कर परमाणु की उत्पत्ति को बखान रहा है तो फिर अखण्ड स्कन्धका आग्रह करते हुये परमाणुओं को ही स्वीकार नहीं करना या उनका अबंध माने जाना निराकृत होजाता है।

भेदादणुः कल्प्यते इति क्रियाध्याहारान्नोत्पत्तिः परमाणूनामिति चेन्न, भेदसंघातेभ्य उत्पद्यंत इत्यत्र स्वयमुत्पद्यंत इति क्रियायाः क्रियांतराध्याहारनिवृत्त्यर्थमुपन्यासात् भेदादणुरिति सूत्रस्य नियमार्थत्वात् पूर्वसूत्रेणैव परमाणूत्पत्तिविधानात्।

परमाणुओं का सम्बन्ध नहीं होना मानने वाले वादी कहते हैं कि " भेदादणुः " इस सूत्र का " कल्प्यते " इस क्रियाका अध्याहार कर देने से यह अर्थ—होजाता है कि भेद से अणु की कल्पना कर ली जाती है, अविभागप्रतिच्छेद का दृष्टान्त दिया जा चुका है परमाणुओं की उत्पत्ति तो छेदन भेदन अनुसार नहीं होती है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि ऊपरले "भेदसंघातेभ्य उत्पद्यंते " यों इस सूत्र में सूत्रकार महाराज ने स्वयं कण्ठोक्त उत्पद्यन्ते इस क्रिया को उपात्त किया है, अर्थात्—भेद और संघात तथा भेद संघातों से स्कन्ध या परमाणुयें उपजते हैं या कल्पना, व्यपदेश,

आदि अन्य क्रियाओं के अध्याहार की निवृत्ति के लिये उपजना इस क्रिया का स्पष्ट शब्दों द्वारा निरूपण किया है। दूसरा "भेदादणुः" भेद से अणु होता है, यह सूत्र तो मात्र नियम करने के लिये ही है परमाणु की उत्पत्ति का विधान तो 'भेदसंघातेभ्यः उत्पद्यन्ते" इस पहिले सूत्र से ही हो चुका था क्योंकि पूर्व सूत्रोक्त अणुयें और स्कन्ध इन सभी पुद्गलों का इस सूत्रद्वारा उपजना कहा है अतः "भेद से परमाणु की कल्पना करली जाती है" इस अर्थ का यहां कथमपि अवसर नहीं है।

चार्वाकों ने "पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि" "तत्समुदये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञास्तेभ्यश्चैतन्यं" यहां बड़ी दक्षता से काम लिया है "उत्पद्यते या अभिव्यज्यते" चाहे किसी भी क्रिया का उपस्कार किया जा सकता है ऐसी लोकदक्षता या दम्भ करना हम स्याद्वादियों को अभीष्ट नहीं है, "स्पष्टवक्ता न वञ्चकः" इस नीतिके अनुसार डंके की चोट स्याद्वादसिद्धान्त का हम प्रतिपादन करते हैं भेद से परमाणुयें उपजते हैं वे समघन चतुरस्र परमाणुयें पहिले स्कन्ध अवस्था में बंधे हुये थे। पीछे भी योग्यता मिलने पर बन्ध जाते हैं। यों परमाणुओं के अबन्ध का एकान्त किये जाना प्रशस्त नहीं है तथा परमाणुओं को अबन्ध मान कर स्कन्ध का निराकरण करते चले जाना भी ठीक नहीं है जब की परमाणुओं का बंध होरहा प्रतीत होरहा है, पुद्गलों का बंध ही स्कन्ध है।

किं च, भिदाद्यपन्नाः स्कंधभेदाः क्वचित्प्रकर्षभाजः प्रकृष्यमाणत्वात् परिमाणवदित्यनुमानबाधितत्वान्न परमाणूनामबंधकल्पना श्रेयसी।

एक बात यह भी है, कि घट के टुकड़े, कपाल के टुकड़े, कपालिका के टुकड़े, ठिकुच्ची छोटी ठिकुच्ची आदि उत्तरोत्तर टुकड़े होरहे स्कन्ध के भेद (पक्ष) कहीं न कहीं प्रकर्ष अवस्था को धार लेते हैं, (साध्य) अतिशय होते होते तारतम्य अनुसार उत्तरोत्तर छेदन, भेदन, का प्रकर्ष होता जारहा होने से (हेतु) परिमाण के समान (अन्वयदृष्टान्त)। अर्थात्-परिमाण बढ़ते बढ़ते जैसे अलोकाकाश में समाप्त होजाता है और परिमाण घटते घटते परमाणु में जाकर अन्तिम अटक जाता है, उससे आगे नहीं चल पाता है, इसी प्रकार स्कन्धका टुकड़ा होते होते अविभागी परमाणु पर अन्त में जाकर ठहर जाता है, पहिले परमाणु बंधे थे तभी तो उसके भेदसे टुकड़े हुये यों इस उक्त अनुमान से बाधित होजाने के कारण परमाणुओं के अबंध की कल्पना करना श्रेष्ठ नहीं है।

ननु च परमाणूनामबंधसाधने तेषां पुनर्बंधाभावः साकल्येनैकदेशेन बंधस्याघटनादिति चेन्न, स्कंधानामपि बंधाभावप्रसंगात्। तेषामपि कार्त्स्न्येन बंधे सर्वस्कंधमात्रपिंडप्रसक्तेः एकदेशेन संबंधे चैकस्कंधप्रदेशस्य स्कंधांतरदेशेन बंधः कार्त्स्न्येनैकदेशेन वा भवेत्? कार्त्स्न्येन चेत्तदेकदेशमात्रप्रसक्तिः,एकदेशेन चेदनवस्था स्यात्, प्रकारांतरेण तद्बन्धे परमाणूनामपि बंधस्तथैव स्यात् स्निग्धरूक्षत्वाद्बंध इति निःप्रतिद्वंद्वस्य बंधस्य साधनात्। ततः सूक्तं न अबन्धाणूनां बंध इति प्रतिषेधात्पुद्गलानामबंधसिद्धेरपि संग्रह इति।

यहां कोई पण्डित एक और आक्षेप करता है, कि उक्त सूत्र और वार्तिक अनुसार जैनों ने कतिपय परमाणुओं का अबंध सिद्ध कर दिया है, ऐसी दशा में हमारा कहना है, कि यदि परमाणुओं का बंध नहीं होता साधा जायेगा तो फिर उन परमाणुओं का कभी बंध हो ही नहीं सकेगा क्योंकि पहिले बौद्धों की ओर से इस बात की पुष्टि यों की जा चुकी है, कि यदि परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ पूर्णरूप से बंध मान लोगे तब तो दो परमाणुओं का द्वचणुक या अनेक परमाणुओं का प्रचय केवल एक परमाणुमात्र होजायेगा। बन्ध होने से कोई लाभ नहीं निकला, उल्टा परमाणुओं का ही खोज खो गया, हां यदि इस दोष के निवारण करने के लिये एक देश से परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ बंध जाना स्वीकार किया जायेगा तो अखण्ड एक निरंश परमाणुएं पहिले से ही कई एक देश मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज उन एक देशों के साथ परमाणु का संसर्ग मानने पर अनेक दोष आते हैं, परमाणु की निरंशता और अखण्डता भी मर जायेगी अतः परमाणु का अन्य परमाणुओं के साथ सकलपने या एकदेश करके बंध जाना घटित नहीं हुआ।

ग्रन्थकार कहते हैं, कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों तो इसी प्रकार सूक्ष्मस्कन्धों के भी बंध जाने के अभाव का प्रसंग आजावेगा उन सूक्ष्म स्कन्धों का भी परस्पर परिपूर्ण रूप से बंध होना मानने पर कई सूक्ष्म स्कन्धों का मिल कर भी केवल एक सूक्ष्म स्कन्ध बराबर ही पिण्ड होजाने का प्रसंग आजावेगा सर्वाङ्ग बंध होजाने पर एक परमाणु बराबर या प्रदेशमात्र भी क्षेत्र की वृद्धि नहीं होपाती है, और सूक्ष्म स्कन्धों का परस्पर एक देश से सम्बन्ध स्वीकार करने पर तो उस सूक्ष्म स्कन्ध का अपने एक एक देशों के साथ पुनः एक देश या पूर्ण देश से सम्बन्ध मानने पर अनवस्था या छोटा एकदेश मात्र ही हो जाने का प्रसंग ये दोष आते हैं। देखिये स्कन्ध के एकदेश का स्कन्ध का अन्य देश के साथ क्या परिपूर्णता से बंध होगा? अथवा क्या एक-देशेन होगा? बताओ पूर्णरूप से बंध मानने पर उस सूक्ष्म स्कन्ध का अपने एक छोटे से देश बराबर होजाने का प्रसंग आता है, हां एक-देशेन बंध मानोगे तब तो पुनः अन्य एक एक देशों की कल्पना करना बढ़ता चला जाने से अनवस्था दोष आजायेगा यदि सम्पूर्णपने और एकदेश-पने इनसे न्यारे किसी अन्य प्रकार करके उन सूक्ष्म स्कन्धों का बंध माना जायेगा तब तो परमाणुओं का भी तथैव उस तीसरे प्रकार करके ही बंध होजाओ अतः स्निग्धपन और रूक्षपन इस तीसरे प्रकार से परमाणु का बंध होजाना मान लिया जाय यों प्रतिपक्ष से रहित होकर परमाणुओं के बंध की निराबाध सिद्धि कर दी जाती है।

अब कोई प्रतिवादी प्रतिकूल द्वन्द्वयुद्ध करने के लिये सन्मुख खड़ा नहीं रहता है, तिस कारण से सूत्रकार ने यह बहुत अच्छा कहा है, कि जघन्य गुण वाले परमाणुओं का बंध नहीं होता है, गम्भीर विद्वानों के वचन अपरिमित अर्थ को लिये हुये रहते हैं, अतः कतिपय परमाणुओं के निषेध के समान उसी सूत्र करके कुछ पुद्गलों के बंध नहीं होने की सिद्धि का भी संग्रह होजाता है, अथवा "न जघन्यगुणानां" इस उपदेश से कतिपय पुद्गलों के अबंध बने रहने की प्रसिद्धि का भी संग्रह होजाता है,

यों पंक्ति शुद्ध कर ली जाय जो कि वार्त्तिक में कहा गया है ।

येषां परमाणूनां बंधस्तेषां बन्ध एव सर्वदा, येषां त्वबंधस्तेषामबंध एवेत्येकांतोप्यनेनापास्तः । केषांचिदबधानामपि कदाचिद्बंधदर्शनाद्बंधवतां चाऽबंधप्रतीतेर्बाधकाभावात् परमाणुष्वपि तन्नियमानुपपत्तेः ।

कोई एकान्तवादी पण्डित यों कह रहा है, कि जगत् में जिन परमाणुओं का बंध है, उनका सदा बंध ही है, और जिन परमाणुओं का बंध नहीं होता है, उनका सदा अबंध हो रहता है, आचार्य कहते हैं, कि यह एकान्त भी इस उक्त कथन करके निराकृत कर दिया गया है, क्योंकि कारण नहीं मिलने पर पहिले बंधको नहीं प्राप्त होचुके भी किन्हीं किन्हीं परमाणुओं का कदाचित् अब बंध होरहा देखा जाता है, और बंधवाले परमाणुओं का भी भेदक कारण उपस्थित होजाने पर और पुनः द्व्यधिक गुण सहितपन की योग्यता नहीं मिलने पर अबंध अवस्था में पड़े रहना प्रतीत होरहा है, इन प्रतीतिओं का कोई बाधक प्रमाण नहीं है, जब नित्य निगोदिया जीव भी निकलकर व्यवहार राशि में आजाता है, सूर्य विम्ब, चन्द्रमण्डल, सुमेरु, अकृत्रिम चैत्यालय,आदि-अनादि कालीन, पुद्गल पिण्डों में से अनेक परमाणुयें निकलती, मिलती रहती हैं, कितनी ही अनादि काल की परमाणुयें आज कारण मिल जाने पर बंध को प्राप्त होजाती हैं, अनन्त वर्षों से स्कन्धा में प्राप्त होरहीं परमाणुयें आज असंख्य वर्षों के लिये स्कन्ध से अपना पिण्ड छुड़ा बैठती हैं । अतः स्कन्ध में जैसे केवल स्कन्ध ही बने रहने का कोई नियम नहीं बनता है उसी प्रकार परमाणुओं में भी उस बंध दशा ही बने रहने या किन्हीं में अबन्ध अवस्था ही बने रहने का नियम कर देना नहीं बन पाता है । यहां तक यह तात्पर्य निकलता है कि जघन्य स्निग्ध गुणवाले और जघन्य रूक्ष गुण वाले परमाणुओं को छोड़ कर अन्य स्निग्ध परमाणुओं और रूक्षगुणवालीं परमाणुओं का परस्पर में बंध होजाता है ।

अब ऐसी दशा में सामान्य रूप से परमाणुओं के बंध जाने का प्रसंग आजावेगा यानी दश गुण स्निग्ध वाले परमाणु का दूसरी दश स्निग्ध गुण वाली परमाणु के साथ बंध जाना बन बैठेगा जो कि इष्ट नहीं है अतः इस प्रसग का प्रतिषेध समझाने के लिये श्री उमास्वामी महाराज को यह अग्रिम सूत्र भी रचना पड़ा है ।

गुणसाम्ये सदृशानाम् ॥ ३६ ॥

जिनके भाग तुल्य हैं ऐसे ऐसे परमाणुओं के गुणों की समानता होनेपर सदृश या विसदृश परमाणुओं का बंध नहीं होपाता है, हां गुणों की विषमता होने पर तो सदृश या विसदृश परमाणुओं का मिथः बंध होजाता है ।

गुणवैषम्ये बंधप्रतिपत्त्यर्थं सदृशग्रहणं । सदृशानां स्निग्धगुणानां परस्परं रूक्षगुणानां चान्योन्यं भागसाम्ये बन्धस्य प्रतिषेधात् ।

गुणों की विषमता होने पर बंध होजावे इसकी प्रतिपत्ति कराने के लिये सूत्र में सदृश शब्द का ग्रहण है, सदृश स्निग्ध गुणवाले परमाणुओं के परस्पर में अथवा रूक्ष गुण वाले सदृशपरमाणुओं के परस्पर में भागों की समता होजाने पर इस सूत्र द्वारा बंध का निषेध किया गया है। अर्थात्—दो स्निग्ध गुणों को धारने वाले परमाणु का दो रूक्ष गुणों को धारने वाले परमाणु के साथ और दो गुण स्निग्धवाले परमाणु का दो रूक्ष गुण वाले परमाणु के साथ बंध नहीं होता है क्योंकि इनमें गुणकार यानी भाग की समानता है।

नन्वेवं विसदृशानां गुणसाम्ये बंधप्रतिषेधो न स्यादिति न मन्तव्यं, सदृशग्रहणस्य विसदृशव्यवच्छेदार्थत्वाभावात् सदृशानामेवेत्यवधारणानाश्रयणात्। गुणसाम्ये वेति सूत्रोपदेशे हि सदृशानां गुणवैषम्येपि बंधप्रतिषेधप्रसक्तौ तद्बन्धसिद्धये सदृशग्रहणं कृतं, तेन स्निग्धरूक्ष-जात्या साम्येपि गुणवैषम्ये बंधसिद्धिः।

यहां कोई आक्षेप करता है कि इस प्रकार सदृश ही परमाणुओं के गुण साम्य होने पर बंध का निषेध किया जायेगा तब तो विसदृश परमाणुओं का गुण-साम्य होने पर बंध का प्रतिषेध नहीं होसकेगा किन्तु सिद्धान्त में गुण-साम्य होने पर स्निग्ध रूक्ष या रूक्ष स्निग्ध इन विसदृश परमाणुओं का भी बंध निषेधा गया है। तीन रूक्ष गुणों के धारी परमाणुका तीन स्निग्ध गुणों के धारी परमाणु के साथ बंध नहीं माना गया है जैसे कि चार स्निग्ध गुण वाले परमाणु का चार स्निग्ध वाले दूसरे परमाणु के साथ बंध जाना नहीं स्वीकार किया गया है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं मानना चाहिये क्योंकि सदृश पद का ग्रहण सूत्र में विसदृश का व्यवच्छेद करने के लिये नहीं है। "सदृशानां एव" सदृशों का ही बंध नहीं होसके ऐसे अवधारण का आश्रय भी नहीं किया गया है। जिससे कि सम-गुण विसदृशों का बन्ध होजाय, अतः विसदृशों का भी गुण-साम्य होने पर बंध होना निषेधा जाता है।

यदि सदृश और विसदृश दोनों का ग्रहण करने के लिये केवल 'गुण-साम्ये वा' गुणों के समान होने पर किसी भी सदृश या विसदृश का बन्ध नहीं होपाता है, यों सूत्र का उपदेश किया जाता तब तो सदृश परमाणुओं का गुणों के वैषम्य होने पर भी उन सम गुण वालों के समान बन्ध के निषेध का प्रसंग प्राप्त होजाता, ऐसी दशा में उन विषम गुण वालों के बंध की सिद्धि करने के लिये सूत्र में सदृश शब्द का ग्रहण किया गया है। उस सदृश शब्द करके स्निग्ध जाति या रूक्ष जाति के द्वारा समानता होने पर भी यदि गुणों की विषमता होय तो उन परमाणुओं के बंध जाने की सिद्धि होजाती है। अर्थात्—गुणों के वैषम्य होनेपर सदृशों का बंध हो ही जाता है, यह बात सदृश पद देने पर ही निकलती है, नान्यथा।

किमर्थमिदं सूत्रमब्रवीदित्याह।

कोई जिज्ञासु पूछता है कि इस " गुणसाम्ये सदृशानां " सूत्र को किस प्रयोजन की सिद्धि के लिये श्री उमास्वामी महाराज ने कहा था ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार (हम ही तो) इस अगली वार्तिक को कहते हैं।

अजघन्यगुणानां तत्प्रसक्तावविशेषतः। गुणसाम्ये समानानां न बंध इति चाब्रवीत् ॥ १ ॥

पूर्व सूत्र द्वारा जघन्य गुणों से रहित होरहे परमाणुओं का विशेषता रहित होकर उस बंध होने का प्रसंग प्राप्त होजाने की अवस्था उपस्थित होजाने पर श्री उमास्वामी महाराज " गुणसाम्ये सदृशानां " गुणों की समानता होने पर सदृशपरमाणुओं का बंध नहीं होता है यों इस सूत्र को कहते भये। अर्थात्—कभी कभी छोटे पदार्थ का निषेध करते हुये उससे बड़े पदार्थ का विधान स्वतः प्राप्त होजाता है। अतः उस अनिष्ट का निषेध करने के लिये पुनः कण्ठोक्त दूसरा निषेध करना पड़ता है जैसे कि तुच्छफल के भक्षण का निषेध कर देने पर स्वार्थी पुरुष महाफल का भक्षण करना विहित समझ लेते है, अतः महाफल के भक्षण का भी कण्ठोक्त निषेध करना पड़ता है। रात्रि में जल नहीं पीना चाहिये इसका अर्थ रात्रि में अन्न दूध फल, खा लिया जाय और पानी पिये कुल्ला किये बिना ही सो जाय, यह नहीं है तथा सूक्ष्म चोरी का निषेध छठे गुणस्थान में है एतावता कोई विरत मुनि स्थूल चोरी नहीं कर सकता है। अतः परमाणुओं के गुण-साम्य अवस्था में बंध का निषेध करना सूत्र-कार महाराज का स्तुत्य प्रयत्न है।

केषां पुनर्बंधः स्यादित्याह ।

अगले सूत्रके लिये अवतरण यों है,कि यों तो बंधके एक विधायक और दो निषेधक सूत्रों करके विषम भाग वाले तुल्य-जातीय अथवा अतुल्य-जातीय पुद्गलों का किसी भी नियम के बिना ही बंध जाने का प्रसंग प्राप्त हुआ। दस स्निग्ध गुण वाले परमाणु का बीस गुण स्निग्ध वाले पुद्गल के साथ या चालीस गुण रूक्ष वाले के साथ भी बंध हो जावेगा, जो कि इष्ट नहीं है, अतः बताओ फिर कैसे किन परमाणुओं का बंध होसकेगा ? इस प्रतिपित्सा का समाधान करते हुये सूत्रकार अग्रिम सूत्र को प्रव्यक्त कहते हैं।

द्व्यधिकादिगुणानां तु ॥ ३७ ॥

तुल्य जाति वाले या अतुल्य जाति वाले जो पुद्गल परस्पर में स्निग्ध या रूक्ष पर्यायों में दो अधिक अविभाग प्रतिच्छेदों को धारते हैं, उनका तो बन्ध होजाता है अर्थात् तु शब्द करके 'न जघन्य-गुणानां, सूत्र से चले आ रहे प्रतिषेध की व्यावृत्ति कर दी जाती है, और 'स्निग्धरूक्षत्वाद्बंधः' सूत्र से

आरहे बंध होने का कथन कर दिया जाता है, अतः दो स्निग्ध गुण या दो रूक्ष गुण वाले परमाणु का एक गुण दो गुण या तीन गुण के धारी स्निग्ध अथवा रूक्ष परमाणु के साथ बंध नहीं होगा। हाँ चार गुण स्निग्ध वाले या चार गुण रूक्ष वाले अन्य परमाणु के साथ तो उसका बंध अवश्य हो जायेगा किन्तु उसी दो गुण स्निग्ध या दो गुण रूक्ष के धारी पुद्गल का फिर पांच, छः, सात, आठ, संख्यात असंख्यात या अनन्त, स्निग्ध रूक्ष गुणों के धारी दूसरे परमाणु के साथ बंध नहीं होसकता है, इसी प्रकार तीन गुण रूक्ष या स्निग्धाके धारी परमाणु का पाँच गुणधारी स्निग्ध या रूक्ष पुद्गल के साथ बंध होजायेगा किन्तु शेष पहिले पिछले गुणों के धारी परमाणु के साथ बंध नहीं होगा इसी प्रकार शेष परमाणुओं में भी द्व्यधिकता की व्यवस्था जोड़ ली जाय, जघन्य गुणों को छोड़ कर शेष सजातीय, विजातीय, परमाणुओं के स्निग्ध रूक्ष गुणों के अविभाग प्रतिच्छेदों में द्व्यधिकता का प्रकरण मिल जाने पर बंध होजाता है।

द्व्यधिकश्चतुर्गुणः। कथ? एकगुणस्य केनचिद्बंधप्रतिषेधाद्द्विगुणस्य बंधसंभवा-त्ततोद्व्यधिकस्य चतुर्गुणत्वोपपत्तेः। प्रकारवाचिनादिग्रहणे। पंचगुणादिपरिग्रहः, त्रिगुणादीनां बंधे पंचगुणादीनां द्व्यधिकतोपपत्तेः। एवं च तुल्यजातीयानां विजातीयानां च द्व्यधिकादि-गुणानां बंध सिद्धो भवति। तु शब्दस्य प्रतिषेधनिवृत्त्यर्थत्वात्। तथाहि—

द्व्यधिक शब्द का अर्थ चार भाग वाला है, सो किस प्रकार है? उसको यों समझो कि एक गुण वाले परमाणु का तो किसी के साथ बंध होता ही नहीं है क्योंकि 'न जघन्यगुणानां' से निषेध कर दिया गया है, हां दो गुण वाले परमाणु का बंध जाना सम्भव होता है, अतः उस दो गुण वाले से जो इस सूत्र अनुसार दो अधिक गुण वाला अन्य परमाणु होगा उसको चार गुण सहितपना बन जाता है, तीन गुण वाले का पांच गुण वाले के साथ बंध जाने के योग्य द्व्यधिकता है।

आदि शब्द का अर्थ यहाँ प्रभृति कर देने से द्व्यधिक, त्र्यधिक, चतुरधिक, द्वारा यों सिद्धान्त से विरोध आजाता, भले ही 'तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि' का आश्रय कर द्व्यधिक का भी संग्रह कर लिया जा सकता था तथापि सिद्धान्त के अविरोध अनुसार आदि शब्द को प्रकार अर्थ का वाचक मान लिया जाय सूत्र में प्रकार अर्थ को कहने वाले आदि शब्द का ग्रहण कर देने से पांच गुण, छः गुण सात भाग, आठ भाग, आदि के धारी परमाणुओं का भी परिग्रह होजाता है, तीन गुण वाले चार गुण वाले आदि परमाणु का बंध होजाना मान लेने पर पांच गुण, छः गुण, आदि के धारी परमाणुओं की द्व्यधिकता पुष्ट बन जाती है, तथा इसी प्रकार तुल्य-जाति वाले और विभिन्न जाति वाले परमाणुओं की द्व्यधिक गुणवाली अवस्था होजाने पर उनका बंध जाना सिद्ध होजाता है, इस सूत्र में तु शब्द को 'न जघन्यगुणानां' से चले आरहे निषेध की निवृत्ति के लिये युक्त किया गया है, इसी बात को ग्रन्थकार अगली वार्तिक द्वारा यों स्पष्ट कह देते हैं।

द्व्यधिकादिगुणानां तु बंधोस्तीति निवेदयन् ।
सर्वापवादनिर्मुक्तविषयस्याह संभवम् ॥ १ ॥

'द्व्यधिकादिगुणानां तु' इस सूत्र द्वारा दो अधिक गुणवाले परमाणुओं का तो बंध होजाता है, यों निवेदन करते हुये सूत्रकार महाराज सम्पूर्ण अपवादों से सर्वथा रहित होरहे बंध विषय के सम्भवने को कह रहे हैं। अर्थात्-'स्निग्धरूक्षत्वाद्बंधः' यह उत्सर्ग सूत्र है, उसके पीछे 'न जघन्यगुणानां' 'गुणसाम्ये सदृशानां' ये अपवाद सूत्र हैं, 'द्व्यधिकादिगुणानां तु' यह अपवादों से रहित होता हुआ बंध विषय के निर्णीत सिद्धान्त को कहने वाला सूत्र है।

उक्तं च। 'णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण, लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण। णिद्धस्स लुक्खेण उ एइ बंधो, जहण्णवज्जे विसमे समे वा ॥' विषमोऽतुल्यजातीयः समः सजातीयो न पुनः समानभाग इति व्याख्यानान्न समगुणयोर्बंधप्रसिद्धिः।

उपरिम सिद्धान्त ग्रन्थों में कहा भी है, कि स्निग्ध परमाणु का दूसरी दो अधिक स्निग्ध गुणवाली परमाणु के साथ बंध होजाता है, और रूखे गुण वाली परमाणु का अन्य दो अधिक रूखे गुण वाली परमाणु के साथ बंध होजावेगा। तथा स्निग्ध परमाणु का दो गुण अधिक रूक्ष वाली द्वितीय परमाणु के साथ बंधना होजायेगा, रूखे का भी द्व्यधिक स्निग्ध के साथ बंधजाना सम्भवता है। हां परमाणु की जघन्य गुण वाली अवस्था को छोड़ दिया जाय। अन्य सभी सम अथवा विषम गुण-धाराओं में बंध होजाना अनिवार्य है। विषम का अर्थ यहां अतुल्य जाति वाला है, और सम का अर्थ समान-जाति वाला है। अर्थात् स्निग्ध का स्निग्ध और रूक्ष का रूक्ष तुल्य जातीय है, किन्तु स्निग्ध का रूक्ष और रूक्ष का स्निग्ध परमाणु तो अतुल्य-जातीय है, अतः विषम के समान सम यानी सजातीय परमाणुओं में भी बंध का विधान कर दिया गया है, सम का अर्थ फिर समान भाग वाला नहीं है, यों व्याख्यान कर देने से 'गुणसाम्ये सदृशानां' इस सूत्र अनुसार समान गुण वाले परमाणुओं के बंध जाने की प्रसिद्धि नहीं होसकी।

व्यवहार में भी दो, चार, छह, आठ, दस, आदि दो के ऊपर दो दो अंकों की अधिकता होते सन्ते सम संख्या यानी पूरा को समधारा कहते हैं, और एक के ऊपर दो दो की वृद्धि होने पर तीन, पांच, सात, इत्यादि ऊनी संख्या में पड़े हुये अंकों को विषमधारा कहते हैं, जघन्य गुणों की अवस्था को छोड़ कर दोनों धाराओं में पड़े हुये चाहे किन्हीं भी अविभाग प्रतिच्छेदों के धारी दो गुण अधिक वाले पुद्गलों का बंध होजाना प्रसिद्ध कर दिया गया है, शेष आगे पीछे के गुणों को धार रहे पुद्गलों का नहीं।

कुतः पुनर्द्वावेव गुणावधिकौ सजातीयस्य विजातीयस्य वा परेण बंधहेतुतां प्रतिपद्येते नान्यथेत्याह।

यहां किसी विनीत शिष्य की सूत्रकार महाराज के प्रति जिज्ञासा है, कि क्या कारण है ? जिससे फिर दो ही गुण अधिक बेचारे भला उन सजातीय अथवा विजातीय परमाणुओं का दूसरे परमाणु के साथ बंध होजाने के कारणपने को प्राप्त होरहे हैं, अन्यथा यानी अन्य प्रकार समगुणता, त्र्यधिकगुणता, या चार गुणों से अधिक गुण-सहितपना, आदि उस बंध का कारण नहीं माने गये है, अतः बताओ कि इन अन्य प्रकारों से क्यों नहीं बंध की हेतुता व्यवस्थित कर दी जाय अर्थात् द्व्यधिक गुणों पर क्यों बल डाला जाता है ? सम-गुणों का ही बंध क्यों नहीं होजाय ?, नीति तो यों कहती है कि 'ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं कुलम्। तयोर्मैत्री विवाहश्च न तु पुष्टविपुष्टयोः' ऐसी बुभुत्सा जागृत होने पर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं ।

बंधेऽधिकौ पारिणामिकौ ॥ ३८ ॥

बंध होजाने पर अधिक होरहे दो गुण दूसरे परमाणु के द्विहीन गुणों को स्वायत्त कर परिणाम करा देने वाले होजाते हैं । जैसे कि गीला गुड़ चून को या पड़ गई धूल को अपने अधीन मधुर रस वाला करता हुआ स्वकीय गुणों का आपादन करने से परिणाम कराने वाला होजाता है इसी प्रकार अन्य भी अधिक गुण वाला परमाणु दूसरे द्विभाग न्यून परमाणु को द्व्यणुक अवस्था में स्वकीय रूखे या चिकने अविभागप्रतिच्छेदों के अनुकूल कर लेता है, अतः बंध में अधिक गुणों को दूसरे के गुणों का पारिणामिकत्व साधने के लिये बंधने का बीज द्व्यधिकता को बताया गया है ।

यस्मादिति शेषः । प्रकृतत्वाद्गुणसंप्रत्ययः । क्व, प्रकृतौ गुणौ द्व्यधिकादिगुणानां त्वित्यत्र समासे गुणीभूतस्यापि गुणशब्दस्यानुवर्तनमिह सामर्थ्यात्, तदन्यस्यानुवर्तनासंभवात् । गुणावितिवाभिसंबंधोर्थवशाद्विभक्तिवचनयोः परिणामात् भावांतरापादकौ पारिणामिकौ, रेणो क्लिन्नगुडवत् । तथाहि ।

इस सूत्र में 'यस्मात्, इस पद को शेष समझ कर उपस्कार करते हुये यों अर्थ समझ लिया जाय कि जिस कारण से बंध होजाने पर एक के दो अधिक गुण दूसरे के दो न्यून गुणों का स्वानुकूल परिणमन करा देते हैं, तिस कारण दो अधिक गुण वालों का बंध होजाना समुचित है, यों उक्त दोनों सूत्रों का प्रतिज्ञावाक्य बन गया । प्रकरण में प्राप्त होरहा होने से गुण की भले ही प्रकार प्रतीति होजाती है, यानी "बंधे सति अधिकौ गुणौ पारिणामिकौ भवतः" यह वाक्य बनजाता है ।

यदि कोई पूछे कि द्विवचनान्त 'गुणौ' यह पद भला प्रकरणप्राप्त कहां होरहा है ? बताओ इसका उत्तर यह है, कि 'द्व्यधिकादिगुणानां तु' यों इस सूत्र में यद्यपि गुण शब्द बेचारा बहुव्रीहि समास में गौण होचुका है, 'एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा निवृत्तिः सह वा प्रवृत्तिः' इस नियम अनुसार केवल गुण शब्द का निकाल लेना उसी प्रकार कठिन है, जैसे कि किसी अंगी में से एक अङ्ग को निकाल लेना या रसीले पदार्थ से रस का निकाल लेना दुष्कर है, तथापि समास-वृत्ति में उपसर्जनी-

भूत होचुके भी गुण शब्द की यहां अर्थ की सामर्थ्य से अनुवृत्ति कर ली जाती है, उस गुण शब्द से अन्य होरहे द्वि, अधिक आदि इन अप्रयोजनीभूत शब्दों की अनुवृत्ति करना यहां नहीं सम्भवता है, अतः 'गुणौ' इस द्विवचनान्त पदका ही यहां सूत्रमें दोनों ओर से सम्बन्ध कर लेना युक्त है। 'अर्थवशाद् विभक्तिवचनविपरिणामः' अर्थ के वश से विभक्ति और वचन का परिवर्तन कर दिया जाता है, अतः षष्ठी बहुवचनान्त 'गुणानां' इस पद को यहां प्रथमा द्विवचनान्त 'गुणौ' इस स्वरूप से परिणत कर दिया गया है, पारिणामिक का अर्थ प्रकृत भाव से अन्य भावों में प्राप्ति करा देना है, जैसे कि मधुर रस वाला गीला गुड़ यहां वहां से उड़ कर पड़ गये रेत, धूल, आदि को अपने मधुर रस अनुसार परिणति करा देता है।

यद्यपि गुड़ में धूलि कणों के मिल जाने पर उतना मीठापन नहीं रहता है, सूक्ष्म-दृष्टि पुरुषों से यह बात छिपी नहीं है, फिर भी उस धूलि का रस गुड़ में मिल जाने से परिवर्तित होगया है, यह निःसन्देह मानना पड़ता है. एक कड़वे बादाम ने भले ही पांच सेर ठंडाई को बिगाड़ दिया है फिर भी अधिक मीठी ठंडाई ने इधर कड़वे बादाम को मीठा होजाने के लिये भी बाध्य कर दिया है, हां यदि कटु बादाम उसमें नहीं गिरता तो ठंडाई और भी अधिक मीठी होजाती। यहां इतना ही कहना है, कि ठंडाई ने बादाम को मीठा किया किन्तु एक कटु बादाम ने मीठी ठंडाई को कड़ुआ नहीं कर दिया है, अतः गीला गुड़ जैसे रेणुओं का स्वकीय रस अनुसार पारिणामिक है, उसी प्रकार बंध होजाने पर अधिक गुण उस दूसरे के गुणों को अन्य भावों अनुसार आपादन करते हुये पारिणामिक होरहे हैं. इसी सिद्धान्त को अग्रिम वार्त्तिक द्वारा और भी स्पष्ट करके ग्रन्थकार दिखाते हैं।

बन्धेधिकौ गुणौ यस्मादन्येषां पारिणामिकौ।
दृष्टौ सक्तुजलादीनां नान्यथेत्यत्र युक्तिवाक्॥ १॥

जिस कारण कि बन्ध हो जाने पर अधिक गुण उन बन्ध रहे अन्य द्रव्यों को स्वकीय गुणानुरूप परिणमन करा देने वाले देखे गये हैं। जैसे कि सतुआ जल या पानी बूरा, अथवा दूध मिश्री आदि पदार्थों का बन्ध होजाने पर अधिक गुण वाला द्रव्य अन्य न्यून गुण वाले का स्वानुरूप परिणाम कर लेता है, अन्य प्रकारों से कोई व्यवस्था नहीं होपाती है। अतः यों इस सूत्र में यह अनुमान बनाते हुये युक्ति-वाक्य प्रतीत होरहा है। अर्थात्—व्यवहार में भी द्रव्यवान् पुरुष दरिद्रों को, उद्भट पण्डित जिज्ञासुओं को, प्रकाण्ड वक्ता श्रोताओं को, चतुर नारी पति को, गुरु चेला को, अपने अनुकूल कर ही लेते हैं। रिक्त पदार्थ पूर्ण के अधीन होजाता है, पुत्र-रहित महारानी भी बच्चों वाली पिसनहारी की ओर टकटकी लगाती हुई देखती रहती है, विचारती है कि भले ही मैं निर्धन होती किन्तु बच्चों वाली होती। बच्चों को अपनी आंखोंमें बैठाये रखती। सच्चरित्र और सिद्धान्त न्यायवेत्ता विद्वान् के मुख की ओर सैकड़ों धनाढ्य मुंह बाये खड़े रहते हैं, गुणी पुरुष का अल्पगुणी पुरुष पर बड़ा भारी प्रभाव

पड़ता है। तिस कारण " बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ " उचित है। इस सूत्र में च शब्द लगाने की कोई आवश्यकता नहीं दीखती है।

यथैव हि रूक्षाणां सक्तूनां स्निग्धा जलकणास्ततो द्वाभ्यां गुणाभ्यामधिकाः पिंडात्मतया पारिणामिका दृश्यंते नान्यथा। तथैव परमाणोर्द्विगुणस्य चतुर्गुणः परमाणुः पारिणामिकः स्यादन्यथा द्वयोः परमाण्वोरन्योन्यमविवेकरूपद्व्यणुकस्कंधपरिणामायोगात् संयोगमात्रप्रसक्तेः परस्परविवेकप्रसक्तेस्तदनन्वयप्रसंगात्।

इस यथा का अगले तथा शब्द के साथ अन्वय कर लेना चाहिये जब कि जिस ही प्रकार रूखे सतुआओं को चिकने जल के कण उन सतुआओं से दो गुण करके अधिक होरहे सन्ते पिण्ड स्वरूप करके परिणाम कराते हुये देखे जाते हैं। अन्य प्रकारों से नहीं देखे जाते हैं। अर्थात्—अधिक चिकनाई को धार रहा जल ही रूक्ष प्रकृतिके सतुआओं का चिकना पिण्ड बांध देता है। एक सेर सतुआओं में दो चार बूंद पानी तो सूख कर सतुआओं के रूखेपन में अपना ओज खो देवेगा सतुआ खाने वाले तभी तो अधिक पानी में सतुआओं की पिण्डी बनाते हुये स्वादु रसायन सिद्ध कर लेते हैं।

तिस ही प्रकार दो गुण वाले परमाणु का चार गुण वाला परमाणु बन्ध कर स्वानुरूप परिणमन करा देता माना जायेगा अन्यथा यानी दूसरे अधिक गुण वाले के अनुरूप परिणमन नहीं माना जाकर यदि अपने अपने पूर्वोपात्त गुणों अनुसार ही परिणति बने रहना माना जायेगा तब तो दोनों परमाणुओं की परस्पर में अपृथग् भूत स्वरूप होरहे द्व्यणुक स्कंध नामक परिणति होजाने का अयोग होजावेगा, दो परमाणुओं का केवल संयोगमात्र ही होजानेका प्रसंग आवेगा जोकि अवयवी को मानने वाले जैन, नैयायिक, वैशेषिक किसी के यहां इष्ट नहीं किया गया है। अपने अपने गुणों को धार रहीं परमाणुयें पृथक् पृथक् पड़ी रहेंगी तो दोनों की अपृथक् अवस्था रूप द्व्यणुक स्कन्ध भला कहां बना। बौद्धों का सा अत्यासन्न असंसृष्ट स्पर्शमात्र माने रहो ऐसी दशा में परमाणुओं का परस्पर पृथग्भाव बने रहने का ही प्रसंग आया, अतः उन परमाणुओं का अन्योन्य हृदय नहीं मिलने से अनन्वय सहितपना होगया यानी एक परमाणु के साथ दूसरे परमाणु का अन्वय नहीं बन सका। अन्वय के विना अवयवी स्कन्ध की सिद्धि कथमपि नहीं होसकती है। नदी में जल की धारायें जैसे जलमें अन्वित होरही हैं उसी प्रकार अवयवी में अवयवों का एक रस होरहा है।

न च विभागसंयोगाभ्यामन्यपरिणामः प्रातिरूपो न संभवतीति युक्तं वक्तुं, तृतीयस्यावस्थाविशेषस्य स्कंधैकत्वप्रत्ययहेतोः सद्भावात्। शुक्लपीतद्रव्ययोः परिणामे शुक्लपीतवर्णपरिणामवत् क्लिन्नगुडानुप्रवेशे रेण्वादीनां मधुररसपरिणामवद्वा।

यदि कोई यों कहे कि मिलकर भी परमाणुओं का संयोग ही बना रह सकता है नित्य परमाणुयें अपने स्वरूप को छोड़ नहीं सकती हैं और न्यारी न्यारी पड़ी हुई परमाणुओं में केवल विभाग

होरहा है अथवा पूर्व स्थान से विभाग करती हुई परमाणु चुपट कर यहां दूसरे परमाणु के निकट ठिठक गई है, अतः संयोग विभागों से कोई निराला परिणाम बन्ध स्वरूप प्राप्त होजाना नहीं सम्भवता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तुम नहीं कह सकते हो इन अनुचित वचनों में कोई युक्ति नहीं है जब कि विभाग और संयोग से निराली तीसरी विशेष अवस्था का सद्भाव पाया जाता है जो कि तीसरी अवस्था उनके बन्ध जाने पर स्कन्ध पिण्ड में एकत्व के ज्ञान कराने का हेतु होरही है "अनेकपदार्थानामेकत्वबुद्धिजनकसम्बन्धविशेषो बन्धः" परमाणुओं के संयोग और विभाग से तीसरी अवस्था बन्ध है जैसे कि शुक्ल द्रव्य और पीत द्रव्य का बन्ध परिणाम होजाने पर एक युक्त होरहा पीत वर्ण परिणाम वाला पदार्थ उपज जाता है। पीले रंग वाले जल में सफेद कपड़े को डुबा देने पर न्यारा ही वर्ण वाला पदार्थ दृष्टिगोचर होजाता है दूध में हल्दी या केसर डाल देने से विलक्षण रंग आजाता है अथवा गीले लपटा गुड़ में धूल, चून, आदि का पीछे प्रवेश होजाने पर जैसे धूल आदि की मधुर रसवाली पर्याय उपज बैठती है, उसी प्रकार परमाणुओं की बन्ध अवस्था निराली ही है।

नन्वत्रापि द्वावेव गुणावधिकौ पारिणामिकाविति कुतः प्रतिपत्तिः? सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणादागमाद्विशेषतस्तत्प्रतिपत्तिः। एवं ह्युक्तमार्षे अन्त्यवर्गणायां बन्धविधाने नोआगमद्रव्यबन्धविकल्पे सादिवैस्रसिकबन्धनिर्देशे प्रोक्तः विषमस्निग्धतायां विषमरूक्षतायां च बन्धः समस्निग्धतायां समरूक्षतायां वा भेद इति। तदनुसारेण सूत्रकारैर्बंधव्यवस्थापनात् परमागमसिद्धो बन्धविशेषहेतुर्द्व्यधिकादिगुणत्वं। द्वयोरेव चाधिकयोर्गुणयोः पारिणामिकत्वं।

फिर भी यहां कोई शंका करे कि यहां भी दो ही गुण अधिक होरहे भला अन्य बध्यमान को स्वानुरूप परिणमन कराने वाले हैं? इसकी किस प्रमाण से प्रतिपत्ति कर ली जाय? बताओ ग्रन्थकार इसका उत्तर कहते हैं कि बाधक प्रमाणों के नहीं सम्भवने का जिसमें बहुत अच्छा निश्चय किया जा चुका है ऐसे सर्वज्ञ आम्नात आगमप्रमाण से विशेषरूप करके उस सूत्रोक्त सिद्धान्त की दृढ़ प्रतीति होजाती है जब कि सर्वज्ञ की परम्परा से चले आरहे और बुद्धिऋद्धिधारी ऋषियों करके बनाये गये सिद्धान्त आगम ग्रन्थों में इस प्रकार कहा जा चुका है। अन्तिम वर्गणा के निरूपण अवसर पर बन्ध का विधान करने में नो आगम द्रव्य बन्ध के भेद का निरूपण करते सन्ते सादि वैस्रसिक बन्ध के कथन में यों बहुत अच्छा कहा गया है कि विषम स्निग्धता के होने पर और विषम रूक्षता के होने पर तो बन्ध होगा तथा समस्निग्धता के होने पर अथवा समरूक्षता के होने पर भेद (विदारण) होजायेगा।

अर्थात्—स्नेह गुण के अविभागप्रतिच्छेदों की विषम धारा प्राप्त होजानेपर या परमाणु में रूखेपने के अविभागप्रतिच्छेदों की विषम संख्या प्राप्त होजाने पर परमाणुओं का परस्पर बन्ध होजायेगा तभी तो सूत्रकार ने "द्व्यधिकादिगुणानां तु" लिखा है और उन प्रतिभाग प्रतिच्छेदों की समता होजाने पर बंध नहीं होना बताया है, तदनुसार 'न जघन्यगुणानां' "गुणसाम्ये सदृशानां" ये दो सूत्र कहे हैं, गुरुपर्वक्रम का अतिक्रमण नहीं होसकता है, उस आगम के अनुसार ही सूत्रकार महाराज करके

बंध की व्यवस्था कराई गई है, अतः द्वयधिक आदि गुण सहितपना जो विशेषतया बंध का हेतु माना गया है, वह परमोत्कृष्ट सिद्धान्त आगम में प्रसिद्ध है, दो ही अधिक होरहे गुणों को दूसरे के अल्प-गुणों का तादृश परिणाम करा देने की हेतुता प्राप्त है, एक से अधिक या तीन चार से अधिकगुणों को स्वानुरूप परिणाम की कारणता प्राप्त नहीं है।

सामान्येन तु पुद्गलानां बंधहेतुः कश्चिदस्ति कात्स्न्यैकदेशतो बंधासंभवेपि बंधवि-निश्चयात्तत्र बाधकाभावादिति पुद्गलस्कन्धद्रव्यसिद्धिः, तस्यैव रूपादिभिः स्वभावैः परिणत-स्य चक्षुरादिकरणग्राह्यतामापन्नस्य रूपादिव्यवहारगोचरतया व्यवस्थितेः। न हि तथाऽपरिणतं तद्व्यवस्थतिप्रसंगात्, नापि तदेव परिणाममात्रप्रसंगात् न च परिणामिनो सत्त्वे परिणामः सम्भवति खरविषाणस्य तैक्ष्ण्यादिवत्।

जगत् में अनेक प्रकार के स्कन्ध दृष्टि-गोचर होरहे हैं, अतः सामान्य करके तो पुद्गलों के बंध के बाधक कोई [illegible] युक्ति संगत [illegible] भले ही बौद्ध जन यों दोष देते रहें कि एक अवयव का दूसरे अवयव के सम्पूर्ण देशों से बंध माना जायेगा तो स्कन्ध के सूक्ष्म एक पिण्ड मात्र होजाने का प्रसंग आजावेगा और एक देश करके बंध मानने पर अन्य अन्य भीतरी एक देशों की कल्पना करते-करते अनवस्था होजायगी। आचार्य कह रहे हैं, कि यों पूर्ण देश और एक देश से बंध का असम्भव होजाना बताने पर भी जब बंध का विशेष रूप से निश्चय होरहा है, तो उस जैसे भी हो तैसे सामा-न्यतः बंध होजाने में कोई बाधक प्रमाण नहीं है।

इस प्रकार पुद्गलों के स्कन्धद्रव्य की सिद्धि होजाती है, "सांप निकलगया लकीर को पीटते रहो,, यों "गतसर्पधृष्टि-कुट्टन-न्याय" अनुसार पीछे भले ही बंध में दोष देते रहो, क्या होता है। दक्ष पुरुष अपना काम निकाल लेता है, पीछे पोंगा, बुद्धू पुरुष भले ही मैंने यों करना चाहा था मैंने विघ्न डालनेका विचार किया था मैंने छींक दिया था, यों बकते रहो। इस भोंदूपन की पंचायत में कोई तत्व नहीं है। उस पुद्गल स्कन्ध के ही रूप आदि स्वभावों करके परिणत होरहे और चक्षु, रसना, आदि इन्द्रियों से ग्रहणयोग्यपन को प्राप्त होचुके पदार्थ की रूप, रस आदि व्यवहार के विषय होजानेपने करके व्यवस्था की गई है, यानी जो रूप आदि स्वभावों करके परिणत होचुका पुद्गल द्रव्य है, वही रूप कहा जा सकता है, "गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणिलिंगास्तु तद्वति,, यह कोष वाक्य भी है, रूप से परिणत होरहा ही पुद्गल रूप कहा जा सकता है, जो तिस प्रकार यानी रूप रहितपने करके परिणत नहीं होता है, वह उस रूप स्वरूप नहीं होपाता है, यदि बलात्कार से तथा अपरिणत को तत् माना जायेगा तो अतिप्रसंग होजायेगा यानी अज्ञ जड़ पदार्थ ज्ञ बन बैठेगा, अनुष्ण जल भी उष्ण जल होजा-येगा, कोई रोक टोक नहीं रहेगी।

एक बात यह भी है, कि रूप आदि स्वभावों से परिणत पदार्थ रूपवान् नहीं माना जाकर यदि वह रूप ही माना जायेगा तब तो केवल परिणाम ही के सद्भाव का प्रसंग आता है, किन्तु तिस

प्रकार परिणामी पुद्गल द्रव्य या आत्मा का असद्भाव मानने पर परिणाम होना ही नहीं सम्भवता है, जैसे कि असत् निर्णीत किये गये खर-विषाण के तीक्ष्णता (पैनापन) चिकनापन, काठिन्य, आदि परिणाम नहीं बन पाते हैं।

नापि परिणामाभावे परिणामि भवति खरविषाणवदिति परिणामपरिणामिनोरन्योन्याविनाभावित्वादन्यतरापायेप्युभयासत्त्वप्रसक्तिः। ततो नित्यतापरिणामि द्रव्यमुपगंतव्यं तत्परिणामवत्।

तथा परिणामी के बिना जैसे परिणाम नहीं, उसी प्रकार परिणाम का अभाव मानने पर परिणामी द्रव्य भी नहीं सम्भवता है, जैसे कि तीक्ष्णता आदि परिणामों के नहीं होने पर खरविषाण, बन्ध्यापुत्र, आकाश कुसुम आदि कोई परिणामी पदार्थ नहीं है। इस प्रकार परिणाम और परिणामी दोनों पदार्थों का परस्पर अविनाभाव (समव्याप्ति) होजाने के कारण दोनों में से किसी एक का अभाव मानने पर दोनों के भी असद्भाव का प्रसंग आजाता है, आत्मा के बिना ज्ञान नहीं ठहरता है, जब ज्ञान ही मर गया तो आत्मा भी जीवित नहीं रह सकता है. उष्णता के बिना अग्नि नहीं और अग्नि के बिना उष्णता नहीं।

तिस कारण नित्यपन परिणाम का धारी द्रव्य स्वीकार करना चाहिये जैसे कि उस नित्य द्रव्य का परिणाम आवश्यक रूप से स्वीकार किया गया है, यों "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" या "तद्भावाव्ययं नित्यं" इस सूत्र से प्रारम्भ कर यहां तक के सूत्रों की संगति लगा लेनी चाहिये।

अगले सूत्रका अवतरण इस प्रकार है, कि यद्यपि "सद्द्रव्यलक्षणं उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" यों द्रव्य का लक्षण पहिले ही कहा जा चुका है, तथापि भेद-विवक्षा को प्राधान्य देते हुये सूत्रकार महाराज दूसरे प्रकार के लक्षण से भी अग्रिम सूत्र द्वारा उस द्रव्य की प्रसिद्धि कराते हैं।

गुणपर्ययवद्द्रव्यम् ॥ ३८ ॥

गुण और पर्याय जिसके विद्यमान हैं, वह गुणवान् और पर्यायवान् पदार्थ द्रव्य कहा जाता है, गुण और पर्यायों से द्रव्य का अभेद होते हुये भी लक्षण की अपेक्षा कथंचित् भेद होजाने से मतुप् प्रत्यय की उपपत्ति होजाती है, अतः सहभावी पर्याय होरहे गुणों और क्रमभावी स्वभाव होरहे पर्यायों को अविष्वग्भाव रूप से द्रव्य धारे हुये हैं।

गुणाः अन्वयिनोऽलक्षणाः पर्यायाश्च तत्सामान्यापेक्षया नित्ययोगे मतुः। द्रवति द्रोष्यत्यदुद्रुवत्तांस्तान् पर्यायानिति द्रव्यमित्यपि न विरुध्यते। विशेषापेक्षया पर्यायाणां नित्ययोगाभावात्कादाचित्कत्वसिद्धेः।

गुणों का लक्षण सूत्रकार द्वारा स्वयं आगे "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" यों कहा जाने वाला है, और "तद्भावः परिणामः" यों पर्यायों का भी जाति मुद्रया लक्षण कह दिया जायेगा। यद्यपि गुणों की संख्या से पर्यायों की संख्या अनन्तगुणी है, गुणों के लक्षण-सूत्र में बहुवचन और पर्याय के लक्षण सूत्र में एक वचन का प्रयोग करना सूत्रकारका साभिप्राय प्रयत्न है। पर्यायों के सामान्य की अपेक्षा एक वचन का प्रयोग बड़े महत्व का हो जाता है, जैसे कि माता-पिता या गुरु अपने पुत्र अथवा शिष्य का एक वचन या युष्मद् शब्द प्रयोग अनुसार उच्चारण करते हैं, भक्त अपने आराध्य देवता का एक वचन युष्मद् पद करके जब प्रयोग करता है तब एक विलक्षण प्रकार का ही अलौकिक आनन्द आत्मामें उमड़ पड़ता है, "जनानां समुदायो जनता" "महारण्यमरण्यानी" "द्रव्यं जीवाजीवौ" इत्यादि पद अपरिमित संख्याओं को लिये हुये हैं। यहां नित्ययोग में मतु प्रत्यय है, अर्थात्-गुणों का और पर्यायों का द्रव्य में नित्य ही योग बना रहता है, अविनाशी गुण तो द्रव्य में सदा रहते हैं. हां उत्पाद-विनाश-शालिनी पर्यायें व्यक्तिरूप से कदाचित् पायी जारहीं सदा नहीं ठहरती हैं. किन्तु सामान्य अपेक्षा करके कोई न कोई पर्यायें द्रव्य में बनी ही रहती हैं, धारा-प्रवाह रूप से पर्यायों का सद्भाव द्रव्य में सतत विद्यमान है।

द्रव्य शब्द की निरुक्ति यों है, कि जो अपनी उन उन पर्यायों का वर्तमान में द्रवण कर रहा है भविष्य में द्रवण करेगा और जो भूतकाल में द्रवण कर चुका है, वह द्रव्य है। यों तीनों काल सम्बन्धी द्रवण की अपेक्षा द्रव्य इस शब्द की निरुक्ति करना भी विरुद्ध नहीं पड़ता है, यानी निरुक्ति से लब्ध होरहे अर्थ और लक्षण द्वारा प्राप्त होरहे अर्थ में कोई विरोध नहीं है. सामान्य विशेष का अन्तर भले ही समझ लिया जाय जल या दूध बिना प्रयत्न ही के जैसे नीचे प्रदेश में बहने लग जाता है, उसी प्रकार द्रव्यें स्वभाव ही से तीनों काल अपनी तदात्मक पर्यायों में द्रवण करती रहती है।

पर्यायों का सामान्य की अपेक्षा नित्ययोग इसीलिये कहा है, कि पर्यायों के व्यक्तिविशेषों की अपेक्षा करके द्रव्य में पर्यायों का नित्य ही सम्बन्ध नहीं है, अतः विशेष पर्यायों का कदाचित् कदाचित् होना ही सिद्ध है। आत्मा में चेतना गुण नित्य विद्यमान है, हां चेतना गुण के परिणाम घटज्ञान पटज्ञान, श्रुतज्ञान, चक्षुदर्शन आदि तो कदाचित् ही होते हैं, पर्यायें सदा अवस्थित नहीं रहती हैं, अतः गुणों वाला और पर्यायोंवाला द्रव्य होता है, यह द्रव्य का निर्दोष लक्षण है।

किमर्थमिदं पुन र्द्रव्यलक्षणं ब्रवीतीत्याशंकायामाह ।

कोई जिज्ञासु पूछता है, कि सूत्रकार महाराज द्रव्य के इस लक्षण को फिर किस प्रयोजन के लिये स्पष्ट कह रहे हैं? इस प्रकार आशंका प्रवर्तने पर ग्रन्थकार श्रीविद्यानन्द सूरि अगली वार्त्तिक द्वारा समाधान करते हैं।

गुणपर्ययवद्द्रव्यमित्याह व्यवहारतः ।
सत्पर्यायस्य धर्मादेर्द्रव्यत्वप्रतिपत्तये ॥ १ ॥

व्यवहारनय से सत् के पर्याय होरहे धर्म, अधर्म, आदि के द्रव्यपन की प्रतिपत्ति कराने के लिये सूत्रकार महाराज "गुणपर्ययवद्द्रव्यं" इस सूत्र को स्पष्ट कह रहे हैं। अर्थात्–सम्पूर्ण पदार्थों को एक सत् रूप से ग्रहण कर रहा संग्रहनय है, "अंशकल्पनं पर्यायः" अंशों की कल्पना करना यह पर्यायों का सिद्धान्त लक्षण है, "संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः" संग्रहनय से आक्षेपग्रस्त किये गये पदार्थों का व्यवहारोपयोगी भेद करना व्यवहार है, तदनुसार धर्म, अधर्म आदि द्रव्य भी सत्के पर्याय होजाते हैं, पहिले "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" इस लक्षण से सत् के पर्याय होरहे धर्म आदि का द्रव्यपना प्रतीत नहीं होता है. हां इस "गुणपर्ययवद्द्रव्यं" से धर्म आदि का द्रव्यपना समीचीन प्रतीत हो जाता है, भलें ही धर्म आदिक सब द्रव्य उस व्यापक सत् के पर्याय हैं, फिर भी स्वकीय नियत गुणों और पर्यायों से भरपूर हैं।

सतो हि महाद्रव्यस्य पर्यायो धर्मास्तिकायादिर्व्यवहारनयार्पणायां द्रव्यत्वमपि स्वीकरोत्येव, तस्य चासाधारणलक्षणं गुणपर्यायवत्त्वमिति प्रतिपत्तव्यं, न पुनः क्रियावत्त्वं तस्याव्यापकत्वान्निष्क्रियेष्वाकाशादिष्वभावात् ।

जब कि अनेक द्रव्यों का समुदाय होरहा सत् महान् द्रव्य है, उस सत् के अंश-कल्पना स्वरूप पर्यायें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आदि व्यक्ति रूप से अनेक द्रव्यें हैं। धर्मास्तिकाय, आदि छह द्रव्यें व्यवहार अनुसार अर्पणा करने पर द्रव्यपन को भी स्वीकार कर ही लेती हैं, उस द्रव्य का असाधारण लक्षण गुणपर्यायवत्त्व है, यह भले प्रकार समझ लेना चाहिये। अर्थात्–"सत्तासव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंत पज्जाया। भंगोप्पादधुवत्था सप्पडिवक्खा हवदि एगा" इस महासत्ता के स्वरूप अनुसार "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" यह महाद्रव्य होरहे सत् का लक्षण है, और "गुणपर्ययवद्द्रव्यं" यह महाद्रव्य सत् के पर्याय माने जा रहे धर्मास्तिकाय आदि का असाधारण लक्षण समझ लिया जाय।

किन्तु फिर वैशेषिक दर्शन अनुसार "क्रियागुणवत्समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणं" युक्त नहीं है, वैशेषिक दर्शन के प्रथम अध्याय–सम्बन्धी पहिले आन्हिक के पन्द्रहमे उक्त सूत्र का अर्थ यह है, कि जो क्रियावान् है, और जो गुणवान् है, तथा जो समवायि कारण है, वह द्रव्य है। इस प्रकार द्रव्य का लक्षण वैशेषिकों ने किया है, किन्तु ये तीनों लक्षण निर्दोष नहीं हैं, क्योंकि उस क्रियासहितपने लक्षण में अव्याप्तिदोष आता है, जब कि क्रियारहित माने गये आकाश आदि चार व्यापक द्रव्यों में क्रिया का अभाव है।

वैशेषिकों ने आकाश, काल, दिक्, आत्मा, इन चार द्रव्यों को व्यापक मान कर क्रियारहित स्वीकार किया है, पृथिवी, जल, तेज, वायु, और मन इन पांच द्रव्यों में ही क्रिया स्वीकार की गयी है, "क्षितिर्जलं तथा तेजः पवनो मन एव च। परापरत्वमूर्तत्वक्रियावेगाश्रया अमी" (कारिकावली)।

अतः सम्पूर्ण नौऊ द्रव्यों में व्यापक रूप से क्रियावत्व लक्षण नहीं घटित हुआ वैशेषिकों ने आद्यक्षणावच्छिन्न घट आदि कार्य द्रव्यों को निर्गुण, निष्क्रिय, स्वीकार किया है, अतः गुणवत्व लक्षण भी अव्याप्ति दोष वाला है।

समवायिकारणत्वमपि न द्रव्यलक्षणं युक्तं, गुणकर्मणोरपि द्रव्यत्वप्रसंगात्तयोर्गुणत्वकर्मत्वसमवायिकारणत्वसिद्धेः। तयोस्तत्समवायित्वमेव तत्कारणत्वं। गुणत्वकर्मत्वसामान्ययोरकार्यत्वादिति चेन्न, सदृशपरिणामलक्षणस्य सामान्यस्य कथंचित्कार्यत्वसाधनात्, कथंचित्तदनित्यत्वमपि नानिष्टं, प्रत्यभिज्ञानस्य सर्वथा नित्येष्वसंभवादित्युक्तप्रायं।

द्रव्य का लक्षण समवायिकारणपना भी उचित नहीं है, कारण कि यों तो गुण और कर्मों को भी द्रव्यपने का प्रसंग आ जावेगा क्योंकि उन गुण और कर्म को भी गुणत्व और कर्मत्व जाति के समवायिकारण होजाने की सिद्धि गुण में समवाय सम्बन्ध से गुणत्व जाति रहती है, और कर्म में कर्मत्व जाति समवेत होरही है, उन गुण कर्मों को उन गुणत्व कर्मत्व का समवायसहितपना ही उन गुणत्व कर्मत्वों की कारणता है, जैन-सिद्धान्त अनुसार गुण के सदृश परिणाम होरहे गुणत्व और कर्म के सदृश परिणाम होरहे कर्मत्व भी गुण या कर्म के समान अनित्य ही हैं, उनको समवाय सम्बन्ध से धर लेने वाला ही उनका समवायि कारण है।

यदि वैशेषिक यों कहें कि चौवीसों गुणों में रहने वाली गुणत्व जाति और पांचों कर्मों में व्याप रहा कर्मत्व सामान्य तो नित्य पदार्थ हैं, ये किसी के कार्य नहीं हैं, अतः इनके समवायि कारण गुण या कर्म नहीं होसकते हैं। ग्रन्थकार कहते हैं, कि यह तो नहीं कहना क्योंकि "सदृशपरिणामस्तिर्यक्खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत्" सामान्य (जाति) सदृश परिणाम स्वरूप है, ऐसे सदृश परिणामस्वरूप सामान्य को कथंचित् कार्यपना साध दिया गया है, अतः उन गुणत्व, कर्मत्व, सामान्यों का कथंचित् अनित्यपना भी अनिष्ट नहीं है। हां सामान्य को कथंचित् नित्य भी कह दिया जाय तो कोई आपत्ति नहीं, कारण कि यह वही गाय है, यह वही रूप है, यह वही रस, है, यह वही नृत्य है, इत्यादि प्रत्यभिज्ञानों का होना सर्वथा नित्य पदार्थों में असम्भव है, इस बात को हम पूर्व प्रकरणों में कई बार कह चुके हैं।

गुणवत्त्वे सति क्रियावत्वं समवायिकारणत्वं च द्रव्यलक्षणमित्यप्ययुक्तं, गुणवद्द्रव्यमित्युक्ते लक्षणस्याव्याप्त्यतिव्याप्त्योरभावात्। तद्वचनानर्थक्यात्।

गुणवान् होते सन्ते क्रियासहितपना और समवायिकारणपना यह मिला कर द्रव्य का लक्षण किया गया भी युक्तिरहित है, क्योंकि "गुणवाला द्रव्य होता है" इस प्रकार ही कह चुकने पर अकेले गुणवत्व लक्षण के ही अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषों का अभाव है, फिर उन क्रियासहितपन और समवायिकारण इन वचनोंका पुच्छल्ला लगाना व्यर्थ पड़ता है, "लक्षणं हि तन्नाम यतो न लघीयः"

लक्षण वहीं होना चाहिये जिससे कि छोटा स्वरूप दूसरा नहीं होसके अन्यथा वे केवल भाटों के गीत समझे जाते हैं।

कार्य द्रव्यों को आद्य लक्षण में निर्गुण कहना वैशेषिकों का उचित सिद्धान्त नहीं है, जिस प्रकार द्रव्य के बिना गुण निराधार नहीं ठहर पाते हैं, उसी प्रकार द्रव्य भी गुणों के बिना निराधेय नहीं ठहर सकता है, गुणों का द्रव्य के साथ अविनाभाव है, द्रव्य और गुणों का तादात्म्य ही कह दिया जाय कोई क्षति नहीं पड़ती है, तभी तो सूत्रकार ने द्रव्य के उक्त लक्षण सूत्र में गुण को उपात्त किया है।

नन्वेवमत्रापि [illegible] सर्वद्रव्येषु पर्यायवत्त्वस्य भावात् गुणवदिति चोक्ते पर्यायवदिति व्यर्थं तत एवेति तदुभयं लक्षणं द्रव्यस्य किमर्थमुक्तमित्य-त्रोच्यते।

यहां किसी पण्डित का आक्षेप है, कि जब जैन इस प्रकार ही लक्षणों में लाघव करने लगे तो ऐसे ढंग अनुसार यहां सूत्र में भी पर्याय वाला द्रव्य होता है, ' पर्यायवद्द्रव्यं ' इतना कह चुकने पर द्रव्य का निर्दोष लक्षण बन जाता है, पुनः "गुणवत्" यह भी कहना तो व्यर्थ पड़ा क्योंकि सम्पूर्ण द्रव्यों में पर्यायसहितपन का सद्भाव पाया जाता है, कोई भी द्रव्य कदाचित् भी पर्यायों से रीता नहीं है, द्रव्यों से अतिरिक्त स्थानों में पर्यायें ठहरती नहीं हैं, द्रव्य के गुण किसी न किसी पर्याय को धारे ही रहते हैं, अतः अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव, दोषों की सम्भावना नहीं है।

अथवा और भी अक्षरकृत लाघव करना होय तो "गुणवद्द्रव्यं" गुणों से सहित द्रव्य होता है यों इतना कह चुकने पर ही "पर्यायवत्" यह पद व्यर्थ पड़ता है। जिस कारण से वैशेषिकों के यहां माने गये द्रव्य लक्षण ने तीन घटकावयवों पर कटाक्ष उठाया गया था तिसी ही कारण से आक्षेप प्रवर्तता है, कि वे "गुणवद्द्रव्यं, पर्यायवद्द्रव्यं" यों दोनों ही द्रव्य के लक्षण भला किस प्रयोजन के लिये सूत्रकार ने इस सूत्र में कहे हैं ? बताओ, इस प्रकार आक्षेप प्रवर्तने पर ग्रन्थकार करके यहां समाधानार्थ यह अगिली वार्त्तिक कही जाती है।

गुणवद्द्रव्यमित्युक्तं सहानेकांतसिद्धये।
तथा पर्यायवद्द्रव्यं क्रमानेकांतवित्तये ॥ २ ॥

सह-अनेकान्त की सिद्धि कराने के लिये इस सूत्र में "गुणवद्द्रव्यं" गुण वाला द्रव्य होता है, यह अंश कहा गया है, तथापि शिष्यों को क्रम-अनेकान्त की प्रतिपत्ति कराने के लिये सूत्रकार ने "पर्यायवद्द्रव्यं" पर्यायों वाला द्रव्य होता है, यह दूसरा लक्षण का घटकावयव कहा है। अर्थात्-द्रव्य के सहभावी परिणाम गुण हैं और क्रमभावी अंश पर्यायें हैं, त्रिलक्षण-आत्मक द्रव्य के उत्पाद, व्यय, अंशों की भित्ति पर पर्यायें डटी हुई हैं, और ध्रौव्य की भित्ति पर गुणों का होना विवक्षित है, अनन्त

धर्मात्मक द्रव्य में गुणों की अपेक्षा सहानेकान्त सध रहा है, और क्रम-भावी अनेक पर्यायों की अपेक्षा क्रमानेकांत बन रहा है, क्रम और युगपत्पने करके अर्थ-क्रिया को करने वाली वस्तु का सत्पना अक्षुण्ण रहता है, यों प्रमाण नय अनुसार सह सप्तभंगियों और क्रम सप्तभंगियों के विषयभूत धर्मों को धार रहा द्रव्य है।

यदि इस सूत्र में केवल "गुणवद्द्रव्यं" कह दिया जाता तो जैनों के यहां पर्यायों के क्रम अनेकान्त की अमान्यता ठहरती और "पर्यायवद्द्रव्यं" इतना ही कह देने पर स्याद्वादियों के यहां सह-अनेकान्त उड़ा दिया गया माना जा सकता था किन्तु जैन दोनों को मानते हैं, अतः सह, क्रम, दोनों अनेकान्तों की व्युत्पत्ति कराने के लिये उदात्ताशय सूत्रकार ने "गुणपर्ययवद्द्रव्यं" कहा है।

नास्त्येकत्र वस्तुनि हानेको धर्मः सर्वभावानां परस्परपरिहारस्थितिलक्षणत्वादेकेन धर्मेण सर्वात्मना व्याप्तेः धर्मिणि धर्मान्तरस्य तद्व्याप्तिविरोधादन्यथा सर्वधर्मसंकरप्रसंगादिति सहानेकांतनिराकरणवादिनः प्रति गुणवद्द्रव्यमित्युक्तं। सकृदनेकधर्माधिकरणस्य वस्तुनः प्रतीयमानत्वात् कुटे रूपादिवत् स्वपरपक्षसाधकत्वेतरधर्माधिकरणैकहेतुवत् । पितापुत्रादिव्यपदेशविषयानेकधर्माधिकरणपुरुषवद्वा।

वस्तु में साथ अनेक धर्मों का निराकरण करने वाले पण्डित यों कह रहे हैं कि यहां एक वस्तु में एक साथ अनेक धर्म नहीं ठहर पाते हैं क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थ परस्पर एक दूसरे का परिहार करते हुये ठहरना इस लक्षण को आत्मसात् किये हुये हैं एक धर्मका दूसरे धर्म के साथ या एक धर्मी का दूसरे धर्मी के साथ परस्पर परिहार स्थिति नाम का विरोध है। जैसेकि रूप और ज्ञानका अथवा गतिहेतुत्व और स्थितिहेतुत्वका विरोध है। वैयधिकरण्य दोष से बचने के लिये प्रत्येक धर्मका निराला अधिकरण होना आवश्यक है जब कि एक ही धर्म ने सम्पूर्ण स्वरूप करके धर्मी को व्याप्त कर लिया है ऐसी दशा होजाने पर उस धर्मी में अन्य धर्म की वैसी सर्वात्मना व्याप्ति होजाने का विरोध है अन्यथा यानी एक धर्मी में सर्वांग रूप से अनेक धर्मों का सद्भाव यदि मान लिया जायगा तब तो सम्पूर्ण धर्मों के संकर होजाने का प्रसंग आजावेगा। ज्ञान, रूप, गतिहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व, अवगाहहेतुत्व ये सभी गुण परिपूर्ण स्वरूपसे एक द्रव्य में बन बैठेंगे जहां एक गुण भरपूर धर्मीमें ठहर चुका है। वहां दूसरे धर्मके लिये स्थान अणुमात्रभी रीता नहीं बचा है इस प्रकार साथ अनेक धर्म नहीं ठहर सकते हैं

यों सह अनेकान्त के निराकरण को कह रहे वादी पण्डित जो मान बैठे हैं उनके प्रति सूत्रकार महाराज ने "गुणवद्द्रव्यं" यों सूत्रदल कहा है क्योंकि एक समय में एक ही बार साथ अनेक धर्मों का अधिकरण होरही वस्तु की प्रतीति की जा रही है जैसे कि वृक्ष या घड़े में रूप, रस, गंध, आदि गुण साथ ठहर रहे हैं। अथवा स्वकीय पक्ष का साधकपन और परकीयपक्ष का असाधकपन इन दो धर्मों का अधिकरण होरहे एक समीचीन हेतु के समान वस्तु अनेक धर्मों का अधिकरण है।

आप्तमीमांसा में " असाधारणहेतुवत् " और " कारकज्ञापकांगवत् " स्वभेदः साधनं यथा "

इन कारक ज्ञापक हेतुओं के दृष्टांत से वस्तु में अनेक धर्मों की प्रसिद्धि करा दी गई है, कोई भी सद्धेतु जिस प्रकार स्वकीय साध्य का ज्ञापक है उसी प्रकार साध्य विरुद्ध का ज्ञापक नहीं भी है मृत्तिका आदि कारक हेतु जैसे घट आदि के निर्वर्तक हैं। उस ढंग से ही ज्ञान आदि कार्यों के निर्वर्तक (संपादक) नहीं हैं। अतः एक वस्तु में अनेक धर्म बिना प्रयासके ठहर जाते हैं अथवा तीसरा दृष्टान्त यों समझिये कि जो पुरुष अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है, वही अपने पिता की अपेक्षा पुत्रभी है। अपने मामा की अपेक्षा भानजा है, चचा की अपेक्षा भतीजा है, नाना की अपेक्षा धेवता है। यों एक पुरुष ही जैसे पितृत्व, पुत्रत्व, भागिनेयत्व, आदि शब्द व्यवहार के विषय होरहे अनेक धर्मों का अधिकरण है,इसी प्रकार सम्पूर्ण वस्तुयें एक साथ अनेक धर्मों का आधार प्रतीत होरहीं हैं।

ग्राह्यग्राहकसंवेदनाकारं संवेदनमेकमुपयन् सकृदनेकधर्माधिकरणमेकं बहिरन्तर्वा प्रतिक्षिपतीति कथं परीक्षको नाम ? वेद्याद्याकारविवेकं शुद्धं संविदाकारं च प्रत्यक्षमिच्छन्नपि न सहानेकांतं निराकर्तुमर्हति संविदद्वैते प्रत्यक्षपरोक्षाकारयोरपारमार्थिकत्वे परमार्थेतराकारमेकं संवेदनं बलादापतेत् परमार्थाकारस्यैव सत्वात् संविदो नापारमार्थिकाकारः सन्निति ब्रुवाणस्सकृत्सदसत्वस्वभावाक्रांतमेकं संवेदनं स्वीकरोत्येव ।

जो सम्वेदनाद्वैत-वादी बौद्ध अकेले विज्ञान तत्व को ही स्वीकार करते हैं, ज्ञान ही वेद्य है और ज्ञान ही वेदक है। यों सम्वेदन के ग्रहण करने योग्य ग्राह्य आकार और सम्वेदन के स्वनिष्ठ ग्राहक आकार को जानने वाले एक एक सम्वेदन को स्वीकार कर रहा योगाचार बौद्ध भला एक बहिरंग पदार्थ अथवा एक अन्तरंग तत्व में युगपत् अनेक धर्मों के अधिकरणपन का प्रतिक्षेप करता है। यों प्रत्यक्षविरुद्ध या स्ववचनविरुद्ध अथवा स्वज्ञानविरुद्ध कथन कर रहा बौद्ध किस प्रकार परीक्षक नाम को पा सकता है। अर्थात्—कथमपि नहीं। कैसा भी ज्ञान क्यों न हो उसमें ग्राह्यत्व और ग्राहकत्व अंश अवश्य मानने पड़ेंगे " ग्राह्यग्राहकाकारविवेकं संवेदनं " यहां " विच्लृ विचारणे " धातु से बने विवेक का अर्थ विचार करना, ज्ञान करना, माना जाता है अतः एक ज्ञान में सकृत् ग्राह्य आकार और ग्राहक आकार दोनों धर्म ठहर जाते हैं। परीक्षक विद्वान् को निष्पक्ष होकर न्याय्य बात कहनी चाहिये,असत् पक्षपात करने वाला परीक्षक नहीं माना जायगा।

दूसरी बात यह है कि " विचिर् पृथग्भावे " धातु से बने विवेक शब्द का अर्थ पृथग् भाव करते हुये जो बौद्ध शुद्ध ज्ञान में वेद्य, वेदक, वित्ति, वेत्ता, इन आकारों के पृथग् भाव को परोक्ष रूप से जान रहे इष्ट कर रहे हैं और उसी ज्ञान में शुद्ध सम्वेदन-आकार को भी प्रत्यक्ष रूप से जान रहे इच्छते हैं। वे बौद्ध कथमपि वस्तु में साथ ठहर रहे अनेक धर्मों का निवारण करने के लिये समर्थ नहीं हो सकते हैं। जब कि एक शुद्ध ज्ञान में प्रत्यक्ष आकार और परोक्ष आकार विद्यमान हैं। या वेद्य आदि आकारों का असद्भाव और शुद्ध सम्वित्ति आकार का सद्भाव है, तो वे बौद्ध प्रत्यक्ष या परोक्ष आकार अथवा असद्भाव या सद्भाव के सह-अनेकान्त को अवश्य स्वीकार करें यहां उनके लिये

उचित मार्ग है।

यदि बौद्ध यों कहें कि शुद्ध सम्वेदनाद्वैत में प्रत्यक्ष आकार और परोक्ष आकार ये दोनों वास्तविक नहीं हैं कल्पित हैं, सम्वेदन तो स्वकीय स्वरूप में ही संलग्न हैं। यों कहने पर तो हम जैन टका सा उत्तर देदेंगे कि तब तो बौद्धों के यहां परमार्थभूत और अपरमार्थभूत आकार वाला एक सम्वेदन बलात्कार से आपड़ेगा। बौद्धों के कहने से ही वास्तविक आकार और कल्पित आकार ये दो आकार एक सम्वेदन में प्रविष्ट होरहे हैं। यदि बौद्ध इस पर पुनः यों कहें कि विज्ञान का परमार्थ आकार ही वास्तविक सत् है, सम्वेदन का कल्पित आकार तो वस्तुभूत सत् नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार कह रहा बौद्ध तो एक ही समय सत्व स्वभाव और असत्व स्वभाव से आक्रान्त होरहे एक सम्वेदन को स्वीकार कर ही लेता है बौद्ध ने बड़ी सरलता से सम्वेदन में वास्तविक सत्व और अपरमार्थभूत असत्व इन दो धर्मों को झटिति स्वीकार करही लिया है।

न सन्नाप्यसत्संवेदनमित्यपि व्याहतं, पुरुषाद्वैतादिवत्तः सकृदनेकस्वभावमेकं वस्तु तत्वतः सिद्धमन्यथा सर्वस्य स्वेष्टतत्वव्यवस्थानुपपत्तेः। स्वपररूपोपादानापोहनव्यवस्थापाद्यत्वाद्वस्तुत्वस्येति प्रपंचितप्रायं।

सम्वेदन सद्भूत नहीं है और साथ ही असद्भूत भी नहीं है, यों बौद्धों के कहने पर आचार्य कहते हैं, कि उनका कहना भी व्याघात दोष से युक्त है जैसे कि पुरुषाद्वैत, चित्राद्वैत, आदि के साधके पूर्व पक्षोंमें अनेक व्याघात दोष आते हैं, उसी प्रकार सम्वेदन को सत् भी नहीं और उसी समय असत् भी नहीं कहने में वदतोव्याघात है। अर्थात्- परस्पर विरुद्ध होरहे धर्मों का सकृत्विधि या युगपत् निषेध दोनों नहीं होसकते हैं "न सत्" इतना कहते ही तत्काल असत् का विधान होजाता है फिर असत् का निषेध नहीं करसकते हो और असत् नहीं कहते ही सत् की विधि होजाती है, ऐसी दशा में पुनः सत् का निषेध नहीं कर सकते हो। बलात्कार से कहने वाले का मुंह उसी समय दबा दिया जायगा, परस्पर विरुद्ध पदार्थों में से एकतर का निषेध करने पर द्वितीय का आवश्यक रूप से विधान हो ही जाता है, सकृत् दोनों का निषेध करना सर्वथा अलीक है।

हां अनेकान्त-वाद अनुसार कथंचित् सत्व और कथंचित् असत्व दोनों धर्म एक सम्वेदन में ठहर जाते हैं तिस कारण सिद्ध हुआ कि एक वस्तु युगपत् अनेक स्वभावों को वास्तविक रूप से लिये हुये है, अन्यथा यानी वस्तु में अनेक धर्मों को नहीं मान कर एकान्त वाद को स्वीकार किया जायगा तब तो इस अन्य ही प्रकार से सम्पूर्ण वादियों के यहां अपने अपने अभीष्ट तत्वों की व्यवस्था नहीं बन सकेगी। श्री अकलंकदेव महाराज ने कहा है, कि वस्तुका वस्तुपना तो अपने स्वरूप का उपादान और परकीय रूप का परित्याग इस निमित्त-व्यवस्था से आपादन करने योग्य है। जो भी कोई वादी अन्तरंग तत्व या बहिरंग तत्व अथवा परम ब्रह्म, सम्वेदन, चित्र आदि तत्वों को स्वीकार करेगा वे तत्व स्वाभिमत रूप से इष्ट होंगे और पराभिमत स्वरूप से अनिष्ट माने जायंगे अथवा अपने तत्व

इष्ट हैं, और दूसरों के तत्व अनिष्ट हैं। ऐसी दशा में अनेकान्त दुर्निवार है, इस अनेकान्त के सिद्धान्त का हम पूर्व प्रकरण में प्राय: करके विस्तार पूर्वक विचार कर चुके हैं, यहाँ इतना ही कहने से पूरा पड़ो।

तथा क्रमानेकांतनिराकरणवादिनं प्रति पर्यायवद्द्रव्यं प्रतीयमानत्वात् सर्वस्य परिणामित्वसिद्धेः प्रतिपादितत्वात्। एवं क्रमाक्रमानेकांतनिराकरणप्रवणमानसं प्रति गुणपर्यायवद्द्रव्यमित्युक्तं सर्वथा निरुपाधिभावस्याप्रमाणत्वात्।

सह अनेकान्त का निराकरण करने वाले वादियों को समझा दिया गया है, सूत्रकार ने गुणवद्द्रव्यं इसी लिये कहा है। तथा क्रम से अनेकान्त का निराकरण कर रहे वादी के प्रति तो सूत्रकार ने द्रव्य के लक्षण में 'पर्यायवद्द्रव्यं' या पर्ययवद्द्रव्यं इतना अंश कहा है, भावार्थ–'क्रमवर्तिनः पर्यायाः' प्रत्येक गुण की एक समय में एक पर्याय होती है, इस ढंग अनुसार अनन्तानन्त पर्यायें क्रम से होती रहती हैं, मृत्तिका की शिवक, स्थास, कोष, कुशूल, घट, कपाल, कपालिका आदि होरही पर्यायें प्रतीत की जा रही हैं कपास की रूई धुनी रूई, पौनी, अंडिया आंटे आतान वितान, पट, चीथरा आदि अवस्थायें देखी जा रही हैं जब के सम्पूर्ण पदार्थों के परिणामी पन की सिद्धि का प्रतिपादन किया जा चुका है पूर्व अवस्था का त्याग, उत्तर अवस्था का ग्रहण, अजहद्वृत्तिता, ये वर्तनायें ही परिणाम का प्राण हैं।

श्री माणिक्यनन्दी आचार्य ने परिणाम का लक्षण यही कहा है। कितने ही कूटस्थवादी महाशय क्रम से होने वाले परिणाम को स्वीकार नहीं करते हैं सांख्यमती पण्डित कूटस्थवर्त्ती आत्मा के परिणामों को नहीं मानते हैं, प्रधान के भी आविर्भाव तिरोभाव वाले परिणाम माने गये हैं, उत्पाद विनाश, शाली परिणाम नहीं इष्ट किये हैं, नैयायिक, वैशेषिक, भी आत्मा आकाश, आदि की क्रमवर्त्ती पर्यायों का होना नहीं अभीष्ट करते हैं, ब्रह्माद्वैतवादी पण्डित 'सर्वं वै खल्विदंब्रह्म नेह नानास्ति किंचन। आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन,, यों ब्रह्म के आराम यानी पर्यायों को इष्ट करते हैं, किन्तु वे उनको वस्तुभूत नहीं मानते हैं क्रम से वर्तना भी इष्ट नहीं करते हैं अथवा ब्रह्म में उन पर्यायों का खोज ही खो देते हैं। यों क्रम से होने वाला पर्यायों या अनेक स्वभावों के अनेकान्त का निराकरण कर रहे पण्डितों के प्रति द्रव्य के लक्षण में पर्याय सहितपना कहना सूत्रकार का समुचित कर्तव्य है।

इसी प्रकार जिन पण्डितों का चित्त क्रम अनेकान्त और अक्रम अनेकान्त दोनों के निराकरण में प्रवीण होरहा है ऐसे वैभाषिक माध्यमिक तत्त्वोपप्लववादी आदि वादियों के प्रति वस्तुभूत सिद्धान्त का निराकरण करने के लिये सूत्रकार ने 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं' गुणों और पर्यायों वाला द्रव्य होता है, इस प्रकार गुण पर्याय उभय का प्रतिपादक प्रचण्ड सूत्र कहा है, कारण कि सभी प्रकारों से

अनेक विशेषणों से रहित होरहे पदार्थ को अप्रामाणिकपना है, यानी कोई भी प्रमाण ऐसे भाव को ग्रहण नहीं करता है, जिसमें कि गुण या पर्याय कोई भी विशेषण नहीं पाया जाय सम्पूर्ण द्रव्यों में अनुजीवी गुण प्रतीजीवीगुण, पर्यायशक्ति आत्मकगुण विद्यमान हैं तथा षट्स्थान पतित हानियों वृद्धियों के विषयभूतधर्म अथवा आपेक्षिक धर्म और छोटे बड़े निमित्तों से उपजे अनेक स्वभाव भेद इत्यादि पर्यायें द्रव्यों में विद्यमान हैं, गुणों और पर्यायों से रीता द्रव्य कथमपि नहीं होता है।

अथवेयं त्रिसूत्री समवतिष्ठते, गुणवद्द्रव्यं पर्ययवद्द्रव्यं गुणपर्ययवद्द्रव्यं द्रव्यत्वान्यथानुपपत्तेरित्यनुमानत्रयं चेदं संक्षेपतो लक्ष्यते।

अथवा इस एक सूत्र को तीन सूत्रों का समुदाय समझ कर यों भले प्रकार व्यवस्था कर ली जाती है, कि १ द्रव्यं (पक्ष) गुणवत् (साध्य) द्रव्यत्वान्यथानुपपत्तेः (हेतु)। २ द्रव्यं (पक्ष) पर्ययवत् (साध्यदल) द्रव्यत्वान्यथानुपपत्तेः (हेतु)। ३ द्रव्यं (पक्ष) गुणपर्ययवत् (साध्यकोटि) द्रव्यत्वान्यथानुपपत्तेः (हेतु) यों तीन प्रकार एकान्त वादियों के प्रति उक्त सूत्र का योगविभाग कर तीन अनुमान कह दिये जाते हैं। १ द्रव्य गुणवाला है, अन्यथा उसमें द्रव्यपना बन नहीं सकता है। २ द्रव्य में पर्यायें पायी जाती हैं, अन्यथा यानी पर्यायों के बिना द्रव्यपन की सिद्धि नहीं होसकती है। ३ गुणों और पर्यायों का धारी द्रव्य है ऐसा नहीं मान कर अन्य प्रकार मानने से द्रव्यपना रक्षित नहीं रह सकता है। यों अनेक प्रतिपक्ष विद्वानों के मतों का निराकरण करने के लिये संक्षेप से 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं' इस अकेले सूत्र द्वारा द्रव्य को लक्षित कर दिया जाता है हजारों रोगों को एक संजीवनी औषधि पर्याप्त है।

ननु चैवं निष्क्रियं न सर्वद्रव्यसमवायिकारणं चेति पराकूतनिराकृतये क्रियावद्द्रव्यं समवायिकारणमिति च द्रव्यलक्षणमभिधीयते, पृथिव्यप्तेजोवायुमनसां क्रियावत्त्वासिद्धेः सर्वद्रव्याणां समवायिकारणत्वस्य च गुणवत्त्ववत्प्रतीतेरित्येतदपि च परेषां वचोऽसमीचीनं, द्रव्यवद्विशेषवत्सामान्यवच्च द्रव्यमिति द्रव्यलक्षणवचनप्रसंगात न कार्यद्रव्यवत्कारणद्रव्यं नापि विशेषवत्सामान्यवद्वेति परद्रव्यविप्रतिपत्तिनिराकरणार्थत्वात्। स्याद्वादिनां पुनः कार्यद्रव्यविशेषसदृशपरिणामलक्षणसामान्यानामपि क्रियावत्समवायवच्च पर्यायत्वान्न तथा वचनं कर्तव्यमिति सर्वमनवद्यं।

यहां वैशेषिक स्वपक्ष का अवधारण करतेहैं, कि इस प्रकार गुणपर्ययवद्द्रव्यं इस सूत्र द्वारा द्रव्य का लक्षण आप जैन करते हैं, तब तो इसी प्रकार हमारा द्रव्य का लक्षण भी उचित पड़ जाता है जो वादी पदार्थों को क्रिया रहित स्वीकार करते हैं, जैसे कि बौद्ध पंडित पदार्थों में क्रिया नहीं मानते हैं अर्थात् बौद्धोंका अनुभव है कि उन निकटवर्ती या दूरवर्ती प्रदेशोंमें गोली, बाण, ढेल, पक्षी, रेलगाड़ी, आदि स्वलक्षण नवीन रूप से उपज जाते हैं यही पक्षु तो क्रम क्रम से देशान्तरों में नहीं पहुंच

पाती है, जिस प्रकार सिनेमा के पर्दा पर जाने आने वाले पदार्थों का प्रतिबिम्ब नहीं है केवल विभिन्न प्रकार के चित्रों का प्रतिबिम्ब पड़ जाने से दृष्टाओं को वैसी चलते फिरते पदार्थों की प्रतिपत्ति होजाती है, वस्तुतः पदार्थ निष्क्रिय हैं। तथा कोई पंडित सभी द्रव्यों को समवायी कारण इष्ट नहीं करते हैं कूटस्थ द्रव्य किसी का समवायीकारण नहीं होसकता है।

इस प्रकार दूसरे पण्डितों की अयुक्त वचन स्वरूप चेष्टा का निराकरण करने के लिये हम वैशेषिकों करके सभी द्रव्य क्रियावान हैं और समवायिकारण है यों "क्रियावत्समवायिकारणं द्रव्यं" यह द्रव्य का सुन्दर लक्षण कह दिया जाता है, पृथिवी, जल, तेज, वायु, और मन इन द्रव्यों में क्रिया सहितपना सिद्ध है, तथा समवायिकारणपना तो सम्पूर्ण द्रव्यों के प्रतीत होरहा है, जैसे कि सभी द्रव्यों के गुण सहितपन की प्रतीति होरही है।

अर्थात्– पृथिवी में चौदह, जल में चौदह, तेज मे ग्यारह, वायु में नव, आकाश में छः, काल में पांच, दिशा में पांच आत्मा में चौदह, ईश्वर में आठ और मन में आठ, गुण माने जाते हैं 'वायो नवैकादशतेजसोगुणा जलक्षितिप्राणभृतां चतुर्दश । दिक्कालयोः पंच षडेव चाम्बरे महेश्वरेऽष्टौ मनस-स्तथैव च' इसी प्रकार परमाणु स्वरूप नित्यद्रव्य और कार्यस्वरूप अनित्यद्रव्य पृथिवी, जल, तेज, वायुओं को स्वकीय जन्य गुणों का या स्वजन्य अवयवी द्रव्यों का समवायीकारणपना प्राप्त है आकाश काल, दिग्, जीवात्मा, परमात्मा, इन चार व्यापक नित्य द्रव्यों को अपने जन्य गुणों का समवायि कारणपना स्वभाव सिद्ध है, नित्य द्रव्य माने गये मन को स्वकीय संयोगादि अनेक जन्य गुणों और क्रियाओं का समवायिकारणपना निर्णीत है, यों 'क्रियावद्गुणवत्समवायिकारणं द्रव्यं' यह द्रव्य का लक्षण उचित प्रतीत होता है।

ग्रन्थकार कहते हैं कि यों दूसरे विद्वान् वैशेषिकों का यह वचन भी समीचीन नहीं है, क्योंकि यदि इसी प्रकार दूसरों की विप्रतिपत्ति का निराकरण करने के लिये द्रव्य के लक्षण में इतर व्यावर्त्तक पदों का डालना अभिप्रेत होय तब तो 'द्रव्यवद्विशेषवत्सामान्यवच्चद्रव्यं' यों द्रव्य के लक्षण के निरूपण करने का प्रसंग आवेगा कारण कि कितने वादी द्रव्य को स्वकीय कार्य द्रव्य से सहित स्वीकार नहीं करते हैं, बौद्धों को ही लीजिये वे स्वलक्षण परमाणुओं से किसी द्व्यणुकादि अवयवी स्कन्ध का बनना इष्ट नहीं करते हैं हाँ पूर्वक्षणवर्त्ती परमाणु स्वलक्षण से भले ही उत्तर क्षणवर्त्ती स्वलक्षण परमाणु द्रव्य उपज जाय किन्तु तब तक पहिले क्षणिक कारण का विनाश होजाता है, अतः कार्य द्रव्य वाला कारणद्रव्य कथमपि नहीं होसका।

यों इस बौद्ध सिद्धान्त का निराकरण करने के लिये वैशेषिकों को द्रव्य का लक्षण में 'द्रव्य-वत्' विशेषण देना उचित पड़ जायगा, तथा कोई वादी द्रव्य में विशेष को स्वीकार नहीं करते हैं, ब्रह्माद्वैत वादी पण्डितों ने परमब्रह्म में विशेष स्वीकार नहीं किया है अन्यथा द्वैत का प्रसंग आजायगा अतः वैशेषिकों को द्रव्य के लक्षण में 'विशेषवत्, कहना भी इष्ट पड़ा तथैव कोई पण्डित द्रव्य में सामा-

न्य को इष्ट नहीं करते हैं वे 'विशेषा एव तत्त्वं' मान बैठे हैं बौद्ध ही विशेषों को स्वीकार करते हुये सामान्यका प्रत्याख्यान करते हैं।

अतः अनेक मत का व्यवच्छेद करने के लिये वैशेषिकों को द्रव्य के लक्षण में 'सामान्यवत्' (सामान्यवाला) कहना आवश्यक पड़ जायगा यों १ 'न कार्यद्रव्यवत्कारणद्रव्यं' २ 'न विशेषवद्द्रव्यं' ३ 'न सामान्यवद्द्रव्यं' इस प्रकार दूसरों के अभीष्ट किये गये मन्तव्यों अनुसार द्रव्य में पड़ी हुयी विप्रतिपत्तियों का निराकरण करने के लिये 'द्रव्यवत्विशेषवत्सामान्यवच्च द्रव्यं' यों द्रव्य का लक्षण वैशेषिकों को करना चाहिये था वैशेषिकों ने कारण द्रव्यों में कार्य द्रव्य का रहना और नित्य द्रव्यों में विशेषपदार्थ का ठहरना तथा सम्पूर्ण द्रव्यों में सामान्य जाति का स्थित रहना अभीष्ट भी किया है अतः इस लक्षण करके वैशेषिकों के यहां स्वकीय सिद्धान्त से कोई विरोध नहीं पड़ सकता है, द्रव्य का क्रिया रहितपना या समवायिकारण रहितपना मानने वाले पण्डितों को समझाने की अपेक्षा कारण द्रव्य को कार्य द्रव्य से रहित मान रहे और द्रव्य को विशेष या सामान्य से रहित अभीष्ट कर रहे पण्डितंमन्यों को समीचीन मार्ग पर लेआना कहीं अच्छा है द्रव्य के द्रव्य सहितपन और विशेषसामान्य सहितपन की प्रतीति होचुकने पर पुनः झटिति अल्प प्रयास से ही द्रव्य के क्रियासहितपन गुण सहितपन और समवायि कारण पन की प्रतिपत्ति होजायगी।

एक बात यह भी है, कि 'क्रियावद् गुणवत्समवायिकारणं द्रव्यं' स्वीकार कर पुनः 'द्रव्यवद्विशेषवत्सामान्यवच्च' इस लक्षण का भी प्रसंग प्राप्त होजाने पर वैशेषिकों के ऊपर विनिगमनाविरह दोष खड़ा होजाता है इस दोष की यह शक्ति है कि 'सुन्दोपसुन्द न्याय' अनुसार दोनों का निराकरण कर तीसरे ही शक्तिशाली लक्षण को सर्वोपरि विराजमान कर देता है, तभी तो स्याद्वादियों ने द्रव्य का 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं' यह निर्दोष लक्षण किया है, स्याद्वादियों के यहां फिर बड़ा सुभीता पड़ जाता है, क्योंकि कार्य द्रव्य और विशेष पदार्थ तथा सदृश परिणाम स्वरूप सामान्य इन सबको भी जैनों ने पर्याय स्वीकार किया जैसे कि क्रिया को और समवायिकारण के प्रयोजक हो रहे समवाय को हम जैन पर्याय मानते हैं।

अर्थात्-घट, पट, आम, अमरूद, फूल, पुस्तक, ये सब कार्य द्रव्यें उस पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं तथा 'एकस्मिन्द्रव्येक्रमभाविनः परिणामाः पर्याया आत्मनिहर्षविषादादिवत्' 'अर्थान्तरगतोविसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत्' ये पर्याय और व्यतिरेक दोनों प्रकारके विशेष भी पर्याय स्वरूप है, तथैव 'सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्ड मुण्डादिषु गोत्ववत्' 'परापरविवर्तव्यापि द्रव्यमूर्ध्वता मृदिवस्थासादिषु' ये दोनों प्रकार के सामान्य भी पर्याय स्वरूप ही पड़ते हैं हलन, चलन, गमन, आदि क्रियायें तो पर्यायें हैं ही। कोई विवाद नहीं है, समवायि कारण या उपादान कारण का अनुजीवी होरहा कथंचित् अविष्वग्भाव सम्बन्ध स्वरूप समवाय तो भला पर्याय के सिवाय और क्या पदार्थ होसकता है ? अतः वैशेषिकों द्वारा परमतों के निराकरणार्थ लक्षण में जितने भी इतर व्यावर्तक पद दिये जाते

है उन सब का प्रयोजन [illegible] गये पर्यायपद से ही सध जाता है।

हां गुण पद तो द्रव्य के लक्षण में दोनों के यहां उपात्त किया गया है, अत: वैशेषिकों को द्रव्य के तिस प्रकार लम्बे और दोषग्रस्त लक्षण का कथन नहीं करना चाहिये। हां स्याद्वादियों का किया गया सूत्रोक्त लक्षण समीचीन है, यों करने से सभी सिद्धान्त निर्दोष सिद्ध होजाते हैं।

तदेवं जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशभेदात्पंचविधमेव द्रव्यमिति वदंतं प्रत्याह।

अगले सूत्र का अवतरण है। कोई कह रहा है कि उपकार करने की अपेक्षा 'वर्तना परिणाम-क्रिया: परत्वापरत्वे च कालस्य' इस सूत्र द्वारा काल को भले ही कह दिया गया होय किन्तु जब तक काल को स्वतंत्र द्रव्य नहीं कहा जायगा तब तक वे उपकार तो व्यवहार काल के भी समझे जासकते हैं वर्तना को छोड़ कर परिणाम आदि को व्यवहारकाल का उपकार इष्ट भी किया गया है तब तो अभी तक 'अजीवकायाधर्माधर्माकाशपुद्गला:' 'द्रव्याणि, जीवाश्च' इन सूत्रों करके कहे जा चुके पांच द्रव्यों के ही द्रव्यपन का व्यवसाय करना प्रसंग प्राप्त हुआ। तिस कारण इस प्रकार उक्त लक्षणसूत्र द्वारा जीव पुद्गल, धर्म अधर्म, और आकाश के भेद से पांच प्रकार के ही द्रव्य सिद्ध होते हैं काल तो वस्तुभूत द्रव्य नहीं होसका ऐसा ही श्वेताम्बर बन्धु मानते हैं, इस प्रकार कह रहे वादी पण्डित के प्रति सूत्रकार महोदय अनुक्त द्रव्य की सूचना करने के लिये इस अगले सूत्र को प्रव्यक्त कहते हैं।

कालश्च

उक्त पांच द्रव्यों के अतिरिक्त काल भी स्वतंत्र छठा द्रव्य है जब कि द्रव्य का अक्षुण्ण लक्षण वहां घटित होरहा है। तदनुसार लोक प्रदेश परिमित असंख्यातासंख्यातकालाणुयें सभी काल द्रव्य हैं, एक एक काल परमाणु अनेक गुण और पर्यायों को धारे हुये हैं।

गुणपर्ययवद्द्रव्यमित्यभिसंबंधनीयम्।

"गुणपर्ययवद्द्रव्य" गुणों और पर्यायों को धारने वाला द्रव्य होता है, इस पूर्व सूत्र के पूरे लक्षण लक्ष्य पदों का यहां विधेय दल की ओर सम्बन्ध करने लेने योग्य है, अत: समुच्चय अर्थ के वाचक च शब्दके अनुसार काल भी छठा गुण, पर्यायों, वाला द्रव्य है यह अन्वितकर अर्थ होजाता है।

कालश्चद्रव्यमित्याह प्रोक्तलक्षणयोगत: ।
तस्याद्रव्यत्वविज्ञाननिवृत्त्यर्थं समासत: ॥ १ ॥

सूत्रकार द्वारा द्रव्य के बहुत अच्छे कहे गये "गुणपर्ययवद्द्रव्यं" इस लक्षणवाक्य का सम्बन्ध होजाने से "काल भी द्रव्य है" इस बात को सूत्रकार "कालश्च" सूत्र द्वारा संक्षेप से कह रहे हैं। जो कि उस काल के द्रव्य रहित पन की परिच्छित्ति का निवारण करने के लिये है। अर्थात्—कालं

तो द्रव्य नहीं है इस मिथ्याज्ञान की निवृत्ति के लिये सूत्रकार को इस सूत्र का कहना अनिवार्य पड़ गया है यहां ही द्रव्य का लक्षण करते हुये वह संक्षेप से कहा जा सकता है ।

के पुनः कालस्य गुणाः के च पर्यायाः प्रसिद्धा यतो गुणपर्ययवद्द्रव्यमिति प्रोक्तलक्षणयोगः सिध्येत्तस्याद्रव्यत्वविज्ञाननिवृत्तिश्चेत्यत्रोच्यते ।

यहां कोई जिज्ञासु पूछता है कि वे फिर काल द्रव्य के गुण कौन से प्रसिद्ध हैं ? तथा काल की पर्यायें भी कौन कौन विख्यात हैं ? बताओ जिससे कि उस काल के साथ "गुणपर्ययवद्द्रव्य" इस द्रव्य के निर्दोष लक्षण का संसर्ग होजाना सिद्ध होजावे और उस काल का द्रव्यरहितपन के विज्ञान की निवृत्ति सध जाय ? इस प्रकार यहां प्रतिपित्सा प्रवर्तनेपर ग्रन्थकार द्वारा समाधान कहा जाता है ।

निःशेषद्रव्यसंयोगविभागादिगुणाश्रयः ।
कालः सामान्यतः सिद्धः सूक्ष्मत्वाद्याश्रयो भिदा ॥ २ ॥
क्रमवृत्तिपदार्थानां वृत्तिकारणतादयः ।
पर्यायाः संति कालस्य गुणपर्यायवानतः ॥ ३ ॥

सामान्य रूप से अखिल द्रव्यों के साथ संयोग होना या विभाग होना, संख्या, परिमाण, आदि गुणों का आश्रय होरहा काल द्रव्य सिद्ध है, और भिन्न भिन्न पने यानी विशेष रूप से कथन करने पर सूक्ष्मत्व, वर्तनाहेतुत्व, अचेतनत्व, आदि गुणों का आधार काल है । तथा क्रम क्रम से वर्त रहे पदार्थों की वर्तना कराने में कारणपना, इतर द्रव्यों के उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यों, की हेतुता स्वकीय अविभागप्रतिच्छेद, द्रव्यत्वपरिणति, एक प्रदेश अवगाह, आदि पर्यायें काल द्रव्य की हैं । अतः गुणों और पर्यायों से समाहित होरहा काल द्रव्य है ।

अर्थात्—लोकाकाश में सर्वत्र छहों द्रव्य पाये जाते हैं कालाणुओं के साथ सामान्य रूप से सम्पूर्ण द्रव्योंका संयोग है विशेष २ जीव और पुद्गलों का यहां वहां जाने पर पूर्वसम्बद्ध कालाणुओं के साथ विभाग भी होजाता है हां धर्म, अधर्म, और आकाश के उन उन स्थलों पर नियत होरहे प्रदेशों से अन्य प्रदेशीय कालाणुओं का विभाग होरहा है । संयोग नाशक गुण को ही विभाग नहीं कहते हैं, किन्तु पृथग्भाव भी विभाग कहा जा सकता है इन गुणों के अतिरिक्त द्रव्यत्व, वस्तुत्व, अगुरुलघुत्व आदि सामान्य गुण भी काल में विद्यमान हैं । काल में सूक्ष्मत्व, वर्तनाहेतुत्व आदि विशेष गुण हैं, तथा नवीन पदार्थ को जीर्ण करना, परिवर्तन कर देना, अचेतन बने रहना आदि पर्यायें काल की प्रसिद्ध हैं अतः द्रव्य के दोनों लक्षणों की संघटना काल में है ।

सर्वद्रव्यैः संयोगस्तावत्कालस्यास्ति सादिरनादिश्च विभागश्चासर्वगतक्रियावद्द्रव्यैः संख्यापरिमाणादयश्च गुणा इति सामान्यतोऽशेषद्रव्यसंयोगस्य विभागादिगुणानां चाश्रयः कालः सिद्धः ।

कालों का सम्पूर्ण द्रव्यों के साथ संयोग तो हो ही रहा है जो कि कोई संयोग तो सादि है। और कोई संयोग अनादि है यहां वहां जा रहे जीव और पुद्गलों का उन उन प्रदेशों में वर्त रहे कालाणुओं के साथ हुआ संयोग सादि है और अखण्ड धर्म, अधर्म, आकाश द्रव्यों के साथ उन उन कालाणुओं का अनादि संयोग है। इसी प्रकार अव्यापक और क्रियावाले जीव द्रव्यों या पुद्गल द्रव्यों के साथ हुआ विभाग भी काल का गुण है, यहां यह कहना है कि वैशेषिकों ने विभाग को संयोग का नाश करने वाला सादि गुण माना है किन्तु धर्म आदिकों के प्रदेशों की अपेक्षा काल का अनादि विभाग भी होसकता है सुदर्शन मेरु की जड़ में ठहर रहे कालाणुओं का सर्वार्थसिद्धि गत धर्म, अधर्म, आकाश के प्रदेशों के साथ होरहा विभाग अनादि है रत्नप्रभा में संयुक्त होरहे कालाणुओं का सिद्ध जीवों के साथ अनन्त काल तक के लिये विभाग हो गया है।

यदि परम पूज्य सम्मेदशिखर पर जघन्य युक्तानन्त प्रमाण अभव्य जीवों का जन्म लेना नहीं स्वीकार किया जाय तो सम्मेदशिखर के सम्बन्धी कालाणुओं का अभव्यों के साथ अनादि विभाग कहा जा सकता है अलोकाकाश के प्रदेशों के साथ तो सभी कालाणुओं का अनादि अनन्त विभाग है, यों काल में संयोग, विभाग, गुणों को साध दिया गया है। यद्यपि संयोग या विभाग कोई अनुजीवी गुण में नहीं गिनाये गये हैं जैन सिद्धान्त अनुसार संयोग विभागों को पर्याय कहा जा सकता है। नित्य परिणामी गुण नहीं। तथापि वैशेषिकों के यहां संयोग विभागों की गुणस्वरूप से प्रसिद्धि होने के कारण तथा उल्लेख योग्य प्रधान पर्याय होने से संयोग और विभाग को गुण कह दिया है।

बात यह है कि जैन ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर अन्य मतों की आभा पड़ जाती है जिसका कि विशेष क्षति नहीं होने के कारण क्वचित् लक्ष्य नहीं किया जाता है, वस्तुतः यथार्थ विचार करने पर गम्भीर विद्वानों को उस मिले हुये आभास का स्पष्टीकरण कर देना चाहिये अन्यथा कदाचित् इसका भयंकर परिणाम होजाता है। वृद्ध पुरुष का चंचल, अलबेली, युवती के परिणयन समान इस जैन दर्शन का अन्य दर्शनीय आचार्यों के योग कर देने की टेव से कदाचित् अक्षम्य अपसिद्धान्तों की उत्पत्ति होजाती है। यहां ग्रन्थकार महाराज ने वैशेषिकों को समझाने के लिये संयोग और विभाग को काल का गुण कह दिया है संख्या, परिमाण, आदि भी काल के गुण हैं, वैशेषिकों ने भी कालद्रव्य के संख्या, परिमाण, पृथक्त्व संयोग विभाग, ये पांच गुण इष्ट किये हैं वस्तुतः विचारा जाय तो संख्या कोई प्रतिजीवी या अनुजीवी गुण नहीं है, केवल आपेक्षिक धर्म (गुण) है।

गोल चलनी का कोई भी छेद दसवां, पचासवां, सौवां, इकसौवां, आदि अनेक संख्या वाला होसकता है हजार रूपये की थैली में चाहे कोई भी रुपया अन्यों की अपेक्षा से गिना गया बीसवां, दोसौवां, हजारवां होजाता है। गुण की परिभाषा तो यह है कि जो अपने से विपक्ष को नहीं धार सके पुद्गल में रूप गुण है तो वहां ही रूपाभाव गुण नहीं ठहर सकता है जीव में चेतना गुण का कोई सहोदर अचेतना गुण नहीं है, परिमाण भी प्रदेशवत्त्व गुण का विकार व्यञ्जन पर्याय है, केवल अन्य

मतों की प्रसिद्धि अनुसार इनको गुण कह दिया गया है यों सामान्य रूप से सम्पूर्ण द्रव्यों के साथ होरहे संयोग और विभाग, संख्या, परिमाण,पृथक्त्व, आदि गुणोंका आश्रय होरहा काल द्रव्य सिद्ध है।

विशेषेणतु सूक्ष्मामूर्तत्वागुरुलघुत्वैकप्रदेशत्वादयस्तस्य गुणा इति सूक्ष्मत्वादिविशेषगुणाश्रयश्च क्रमवृत्तीनां पदार्थानां पुद्गलादिपर्यायाणां वृत्तिहेतुत्वपरिणामक्रियाकारणत्वपरत्वापरत्वप्रत्ययहेतुत्वाख्याः पर्यायाश्च कालस्य संति यैस्तत्सत्तानुमानमिति। गुणपर्यायवान् कालः कथं न द्रव्यलक्षणभाक्? ततः कालो द्रव्यं गुणपर्ययवत्वाज्जीवादिद्रव्यवदिति तस्याद्रव्यत्वविज्ञाननिवृत्तिः

हां विशेष रूप से विचार करने पर तो उस काल द्रव्य के सूक्ष्मत्व, अमूर्तत्व, अगुरुलघुत्व, एकप्रदेशत्व, अचेतनत्व आदि भी गुण हैं अत्यन्त परोक्षपदार्थ सूक्ष्म कहा जाता है रूप आदि से रहित को अमूर्त कहते हैं द्रव्य से द्रव्यान्तर नहीं होजाय, गुण का गुणान्तर नहीं होजाय, पर्याय का अन्य विवर्त स्वरूप विपरिणाम नहीं होजाय इस असंकीर्णता का सम्पादक अगुरुलघुत्व गुण है। आकाश के कल्पना कर नापलिये गये परमाणु बराबर छः पहलू अठकोने एक प्रदेश में ही वृत्ति होना एक प्रदेशत्व है, ज्ञान, दर्शन, परिणतियों का नहीं होसकना अचेतनत्व है इस प्रकार सूक्ष्मत्व, अमूर्तत्व, आदि विशेष गुणों का अधिकरण भी काल द्रव्य है।

तथा प्रति समय क्रम से वर्त रहे पुद्गल, जीव, आदि की पर्यायों स्वरूप पदार्थों की वर्तना का हेतुपना काल की पर्याय है। और परिणाम उपजा देने का कारणपना, क्रिया का कारणपना, जेठे में परत्व बुद्धि उपजाने का हेतुपना, कनिष्ठ में अपरत्व बुद्धि करा देने का निमित्तपना इत्यादि नामों को धार रहीं पर्यायें काल द्रव्य की हैं जिन गुण और पर्यायों से कि उस काल की सत्ता का अनुमान होजाता है।

अर्थात्—काल द्रव्य अत्यन्त परोक्ष है अर्वाग्दर्शी पुरुषों में से किसी एक निष्णात विद्वान् को ही उसका अनुमान होसकता है काल के ज्ञापक लिंग माने गये गुण और पर्यायें हैं इस प्रकार गुण और पर्यायों का आश्रय होरहा काल भला द्रव्य के उक्त लक्षण का धारी क्यों नहीं होगा? यानी काल अवश्य ही द्रव्य है। तिस कारण अब तक सिद्ध कर दिया है कि काल (पक्ष) द्रव्य है (साध्यदल) गुणों और पर्यायों वाला होने से (हेतु) जीव पुद्गल आदि द्रव्यों के समान। अन्वयदृष्टान्त) इस प्रकार उस कालके अद्रव्यपन के विज्ञान की निवृत्ति होजाती है जो कि ग्रन्थकारने पहिली वार्तिक में निर्देश किया है। श्वेताम्बरों के यहां मुख्य काल द्रव्य का स्वीकार नहीं किया जाना समुचित नहीं है वैज्ञानिक यानी चार्वाक भी काल द्रव्य को नहीं मानते हैं उक्त सूत्र द्वारा इन वैज्ञानिकों के विज्ञान की निवृत्ति कर दी गयी है।

कोई पूछता है कि वर्तना नामके लक्षण को धारने वाले मुख्य कालद्रव्य को उक्त सूत्र से कह दिया है किन्तु अब यह बताओ कि वर्तना, परिणाम, आदि द्वारा लक्षण करने योग्य व्यवहार काल

की सिद्धि में क्या प्रमाण है ? अथवा काल कितने भावों को धारता है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार इस अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

सोऽनंतसमयः ॥ ४० ॥

वह प्रसिद्ध व्यवहार काल अनन्त समयों को लिये हुये है। अर्थात्—अक्षय अनन्तानन्त अतीत काल और एक वर्तमान काल तथा अतीत से अनन्तानन्तगुणा भविष्यकाल इन में होने वाले अनन्त समयों को व्यवहारकाल धार रहा है अथवा एक एक कालाणु द्रव्य का पदार्थों की भूत, वर्तमान, भविष्य काल के समयों सम्बन्धी वर्तनाओं का हेतु होरहा वर्तनाहेतुत्व गुण अनन्त पर्यायों वाला है, अतः एक कालाणु द्रव्य भी अनन्त समयों वाला उपचार से कहा जा सकता है सब से छोटा व्यवहार काल का अंश समय है इससे छोटे काल यानी पाव, आधे, पौन समय में कोई भी पूरा कार्य सम्पन्न नहीं होसकता है पुद्गल परमाणु चाहे एक प्रदेश से अपने निकटवर्ती दूसरे प्रदेश पर जाय अथवा चौदह राजू तक जाय इस पूरेकार्य में एक समय लेलेगी काल के ऐसे अनन्त समय हैं।

परमसूक्ष्मः कालविशेषः समय, अनन्ताः समया यस्य सोनंतसमयः कालोवबो द्धव्यः।

भावार्थ- जैसे परिमाणु गुण की आकाश से लगा कर लोक, स्वयंप्रभाचल, सुमेरु, जम्बूवृक्ष, हाथी, घोड़ा, घड़ा, कटोरा, बेर, पोस्त, षडणुक, त्र्यणुक, द्व्यणुक, में तरतम भाव से पायी जारही सूक्ष्मता विचारी अन्त में जाकर परमाणु पर अन्तिम प्रकर्ष को प्राप्त होजाती है, उसी प्रकार व्यवहार काल की सूक्ष्मता भी तरतम अनुसार अभव्यों का अनाद्यनन्त काल, सिद्ध परमात्मा होचुके भगवान् श्री ऋषभदेव का साद्यनन्त काल लोक प्रदेश परिमितकाल, सूच्यंगुल, कल्प, पल्य, कोटिपूर्व, वर्ष मास दिन, घड़ी, लव, उच्छ्वास, आवलि, आवलि का असंख्यातवां भाग, आदि इन कालों में प्रकर्ष को प्राप्त होरही सन्ती एक समय पर जाकर अन्तिम विश्राम लेता है, यह समय सर्वोत्कृष्ट परम सूक्ष्म होरहा काल विशेष है।

यद्यपि एक समय में परमाणु चौदह राजू गमन करजाती है, अतः समय के भी इस नीचे से चली परमाणु के मध्यमें रत्नप्रभा, ऋतुविमान, ब्रह्मस्वर्ग, सर्वार्थसिद्धि उपरिम तनवातवलय, आदि में पहुँचने की अपेक्षा अनेक सूक्ष्म भेद किये जा सकते हैं, तथापि जगत् का उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यशाली कोई भी पूरा कार्य एक समय से कमती काल में नहीं होसकता है, अतः परम निरुद्ध काल का अंश समय ही माना जाता है जैसे कि छह ओर से छह परमाणुओं के बन्ध होने योग्य पैलों के होने पर भी एक परमाणु को अनादि अनन्त काल में उससे छोटा टुकड़ा नहीं होने के कारण अन्तिम लघु अवयव मान लिया जाता है अनेक परमाणु के पिण्ड जैसे द्व्यणुक, उत्संज्ञासंज्ञ, त्रसरेणु, घट, आदि स्कन्ध हैं

उसी प्रकार समयों के पिण्ड आवलि, दिन, वर्ष, कल्पकाल आदि हैं अन्तर इतना ही है, कि परमाणुओं की दैशिक प्रत्यासत्ति अनुसार पिण्ड होकर बने हुये द्वयणुक, घट, पर्वत, आदि स्कंध, तो वास्तविक पुद्गल पर्याय स्वरूप हैं किन्तु समयों कि कालिक प्रत्यासत्ति अनुसार द्वारा बना कर कल्पित किये गये आवलि, वर्ष, पल्य, आदि व्यवहार काल तो वस्तुभूत किसी द्रव्य की उत्पाद व्यय ध्रौव्य शाली अनुजीवी पर्यायें नहीं हैं। हां व्यवहार नय द्वारा ज्ञेय पदार्थ अवश्य हैं।

'दव्वपरि वट्ट रूपो जो सो कालो हवेइ ववहारो' (द्रव्यसंग्रह) इस सिद्धान्त अनुसार ऋतु परिवर्तन, सूर्यगति भूविकार नियति, आदि कारणों से हुये द्रव्य परिवर्तन को यदि व्यवहार काल माना जाय तब तो वे द्रव्यों की मुख्य पर्याय हैं। यों इस सिद्धान्त का विवेक कर लेना चाहिये जिस काल के समय अनन्त हैं वह काल अनन्त समयों वाला समझ लेना चाहिये मुख्य काल और व्यवहार काल दोनों की अनन्त समयों से सहित पने की उपपत्ति की जा सकती है।

पर्यायतो द्रव्यतो वा व्यवहारतः परमार्थतो वेतिशंकायामिदमुच्यते ।

यहां कोई विनीत शिष्य जिज्ञासा प्रकट करता है कि वह काल अनन्त समयों वाला क्या पर्याय से है ? अथवा क्या द्रव्य रूप से काल अनन्त समय वाला है ? । या व्यवहार की अपेक्षा काल के अनन्त समय बताये गये हैं ? अथवा क्या परमार्थ रूप से वह काल अनन्त समयवान् है ? बताओ इस प्रकार शंकायें उपस्थित होने पर ग्रन्थकार द्वारा यह अग्रिम वार्तिक यों कहा जाता है कि—

सोनंतसमयः प्रोक्तो भावतो व्यवहारतः ।
द्रव्यतो जगदाकाशप्रदेशपरिमाणकः ॥ १ ॥

भाव यानी पर्याय से वह काल सूत्रकार करके अनन्तसमयवाला बहुत अच्छा कहा जा चुका है अतः व्यवहार से पुद्गल आदि अनन्त पदार्थों की न्यारी न्यारी जाति अनुसार हुईं वर्तनाओं की प्रयोजक होरहीं अनन्त शक्तियों का धारण करने के एक कालाणु भी अनन्त समय वाला यानी अनन्त शक्ति वाला कह दिया जाता है, द्रव्यरूप से काल अनन्त नहीं है। किन्तु सात राजू लम्बी जगत् श्रेणी के घन प्रमाण लोकाकाशके बराबर संख्यापरिमाण को धाररहा है।

अर्थात्—लोकाकाश के प्रदेशों बराबर काल द्रव्य असंख्यातासंख्यात हैं अन्य द्रव्यों के समान कालाणु भी प्रतिक्षण एक पर्याय के धारण अनुसार भूत, वर्तमान, भविष्य, कालों की अनन्त परिणतियों वाली है। यद्यपि वस्तुतः विचारा जाय तो समय भी व्यवहार काल है जो कि एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश पर मन्दरूप से गमन कर रही परमाणु की क्रिया द्वारा कल्पित किया गया है, तथापि समय का अर्थ काल की पर्यायें या वर्त्त यित्री शक्तियें कर अनन्त समयों वाला परमार्थ काल भी होजाता है।

भावः पर्यायस्तेनानंतसमयः कालोनंतपर्यायवर्तनाहेतुत्वात् । एकैको हि कालाणुरनंतपर्यायान् वर्तयते प्रतिक्षणं शक्तिभेदान्नान्यथा । ततोनंतशक्तिः सनंतसमयः व्यवहारतोऽ

भिधियते समयस्य व्यवहारकालत्वादावलिकादिवत् ।

भाव का अर्थ पर्याय है उस पर्याय करके अनन्त समयोंवाला कालद्रव्य कहा जाता है क्योंकि जीव आदि अनन्त पदार्थों के पर्यायों को वर्तना का हेतु वह काल द्रव्य है, जब कि एक एक कालाणु

भी लोकाकाश में प्रवर्त रहे अनन्त पर्यायों की वर्तनाओं को करा देती है, एक द्रव्य अपनी अपनी भिन्न भिन्न शक्तिओं से प्रत्येकक्षण में युगपत् अनेक कार्यको कर सकता है अन्यथा यानी विभिन्न शक्तियों के बिना वह अनेक कार्योंका सम्पादन नहीं कर सकता है,'यावन्ति कार्याणितावन्ति स्वभावान्तराणि तथा परिणामात्' अष्टसहस्री मे इस सिद्धान्त को अच्छा पुष्ट किया है, बात यह है कि कारण में शक्तिभेद माने बिना उस एक कारण से अनेक कार्यों का उत्पाद होना असम्भव है, जैसे कि मंत्र से संस्कृत की गयी अग्नि एक पुरुष को जला देती है, और वही आग दूसरे पुरुष को नहीं भुरसाती है, सुशील जीव के लिये सर्प माला होजाता है, जब कि कुशीलपुरुष के लिये वही भयंकर सर्प है, न जाने किस पापी जीव को निमित्त पाकर मार्ग में कांटे कंकड़ फैल जाते हैं और किसी जीव के पुण्य अनुसार वे कांटे कंकड़ तितर बितर होजाते हैं एक मेघ जल से अनेक प्रकार के कार्य होजाते हैं यहां भी जल में अनेक कार्यों को उपजाने वाली अनेक शक्तियां माननी पड़ेंगी खेत की मिट्टी अनेक वनस्पतियों स्वरूप परिणमती है, उस की अन्तरंग में कादृश शक्तियों के बिना सभी कार्य रुक जाते हैं जैसे की बीज बो देने पर भी ऊपर की मिट्टी या जल गयी मट्टी अनेक वनस्पतियों को उत्पन्न नहीं करपाती है, इसी प्रकार घाम, वायु उर्जिरिया आदि में अनेक कार्यों की प्रयोजक होरही नाना शक्तियां माननी पड़ती हैं ।

यद्यपि कालाणु द्रव्य परिशुद्ध है उसमें विभाव परिणतियां नहीं होती हैं तथापि कालाणु की पर्याय में अनेक स्वभावों का उत्पाद, व्यय होते रहना मानना पड़ता है जो ही कालाणु किसी जीव को मोक्षमार्ग में लग जाने की वर्तना करा रही है वही अन्य जीव को नरक मार्ग में प्रवर्तानेकी उदासीन कारण होजाती है इस ही कारण वन्दनीय नहीं है नीलांजना के नृत्य में हजारों प्रेक्षक मनुष्यों के हृदय में शृंगार रस को उपजाने की शक्ति है तो साथ ही वीतराग विज्ञानी भगवान् ऋषभदेव के अन्तःकरण में वैराग्यभाव उपजाने की शक्ति भी परिवर्तनात्मक नृत्य में मानी जाती है शक्ति के बिना कार्य को कौन करे ? यों अनेक दृष्टान्तों से एक कालाणु में अनन्तशक्तियां सिद्ध कर दी जाती हैं तिसकारण अनन्तशक्ति वाला होरहा सन्ता वह कालाणुद्रव्य ही व्यवहार से अनन्त समयों वाला कह दिया जाता है, कारण कि आवलि, दिन, वर्ष आदि के समान समय भी व्यवहार काल है, अतः समय का प्रसिद्ध अर्थ एकक्षण करने से अनन्त क्षणों वाला कालाणु द्रव्य नहीं होसकता था किन्तु यहां 'कालश्च' इस निश्चय काल द्रव्य के प्रतिपादक सूत्र के लगे हाथ पीछे 'सो ऽनंतसमयः' सूत्र कहा गया है, अतः निश्चय काल में अनन्त समय सहितपना तभी अच्छा जचता है, जब कि समय का अर्थ शक्तियां कर लिया जाय अनन्त शक्ति वाले काल द्रव्य को व्यवहार से अनन्त समय वाला कहा जा सकता है ।

द्रव्यतस्तु लोकाकाशप्रदेशपरिमाणकोऽसंख्येय एव कालो मुनिभिः प्रोक्तो न पुनरेक एवाकाशादिवत्, नाप्यनंतः पुद्गलात्मद्रव्यवत् प्रतिलोकाकाशप्रदेशं वर्तमानानां पदार्थानां वृत्तिहेतुत्वसिद्धेः ? लोकाकाशाद्बहिस्तदभावात् ।

द्रव्य सद्भाव से विचार करने पर तो वह काल लोकाकाश के असंख्यातासंख्यात प्रदेशों बरोबर परिमाण (संख्या) का धारी होरहा असंख्येय ही मुनी महाराजों ने बहुत अच्छा कहा है। " लोयायासपदेसे इक्केक्के जेट्ठिया हु इक्केक्का। रयणाणं रासी मिव ते कालाणु असंखदव्वाणि "। किन्तु काल द्रव्य फिर आकाश, धर्म, अधर्म, इन तीन द्रव्यों के समान (व्यतिरेकदृष्टान्त) एक ही नहीं है तथा पुद्गलद्रव्य या आत्म द्रव्यों के समान वह काल अनन्त द्रव्यें भी नहीं हैं। अर्थात्— जैसे धर्म, अधर्म, आकाश, ये तीन द्रव्यें एक एक हैं वैसा काल द्रव्य एक ही द्रव्य नहीं है। अथवा जैसे जीव और पुद्गल प्रत्येक द्रव्य अनन्तानन्त हैं वैसे कालाणुयें अनन्तानन्त नहीं हैं किन्तु लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेशपर वर्त रहे अनेक पदार्थों की वर्तना का हेतु होने के कारण कालाणु द्रव्य एक एक प्रदेश पर ठहर रहे एक एक कालाणु द्रव्य अनुसार अनेक हैं यों असंख्याते काल द्रव्यों की सिद्धि होजाती है। लोकाकाश से बाहर उन कालाणुओं का अभाव है असम्भवद्बाधक होने से आगम प्रमाण द्वारा और कुछ अनुमानों से भी अत्यन्त परोक्ष पदार्थों की सिद्धि होजाती है।

कथमेवमलोकाकाशस्य वर्तनं कालकृतं युक्तं तत्र कालस्यासंभवादिति चेत् अत्रोच्यते

यहां कोई प्रश्न करता है कि लोकाकाश से बाहर जब कालाणुयें नहीं हैं और कालाणुयें ही सम्पूर्ण द्रव्यों की वर्तनाओं को कराती हैं तो बताओ फिर अलोकाकाश की वर्तना होना भला काल से किया गया किस प्रकार युक्तिपूर्ण कहा जा सकता है ? क्योंकि वहां अलोकाकाश में काल द्रव्य का असम्भव है। यों प्रश्न करने पर तो इस प्रकरण में ग्रन्थकार द्वारा यह अग्रिम वार्तिक कहा जाता है।

लोकाद्बहिरभावे स्याल्लोकाकाशस्य वर्तनं ।
तस्यैकद्रव्यतासिद्धेर्युक्तं कालोपपादितं ॥ २ ॥

लोक से बाहर कालाणुओं का अभाव होने पर भी लोकाकाश का वर्तना तो कालाणुओं करके हुआ अभीष्ट किया ही गया है। जब कि उस लोकाकाश, और अलोकाकाश का एक अखण्ड द्रव्यपना सिद्ध है इस कारण उस अलोकाकाश की वर्तना भी यहां ही के कालाणुओं द्वारा उपपन्न करा दी जाती है। बात यह है कि लोक और अलोक के बीच में कोई भीत नहीं पड़ी हुयी है और भींत या वज्रपर्वत भी पड़ा हुआ होता तो अप्राप्यकारी कारणों के कार्यों में वह दीन बज्र बिचारा कैसा प्रतिबन्ध कर सकता था। तैजस, कार्मण, शरीर ही अनेक योजनों मोटी शिलाओं के बीच में होकर निकल जाते हैं पुण्य, पाप, या तीर्थंकर प्रकृति अप्राप्य होकर ही असंख्य योजनों दूर के कार्यों को कर रहे हैं फिर कारणों की शक्तियों का परामर्श करते हुये डर किसका है इसी प्रकार त्रसनाली के अस्त

में या मानुषोत्तर पर्वत के ऊपर कोई बिजली का करन्ट नहीं भरदिया है। तथा यहां प्रकरण में तो कोई खटका भी नहीं है।

जब कि लोक, अलोक, दोनों ही एक अखण्ड आकाश द्रव्य है लोकाकाश को जब कालाणुयें वर्ता रही हैं तो सम्पूर्ण आकाश उनके द्वारा वर्तेगा वीणा के तार में एक स्थल पर आघात होने से सम्पूर्ण तार झनकार करता है केवल धर्म, अधर्म, द्रव्यों की व्यंजन पर्यायों अनुसार " सत्तेक्कपंच इक्का मूले मज्झेतहेव बम्भते, लोयंते रज्जूये पुव्वावर होइ वित्थारो " " दक्खिण उत्तर दो पुण सत्तवि रज्जू हवेइ सव्वत्थ " यों उस अखण्ड आकाश में ही लोकाकाश की कल्पना कर ली गयी है उतने ही आकाश में प्रत्येक प्रदेशपर एक एक वर्तरहीं असंख्याती कालाणुयें भरी हुई हैं " लोकाद्बहिरभावेऽप्यालोकाकाशस्य वर्तनं " यों पाठ अच्छा दीखता है लोक से बाहर कालाणु का अभाव होने पर भी इस अलोकाकाश का वर्त जाना तो उस आकाश के अखण्ड एक द्रव्यपन की सिद्धि होजाने से उन्हीं कालाणुओं द्वारा किया जाकर युक्तिपूर्ण उपपादन किया जा चुका समझ लिया जाय।

न ह्यलोकाकाशं द्रव्यांतरमाकाशस्यैकद्रव्यत्वात्तस्य लोकस्यांतर्बहिश्च वर्तमानस्य वर्तनं लोकवर्तिना कालेनोपपादितं युक्तं, न पुनः कालानपेक्षं सकलपदार्थवर्तनस्यापि कालानपेक्षत्वप्रसंगात् न चैतदभ्युपगंतुं शक्यं, कालास्तित्वसाधितत्वात्।

अलोकाकाश कोई निराला स्वतंत्र द्रव्य नहीं है क्योंकि सम्पूर्ण आकाश एक ही द्रव्य है लोक के भीतर और बाहर सर्वत्र विद्यमान होरहे उस अखण्ड आकाश की वर्तना करना तो लोकाकाश में वर्त रहे कालद्रव्य करके हुआ समुचित उपपादन प्राप्त होजाता है अलोकाकाश की वर्तना फिरकाल द्रव्य की नहीं अपेक्षा कर नहीं होसकती है अन्यथा सभी जीव आदि पदार्थों की वर्तना होजाने को भी काल की नहीं अपेक्षा रखते हुये हीसम्भव जाने का प्रसंग आजावेगा किन्तु यह स्वीकार नहीं कर सकते हो कारण कि अखिलपदार्थों की वर्तना रूप उपकार करने के हेतु होरहे काल का अस्तित्व साधा जा चुका है " वर्तनापरिणामक्रियापरत्वापरत्वे च कालस्य" इस सूत्र के ऐदंपर्य को समझा दिया गया है।

ननु च जीवादीनि षडेव द्रव्याणि गुणपर्ययवत्वान्यथानुपपत्तेरित्ययुक्तं गुणानामपि द्रव्यत्वप्रसंगात्तेषां गुणपर्ययवत्वप्रतीतेरित्यारेकायामिदमाह।

यहां कोई तर्क शाली पण्डित प्रश्न उठाते हैं कि गुणों और पर्यायों से सहितपना अन्यथा यानी द्रव्यपन के बिना नहीं बन सकता है इस अविनाभावी हेतु से आप जैनों ने जो जीव, पुद्गल, आदि छह ही द्रव्योंको अभीष्ट किया है यह आपका कहना तो अनुचित है क्योंकि यों तो इस हेतु अनुसार चेतना, रूप, आदि गुणों को भी द्रव्यपन का प्रसंग आजावेगा समवाय सम्बन्ध से नहीं सही एक समवाय नामक सम्बन्ध से उन गुणों को भी गुणों से सहितपना प्रतीत होरहा है और पर्यायें तो

गुणों में प्रवर्तती ही हैं अतः गुणों और पर्यायों से सहितपन की प्रतीति होजाने से गुणों को भी द्रव्य-पना प्राप्त हुआ यों व्यभिचार या अतिव्याप्ति दोष आता दीखता है इस प्रकार आशंका प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अगले सूत्र को कहते हैं।

द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः ॥ ४१ ॥

जिनका आश्रय द्रव्य है और जो स्वयं गुणों से रहित हैं वे गुण हैं। अर्थात् सभी गुण अविष्वग्भाव सम्बन्ध से द्रव्य में ठहरते हैं पुनः उन गुणों में दूसरे गुण निवास नहीं करते हैं अतः गुणों के गुण सहितपन का लक्ष्य कर उठायी गयी व्यभिचार दोष की शंका का समाधान होजाता है।

आश्रयशब्दोऽधिकरणसाधनः कर्मसाधनो वा द्रव्यशब्द उक्तार्थः द्रव्यमाश्रयो येषां ते द्रव्याश्रयाः, निष्क्रांता गुणेभ्यो निर्गुणाः। एवंविधा गुणाः प्रतिपत्तव्याः न पुनः यथा

यहां सूत्र में पड़े हुये आश्रय शब्द को अधिकरण में ण्य प्रत्यय कर साध लिया जाय 'यत्र गुणा आश्रयन्ते स आश्रयः" जिस अधिकरण में गुण आश्रय ले रहे हैं वह आश्रय है द्रव्य है आश्रय जिनका वे द्रव्याश्रय माने गये गुण हैं अथवा कर्म में ण्य प्रत्यय कर पुल्लिग आश्रय शब्द का साधन कर लिया जाय। "यो गुणै राश्रियते स आश्रयः"। यहां अन्तर इतना ही पड़ जाता है कि गुणा यत्र आश्रयन्ते यों निरुक्ति करने पर गुणों की स्वतंत्रता झलकती है और "गुणैराश्रियते" यों निर्वचन करने से गुणों को परतंत्रता की ओर जाना पड़ता है। बात यह है कि माता और पुत्र के समान द्रव्य और गुणों का स्वतंत्रता, परतंत्रता, इन दोनों ढंगों से सम्बन्ध होरहा है वह परतंत्रता भी बड़ी मीठी है जो कि स्व की रक्षा करती हुयी स्व को उचित सन्मार्ग पर ले जाने के लिये प्रयोजित करती रहती हैं। श्वसुर, माता पिता, गुरु, जिनागम इनके अधीन रहने में बढ़िया ठोस आनन्द छिपा हुआ है। साथ ही वह रूखी स्वतंत्रता भी कानी कौड़ी को नहीं है जो कि अनर्गल प्रवृत्ति का कारण होवे।

छोटा बच्चा स्वाधीन भी है और माता के पराधीन भी है इसी प्रकार स्नेह वत्सला माता भी स्वाधीनता से बच्चे का पालन, पोषण या प्रेम-व्यवहार करती हुयी उस बच्चे के पराधीन भी है माता के दूध की वृद्धि भी बालक के पुण्य अनुसार हो रही है। यही दशा द्रव्य और गुणों की है जिस प्रकार शरीर में आत्मा ठहरती है या आत्मा को शरीर में ठहरना पड़ता है तिस प्रकार यहां वस्तु परिणति अनुसार हुयी कारकों की विवक्षा से स्वातंत्र्य या पारतंत्र्य विचार लिये जाते हैं। प्रकरण में द्रव्य और गुणों में आश्रय आश्रयिभाव का सूक्ष्मरीत्या गवेषण कर लेना चाहिये। द्रव्य शब्द का अर्थ हम पहिले कह चुके है अतः जिन गुणों का आश्रय द्रव्य है वे गुण विचारे द्रव्याश्रय हैं तथा जो गुणों से निष्क्रान्त यानी विरहित होरहे हैं वे निर्गुण हैं इस प्रकार के द्रव्याश्रय और निर्गुण होरहे गुण समझ लेने चाहिये किन्तु फिर अन्य प्रकारों से गुणों की परिभाषा करना निर्दोष नहीं पड़ेगा।

तत्र द्रव्याश्रया इति विशेषणवचनाद्गुणानां किमवसीयत इत्युच्यते ।

उस गुण के प्रतिपादक लक्षण सूत्र में "द्रव्याश्रया,, इस विशेषण का कथन करने से गुणों का क्या स्वरूप निर्णीतकर लिया जाता है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार करके अगली वार्त्तिक द्वारा यह समाधान कहा जा रहा है उसको सुनिये ।

द्रव्याश्रया इति ख्यातेः सूत्रेऽस्मिन्नवसीयते
गुणाश्रया गुणत्वाद्या न गुणाः परमार्थतः ॥ १ ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इस सूत्र में "द्रव्याश्रया" इस विशेषण का प्रकृष्ट कथन करने से यह निर्णीत कर लिया है कि गुणों के आश्रित होरहे गुणत्व, रूपत्व, द्रव्याश्रयत्व, आदि स्वभाव तो वास्तविक रूप से गुण नहीं हैं क्योंकि वे स्वभाव गुणों के आश्रित हैं और सूत्रकार ने द्रव्य के आश्रित होरहे को गुण कहा है अतः अतिव्याप्ति दोष टल जाता है ।

न हि गुणत्व सर्वज्ञज्ञेयत्वधर्मा गुणाश्रया गुणा शक्यव्यवस्थाः, परमार्थतस्तेषां कथंचिद्गुणेभ्योनर्थांतरतया गुणत्वोपचारात् । तत्त्वतस्तेषां गुणत्वे गुणानां द्रव्यत्वप्रसंगाद्गुण-गुणिभावव्यवहारव्यवस्थाविरोधात् ।

जिनके आश्रय गुण हैं वे गुणत्व या सर्वज्ञ भगवान् करके जानने योग्यपन आदि धर्म भी गुण होजाय यह व्यवस्था नहीं की जा सकती है क्योंकि गुणों के उन धर्मों का परमार्थ रूप करके गुणों से कथंचित् अभेद होजाने के कारण गुणपन का उपचार होरहा है यदि वास्तविक रूप से उन धर्मों को गुणपना इष्ट कर लिया जायगा तो गुणों को द्रव्य हो जाने का प्रसंग आजावेगा क्योंकि जैसे गुणत्व गुण में है उसी प्रकार गुण द्रव्य में है । और ऐसा होजाने से गुणगुणीभाव के व्यवहार की व्यवस्था बनी रहने का विरोध होजावेगा । अर्थात्–द्रव्य गुणी है और उसके रूप, चेतना, आदिक परिणामी गुण है यह नियत व्यवस्था है यदि गुणों में ठहर रहे स्वभावों को और उनमें भी ठहर रहे अन्य अनेक अपरिणामी धर्मों को गुण कह दिया जायगा तो गुण गुणी भाव का व्यवहार तात्त्विक रूप से नहीं टिक सकेगा । गुणवाला द्रव्य होता है जब कि गुणत्व धर्म भी गुण हो जायगा तब तो गुणत्व धर्म वाला गुण विचारा द्रव्य बन बैठेगा जो कि इष्ट नहीं है ।

द्रव्येष्विषु गुणास्तदुपचरिता एव भवंतु विशेषाभावादित्ययुक्तं, क्वचिन्मुख्यगुणा-भावे तदुपचारायोगात् । ततो द्रव्याश्रया इति वचनाद्द्रव्याश्रयाणां गुणत्वादीनां गुणत्वं व्य-वर्तितमवसीयते ।

यदि यहां कोई यह शंका करे कि जैसे गुणों में पाये जारहे गुणत्व, रूपत्व, आदि धर्मों को उपचार से गुणपना है उसी प्रकार द्रव्यों में ठहर रहे सुख, रूप, आदि गुण भी उपचरित ही होजाओ

क्योंकि गुणों में ठहर रहे वे धर्म गुणों के स्वभाव हैं उसी प्रकार द्रव्यों में ठहर रहे गुण भी द्रव्यों के स्वभाव हैं कोई अन्तर नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कहना तो युक्ति रहित है क्योंकि कहीं पर भी मुख्य गुणों को माने बिना उनका अन्यत्र उपचार करने का अयोग है।

प्रसिद्ध अग्नि का नटखटी, चंचल, बालक में उपचार किया जा सकता है अप्रसिद्ध अश्वविषाण का कहीं भी उपचार होना नहीं देखा जाता है तिस कारण "द्रव्याश्रया,, इस वचन से द्रव्य के आश्रित नहीं होरहे गुणत्व, रसत्व, गंधत्व आदि के गुणपन की व्यावृत्ति की जा चुकी निर्णीत हो जाती है।

निर्गुणा इति वचनात् किं क्रियते इत्याह

यहां कोई जिज्ञासु पूछता है कि सूत्रकार ने निर्गुणा इस पद का प्रयोग करने से क्या पदकृत्य किया है ? बताओ इस प्रकार आकांक्षा प्रवतने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक द्वारा इसका समाधान करते हैं।

निर्गुणा इति निर्देशात्कार्यद्रव्यस्य वार्यते।
गुणभावः परद्रव्याश्रयिणोपीति निर्णयः ॥ २ ॥

इस सूत्र में "निर्गुण" ऐसा कथन करने से घट, पट, आदि कार्य द्रव्यों के गुणपन का निवारण कर दिया जाता है। भले ही वे कार्य द्रव्य अपने कारण होरहे दूसरे द्रव्यों के आश्रित होरहे हैं तो भी वे घट आदिक पदार्थ गुणसहित है अतः गुण का पूरा लक्षण घटित नहीं होने से कार्य द्रव्य में अतिव्याप्ति नहीं हुई। अर्थात्—जैसे गुणो से रहित होरहे भी गुणत्व आदि की "द्रव्याश्रया" कह देने से व्यावृत्ति होजाती है उसी प्रकार स्वकार्य कारण द्रव्यों के आश्रित होरहे भी कार्य द्रव्यों का गुणपना इस निर्गुण पद के कथन से निवारित होजाता है लक्षण के घटका वयव होरहे पदो का लक्ष्य स्वरूप का निर्देश करना तो गौण फल है हां इतर अलक्ष्यों की व्यावृत्ति करना उनका प्रधान फल है।

द्रव्याश्रया गुणा इत्युच्यमाने हि परमाणुद्रव्याश्रयाणां द्व्यणुकादिकार्यद्रव्याणां गुणत्वं प्रसज्येत तन्निर्गुणा इति वचनाद्विनिवार्यते तेषां गुणित्वेन द्रव्यत्वसिद्धेः

"द्रव्याश्रयागुणाः" द्रव्य के जो आश्रित होरहे हैं वे गुण हैं इतना ही यदि गुणों के प्रतिपादक लक्षण सूत्र का कथन किया जाना माना जायगा तब तो परमाणु द्रव्यों के आश्रित होरहे द्व्यणुक, त्र्यणुक, आदि द्रव्यों के गुणपन का प्रसंग अवश्य होजावेगा। किन्तु सूत्रकार करके "निर्गुण" ऐसा कण्ठोक्त पद प्रयोग कर देने से उस प्रसंग का विशेष रूपेण निवारण कर दिया गया है क्योंकि वे द्व्यणुक, त्र्यणुक, घट, पट, आम, अमरूद, आदि कार्य द्रव्यों का तो रूप, रस आदि गुणों से सहित होने के कारण द्रव्यपना सिद्ध है जो की "गुणपर्ययवद्द्रव्यं" इस सूत्र से प्रसिद्ध कर दिया गया हैं अतः द्व्यणुक आदि द्रव्य विचारे निर्गुण नहीं है गुणवान् हैं अतः गुण के लक्षण में अतिव्याप्ति दोष नहीं हुआ।

अथवा रूप, चेतना गतिहेतुत्वादयो (पक्ष) गुणाः (साध्य) द्रव्याश्रयत्वे सति निर्गुणत्वात् (हेतु) इस अनुमान के हेतु का कार्य द्रव्यों से व्यभिचार दोष नहीं आपाया है ।

एतेन घटसंस्थानादीनां गुणत्वं प्रत्युक्तं तेषां पर्यायत्वात् ।

इस उक्त कथन करके यानी "द्रव्याश्रयाः" और निर्गुणा,, इन दोनों पदों की कीर्ति कर देने से घट की आकृति या मतिज्ञान आदि का गुणपना भी खण्डित कर दिया गया है क्योंकि वे आकृति घटज्ञान,ये सब पर्यायें हैं प्रदेशवत्त्व गुण का विकार आकृति है चेतना गुणका परिणाम मतिज्ञान है। अतः गुणों की पर्यायें गुणों में रहती हैं द्रव्यों में नहीं । यदि पुनरपि घट की संस्थान आदि पर्यायों को घट आदि द्रव्यों के आश्रित होते सन्ते गुणरहित स्वीकार किया जायगा तब तो "द्रव्याश्रया" इस पद की विशेष व्याख्या से ही उक्त अतिप्रसंग दोष टल जायगा "ये द्रव्यं" नित्यमाश्रित्य वर्तन्ते त एव गुणाः, जो नित्य ही द्रव्य के आश्रित होकर ठहरते हैं वे ही गुण हो सकते हैं पर्यायें तो कदाचित् ही द्रव्यमें ठहरती हैं क्योंकि "क्रमभाविनः पर्यायाः ।" "सहभाविनो गुणाः" ये गुण और पर्यायों के सिद्धान्त लक्षण हैं ।

कः पुनरसौ पर्याय इत्याह ।

यहां प्रश्न उठता है कि गुण का लक्षण समझ लिया है कई वार परिणाम शब्द आया है "गुणपर्ययवद्द्रव्यं" सूत्र के गुण का व्याख्यान कर चुकने पर पर्यायका लक्षण करना क्रम प्राप्त है अतः बताओ को वह पर्याय फिर क्या है ? ऐसी तत्व निर्णिनीषा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं ।

तद्भावः परिणामः ॥ ४२ ॥

वे धर्म आदिक द्रव्य जिस स्वरूप करके होते रहते हैं वह तद्भाव है वही परिणाम यानी पर्याय कहा जाता है । अर्थात्-जीव, पुद्गल, आदि द्रव्यों के या चेतना, रूप, गतिहेतुत्व, आदि गुणों के तद्भाव स्वरूप विवर्तों को परिणाम कहते हैं ।

जीवादीनां द्रव्याणां तेन प्रतिनियतेन रूपेण भवनं तद्भावः तेषां द्रव्याणां स्वभावो वर्तमानकालतयानुभूयमानस्तद्भावः परिणामः प्रतिपत्तव्यः । सच—

जीव आदि द्रव्यों का उस प्रतिनियत होरहे स्वरूप करके अन्तरंग, वहिरंग, कारणवश जो परिणमन है वह तद्भाव है । इसका तात्पर्य यह है कि उन उन द्रव्यों का विवक्षित वर्तमान काल में प्रवर्त रहे स्वरूप करके अनुभव किया जारहा स्वभाव ही तद्भाव है तद्भाव को यहाँ परिणाम समझ लेना चाहिये और यों वह क्या निर्णीत हुआ इसको अग्रिम वार्तिक द्वारा समझिये ।

तद्भावः परिणामोत्र पर्यायः प्रतिवर्णितः।
गुणाच्च सहभुवो भिन्नः क्रमवान् द्रव्यलक्षणम् ॥ १ ॥

यहां " तद्भावः परिणामः " इस सूत्र द्वारा पर्याय का प्रति विशेष रूप से वर्णन किया है तथा वह क्रम वाला पर्याय उस सहभावी गुण से भिन्न है। यों इन दोनों सूत्रों से गुण और पर्याय का लक्षण कर "गुणपर्ययवद्द्रव्यं" इस द्रव्यके प्रतिपादक लक्षण सूत्रका बखान कर दिया गया है। अर्थात् सहभावी गुण से क्रमभावी परिणाम निरालेहैं अतः गुणों और पर्यायों दोनोंसे सहित होरहे पदार्थ को द्रव्य कहना समुचित है।

पूर्वस्वभावपरित्यागाजहद्वृत्तोत्पादो द्रव्यस्योत्तराकारः परिणामः स एव पर्यायः क्रमवान् द्रव्यलक्षणं। [illegible] प्रतिवर्णितस्तस्य सहभावित्वात्कथंचिद्भिन्नत्वेन व्यवस्थानात्।

पूर्व स्वभावों का परित्याग करते हुये द्रव्य का कालान्तर स्थायी स्वभाव की अन्वित वृत्तिता का परित्याग नहीं करना स्वरूप अ हद्वृत्ति के रहते हुये उत्पाद होरहा सन्ता जो उत्तर वर्त्ती आकार का परिग्रह है वही परिणाम है वही पर्याय क्रमवान् होरहा सन्ता द्रव्यका लक्षण है। किन्तु वह पर्याय तो गुण नहीं कहा गया है कारण कि उस गुण की सहभावीपना होने के कारण पर्यायों से कथंचित् भिन्नपने करके व्यवस्थित किया गया है। अर्थात्–"पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितलक्षणः परिणामः" और "अन्वयिनः वा सहभाविनः गुणाः" यों भिन्न भिन्न लक्षणों अनुसार पर्याय और गुणों की व्यवस्था होरही है कथंचित् भेद, अभेद, होने के कारण परिणाम के शरीर में गुणों का ध्रौव्यपना अन्वित होरहा है और गुणों के उदर में पर्यायों का विकारशालित्व ओत प्रोत प्रविष्ट है फिर भी "लक्खणदो हवदि तस्सणाणत्तं" मानना ही पड़ता है।

नन्वेवं नयद्वयविरोधस्तृतीयस्य गुणार्थिकनयस्य सिद्धेरित्यारेकायामाह।

यहां किसी का प्रश्न उठता है कि इस प्रकार सिद्धान्त में माने गये द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक यों दो नयों के स्वीकार किये जाने का विरोध आता है क्योंकि तीसरे गुणार्थिक नय की आपके कहने से सिद्धि हो जाती है। अर्थात्–जिस नय का प्रयोजन द्रव्य को जान लेना है वह द्रव्यार्थिक नय है और पर्यायों को ज्ञान कर लेना जिसका अर्थ है वह पर्यायार्थिक है जब जैनों ने द्रव्य के आधेय हो रहे पर्यायों को जान लेने के लिये स्वतंत्रतया पर्यायार्थिक नय का निरुपण किया है तो साथ ही द्रव्योंमें वर्तरहे गुणों को विषय करने वाला तीसरा गुणार्थिक नय का भी पृथक निरूपण करना चाहिये गुणों के जान लेने को प्रयोजन सिद्धि भी सब को अभिप्रेत है इस प्रकार दोष आशंका प्रवर्तने पर श्री विद्यानन्दी आचार्य अग्रिम वार्तिकों को कहते हैं।

पर्याय एव च द्वेधा सहक्रमविवर्त्तितः।
शुद्धाशुद्धत्वभेदेन यथा द्रव्यं द्विधोदितं ॥ २ ॥
तेन नैव प्रसज्येत नयद्वैविध्यबाधनं।
संक्षेपतोन्यथा त्र्यादिनयसंख्या न बाध्यते ॥ ३ ॥

सिद्धान्त यह है कि सहभाव और क्रमभाव से विवर्त को प्राप्त होरहा पर्याय ही इस कारण दो प्रकार माना गया है, अतः उत्पाद, व्यय, वाली क्रम भावी पर्यायों के समान सहभावी गुण भी पर्यायों में ही परिगणित हैं ऐसी दशा में पर्यायार्थिक नयें ही गुणों को भी विषय कर लेती हैं न्यारे गुणार्थिक नयके मानने की आवश्यकता नहीं है जिस प्रकार कि शुद्धपन अशुद्धपनके भेद करके द्रव्य दो प्रकार का कहा जा चुका है एक ही प्रकार की द्रव्यार्थिकनय करके शुद्ध द्रव्य और अशुद्ध द्रव्य दोनों विषयभूत होजाते हैं अतः यों द्रव्यार्थिकनय के दो भेद मानने की कोई आवश्यकता नहीं है उसी प्रकार पर्यायार्थिकनय से पर्यायों और गुणों दोनों के ग्रहण होजाने का प्रयोजन साध लिया जाता है पयः अर्थात्–पानी या दूध दोनों को एक ही पात्र द्वारा पिया जा सकता है, तिस कारण जैन सिद्धान्त में संक्षेप से अभीष्ट किये गये नयों के द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक यों द्विविधपन की बाधा का प्रसंग नहीं प्राप्त होसकेगा अन्यथा यानी संक्षेप से नहीं कह कर विस्तार से कथन करना चाहोगे तब तो नयों के प्रकारों की तीन, चार, पांच, छः, सात आदि संख्याति संख्याओं का भी निवारण नहीं किया जा सकता है। वस्तुओं में जितने भी अनन्तानन्त धर्म हैं उन सब का परिज्ञान कराने वाली अनन्ती नयें होसकती हैं यों श्रुतज्ञान के अंश स्वरूप नयों के विषयों का प्रतिपादन करना माना जाय तो जितने भी अर्थ वाचक शब्द हैं उतनी संख्यातीं नयें होसकती हैं अतः द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक नयों से गुणार्थिक नय को भले ही बढ़ा लिया जाय हम जैनियों को कोई अनिष्टापत्ति नहीं है।

संक्षेपतो हि द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति नयद्वयवचनं गुणवचनेन बाध्यते पर्यायस्यैव सहक्रमविवर्तनवशाद्गुणपर्यायव्यपदेशात् द्रव्यस्य निरुपाधित्वसोपाधित्ववशेनशुद्धाशुद्धव्यपदेशवत्। प्रपंचस्तु यथा।

उक्त वार्त्तिकों का विवरण यों है कि जिस कारण संक्षेप से द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक यों दो ही नयों का सिद्धान्त में निरूपण करना कोई गुणों का कथन करने पर बाधित नहीं होजाता है। अर्थात्– द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो नयों को मानने वाले जैन सिद्धान्तियों ने यदि द्रव्य के लक्षण में पर्यायों के साथ गुणों का भी निरूपण कर दिया है एतावता जैन सिद्धान्त में कोई बाधा नहीं आती है क्योंकि द्रव्य के साथ विवर्त करना और क्रम से विवर्त करना अथवा सहभावी अंशों और क्रमभावी अंशों की कल्पना इनकी अधीनता से पर्याय का ही गुण और पर्याय यह नाम निर्देश होजाता है, जैसे कि

द्रव्य का ही उपाधिरहितपन की अधीनता से ही शुद्धद्रव्य और विशेषणों से सहितपन के वश से अशुद्ध द्रव्य यों व्यपदेश होजाता है। देवदत्त कह देने से कुण्डलरहित और कुण्डलसहित दोनों ही अकुण्डल या कुण्डली देवदत्तों का परिग्रहण होजाता है हां उन नयों का विस्तार तो चाहे कितना भी बढ़ा लो जिस प्रकार कि शास्त्रों में वर्णित है उसको इस प्रकार समझा जा सकता है सुनिये।

शुद्धद्रव्यार्थिकोऽशुद्धद्रव्यार्थिकश्चेति द्रव्यार्थिको द्वेधा तथा सहभावीपर्यायार्थिकः क्रमभावी पर्यायार्थिकश्चेति पर्यायार्थिकोपि द्वेधा अभिधीयतां ततस्त्र्यादिसंख्या न वार्यत एव द्विभेदस्य पर्यायार्थिकस्यैकविधस्य द्रव्यार्थिकस्य विवक्षायां नयत्रितयसिद्धेः। पर्यायार्थिकस्यैकविधस्य द्रव्यार्थिकस्य द्विभेदस्य विवक्षायामिति कश्चित् द्वयोर्द्विभेदयोर्विवक्षायां तु नयचतुष्टयमिष्यते

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों का प्रपंच यों है कि शुद्ध द्रव्यार्थिक और अशुद्ध द्रव्यार्थिक इस प्रकार पहिला द्रव्यार्थिक नय दो प्रकार का है कर्म नोकर्मों से रहित शुद्ध आत्मा या पुद्गल परमाणुयें अथवा धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन शुद्ध द्रव्यों को विषय करने वाला शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है तथा क्रोधी आत्मा ज्ञानवान् आत्मा स्कंध आदि को जानने वाला अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है तिसी प्रकार पर्यायार्थिक नय भी सहभावी पर्यायार्थिक और क्रमभावी पर्यायार्थिक यों दो प्रकार का कथन कर लेना चाहिये सहभावी गुणों और क्रमभावी पर्यायों को जानते रहना इनका प्रयोजन है तिस कारण नयों की तीन, चार, पांच आदि संख्याओंका भी निवारण नहीं किया ही जाता है देखिये उक्त दो भेदों वाले पर्यायार्थिक नय और केवल एक प्रकार के द्रव्यार्थिकनय की विवक्षा करने पर नयों के तीन अवयव (भेद) भी सिद्ध होजाते हैं अथवा नयों की तीन संख्या को कोई विद्वान् यों परिभाषित करते हैं कि एक प्रकार की पर्यायार्थिकनय तथा शुद्धद्रव्यार्थिक और अशुद्ध द्रव्यार्थिक यों दो भेद वाली द्रव्यार्थिक नय की विवक्षा करने पर ये नयों के तीन भेद होजाते हैं इसी प्रकार उक्त दोनों नयों के शुद्ध द्रव्यार्थिक, अशुद्ध द्रव्यार्थिक, सहभावी पर्यायार्थिक और क्रमभावी पर्यायार्थिक यों दो दो भेदों की विवक्षा करने पर तो चारों प्रकारोंवाली नयें इष्ट करली जाती हैं। कोई सिद्धान्त बाधा नहीं है।

तेन नैगमसंग्रहव्यवहारविकल्पाद्द्रव्यार्थिकस्य त्रिविधस्य पर्यायार्थिकस्य चार्थपर्यायव्यंजनपर्यायार्थिकभेदेन द्विविधस्य विवक्षायां नयपंचकं शुद्धाशुद्धद्रव्यार्थिकद्वयस्य ऋजुसूत्रादिपर्यायार्थिकचतुष्टयस्य विवक्षायां नयषट्कं, नैगमादिसूत्रपाठापेक्षया नयसप्तकं भवति। नयानामष्टादिसंख्यापि न वार्यते। ततो न गुणेभ्यः पर्यायाणां कथंचिद्भेदेन कथनमयुक्तं येन गुणपर्ययवद्द्रव्यमिति द्रव्यलक्षणं निरवद्यं न भवेत्।

तिस ही कारण यानी विस्तार करके निरूपण कर देने से नय पांच, छः, सात, आठ, आदि भी होसकते हैं उनको यों सम्भालिये कि नैगमनय, संग्रहनय, व्यवहारनय इन भेदों से द्रव्यार्थिकनय के तीन प्रकार हैं तथा अर्थ पर्याय को विषय करने वाली अर्थपर्यायार्थिकनय और व्यंजनपर्याय को जान

रही व्यंजनपर्यायार्थिक नय के भेद करके पर्यायार्थिक नय के दो भेद हैं। यों तीन प्रकार द्रव्यार्थिक और दो प्रकार पर्यायार्थिक नय की विवक्षा करने पर नय पांच कह दिये जाते हैं। एवं शुद्ध द्रव्यार्थिक और अशुद्ध द्रव्यार्थिक यों दोनों द्रव्यार्थिकनयों की तथा ऋजुसूत्र शब्द, समभिरूढ, एवंभूत इन चारों पर्यायार्थिक नयों की विवक्षा करने पर इस ढंग से २ + ४= ६ नयों के छह अवयव होजाते हैं।

तथैव नैगम. संग्रह, आदि सूत्र के पाठ की अपेक्षा करके नयों के सात भेद भी होजाते हैं यानी नैगम, संग्रह, व्यवहार ये तीन द्रव्यार्थिक और ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़, एवंभूत ये चार पर्यायार्थिक यों सातों नयों का सूत्रोक्त सप्तक प्रसिद्ध ही है। नयों की आठ, नौ आदि संख्या का भी निवारण नहीं किया जा सकता है द्रव्यार्थिक के दो और पर्यायार्थिक के छह भेद मिला कर आठ भेद होजाते हैं। अनादिनित्य पर्यायार्थिक, सादिनित्यपर्यायार्थिक आदिक छह भेद पर्यायार्थिक के श्री मद्देवसेन विरचित आलापपद्धति में कहे हैं द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, एवंभूत यों ऋषिसम्प्रदाय अनुसार नयों के नौ भेद भी स्मरण होते चले आरहे हैं। इस प्रकार नयों और उपनयों के भेदों की अपेक्षा दस, ग्यारह, बारह, आदि अनेक नय संख्याओं का व्याख्यान किया जा सकता है आलापपद्धति और नयचक्रग्रंथों में इनका विस्तार देख लिया जाय नैगम संग्रह, आदि सूत्र की श्लोक रूप वार्त्तिकों में भी इनका विवरण किया जा चुका है तिस कारण प्रकरण में यह सिद्ध होजाता है कि सूत्रकार का पर्यायों का गुणों से कथंचित् भिन्न पने करके कथन करना अनुचित नहीं है जिससे कि 'गुणपर्ययवद्द्रव्यं' गुणों और पर्यायों वाला द्रव्य होता है इस प्रकार द्रव्य का लक्षण करना निर्दोष नहीं होता। अर्थात्–श्री उमास्वामी महाराज का सूत्रोक्त द्रव्यलक्षण अव्याप्ति व्याभिचार आदि सम्पूर्ण दोषों से रहित है।

प्रतीयतामेवमजीवतत्वं समासतः सूत्रितसर्वभेदं।
प्रमाणतस्तद्विपरीतरूपं प्रकल्पितं सन्नयतो निहत्य ॥ १ ॥

पंचम अध्याय के समाप्ति अवसर पर उपेन्द्रवज्रा छन्दः द्वारा ग्रन्थकार उक्त प्रकरणों का उपसंहार दिखाते हुये कहते हैं कि इस प्रकार जिस अजीव तत्व के सम्पूर्ण भेदों का श्री उमास्वामी महाराज ने संक्षेप से इस पंचम अध्याय में सूत्रों द्वारा निरूपण कर दिया है तथा भेद प्रभेद सहित उस अजीव तत्त्व को युक्तिपूर्वक प्रमाणों से श्लोकवार्त्तिक ग्रन्थ में साध दिया गया है। "जीवाजीवा" इत्यादि सूत्र अनुसार तत्वों का निर्णय करने वाले पण्डितों को उस अजीवतत्त्व की प्रमाणों से प्रतीति कर लेनी चाहिये हां नाना प्रकार अयुक्त कल्पनाओं को करने वाले कुतर्की वावदूकों द्वारा गढ़ लिये गये अजीव तत्व के विपरीत स्वरूप का समीचीन नयों से अथवा प्रमाणों से भी खण्डन कर जैन सिद्धान्त अनुसार पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश, काल- इन, अजीव तत्वों की प्रतिपत्ति की जानी चाहिये जीव या अजीव की प्रतीति करते सन्ते श्रद्धालु का कारणविपर्यास, स्वरूपविपर्यास, भेदाभेदविपर्यास

का परित्याग कर देना चाहिये।

इति पंचमाध्यायस्य द्वितीयमान्हिकम्।

इस प्रकार तत्वार्थशास्त्र के पांचमे अध्याय का श्री विद्यानन्दी स्वामी महाराज करके रचा गया दूसरा प्रकरणों का समुदाय स्वरूप आन्हिक यहां तक समाप्त होचुका है।

इति श्रीविद्यानंदि आचार्यविरचिते तत्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारे पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ५ ॥

इस प्रकार प्रकाण्ड विद्वत्ता लक्ष्मी से सुशोभित होरहे श्री विद्यानन्दी आचार्य महाराज करके विशेष रूप से रचे गये इस तत्वार्थश्लोकवार्तिकालंकार नाम के महान् ग्रन्थ में पांचमा अध्याय यहां तक भले प्रकार परिपूर्ण होचुका है।

इस पांचमे अध्याय के प्रकरणों की संक्षेप से सूची इस प्रकार है कि पूर्व के चार अध्यायों में जीव तत्व का निरूपण कर चुकने पर प्रथम ही पंचम अध्याय के आदि में सूत्रकार के धर्म आदि अजीव तत्वों के प्रतिपादक सूत्र की प्रवृत्ति को ग्रन्थकार ने समुचित बताया है। चार द्रव्यों में कायत्व और अजीवत्व को घटाते हुये उनको प्रकृति के विवर्त होजाने का प्रत्याख्यान कर दिया है। साथ में अद्वैतवाद को भी लताड़ा है। वैशेषिकों के अनुसार दिग्द्रव्य को स्वतंत्र न्यारा तत्व मानने की आवश्यकता नहीं है। इसके आगे द्रव्यत्व का विचार करते हुये धर्म, अधर्म, आकाश, का भी द्रव्यपना पुद्गल के समान साध दिया है जीव भी स्वतंत्र द्रव्य हैं, कल्पित या भूतचतुष्टय से उत्पन्न हुये नहीं हैं। पुद्गल के रूपीपन और अन्य द्रव्यों के नित्यपन अवस्थितपन और अरूपीपन को युक्तियों से साधते हुये धर्म, अधर्म, आकाश, इन तीन द्रव्यों का एक एक द्रव्य होना अनुमान प्रमाण से समझाया है।

जीव पुद्गलों का सक्रियपन ध्वनित करते हुये शेष द्रव्यों के निष्क्रियत्व को उचित बताया गया है अन्यों में क्रिया का हेतु होरहा भी पदार्थ स्वयं निष्क्रिय होसकता है। यहां लगे हाथ काल द्रव्य के व्यापकत्व का निराकरण कर काल द्रव्य को भी निष्क्रिय बता दिया है हां अपरिस्पन्दस्वरूप उत्पाद आदिक्रियायें तो सम्पूर्ण द्रव्यों में होती ही रहती हैं। यहां आत्मा के क्रिया सहितपन को साधते हुये आचार्य महाराज ने वैशेषिकों के दर्शन की अच्छी धज्जियां उड़ायी हैं सम्पूर्णभावों को क्रियारहित मानने वाले बौद्धों को भी सुमार्ग पर लाया गया है। मध्य में अनेक अवान्तरविषयों के खण्डन मण्डन होजाते हैं। धर्म आदि द्रव्यों के प्रदेशों की युक्तिपूर्ण सिद्धि को करते हुये ग्रन्थकार ने आकाश के प्रदेशों का अच्छा विवेचन किया है अणुओं को छोड़ कर सभी पदार्थ सांश माने गये हैं। लोक को अवधि सहित कह कर आकाश का अनन्त प्रदेशित्व बताया गया है। आगे चल कर पुद्गल के संख्याते, असंख्याते, और अनन्ते प्रदेशों को बखानते हुये अणु के प्रदेशों का युक्तिपूर्ण प्रत्याख्यान किया है हां छह पैल वाले परमाणु के शक्तिअपेक्षा छह अंश होसकते हैं अन्यथा परमाणुओं से बड़े स्कन्ध का बनना अलीक होजायगा किन्हीं किन्हीं परमाणुओं का दूसरे परमाणुओं के साथ सर्वांग संयोग होजाना भी

अभीष्ट किया गया है अन्यथा असंख्यात प्रदेशी लोकाकाश में अनन्तानन्त परमाणुओं का ठहरना झूंठा पड़ेगा।

विभु होने के कारण आकाश का स्व में ही ठहरना स्वभाव मानते हुये अन्यद्रव्यों का लोकाकाश में अवगाह होना समझा कर जीवों सम्बन्धी प्रदेशों के संहार और विसर्प को युक्तियों से साधा है, आत्मा का व्यापकपना माने जाना अनुचित है। इसमें प्रत्यक्ष से ही विरोध आता है यहाँ प्रकरण अनुसार व्यवहार नय से आधार आधेय भाव को मानते हुये भी निश्चय नय करके एक को आधेय और दूसरे को आधेय माने रहने का निराकरण कर दिया है निश्चयनय तो कार्य कारणभाव को एक झगड़ा ही समझती है यों द्रव्यों का लोकाकाश में अवगाह होना, या स्व स्वरूप में ही अवगाह होना, अथवा कहीं भी अवगाह नहीं होना, नयविशारद पण्डितों करके विचार लिया जाय। उदासीन कारणों की प्रबल शक्ति का निरूपण करते हुये विवरण में जीव, पुद्गलों की गति और सम्पूर्ण द्रव्यों की स्थिति, अवगाहन, इन क्रियाओं में धर्म, अधर्म, आकाश, द्रव्यों का उपकारकत्व समझा कर तथा पुद्गल, जीव और काल के उपकारों को भी गिनाकर उन उन छह द्रव्यों की अनुमान प्रमाण से सिद्धि कर लेने का संकेत किया है यहाँ वर्तना का अच्छा विचार चलाया है साथ ही व्यवहार कालके कर्त्तव्यों का निरूपण भी हो सका है। परिणाम की अच्छी व्याख्या की गयी है। जब अकेले परिणाम वाद स्वरूप सैनिक करके ही जैन सिद्धान्त अखिल दर्शनों पर विजय पा सकता है तो अन्य अनेक सूक्ष्म जैनसिद्धान्त महाराजों को तो स्वकीय राज्यासन पर ही विराजमान बने रहने देना चाहिये। उत्पाद व्यय, ध्रौव्य, को लिये हुये सदृश, विसदृश परिणाम ही जगत् विजय करने के लिये पर्याप्त हैं। क्रिया और परत्वापरत्व का विचार करते हुये व्यवहार काल को साध दिया है। यों धर्म आदि द्रव्यों की अनुमान से प्रतिपत्ति कराते हुये ग्रन्थकार ने सूत्रकार महाराज का जयघोषणा कर पंचम अध्याय के पहिले आन्हिक को समाप्त कर दिया है।

इसके आगे सूत्रों अनुसार स्पर्श, रस, गंध, वर्णों की यथाक्रमता का निरूपण करते हुये सभी पौद्गलिक द्रव्यों में रूप आदि चारों गुणों का अविनाभाव रूप से ठहरना समझाया है शब्द का बहुत लम्बा, चौड़ा, व्याख्यान किया गया है। वैशेषिकों के यहाँ माने गये शब्द को आकाश के गुणपन की बड़ी छीछा लेदर उड़ायी गयी है शब्दों की उत्पत्ति और गमन पद्धति का विचार किया गया है शब्द का प्रकरण बड़ा रोचक और विज्ञान सम्मत है छाया, आतप, घट, आदि के समान शब्द भी पुद्गल की पर्याय है अतः पर शब्दस्फोट का विचार कर वैयाकरणों के दर्शन की अवहेलना की गयी है वाक्य के लक्षणों पर भी गम्भीर विवेचन कर अभिहितान्वय वादी और अन्विताभिधान वादी मीमांसकों का निराकरण किया गया है शब्द को आकाशगुणपन या अमूर्तद्रव्यपन अथवा स्फोट आत्मकत्व, का प्रति विधान कर स्कन्ध स्वरूप पुद्गलपर्याय होना साध दिया है बंध, सूक्ष्मपन, आदि की युक्तियों से सिद्धि की है पुद्गलों का अणु और स्कन्ध रूप से भेद संघातों द्वारा आत्मलाभ होना बताकर नैयायिकोंके

सन्मुख अणुओं की उत्पत्ति को साधते हुये ग्रन्थकार ने स्थूल स्कन्ध के भेद से सूक्ष्मों की उत्पत्ति होजाना साध दिया है, आवश्यक [illegible] प्रसिद्ध किया है उत्पाद आदि के सद्भाव में आपादन की गयी अनवस्था को चुटकियों में उड़ा दिया है। नित्यपन की परिभाषा निरवद्य की गयी है अर्पणा और अनर्पणा अनुसार नित्यत्व अनित्यत्व आदि का अनेकान्त सम्पूर्ण वस्तुओं में ओत पोत भरा कहा गया है संशय, विरोध, आदि का ईषत् भी अवतार नही है।

परमाणुओं के बंधने का कारण समझा कर दो अपवाद सूत्र और एक विधायक सूत्र का बहुत अच्छा विवरण कर दिया गया है यहां युक्ति और दृष्टान्तों से बंध व्यवस्था का समर्थन किया गया है परिणामवाद की प्रधानता से द्रव्य का लक्षण किया जा चुका होने पर भी वस्तु स्थिति अनुसार शिष्यबुद्धिवैशद्यार्थ पुनः सूत्र द्वारा किये गये दूसरे द्रव्य लक्षण का मुख्य प्रयोजन सह अनेकान्त और क्रम अनेकान्त की सम्पत्ति होना दर्शाया है निश्चयकाल का मुख्य द्रव्यपना साधते हुये अनन्त शक्तियों की अपेक्षा कालाणु का अनन्त समय सहितपना भूषित किया गया है वस्तुतः कालाणुओं की अनन्त शक्तियों अनुसार होरहे जगत् के भिन्न, विचित्र, कार्य प्रसिद्ध ही हैं कारणों में वास्तविक भिन्ना भिन्न शक्तियोंके माने विना अनेक कार्योंकी उत्पत्ति होना असम्भव ही है। द्रव्यों में जड़रहे गुण और पर्यायों का विवरण कर अध्याय के अन्त में संक्षेप से नयों का प्ररूपण कर दिया गया है। यों पांचमे अध्याय में कहे गये सूत्रकार के अजीव तत्वका बाधाओंको प्रमाण नयों द्वारा हटाये हुये ग्रन्थकार द्वारा प्रतीति कर लेने योग्यपना उपदिष्ट किया गया है।

"शुद्ध द्रव्यों की आकृतियां"

प्रकरण वश ग्रन्थकार के अभिप्राय अनुसार शुद्ध द्रव्यों की आकृतियों का समझ लेना भी आवश्यक है।

शुद्ध आत्मा का ध्यान करने वाले जैनबंधुओं को विदित होना चाहिये कि अचेतन शुद्धद्रव्यों का ध्यान करना भी शुद्धात्मा की निर्विकल्पक समाधिरूप ध्यान के अभ्यास का कारण है। अतः जब तक हमें शुद्ध द्रव्यों के आकार थाना (लम्बाई चौड़ाई और मोटाई) का परिज्ञान नहीं होगा, तब तक हम उन शुद्ध द्रव्यों में अन्तस्तल स्पर्शी ध्यान नही जमा सकते हैं।

इस छोटे से लोकाकाशमें अनंतानंत मूर्त्त और अमूर्त्त द्रव्य निराबाध भरे हुये हैं। संसारी जीव और स्कन्ध पुद्गलो को छोड़कर शेष जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये सब शुद्ध द्रव्य हैं।

प्रत्येक द्रव्य में अनुजीवी होकर पाये जारहे प्रदेशवत्व गुण की परणति यानी द्रव्य की व्यंजन पर्याय कुछ न कुछ अवश्य होनी चाहिये। छः द्रव्यों में से शुद्ध जीवद्रव्यों का आकार चरम शरीर के किंचित् न्यून हो रहा प्रसिद्ध ही है।

उपरिम तनुवात वलय के ठीक मध्यवर्ती ऊपरले ४५ लाख योजन लम्बे, चौड़े, गोल भाग में

अनंतानंत सिद्ध परमेष्ठी विराज रहे हैं। इन सबका ऊर्ध्व शिरोभाग-अलोकाकाश से चिपट रहा है।

सबसे बड़ी अवगाहना के सिद्ध भगवान् ५२५ धनुष ऊंचे हैं। और सबसे छोटी अवगाहना वाले ३॥ साढ़े तीन हाथ के हैं। तथा मध्यम कोटि के शुद्ध परमात्माओं की लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई के असंख्याते प्रकार हैं

सिद्ध क्षेत्र में सिद्ध महाराज खड्गासन और पद्मासन इन दो आसनो से अवस्थित हैं। भले ही कोई अन्तकृत केवली होकर सिद्ध हुये हों, या बारहवें गुणस्थान के अन्त में संपूर्ण उपसर्गों को टाल तेरहवें, चौदहवें, गुणस्थानो में उनकी व्यंजन पर्याय खड्गासन या पद्मासन होजाती है। बड़े धनुषों से पौने सोलह सौ १५७५ धनुष या छोटे धनुषों से ७८७५०० सात लाख सत्तासी हजार पांचसौ मोटे तनु वातवलय के [illegible] अवगाहना वाले सिद्ध परमेष्ठी ठहर रहे हैं और उसी १५७५ धनुष ऊंचे यानी ३१५०००० इकतीस लाख पचास हजार छोटे हाथ ऊंचे तनुवात वलय के सौ लाखवें भाग में जघन्य अवगाहना वाले सिद्ध सुशोभित हैं। साढ़े तीन हाथ की अवगाहना से लेकर साढ़े छह हाथ तक की अवगाहना वाले जीव चौदहवें गुणस्थान में खड्गासन रहते हैं।

"वस्तुस्वभावोऽतर्क गोचरः" वस्तु की स्वभाविक परिणतियों पर कुचोद्यों की गुंजाइश नहीं नहीं है। यदि ठिगने आदमी को लम्बा कोट या ऊंची बाड़ की टोपी पसंद आये तो उसमें कुतर्क चलाना व्यर्थ है। यों बाहूबली आदीश्वर महाराज आदि से प्रारम्भ कर श्री महावीर जम्बू स्वामी पर्यन्त अथवा भूत भविष्य काल के अनेक प्रकार व्यंजन पर्यायों वाले सिद्ध परमेष्ठियोंका ध्यान करना चाहिये।

अब जिनागम में शुद्ध द्रव्य मानेगये आकाश, पुद्गलपरमाणु, धर्म, अधर्म द्रव्यों और कालाणुओं के आकार का विचार करना है।

प्रथम उपात्त सबसे बड़े अलोकाकाश की व्यंजन पर्याय समघन चतुरस्र है। यानी एक इंच लम्बी चौड़ी और एक इंच मोटी बरफी जैसे पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व, अधः यों छैऊ ओर समान पैल वाली होकर घनाकार नियत चौकोर है। उसी के समान जिनदृष्ट नियत मध्यम अनंतानंत राजू लम्बा और इतना ही चौड़ा तथा ठीक इतना ही ऊंचा समघन चतुरस्र अलोकाकाश है। श्री नेमीचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती महोदय ने द्विरूपवर्गधारा में "जीवा पोग्गल कालो सेढी आयास तप्पदरं" और द्विरूप घनधारा में "तत्तो पढमं मूलं सव्वागासं च जाणेज्जो" इन गाथोत्तरार्धों के अनुसार अलोकाकाश की व्यंजन पर्याय समघन चतुरस्र मानी है। आचार सार में लिखा है कि—

व्योमा मूर्तं स्थितं नित्यं चतुरस्रं समंघनं। भावावगाह हेतुश्चानन्तानन्त प्रदेशकम्।

इसी प्रकार सबसे छोटे अवयव माने गये परमाणुकी आकृति भी बरफी के समान ठीक समघन चतुरस्र है। भले ही "अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिये गेज्झम्" यों परमाणु को निरंश माना

गया है । अन्तिम छठे दर्जे के छोटे परम सूक्ष्म परमाणु की इससे अधिक और क्या प्रशंसा हो सकती है। तभी तो एक एक प्रदेश पर अनंत अनंत परमाणुयें निरापद ठहर रही हैं। फिर भी सर्वावधिज्ञानी या केवल ज्ञानी [illegible] देखेंगे उन्हें वह घन चौकोर छह पैल वाला आठ कोनोंको लिये अखंड द्रव्य प्रतीत होगा इसी बातको श्रीआचार्य वीरनंदी सिद्धान्त चक्रवर्ती ने भी आचारसार ग्रंथ के तृतीयाधिकार में लिखा है कि—

अणुश्च पुद्गलोऽभेद्यावयवः प्रचयशक्तितः । कायश्च स्कन्धभेदोत्थश्चतुरस्रस्त्वतीन्द्रियः ॥

यों परमाणु के छः पैल हैं । तभी तो परमाणु का दूसरे परमाणु के साथ एक पैल से संसर्ग हो जाने पर छोटे, बड़े, बहुत बड़े अवयवी बनकर तैयार हो जाते हैं जैसेकि ईंटोंका ईंटोके साथ एक देश सम्बध होजाने पर बड़े बड़े महल बन जाते हैं। यदि ईंट का दूसरी ईंट के साथ सर्वांग रूप से सम्बंध हो जाय तो कोठरी, महल, किला, ये सब ईंट के बरोबर हो जायगे ।

इसी प्रकार परमाणु को सर्वथा निरंश माना जायगा तो, परमाणु, सरसों, मेरुपर्वत परमाणु बरोबर इन सबको के समान परिमाणु वाले बराबर होजाने का प्रसंग दूर नहीं हो सकेगा ।

"भेदादणुः" इस सूत्र अनुसार अणु की उत्पत्ति भेद से हुई मानी गई है। इस पर गंभीर विचार करने से प्रतीत होता है कि वस्तुतः परमाणु चौकोर, । भेद करने से गोल चीज नहीं बन सकती है। टुकड़ा करने पर एक ओर सपाट भींत अवश्य बन जाती है जब कि परमाणु की छंऊ भींते एकसी हैं तो उसका आकार समघन चतुरस्र विज्ञान से भी स्वाभाविक सहज सिद्ध होजाता है। अलम् ।

पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊर्ध्व, अधः यों छंऊ ओर चौकोने एवं घन चौकोर होरहे इस अलोकाकाश के ठीक बीच में लोकाकाश विराजमान है।

यदि लोकाकाश जगत् श्रेणी की पूरी समघन चतुरस्र आकृति की सूरत में होता तो 'ठीक बीच' शब्द अच्छा सुघटित होजाता किन्तु लोकाकाश चौदह राजू ऊँचा तथा अधो लोक में सात राजू लम्बा चौड़ा और मध्य लोक में एक राजू चौड़ा सात राजू लम्बा एवं ऊपर क्रम से चौड़ाई में बढ़ता हुआ ब्रह्मलोक के निकट ५ राजू चौड़ा ७ राजू लम्बा होगया है। और चौदह राजू ऊपर जाकर तो सात राजू लंबा एक राजू चौड़ा होकर विषम आकृति को लिये हुये है अतः संभव योग्यतानुसार 'ठीक बीच' यों लिख दिया है, अन्यथा ऐसे पांव पसारू पतले पेट वाले कुबड़ेमनुष्यके समान विषम आकृति वाले पदार्थ का चौकोर पदार्थ के ठीक बीच में पाया जाना असंभव ही है. यदि मध्य लोक के पूर्व पश्चिम सम्बंधी अंतिम भाग से पूर्व या पश्चिम के अलोकाकाश को नापा जाय तो वह मध्य लोक के उत्तर दक्षिणवर्त्ती अलोकाकाश से तीन तीन राजू बढ़ जायगा । इसी प्रकार अलोकाकाश के मध्य लोक संबंधी उत्तर दक्षिण भाग की अपेक्षा ऊर्ध्व या अधोलोक के ऊपर नीचे का भाग साढे तीन, साढे तीन राजू कमती है।

छः ऊ ओर समधारा की संख्या के धारी प्रदेशों वाले घन चतुरस्र अलोकाकाश का ठीक बीच आठ प्रदेश समझलिये जांय । समघनात्मक संख्या वाले पदार्थों के ढेर का बीच आठ होसकता है। द्विरूप वर्ग धारा में पड़े हुये मात्र श्रेणी आकाश का सबसे छोटा ठीक बीच २ प्रदेश हैं। और केवल प्रतराकाश का लघु बीच चार प्रदेश है, तथा घन सर्वाकाश का जघन्य ठीक बीच आठ प्रदेश ही होसकते हैं। आठ से कम प्रदेश उसका ठीक मध्य भाग नहीं होसकते हैं। एक एक बरफी की चारों बाजुओं

को ठीक चार दिशाओं में कर रख दी गईं चार बर्फियों के ऊपर अन्य चार बर्फियों के आकार वाले ये आठ प्रदेश विचारे बिना और रत्ना पृथ्वी के दोनों भागों के बीच में हैं। अर्थात् यहां से एक हजार योजन नीचे चित्रा की जड़ में ऊपरले चार प्रदेश हैं। और नीचले चार प्रदेश वज्रा के उपरिमभाग में हैं। यों सर्वाकाश या लोकाकाश का ठीक बीच सुदर्शन मेरु की गोलासपाट जड़के मध्यमें पड़े हुये आठ प्रदेश हैं। प्रसंग वश त्रसनाली मध्यलोक रत्नप्रभा, स्वयंभूरमण समुद्र जम्बू द्वीप भरत क्षेत्र और आर्यखण्ड का चित्र भी समझ लेना आवश्यक है।

प्रकरण में मुझे यह कहना है, कि अलोकाकाश के मध्य में स्थित जगत् श्रेणी के घनप्रमाण असंख्यातासंख्यात नाम की संख्या को धार रहीं कालाणुओं अथवा अखण्ड धर्म-अधर्म द्रव्यों की व्यंजन पर्यायों (आकृति) अनुसार ३४३ घनराजू के लोकाकाश की कल्पना की गई है।

लोकके बहिः प्रान्त में घन (छूं ऊ) और तनुवातवलय वेष्टित होरहा है। वहां अन्य भी द्रव्य पाये जाते हैं। तनुवातवलय के अंतिमभागों में निवस रहे वायु कायिक जीव या निर्जीव वायु अथवा [illegible]कृति क्या हैं ? इसका यहां विचार करना है।

देखिये- लोक का ७ राजू लम्बा १ राजू चौड़ा उपरला भाग सपाट चोकोर है। वहां के कालाणुओं या धर्मअधर्म द्रव्यों का उपरिमभाग ईट के खडंजा और पटिया के समान ठीक समतल बन रहा है। कोई ऊंचा-नीचा भाग नहीं है। इसी प्रकार लोकाकाश या धर्म अधर्म द्रव्यों का ७राजूलम्बा सात राजू चौड़ा अधस्तन भाग भी समतल होकर अधोवर्ती अलोकाकाश से छू रहा है उसमें ऊंच नीच की विषमता सर्वथा नहीं है। वहां की कालाणुयें मकराने के जड़े हुये चौकाओं के समान समतल होकर जमरही हैं। तथा लोक की दक्षिण, उत्तर बाजू की भीतें ईंटों की सपाट दीवालों के समान चिकनी होरहीं ऊपर उठी हुई हैं।

वहां के कालाणुओं और परमाणुओं के पैल चिकने होरहे एक के ऊपर एक यों सपाट एकसे जमे हुये है। ऐसी ही तत्रस्थ दोनों धर्म, अधर्म द्रव्यों सपाट चिकनी अवस्था है। खुरदरी नहीं है। जैसे कि संगमरमर की पटिया खड़ी कर दी जाती है।

किन्तु लोक के पूर्व पश्चिम भाग की बाजुएं सपाट पटिया के समान चिकनी नहीं है। क्योंकि नीचे ७ सात राजू लम्बे अधोलोक से मध्यलोक तक क्रमसे घटता हुआ लोक १ एक राजू चौड़ा रह गया है। अखंडघन चौकोर चीजों को यदि क्रमसे घटाकर तराऊपर रक्खा जायगा तो उनका जीना बनते ही घटी हो सकती है। यदि ईंटों के कोने न छीले जांय और उनको क्रम से घटाते हुए ऊपर को चिना जाय तो अवश्य ही उस रचना में ईंटों के कोने निकले रहेंगे। चूंकि ईंट को कारीगर तिरछा छील देता है सीमेन्ट से लीप देता है, अतः स्थूलदृष्टि जीवों का जीने की बाजू की ढलाऊदीवाल ऊपर से नीचे तक चिकनी सपाट बनाई दीख जाती है। -किन्तु बरफी के समान छह पैलू मठकौनी, अखण्ड, परमाणु की नौकें या पैल घिसे काटे, छीले नहीं जा सकते हैं। अतः लोक के पूर्व पश्चिम प्रान्त की

रचना होने से समान परमाणुओं से पैड़ियों की उभरती हुई बनी है।

यहां इस चित्र में पूर्व पश्चिम की ओर रचा गया है, यों धर्म, अधर्म द्रव्यों की पूर्व पश्चिम दिशा सम्बन्धी आकृति भी परमाणु ऊंचे बराबर सीढ़ियों के विकास को लिये हुये जीने के समान समझी [illegible] जान कर ली जाय।

मध्य लोक से नीचे [illegible] की ओर वाली प्रस्तर ऊपर को उलटा जीना बना लिया जाय और ब्रह्मलोक पर्यन्त सीधा जीना रचा हुआ समझा जाय यों यहां के समान प्रति प्रदेश पर एक एक परमाणु की ऊपर को घटती हुई तिरछी पंक्ति [illegible] है। ब्रह्मलोक में सात प्रदेशपर तीन प्रदेश घटाकर रचना समझ लेना। यहां भी आकाश की नोकीली उभर रहीं प्रत्येक प्रदेश पर एक एक होकर रचती गई हैं।

इसी प्रकार यहां में तनुवातवलय सम्बन्धी अन्तिम भागस्थ जीवोंके घनाङ्गुल के असंख्यातवें भागस्वरूप असंख्यातासंख्यात प्रदेशी शरीर वाले जीवों की आकृतियों भी अवश्य जीना रच लिया जाय जैसे कि धर्म, अधर्म, द्रव्यों की व्यंजन पर्याय में परमाणु बराबर प्रदेशों की हीनता या वृद्धि करते हुये जीना बन गया है।

वहां निगोदिया जीव या अन्य स्थावर काय के जीवों के शरीरोंकी आकृतियां भी ऐसी प्रकार की पैड़ियां बनी हुई समझी जांय। तथा जो कुछ भी वहां निर्जीव वायु या कार्माण वर्गणायें, महास्कंध, आदि पुद्गल भरा हुआ है या केवली समुद्घात करते हुये आत्मा के प्रदेश वहां पहुंचे हैं, पूर्व, पश्चिम-दिशा सम्बन्धी लोक के अन्तभाग में पाये जा रहे इन सभी पदार्थों की आकृति भी जीना बन रही नोकीली मानी जाय। क्योंकि धर्मास्तिकाय के जितना ही बड़े होने के कारण ये पदार्थ बाहर अलोकाकाश में नहीं फैला सकते हैं। दृष्टान्त इतना ही पर्याप्त है कि टेढ़े, बांके तिकोने, चौकोने नलों के भीतर भरे हुये अवयवी पानी की वैसी आकृति बन जाती है अथवा बहुरहे करंट के धागे, पतले, मोटे, चौखूटे, गोल या चक्करदार, तारों में बिजली का संस्थान तदनुसार भरपूर बनता चला जाता है उनके बाहर नहीं। ३४३ घनराजू प्रमाण लोकाकाश के अनुसार धर्म, अधर्म, द्रव्यों की वैसी आकृति गढ़ लेने की अपेक्षा धर्म, अधर्म, द्रव्यों की ठोस मूरत अनुसार लोकाकाश की आकृति की कल्पना करना श्रेष्ठ है।

क्योंकि छहों द्रव्यों के समुदाय रूप लोक के आधार मात्र लिये गये लोकाकाश की अवधि कल्पित है। किन्तु धर्म, अधर्म द्रव्यों की वैसी व्यंजन पर्याय परमार्थ भूत है। जब कि लोकाकाश कोई वस्तुभूत द्रव्य नहीं है, तो उसकी व्यंजन पर्याय मानना भी कल्पना मात्र है। अतः धर्म, अधर्म की आकृति अनुसार लोक के आकार की कल्पना करनी चाहिये। धर्म, अधर्म द्रव्य तो लोकके आधीन नहीं माने जांय क्योंकि धर्म, अधर्म वास्तविक द्रव्य हैं तब तो उनकी व्यंजन पर्याय भी ठोस परमार्थ

भूत परिणाम है । पुद्गल परमाणु के सदृश ही कालाणुओं का आकार भी वरफी के समान समघन चतुरस्र है । पुद्गल परमाणु या कालाणु के अनुसार ही नाप को लिये हुये अखण्ड आकाश के प्रदेश की कल्पना करली जाय ॥

दुनियां का कोई भी कार्य ऐसा नहीं है जोकि आधा समय या डेढ़ समय या ढाई समय में तैयार होय, जो कोईभी छोटा बड़ा पूरा कार्य होगा वह पूर्ण एक समय या दो समय आदि पूरे समयों को घेर कर निष्पन्न होगा । इसी प्रकार कोई भी पौद्गलिक पदार्थ होय एक, दो, तीन आदि परमाणु से बनेगा डेढ़, ढाई साढ़े तीन आदि परमाणुओं से नहीं ।

तथा कोई [illegible] आदि प्रदेशों पर ही निवास करेगा । आधे, डेढ़, ढाई प्रदेशों पर नहीं । तीन परमाणु यदि दो प्रदेशों पर ठहरेंगे तो एक प्रदेश पर दो और दूसरे प्रदेश पर एक यों बैठ जांयगे डेढ़ डेढ़ प्रदेश पर नहीं । यों प्रत्येक मुमुक्षु का शुद्ध द्रव्यों का ध्यान करते हुये शुद्धात्मा के निर्विकल्पक ध्यान का अभ्यास करते रहना चाहिये ।

इस प्रकार श्री परम पूज्य विद्यानन्दी आचार्य कृत श्री तत्वार्थ श्लोकवार्तिक महान् ग्रन्थ की आगरा मण्डलान्तर्गत चावली ग्राम निवासी श्री हेतसिंह तनूज न्यायदिवाकर, तर्करत्न, स्याद्वाद-वारिधि, सिद्धान्तमहोदधि आदि पदवी विभूषित पण्डित माणिकचन्द्र न्यायाचार्य कृत हिन्दी देशभाषा मय तत्वार्थ चिन्तामणि नामक टीका में पांचवा अध्याय परिपूर्ण हुआ ।

ॐ नमः सिद्धेभ्यः सिद्धेभ्यः

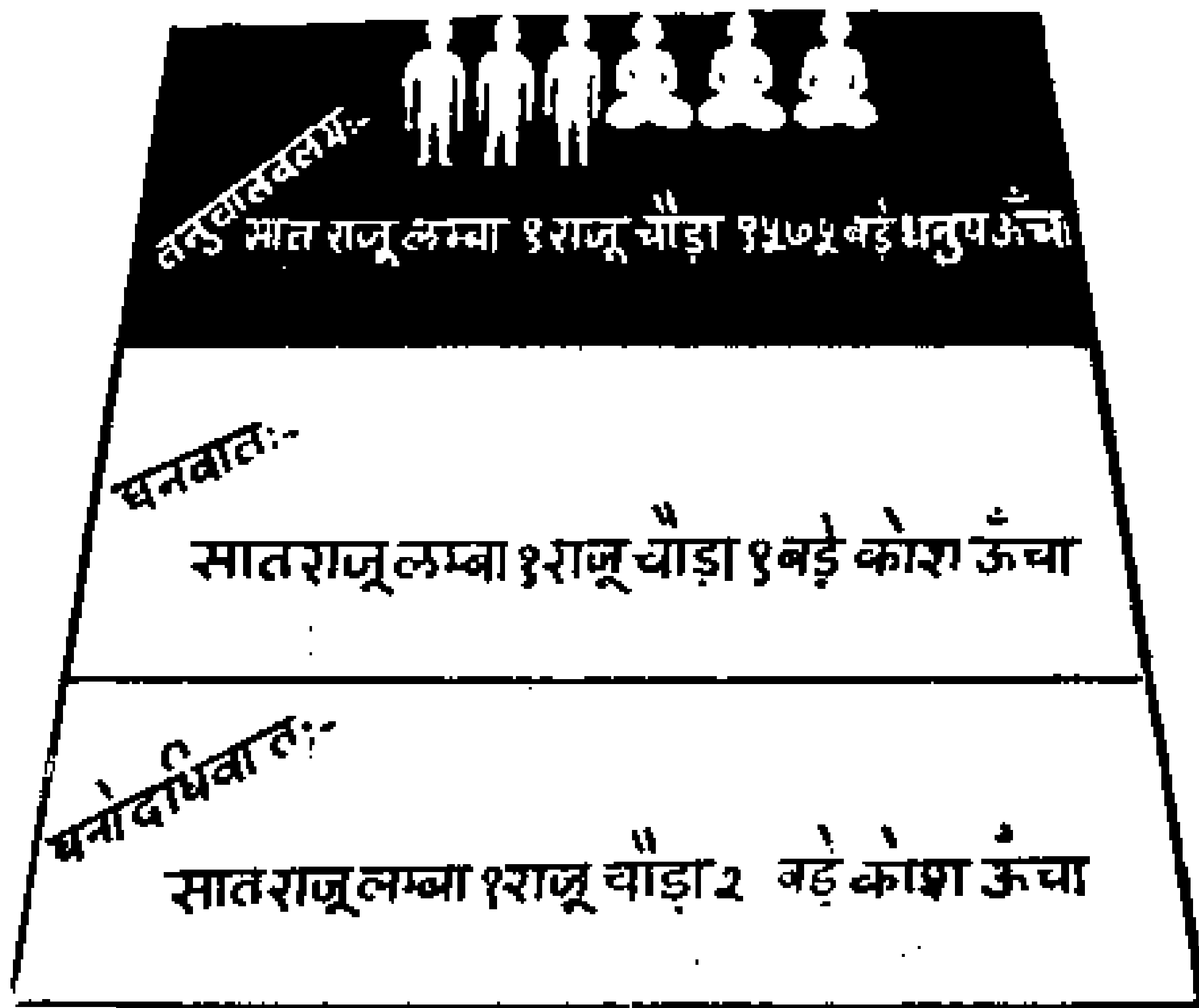
द्रव्यत्वाद्द्रव्यमूचुः कतिचिदथ गुणात्केचिदाहुः क्रियातो
अद्वैतादजीवं निपिपिषुरपरे चिन्नटीं नाटयन्तः ।
मीमांसांचक्रिरेऽर्थः स्फुटति यत इति स्फोटमन्ये लपन्तो
जीयाच्छ्रीग्रन्थकर्ता प्रतिविहितिपरः पञ्चमाध्याय एषाम् ॥

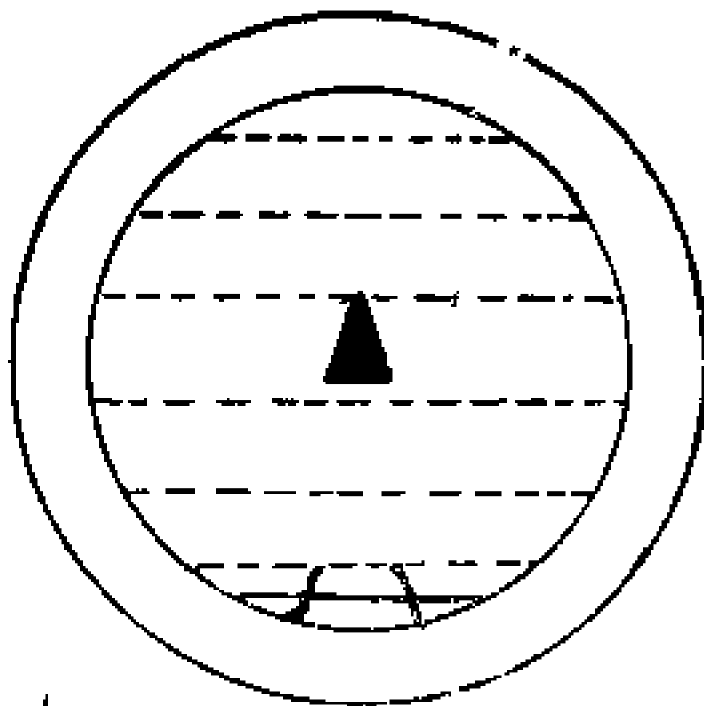
श्रीमदुमास्वामिवचःपयोधिमन्तरण पोतमाचार्यः ।
जीयाद्विद्यानन्दस्तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकं रचयन् ॥

पंचमोध्यायः

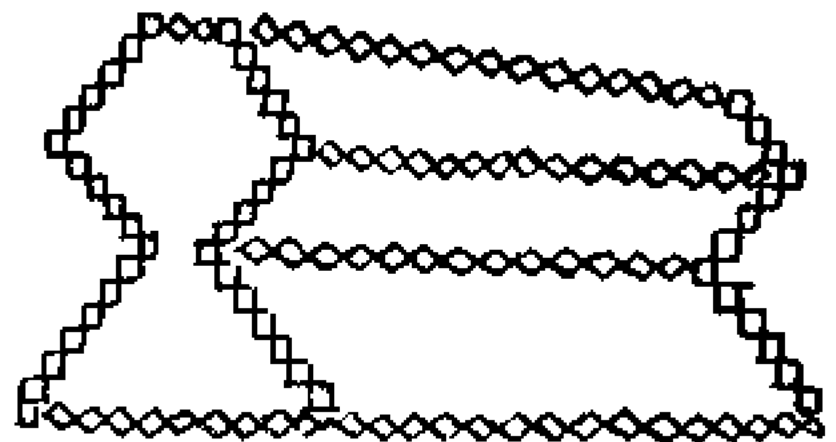
समाप्तः

पाँचवें अध्याय में आये हुए शुद्ध द्रव्यों की आकृतियाँ

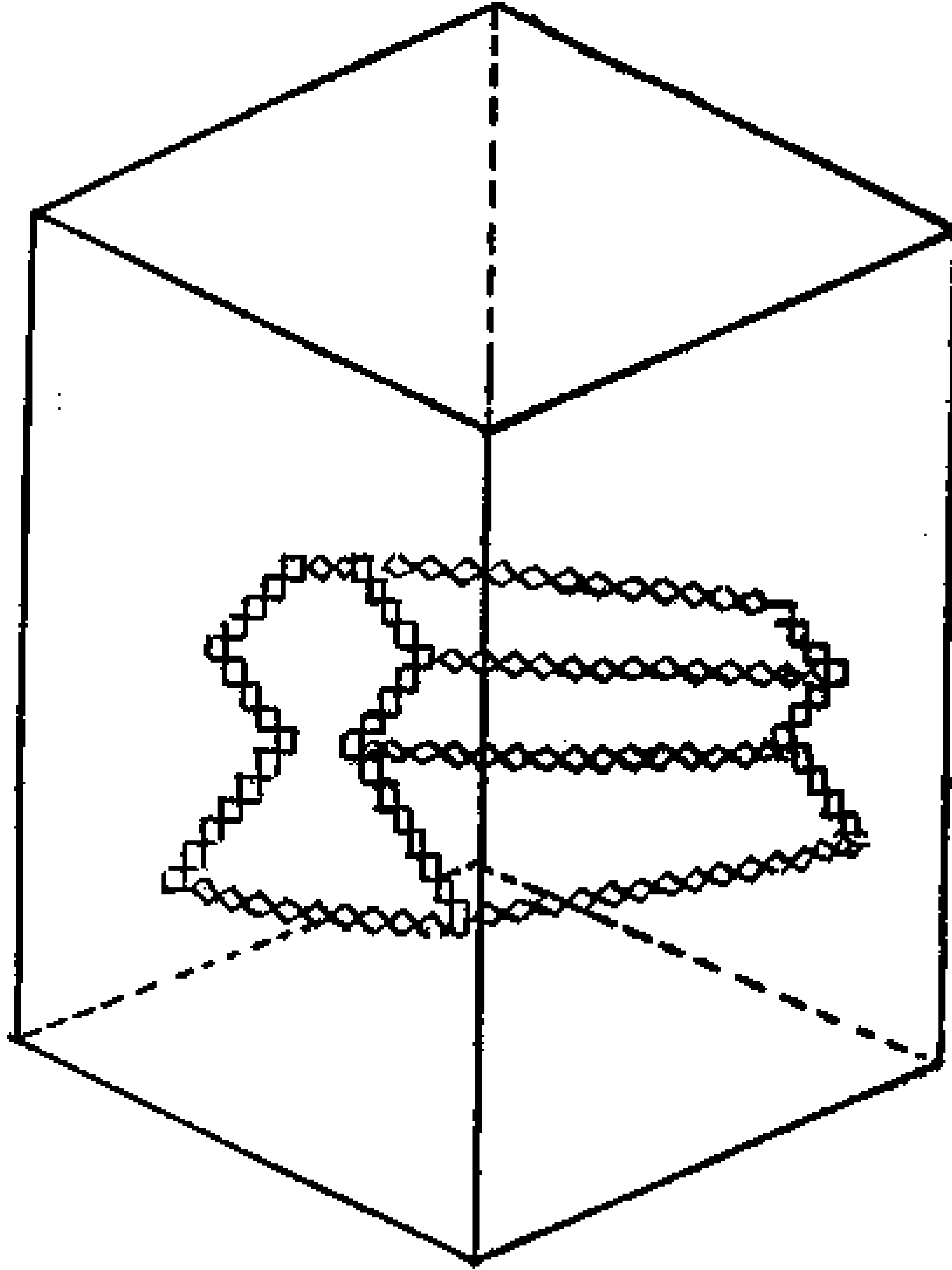




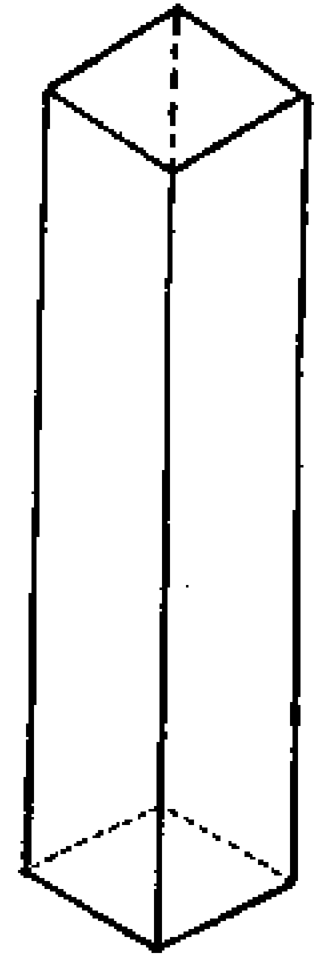
जम्बू द्वीप का नक्शा



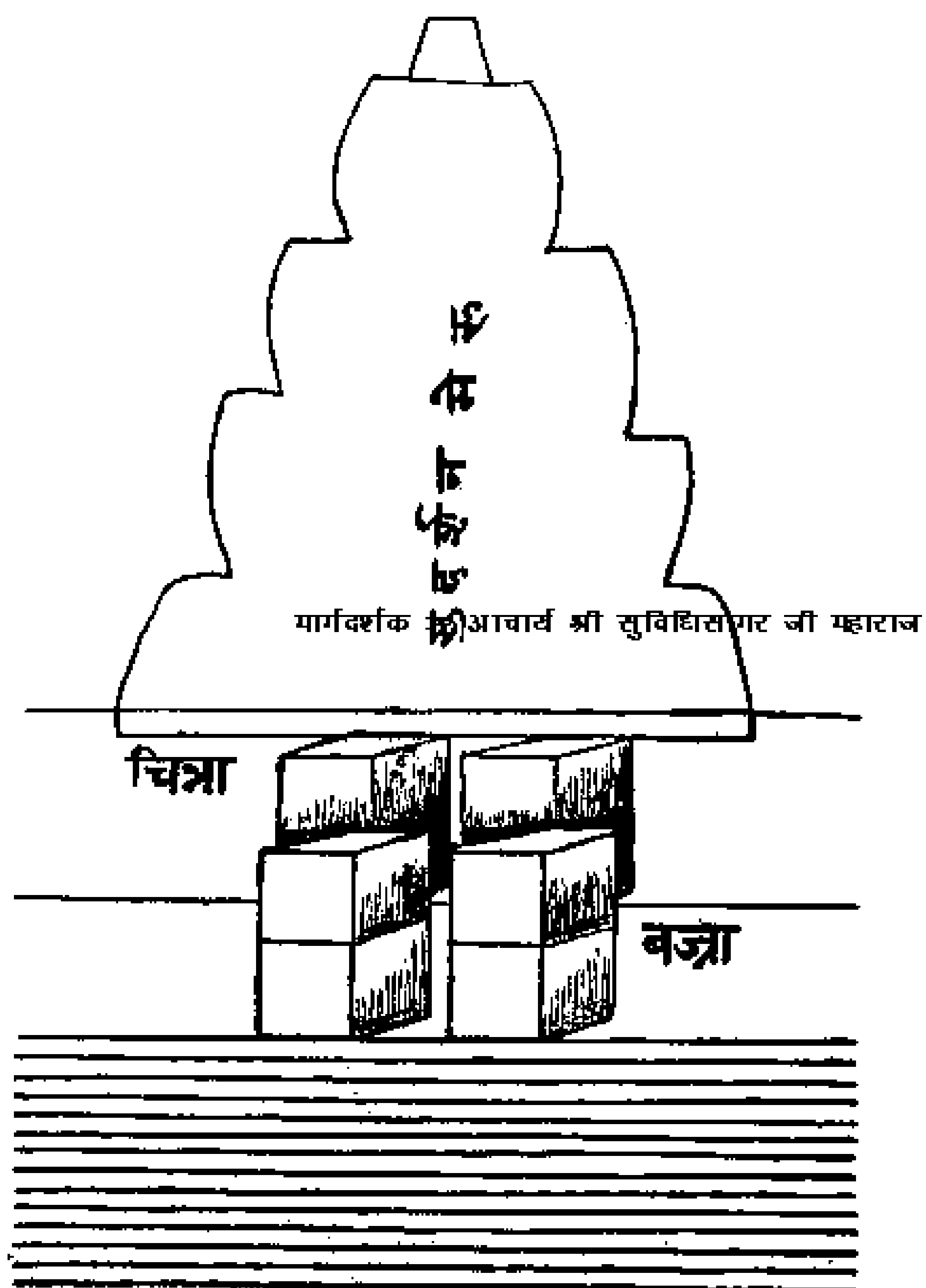
धर्म द्रव्य और उसकी छहों ओर कालाणुयें



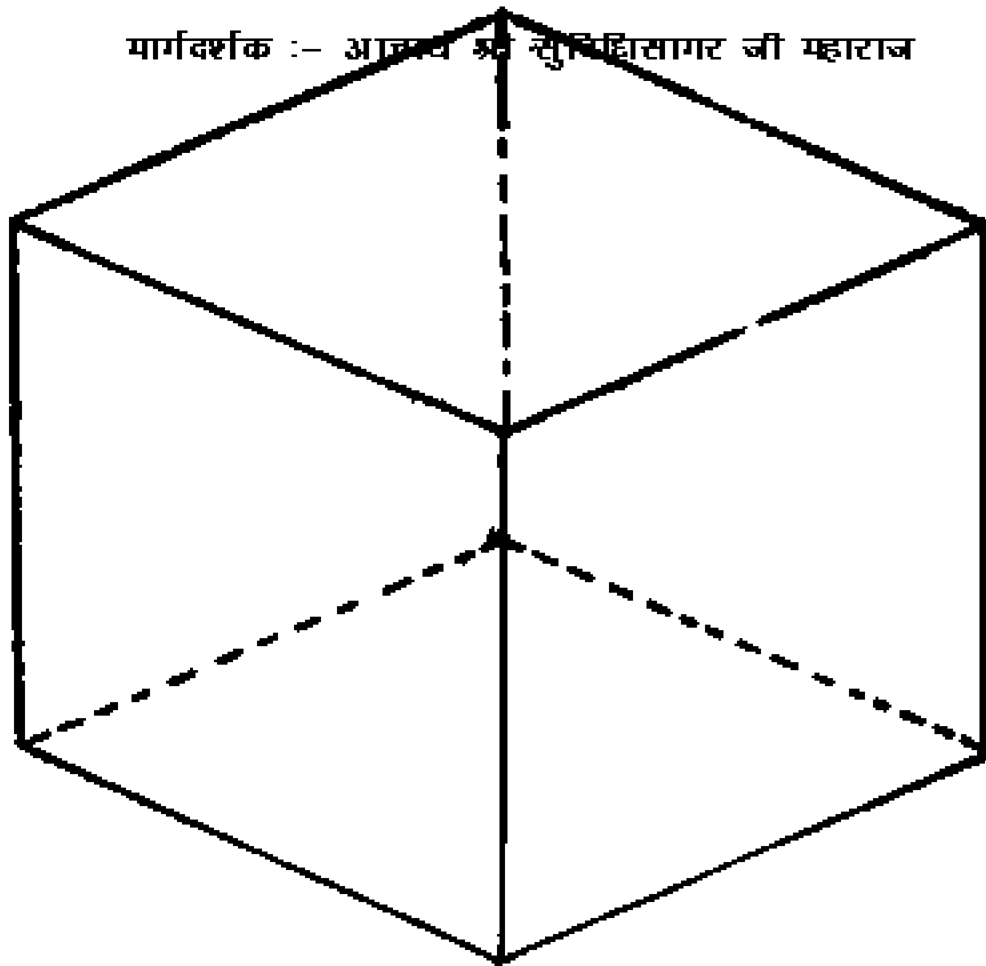
अलोकाकाश के मध्य में लोक



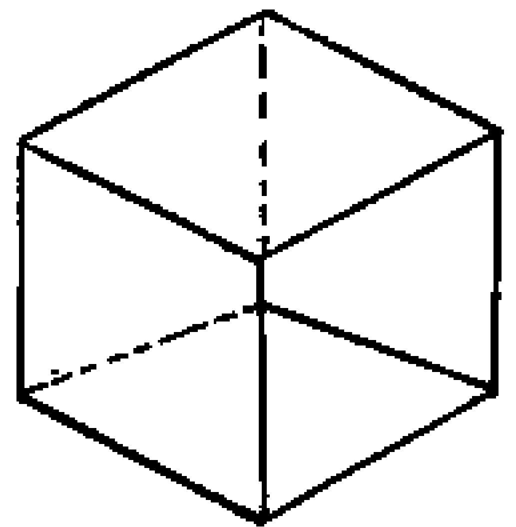
त्रस नाली का चित्र



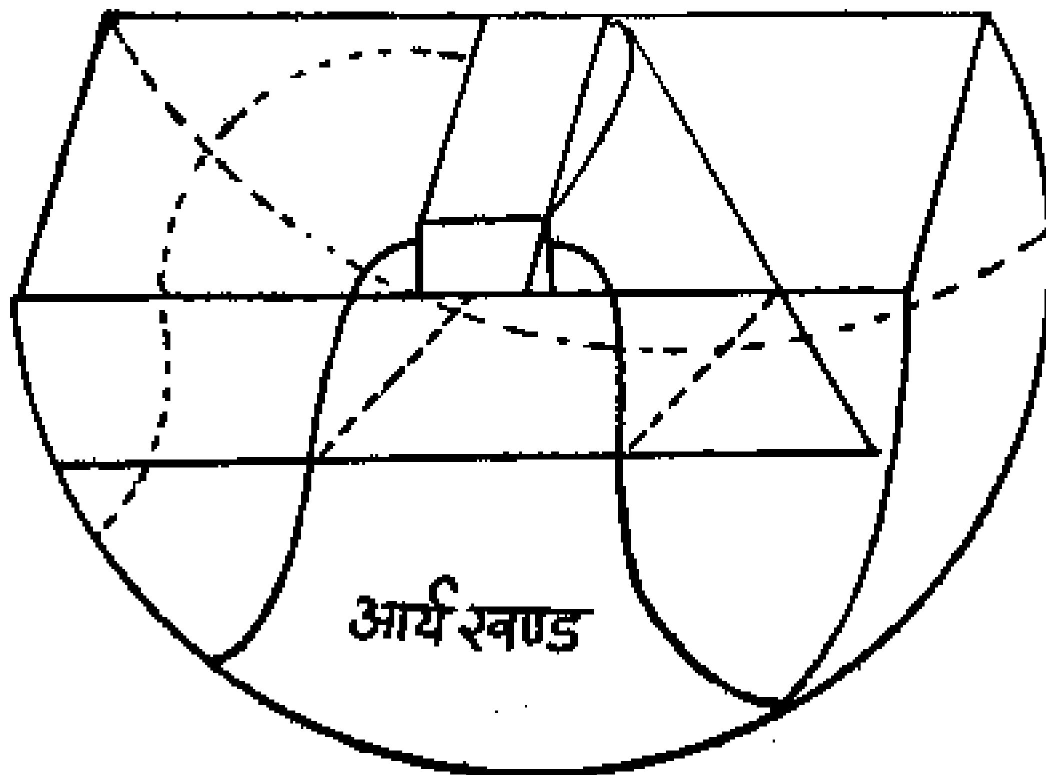
"लोक या अलोक के मध्यवर्ती आठ प्रदेश"



समघन चतुरस्र अलोकाकाश का आकार



समघन चतुरस्र कालाणु या पुद्गल परमाणु



भरत क्षेत्र की तस्वीर

ॐ

योऽविभागप्रतिच्छेदानन्तानन्त्यं परं दधत् ।
कर्महा केवलज्ञानं प्रापद्वीरोऽवतात्स नः ॥

अथ षष्ठोऽध्याय: ॥

इसके अनन्तर अब छठे अध्याय का प्रारम्भ किया जाता है । पांचमे अध्याय तक जीव तत्त्व और अजीव तत्त्व का व्याख्यान हो चुका है, अब तत्त्वों के प्रतिपादक "जीवाजीवा" आदि सूत्र में उनके अव्यवहित उत्तर कथन किये गये आस्रव तत्त्व के व्याख्यान का अवसर प्राप्त है उस आस्रव तत्त्व की प्रसिद्धि करने के लिये सूत्रकार महाराज छठे अध्याय का प्रारम्भ करते हुये इस आदिसूत्र का प्रारम्भ करते हैं ।

कायवाङ्मनःकर्म योगः ॥१॥

काय, वचन, और मन का अवलम्ब लेकर जो आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्द (चलन) होना है वह योग कहा जाता है ।

अर्थात्—संसारी आत्माओंमें एक योग नाम की पर्यायशक्ति है गोम्मटसार में "पुग्गल विवाइ देहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स । जीवस्स जाउ सत्ती कम्मागमकारणं जोगो" पुद्गल में विपाक करने वाले शरीर और अंगोपांग नाम कर्म की प्रकृति का उदय होने पर मन, वचन, और काय से युक्त हो रहे जीव की जो कर्म और नोकर्मों के आगमन की कारण, हो रही शक्ति है यह योग है, यह भाव योग कहा जा सकता है । इस भाव योगरूप पुरुषार्थ से आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्द हो जाना स्वरूप द्रव्ययोग उपजता है । ग्रहण की जा चुकीं या ग्रहण करने योग्य हो रहीं मन, वचन, कायों, की वर्गणाओं का अवलम्ब पाकर आत्मा के वह कम्पस्वरूप योग उत्पन्न हुआ अनादि काल से तेरहवें गुणस्थानतक सदा कर्मनोकर्मों का आकर्षण करता रहता है । भाव योग अपरिस्पन्द आत्मक है और द्रव्ययोग परिस्पन्द आत्मक है । अवलम्ब के भेद से १ सत्यमनोयोग २ असत्यमनोयोग ३ उभयमनोयोग, ४ अनुभय मनोयोग ५ सत्यवचन योग ६ असत्यवचन योग ७ उभयवचन योग ८ अनुभयवचन योग ९ औदारिककाययोग १० औदारिक मिश्रकाययोग ११ वैक्रियिक काययोग १२ वैक्रियिक मिश्रकाय योग १३ आहारक काय योग १४ आहारकमिश्रकाययोग, १५ कार्मणकाययोग, ये योग के पन्द्रह भेद हो जाते हैं । अतः शरीर, वचन और मन का अवलम्ब ले रहे संसारी आत्मा का प्रदेश परिस्पन्द योग कह दिया जाता है ।

नन्वजीवपदार्थव्याख्यानानंतरमास्रवे वक्तव्ये किं चिकीर्षुः सूत्रकारः प्रागेव योगं ब्रवीतीत्यारेकायामिदमुपदिश्यते ।

यहाँ किसी का प्रश्न है कि अजीव पदार्थ का व्याख्यान हो चुकने के अव्यवहित उत्तर काल में तो सूत्रकार को आस्रव तत्त्व का निरूपण करना चाहिये था किन्तु अब क्या करने की अभिलाषा रखते हुये सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज पहिले ही से एकदम न जाने यहांपर योग का कथन कर रहे हैं ? समझ में नहीं आता। इस प्रकार आशंका प्रवर्तने पर ग्रन्थकार श्री विद्यानन्द स्वामी करके अग्रिम वार्तिक द्वारा समाधान कारक यह उपदेश किया जाता है।

अथास्रवं विनिर्देष्टुकामः प्रागात्मनोऽजसा।
कायवाङ्मनसां कर्म योगोऽस्तीत्याह कर्मणाम् ॥ १ ॥

अब छठे अध्याय के आदि में आस्रव तत्त्व का ही विशेषतया निर्देश करने के लिये अभिलाषा रखते हुये सूत्रकार महाराज सब से प्रथम "कायवाङ्मनसां कर्म योगोऽस्ति" काय, वचन, मनों, का अवलम्ब लेकर परिस्पन्द होना योग है यों इस योग को कह रहे हैं जो कि आत्मा के निकट ज्ञानावरणादि कर्मों के आस्रव करने का हेतु है अतः झटिति आस्रव को नहीं कह कर उसके प्राणभूत योग को कह दिया गया है। पूर्व आचार्यों की सम्प्रदाय अनुसार योग को आस्रव कहा गया है। अतः योग का लक्षण कर ही द्वितीय सूत्र द्वारा झट उसी को आस्रव कह देंगे।

आत्मनः कर्मणां ज्ञानावरणादीनामास्रवं विनिर्देष्टुकामोऽजसा प्रागेव कायवाङ्मनसां कर्म योगोऽस्तीत्याहेदं सूत्रं। तत्र योज्यते अनेनात्मा कर्मभिरिति योगो बंधहेतुर्न पुनः समाधिः युजेर्योगार्थस्य ण्यंतस्य प्रयोगात्। पुंसि घः प्रायेणेति घस्य विधानात्। स च कायवाङ्मनःकर्म, तेनैवात्मनि ज्ञानावरणादिकर्मभिर्बंधस्य करणात् तस्य बंधहेतुत्वोपपत्तेः।

संसारी आत्मा के ज्ञानावरणादि कर्मों के आस्रव का विशेषतया निर्देश करने के लिये अभिलाषुक हो रहा मेरा परम गुरु सूत्रकार झट पहिले ही से शरीर, वचन, और मन का कर्म योग होता है, इस पदानुपूर्वी अनुसार यों यहाँ इस उक्त सूत्र को कह बैठा है। यहाँ एक ग्रन्थकार आचार्य दूसरे पूर्ववर्त्ती पूज्य आचार्य को स्थान-स्थान पर एकवचन से प्रयुक्त करते हैं तदनुसार ही मुझ देशभाषा अनुवादकार ने भी वैसा ही अर्थ लिख दिया है। हाँ, अन्य स्थलों पर एकवचन पद का अर्थ देश काल पद्धति अनुसार विनय की रक्षा करते हुये बहुवचन के अनुकूल किया गया है। काव्य का प्राण मानी गयी वक्रोक्ति से आस्रव का विशेष निर्देश करने के लिये उपात्त किये गये उस सूत्र में कहे गये योग शब्द का निरुक्तिपूर्वक अर्थ यह है कि इस योग करके आत्मा कर्मों के साथ जोड़ दिया जाता है। इस कारण योग कर्म, नोकर्म, के बन्ध का हेतु है। युजिर् योगे धातु के ण्यन्त पद अनुसार कर्म में प्रत्यय कर विग्रह करते हुये पुनः घ प्रत्यय लाकर योग शब्द को बना लिया जाय। अर्थात्-योग ही जीवों का कर्म से बंध हो जाने का प्रधान कारण है। योग नहीं होता तो सभी जीव शुद्ध सिद्ध परमेष्ठी भगवान् हो जाते। यहाँ प्रकरण अनुसार फिर "युज समाधौ" इस दिवादि गण की युजधातु से योग शब्द को नहीं बनाया जाय। क्योंकि चित्तवृत्ति निरोध स्वरूप समाधि तो बन्ध का कारण नहीं है प्रत्युत समाधि तो संवर का कारण है। अतः योग यानी सम्बन्ध कराना अर्थ को कह रही ण्यन्त युज धातु का प्रयोग किया गया है "पुंसि घः प्रायेण" इस सूत्र करके यहाँ घ प्रत्यय का विधान किया गया है और यों योग शब्द की सिद्धि हो जाने से

यह योग काय, वचन, मनों, का कर्म है। उस योग करके ही आत्मा में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, आदि कर्मों के साथ बन्ध होना किया जाता है अतः उस योग को बन्ध का हेतुपना युक्तियों से बन जाता है।

प्रधानपरिणामो योग इत्ययुक्तं, तस्यात्मबंधहेतुत्वायोगात् । प्रधानस्यैव बंधहेतुरसाविति चायुक्तं, बंधस्योभयस्थत्वसिद्धेः । तर्हि जीवाजीवपरिणामो बंध इति चेत्, सत्यं जीवकर्मणोर्बंधस्य तदुभयपरिणामहेतुकत्ववचनात् ।

यहाँ कपिल मत के अनुयायी सांख्य कहते हैं कि उपर्युक्त योग तो प्रधान यानी सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणों की समता स्वरूप प्रकृति का परिणाम (विवर्त) है आचार्य. कहते हैं कि यों उन सांख्यों का कहना युक्ति रहित है। क्योंकि प्रकृति के विवर्त माने गये उस योग को आत्मा के बद्ध हो जाने की हेतुता घटित नहीं हो पाती है। प्रकृति का परिणाम माना गया योग भला सर्वथा उदासीन पड़े हुये परद्रव्य आत्मा को बंधन में नहीं डाल सकता है। स्वयं अपने परिणाम ही निज को बंध जाने या छूट जाने के हेतु हो सकते हैं। इस पर सांख्य यदि यों कहें कि आत्मा का बंधन होता ही नहीं है प्रकृति ही बंधती है और प्रकृति ही मुक्त होती है तदनुसार वह प्रकृति का परिणाम हो रहा योग उस प्रकृति के ही बंध जाने का हेतु है। ग्रन्थकार कहते हैं कि कापिलों का यह कहना भी युक्तियों से रीता है कारण कि बंध के दोनों में ठहर जाने की सिद्धि हो रही है। संयोग, पृथक्त्व, बंध, आदि परिणतियां दो आदि पदार्थों में रहती हैं। "द्विष्ठः सम्बन्धः" सम्बन्ध दो में रहता है और "अनेकेषामेकत्वबुद्धिजनकसम्बन्धविशेषो बंधः" अनेक पदार्थों के कथंचित् एक हो जाने की बुद्धि को उपजाने वाला सम्बन्ध विशेष हो रहा बंध तो दो अवयव

वाले अवयपदार्थ में ठहरता है, यह बात सिद्ध कर दी गयी है। यहाँ कोई तटस्थ विद्वान् कहता है कि तब तो जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य इन दोनों का परिणाम बंध मान लिया जाय। यों कहने पर तो आचार्य कहते हैं कि यह तुम्हारा कहना ठीक है क्योंकि जीव और कर्म का बंध हो जाने के कारण उन जीव, कर्म दोनों के परिणाम विशेष कहे हैं। अर्थात्-आर्षजैनग्रन्थों में कहा है कि "जोगा पयडि पएसा ठिदिअणुभागा कसाअदो होंति" जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन" आत्मा के परिणाम हो रहे योग और कषाय तथा वैभाविक शक्ति का निमित्त पाकर कार्मण वर्गणाओं में उपज गई कर्मत्व शक्ति ये कारण ही जीव, और कर्मों का बंध करा देते हैं। यहाँ प्रकरण में जीव के परिणाम हो रहे योग का लक्षण कर दिया है।

कायादिक्रियालक्षणयोगपरिणामो जीवस्यानुपपन्नो निष्क्रियत्वादिति न मंतव्यं ।

यहाँ किसी नैयायिक या वैशेषिक का पूर्वपक्ष है कि जीव का काय, वचन, आदि की क्रिया स्वरूप योग नामक परिणति होना तो बन नहीं सकता है। क्योंकि जीवद्रव्य तो क्रियाओं से रहित है व्यापक द्रव्यों में क्रिया नहीं हो सकती है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं मानना चाहिये कारण कि—

कायादिवर्गणालंबप्रदेशस्पंदनं हि यत् ।
युक्तं कायादिकर्मास्य सक्रियत्वप्रसिद्धितः ॥ २ ॥

शरीर, वचन, मन इनके उपयोगी वर्गणाओं का अवलम्ब पाकर जो जीव के प्रदेशों का कम्प होता है वही इस जीव के उक्त सूत्र अनुसार काय आदि का कर्म तो योग कहा गया समुचित है जब कि जीव के क्रिया सहितपन की पूर्वप्रकरणों में प्रमाणों से सिद्धि कर दी गयी है। स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से अपना

जाना, आना, अनेक जीवों को अनुभूत हो रहा है। शरीरधारी दूसरे जीव भी यहाँ वहाँ क्रिया करते हुये प्रतीत हो रहे हैं। श्री उमास्वामी महाराज के सूत्रों से ही जीव और पुद्गल का क्रियासहितपना निर्णीत कर दिया गया है।

जीवस्य सक्रियत्वसाधनादुपपन्नमेव हि कायादिकर्मेष्यते। कायवर्गणालंबिप्रदेशपरिस्पन्दनस्यात्मनि कायकर्मत्वाद्वाग्वर्गणालंबिनस्तस्य वाक्कर्मत्वात् मनोवर्गणापुद्गलालंबिनो मनःकर्मत्वात्। न च तस्यायोगकेवलिनि सिद्धे वा प्रसक्तिस्तयोः प्रदेशपरिस्पन्दनाभावात्।

जब कि जीव के क्रियासहितपन की सिद्धि कर देने से जीव के काय आदि द्वारा क्रिया होना युक्तिपूर्ण हो रहा ही अभीष्ट कर लिया जाता है तो भी आत्मा को क्रियारहित माने जाना वैशेषिकों का अनुचित हठ है। देखिये, औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, इन तीन शरीरों के उपयोगी हो रही आहार वर्गणा तथा तैजस, कार्मण, इन दो सूक्ष्म शरीरों के अनुकूल हो रही तैजस वर्गणा और कार्मण वर्गणा का आलम्बन कर आत्मा में हुये प्रदेशपरिस्पन्द को कायकर्म कहा गया है। एवं वचनों के उपयोगी भाषावर्गणा का अवलम्ब करने वाले उस आत्मनिष्ठ प्रदेशपरिस्पन्द को वचनकर्म माना गया है। तथा हृदय में बनने योग्य द्रव्य मन को रचने वाले मनोवर्गणा स्वरूप पुद्गलों का आलम्ब कर रहे आत्मप्रदेश परिस्पन्द को मनःकर्म कहा गया है। अतः आत्मा की विशेष क्रियायें ही योग मानी गई हैं। यदि यहाँ कोई यों आक्षेप करे कि उस प्रदेश परिस्पन्दस्वरूप योग का तो चौदहवें गुणस्थान वाले अयोग केवली महाराज में और संसार अवस्था से अतीत हो रहे सिद्ध परमेष्ठियों में प्रसंग प्राप्त हो जायेगा, आचार्य कहते हैं कि उक्त प्रसंग ठीक नहीं है। क्योंकि उन अयोगकेवलियों और सिद्धों में आत्मा के प्रदेशों में परिस्पन्द नहीं पाया जाता है। चौदहवें गुणस्थानमें आत्मा अकम्प रहता है और चौदहवें गुणस्थान के पश्चात् स्वभावसे ही ऊर्ध्वगतिवाला शुद्ध आत्मा अकम्प होकर सात राजू ऊंचा गमन करता हुआ उसी समय सिद्धालय में विराजमान हो जाता है।

तथाहि—अयोगकेवलिनो न प्रदेशस्पंदः समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपातिध्यानाश्रयत्वात्। यस्य तु प्रदेशस्पंदः स्यात् स तथा प्रसिद्धो यथा सयोग इति युक्तिः। सिद्धानामत एव प्रदेशस्पंदाभावस्तेषामयोगव्यपदेशः समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपातिध्यानाश्रयत्वासिद्धेर्व्यपदेश्यचारित्रमयत्वात् कायादिवर्गणाभावाच्च सिद्धानां न योगो युज्यते। ततो वीर्यांतरायस्य क्षयोपशमे क्षये वा सति कायादिवर्गणालम्बितो जीवप्रदेशपरिस्पन्दो योगस्त्रिविधः प्रत्येतव्यः।

इसी सिद्धान्त को अनुमान द्वारा विशाल रूप से ग्रन्थकार यों दिखलाते हैं कि अयोग केवली के (पक्ष) प्रदेशों का परिस्पन्द नहीं है (साध्य) समुच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपाति नाम के चौथे शुक्ल ध्यान का आश्रय होने से (हेतु) जिस जीव के प्रदेश का कम्प होगा वह जीव तो तिस प्रकार समुच्छिन्नक्रिया-निवर्त्तिध्यान का आधार नहीं हो सकता है जिस प्रकार कि अन्य तेरह गुणस्थानों वाले जीव हैं। यों तेरहवें गुणस्थान वाले सयोगकेवली हैं (व्यतिरेकदृष्टान्त) यह युक्ति अयोगकेवली के प्रदेश परिस्पन्द का निवारण कर देती है। अर्थात्-तेरहवें गुणस्थान के अन्त में अन्तर्मुहूर्त पहिले बादर योगों का उपसंहार कर सूक्ष्म काययोग का अवलम्ब करता हुआ सयोगी परमेष्ठी सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाती नामक तीसरे शुक्ल-

[illegible]न को धारता है। पश्चात्-प्राण, अपान, प्रचार आदि सूक्ष्म क्रियाओं का भी उच्छेद कर चौदहमे गुणस्थान में समुच्छिन्नक्रियानिवर्त्ति नामक ध्यान का आश्रय हो रहे अयोग केवली आत्मा के प्रदेशों का कम्प नहीं हो पाता है। इस ही कारण से सिद्ध आत्माओं के कम्प होने का अभाव समझा दिया गया है। अतः प्रदेशों का परिस्पन्दस्वरूप योग नहीं होने से उन सिद्धों का भी अयोग केवली इस शब्द द्वारा कथन किया जा सकता है। यद्यपि चौदहमे गुणस्थान वाले अयोग केवलीके व्युपरतक्रियानिवर्त्ति ध्यान है और सिद्धों के समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती नामक चौथे शुक्लध्यान का आश्रयपना सिद्ध नहीं है तथापि अवक्तव्य होकर अयोगपना सिद्धों में व्यवस्थित है। कारण कि सिद्ध भगवान् नहीं कथन करने योग्य चारित्र के साथ तन्मय हो रहे हैं। भावार्थ—योग नामक पर्याय शक्ति तेरहमे गुणस्थान तक ही पायी जाती है। बहिरंग क्रियाओं और अन्तरंग क्रियाओं का निरोध होना चारित्र है। चारित्रमोहनीय कर्म के उदयसे चारित्र गुणका विभाव परिणाम होता रहता है। संसारी जीवोंके पूज्य चारित्रका स्वरूपाचरण देश चारित्र, सकल चारित्र, यथाख्यात चारित्र, अथवा सामायिक छेदोपस्थापना आदि शब्दों द्वारा निरूपण करा दिया जाता है, सिद्धों के चारित्रका शब्दों द्वारा कथन नहीं हो सकता है। अस्तित्व, वस्तुत्व, चेतना, वीर्य, आदि अनुजीवी गुण भी अनादि अनन्त काल तक जीवों में ठहर रहा है। सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहन, अगुरु लघु, अव्याबाध, इन आठ गुणों में कण्ठोक्त रूप से चारित्र गुण को परिगणित नहीं किया है फिर भी अनेक निर्विकल्पक गुण आत्मा में व्यपदेश किये बिना [illegible] बनी रहना चारित्र है। अतः सिद्धिलाभ, आत्मस्वरूपप्राप्ति, चारित्र इनको शब्दों करके स्वतंत्र रूप से व्यपदेश करने की आवश्यकता नहीं है। नहीं व्यपदेश करने योग्य चारित्र के साथ योगरहितपना भी तन्मय हो रहा है। आत्मा में अनेक गुण या अनन्तानन्त स्वभाव अन्तर्गूढ हो रहे हैं। सच बात तो यह है कि वस्तु के सम्पूर्ण अंशों का सर्वांग निरूपण हो नहीं सकता है। जो निर्विकल्पक या अव्यपदेश है वही परिपूर्ण है। अतः काय, वचन, आदि के उपयोगी वर्गणाओं का अवलम्ब नहीं होने से सिद्धों के योग मान लेना समुचित नहीं है। तिस कारण सिद्ध हो जाता है कि वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम अथवा क्षय होने पर काय आदि वर्गणाओं की लब्धि हो जाने से जीवों के प्रदेशों का परिस्पन्द होना योग है जो कि काययोग, वचनयोग, मनोयोग यों तीन प्रकार का विश्वास कर लेने योग्य है। अर्थात् बारहमे गुणस्थान तक जीवों के योग का अन्तरंग कारण वीर्यान्तरायका क्षयोपशमपुद्गल विपाकी शरीर नाम कर्म का उदय, अक्षराद्यावरणक्षयोपशम, मन इन्द्रियावरण क्षयोपशम आदि है और तेरहमे गुणस्थान में अन्तराय और ज्ञानावरण कर्मों का क्षय उस योग का कारण पड़ जाता है। योग के बहिरंग अवलम्बवर्गणा आदि हैं, आवरण और अन्तराय का क्षय हो जाने पर भी तीनों प्रकार की वर्गणाओं की अपेक्षा रखता हुआ सयोगकेवली भगवान् के आत्म प्रदेशोंकी सकम्प अवस्था रूप योग है। वहाँ काययोग, वचनयोग, मनोयोग ये तीनों विद्यमान हैं। औदारिककाययोग, औदारिकमिश्रकाययोग, कार्मणकाययोग, सत्यवचनयोग, अनुभयवचनयोग, सत्यमनोयोग, अनुभयमनोयोग ये उक्त योगों के सात भेद तेरहमे गुण-स्थान में हैं।

कोई शिष्य प्रश्न करता है कि उक्त तीन प्रकार के योग को हमने समझ लिया है किन्तु पाँचमे अध्याय तक जीव, अजीव, तत्त्वों का निरूपण कर चुकने पर प्रकरण प्राप्त आस्रव तत्त्व का इस समय निर्देश करना चाहिये था। इसके लिये टालमटूल क्यों की जा रही है। इस प्रकार प्रश्न होने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

स आस्रवः ॥२॥

जो ही पूर्व में कहा गया तीन प्रकार का योग है वही आस्रव है। अर्थात् आत्मा की योग नामक परिणति करके दूरदेशवर्त्ती कर्मनोकर्म इस आत्मा के पास खिंचे चले आते हैं अथवा समीपस्थ योग्य पुद्गलपिंड भी कर्मपने करके परिणत हो जाते हैं वह आस्रव है। आस्रवति कर्म अनेन यह निरुक्ति अच्छी है।

स आस्रव इत्यवधारणात् केवलिसमुद्घातकाले दंडकपाटप्रतरलोकपूरणकाययोगस्यास्रवत्वव्यवच्छेदः। कायादिवर्गणालंबनस्यैव योगस्यास्रवत्ववचनात्। तस्य तदनालंबनत्वात्। कथमेवं च केवलिनः समुद्घातकाले सद्वेद्यबंधः स्यादिति चेत्, कायवर्गणानिमित्तात्मप्रदेशपरिस्पन्दस्य तन्निमित्तस्य भावात्स इति प्रत्येयं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

"स आस्रवः" इस सूत्रके उद्देश्यदल में एवकार लगाकर "वह योग ही आस्रव है" इस प्रकार अवधारण करने से तेरहमे गुणस्थानवर्ती केवली के समुद्घातकाल में दण्ड, कपाट, प्रतर, लोकपूरण अवस्थाओं के काययोग को आस्रवपन का व्यवच्छेद कर दिया गया है। क्यों कि काय आदि तीन प्रकार की वर्गणाओं का आलम्बन ले रहे ही योग के आस्रवपन का यहाँ कथन है और वह दण्ड आदि अवस्थाओं का योग तो उन वर्गणाओं का आलम्बन नहीं करता है। हाँ उससे पहिले के योग तो वर्गणाओं को आलम्बन कारण मानकर उपजते हैं। भावार्थ—जब केवली भगवान् की अन्तर्मुहूर्त आयु शेष रह जाती है यदि उस समय शेष तीन अघातिया कर्मों की भी स्थिति उसके तुल्य है तब तो केवलिसमुद्घात नहीं किया जाता है। और जब अन्तर्मुहूर्त स्थितिवाले आयुकर्म से वेदनीय, नाम, गोत्र,कर्मो की स्थिति अधिक होय तब निरिच्छ आत्मपुरुषार्थ द्वारा सयोगी भगवान् चार समयों में दण्ड आकार, कपाट आकार, प्रतर आकार और लोकपूरण रूप से आत्मप्रदेशों को फैला देते हैं। पुनः उतने ही समयों में संकोच कर चारों कर्मों की स्थिति समान कर लेते हैं। उस समय का योग आस्रव नहीं है। क्योंकि उस योग की उत्पत्ति में काय आदिवर्गणायें अवलम्ब हेतु नहीं हुई हैं। वह शुद्ध योग केवल कर्मों की शक्ति का नाश करने वाले स्वभावों के धारी आत्म प्रयत्न से ही उत्पन्न हुआ है। यदि यहाँ कोई यों प्रश्न उठावे कि इस प्रकार दण्ड आदि अवस्थाओं के योग को आस्रवपन का व्यवच्छेद कर देने पर भला केवली भगवान् के समुद्घात काल में साता वेदनीय कर्म का बंध कैसे होगा ? बताओ। अर्थात्—"समयट्ठिदिगो बंधो, समयियट्ठि दीसादं" यों तेरहमे गुणस्थान में एक समय स्थितिवाले सातावेदनीय कर्म का बंध कहा है और बंध आस्रवपूर्वक होता है। जब समुद्घात कालमें केवली के आस्रव ही नहीं मानते हो तो बंध कैसे होगा ? यों प्रश्न करने पर तो आचार्य कहते हैं कि गृहीत हो चुकी कायवर्गणा को निमित्त पाकर हुए आत्म प्रदेशों के परिस्पन्द का वहाँ सद्भाव है, जो कि उस बंध का निमित्त है अतः उस परिस्पन्द से वह सद्वेद्य का बंध हो जाता है। केवली समुद्घात काल में सूक्ष्मयोग माना गया है। उसको निमित्त पाकर स्वल्प बंध हो गया है। दण्ड आदि योग उस बंध का निमित्त नहीं है। अतः परिस्पन्द हेतुक बंध हो जाने में कोई बाधा नहीं पड़ती है। किन्तु केवली समुद्घात के योग को आस्रव नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि वहाँ काय, वचन और मनका अवलम्ब पाकर आत्मा का प्रदेशपरिस्पन्द नहीं हुआ है। यों सूक्ष्मतत्त्व का

विश्वास कर लेना चाहिये । अने[illegible] शिष्य को प्रतीति कर लेना समुचित है ।

कायवाङ्मनःकर्मास्रव इत्येकमेव सूत्रमस्तु लघुत्वादिति चेन्न, योग आस्रव इति सिद्धांतोपदेशप्रत्याख्यानप्रसंगात् । तर्हि योग आस्रव इत्यस्तु निरवद्यत्वादिति चेन्न, केवलिसमुद्घातस्याप्यास्रवत्वप्रसंगात् तस्य लोके योगत्वेन प्रसिद्धेः संदेहाच्च कायवाङ्मनःकर्म योग आस्रव इत्यपि न श्रेयः, संदेहप्रसक्तेः । कायवाङ्मनःकर्म योग इत्यपि संकेतं कुर्यात् न चैवं तद्युक्तं तस्य योगलक्षणत्वेन निर्देशात् । संबंधस्यात्मनि निष्क्रियेऽपि भावात्स एवास्रवो युक्त इति चेन्न, आत्मनो निष्क्रियत्वनिराकरणात्तत्र तत्कर्मण एव भावात् । ततो योगविभाग एव श्रेयान् निःसंदेहार्थत्वात् तदन्यस्यापि योगस्यास्तित्वसंप्रतिपत्तेश्च ।

यहाँ कोई शंका उठाता है कि "कायवाङ्मनःकर्मास्रवः" शरीर वचन और मन का कर्म ही आस्रव है, इस प्रकार एक ही सूत्र बनाया जाओ, इसमें लाघव है, दो सूत्रों के स्थान पर एक ही सूत्र होगा और तत् शब्द के प्रथमा विभक्ति के एकवचन माने गये पुल्लिंग सः शब्द का प्रयोग नहीं करना पड़ेगा । ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि ऋषि प्रोक्त सिद्धान्त ग्रन्थों में योग आस्रव है ऐसा आम्नाय पूर्वक उपदेश चला आ रहा है उस आगम प्रसिद्ध अर्थ के परित्याग का प्रसंग आ जावेगा । आगम में योग को आस्रव और कर्मों के आगमन के कारण को योग कहा जा रहा है । अतः सूत्रकार को भी योग का लक्षण करते हुए उसी को आस्रव कहने के लिये बाध्य होना पड़ा है । धार्मिक उपदेशों की आम्नाय का प्रत्याख्यान नहीं करना चाहिये । पुन शंकाकार यदि यों कहे कि आम्नाय की रक्षा करते हुये सूत्रकार करके योग आस्रव है इतना ही सूत्र निर्दोष होने के कारण बनाया जाय अथवा कायवाङ्मनःकर्म योग आस्रव "काय, वचन, मन, इनका कर्म होना योग ही आस्रव है । योगविभाग नहीं करते हुये इस प्रकार दो सूत्रों का एक योग कर निर्दोष निर्देश हो जाओ । आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि यों तो सम्पूर्ण योगों के आस्रवपन का प्रसंग आजावेगा । केवलिसमुद्घात के अवसर पर हुए औदारिक काययोग, औदारिकमिश्रकाय योग, कार्मणकाययोगों को भी आस्रवपन का प्रसंग आता है, जो कि इष्ट नहीं है । लोक में उस केवलिसमुद्घात के योगों की योगपने करके प्रसिद्धि हो रही है । यहाँ "सूक्ष्मयोगत्वेन प्रसिद्धेः" पाठ अच्छा दीखता है । श्री अकलंकदेवने राजवार्त्तिक में केवलिसमुद्घात काल के योगों को सूक्ष्मयोगपन की इष्टि करना लिखा है । एक बात यह और है कि संदेह हो जाने के कारण "कायवाङ्मनःकर्मयोगः आस्रवः" यह कहना भी श्रेष्ठ नहीं है । देखिये इसमें संदेह हो जाने का प्रसंग आता है कि काय, मन, वचनों, की क्रिया का सम्बन्ध हो जाना आस्रव है ? या काय, वचन, मन, की क्रिया की एकाग्रता (समाधि) आस्रव है ? अतः उक्त लाघव करने पर काय, वचन, मनों की क्रिया योग है यह भी संकेत करना पड़ेगा किन्तु इस प्रकार संकेत करना तो युक्त नहीं पड़ेगा । प्रत्युत उस शरीर, वचन, मन, के अवलम्ब से हुई आत्मा की क्रिया को योग का लक्षणपने करके कण्ठोक्त निरूपण करना आवश्यक पड़ आता है । यदि कोई यों कहे कि योग का अर्थ सम्बन्ध माना जाय तब तो वैशेषिक मत अनुसार क्रिया रहित माने गये आत्मा में सम्बन्ध का सद्भाव है । अतः क्रियारहित आत्मा के साथ वह काय, वचन, मनों, की क्रिया का सम्बन्ध ही आस्रव माना जाय यह युक्त जचता है । ग्रन्थकार कहते

हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि आत्मा के क्रियारहितपन का निराकरण किया जा चुका है। उस आत्मा में उन मन, वचन, कायों के अवलम्ब से हुई प्रदेश परिस्पन्द स्वरूप क्रिया का सद्भाव है तिस कारण उद्देश्यदल और विधेयदल को धार रहे न्यारे न्यारे दो सूत्रों को बना कर योग विभाग करना ही श्रेष्ठ-मार्ग है। सभी संदेहों का निकाल देना इस योग विभाग का प्रयोजन है। दूसरी बात यह है। कि दो सूत्र बनाने से इस सिद्धान्त की भी भले प्रकार प्रतिपत्ति हो जाती है कि आत्मा का योग नामक व्यापार केवल, शरीर, वचन मनों, के अवलम्ब से हुई क्रिया ही नहीं है साथ ही उनसे अन्य भी निराले योग का अस्तित्व है जो कि केवलीसमुद्घात काल में प्रसिद्ध है "फलमुख गौरवं न दोषाय" संदेह की निवृत्ति और अन्य योगका सद्भाव इन फलों को धार रहा यह दो सूत्र बनाने का गौरव दोषाधायक नहीं है।

कुतः पुनर्यथोक्तलक्षणो योग एवास्रवः सूत्रितो न तु मिथ्यादर्शनादयोऽपीत्याह।

यहाँ कोई जिज्ञासु प्रश्न उठाता है कि जैन सिद्धान्त ग्रन्थों की आम्नाय अनुसार सूत्रकार ने जिस योग का लक्षण प्रथम सूत्र में कहा है केवल उस एक योग को ही द्वितीय सूत्र करके श्री उमास्वामी महाराजने क्यों आस्रव कह दिया है? मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद,आदि को भी आस्रव कहना चाहिये था जब कि मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग इन पाँचोंको बंध का हेतु माना गया है। बंध के सभी हेतुओं को आस्रव कहना चाहिये। किन्तु मिथ्यादर्शन आदि को आस्रव नहीं कह कर केवल योग को ही आस्रव मानना उचित नहीं दीखता है। इस प्रकार प्रश्न प्रवर्त्तनेपर ग्रन्थकार वार्त्तिक द्वारा स्पष्ट समाधान कहते हैं उसको सुनिये।

स आस्रव इह प्रोक्तः कर्मागमनकारणम्।
पुंसोऽत्रानुप्रवेशेन मिथ्यात्वादेरशेषतः ॥ १ ॥

आत्मा के निकट कर्मों के आगमन का कारण वह आत्मा प्रदेशपरिस्पन्दस्वरूप योग ही यहाँ प्रकरण में आस्रव अच्छा कहा गया है। मिथ्यात्व, अविरति, आदि बन्धहेतुओं का सम्पूर्ण रूपसे इस योग में अनुप्रवेश हो जाता है इस कारण मिथ्यात्व आदि को कण्ठ से नहीं कहा है। अर्थात्-कर्म नोकर्मों के आगमन का कारण वस्तुतः योग ही है। आत्मा के मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय, ये परिणाम तो उस योग में ही विशिष्टता को उपजा देते हैं, आत्मा के योग को जब मिथ्यादर्शन का प्रसंग मिल जाता है तो यह आत्मा "मिच्छत्त हुण्ड संढाऽसंपत्तेयक्खथावरादावं। सुहमतियं वियलिंदीणिरयदु-णिरयाउगं मिच्छे" इन सोलह प्रकृतियों का बंध कर लेता है अन्यथा नहीं। असम्भव पदार्थ की भी कल्पनावश सम्भावना करने वाला कवि कह सकता है कि आत्मा में यदि योग नहीं होता और मिथ्यादर्शन, अविरति, बने भी रहते तो भी आत्मामें अणुमात्र का बंध नहीं हो सकता था अतः प्रधान शक्तिशाली योग को आस्रव कह देने से ही मिथ्यादर्शन आदि उस योग में ही अन्तर्भूत हो रहे समझ लिये जाते हैं।

मिथ्यादर्शनं हि ज्ञानावरणादिकर्मणामागमनकारणं मिथ्यादृष्टेरेव न पुनः सासादन-सम्यग्दृष्ट्यादीनां। अविरतिरप्यसंयतस्यैव कात्स्र्न्येनैकदेशेन वा। न पुनः संयतस्य, प्रमादोऽपि प्रमत्तपर्यंतस्यैव नाप्रमत्तादेः, कषायश्च सकषायस्यैव न शेषस्योपशांतकषायादेः, योगः पुनरशे-

मतः सयोगकेवल्यंतस्य तत्कारणमिति स एवास्रव प्रोक्तोऽत्र शास्त्रे संक्षेपादशेषास्रवप्रतिपत्त्यर्थत्वान्मिथ्यादर्शनादेरत्रैव योगेऽनुप्रवेशात् तस्यैव मिथ्यादर्शनाद्यनुरंजितस्य केवलस्य च कर्मागमनकारणत्वसिद्धेः ।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

देखिये आत्मा का मिथ्यादर्शन परिणाम विचारा मिथ्यादृष्टि जीव के ही ज्ञानावरण, मिथ्यात्व प्रकृति, आदि कर्मों के आगमन का कारण है किन्तु फिर द्वितीय गुणस्थानवर्त्ती सासादन से सम्यग्दृष्टि या तृतीय गुणस्थानवर्त्ती सम्यङ्मिथ्यादृष्टि आदिक जीवों के ज्ञानावरण आदि का आस्रवण हेतु वह मिथ्यादर्शन नहीं है अतः मिथ्यात्व को कर्म आगमन का हेतु कह देने से अव्याप्तिदोष आ जायेगा। इसी प्रकार बंध का हेतु मानी गयी अविरति भी संयम रहित जीवों के ही ज्ञानावरण आदि कर्मों का आस्रवण हेतु है किन्तु फिर पूर्ण रूप से संयमी हो रहे छठे गुणस्थानवर्त्ती मुनि के अथवा एक देश करके देशसंयमी हो रहे श्रावक के ज्ञानावरणादि कर्मों के आगमन का कारण वह अविरति कथमपि नहीं है। प्रमाद भी मिथ्यादृष्टि को आदि लेकर छठे गुणस्थानवर्त्ती प्रमत्त मुनियों पर्यन्त ही ज्ञानावरण आदि कर्मों का आगमन करता है किन्तु अप्रमत्त, अपूर्वकरण आदि संयमियों के निकट कर्मों का आगमन हेतु प्रमाद नहीं है। तथा कषाय भी दशमे गुणस्थान तक कषायवाले जीवों के ही कर्म बंध का हेतु हो सकेगी। शेष बच रहे ग्यारहवें आदि गुणस्थानवर्त्ती उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, और सयोग केवली जीवों के कर्म आगमन का हेतु कषाय नहीं है। हाँ, योग तो फिर मिथ्यादृष्टि को आदि लेकर सयोगकेवली पर्यन्त अशेषरूप से जीवों के उस कर्म, नोकर्मों के आगमन का कारण है इस कारण इस तत्त्वार्थ शास्त्र ग्रन्थ में सूत्रकार करके वह योग ही आस्रव बहुत अच्छा कहा जा चुका है चूंकि संक्षेप से सम्पूर्ण आस्रवों की प्रतिपत्ति हो जाना इसका प्रयोजन है। पृष्ठ लग्न मिथ्यादर्शन, अविरति आदि का इस योग में ही प्रवेश हो जाता है क्योंकि मिथ्यादर्शन, अविरति आदि करके पीछे रंगे जा चुके केवल योग को ही कर्मों के आगमन का कारणपना सिद्ध है पीले लाल या हरे रंग से रंगा हुआ वस्त्र जैसे वस्त्र ही कहा जाता है उसी प्रकार अनादिकाल से धड़ाधड़ कर्म नोकर्मों को खींच रहा योग भी पुनः मध्य मध्य में यथायोग्य मिथ्यादर्शन आदि भावों से रंगा जा रहा सन्ता भिन्न प्रकार के कर्मों का आगमनहेतु बन रहा है अतः योग को ही आस्रव कह रहे सूत्रकार के पूर्ववर्त्ती वचन का "मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतवः ॥" इस उत्तरवर्त्ती वचन के साथ कोई पूर्वापर विरोध दोष नहीं आता है।

कीदृशः स योगः पुण्यस्यास्रवः कीदृशश्च पापस्येत्याह ।

मानू कोई जिज्ञासु पूंछता है कि पुण्य, और पाप यों कर्म दो प्रकार के हैं सो बताओ कि किस प्रकार का वह योग पुण्य का आस्रव है ? और किस जाति का वह योग पाप के आस्रव का हेतु है ? इस प्रकार जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र का परिभाषण करते हैं।

शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य ॥३॥

अहिंसा भाव, सत्य भाषण, शास्त्र विनय, आत्म चिंतन, आदि शुभ परिणामों से बनाया गया शुभ योग तो पुण्य का आस्रव हेतु है और हिंसा करना, झूंठ बोलना, मारने का विचार, आदि अशुभ परिणामों से सम्पादित हुआ अशुभ योग पाप का आस्रव (आस्रव हेतु) है।

सम्यग्दर्शनाद्यनुरंजितो योगः शुभो विशुद्ध्यंगत्वात्, मिथ्यादर्शनाद्यनुरंजितोऽशुभः संक्लेशांगत्वात्। स पुण्यस्य पापस्य च वक्ष्यमाणस्य कर्मण आस्रवो वेदितव्यः।

सम्यग्दर्शन, ब्रह्मचर्य, हित भाषण, तपोरुचि, आदि से अनुकूल होकर रंग दिया गया आत्मप्रदेशकम्पस्वरूप योग तो शुभ योग है क्योंकि वह विशुद्धि का अंग है। अर्थात् वह शुभ योग विशुद्धि का कारण है, पूर्व विशुद्धि से उत्पन्न हुआ होने से विशुद्धि का कार्य है और स्वयं विशुद्धि स्वभाव है। तथा मिथ्यादर्शन, मैथुनप्रयोग, चोरी आदि से अनुरंजित हो रहा योग अशुभ योग समझा जाता है क्योंकि वह अशुभ योग संक्लेश का कारण और संक्लेश का कार्य तथा स्वयं संक्लेशस्वरूप होने से संक्लेश का अंग है। आदर्श — जैसे ब्रह्मचर्य अभिप्राय पहिली आत्मविशुद्धि से उपजा है पीछे आत्मविशुद्धि का कारण है। ब्रह्मचर्य स्वयं तत्काल में विशुद्धि स्वरूप है। ब्रह्मचर्य से आनन्द उपजता है। इसकी अपेक्षा ब्रह्मचर्य, सत्य, दया, आदि स्वयं विशुद्धि, आनन्द, स्वरूप हैं। यह अभेदान्वय अच्छा जँचता है। इसी प्रकार व्यभिचार विभाव भी संक्लेश से उपजा है पुनः संक्लेश को उपजावेगा उस समय भी संक्लेश स्वरूप है। (दुःखमेव वा) व्यभिचार से दुःख होगा इसकी अपेक्षा व्यभिचार स्वयं दुःख है यह साहित्य अच्छा है। अतः ब्रह्मचर्ययुक्त आत्मा का व्यापार शुभ योग है और व्यभिचार युक्त आत्मकम्प अशुभ योग है। वह शुभ, अशुभ, योग भविष्य में कहे जाने वाले पुण्यकर्म और पापकर्म का आस्रव हो रहा समझ लेना चाहिये। अर्थात्—"सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यं" "अतोऽन्यत्पापम्" इन सूत्रों अनुसार कहे जाने वाले पुण्य कर्म और पापकर्म का आस्रव हेतु शुभ योग और अशुभ योग हैं। यह तात्पर्य इस सूत्र द्वारा ज्ञात हो जाता है।

एतेन स्वस्मिन् दुःखं परत्र सुखं जनयन् च पुण्यस्य, स्वस्मिन् सुखं परस्मिन् दुःखं च कुर्वन् पापस्यास्रव इत्येकांतो निरस्तः। विशुद्धिसंक्लेशात्मकस्यैव स्वपरस्थस्य सुखासुखस्य पुण्यपापास्रवत्वोपपत्तेरन्यथातिप्रसंगात्। तदुक्तं-"विशुद्धिसंक्लेशाङ्गं चेत्स्वपरस्थं सुखासुखं। पुण्यपापास्रवो युक्तो न चेद्व्यर्थस्तवार्हतः" ॥ इति तदेवं।

इस उक्त कथन करके इस एकान्त का भी निराकरण कर दिया गया है कि अपने में परोपकार, उपवास, तपस्या, तीर्थयात्रा, आतपनयोग, केशलोंच, कायोत्सर्ग आदि करके दुःख उपजा रहा और दूसरे जीवों में विनय, सत्कार, उपकार, स्तुति, आज्ञापालन, भोजन कराना, अनुकूलवर्तन, आदि करके सुख को उपजा रहा जीव पुण्य का आस्रव करता है तथा अपने में भोग, उपभोग, द्वारा सुख को कर रहा और दूसरे आत्माओं में हिंसा, झूंठ, चोरी आदि करके दुःख को कर रहा जीव पाप का आस्रव करता है तथा अन्य भी नीति, अनीति मार्गों का अवलम्ब लेकर स्व, पर, में सुख दुःख उपजावे जाते हैं। इनसे पुण्य, पाप, का आस्रव होता है यह एकान्त ठीक नहीं है। क्योंकि तपश्चरण, उपवास, आदि से कुछ स्व को दुःख भी होय किन्तु वे पुण्य या संवर के ही सम्पादक हैं और स्वानुभूति या स्वरूपाचरण से तो आत्मा को स्वयं विशेष आह्लाद उपजता है एतावता कोई पाप नहीं चढ़ बैठता है। गुरु यदि विद्यार्थी को थप्पड़ मार देता है या डाक्टर रोगी के फोड़े को चीर देता है एतावता गुरु या वैद्य को पाप नहीं लग बैठता है। सर्वत्र विशुद्धि और संक्लेश से पुण्य पाप के बंधों की व्यवस्था करनी पड़ेगी। अपने या दूसरे में स्थित हो रहे विशुद्धि स्वरूप ही सुख दुःखों को पुण्य का आस्रवपना बनता है और

अपने में या दूसरे में स्थित हो रहे संक्लेश स्वरूप ही सुख दुःखों को पाप का आस्रवपना मान लेना उचित है। अन्यथा यानी इसके अतिरिक्त अन्य प्रकारों से पुण्य पापों के आस्रव की व्यवस्था करने पर तो अतिप्रसंग दोष हो जावेगा। अचेतन दूध, कांटे आदि भी पुण्य पापों से बँध जायंगे। वीतराग मुनि भी बंध को प्राप्त हो जायंगे जो कि इष्ट नहीं है। उक्त एकान्तों का खण्डन करते हुये श्री समन्तभद्राचार्य ने आप्तमीमांसा में उस अनेकान्त को यों कहा है कि स्व और पर में स्थित हो रहे सुख अथवा दुःख यदि विशुद्धि के अंग हैं तब तो पुण्य का आस्रव समझना उचित है तथा निज या दूसरे में किये जाकर प्रतिष्ठित हुए सुख दुःख, यदि आर्त्त, रौद्र परिणाम रूप संक्लेश के अंग हैं तब पाप का आस्रव हो जाना युक्ति पूर्ण है। यदि इस प्रकार व्यवस्था नहीं मानी जायेगी तब तो तुम अर्हन्त देव के शासन में। सुख दुःख, उपजाना व्यर्थ पड़ेगा। अर्थात्—विशुद्धि अंग या संक्लेश अंग नहीं होने से कोई भी सुख, दुःख किसी भी कर्म का आस्रव नहीं करा सकते हैं। देवागम स्तोत्र में "पापं ध्रुवं परे दुःखात् पुण्यं च सुखतो यदि। अचेतनाकषायौ च बध्येयातां निमित्ततः" पर प्राणियों में दुःख उपजाने से पाप का बंध और दूसरे जीवों में सुख उपजाने से यदि पुण्य का बंध माना जायेगा तब तो अचेतन हो रहे कांटे, कंकड़, लट्ठ आदि भी पाप से बंध जायंगे और दूध, पेड़ा, गदेला भूषण, आदि सुखकारक पदार्थ भी पुण्य का बंध कर लेंगे अन्यथा तुम्हारा एकान्त हाथ से जाता है "पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि। वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः" यदि स्वयं अपने में दुःख उपजाने से पुण्य का बंध माना जाय और स्वयं सुख उपजाने से नियम से पाप का आस्रव माना जाय तब तो उक्त निमित्त अनुसार वीतराग सम्यग्ज्ञानी मुनि अथवा संतोषी विद्वान् भी उन पुण्य पापों से बंध जायंगे क्योंकि मुनि महाराज कायक्लेश, आतपनयोग, उपवास, केशलोंच, आदि करके स्व में दुःख उपजाते हैं तथा संतोष, स्वानुभूति, अलौकिक आत्मीय आनन्द अनुभव से विद्वान् को स्वयं सुख भी उपज रहा है। वस्तुतः विचारा जाय तो, केशलोंच, कायोत्सर्ग या परीषहों द्वारा वीतराग मुनि को उतना दुःख नहीं उपजता है जितना कि निर्बल पुरुष अनुमान लगाया करते हैं। पुत्र का विवाह करनेवाला पुरुष, पुत्र को उत्पन्न कर रही माता, धन को कमाने वाला व्यापारी, विद्या को उपार्जन करनेवाला छात्र, धान्य या भुस को उपजा रहा किसान इत्यादिक जीव ही अपने-अपने लक्ष्य की सिद्धि का ध्येय रखते हुये मध्य-पाती दुःखों को जब नहीं गिनते हैं तो आत्म सिद्धि का परमलक्ष्य रखते हुये मुनिमहाराज को शृगाली या व्याघ्री भी भक्षण करती रहे एतावता उधर पीड़ा की ओर उनका उपयोग जाता ही नहीं है। हाँ वेदना की ओर उपयोग जायेगा तो मुनि अपने ध्येय से स्खलित समझे जायेंगे इसी प्रकार प्रबुद्ध विद्वान् को शास्त्रों के रहस्य या संतोष, ख्याति, प्रतिष्ठा, जैनधर्म का गौरव आदि से अद्भुत अलौकिक आनन्द मिलता है। श्री जिनेन्द्रदेव की अर्चा करनेवाला, स्वाध्यायप्रेमी, तपस्वी, सत्यव्रती, ब्रह्मचारी, परोपकारी, निःस्वार्थ अध्यापक, गुरुविनयी, अतिथि सत्कारी, आदि जीवों को स्व संवेद्यविलक्षण आनन्द अनुभूत होता रहता है। हां जो साधु नामधारी अपना कान फाड़ लेते हैं एक हाथ को सदा ईश्वर के नाम पर ऊंचा उठाये रहते हैं, पंचाग्नि तपतपते हैं, ऐसे स्वकीय दुःखों से तो महापाप का बंध होता है तथा अन्यायपूर्वक भोगोपभोग भोगना, डांके चोरी से माल हड़पना, मद्यपान, आदि क्रियाओं द्वारा निज में सुख उपजाने से भी महान् पाप का आस्रव होता है किन्तु संतोष, अध्यापन, अर्चा, आदि द्वारा स्वकीय सुखों से अथवा उपवास, कायक्लेश, आदि स्वकीय दुःखों (दुःखाभासों) से पुण्य उपजता है। बात यह है कि विशुद्धि और संक्लेश अनुसार पुण्य पाप की व्यवस्था है—"विशुद्धसंक्लेशांगं" इत्यादि कारिका अनुसार भगवान् समन्तभद्राचार्य ने उक्त स्याद्वाद सिद्धान्त को ही पुष्ट किया है। आत्मा में जब वीतराग

भाव या परमविशुद्धि उपजती है तब तो पुण्य या पाप किसी का भी बंध नहीं होता है प्रत्युत संवर और निर्जरा होते हैं। यों पुण्य, पाप के आस्रव का सिद्धान्त निर्णीत हो चुका है तिस कारण इस प्रकार होने पर जो हुआ उसे आगे वार्तिक द्वारा सुनिये।

शुभः पुण्यस्य विज्ञेयोऽशुभः पापस्य सूत्रितः।
संक्षेपाद्द्विप्रकारोऽपि प्रत्येकं स द्विधास्रवः ॥ १ ॥

शुभ परिणामों से सम्पादित हुआ शुभ योग पुण्य का आस्रव समझ लिया जाय और अशुभ योग पाप का आस्रव हो रहा विशेषतया जान लिया जाय जो कि सूत्र द्वारा कह दिया है। संक्षेप से वह आस्रव दो प्रकार का भी है तथापि प्रत्येक वह आस्रव दो प्रकार का माना जाता है कारण इस में शुभ योग अशुभ योग अनुसार कार्य कोटि में भी आस्रव, पुण्यास्रव, पापास्रव दो दो प्रकार हैं अथवा काययोग, वचनयोग, मनोयोग, इन तीनों आस्रवों में से प्रत्येक के पुण्यास्रव और पापास्रव यों दो दो भेद हैं। यहाँ "संक्षेपात्त्रिप्रकारोऽपि प्रत्येकं स द्विधास्रवः" यह पाठ अच्छा जचता है। संक्षेप से वह आस्रव काय परिस्पन्द, वचनपरिस्पन्द, कायविलंब-आत्मप्रदेशपरिस्पंद, यों तीन प्रकार का भी हो रहा प्रत्येक के पुण्यास्रव, पापास्रव, यों दो दो भेदों अनुसार दो भेद वाला है।

कायादियोगस्त्रिविधः शुभाशुभभेदात् प्रत्येकं स द्विविधोऽपि द्विविध एवास्रवो विज्ञेयः। पुण्यपापकर्मणोः सामान्यादाश्रूयमाणयोर्द्विविधत्वेन सूत्रितत्वात्।

काय अवलम्बी, वचन अवलम्बी, मन अवलम्बी यों योग तीन प्रकार का है। शुभ योग और अशुभ योग के भेद से वह प्रत्येक दो प्रकार का होता हुआ भी पुण्यास्रव और पापास्रव अनुसार दो प्रकार का ही समझ लेना चाहिये क्योंकि शास्त्रपरम्परा द्वारा सामान्य रूप से पुण्य और पाप इन दो कर्मों को ही आचार्य आम्नाय अनुसार सुना जा रहा है। परमाणुओं की अपेक्षा अनन्तानन्त और जाति अपेक्षा असंख्यात तथा उत्तर प्रकृति भेद अनुसार एकसौ अड़तालीस व उदय अपेक्षा एकसौ बाईस एवं बंध अपेक्षा एकसौ बीस कर्मों को पुण्यकर्म और पापकर्म यों दो ही प्रकारों करके सूत्रों द्वारा कहा गया है। इस छठे अध्याय के अन्तिम दो सूत्रों को देख लीजिये। यहाँ केवल पुण्यास्रव और पापास्रव इन दो भेदों का ही निरूपण किया गया है।

कुतः पुनः शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्यास्रवो जीवस्येति निश्चीयत इत्याह।

सूत्रकार ने उक्त सूत्र करके जो सिद्धान्त कहा है क्या वह राजाज्ञा के सदृश यों ही ननु, न च, कुतः, लगाये बिना ही स्वीकार कर लिया जाय? यदि नहीं तो फिर बताओ कि जीव का शुभ योग पुण्य का आस्रव और अशुभ योग जीव के पाप का आस्रव है इस दर्शन का किस प्रमाणसे निर्णय कर लिया जाता है? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रंथकार अग्रिम वार्त्तिक द्वारा समाधानवचन को कहते हैं।

शुभाशुभफलानां नुः पुद्गलानां समागमः।
विशुद्धेतरकायादिहेतुस्तत्त्वात्स्वदृष्टवत् ॥ २ ॥

शुभ और अशुभ फलों के सम्पादक पुद्गलों का आत्मा के निकट समागम होना (पक्ष) विशुद्ध

और उनसे न्यारे अविशुद्ध होरहे काय आदि हेतुओं से किया गया है (साध्य) तत्त्वात् यानी शुभ अशुभ फल वाले पुद्गलों का आस्रव होने (हेतु) स्वयं अनुभूत कर देखे गये पथ्य, अपथ्य, भोजन आदि के समागम समान (अन्वयदृष्टान्त)। अर्थात्-जैसे आरोग्य या रोग के सम्पादक पथ्य, अपथ्य, पदार्थों का भोजन विचारा विशुद्ध, अविशुद्ध, कायादि करके ही हुआ सन्ता इष्ट अनिष्ट फलदायी पुद्गलों का समागम है उसी प्रकार आत्मा शुभ अशुभफल वाले पुद्गलों का समागम भी विशुद्ध और संक्लिष्ट काय, वचन, मन, करके किया है यह उक्त सूत्र के ऐदंपर्य में युक्ति कह दी गई है।

जीवस्य शुभफलपुद्गलानामास्रवो विशुद्धकायाध्यवसानाद्यंतरंगबहिरंगकृतः शुभफलपुद्गलास्रवत्वात्स्वयं दृष्टशुभफलपथ्याहारादिसमागमवत्। तथैवाशुभफलपुद्गलसमागमो जीवस्याविशुद्धकारणकृतः अशुभफलपुद्गलसमागमत्वात् स्वयं दृष्टाशुभफलापथ्याहारादिवदित्यनुमानात्सन्निश्चयः। न तावदत्रासिद्धो हेतुः शुभस्य विशुद्धिरूपस्याशुभस्य च संक्लेशात्मनः परिणामस्य स्वसंवेदनसिद्धस्य कारणानां पुद्गलानां समागमस्य शुभाशुभफलस्य प्रसिद्धेस्तद्भवभावित्वान्यथानुपपत्तेः।

जीव के शुभ फल वाले पुद्गलों का आस्रव होरहा (पक्ष) विशुद्ध काय का अवलम्ब करना, वीर्यान्तराय क्षयोपशम, शरीर नामकर्म उदय, वाग्लब्धि, नो इन्द्रियावरणक्षयोपशम, शरीर, वर्गणायें, अविरति, कषाय, अध्यवसाय, द्रव्य, क्षेत्र, आदिक अन्तरंग कारणों करके किया गया है (साध्य) शुभ फलदायी पुद्गलों का आस्रव होने से (हेतु) स्वयं देखे जा चुके शुभ फलवाले पथ्य आहार, पुस्तक प्राप्ति, तीर्थ यात्रा, प्रतिष्ठा महोत्सव, सुपुत्र लब्धि, निरवद्य यशोलाभ, आदि इष्ट पदार्थों के समागम समान (अन्वयदृष्टान्त) प्रायः सम्पूर्ण इष्ट अर्थों की प्राप्ति का कारण विशुद्धि से अलंकृत होरहा पुण्य विशेष है। आहार, पान आदि का प्रयोग द्वारा जैसे आस्रव कर लिया जाता है उसी के कुछ सदृश योग्य पुत्र, पत्नी, यात्रावसर, वाणिज्य लाभ प्रकरण आदि का समागम भी उसी पुण्यशालिनी आत्म विशुद्धि से साध्य हो रहे कार्य हैं। यहाँ कर्मों के आस्रव पर विशेष लक्ष्य है। इस अनुमान से शुभ आस्रव का कारण साध दिया जाता है। तिसी प्रकार आत्मा के निकट अशुभ फल वाले पुरुषों का समागम (पक्ष) जीव के अविशुद्ध यानी संक्लिष्ट कारणों करके बनाया गया है (साध्यदल) अशुभफलवाले पुद्गलों का समागम होने से (हेतु) स्वयं देखे गये अशुभ फल वाले अपथ्य आहार, अपथ्यपान, वेश्या प्रसंग, कंटक, टोटा, कलह कारिणी स्त्री, आदि पदार्थों की प्राप्ति के समान (अन्वय दृष्टान्त)। इन उक्त दोनों अनुमानों से उस सूत्रोक्त अभिप्राय का निश्चय कर लिया जाता है। इन दो अनुमानों में प्रयुक्त किया गया हेतु असिद्धहेत्वाभास तो नहीं है यानी पक्ष में हेतु ठहर जाता है क्योंकि स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष से प्रसिद्ध हो रहे विशुद्धि स्वरूप शुभ परिणाम और संक्लेशस्वरूप अशुभ परिणाम के कारण हो रहे पुद्गलों के शुभ अशुभ फल वाले समागम की मन्दमति पुरुषों को भी प्रसिद्धि हो रही है अन्यथा उक्त कार्य-कारण भाव नहीं माना जायेगा तो उन विशुद्ध या संक्लिष्ट कारणों के होने पर उन शुभाशुभ पुद्गलों के समागम का होना बन नहीं सकता है। यों हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव बन रहा है अन्वय, व्यतिरेक को घटित करते हुये कार्य कारणभाव भी इनमें संगत हो रहा है। यों पक्ष में प्रकृत हेतु वर्त रहा है।

ननु चात्मनि शुभाशुभफलपुद्गलसमागमस्यात्मविशेषगुणकृतत्वान्न शुभाशुभकायादियोगकृतत्वं युक्तमिति चेन्न, तस्य विशुद्धिसंक्लेशपरिणामव्यतिरेकेणासंभवात् । धर्माधर्मौ तद्व्यतिरिक्तावेवेति चेन्न, भावधर्माधर्मयोर्विशुद्धिसंक्लेशरूपत्वात् । द्रव्यधर्माधर्मयोः पुद्गलस्वभावत्वात्, समागमस्य विशुद्धिसंक्लेशपरिणामानुगृहीतस्य कायादियोगकृतत्वोपपत्तेः । स्वप्रसिद्धशुभाशुभफलपथ्यापथ्याहारादिपुद्गलसमागमस्य तत्कृतत्वनिश्चयात्तदभावे सर्वथा तदनुपपत्तेः ।

यहां कोई वैशेषिक आक्षेप पूर्वक प्रश्न करते हैं कि आत्मा में शुभ अशुभ फल वाले पुद्गलों का समागम होना तो आत्मा के विशेष गुण हो रहे धर्म अधर्म, (अदृष्ट) करके किया गया है। आत्मा के बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न, गुण भी सहायक हो सकते हैं इस कारण उक्त सूत्र अनुसार शुभाशुभ फल वाले पुद्गलों के आस्रव का शुभ अशुभ काययोग, वचनयोग और मनोयोग करके किया जाना उचित नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उस पुण्य पाप स्वरूप पुद्गलों के समागम हो जाने का विशुद्ध और संक्लेश परिणामों से अतिरिक्त अन्य कारणों करके असम्भव है। यदि वैशेषिक यों कहें कि उन विशुद्धि और संक्लेश परिणामों से व्यतिरिक्त हो रहे धर्म, अधर्म नामक गुण हैं ही। आत्मा में पाये जा रहे बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना, इन नौ विशेष गुणों का आत्मा से सर्वथा भेद है। विशुद्धि और संक्लेश परिणामों से भी अदृष्ट सर्वथा भिन्न है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि जैन सिद्धान्त में पुण्य, पाप कर्मों के भाव कर्म और द्रव्य कर्म ये दो भेद माने गये हैं। कर्मों का उदय होने पर आत्मा के हुये क्षमा, दया, दान, स्वनिंदा, परनिंदा, स्वप्रशंसा, क्रोध, अज्ञान, रागद्वेष, आदि परिणाम तो भाव कर्म हैं और भाँग, गरिष्ठ भोजन, आदि के समान ज्ञानावरण आदि पुद्गल पिण्ड द्रव्य कर्म हैं। आत्मा के परिणाम हो रहे धर्म, अधर्म, स्वरूप पुण्य, पाप, हमारे यहां विशुद्धि और संक्लेश स्वरूप स्वीकार किये गये हैं तथा कार्मण स्कन्ध द्रव्य स्वरूप धर्म, अधर्म, को पुद्गलों का स्वभाव होना अभीष्ट किया गया है। विशुद्धि और संक्लेश परिणामों से अनुग्रह को प्राप्त हुये उस कर्मनोकर्मों के आस्रव का काय आदि योगों करके किया जाना बन जाता है कारण कि स्वयं निज में प्रसिद्ध हो रहे शुभ फल वाले पथ्य आहार, विहार और अशुभ फल वाले अपथ्य आहार, पान, आदि पुद्गलों के समागम का उन विशुद्ध, अविशुद्ध, काय आदि करके किया जाना निश्चित हो रहा है। उन काय आदि योगों का अभाव होने पर, अन्य सभी प्रकारों से उन पुद्गलों के आस्रव हो जाने की सिद्धि नहीं हो सकती है। वैद्यक विषय को थोड़ा भी जानने वाले स्त्री, पुरुष, या स्वास्थ्य का पाठ पढ़ने वाले विद्यार्थी इस बात का निश्चय कर लेते हैं कि शुभ अशुभ फल वाले पुद्गलों का आगमन विशुद्ध, अविशुद्ध, काय आदि योगों द्वारा सम्पादित होता है अतः उक्त सूत्र का प्रमेय इन अनुमानों से सिद्ध कर दिया है।

द्वैविध्यात्तत्फलं चैवमास्रवो द्विविधः स्मृतः ।
कायादिरखिलो योगः सोऽसंख्येयो विशेषतः ॥२॥

यों योगों का द्विविधपना हो जाने से उसका फल और आस्रव भी दो प्रकार का शास्त्रों में कहा गया चला आ रहा समझा जाता है। अर्थात्—शुभ अशुभ परिणामों से सम्पादित हुआ योग दो प्रकार है तदनुसार आस्रव भी दो प्रकार है और पुण्य पाप फल भी दो प्रकार है वह काय योग, वचन योग,

मनोयोग, यों तीनों प्रकार का सम्पूर्ण योग तो विशेष रूप से परिगणित करने पर असंख्येय भेदों वाला है। अर्थात् विशुद्धि, अविशुद्धि के कषायाध्यवसाय स्थान असंख्यात लोक प्रमाण हैं इनसे विशिष्ट हो रहा योग असंख्यातासंख्यात प्रकार का है अथवा स्वयं व्यक्तिरूप से योग श्रेणी के असंख्यातमे भाग स्वरूप असंख्यातासंख्यात हैं "सेढि असंखेज्जदिमा जोगट्ठाणाणि होंति सव्वाणि" (गोम्मटसार कर्मकाण्ड)

> ज्ञानावरणवीर्यांतराययोः कर्मणोरिह ।
> क्षयोपशमतोऽनंतभेदयोः स्पर्द्धकात्मनोः ॥४॥
> प्रादुर्भावादनंतः स्याद्योगोऽनंतनिमित्तकः ।
> अनंतकर्महेतुत्वादनंतात्मासूत्रत्वतः ॥५॥

अभव्य राशि से अनन्त गुणे और सिद्धराशि से अनन्तमे भाग कर्मप्रदेशोंके पिण्ड होरहे तथा अनन्त भेदों वाले स्पर्द्धक आत्मक तथा अनन्त भेदोंवाले ज्ञानावरण कर्म और वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशम से उत्पत्ति होनेके कारण यहाँ प्रकरण में योग अनन्त संख्या वाला भी समझा जायगा। अर्थात् अनन्तानन्त कर्मों के क्षयोपशम से उपजे हुये तीनों योगों को अनन्त प्रकार का कहा जा सकता है। जिस योग के निमित्त कारण अनन्तानन्त हैं वे कार्य होरहे योग भी अनन्तानन्त होंगे इनकी अष्टसहस्री से इस सूक्ष्म-कार्यकारण भाव को निरखिये। अथवा दूसरी बात यह है कि श्रेणी के असंख्यातमे भाग प्रमाण योगों में से किसी भी योग से अनन्तानन्त कार्योंका आस्रव होता है अतः अनन्त कर्मोंके आगमन का हेतु होने से योग भी अनन्त प्रकार का कहा जायगा। कार्य अनन्त हैं तो कारण भी अनन्त होंगे। "भिन्नकार्याणां भिन्न-कारणप्रभवत्वावश्यम्भावात्" तथा तीसरी बात यह है कि अनन्तानन्त आत्माओं के निकट कर्मनोकर्मों का आस्रव करा रहे न्यारे न्यारे योग अनन्तानन्त हैं। अनन्तानन्त संसारी आत्माओं में प्रत्येक के श्रेणी के असंख्यातमे भाग योगों में से प्रतिसमय कोई एक योग अवश्य होगा जबकि अनन्तानन्त जीव प्रतिक्षण योगों द्वारा कर्मों का आस्रव कर रहे हैं अतः वे योग व्यक्तिभेदेन अनन्तानन्त ही कहे जायेंगे। यों तीन उपायों का अनन्तानन्तपना व्यवस्थित कर दिया गया है।

> असंख्येयोऽप्यसंख्याताध्यवसायात्मकोऽङ्गिनाम् ।
> संख्यातश्च यथायोगं संक्षेपाद्द्विविधोऽप्ययम् ॥६॥

संसारी प्राणियों के कषायाध्यवसाय स्थान जाति अपेक्षा असंख्यात लोक प्रमाण हैं व्यक्ति रूप से या अविभागप्रतिच्छेदों की अपेक्षा भले ही अनन्तानन्त होवें अतः असंख्यात अध्यवसाय स्थान आत्मक होरहा योग भी असंख्यातासंख्यात संख्या वाला माना जायेगा तथा वह योग सामान्य रूप से एक प्रकार, दो प्रकार, पन्द्रह प्रकार, यों शब्दवाच्य संख्या का अतिक्रमण नहीं कर संख्यातभेद वाला भी है। अति-संक्षेप से भेदों की गणना करने पर यह योग यहाँ सूत्र में दो प्रकार भी कह दिया है जो कि भेदों की गणना का उपलक्षण है।

स्वामिद्वैविध्याच्च द्विविधो योग इत्याह ।

योगधारी स्वामियों के द्विविधपने से भी योग दो प्रकार का समझा जाता है—इस बात को स्वयं सूत्रकार अग्रिम सूत्रद्वारा स्पष्ट कह रहे हैं। साथ ही उन कर्मों के आस्रव की संज्ञा भी प्रसिद्ध कर दी जायगी।

सकषायाकषाययोः सांपरायिकेर्यापथयोः ॥४॥

क्रोध आदि कषायों के साथ वर्त रहे मिथ्यादृष्टि को आदि लेकर दशमे गुणस्थान तक जीवों के संसारपर्यटन कारक साम्परायिक कर्मका आस्रव होता है और कषाय रहित हो रहे ग्यारहमे, तेरहमे गुण-स्थान वाले जीवों के संसारभ्रमण नहीं कराने वाले ईर्यापथ कर्म का आस्रव होता है। अर्थात् कषायवान जीवों के हो रहा आस्रव संसार वृद्धि का कारण है और अकषाय जीवों के एक समय स्थिति वाला साता-वेदनीय कर्म का आस्रव तो केवल आना, चले जाना मात्र है। पहिले समय में सद्वेद्य का बंध होकर दूसरे समय में झटिति ही उसकी निर्जरा हो जाती है। पूर्वबद्ध कर्मों का उदय आने पर हुये अनुभाग रस में उस साता वेदनीय का मन्द अनुभाग भी सम्मिलित हो जाता है जो कि अविद्यमानवत् है।

यथासंख्यमभिसंबंधमाह।

इस सूत्र के उद्देश्य विधेयदलों का यथासंख्य दोनों ओर से सम्बन्ध कर लेना चाहिये। अर्थात् इतरेतरयोग वाले दो पदों का यथाक्रम से अन्वय लगा लो। इसी बात को ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक द्वारा कहते हैं।

ससांपरायिकस्य स्यात्सकषायस्य देहिनः।
ईर्यापथस्य च प्रोक्तोऽकषायस्येह सूत्रितः ॥१॥

देहधारी कषाय सहित जीव के वह साम्परायिक कर्म का आस्रव होगा और कषायरहित शरीरधारी जीव के ईर्यापथ कर्म का आस्रव होगा जो कि श्री उमास्वामी महाराज ने यहाँ प्रकरण में इस सूत्र से बहुत अच्छा कह दिया है।

इह सूत्रे स आस्रवः सकषायस्य जीवस्य सांपरायिकस्य कणः स्यात्, अकषायस्यर्म पुनरी-र्यापथस्येत्यास्रवस्योभयस्वामिकत्वात् द्वयोः प्रसिद्धिः ॥

इस सूत्र में कषायसहित जीव के साम्परायिक कर्मों का वह आस्रव होना कह दिया जाता है और अकषाय जीव के फिर ईर्यापथकर्म का आस्रव हो सकेगा बताया गया है। इस प्रकार आस्रव के दोनों स्वामियों के हो जाने से दोनों भेदों की प्रसिद्धि हो जाती है।

कषणादात्मनां घातात्कषायः कुगतिप्रदः।
क्रोधादिः सह तेनात्मा सकषायः प्रवर्तनात् ॥२॥
कषायरहितस्तु स्यादकषायः प्रशांतितः।
कषायस्य क्षयाद्वेति प्रतिपत्तव्यमागमात् ॥३॥

"कष हिंसायां" धातु से कषाय शब्द व्युत्पन्न किया है। आत्मा का या आत्मा के गुणों का कषण यानी घात कर देने से ये क्रोध आदिक कषाय कहे जाते हैं। क्रोध आदि चारों ही कषाय खोटी नरकगति और तिर्यग् गति को सुलभता से देते हैं। अर्थात् कषाय नाम सार्थक है। कृष् विलेखने धातु से भी प्राकृत "कसाअ" शब्द के उपयोगी उक्त शब्द बनाया जा सकता है। सुख दुःख स्वरूप धान्यों को उपजाने वाले लम्बे चौड़े संसार रूप कर्म खेत का कर्षण करने यानी जोतने के कर्ता क्रोध आदि कषाय हैं और "कष हिंसायां" धातु के अनुसार आत्मा के सम्यक्त्व, देशचारित्र, सकलचारित्र, यथाख्यातचारित्र गुणों का घात करने से चार कषायें कही जाती हैं। उन क्रोधादिकों के साथ प्रवृत्ति करने से आत्मा भी कषायसहित कहा जाता है। हाँ क्रोध आदि कषायों से रहित हो रहा जीव तो अकषाय होगा जो कि चारित्र मोहनीय कर्म के भेद हो रहे पौद्गलिक कषायों के उपशम से अथवा क्षय से वह अकषाय होता है। इस प्रकार सूक्ष्म प्रमेयों का प्रतिपादन करने वाले आगम से जीव का सकषायपन और कषायरहितपन भलेप्रकार समझ लेना चाहिये। आदि के गुणस्थान से दशमे गुणस्थान तक के जीव सकषाय हैं और शेष ऊपरले गुणस्थानों के जीव अकषाय हैं। ग्यारहमे गुणस्थान में कषायों का उपशम है और आगे के गुणस्थानों में क्षय है।

समंततः पराभूतिः संपरायः पराभवः।
जीवस्य कर्मभिः प्रोक्तस्तदर्थं सांपरायिकं ॥४॥
कर्म मिथ्यादृगादीनामार्द्रचर्मणि रेणुवत्।
कषायपिच्छिले जीवे स्थितिमाप्नुवदुच्यते ॥५॥

सम · परा + इण् + घञ् + ठण् अथवा सम् + पर + इण् + अच् + ठण = यों साम्परायिक शब्द के व्युत्पत्ति अनुसार खण्ड हो सकते हैं। कर्मों करके जीव का समन्ततः यानी सब ओर से जो पराभव अर्थात् तिरस्कार हो जाना है वह सम्पराय है यह निरुक्ति द्वारा सम्पराय का अच्छा अर्थ कह दिया है। यह सम्पराय जिसका प्रयोजन है वह कर्म साम्परायिक है। सम्पराय शब्द से प्रयोजन अर्थ में ठण प्रत्यय कर दिया है। मिथ्यादृष्टि को आदि लेकर सूक्ष्मसाम्पराय पर्यन्त जीवों के कषाय का उदय होते सन्ते योग वश से आ रहे कर्म गीले चमड़े में धूल के समान स्थिति को प्राप्त करते हुये चुपट जाते हैं। कारण कि कषायों से सचिक्कण (लिबलिबे) होरहे जीव में कर्म स्थिति को प्राप्त होरहे सन्ते साम्परायिक कहे जाते हैं। गीला चमड़ा, गीला कपड़ा, कीच आदि में आपतित हो रही धूल कुछ काल की स्थिति को लिये हुये सम्बद्ध हो जाती है उसी प्रकार रागद्वेष, स्वरूप स्वकीय चिपकाहट से आत्म कर्मों को आबद्ध कर लेता है। वट वृक्ष का गीला, चिपकना, दूध जैसे अन्य पदार्थों के श्लेष का हेतु है अथवा बड़ की छाल, बहेड़ा, हर्र, फिटकिरी ये वस्त्र में टेसू, मंजीठ, आदि के रंग चिपट जाने के कारण हैं तथैव क्रोध आदिक परिणाम भी आत्मा के साथ कर्मों का श्लेष करा देते हैं।

ईर्या योगगतिः सैवं पन्था यस्य तदुच्यते।
कर्मेर्यापथमस्यास्तु शुष्ककुड्येश्मवच्चिरं ॥६॥

योगमात्रनिमित्तं तु पुंस्यास्रवदपि स्थितिं ।
न प्रयात्यनुभागं वा कषायाऽसत्त्वतः सदा ॥७॥

ईर्यापथ शब्द की निरुक्ति इस प्रकार है कि ईरण ईर्या "ईर गतौ कम्पने च" धातु से ण्य प्रत्यय कर ईर्या शब्द बना लिया जाय। ईर्या का अर्थ योगों अनुसार गति होना है। इस प्रकार जिस कर्म का वह ईर्या ही पन्था यानी द्वार है वह ईर्यापथ कर्म कहा जाता है। इस अकषाय जीव के जिस कर्म का आस्रव होता है वह ईर्यापथ कर्म समझा जाओ। सूखी भीत के पसवाड़े पर पत्थर का जैसे सम्बन्ध नहीं होसकता है उसी प्रकार अकषाय आत्मा में केवल योग को निमित्त पाकर आस्रव कर रहा भी कर्म चिरकाल तक तो स्थितिको प्राप्त नहीं होता है और अनुभाग को भी प्राप्त नहीं होता है क्योंकि सर्वदा कषायों के उदय का सद्भाव नहीं है। "ठिदिअनुभागा कसाअदो होंति" कषायों से कर्मों के स्थितिबंध और अनुभागबन्ध होते हैं। ग्यारहमे, गुणस्थानों में योग को निमित्त पाकर सातावेदनीय कर्म का आस्रव होता है किन्तु उसमें स्थिति और अनुभाग नहीं पड़ते हैं हाँ योग द्वारा स्थूल शरीर, वचन और मन के उपयोगी आये हुये आहार वर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणाओं के स्कंधों में तो स्थिति पड़ जाती है नोकर्मों की स्थिति पड़[illegible] गलिदवसेसा हु मेत्त ठिदिबंधो गुणहाणीणदि-वड्ढं संचयमुदयं च चरिमह्मि" नोकर्मों की स्थिति के कारण तो वहाँ अकषाय जीवों के विद्यमान हैं। खाई हुई रोटी, दाल, या पिये गये दूध, पानी, आदि में प्रविष्ट हो रही आहार वर्गणाओं के अनुभाग या स्थिति बंध के कारण कुछ आत्मीय पुरुषार्थ और शारीरिक रचना विशेष हैं उसी प्रकार अन्य वर्गणाओं के स्थिति, अनुभागों में भी अन्तरंग बहिरंग, कारण जोड़ लेने चाहिये। श्रुतज्ञान का परिशीलन कीजिये, मन्थन करने से अमृत की प्राप्ति होगी।

कषायपरतंत्रस्यात्मनः सांपरायिकास्रवस्तदपरतंत्रस्येर्यापथास्रव इति सूक्तं । कथं पुनरात्मनः कस्यचित्पारतंत्र्यमपरस्यापारतंत्र्यं चात्मत्वाविशेषेऽप्युपपद्यत इत्याह ।

कषायों से पराधीन हो रहे आत्मा के साम्परायिक कर्म का आस्रव होता है और उन कषायों के परतंत्र नहीं हो रहे आत्मा के ईर्यापथ नाम का आस्रव होता है। इस प्रकार उक्त सूत्र में श्री उमा-स्वामी महाराज ने बहुत अच्छा कह दिया है। यदि यहाँ कोई यों प्रश्न करे कि जब जीवपना सम्पूर्ण सकषाय, अकषाय, आत्माओं में विशेषता रहित होकर एकसा है तो भी फिर किसी एक आत्मा का पर-तंत्र होना और दूसरी आत्मा का परतंत्र नहीं होना भला कैसे युक्त बन सकता है ? बताओ। इस प्रकार जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक द्वारा समाधान कहते हैं।

कषायहेतुकं पुंसः पारतंत्र्यं समंततः ।
सत्त्वांतरानपेक्षीह पद्ममध्यगभृंगवत् ॥८॥
कषायविनिवृत्तौ तु पारतंत्र्यं निवर्त्यते ।
यथेह कस्यचिच्छांतकषायावस्थितिक्षणे ॥९॥

इस प्रकरण में जीव का सब ओर से परतंत्रपना (पक्ष) कषायों को हेतु मान कर उपजा है (साध्य) अन्य प्राणियों की अपेक्षा नहीं रखता हुआ परतंत्रपना होने से (हेतु) जैसे कि यहाँ लोक में

कमल के मध्य में प्राप्त हुआ चक्षुरिन्द्रियविषयलोलुपी भ्रमर अपनी लोभ कषायों के अनुसार परतंत्र हो रहा है (अन्वयदृष्टान्त)। हां कषायों के उदय रूप से विशेषतया निवृत्ति हो जाने पर तो परतंत्रता निवृत्त हो जाती है जैसे कि यहाँ जगत् में किसी एक जीव के कषायों की शान्त अवस्था के समय में परतंत्रता नहीं पायी जाती है (व्यतिरेक दृष्टान्त)। यों अन्वय व्यतिरेक द्वारा जीवों की पराधीनता का कारण कषायों का उदय सिद्ध कर दिया है।

संसारिणो जीवस्य पारतंत्र्यं विवादापन्नं कषायहेतुकं सत्त्वांतरानपेक्षित्वे सति पारतंत्र्यशब्द-वाच्यत्वात् पद्ममध्यगभ्रमरस्य तत्पारतंत्र्यवत्। निःकषायस्य यतेर्दस्युकृतेन रक्षादिपरतंत्रत्वेन व्यभिचार इति चेन्न, सत्त्वांतरानपेक्षित्वेन विशेषणात्। वीतरागस्याघातिकर्मपारतंत्र्येणानेकांत इति चेन्न, तस्य पूर्वकषायकृतत्वात्।

संसारी जीव को विवाद में प्राप्त हो रही यह दृश्यमान परतंत्रता (पक्ष) स्वकीय कषायभावों को निमित्त पाकर उपज गई है (साध्य) अन्य जीवों की नहीं अपेक्षा रखते सन्ते परतंत्रता इस शब्द का वाच्य होने से (हेतु) कमल के मध्य में प्राप्त हो रहे भौंरे की उस कषाय हेतुक परतंत्रता के समान (अन्वय दृष्टान्त)। इस निर्दोष अनुमान से जीवों की परतंत्रता के अभ्यन्तर कारण का निरूपण कर दिया गया है। यदि यहां कोई व्यभिचार दोष उठावे कि कषाय रहित संयमी की चोर करके की गई रक्षा, धर्म्य ध्यान पालन, शरीर त्राण आदि की परतंत्रता करके व्यभिचार हो जायेगा। कोई अवसर पर ऐसा प्रकरण आ गया है जब चोर ने मुनि की रक्षा करने के अभिप्राय से मुनियों को रोक लिया था "प्राक्तज्जन्मर्षिवासावनशुभकरणाच्छूकरः स्वर्गमध्यं" पूर्व भव में मुनि आवास दान के अभिप्राय और इस भव में रक्षण के अभिप्राय करके शूकर ने सौधर्म स्वर्ग प्राप्त किया था यह दृष्टान्त तो प्रसिद्ध ही है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि वहां हेतु का अन्य प्राणियों की अपेक्षा नहीं रखते हुये यह विशेषण घटित नहीं हो पाता है। हमने उस परतंत्रता का अन्य सत्त्वों की नहीं अपेक्षा रखनेवालेपन करके विशेषण दे रखा है जो अन्य प्राणियों की अपेक्षा नहीं रखती हुई परतंत्रता होगी वह अवश्य स्वकीय कषायों से ही बनाई गई है। ग्रन्थकार श्रीविद्यानन्द स्वामीने आप्तपरीक्षा में भी शरीर आदि हीन स्थान का परिग्रह करना, क्रोधी, लोभी हो जाना, हँसना, रोना, मूर्खता, निर्बलता, मोह, आसक्ति, आदि पराधीनताओं का अन्तरंगकारण कषायों को बताया है। यदि पुनः कोई व्यभिचार दोप उठावे कि वीतराग हो रहे तेरहमे गुणस्थानवर्त्ती मुनि के अघाति कर्मों की परतंत्रता करके व्यभिचार आता है सयोग केवली परतंत्र तो हैं किन्तु उनके कषायों का उदय नहीं है। ग्यारहमे, बारहमे गुणस्थान वाले मुनि भी कषायोदय के बिना ही अज्ञान, अदर्शन, के और अघातिया कर्मों के पराधीन हो रहे हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि वीतराग मुनियों की वह परतंत्रता भी पूर्व समयवर्त्ती कषायों करके की गई है। पहिली अवस्थाओं में हुई कषायों के अनुसार उन कर्मों में स्थिति और अनुभाग डाले थे। उन कर्मों का अब उदय आ रहा है अतः इस परतंत्रता में भी परम्परया कषाय कारण हैं अतः उक्त हेतु निर्दोष है।

महेश्वरसिसृक्षापेक्षित्वात्संसारिजीवपारतंत्र्यस्य सत्त्वांतरानपेक्षित्वमसिद्धमिति चेन्न, महेश्वरापेक्षित्वस्य संसारिणामपाकृतत्वात्।

यहाँ कोई वैशेषिक या नैयायिक हेतु में स्वरूपासिद्धि दोष लगाते हैं कि संसारी जीवों की परतंत्रता तो महेश्वर की सृजने की इच्छा की अपेक्षा रखनेवाली है अतः अन्य जीवों की अपेक्षा नहीं रखनापन यह हेतु का विशेषण पक्ष में नहीं रहा इस कारण असिद्ध दोष हुआ। भले ही इसको विशेषणासिद्ध दोष कह दिया जाय। व्यास जी ने कहा है कि "अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वर प्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥" यह संसारी प्राणी अज्ञान है। अपने सुखदुःखों का स्वयं प्रभु नहीं है ईश्वर से प्रेरित होता हुआ पराधीन होकर स्वर्ग या नरक को चला जाता है। गीताकार ने भी कहा है कि "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" कर्म ही करते जाओ उनका फल ईश्वर देगा यों ईश्वर की सिसृक्षा अनुसार सम्पूर्ण संसारी जीव पराधीन हो रहे हैं अतः जैनों का हेतु असिद्ध है। आचार्य कहते हैं कि यह वैशेषिकों को नहीं कहना चाहिये क्योंकि संसारी जीवों के महेश्वर या ईश्वर की सिसृक्षा के अपेक्षी होने का खण्डन कर दिया गया है। कार्यत्व, अचेतनोपादानत्व, सन्निवेशविशिष्टत्व आदि सभी हेतु दूषित हैं। पूर्व प्रकरणों में कार्यों के निमित्त कारणपने से ईश्वर को नहीं सधने दिया है। आप्त-परीक्षा में भी कर्तृवाद का बहुत अच्छा निराकरण कर दिया है। वस्तुतः देखा जाय तो संसारी जीव अपने कषायभावों करके उपात्त किये गये कर्मों के उदय अनुसार पराधीन होरहे हैं। अनादि काल से धारा प्रवाह रूप करके कषायों से कर्मबन्ध और कर्मोदय से कषायें यों पराधीनता का अन्वय चला आ रहा है।

नित्यशुद्धस्वभावत्वाज्जीवस्य कर्मपारतंत्र्यमसिद्धमिति चेन्न, तस्य संसाराभावप्रसंगात्। प्रकृतेः संसार इति चेन्न, पुरुषकल्पनावैयर्थ्यप्रसंगात् तस्या एव मोक्षस्यापि घटनात्। न च प्रकृतिरेव संसारमोक्षभागचेतनत्वाद्घटवत्। चेतनसंसर्गविवेकाभ्यां सा तद्भागेवेति चेत्, तर्हि यथाप्रकृतेश्चेतनसंसर्गात्पारतंत्र्यलक्षणः संसारस्तथा चेतनस्यापि प्रकृतिसंसर्गात् तत्पारतंत्र्यं सिद्धं, संसर्गस्य द्विष्ठत्वात्।

यहाँ पक्ष की असिद्धि को दिखलाते हुये सांख्य विद्वान् कहते हैं कि जीव सर्वदा शुद्धस्वभाव है। शुद्ध, उदासीन, भोक्ता, चेतयिता, द्रष्टा, ऐसा आत्मा हमारे यहाँ माना गया है अतः जीव का कर्मों करके परतंत्रपना सिद्ध नहीं है। इस कारण जैनों का हेतु आश्रयासिद्ध है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि नित्य ही शुद्ध मानने पर उस आत्मा के संसार के अभाव हो जाने का प्रसंग आवेगा जो कि दृष्ट और इष्ट प्रमाण से विरुद्ध पड़ता है। यदि कपिल मतानुयायी यों कहें कि संसार में आत्मा तो अन्य सभी पदार्थों से अलिप्त रहता है जैसे कि जल से कमलपत्र अलग रहता है यह जो कुछ जन्म, मरण, इष्ट वियोग, और अनिष्ट संयोग, भूख, प्यास, अध्ययन, दान, पूजा, शरीर ग्रहण आदि अवस्था-स्वरूप संसार है यह सब सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणों की साम्य अवस्था स्वरूप प्रकृति का है आत्मा निर्विकार है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों प्रधान के ही संसार होना मान लेने पर आत्मा की कल्पना करने के व्यर्थपन का प्रसंग आ जावेगा। मोक्ष भी उस प्रकृति की ही घटित हो जायगी सभी पुरुषार्थों को जब प्रकृति सम्भाल लेगी तो आत्मतत्त्व की कल्पना करना व्यर्थ है। ऐसे अवसर को पाकर यदि सांख्य यों कह बैठें कि अच्छी बात है प्रकृति ही संसार और मोक्ष को धार लेगी हम आत्मा को संसारी या मुक्त मानते ही नहीं हैं। प्रकृति ही संसार करती है और प्रकृति ही आत्मा से चरितार्थाधिकार होकर मुक्त हो जाती है। मुक्त आत्मा में ज्ञान, सुख, आदि का अणुमात्र भी संसर्ग नहीं रहता है। केवल पुरुष का स्वरूप चैतन्य विद्यमान रहता है "चैतन्यं पुरुष-

स्वरूपं, तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानं" ऐसे हमारे यहाँ आगम वचन हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं समझ बैठना कारण कि प्रकृति ही (पक्ष) संसार और मोक्ष को धारने वाली कथमपि नहीं है (साध्य) अचेतन होने से (हेतु) घट के समान (अन्वय दृष्टान्त)। इस अनुमान द्वारा अचेतन प्रकृति के ही संसार या मोक्ष हो जाने का अभाव साध दिया गया है। यदि कापिल यों कहें कि चेतन पुरुष का संसर्ग हो जाने से वह प्रकृति ही उस संसार अवस्था को धार लेती ही है "तस्मात्तत्संसर्गादचेतनं चेतनावदिव" । तथा विवेकज्ञान यानी प्रकृति और पुरुष के भेद का परिज्ञान हो जाने से वह प्रकृति ही मोक्ष को प्राप्त कर लेती है। गाय के गले में रस्सी ही बँध जाती है और रस्सी ही छूट जाती है एतावता गाय का बन्धन या मोचन कह दिया जाता है वस्तुतः गाय अपने स्वरूप में वैसी की वैसी ही है। आचार्य कहते हैं कि यों कहो तब तो जिस प्रकार चेतन का संसर्ग हो जाने से प्रकृति का आत्मा के परतंत्र हो जाना स्वरूप संसार होना माना गया है उसी प्रकार प्रकृति का संसर्ग हो जाने से चेतन आत्मा का भी उस प्रकृति के पराधीन होजाना स्वरूप संसार सिद्ध हुआ जाता है क्योंकि कोई भी संसर्ग होय वह दो में अवश्य ठहरता है दो आदि पदार्थों से न्यून अर्थ में सम्बन्ध नहीं ठहर पाता है यों जैन सिद्धान्त अनुसार आत्मा और कर्म दोनों के ही संसार या मोक्ष होना घटित हो जाता है। मलिन सुवर्ण या वस्त्र में मल जब लग जाता है तब दोनों ही स्वकीय गुणों से च्युत होकर विभावपरिणति को धार लेते हैं और प्रयोगों द्वारा मल को अलग कर देनेपर शुद्ध सुवर्ण या स्वच्छ वस्त्र के समान मल भी अपने स्वरूप में निमग्न हो रहा झगड़े टण्टों से रहित होकर मुक्त होजाता है अतः आत्मा के भी परतंत्रता स्वरूप संसार सिद्ध हुआ इस बात को सांख्य स्वीकार करें हम स्याद्वादी तो प्रथम से ही पुद्गल की मोक्ष स्वीकार करते हैं "जीवाजीवास्रव" आदि सूत्र की सैंतालीसवीं वार्तिक को देखो अतः हमारा उक्त हेतु आश्रयासिद्ध नहीं है।

नन्वेवं प्रकृतिपारतंत्र्येण व्यभिचारस्तस्य कषायहेतुकत्वाभावादिति न मंतव्यं, कापिलानां कषायस्य क्रोधादेः प्रकृतिपरिणामत्वेष्टत्वात् तत्पारतंत्र्यस्य कषायहेतुकत्वसिद्धेः। स्याद्वादिनां तु कषायस्य जीवपरिणामत्वेऽपि कर्मलक्षणप्रकृतेः पारतंत्र्यस्य तत्प्रकृतत्वोपपत्तेः कथं तेन व्यभिचारः ? कषायपरिणामो हि जीवस्य कर्मणां बंधमादधानो यथा तत्पारतंत्र्यं कुरुते तथा कर्मणोऽपि जीवपरतंत्रत्वमिति न व्यभिचारिसाधनं कषायहेतुकत्वनिवृत्तौ निवर्तमानत्वादन्यथा मुक्तात्मनोऽपि पारतंत्र्यप्रसंगात्। जीवन्मुक्तस्यापि हि शांतकषायावस्थाकाले पारतंत्र्यनिवृत्तिरुपलभ्यते। "जीवन्नेव हि विद्वान् संहर्षायासाभ्यां विमुच्यते" इति प्रसिद्धेः।

यहाँ कपिल पुनः उक्त हेतु में व्यभिचार दोष उठाते हैं कि आप जैनों के "सत्त्वान्तरानपेक्षित्वे सति पारतंत्र्यशब्दवाच्यत्वात्" हेतु का प्रकृति की परतंत्रता करके व्यभिचार दोष आता है। देखिये संसार अवस्था में प्रकृति परतंत्र होरही है किन्तु वह परतंत्रता विचारी कषायों को हेतु मान कर उपजी नहीं है कषायें तो जीव के हो सकती हैं जड़ प्रकृति के नहीं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं मान बैठना चाहिये क्योंकि आप कपिल मतानुयायियों के यहाँ क्रोध, राग, द्वेष, मोह आदि कषायों को प्रकृति का परिणाम होरहेपन करके इष्ट किया गया है प्रसन्नता, लाघव, राग, द्वेष, मोह, दीनता, शोक, ये सब विकार उस सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणवाली प्रकृति के परिणाम माने गये हैं अतः उस प्रकृति के परतंत्रपन का कषाय नामक हेतुओं से उपजना सिद्ध हो जाता है। हम जैनों के यहाँ तो प्रथम से ही प्रमाण और व्यवहार नय के विषयोंका प्रतिपादन करने वाले तत्त्वार्थसूत्र, राजवार्त्तिक, सर्वार्थसिद्धि, गोमट्टसार, आदि में तो क्रोध आदि को आत्मा का ही विभाव परिणाम कहा है। हाँ निश्चय नय के प्रतिपाद्य विषय का निरूपण करने वाले समय-

सार ग्रन्थ में क्रोध आदि को पुद्गल का विकार कह दिया है उसकी अपेक्षा को समझ लेना योग्य है। किन्तु सांख्यों के यहाँ तो क्रोध, हर्ष, अहंकार, लोभ को प्रकृति का सर्वांग विवर्त इष्ट किया है अतः कापिलों को तो व्यभिचार दोष कथमपि नहीं उठाना चाहिये। बात यह है कि स्याद्वादियों के यहाँ भले ही कषाय को जीव का परिणाम होना माना गया है तो भी कर्मस्वरूप प्रकृति का परतंत्रपना उस कषाय करके किया गया बन जाता है अर्थात्—कषायें जीव को परतंत्र करती ही हैं साथ ही उन कषायों करके जीव के साथ बंध गई कर्मस्वरूप प्रकृति भी उन कषायों द्वारा ही पराधीन हो सकी है अतः उस प्रकृति या प्रकृतिबंध को प्राप्त हुये कर्मों की उस परतंत्रता करके भला किस प्रकार व्यभिचार हो सकता है? अर्थात्—नहीं? कारण कि जीव का कर्मों के साथ बंध को आधान कर रहा कषाय परिणाम जिस प्रकार उस जीव की परतंत्रता को कर देता है उसी प्रकार कर्मों का भी जीवों के पराधीन बने रहने को कर देता है। गीले चून में पड़ा हुआ पिसा नोंन जैसे चून को अपने पराधीन कर देता है उसी प्रकार स्वयं नोंन [illegible] का हेतु व्यभिचार दोष वाला नहीं है। व्यभिचार दोष के निवारणार्थ हेतु में विपक्षव्यावृत्ति घटित हो रही है। साध्य हो रहे कषाय हेतुकत्व की निवृत्ति होनेपर "सत्त्वान्तरानपेक्षित्वे सति परतंत्रपन" हेतु की निवृत्ति हो रही देखी जाती है। अर्थात्—जो कषायों को हेतु मानकर नहीं उपजा है वह परतंत्र नहीं है। रुपया को सन्दूक या तिजोरी में बंद कर दो, रत्न को डिब्बी में बंद कर दो एतावता वे कोई परतंत्र नहीं हैं। परतंत्रपना प्रायः जीवों में ही लागू होता है। एक बात यह भी है कि जहाँ कहीं भी रुपया, द्व्यणुक, रत्न, आदि हैं वे स्वाधीन हैं अन्य प्राणियों ने उन रुपये आदि को यदि पराधीन कर दिया है तो "सत्त्वान्तरानपेक्षित्वे सति" यह हेतु का विशेषण उसकी व्रण चिकित्सा कर देता है। कषायों के दूर हो जाने पर अवश्य ही परतंत्रता दूर हो जाती है अन्यथा यानी कषायों की निवृत्ति हो जाने पर भी यदि परतंत्रता मानी जायेगी तो मुक्त आत्मा के भी पुनः परतंत्र बने रहने का प्रसंग आ जावेगा जोकि किसी को भी इष्ट नहीं है जब कि कषायों की उपशान्त अवस्था या क्षीण अवस्था हो जाती है उस अवसर पर ग्यारहमे, बारहमे, गुणस्थानवाले मुनि के ही परतंत्रता की निवृत्ति हो रही देखी जाती है। कषायों का क्षय हो जाने पर तेरहमे चौदहमे गुणस्थानवाले जीवित होकर भी मुक्त हो रहे जीवन्मुक्त सर्वज्ञ के परतंत्रता की निवृत्ति प्रतीत हो जाती है। अन्य दर्शन वाले भी स्वीकार करते हैं कि जीवित हो रहा ही विद्वान् (सर्वज्ञ) संहर्ष यानी राग या लौकिक सुख और आयास यानी द्वेष या दुःख से विशेषरूपेण मुक्त हो जाता है। "वि" का अर्थ यहाँ वर्तमान में स्वल्प भी राग द्वेष का सद्भाव नहीं पाया जाकर भविष्य के लिये भी राग, द्वेष, का सर्वथा परिक्षय है। यह सिद्धान्त सभी दार्शनिकों के यहाँ प्रसिद्ध है यों व्यतिरेक दृष्टान्त द्वारा भी प्रकृत हेतु का व्यतिरेक गुण पुष्ट कर दिया गया है।

साध्यसाधनविकलमुदाहरणमिति च न शंकनीयं,पद्ममध्यगतस्य भृंगस्य तद्गंधलोभकषायहेतुकत्वेन तत्संकोचकाले पारतंत्र्यसत्त्वांतरानपेक्षिणः प्रसिद्धत्वात्। ततोऽनवद्यमिदं साधनं।

उक्त अनुमान में कहा गया पद्म के मध्य में प्राप्त होरहा भौंरा यह दृष्टान्त तो साध्य और साधन से रीता है इस प्रकार की शंका भी नहीं करनी चाहिये क्योंकि पद्म के मध्य में प्राप्त होरहे भ्रमर की उस कमल गन्ध में लग रही लोभ कषाय को हेतु मान कर हुई परतंत्रता की बालकों तक को प्रसिद्धि है जो कि परतंत्रता अन्य प्राणियों की अपेक्षा नहीं रखती है इस कारण गन्ध की लोभ कषाय अनुसार कमल में बैठे हुये पुनः सूर्य अस्त हो जाने पर संकुचित हुये पद्म में परतंत्र हो गये भौंरे में अन्य प्राणियों

को नहीं अपेक्षा रखता हुआ परतंत्रपना हेतु भी रह जाता है और कषायहेतुकपना साध्य भी ठहर जाता है तिस कारण उक्त हेतु निर्दोष है जो संसारी जीव की परतंत्रता का कषायों द्वारा होना साध देता है हाँ जो अकषाय जीव हैं वे परतंत्र नहीं हैं।

तत्र सांपरायिकास्रवस्य के भेदा इत्याह ।

सूत्रकार के प्रति किसी शिष्य का प्रश्न है कि महाराज बताओ कि आदि में कहे गये साम्परायिक आस्रव के कौन कौन से भेद हैं ? इस प्रकार जिज्ञासा प्रवर्तने पर उन भेदों का परिज्ञान कराने के लिये श्री उमास्वामी महाराज इस अग्रिम सूत्र का स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं।

इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः पंचचतुःपंचपंचविंशतिसंख्याः पूर्वस्य भेदाः ॥५॥

अपने विषयों में व्यापार कर रहीं पाँच संख्या वाली स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षुः, श्रोत्र, ये इन्द्रियां और चार संख्यावाले क्रोध, मान, माया, लोभ ये आगे कहे जाने वाले कषाय तथा पाँच संख्या वाले हिंसा से अविरति, झूंठ से अविरति, चोरी से अविरति, अब्रह्म का अत्याग और परिग्रह का अप्रत्याख्यान स्वरूप ये अव्रत एवं सम्यक्त्व क्रिया आदि पचीस संख्या वाली क्रियायें ये उन्तालीस पूर्वसाम्परायिक आस्रव के भेद [illegible] होता है।

इन्द्रियाणि पंचसंख्यानि कषायाश्चतुःसंख्याः अव्रतानि पंचसंख्यानि क्रियाः पंचविंशतिसंख्या इति यथासंख्यमभिसंबंधः ।

"इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः" इस इतरेतर योग समास वाले उद्देश्य दल का "पंचचतुःपंचपंचविंशतिसंख्याः" इस विधेय दल के साथ यथाक्रम से अन्वय करने पर यों अर्थ कर लिया जाता है कि पाँच संख्या वाली भाव इन्द्रियां हैं कषायों की संख्या चार है पाँच संख्या वाले अव्रत हैं क्रियाओं की गणना पचीस है। इस प्रकार उद्देश्य, विधेय, पदों की संख्या के अनुसार दोनों ओर से सम्बन्ध कर लेना चाहिये।

सांपरायिकमत्रोक्तं पूर्वं तस्येंद्रियादयः ।
भेदाः पंचादिसंख्याः स्युः परिणामविशेषतः ॥१॥

यहाँ प्रकरण में सकषाया आदि सूत्र अनुसार पहिले साम्परायिक आस्रव कहा जा चुका है उसके पाँच आदि संख्यावाले इन्द्रिय आदिक चार भेद हो सकते हैं जो कि अन्तरंग बहिरंग कारणों अनुसार हुई आत्मा की विशेष परिणतियों से उन्तालीस प्रकार होजाते हैं।

न हि जीवस्येंद्रियादिपरिणामानां विशेषोऽसिद्धः परिणामित्वस्य वचनात् । कारणविशेषापेक्षत्वाच्च स्पर्शादिषु विषयेषु पुंसः स्पर्शनादीनि पंच भावेंद्रियाणि तदुपकृतौ वर्तमानानि द्रव्येंद्रियाणि पंचेंद्रियसामान्योपादानादुक्तलक्षणानि प्रत्येतव्यानि ।

जीव के इन्द्रिय कषाय आदि विशेष परिणतियों का होना असिद्ध नहीं है क्योंकि सर्वज्ञ की आम्नाय अनुसार कहे गये आर्ष शास्त्रों में जीव के परिणामीपनका निरूपण किया गया है अर्थात् "परिणमदि कमेणप्पा" "जीवकृतं परिणामं" परिणममाणस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि, परिणममाणो नित्यं ज्ञानविवर्तैरनादिसन्तत्या, परिणामानां स्वेषां स भवति कर्ता च भोक्ता च" जीव के परिणाम होने का प्रतिपादन करने वाले ऐसे आगमवाक्य मिलते हैं। स्वयं सूत्रकारने जीव को द्रव्य कहते हुये गुणपर्यायवाले पदार्थ को द्रव्य कहा है हम जैन तो सांख्यों के समान आत्मा को कूटस्थ नहीं मानते हैं अतः परिणामी आत्मा के इन्द्रियाँ, कषाय, अव्रत और क्रियायें ये विवर्त सम्भव जाते हैं। एक बात यह भी है कि ये इन्द्रिय आदिक आस्रव के द्वार अन्य कारण विशेषों की अपेक्षा रखते हैं अतः कारण विशेषों की अपेक्षा रखने वाला कोई परिणाम विशेष यानी कार्य ही हो सकता है आत्मा की स्पर्शन आदिक पाँच इन्द्रियां इन स्पर्श आदि विषयों में प्रवर्त रही हैं उन भावेन्द्रियों का उपकार (सहायता) करने में व्यापार कर रहीं पाँच द्रव्येन्द्रियां हैं जिनके कि लक्षण या भेदों का निरूपण दूसरे अध्याय में किया जा चुका है यहाँ सूत्र में सामान्य रूप करके "इन्द्रिय" पद का ग्रहण कर देने से भावेन्द्रियों के साथ द्रव्येन्द्रियां भी पकड़ ली जाती समझ लेनी चाहिये भावेन्द्रियों के समान द्रव्येन्द्रियों द्वारा भी आस्रव होता है भावेन्द्रियों के उपयोग के बिना अकषाय जीवों की द्रव्येन्द्रियां आस्रव की सहायक नहीं हो पाती हैं।

तानि वीर्यांतरायेंद्रियज्ञानावरणक्षयोपशमान्नामकर्मविशेषोदयाच्चोपजायमानानि कषायेभ्यो मोहनीयविशेषोदयादुत्पद्यमानेभ्यः कथंचिद्भिद्यंतेनियतविषयत्वाच्च। कषायाः पुनरनियतविषया वक्ष्यमाणास्ततो भिन्नलक्षणानि हिंसादीन्यव्रतानि च वक्ष्यंते। क्रियास्तत्राभिधीयंते पंचविंशतिः।

अन्तरंग कारण हो रहे वीर्यान्तराय और इन्द्रियज्ञानावरण कर्मों के क्षयोपशम से तथा अंगोपांग आदि विशेष नामकर्म उदय से उपज रही सन्ती वे पांचों द्रव्येन्द्रियां और भावेन्द्रियाँ इन मोहनीय कर्म की विशेष प्रकृतियों के उदय से उपज रहे क्रोध आदि कषायों से कथंचित् भेद को प्राप्त हो रही हैं कषायों से इन्द्रियों के भिन्न होने में एक यह भी कारण है कि पांचों इन्द्रियों के विषय स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, और शब्द, नियत हैं। हाँ मन का विषय नियत नहीं है जो कि यहां पांच इन्द्रियों में प्रथम से ही नहीं गिना गया है किन्तु अग्रिम ग्रन्थ में कही जाने वाली कषायें तो फिर नियत विषय वाली नहीं हैं। चाहे जिस किसी पदार्थ पर लोभ या क्रोध किया जा सकता है मायाचार और अभिमान भी सभी पदार्थों में किये जा सकते हैं जैसे कि मन इन्द्रिय द्वारा चाहे जिसका विचार कर लिया जाता है तिस कारण इन्द्रियों से कषाय भिन्न हैं तथा हिंसा, अनृत आदि अव्रत आगे सातमे अध्याय में कहे जायेंगे, ये पांच अव्रत भी उन इन्द्रियों और कषायों से भिन्न लक्षण वाले हैं। त्रसहिंसा, संकल्पीहिंसा, स्थूलझूंठ, परस्त्री आदि के परित्याग की यदि कोई प्रतिज्ञा नहीं ली है तो जीवों की निरर्गल अव्रत स्वरूप परिणति है जैसे कि पूजन, अध्ययन, दान, नहीं करने वाले श्रावकों की पुण्य क्रिया नहीं करना स्वरूप प्रमाद परिणतियां अशुभ कर्मों का आस्रव कराती रहती हैं। पच्चीस क्रियायें भी उक्त तीनों से निराली हैं। इन्द्रिय विषय लोलुपता, क्रोधादि कषायें, हिंसा आदि अव्रत, और सम्यक्त्व मिथ्यात्व, आदि क्रियायें ये सब आत्मा की परिणतियां न्यारी-न्यारी अनुभूत हो रही हैं। विवेक ज्ञानियों को ये उन्तालीस भेद स्पष्ट प्रतीत हो जाते हैं जो कि साम्परायिक आस्रव के भेद हैं। अब ग्रन्थकार उन भेदों में कही गई पच्चीस क्रियाओं को अग्रिम वार्तिकों द्वारा स्पष्ट कह रहे हैं सो सुनिये।

तत्र चैत्यश्रुताचार्यपूजास्तवादिलक्षणा ।
सम्यक्त्ववर्धनी ज्ञेया विद्भिः सम्यक्त्वसत्क्रिया ॥२॥
कुचैत्यादिप्रतिष्ठादिर्या मिथ्यात्वप्रवर्धनी ।
सा मिथ्यात्वक्रिया बोध्या मिथ्यात्वोदयसंस्तुता ॥३॥
कायादिभिः परेषां यद्गमनादिप्रवर्तनं ।
सदसत्कार्यसिद्ध्यर्थं सा प्रयोगक्रिया मता ॥४॥

उन पच्चीस क्रियाओं में पहिली सम्यक्त्व क्रिया, मिथ्यात्व क्रिया, प्रयोग क्रिया, समादान क्रिया, ईर्यापथ क्रिया, ये पांच क्रियायें हैं तहां जिन बिम्ब, आप्तोपज्ञशास्त्र, निर्ग्रन्थ आचार्य, इनकी पूजा करना, स्तुति करना, दर्शन करना, ध्यान करना आदि स्वरूप प्रशंसनीय सम्यक्त्व क्रिया है जो कि विद्वानों करके सम्यक्त्व को बढ़ाने वाली समझी गई है। तथा कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र आदि की प्रतिष्ठा करना, श्री जिनेन्द्र देव के अतिरिक्त अन्य देवताओं की स्तुति करना, पूजा करना आदि जो भी कोई मिथ्यात्व को अधिक बढ़ाने वाली क्रियायें हैं वह मिथ्यात्व क्रिया है जो कि पूर्व में बँधे हुये मिथ्यात्व कर्म के उदय को अच्छा आश्रय पाकर हुई मिथ्यादृष्टि जीवों के यहां प्रख्यात हो रही समझ लेनी चाहिये। प्रशस्त और अप्रशस्त कार्यों की प्रसिद्धि करने के लिये काय, वचन, आदि करके दूसरे जीवों की जो गमन, आगमन, आदि प्रवृत्ति करा देना है वह तीसरी प्रयोग क्रिया मानी गयी है।

नुः कायवाङ्मनोयोगास्तो निवर्तयितुं क्षमाः ।
पुद्गलास्तदुपादानं स्वहेतुद्वयतोऽथवा ॥५॥
संयतस्य सतः पुंसोऽसंयमं प्रति यद्भवेत् ।
आभिमुख्यं समादानक्रिया सा वृत्तघातिनी ॥६॥
ईर्यापथक्रिया तत्र प्रोक्ता तत्कर्महेतुका ।
इति पंचक्रियास्ताश्च्छुभाशुभफलाः स्मृताः ॥७॥

अपने अन्तरंग कारण हो रहे वीर्यान्तराय कर्म और ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम एवं अंगोपांग कर्म का उदय तथा बहिरंग कारण माने गये योग वर्गणा, भोजन, आदि यों दोनों कारणों से आत्मा के काययोग, वचनयोग, मनोयोग, इनकी निवृत्ति नहीं कराने के लिये अर्थात्—योगों अनुसार मन, वचन, काय, को बनाने के लिये समर्थ हो रहे जो पुद्गल हैं उनका ग्रहण करना समादान क्रिया है। अथवा संयमी ही रहे सन्ते प्रशस्त आत्मा का जो अविरति के प्रति अभिमुख होना है वह समादान क्रिया है वह चारित्र का घात करने वाली मानी गयी है। उस ईर्यापथ यानी जीवदया पालते हुये धर्मार्थ मार्ग में चल रहे संयमी की गमन कर्म को हेतु मान कर उपजी हुई क्रिया तो उन क्रियाओं में पांचमी ईर्यापथ क्रिया अच्छी कही गयी है। इस प्रकार कोई शुभ फलों और अशुभ फलों को देने वाली ये पहिली पांच क्रियायें तो ऋषि आम्नाय अनुसार स्मरण की जा रहीं चली आ रही हैं।

क्रोधावेशात्प्रदोषो यः सांतः प्रादोषिकी क्रिया ।
तत्कार्यत्वात्सहेतुत्वात् क्रोधादन्या ह्यनीदृशात् ॥८॥

प्रादोषिकी क्रिया, कायिकी क्रिया, आधिकरिणिकी क्रिया, पारितापिकी क्रिया, प्राणातिपातिकी क्रिया, यह दूसरा क्रिया पंचक है जिनमें क्रोध का आवेश आजाने से जो हृदय में दुष्टता रूप प्रदोष उपजता है वह अन्तरंग की प्रादोषिकी क्रिया है। यदि यहाँ कोई यों कटाक्ष करे कि कषायों में क्रोध गिना ही दिया गया है फिर क्रियाओं में क्रोध स्वभाव प्रादोषिकी क्रिया का ग्रहण करना तो पुनरुक्त हुआ, आचार्य समझाते हैं कि यह आक्षेप ठीक नहीं है क्योंकि प्रादोषिकी क्रिया में क्रोध कारण पड़ता है उस क्रोध [illegible] कि क्रोध तो कदाचित् सर्प, भेड़िया, आदि के बिना कारण ही उपज जाता है किन्तु प्रदोष यानी दुष्टता या पिशुनता तो कुछ न कुछ निमित्त पाकर उपजती है अतः हेतुसहित हो रही होने के कारण इस प्रादोषिकी क्रिया सारिखे नहीं होरहे क्रोध कषाय से यह प्रदोष क्रिया भिन्न है।

प्रदुष्टस्योद्यमो हंतुं गदिता कायिकी क्रिया ।
हिंसोपकरणादानं तथाधिकरणक्रिया ॥९॥
दुःखोत्पादनतंत्रत्वं स्यात्क्रिया पारितापिकी ।
क्रिया सा तावता भिन्ना प्रथमा तत्फलत्वतः ॥१०॥
प्राणातिपातिकी प्राणवियोगकरणं क्रिया ।
कषायाच्चेति पंचैताः प्रपत्तव्याः क्रियाः पराः ॥११

प्रदोष करके युक्त होरहे सन्ते बढ़िया दुष्ट पुरुष का दूसरों को मारने के लिये जो उद्यम करना है वह कायिकी क्रिया कही गयी है। तथा हिंसा के उपकरण होरहे शस्त्र, विष, आदि का ग्रहण करना अधिकरण क्रिया मानी गयी है। दूसरे प्राणियों को दुःख उपजाने पर उसके अधीन जो परिताप होत है वह पारितापिकी क्रिया है तितने से ही वह पहिली क्रिया भिन्न हो जाती है क्यों कि वह उसका फल है। अर्थात् क्रोध के आवेश से दूसरे को मारने का उद्यम किया गया उससे हिंसा के उपकरणों को पकड़ा पुनः उससे जीवों को दुःख उपजाया यों उक्त क्रियायें परस्पर में एक दूसरे से भिन्न हैं। पांचमी आयुः प्राण, इन्द्रिय प्राण, बल प्राण, और श्वासोच्छ्वास प्राण इनका वियोग कर देना प्राणातिपातिकी क्रिया है। ये पाँचों ही क्रियायें कषायों से भिन्न समझ लेनी चाहिये। कषायें कारण हैं और उक्त पाँचों क्रियायें कार्य हैं अन्य अव्रत आदि से भी ये क्रियायें भिन्न हैं।

रागार्द्रस्य प्रमत्तस्य सुरूपालोकनाशयः ।
स्याद्दर्शनक्रियास्पर्शे स्पृष्टधीः स्पर्शनक्रिया ॥१२॥
एते चेंद्रियतो भिन्ने परिस्पंदात्मिके मते ।
ज्ञानात्मनः कषायाच्च तत्फलत्वात्तथाऽव्रतात् ॥१३॥

क्रियाओं का तीसरा पंचक दर्शन क्रिया, स्पर्शनक्रिया, प्रात्ययिकी क्रिया, समन्तानुपातन क्रिया और अनाभोग क्रिया इस प्रकार है। राग से द्रवीभूत हो गये प्रमादी जीव का रमणीय पदार्थ के सुन्दर रूपों के आलोकन करने में अभिप्राय होना दर्शन क्रिया है। छूने योग्य पदार्थ के स्पर्श करने में रागी जीव की जो छूते रहने के लिये बुद्धि होना (टकटकी लगे रहना) है यह स्पर्शन क्रिया है। यदि यहाँ कोई यों प्रश्न करे कि पाँच इन्द्रियों में चक्षुःइन्द्रिय और स्पर्शन इन्द्रिय को गिन लिया गया है उन्हीं में ये दर्शन, स्पर्शन, क्रियायें गतार्थ होजावेंगी यों उनका पृथक् निरूपण करना व्यर्थ है अथवा कषायों या अव्रतों में भी इन क्रियाओं का [illegible] करते हुये आचार्य कहते हैं कि अपरिस्पन्द आत्मक इन्द्रियों से ये परिस्पन्द आत्मक दोनों क्रियायें भिन्न मानी गयी हैं पहिले पाँच इन्द्रियों में ज्ञान आत्मक इन्द्रियों का ग्रहण है किन्तु यहाँ इन्द्रियविज्ञान पूर्वक हुये दर्शन, स्पर्शन आत्मक परिस्पन्द को क्रियाओं में लिया गया है अतः ज्ञान आत्मक इन्द्रियों से ये क्रियायें भिन्न हैं। यह भी एक तर्क है। तथा कषाय या अव्रतों से भी उक्त क्रियायें भिन्न हैं क्योंकि ये क्रियायें उन अव्रत और कषायों के फल हैं "तेषां फलानि तत्फलानि तेषां भावस्तत्फलत्वं" कभी कभी क्रियाओं से भी कषायें और अव्रत उपज जाते हैं अतः ये क्रियायें उनकी कारण भी हैं "तानि फलानि यासां ताः तत्फलाः तासां भावस्तत्फलत्वं तस्मात्तत्फलत्वात्" यों "तत्फलत्व" पद का विग्रह किया जा सकता है।

अपूर्वप्राणिघातार्थोपकरणप्रवर्तनं ।
क्रिया प्रात्ययिकी ज्ञेया हिंसाहेतुस्तथा परा ॥१४
स्त्र्यादिसंपातिदेशेंतर्मलोत्सर्गः प्रमादिनः ।
शक्तस्य यः क्रियेष्टेह सा समंतानुपातिकी ॥१५॥
अदृष्टे यो प्रमृष्टे च स्थाने न्यासो यतेरपि।
कायादेः सा त्वनाभोगक्रिया सैताश्च पंच ताः ॥१६॥

प्राणियों का घात करने के लिये तलवार, तोप, बन्दूक, पिस्तौल, मशीनगन, बम, टारपीडो, सुरंग, विषाक्त गैस, आदि अपूर्व उपकरणों की प्रवृत्ति करना तो प्रात्ययिकी क्रिया समझनी चाहिये, तिसी प्रकार हिंसा का हेतु होरही यह क्रिया भी उन कषाय और अव्रतों से भिन्न है। समर्थ होरहे भी प्रमादी पुरुष का स्त्री, पुरुष, पशु आदि का सम्पात (गमनागमन) हो रहे प्रदेशों में जो अन्तरंग मल, मूत्र, सिंघाणक आदि मलों का त्याग करना है वह यहाँ समन्तानुपातिकी क्रिया इष्ट की गई है। असंयमी पुरुष हो चाहे संयमी भी साधु क्यों न हो उस यति का भी बिना देखे हुये और बिना शुद्ध किये हुये स्थान में शरीर, पुस्तक, आदि का जो स्थापन कर देना है वह तो पाँचवीं या पन्द्रहवीं प्रसिद्ध अनाभोग क्रिया है। ये भी प्रसिद्ध होरहीं पांच क्रियायें हैं जो कि वे अन्य क्रियाओं और इन्द्रिय, कषाय, अव्रतों, से भिन्न होरहीं मानी गयी हैं।

परनिर्वर्त्यकार्यस्य स्वयं करणमत्र यत् ।
सा स्वहस्तक्रियावद्यप्रधाना धीमतां मता ॥१७॥

पापप्रवृत्तावन्येषामभ्यनुज्ञानमात्मना।
स्यान्निसर्गक्रियालस्यादकृतिर्वा सुकर्मणां ॥१८॥
पराचरितसावद्यप्रकाशनमिह स्फुटं।
विदारणक्रिया त्वन्या स्यादन्यत्र विशुद्धितः ॥१९॥

क्रियाओं का चौथा पंचक स्वहस्त क्रिया, निसर्ग क्रिया, विदारण क्रिया, आज्ञाव्यापादिकी क्रिया, अनाकांक्षिकी क्रिया इस प्रकार है तिनमें दूसरों से करने योग्य कार्य का जो स्वयं करना है वह यहां स्वहस्त-क्रिया मानी गयी है। इस क्रिया में पाप की प्रधानता है ऐसा पण्डितों का विचार है। दूसरों की पाप में प्रवृत्ति कराने के लिये स्वयं आत्मा करके जो अन्य पुरुषों को अनुमति दे देना है वह निसर्ग क्रिया है अथवा आलस्य से श्रेष्ठ कर्मों का नहीं करना भी निसर्ग क्रिया है। तथा दूसरों करके आचरे गये पाप सहित कर्मों का स्पष्ट रूप से प्रकाश कर देना यहां विदारण क्रिया है जो कि इतर क्रियाओं से या इन्द्रिय आदिक से भिन्न है हां आत्मा की विशुद्धि से दूसरे की हित कामना रखते हुये यदि विद्यार्थी, पुत्र, मित्र, श्रोता, आदि को सावद्य क्रियाओं को प्रकट किया जायेगा तो विदारण क्रिया नहीं समझी जायेगी अतः आत्मा विशुद्धि से भिन्न अवस्थाओं में कालुष्य होने पर विदारण क्रिया समझी जाय।

आवश्यकादिषु ख्यातामर्हदाज्ञामुपासितुं।
अशक्तस्यान्यथाख्यानादाज्ञाव्यापादिकी क्रिया ॥ २० ॥
शाठ्यालस्यवशादर्हत्प्रोक्ताचारविधौ तु यः।
अनादरः स एव स्यादनाकांक्षक्रियाविदां ॥ २१ ॥
एताः पंच क्रियाः प्रोक्ताः परास्तत्त्वार्थवेदिभिः।
कषायहेतुका भिन्नाः कषायेभ्यः कथंचन ॥ २२ ॥

छः आवश्यक, पांच समिति, आदि कृत्यों में बखानी गयी श्री अर्हन्तदेव की आज्ञा का परि-पालन करने के लिये असमर्थ हो रहे प्रमादी जीव का अन्य प्रकारों करके व्याख्यान कर देने से आज्ञा-व्यापादिकी क्रिया हो जाती है। अर्थात्—कोई-कोई पण्डित स्वयं नहीं कर सकने की अवस्था में जिन-वाणी के वाक्यों का दूसरे प्रकारों से ही अर्थ का अनर्थ कर बैठते हैं। "जिनगेहो मुनिस्थितिः" के स्थान पर, "जिनगेहे मुनिस्थितिः" कह देते हैं उद्दिष्ट त्याग के प्रकरण में न जाने क्या-क्या उद्दिष्ट का अर्थ करते हैं अतः अपनी अशक्ति या कषायों के वश होकर जिनागम के अर्थ का परिवर्तन करना महान् कुकर्म है। तथा तीर्थंकर अर्हन्तदेव करके निर्दोष कही गयी आचार क्रिया की विधि में शठता या आलस्य के वश से जो अनादर करना है वही तो विद्वानो के यहां अनाकांक्षा क्रिया कही जा सकती है। ये स्वहस्त क्रिया आदि पांच क्रियायें तत्त्वार्थशास्त्र के वेत्ता विद्वानों करके भले प्रकार अन्य क्रियाओं से भिन्न कह दी गयी हैं। ये क्रियायें कषायों को हेतु मान कर उपजती हैं अतः क्रोध आदि कषायों से किसी न किसी प्रकार भिन्न हैं। कषायें कारण हैं और ये क्रियायें कार्य हैं इनका मिथः कार्य कारणभाव सम्बन्ध है।

छेदनादिक्रियासक्तचित्तत्वं स्वस्य यद्भवेत् ।
परेण तत्कृतौ हर्षः सेहारंभक्रिया मता ॥२३॥
परिग्रहाविनाशार्था स्यात्पारिग्रहिकी क्रिया ।
दुर्वक्तृकवचो ज्ञानादौ सा मायादिक्रिया परा ॥२४॥

आरम्भ क्रिया, पारिग्रहिकी क्रिया, माया क्रिया, मिथ्यादर्शन क्रिया, अप्रत्याख्यान क्रिया, ये क्रियाओं का पांचमा पंचक है इनमें पहिली आरम्भ क्रिया का अर्थ यह है कि प्राणियों के छेदन, भेदन, मारण आदि क्रियाओं में जो अपने चित्त का आसक्त होना है अथवा दूसरे करके उन छेदन आदि क्रियाओं के करने में हर्ष मानना है वह यहां आरम्भ क्रिया मानी गयी है। क्षेत्र, धन, आदि परिग्रह का नहीं विनाश करने के लिये जो प्रयत्न होगा वह पारिग्रहिकी क्रिया है। ज्ञान, दर्शन, आदि में जो दुष्ट-वक्तापन या खोटे मायाचार अनुसार वचन कहते हुये वंचना करता है वह अन्य क्रियाओं से न्यारी माया क्रिया है। माया क्रिया के आदि में माया शब्द पड़ा हुआ है अतः इस क्रिया में वक्रता यानी मायाचार की प्रधानता है।

मिथ्यादिकारणाविष्टदृढीकरणमत्र यत् ।
प्रशंसादिभिरुक्तान्या सा मिथ्यादर्शनक्रिया ॥२५॥
वृत्तमोहोदयात्पुंसामनिवृत्तिः कुकर्मणः ।
अप्रत्याख्या क्रियेत्येताः पंच पंच क्रियाः स्मृताः ॥२६॥

मिथ्यामतों के अनुसार मिथ्यादर्शन आदि के कारणों में आसक्त होरहे पुरुष का इस मिथ्या मत में ही प्रशंसा, सत्कार, पुरस्कार आदि करके जो दृढ़ करना है कि तुम बहुत अच्छा काम कर रहे हो यों अदृढ़ को दृढ़ कर देना है वह यहाँ 'मिथ्या दर्शन क्रिया कही गयी है जो कि अन्य क्रियाओं से न्यारी है। संयम को घातने वाले चारित्रमोहनीय कर्म का उदय होजाने से आत्माओं के जो कुकर्मों से निवृत्ति नहीं होना है वह अप्रत्याख्यानक्रिया है इस प्रकार ये पाँच क्रियायें ऋषि आम्नाय अनुसार स्मरण होरही चली आचुकी हैं यों यहाँ तक पाँच पंचकों अनुसार पचीस क्रियाओं का लक्षण पूर्वक निर्देश कर दिया गया है। विशेष यह कहना है कि "स्मृताः" शब्द का यह अभिप्राय है कि सर्वज्ञ के उपदेश की धारा से ऋषि-सम्प्रदाय अनुसार अब तक जैन सिद्धान्त के विषयों का स्मरण होता चला आ रहा है कितनी ही धार्मिक बातें यदि उपलब्ध शास्त्रों में नहीं लिखी हैं और वे कुलक्रम या जैनियों की आम्नाय अनुसार चली आरही हैं तो वे भी प्रमाण हैं। देखिये लाखों करोड़ों, स्त्री पुरुषों की वंश परम्परा का निर्दोषपना पुरुषा पंक्ति से कहा जारहा आज तक धारा प्रवाह रूप से चला आता है तो वह असंकर होरही वंश परम्परा प्रामाणिक ही समझी जायगी। आज कल के सभी निर्दोष स्त्री पुरुषों की वंश परम्परा का शास्त्रों में तो उल्लेख नहीं है अतीन्द्रियदर्शी मुनियों का सत्संग भी दुर्लभ है अतः यह कुलीनता जैसे वृद्धपरम्परा द्वारा उक्त होरही प्रमाण मान ली जाती है उसी प्रकार चून, बूरा, पिसा हुआ मसाला, दूध, घी, आदि के शुद्ध बने रहने की तीन दिन, पाँच दिन, दो घड़ी, आदि की काल मर्यादा को भी आम्नाय अनुसार प्रमाण मान

लिया जाता है। क्रियाकोश में किन-किन बातों को कहाँ तक लिखा जा सकता है बुद्धिमानों को चाहिये कि "अनादौ सति संसारे दुर्वारे मकरध्वजे। कुले च कामिनीमूले का जातिपरिकल्पना" ऐसे प्रमाणाभास देकर जाति, कुल, व्यवस्था को ढीला नहीं करें। लोटा मांजना, हाथ मटियाना, सूतक पातक से की गयीं अशुद्धियां, म्लेच्छ संसर्ग की अशुद्धि आदि के प्रत्याख्यान का उपाय इन असंख्य प्रकरणों को कहाँ तक शास्त्रों में देखते फिरोगे। जिस किसी लौकिक क्रिया से सम्यग्दर्शन और चारित्र में हानि नहीं होय वह सभी लौकिक विधि प्रमाण मानी गयी है। इसी प्रकार खड़े हो कर पूजन करना, बैठ कर शास्त्रजी पढ़ना, अचित्तद्रव्य से पूजा करना, आह्वान, स्थापन, सन्निधीकरण, पूजन, विसर्जन आदि क्रियाओं में चली आ रही आम्नाय ही प्रमाण समझी जाती है। कहीं-कहीं तो शास्त्रों के लिये भी प्रमाणता को देने वाली आम्नाय मानी गयी है अतः मूलसंघ सम्प्रदाय का पद भी बहुत ऊँचा है। सभी विषयों में शास्त्रों की साक्षी माँगना अथवा आचमन, तर्पण, गुप्तांग पूजा आदि मिथ्यात्व वर्द्धक क्रियाओं के पोषक चाहे जिस शास्त्रको प्रमाण मान बैठना समुचित नहीं है। क्वचित् जैन मन्दिरों में अजैन देवों की मूर्तियां न जाने किस किस देश, काल, राजा, प्रबल प्र[illegible] हैं जिसकी अभी तक कोई चिकित्सा नहीं हो पायी है। सिद्धक्षेत्र गिरनार जी पर्वत पर हिन्दुओं और मुसलमानों तक का आधिपत्य है। जैनों की निर्बलता से कितने ही तीर्थ, शास्त्र, जिनालय, जिनबिम्ब नष्ट किये जा चुके हैं। अब भी कितने ही जिनायतनों पर विधर्मियों का अधिकार है। जीव हिंसा, अविनय की जाती है। इसी प्रकार समीचीन शास्त्रों में भी भ्रष्ट साहित्य का प्रक्षेप किया गया है अथवा किसी जैनाभास भट्टारक या विद्वान् को वैसा प्रक्षेप करने के लिये बाध्य होना पड़ा है। प्रकरण में यही कहना है कि समीचीन शास्त्रों से जिन क्रियाओं में कोई बाधा नहीं आती है-वृद्ध परम्परा द्वारा स्मरण हुई चली आरहीं वे सभी धार्मिक क्रियायें प्रमाण हैं तभी तो बड़े-बड़े आचार्य स्मृताः, आम्नाताः, जिणेहिं णिद्दिट्ठं, आदि पदों से पूर्व सम्प्रदायप्राप्त प्रमेय का प्रतिपादन करते हैं।

ननु चेंद्रियकषायाव्रतानां क्रियास्वभावानिवृत्तेः क्रियावचनेनैव गतत्वात् प्रपंचमात्रप्रसंग इति चेन्न, अनेकांतात्। नामस्थापनाद्रव्येंद्रियकषायाव्रतानां क्रियास्वभावत्वाभावात् द्रव्यार्थादेशा-त्पर्यायार्थादेशाच्चैषां क्रियास्वभावत्वात्।

यहां कोई शंका उठाता है कि सूत्र में प्रथम कहे गये इन्द्रिय, कषाय, और अव्रतों की भी क्रिया स्वरूप करके निवृत्ति नहीं है अर्थात्—इन्द्रिय आदि भी क्रिया स्वभाव हैं अतः क्रियाओं के कहने करके ही उनका प्रयोजन प्राप्त हो जाता है तो फिर उन इन्द्रिय आदिकों का ग्रहण करना व्यर्थ है यों सूत्रकार को इतना लम्बा सूत्र बना कर केवल व्यर्थ के प्रपंच रचने का ही प्रसंग आता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यह कोई एकान्त नहीं है कि इन्द्रिय, कषाय, अव्रत, ये क्रिया स्वरूप ही होवें, क्योंकि नाम इन्द्रिय, स्थापना इन्द्रिय, द्रव्य इन्द्रिय, और नाम कषाय, स्थापना कषाय, द्रव्यकषाय, तथा नाम अव्रत, स्थापना अव्रत, द्रव्य अव्रत, इनको परिस्पन्द स्वरूप नहीं होने से क्रिया स्वभावपना नहीं है। अर्थात्—सभी अर्थों के नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव, ये चार भेद बखाने जा सकते हैं। पहिले तीन में क्रिया नहीं पायी जाती हैं। देखिये नाम इन्द्रिय आदि में नाम होने के कारण क्रिया नहीं है। स्थापना में भी मुख्य क्रिया नहीं पायी जाती है यह वही है ऐसा वचन या ज्ञान ही स्थापना में प्रवर्तता है आगामी काल में होनेवाले द्रव्य निक्षेप स्वरूप इन्द्रिय, कषाय, अव्रतों, में तो वर्तमान की क्रिया नहीं है अतः द्रव्यार्थिकनय

द्वारा कथन करने पर ये क्रिया स्वभाव नहीं हैं हां भाव स्वरूप इन्द्रिय, कषाय, अव्रतों, को कर रही पर्यायार्थिकनय की विवक्षा से उन इन्द्रिय, कषाय, अव्रतों, को क्रिया स्वरूपपना है अतः इनके क्रिया स्वरूप होने का ही एकान्त नहीं है, नयों की विवक्षा अनुसार अनेकान्त है। अतः सूत्रकार के ऊपर प्रपंच मात्र कहने का दोष प्राप्त नहीं होता है। क्रिया है स्वभाव जिनका वे क्रिया स्वभाव हुये, यों बहुव्रीहि समास करते हुये पुनः भाव में त्व प्रत्यय कर उनका जो भाव है वह "क्रियास्वभावत्व" है यह वृत्ति की जाय।

किं च, द्रव्यभावास्रवत्वभेदादिंद्रियादीनां क्रियाणां च न क्रियाः तत्प्रपंचमात्रं इंद्रियादयो हि शुभेतरास्रवपरिणामाभिमुखत्वाद्द्रव्यास्रवाः क्रियास्तु कर्मादानरूपाः पुंसो भावास्रवा इति सिद्धांतः। कायवाङ्मनःकर्म योगः स आस्रव इत्यनेन भावास्रवस्य कथनात्।

दूसरी बात यह है कि इन्द्रिय, कषाय, आदिकों को द्रव्यास्रवपना है और क्रियाओं को भावास्रवपना है। इस कारण इन्द्रिय आदिक और पच्चीस कषायों का भेद हो जाने से क्रियायें उन इन्द्रिय आदिकों का या क्रियाओं का इन्द्रिय आदिक विस्तार मात्र नहीं है जब कि इन्द्रिय आदिक नियम से शुभ आस्रव और उससे इतर अशुभ आस्रव के परिणामों की ओर अभिमुख होने के कारण द्रव्यास्रव हैं और क्रियायें तो आत्मा के निकट कर्मों का ग्रहण करा देना स्वरूप होती हुई भावास्रव हैं यह जैन सिद्धान्त प्रस्फुट है। काय, वचन, और मन की कम्पस्वरूप क्रिया योग है तथा वही आस्रव है यों छठे अध्याय के इन पहिले दो सूत्रों करके भावास्रव का कथन किया गया है। ऐसी दशा में इन्द्रिय आदिकों का प्रपंच क्रियायें या क्रियाओं का प्रपंच इन्द्रिय आदि नहीं हैं प्रत्युत वे क्रियायें भावास्रव होती हुई द्रव्यास्रव हो रहे इन्द्रिय, कषाय, अव्रतों से विभिन्न हैं।

द्रव्यास्रव एव योगः कर्मागमनभावास्रवस्य हेतुत्वादिति चेन्न, आस्रवत्यनेनेत्यास्रव इति करणसाधनतायां योगस्य भावास्रवत्वोपपत्तेः। एवमिंद्रियादीनामपि भावास्रवत्वप्रसंग इति चेन्न, तेषां क्रियाकारणत्वेन द्रव्यास्रवत्वेन विवक्षितत्वात्। आस्रवणमास्रव इति भावसाधनतायां क्रियाणां भावास्रवत्वघटनात्।

यहाँ कोई विद्वान् आक्षेप करता है कि योग तो द्रव्यास्रव ही है क्योंकि कर्मों के आगमन स्वरूप भावास्रव का वह हेतु है। भावास्रव का हेतु द्रव्यास्रव माना गया है अतः परिस्पन्द क्रिया स्वरूप योग द्रव्यास्रव ही होगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि आङ् उपसर्ग पूर्वक "स्रुगतौ" धातु से करण में अप् प्रत्यय कर आस्रव शब्द बनाया गया है जिस करके कर्मों का आगमन होता है वह आस्रव है इस प्रकार करण में आस्रव शब्द का साधन करते सन्ते योग को भावास्रवपना बनता है। पुनः कोई विद्वान् यदि आक्षेप करे कि यों तो इन्द्रिय आदिकों को भी भावास्रवपने का प्रसंग आजावेगा इन्द्रिय आदि करके भी कर्मों का आगमन होता है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि वे इन्द्रिय आदिक तो कम्पस्वरूप योग क्रिया के कारण हैं इस कारण इन्द्रिय आदि की द्रव्यास्रवपने करके विवक्षा की जा चुकी है। हाँ आस्रव होना यानी आगमन होना मात्र आस्रव है यों भाव में अप् प्रत्यय कर आस्रव शब्द की सिद्धि करने पर तो क्रियाओं को भावास्रवपना घटित होजाता है।

कार्यकारणभावाच्चेंद्रियादिभ्यः क्रियाणां पृथग्वचनं युक्तं इन्द्रियादिपरिणामा हेतवः क्रियाणां तेषु सत्सु भावादसत्यभावादिति निगदितमन्यत्र।

एक बात यह भी है कि इनका कार्यकारणभाव होने से भी इन्द्रिय आदिक से क्रियाओं का पृथक् निरूपण करना सूत्रकार का युक्तिपूर्ण कार्य है। देखिये क्रियाओं के कारण इन्द्रिय, कषाय, आदिक परिणाम हैं। इनमें परस्पर अन्वयव्यतिरेक घट रहा है। उन इन्द्रिय, कषाय, आदिकों के होने पर क्रियाओं का सद्भाव यानी उपजना होता है। इन्द्रिय आदिकों के नहीं होने पर क्रियाओं का सद्भाव नहीं है इस बात को अन्य प्रकरणों में भले प्रकार कहा जा चुका है यहाँ विस्तार करना व्यर्थ है।

इन्द्रियग्रहणमेवास्त्विति चेन्न, तदभावेऽप्यप्रमत्तादीनामास्रवसद्भावात्। एकद्वित्रिचतुरिंद्रियासंज्ञिपंचेंद्रियेषु यथासंभवं चक्षुरादींद्रियमनोविचाराभावेऽपि क्रोधादिहिंसादिपूर्वककर्मादानश्रवणात्।

यहाँ कोई शंका करता है कि उक्त सूत्र में केवल इन्द्रियों का ग्रहण ही बना रहो कषाय, अव्रत, क्रियाओं, का ग्रहण करना व्यर्थ है पाँच इन्द्रिय परिणतियों से ही सभी आस्रव होजायेंगे। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उन इन्द्रिय परिणतियों का अभाव होते हुये भी सातवें गुणस्थान वाले अप्रमत्त से आदि लेकर दशमे गुणस्थानतक संयमियों के आस्रव का सद्भाव पाया जाता है तथा एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, जीवों में यथासम्भव चक्षु आदि इन्द्रियाँ और मानसिक विचारों के नहीं होते हुये भी क्रोध आदि कषायों और हिंसादि अविरति तथा अन्य मिथ्यात्वादि क्रियाओं को पूर्ववर्त्ती कारण मानकर कर्मों का ग्रहण होना शास्त्रों में सुना जाता है। एकेन्द्रिय जीव के रसना आदि चार इन्द्रियाँ और मन नहीं हैं, द्वीन्द्रिय जीव के घ्राण आदि तीन इन्द्रियाँ और अनिन्द्रिय मन नहीं पाया जाता है इसी प्रकार अन्य असंज्ञी पर्यन्त जीवों के भी इन्द्रियों की विकलता पायी जाती है जब द्रव्येन्द्रियाँ ही नहीं हैं तो भावेन्द्रियाँ कहाँ से होंगी यह व्यतिरेकव्यभिचार हुआ अतः सभी इन्द्रिय, कषाय, अव्रत, क्रियाओं का सूत्र में ग्रहण करना अनिवार्य है।

कषायाणां सांपरायिकभावे पर्याप्तत्वादन्याग्रहणमिति चेन्न, सन्मात्रेपि कषाये भगवत्प्रशांतकषायस्य तत्प्रसंगात्। न च तस्येन्द्रियकषायाव्रतक्रियास्रवाः संति, योगास्रवस्यैव तत्र भावात्। चक्षुरादिरूपाद्यग्रहणं वीतरागत्वात्।

यहाँ कोई आपेक्ष उठाता है कि सकषाय जीव के साम्परायिक आस्रव होता कहा गया है अतः साम्परायिक आस्रव के होने में केवल कषायें ही पर्याप्त हैं अन्य इन्द्रिय, अव्रत, और क्रियाओं का ग्रहण करना सूत्रकार को उचित नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि ग्यारहमें गुणस्थानमें कषायों की सत्तामात्र रहने पर भी अच्छी शान्त हो गयी हैं कषायें जिन की ऐसे भगवान् उपशान्तकषाय मुनि महाराज के उस साम्परायिक आस्रव के हो जाने का प्रसंग आजावेगा जो कि इष्ट नहीं है। वस्तुतः विचारा जाय तो उस ग्यारहमे गुणस्थान वाले मुनि के भाव इन्द्रिय, कषाय, अव्रत और क्रियायें हैं ही नहीं। अतः इन्द्रिय आदिकों के अनुसार होने वाला साम्परायिक आस्रव उन उपशान्तकषाय भगवान् के नहीं है हां केवल योग को ही कारण मान कर होने वाले ईर्यापथ आस्रव का ही वहां सद्भाव है यद्यपि ग्यारहमे, बारहमे, तेरहमे गुणस्थानों में चक्षुः, कर्ण, आदि इन्द्रियां हैं तथापि वीतराग होने के कारण चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा रूप आदि का ग्रहण करना स्वरूप उपयोग नहीं होता है रागी, द्वेषी, जीवों की ही इन्द्रियों द्वारा उपयोग स्वरूप परिणतियाँ होती हैं उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी अथवा ग्यारहमे, बारहमे, गुणस्थानों में धकाधक शुक्लध्यान प्रवर्त रहा है, शुद्ध आत्मा की परिणति में उपयोग निमग्न होरहा है

इन्द्रिय जन्य उपयोग मानने पर उपशमक, क्षपक अवस्थायें बिगड़ी जाती हैं अतः अन्वयव्यभिचार हो जाने के भय से केवल कषायों का ही ग्रहण करना पर्याप्त नहीं है।

अव्रतवचनमेवेति चेन्न, तत्प्रवृत्तिनिमित्तनिर्देशार्थत्वादिद्रियकषायक्रियावचनस्य। तदेवमिं-द्रियादय एषामेकोनचत्वारिंशत्संख्यानां सांपरायिकस्य भेदाः युक्ता एव वक्तुं संग्रहात्।

केवल क्रियाओं के कहने से भी प्रयोजन नहीं सधा और केवल इन्द्रियों का ग्रहण करने से भी सूत्रोक्त अभिप्राय नहीं निकल सकता है। उक्त सूत्र में केवल कषायों को ही साम्परायिक का भेद मानने पर भी दोष आते हैं। ऐसी दशा में एक बचे हुये अव्रत के ग्रहण का ही आक्षेप क्यों न कर लिया जाय ? सम्भव है इससे सभी प्रयोजन सध जाँय। ऐसी भावना रखता हुआ कोई कटाक्ष करता है कि उक्त सूत्र में केवल अव्रत का ही कथन किया जाय इन्द्रिय, कषाय और क्रियाओं का उपादान करना व्यर्थ है कषाय सहित जीवों के केवल अव्रत को ही हेतु मान कर साम्परायिक कर्म का आस्रव हुआ करता है। आचार्य कहते हैं कि यों तो नहीं कहना क्योंकि उन अव्रतों की प्रवृत्ति होने के निमित्तों का निर्देश करने के लिये सूत्रकार महाराज ने इन्द्रिय कषाय, और क्रियाओं को सूत्र में कण्ठोक्त किया है। अर्थात्–इन्द्रिय, कषाय, और क्रियाओं से जीवों की अव्रत में प्रवृत्ति होती है। सूक्ष्म राग की अवस्थामें भाव हिंसा दशमे गुणस्थान तक पाई जाती है असत्य वचन, अनुभयवचन, बारहवें तक माने गये हैं तेरहमे गुणस्थान में भी अनुभयवचनयोग अनुभय मनोयोग हैं शीलों का पूर्ण स्वामित्व चौदहमे में माना गया है अतः यद्यपि अव्रत से ही साम्परायिक आस्रव का प्रयोजन सध सकता है फिर भी अव्रतों की प्रवृत्ति का कारण होरहे इन्द्रिय आदिकों का कथन करना आवश्यक है। कदाचित् अव्रतों से भी इन्द्रियलोलुपता, कषायें या क्रियायें हो जाती हैं। तिस कारण इस प्रकार स्पष्ट कथन कर संग्रह करने की विवक्षा से साम्परायिक आस्रव के इन्द्रिय आदिक उन्तालीस संख्या वाले भेदों को कहने के लिये उक्त सूत्र बनाना युक्त ही है एक एक का कथन कर देने से ही सूत्रकार का अभिप्रेत अर्थ नहीं सध पाता है।

कुतः पुनः प्रत्यात्मसंभवतामेतेषामास्रवाणां विशेष इत्याह।

सूत्रकार महाराज के प्रति मानू किसी का प्रश्न है कि प्रत्येक रागी आत्माओं में ये इन्द्रिय आदिक साम्परायिक आस्रव जब सामान्य रूपसे सम्भव रहे हैं तो फिर किस कारण से इन आस्रवों की विशेषता होजाती है ? जिससे कि कोई विशेष सुखी होता है अन्य अल्प सुखी होता है तीसरा दुःखी होता है कोई वैसा ही काम करने वाला दूसरे नरक जाता है कोई पांचमे नरक जाता है भगवान् की पूजा या पात्र दान करने से कोई भोगभूमि के सुख भोगता है इतर दूसरे स्वर्ग को जाता है इत्यादि प्रकार से आस्रवों में अन्तर किस प्रकार पड़ा ? बताओ। ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर उमास्वामी महाराज इस अग्रिम सूत्र द्वारा गम्भीर प्रमेय को कहते हैं।

तीव्रमंदज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः।

तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण और वीर्य इनकी विशेषताओं से उस-आस्रव की विशेषता हो जाती है। अर्थात् अत्यन्त बढ़े हुये क्रोध आदि परिणाम तीव्रभाव हैं क्रोध, हास्य,

इन्द्रियलोलुपता आदि की अल्पप्रवृत्ति मन्दभाव है; जान-बूझ कर राग, द्वेष, पूजा, दान आदि परिणतियों का होना ज्ञातभाव है; नहीं जान कर हिंसा, असत्यभाषण, कषाय, आदि विकारों का होजाना अज्ञातभाव है; जिसका अवलम्ब या आश्रय पाकर आत्मा प्रयोजनों को साधता है वह द्रव्य अधिकरण है; जीव, पुद्गल, धर्म , अधर्म, आकाश, काल, इन द्रव्यों की शक्तियों को वीर्य कहते हैं। यहां प्रकरण अनुसार जीव और पुद्गल द्रव्यों की शक्ति का ग्रहण करना चाहिये। हां "यावन्ति पररूपाणि तावन्त्येव प्रत्यात्मं स्वभावान्तराणि तथा परिणामात्" इस न्याय सिद्धान्त अनुसार धर्म, अधर्म, आकाश, काल द्रव्यों में भी जीव और पुद्गल परिणतियों के अनुकूल अनेक वस्तुभूत शक्तिशाली स्वभावों के मानने पर तो सभी अजीवों की नियत शक्तियाँ साम्परायिक आस्रव में विशेषताओं को उपजा देती हैं इनके तारतम्य अनुसार आस्रवों में अन्तर पड़ जाता है। राग, द्वेष की परिणति, शिष्ट अशिष्ट प्राणियों का संसर्ग, देश, काल, आदि बहिरंग कारणों की पराधीनता, आत्मीय पुरुषार्थ आदि कारणों के वश से किन्हीं किन्हीं आत्माओं में इन्द्रिय, कषाय, अव्रत और क्रियाओं के तीव्रभाव, मंदभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण विशेषता और वीर्यविशेषता हो जाती है। तदनुसार कर्मों के आस्रवों में विशुद्धि संक्लेशांगों से अन्तर पड़ता हुआ असंख्यात प्रकार के सुख दुःख आदि फलों को विशेषताओं को उपजा देती हैं। लोक में भी एक ही विद्यालय में पढ़ने वाले और एक ही भोजनालय में भोजन करने वाले छात्रों की ज्ञान सम्पत्ति और शारीरिक सम्पत्ति तथा सदाचार प्राप्ति में अनेक प्रकार के अन्तर देखने में आते हैं। इन सब के कारण तीव्रता, मन्दता आदि को लिये हुये अन्तरंग, बहिरंग कारणों की संयोजना है अतः सूत्रकार महाराज ने तीव्रभाव आदि करके आस्रवों की विशेषता सूत्र द्वारा अच्छा सूचन किया है अन्यथा अनेक शंकाओं का निराकरण दुःसाध्य ही हो जाता।

अतिप्रवृद्धक्रोधादिवशात्तीव्रः स्थूलत्वादुद्रिक्तः परिणामः, तद्विपरीतो मन्दः, ज्ञानमात्रं ज्ञात्वा वा प्रवृत्तिर्ज्ञातं, मदात्प्रमादाद्वा अनवबुद्ध्य प्रवृत्तिरज्ञातं, अधिक्रियंतेऽस्मिन्नर्था इत्यधिकरणं प्रयोजनार्थः द्रव्यं,द्रव्यस्यात्मसामर्थ्यं वीर्यं। भावशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, भुजिवत्, तीव्रभावो मन्दभावो ज्ञातभावो अज्ञातभाव इति।

कर्मों की उदीरणा वश अत्यधिक बढ़े हुये क्रोध अभिमान आदि के वश से तीव्र होरहा यानी स्थूल होने के कारण उद्रेक (जोश) को प्राप्त हो चुका परिणाम तीव्र कहा जाता है। बहिरंग और अन्तरंग कारणों की उदीरणा के वश से जीवों के उत्कट यानी तीव्र परिणाम होजाते हैं तथा उससे विपरीत हो रहा यानी उदीरणा के कारण नहीं मिलने पर अनुद्रेक परिणति है वह मन्दभाव है। केवल जान लेना मात्र अथवा यह प्राणी मारने योग्य है यों जान कर प्रवृत्ति करना ज्ञात भाव है। इन्द्रियों का व्यामोह करने वाले मदिरा,भांग, सुलफा, अफीम आदि का उपयोग करने से उत्पन्न हुये मद करके अथवा प्रमाद से नहीं जानकर हिंसा आदि में प्रवृत्ति का होना अज्ञात भाव है। आत्माओं के प्रयोजन जिस प्रस्तुतद्रव्य में अधिकार को प्राप्त हो रहे हैं वह प्रयोजन का आश्रय होरहा द्रव्य अधिकरण है। आत्मा आदि द्रव्य की निज सामर्थ्य को वीर्य माना गया है। यहाँ सूत्रमें "तीव्रमंदज्ञाताज्ञातभावादि" इस द्वन्द्वघटित पद के अन्त में पड़े हुये भाव शब्द का प्रत्येक के साथ पीछे सम्बन्ध कर लेना चाहिये जैसे कि देवदत्त, जिनदत्त, गुरुदत्त इनको भोजन करा दो यहाँ भोजन क्रिया का प्रत्येक तीनों व्यक्तियों में सम्बन्ध कर दिया जाता है इसी प्रकार तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, और अज्ञातभाव यों पदों का विन्यास कर लिया जाय।

युगपदसंभवाद्भावशब्दस्यायुक्तं विशेषणमिति चेन्न, बुद्धिविशेषव्यापारात्तस्य तद्विशेषणत्वोपपत्तेः। न हि सत्प्रत्ययाविशेषाद्विशेषलिंगाभावादेको भावः सत्तालक्षण एवेति युक्तं, भावद्वैविध्यात्। द्विविधो हि स्याद्वादिनां भावः परिस्पंदरूपोऽपरिस्पंदरूपश्च। तत्रापरिस्पंदरूपोऽसद्द्रव्याणामस्तित्वमात्रमनादिनिधनं तदेकं कथंचिदिति माभूद्विशेषकं, परिस्पंदरूपस्तु व्ययोदयात्मकस्तीव्रादीनां विशेषकः कायादिव्यापारलक्षणः सकृदुपपद्यते, कायादिसत्त्वस्य च तस्याभिमतत्वात्।

यहाँ कोई शंका उठाता है कि भाव तो द्रव्य का आत्मभूत परिणाम है यह सदा एक ही रहता है अतः भाव शब्द का एक ही साथ तीव्र, मन्द आदि अनेकों के साथ विशेषण हो जाना असम्भव है जिस प्रकार कि एक गोत्व यानी गोपना कोई अनेक खण्ड, मुण्ड, आदि गो द्रव्यों की विशेषता करने वाला नहीं है यह गोत्व तो केवल सभी व्यक्तियों में अन्वित हो रहा सन्ता केवल "गाय है गाय है बैल है बैल है" ऐसे ज्ञान और शब्द योजनाओं का हेतु है तिसी प्रकार "सन्मात्रं भावलिंगं स्यादसंपृक्तं तु कारकैः। धात्वर्थः केवलः शुद्धो भाव इत्यभिधीयते" सत् सत्, सन् सन्, सती, सती ऐसे आकार वाले ज्ञान और शब्द योजना होने देने का केवल हेतु हो रहा भाव भी तीव्र आदि का विशेष करने वाला नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि बुद्धि में विचार कर लेने के अनुसार एक पदार्थ भी अनेक रूप से विवक्षित कर लिया जाता है। विशेष-विशेष बुद्धियों का व्यापार हो जाने से उस भाव को उन तीव्र आदि परिणामों का विशेषणपना घटित हो जाता है। देखो भाव एक ही प्रकार का नहीं है जैसा कि वैशेषिकों ने एक सत्त्व मान रखा है कि सत्-सत् ये प्रत्यय विशेषताओं से रहित होकर द्रव्य, गुण, कर्मों, में एक सा होता है जड़ या चेतन पदार्थों में एक सी ठहर रही उस सत्ता की विशेषताओं के ज्ञापक चिन्हों का अभाव है इस कारण सत्ता स्वरूप भाव एक ही है इस प्रकार नैयायिक या वैशेषिक का कहना युक्तिपूर्ण नहीं है कारण कि भाव दो प्रकार के माने गये हैं स्याद्वादियों के यहाँ हलन, चलन, आदि परिस्पन्द स्वरूप और रुचि, तत्त्वज्ञान, सामायिक, उपशम, आदि अपरिस्पन्द स्वरूप यों नियम से दो प्रकार के भाव गिनाये हैं "वर्तनापरिणामक्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य" इस सूत्र से भी यह बात ध्वनित हो चुकी है उन दो भावों में सम्पूर्ण द्रव्यों के अन्तरंग में अनादि अनन्त काल तक परिणम रहा केवल अस्तित्वमात्र है वह भाव सम्पूर्ण सत्ताओं का संग्रह कर एकत्रित किया गया महासत्ता स्वरूप कथंचित् एक है इस कारण वह एक महासत्ता रूप भाव भले ही तीव्र आदि परिणामों की विशेषताओं को कराने वाला नहीं होवे किन्तु दूसरा व्यय, उत्पाद स्वरूप हो रहा परिस्पन्द स्वरूप भाव तो तीव्र आदिकों का विशेष करने वाला हो जावेगा जो कि परिस्पन्द काय, वचन, आदि का अवलम्ब लेकर व्यापार करना स्वरूप है उस परिस्पन्द आत्मक भाव का युगपत्पना बन जाता है क्योंकि वह भाव काय आदि का सत्त्व है ऐसा अभीष्ट किया गया है।

कायवाङ्मनःकर्मयोगाधिकारात्कथं तस्य विशेषकत्वमिति चेत् बौद्धाद् व्यापारात् भेदेनापोद्धारसिद्धेः। आत्मनोऽव्यतिरेकाद्वा तीव्रादीनां भावत्वसिद्धेः।

यहाँ कोई आक्षेप करता है कि "कायवाङ्मनःकर्म योगः" काय, वचन, मनों के अवलम्ब से हुआ परिस्पन्द स्वरूप योग है इसका अधिकार चला आ रहा है दूसरे सूत्र द्वारा उस परिस्पन्द को आस्रव कह दिया गया है ऐसी दशा में उस परिस्पन्द को विशेषताओं का सम्पादकपना भला कैसे बन

जायेगा ? यों कहने पर तो आचार्य उत्तर कहते हैं कि बुद्धि सम्बन्धी व्यापार से भेद करके भेद भाव की सिद्धि हो जाने के कारण वह परिस्पन्द ही विशेषक हो जाता है "देवदत्तः पठति" देवदत्तेन पठ्यते' यहाँ जैसे बुद्धि अनुसार कुछ परिणतियों का लक्ष्यकर स्वातंत्र्य या पारतंत्र्य की विवक्षा कर ली जाती है उसी प्रकार बुद्धि सम्बन्धी व्यापार से परिस्पन्द की विशेषताओं अनुसार तीव्र आदि भावों का अन्तर पड़ जाता है। अथवा एक बात यह है कि आत्मा से अभिन्न होने के कारण तीव्र आदिकों का भी भावपना सिद्ध है ऐसी दशा में अनेक आत्माओं के यथायोग्य तीव्र स्वरूप भाव या मन्द स्वरूप भाव युगपत् सम्भवते सन्ते आस्रवों की विशेषताओं को कर देते हैं भाव का सिद्धान्त अर्थपरिणतियां हैं जो कि परिणामी द्रव्यों से अभिन्न हैं अतः बुद्धि सम्बन्धी व्यापार की नहीं अपेक्षा रखते हुए भी वस्तुभूत तीव्र आदि आत्मक भावों द्वारा आस्रवों में विशेषतायें उपज बैठती हैं। कारण भेद से कार्य भेद हो जाना अनिवार्य है कारण शक्तियों में व्यर्थ की पर्यालोचना नहीं चल सकती है।

किं च, भावस्य भूयस्त्वात् असंख्येयलोकपरिमाणो हि जीवस्यैकैकस्मिन्नपि कषायादिपरिणामे भावः श्रूयते। ततो युक्तं भावस्य युगपत्तीव्रादीनां विशेषकत्वं। एकत्वेऽपि वा भावस्य परेष्ट्या बुद्ध्यानेकत्वकल्पनान्न चोद्यमेतत्।

एक बात यहाँ यह भी है कि जैन सिद्धान्त अनुसार वास्तविकरूप से भाव परिणतियाँ बहुत सी हैं। जीव के एक एक भी कषाय, इन्द्रिय, अव्रत, आदि परिणाम में असंख्यात लोकों के प्रदेशों बराबर असंख्यातासंख्यात संख्या परिमाण को धार रहे भाव हैं ऐसा आर्षशास्त्रों में सुना जा रहा है एक एक कषायाध्यवसायस्थान के लिये असंख्यात लोक प्रमाण अनुभागाध्यवसाय स्थान नियत हैं अतः अनेक आत्माओं या एक आत्मा के अनेक गुण अथवा उन गुणों के प्रतिपक्षी कर्मों के उदय अनुसार हुये भाव युगपत् अनेक हो सकते हैं। तिस कारण भाव को युगपत् तीव्र आदिकों का विशेषकपना युक्तियों से सिद्ध हो जाता है अतः दूसरे नैयायिक या वैशेषिकों की अभीष्टता करके भाव का एकपना होते हुये भी बुद्धि कर के अनेकपन की कल्पना कर देने से यह उक्त चोद्य हम जैनों के ऊपर नहीं चल सकता है हम दो, तीन, ढंगों से उक्त चोद्य के नहीं लागू होने को समझा चुके हैं।

वीर्यस्यात्मपरिणामत्वान्न पृथग्ग्रहणमिति चेन्न, तद्विशेषवतो व्यपरोपणादिष्वास्रवभेदज्ञापनार्थत्वात् पृथक्त्वं तद्ग्रहणस्य। वीर्यवतो ह्यात्मनस्तीव्रतीव्रतरादिपरिणामविशेषो जायत इति प्राणव्यपरोपणादिष्वास्रवफलभेदो ज्ञायते। तथा च तीव्रादिग्रहणसिद्धिः। इतरथा हि जीवाधिकरणस्वरूपत्वाद्वीर्यवत्तीव्रादीनामपि पृथग्ग्रहणमनर्थकं स्यात् तन्निमित्तत्वाच्छरीराद्यानंत्यसिद्धिः। कथं ? अनुभागविकल्पादास्रवस्थानंतत्वात्तत्कार्यशरीरादीनामनंतत्वोपपत्तेः।

यहाँ कोई पण्डित आशंका करता है कि वीर्य तो आत्मा का ही परिणाम है अधिकरण होरहे जीव के कह देने से ही उसके परिणाम माने गये वीर्य का ग्रहण हो ही जाता है परिणामों वाला ही परिणामी जीव अधिकरण हो सकता है अतः आस्रव के उक्त विशेषकों में वीर्य का पृथक् ग्रहण करना उचित नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि विशेषरूप से उस वीर्य वाले आत्मा को प्राणिहिंसा, असत्यभाषण आदि क्रियाओं के करने में भिन्न भिन्न प्रकार का आस्रव होता है इस बात

को समझाने के लिये उस वीर्य का पृथक् रूप से ग्रहण करना समुचित है जब कि वीर्य वाले आत्मा के तीव्र, तीव्रतर, आदि परिणाम विशेष उपज जाते हैं इस कारण हिंसा, झूठ, अचौर्य आदि कृत्यों में आस्रव के फलों का भेद जान लिया जाता है और तिस ही प्रकार से यानी आस्रव के फल में भेद हो जाने की अपेक्षा से ही तीव्र, मंद आदि के पृथक् रूपेण ग्रहण करने की भी सिद्धि होजाती है अन्यथा यानी आस्रवों के फलों के भेद का ज्ञापन करना यदि सूत्रकार को अभीष्ट नहीं होता तो जीव नामक अधिकरण के स्वभाव हो जाने के कारण वीर्य परिणति के समान तीव्र आदिकों का भी पृथक् ग्रहण करना व्यर्थ हो जाता, जब कि यह नियम है कि भिन्न कार्यों का होना भिन्न कारणों पर ही अवलम्बित है तिस कारण निर्णय हुआ कि अनुभाग शक्ति अनुसार भिन्न भिन्न फल वाले उन आस्रवों का निमित्त मिल जाने से आत्मा के शरीर, मुखाकृति, सुख, दुःख, आदि के अनन्तपन की सिद्धि हो जाती है। किस प्रकार होजाती है ? इसका उत्तर यह है कि कषायों अनुसार पड़ गये अनुभागों के विकल्प से आस्रव का अनन्तपना हो जाता है और अनन्त आस्रवों से उनके कार्य हो रहे शरीर, वचन, इष्ट, अनिष्ट प्राप्ति, वियोग, आदि का अनन्तपना समुक्त बन जाता है। तभी तो जगत् में अनेक प्रकार के शरीर, भिन्न-भिन्न मुखाकृतियां, न्यारी न्यारी जाति के सुखदुःख, पृथक् पृथक् प्रकृतियां, मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना, पाण्डित्य के न्यारे न्यारे ढंग, वक्तृत्वकला, लेखन कला आदि फल होरहे प्रतीत होरहे हैं। यद्यपि इनमें आत्म पुरुषार्थ भी कुछ कारण पड़ जाता है फिर भी तीव्र आदि भावों अनुसार न्यारी न्यारी अनुभाग शक्तियों को लिये हुये हुआ अनन्त कार्यों को करने वाला कर्म का आस्रव ही अन्तरंग कारण प्रधान माना गया है। कर्मों की बड़ी विचित्र शक्ति है आज कल जितने मनुष्य दृष्टिगोचर होरहे हैं किसी भी एक की दूसरे से आकृति (सूरत मूरत) नहीं मिलती है इस प्रकार सूक्ष्मता से विचारने पर बन्दर, बैल, घोड़ा, हाथी, कबूतर, तोता, चूहा, यहां तक कि चींटी, मक्खी, वृक्ष, बेल, अंकुर, गेहूँ, चना, आम, अमरूद आदिकों की भी आकृतियां न्यारी न्यारी हैं पूर्व कालों में भी जितने मनुष्य, हाथी, घोड़ा, बन्दर आदि हो चुके हैं और भविष्य काल में भी जितने होयँगे उनकी भी आकृति, गति, मति, आदि प्रायः भिन्न भिन्न प्रकार की ही होचुकीं और होंगी। जगत् में कारण के विना कोई कार्य नहीं होता है इन सब अनन्ते प्रकार के कार्यों का अन्तरंग कारण इस सूत्र में समझा दिया गया है। कर्म सिद्धान्त को जानने वाले विद्वानों से यह रहस्य छिपा नहीं रहता है। सांचे में ढाले गये रुपये, पैसे, खिलौना, आदि जड़ पदार्थ भले ही एक से बना लिये जायं किन्तु कर्मविपाक से होने वाली जीवों की विचित्र परिणतियाँ तो वास्तविक मूल कारणों पर अवलम्बित हैं।

कुतः पुनः सांपरायिकास्रवाणां विशेषः किं हेतुकेभ्यश्च प्रपंच्यत इत्याह ।

यहाँ कोई जिज्ञासु पूंछता है कि किस कारण से फिर साम्परायिक आस्रवों के विशेषों का यहां विस्तार किया जा रहा है ? और वे आस्रव की विशेषताओं को करने वाले तीव्र आदि भाव भला किन हेतुओं से उपज रहे वैसे विशेषक बन बैठते हैं ? बताओ। अर्थात्—आस्रवों में अन्तर डालने वाले तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण विशेष और वीर्य विशेष इन पंचम्यन्त पदों के वाच्यार्थों का हेतु क्या है ? और यहां इनसे हुये आस्रवों के विशेषों का प्रपंच क्यों किया जा रहा है ? यों दो प्रश्नों के उत्तरों की जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार दो वार्त्तिकों द्वारा समाधान को कहते हैं।

तीव्रत्वादिविशेषेभ्यस्तेषां प्रत्येकमीरितः ।
बंधः कषायहेतुभ्यो विशेषो व्यासतः पुनः ॥१॥

स युक्तः सूत्रितश्चित्रः कर्मबंधानुरूपतः ।
तच्च कर्म नृणां तस्मादिति हेतुफलस्थितिः ॥२॥

जीव के कषायों को हेतु मान कर हुये तीव्रपन, मंदपन, आदि विशेषों से प्रत्येक-प्रत्येक उन आस्रवों का विशेष या साम्परायिक कर्मों का बंध विशेष हो रहा कह दिया गया है हाँ विशेष-विशेष वह कर्म बंध होना तो फिर इस सूत्र में विस्तार से सूचित किया गया है जो कि पूर्व उपार्जित कर्मबंध की अनुकूलता से चित्र विचित्र प्रकार का बंध हुआ युक्त ही है और भविष्य में भी जीवों के कर्मबंध अनुसार पुनः वे कर्म उपजेंगे और उन बँधे हुये कर्मों से पुनः जीवों को फल प्राप्त होगा यों द्रव्य कर्म से भाव कर्म और भाव कर्म से द्रव्य कर्म यह हेतु फल की व्यवस्था अनादि काल से चली आ रही है यदि मोक्षोपयोगी संवर और निर्जरा के कारण उपस्थित नहीं किये जायंगे तो यह धारा अनन्तानन्त काल तक इसी प्रकार चली जायगी। अतः उत्तर हो जाता है कि तीव्रत्व आदि के कारण कषायें इन्द्रियाँ आदि हैं और आस्रवों के विशेषों का विस्तार अनेक प्रकार की हेतुफल व्यवस्था का परिज्ञान कराने के लिये सूत्र में कह गया है। भावार्थ—नाना कषाय या द्रव्य, क्षेत्र, आदि परिस्थितियों अनुसार हुये तीव्रभाव, मंदभाव, आदि कारणों से कर्म के आस्रवों में अन्तर पड़ जाता है। किसी आत्मा में इन्द्रिय, कषाय, अव्रत, और क्रियाओं की तीव्रता हो जाती है। सिंह में क्रोध की तीव्रता है और हिरण के क्रोध मन्द है, प्रचण्ड गृहस्थ और प्रशान्त मुनि के भावों में अन्तर है। कोई आत्मा जान करके इन्द्रिय, कषाय, आदि में प्रवृत्ति करता है उसके महान् आस्रव होता है। उस समय मछलियों को नहीं भी मार रहे धीवर से भूमि को जोत रहा किसान अल्प पापी है। क्वचित् आकर्षक योग के भी अविभाग प्रतिच्छेद बढ़ जाते हैं अज्ञात भाव में इन्द्रिय आदिकों की प्रवृत्ति होने पर अल्प आस्रव होता है विशेष अधिकरणों के होने पर भी आस्रव में विशेष हो जाता है जैसे कि परस्त्री गामी पुरुष के वेश्या का आलिंगन करने में अल्पास्रव है किन्तु राजपत्नी, गुरुपत्नी, या आर्यिका के आलिंगन करने पर महान् पाप आस्रव होता है। चोर किसी सेठ का द्रव्य चुराता है उसमें उतना दुष्कर्म आस्रव नहीं होता है जितना कि गुरुद्रोह, मित्रद्रोह करते हुये अपने परम हितैषी गुरु या मित्र का द्रव्य चुरा लेने पर महान् पाप आस्रव होता है। क्वचित् ज्ञात भाव की अपेक्षा एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय जीवों के अज्ञात भावों से पाप अधिक लग जाता है। इसी प्रकार विशेष वीर्य होने पर वज्रऋषभनाराचसंहनन वाले पुरुष के इन्द्रिय आदि का व्यापार होने पर महान् आस्रव होता है सातमे नरक तक जा सकता है किन्तु हीन संहनन वाले पुरुष द्वारा पाप कर्म किये जाने पर अल्प आस्रव होता है तीसरे नरक तक ही जा सकता है। इसी प्रकार, क्षेत्र, काल, आदि से भी आस्रव में विशेषता हो जाती है। घर में ब्रह्मचर्य का भंग करने पर अल्प आस्रव होता है किन्तु विद्यालय, स्वाध्यायशाला, देवस्थान, तीर्थमार्ग और तीर्थ स्थानों में व्यभिचार प्रवृत्ति करने पर उत्तरोत्तर महान् पाप का आस्रव होगा। इसी प्रकार प्रातः काल, मध्याह्न काल, स्वाध्याय काल, सामायिक काल में भी कर्मों के आस्रव का तारतम्य है उक्त कार्य कारण भाव की विशुद्धि संक्लेशभावों अनुसार पुण्य, पाप, दोनों में व्यवस्था कर लेनी चाहिये तभी तो कर्मों के बंध की विचित्रता सध सकेगी, देवागम के "कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबंधानुरूपतः। तच्च कर्म स्वहेतुभ्यो जीवास्ते शुद्ध्यशुद्धितः" इस श्लोक की अष्टसहस्री में ग्रन्थकार ने कर्मसिद्धान्त का अच्छा विवेचन किया है।

जीवस्य भावास्रवो हि स्वपरिणाम एवेंद्रियकषायादिस्तीव्रत्वादिविशेषात्। प्रपंचतः पुनः

कषायविशेषकारणाद्विशिष्टो जातः । स च कर्मबंधानुसारतोऽनेकप्रकारो युक्तः सूत्रितः। कर्म पुनर्नृणामनेकप्रकारं कषायविशेषाद्भावकर्मण इति हेतुफलव्यवस्था। परस्पराश्रयान्न तद्व्यवस्थेति चेन्न, बीजांकुरवदनादित्वात्कार्यकारणभावस्य तत्र सर्वेषां सम्प्रतिपत्तेश्च ।

जीव के इन्द्रिय, कषाय, आदि स्वरूप हो रहा भावास्रव तो उस जीव का निज परिणाम ही है जो कि तीव्रत्व, मन्दत्व, आदि विशेषों से विशेषताओं को लिये हुये है। विस्तार से विचार करने पर तो यह जान लिया जाता है कि वह भावास्रव विशेष कषाय स्वरूप कारणों से विशिष्ट हो चुका है अतः कर्म बंध के अनुसार से वह भावास्रव अनेक प्रकार है जो कि सूत्र द्वारा श्री उमास्वामीमहाराज ने समुचित कह दिया है। हाँ जीवों के फिर कर्म तो अनेक प्रकार के हैं जो कि भावकर्म होरहे कषाय विशेषों से उपज जाते हैं। अर्थात् कषाय विशेषों से द्रव्य कर्म बंधते हैं और फल काल में द्रव्य कर्मों का उदय आने पर आत्मा में क्रोध आदि भावकर्म उपज जाते हैं इस प्रकार कषाय और कर्मों में कार्य कारण व्यवस्था होरही है। यदि कोई बालक यहाँ यों आक्षेप करे कि यहां तो अन्योन्याश्रय दोष हुआ द्रव्यकर्म से भावकर्म हुये और भावकर्मों से द्रव्यकर्म हुये यहाँ तो इतरेतराश्रय है जैसे कि दीपक कब जले जब दियासलाई मिले और दियासलाई की डिब्बी अंधेरे में कब मिले जब दीपक जल चुके इसकारण वह हेतुफलव्यवस्था नहीं हुई। ग्रन्थकार समाधान करते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि बीज और अंकुर के समान यह द्रव्यकर्म और भावकर्म का कार्यकारणभाव अनादि काल से चला आरहा है। उस कार्यकारणभाव में सभी वादी प्रतिवादी पण्डितों की समीचीन प्रतिपत्ति होरही है किसी को विप्रतिपत्ति नहीं है। अर्थात् सूक्ष्मदृष्टि से विचारने पर जैसे बीज अंकुर में कोई अन्योन्याश्रय नहीं है जिस बीज से जो अंकुर हुआ है उस अंकुर से वही बीज नहीं उपजता है किन्तु न्यारा ही बीज उपजता है सादृश्य से भले ही उसको बीज कह दिया जाय न्यारे न्यारे अंकुरों से भिन्न भिन्न बीज और भिन्न भिन्न बीजों से पृथक् पृथक् अंकुर उपज रहे हैं। कार्य के प्रतिबन्धक अन्योन्याश्रय को हम भी दोष मानते हैं किन्तु यहां वह दोष अणुमात्र भी नहीं है जिस भाव कर्म से द्रव्यकर्म बंधा है वह फल काल में दूसरे ही भाव कर्म को उपजावेगा और उस भाव कर्म से अन्य ही पौद्गलिक कर्मों का बंध होगा यों कोरे शब्दसादृश्य से अन्योन्याश्रय नहीं होजाता है। यहां वस्तु व्यवस्था न्यारी न्यारी है अतः तीव्र, मन्द, आदि सूत्र द्वारा अनन्त प्रमेय को सूचित करा देना श्री सूत्रकार महाराज का अतीव प्रशस्त कार्य है।

किं पुनरत्राधिकरणमित्याह ।

उक्त सूत्र में कहे गये तीव्र मंद आदि को हमने समझ लिया है किन्तु फिर अधिकरण को नहीं समझा है अतः बताओ कि यहां प्रकरण अनुसार अधिकरण भला क्या पदार्थ है? ऐसी विनीत शिष्य की जिज्ञासा प्रवर्तने पर श्री उमास्वामी महाराज इस अगले सूत्र को कहते हैं।

अधिकरणं जीवाजीवाः ॥७॥

यहाँ आस्रव के प्रकरण में अधिकरण हो रहे तो जीव और अजीव पदार्थ हैं अर्थात्-जिस द्रव्य का अवलम्ब लेकर आस्रव उपजता है वह द्रव्य यहाँ अधिकरण कहा जाता है यद्यपि जीव द्रव्य के ही सर्व आस्रव होते हैं फिर भी जीव द्रव्य का आश्रय लेकर जो आस्रव उपजता है उसका अधिकरण जीव

और अजीव द्रव्य को आश्रय मान कर जो कर्मों का आस्रव होता है उसका अधिकरण अजीव द्रव्य माना जाता है जीवों और हिंसा, देवपूजा, आदि के उपकरण हो रहे अजीवों का अवलम्ब पाकर आस्रव विशेष हुआ करते हैं।

द्विवचनप्रसंग इति चेन्न, पर्यायापेक्षया बहुत्वनिर्देशात्। नहि जीवद्रव्यसामान्यमजीवद्रव्यसामान्यं वा हिंसाद्युपकरणभावेन सांपरायिकास्रवहेतुत्वेनाधिकरणत्वं प्रतिपद्यते केनचित्पर्यायेण विशिष्टेनैव तस्य तथाभावप्रतीतेः।

यहाँ कोई पूँछता है कि जब मूल पदार्थ जीव अजीव दो हैं तो फिर 'जीवाजीवौ' इस प्रकार द्विवचनान्त पद के ही कहने का प्रसंग प्राप्त हुआ गौरवाधायक "जीवाजीवाः" ऐसा बहुवचनान्तपद सूत्रकार ने क्यों कहा ? ग्रन्थकार कहते हैं कि यह प्रसंग तो नहीं देना क्यों कि पर्यायों की अपेक्षा से यहाँ बहुवचन का निर्देश किया गया है। जीव अजीवों की पर्यायें ही तो अधिकरण हैं सामान्य जीवद्रव्य अथवा सामान्य अजीव द्रव्य तो हिंसा आदि के उपकरण भाव करके साम्परायिक आस्रव के हेतुपनेसे अधिकरणता को प्राप्त नहीं करते हैं किन्तु किसी न किसी पर्याय से विशिष्ट हो रहे पने करके ही उन जीव अजीवों की तथा भाव यानी आस्रवहेतुद्रव्यत्वेन प्रतीति हो रही है अतः पर्यायों की विवक्षा अनुसार बहुवचन कहा गया है। पर्यायें अनेक हैं।

सामानाधिकरण्यं तदभेदार्पणया जीवाजीवानामधिकरणमिति। सर्वथा तद्भेदेऽभेदे च सामानाधिकरण्यानुपपत्तिः।

उन जीव, अजीवों का अधिकरण के साथ अभेद बने रहने की विवक्षा से समान अधिकरणपना बन जाता है। जीव अजीव ही तो उस आस्रव के अधिकरण हैं उन उद्देश्य और विधेयदलों का सर्वथा भेद होने पर सामानाधिकरण्य नहीं बन पाता है जैसे कि भरतक्षेत्र और सिद्धशिला अथवा आकाश और ज्ञान का समानाधिकरणपना नहीं है तथा सर्वथा अभेद होने पर भी समान विभक्ति या समान वाच्यार्थ अनुसार समानाधिकरणपना नहीं बनता है जैसे कि बुद्धि के साथ ज्ञान का, घट के साथ कलश का सामानाधिकरण्य नहीं है तभी तो वैयाकरणों के यहाँ उद्देश्य विधेय पदों के अर्थ में कथंचित् व्यभिचार प्रवर्तने पर सामानाधिकरण्य लक्षणा कर्मधारय वृत्ति उपजती है नीलाम्बरं यहाँ नीलपन को छोड़ कर वस्त्रपना धौले वस्त्रों में है और वस्त्रों को छोड़ कर नीलपना कम्बल, स्याही, आदि अन्य पदार्थों में भी ठहर जाता है अथवा नील रंग के नष्ट हो जाने पर भी वस्त्र ठहरा रहता है। ज्ञानों का परिवर्तन होते हुये भी आत्मा वह का वही बना रहता है अतः कथंचित् भेदाभेद होने से जीवों और अजीवों के साथ अधिकरण का सामानाधिकरण्य है।

तत्त्वेभिनिर्धारणार्थः सूत्रे सामर्थ्यान्निर्देशः। तेषु तीव्रमंदज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेषु यदधिकरणं तस्य जीवाजीवात्मकत्वेन निर्धारणात्। तदेव दर्शयति।

वह अधिकरण तो इन जीव अजीवों, करके निर्धारण करने के लिये सूत्र में कहा गया है निर्धारण जिससे होता है उस के वाचक पद से षष्ठी या सप्तमी विभक्तियाँ होती हैं यहाँ भी बिना कहे ही सामर्थ्य से तीव्र, मंद आदि पंचम्यन्त पद को सप्तम्यन्त या षष्ठ्यन्त बना लिया जाय और प्रथमान्त

आस्रवः के स्थान में आस्रवस्य यों षष्ठी विभक्ति का विपरिणाम कर लिया जाय तदनुसार यह अर्थ हो जाता है कि उन तीव्रभाव, मन्दभाव, ज्ञातभाव, अज्ञातभाव, अधिकरण विशेष और वीर्यविशेष इन में जो अधिकरण है उसका जीव, अजीव, स्वरूपने करके निर्धारण किया गया है। जाति, गुण, क्रिया, और संज्ञाओं करके समुदाय से एक देश अवयव का जो पृथक् करना है वह निर्धारण है। तथा उस आस्रव के अधिकरण जीव अजीव हैं। उसी सिद्धान्त को स्वयं ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक द्वारा दिखलाते हैं।

तत्राधिकरणं जीवाजीवा यस्य विशेषतः।
साम्परायिकभेदानां विशेषः प्रतिसूत्रितः ॥१॥

उन तीव्र आदि विशेषकों में जिस आस्रव के विशेष रूप से जीव और अजीव अधिकरण हो रहे हैं उस साम्परायिक आस्रव के भेदों की विशेषता को करने वाला एक प्रतिविशेष इस सूत्र द्वारा कहा जा चुका है।

तदधिकरणं जीवजीवा इति प्रतिपत्तव्यं।

आस्रव का वह अधिकरण तो जीव और अजीव पदार्थ हैं इस प्रकार जिज्ञासुओं को इस सूत्र द्वारा समझ लेना चाहिये।

तत्राद्यं कुतो भिद्यते इत्याह।

उन जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण आस्रवों के मध्य में आद्य हो रहे जीवाधिकरण का किन-किन हेतुओं से भेद प्राप्त हो जाता है? इस प्रकार श्रद्धालु शिष्य की जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र को यों स्पष्ट कह रहे हैं।

आद्यं संरंभसमारंभारंभयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥८॥

आदि में होने वाला जीवाधिरण आस्रव तो संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ और योग तथा कृत, कारित, अनुमोदना एवं कषायें इनके विशेषों करके एक एक के प्रति तीन बार पुनः तीन बार पुनः अपि तीन बार अनन्तर चार बार गिनती करते हुये एक सौ आठ भेद वाला हो जाता है। अर्थात्-प्रमाद वाले जीव का हिंसा, असत्य आदि में प्रयत्न का आवेश करना संरम्भ है। हिंसा आदि के साधनों का अभ्यास करना समारम्भ है। हिंसा आदि का प्रथम प्रारम्भ कर देना आरम्भ है। काय परिस्पन्द, वाक् परिस्पन्द, और मनोवलम्ब परिस्पन्द करके योग तीन प्रकार का कहा जा चुका है। अपनी स्वतंत्रता से किये गये कार्य को कृत कहते हैं, दूसरे के प्रयोग की अपेक्षा कर बनाया गया कारित है, अन्य करके किये जा रहे हिंसा आदि का प्रतिषेध नहीं कर अभ्यन्तर में उसकी अनुमोदना करने में लगरहा मानस परिणाम अनुमत समझा जाता है। क्रोधादि कषायों को समझाया जा चुका है विशेष का सर्वत्र अन्वय हो रहा है तीन बार संरम्भ, समारम्भ, आरम्भों करके, तीन बार योग विशेषों के साथ, यथाक्रम से तीन बार कृत, कारित अनुमोदना विशेषों के अनुसार, चार बार कषाय विशेषों करके गणना की अभ्यावृत्ति करते हुये एकसौ

आठ भेद हो जाते हैं। गोम्मटसार जीवकाण्ड में प्रमाद के प्रकरण में कहे गये संख्या, प्रस्तार, परिवर्तन, नष्ट, और समुद्दिष्ट यहाँ भी लगाये जा सकते हैं।

आद्यग्रहणमनर्थकमुत्तरसूत्रे परवचनसामर्थ्यात्सिद्धेरिति चेन्न, विस्पष्टार्थत्वात्तस्य। तद्-ग्रहणे हि प्रतिपत्तिगौरवप्रसंगः। परवचनसामर्थ्यादनुमानात्संप्रत्ययात्परशब्दस्येष्टवाचिनोऽपि भावात्तद्वचनादाद्यसंप्रत्ययाऽसिद्धेः सूक्तमिह ग्रहणं।

यहाँ कोई शंका करता है कि सूत्र में आद्य शब्द का ग्रहण करना व्यर्थ है क्योंकि आगे कहे जाने वाले उत्तरवर्त्ती "निर्वर्तनानिक्षेप" आदि सूत्र में पर शब्द के कहने की सामर्थ्य से ही अर्थापत्त्या यहाँ आद्य शब्द का अर्थ सिद्ध हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि विशेषरूपेण स्पष्ट करने के लिये इस सूत्र में आद्य पद का ग्रहण किया गया है। यदि उस आद्य पद का ग्रहण नहीं करते तो कठिनता से प्रतिपत्ति होती अतः अर्थकृत गौरव हो जाने का प्रसंग आजावेगा जो कि इष्ट नहीं है। देखिये उत्तर सूत्र में परवचन की सामर्थ्य से यहाँ अनुमान प्रमाण से ही आद्य शब्द के प्रथम अर्थ की समीचीन प्रतीति हो सकती थी, यहाँ विचारिये कि अनुमान प्रमाण की उत्पत्ति में हेतु का उपलम्भ, व्याप्तिग्रहण, व्याप्तिस्मरण, पक्षवृत्तित्वज्ञान, निगमन यों अनेक ज्ञान उपजाने पड़ते तब कहीं विना कहे ही आद्य का अर्थ अर्थापत्त्या सिद्ध होता और अनेक स्थूल बुद्धि वाले शिष्य तो उस अर्थ की प्रतिपत्ति ही नहीं कर पाते अतः परानुग्रह में प्रवर्त रहे सूत्रकार महाराज स्पष्ट प्रतिपत्ति कराने के लिये आद्य शब्द का कण्ठोक्त प्रतिपादन कर देते हैं। एक बात यह भी है कि अगिले सूत्र में इष्ट अर्थ को कहने वाले भी पर शब्द का सद्भाव है अतः उस पर शब्द के कहने से आद्य शब्द के अर्थ की समीचीन प्रतिपत्ति नहीं हो सकती है इस कारण यहाँ सूत्र में श्री उमास्वामी महाराज ने आद्य शब्द का ग्रहण बहुत अच्छा कर दिया है।

प्रमादवतः प्रयत्नावेशः प्राणव्यपरोपणादिषु संरंभः, क्रियायाः साधनानां समभ्यासीकरणं समारम्भः, प्रथमप्रवृत्तिरारंभश्चादय आद्यकर्मणि द्योतनत्वात्। संरंभणं संरंभः, समारंभणं समारंभः, आरंभणमारंभ इति भावसाधनाः संरंभादयो, योगशब्दो व्याख्यातार्थः कायवाङ्मनःकर्म योग इति। कृतवचनं कर्तुः स्वातंत्र्यप्रतिपत्त्यर्थं, कारिताभिधानं परप्रयोगापेक्षं, अनुमतशब्दः प्रयोक्तुर्मानसव्यापारप्रदर्शनार्थः, कश्चिन्मौनव्रतिकवत्तस्य वचनप्रयोजकत्वासंभवात् कायव्यापारेऽप्रयोक्तृत्वान्मानसव्यापारसिद्धेः।

प्रमाद वाले जीव का स्वपर के प्राणवियोग आदि में जो प्रयत्न का आवेश (उत्साह विशेष) होना है वह संरम्भ है। साध्यभूत क्रिया के साधनों का भले प्रकार अभ्यास करना यानी अनभ्यस्त को जो अभ्यस्त करना है वह समारम्भ है। शुभ अशुभ क्रियाओं के करने में प्रथम प्रवृत्ति करना आरम्भ है। प्र, आङ्, प्र, आदिक उपसर्ग आदि में होने वाली क्रिया के द्योतक हो जाते हैं "निपाता द्योतका भवन्ति" आरम्भ शब्द में पड़ा हुआ आङ् निपात आद्य कर्म का द्योतक है। संरम्भण क्रिया मात्र संरम्भ है सम् उपसर्ग पूर्वक रभ धातु से या रभि धातु से भाव में घञ् प्रत्यय कर संरम्भ शब्द बना लिया जाता है। इसी प्रकार समारम्भ मात्र क्रिया करना समारम्भ है यहां भी सम्, आङ्, उपसर्ग पूर्वक रभि धातु से भाव

में घञ् प्रत्यय करके समारम्भ को साध लिया जाता है। आरम्भ मात्र क्रिया कर देना आरम्भ है। आङ् पूर्वक रभ धातु से भाव में घञ् प्रत्यय कर आरम्भ शब्द का साधन कर लिया जाता है। यों संरम्भ आदि शब्द शुद्ध धात्वर्थ मात्र को कह रहे भाव साधन हैं। "कायवाङ्मनःकर्म योगः" इस सूत्र में योग शब्द का अर्थ यों बखाना जा चुका है कि काय, वचन, मनों के अवलम्ब से आत्मप्रदेशों का परिस्पन्द होना योग है। इस सूत्र में पड़े हुये कृत शब्द का निरूपण तो कर्त्ता की स्वतंत्रता की प्रतिपत्ति कराने के लिये है अर्थात्–आत्मा ने स्वतंत्र होकर उस कार्य को स्वयं किया है और कारित शब्द का कथन दूसरों के प्रयोग की अपेक्षा कर कार्यसिद्धि कराने के लिये है अनुमत शब्द तो प्रयोक्ता के मानसिक व्यापारों का प्रदर्शन कराने के लिये है कहीं कहीं मौन व्रती पुरुष के समान उस अनुमोदक को वचन बोलने का प्रयोजकपना असम्भव है। कार्य द्वारा व्यापार करने में प्रयोक्ता नहीं होने से इसके मानसिक व्यापारों की सिद्धि हो जाती है। अर्थात्–जैसे चुप होकर आंखों से देख रहा पुरुष उस कार्य का निषेध नहीं करने से अपने मन में उसकी अनुमोदना करता रहता है यह शरीर का कोई व्यापार नहीं करता है वचन भी नहीं बोलता है केवल मन में अभ्यन्तर परिणामों द्वारा उस कार्य के होने देने में अनुमोदन करता रहता है ये तीन त्रिक हुये।

कषंत्यात्मानमिति कषायाः प्रोक्तलक्षणाः। विशेषशब्दस्य प्रत्येकं परिसमाप्तिर्भुजिवत्, तेन संरंभादिविशेषैर्योगविशेषैः कृतादिविशेषैः कषायविशेषैरेकशः प्रथममधिकरणं भिद्यत इति सूत्रार्थो व्यवतिष्ठते। एतदेवाह।

चौथा चतुष्क इस प्रकार है कि आत्मा जो कषते रहते हैं यानी आत्मा के स्वाभाविक परिणामों की हिंसा करते रहते हैं इस कारण वे कषाय हैं। कषायों का लक्षण दूसरे अध्याय में बहुत अच्छा कहा जा चुका है। "द्वंद्वादौ द्वंद्वान्ते च श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसंबध्यते" इस नियम अनुसार यहां द्वन्द्व के अन्त में पड़े हुये विशेष शब्द की प्रत्येक पूर्व पद में परिसमाप्ति कर देनी चाहिये जैसे कि देवदत्त, जिनदत्त, गुरुदत्त को भोजन करा दो यहां भोजन क्रिया का उक्त तीनों व्यक्तियों में परिपूर्ण रूप से अन्वय हो जाता अर्थात्–प्रत्येक को भर पेट भोजन कराया जाता है ऐसा नहीं है कि एक के पेट भरने योग्य भोजन को ही तीनों में तिहाई तिहाई बांट दिया जाय, तिस कारण संरम्भ आदि विशेषों करके और योग विशेषों करके तथा कृत आदि विशेषों करके एवं कषायविशेषों करके एक एक प्रति तीन आदि भेदों घटित करते हुये पहिले जीवाधिकरण आस्रव को भिन्न भिन्न कर लिया जाता है इस प्रकार सूत्र का अर्थ व्यवस्थित हो जाता है। इस बात को ही ग्रन्थकार अग्रिमवार्तिकों द्वारा स्पष्ट कह रहे हैं उसको सावधान होकर सुनिये।

जीवाजीवाधिकरणं प्रोक्तमाद्यं हि भिद्यते।
संरंभादिभिराख्यातैर्विशेषैस्त्रिभिरेकशः ॥१॥
योगैस्तन्नवधा भिन्नं सप्तत्रिंशतिसंख्यकं।
कृतादिभिः पुनश्चैतद्भवेदष्टोत्तरं शतं ॥२॥
कषायैर्भिद्यमानात्मचतुर्भिरिति संग्रहः।
कषायस्थानभेदानां सर्वेषां परमागमे ॥३॥

पूर्वसूत्र करके जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण आस्रव बहुत अच्छा कहा जा चुका है उनमें आदि का जीवाधिकरण तो बखाने गये तीन संरंभ आदि विशेषों करके एक-एक प्रति तीन योग विशेषों से भिन्न हो रहा सन्ता नौ प्रकार भिन्न हो जाता है। वह नौ प्रकार का पुनः कृत आदि विशेषों करके भिन्न हो रहा सन्ता सत्ताईस संख्या वाला हो कर भिन्न हो जाता है। पुनः वही सत्ताईस संख्या वाला आस्रव स्वयं अपने चार प्रकार के भेदों को प्राप्त हो रही कषायों करके आठ ऊपर सौ यानी एक सौ आठ प्रकार हो कर भेद को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार कषाय स्थानों के सम्पूर्ण भेदों का सर्वज्ञ प्रतिपादित परमोत्कृष्ट जिनागम में संग्रह कर लिया गया है। अर्थात्-क्रोध, मान, माया, लोभ, चार कषायों के भी अनन्तानुबन्धी आदि चार चार भेदों से अथवा असंख्यात लोक प्रमाण कषाय जातियों से गुणा करने पर हुये असंख्यात भेदों का इन्हीं एकसौ आठ में संग्रह कर लिया जाता है ऐसा प्ररूपण जैन सिद्धान्त में सर्वज्ञ आम्नाय प्राप्त चला आ रहा है।

जीवाधिकरणं संरंभादिभिस्त्रिभिर्भिद्यमानं हिंसास्रवस्य तावत् त्रिविधं। हिंसायां संरंभः समारंभः आरंभश्चेति। तदेव योगैस्त्रिभिः प्रत्येकं भिद्यमानं नवधावधार्यते कायेन संरंभो वाचा संरंभो मनसा संरंभ इति, तथा समारंभस्तथा चारंभ इति। तदेव नवभेदं कृतादिभिर्भिन्नं सप्तविंशतिसंख्यं कायेन कृतकारितानुमताः संरंभसमारंभारंभाः, तथा वाचा मनसा चेति। पुनश्चैतत्सप्तविंशतिभेदं कषायैः क्रोधादिभिश्चतुर्भिर्भिद्यमानात्मकं भवेदष्टोत्तरशतं क्रोधमानमायालोभैः कृतकारितानुमताः कायवाङ्मनसा संरंभसमारंभारंभा इति।

हिंसा अवलम्ब आस्रव के संरंभ आदिक तीनों करके भेद को प्राप्त हो रहा सन्ता जीवाधिकरण तो तीन प्रकार का है जो कि हिंसा करने में प्रयत्नावेश स्वरूप संरम्भ करना और साधनों का एकत्रीकरण रूप समारम्भ करना तथा हिंसा में आद्य प्रक्रम स्वरूप आरम्भ करना यों तीन प्रकार है वही तीनों प्रकार का जीवाधिकरण तीन योगों करके प्रत्येक भेद को प्राप्त हो रहा सन्ता नौ प्रकार का यों निर्णीत कर लिया जाता है कि १ काय करके संरम्भ होना २ वचन करके संरम्भ होना ३ मन करके संरम्भ होना यों तीन संरम्भ हुये तिसी प्रकार ४ काय करके समारम्भ ५ वचन करके समारम्भ ६ मन करके समारम्भ यों तीन समारम्भ हुये तिस ही ढंग से ७ काय करके आरम्भ ८ वचन करके आरम्भ ९ मन करके आरम्भ यों तीन आरम्भ हुये सब मिला कर नौ हुये, उन नौऊ भेदों को कृत आदिक के साथ भिन्न-भिन्न कर दिया जाय तो कृत के साथ नौ और कारित के साथ नौ एवं अनुमत के साथ नौ यों सत्ताईस संख्या वाला जीवाधिकरण आस्रव हुआ। अकेली काय के साथ कृत, कारित, अनुमोदन और संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ की गणना कर देने से नौ भेद हुये तिसी प्रकार वचन और मन से भी गणना अभ्यावृत्ति कर देने पर सत्ताईस भेद हो जाते हैं फिर भी इन सत्ताईस भेदों को क्रोधादि चार कषायों के साथ प्रत्येक भेद को प्राप्त हो रहे स्वरूप एक सौ आठ भेद हो जायंगे। क्रोध, मान, माया, लोभों करके कृत, कारित, अनुमोदना होती हुई काय, वचन, मनों द्वारा संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ स्वरूप जीवाधिकरण आस्रव हैं। इनका प्रस्तार पूर्वक परिवर्तन यों किया जा सकता है कि प्रथम ही सबसे पहिलों के साथ क्रोधादि चार कषायों को भुगता दिया जाय पुनः कृत को छोड़ कर कारित पर आजाना चाहिये पश्चात्-अनुमोदना पर संक्रमण कर लिया जाय ये बारह काय योग पर हुये इसी प्रकार बारह वचन योग पर और बारह मनोयोग पर लगा कर छत्तीस भेद संमारम्भ के हो जाते हैं। इसी प्रकार छत्तीस भेद समारम्भ और छत्तीस भेद आरम्भ के करते हुये सब एक सौ आठ भेद होजाते हैं।

तथैवानृतादिष्वव्रतेषु योज्यं। एवं कषायस्थानभेदानां सर्वेषां परमागमे संग्रहः कृतो भवति। तदप्यष्टोत्तरशतं प्रत्येकमसंख्येयैः कषायस्थानैः प्रतिभिद्यमानसंख्येयमिति जीवाधिकरणं व्याख्यातं।

जिस प्रकार हिंसा अनुकूल आस्रव में एक सौ आठ भेद लगा दिये हैं तिस ही प्रकार झूंठ, चोरी, आदि अव्रतों में भी जोड़ लेना चाहिये। इस ही प्रकार कषायाध्यवसाय स्थान के सम्पूर्ण भेदों का परमागम में संग्रह कर लिया गया समझा जाता है। वे एकसौ आठों भेद भी प्रत्येक के असंख्याते कषाय स्थानों करके विशेषतया भेद को प्राप्त होरहे सन्ते असंख्यातलोक प्रमाण हो जाते हैं इस प्रकार जीवाधिकरण का विस्तार से व्याख्यान कर दिया है। अर्थात् जगत् के अनन्तानन्त कार्य स्वतंत्रतया पुद्गलों करके भी सम्पादित होते हैं किन्तु वैशेषिक जिन कार्यों का ईश्वर करके किया जाना मान बैठे हैं वे सम्पूर्ण कार्य असंख्यात या अनन्तानन्त आस्रवों के धारी जीवों करके बुद्धिपूर्वक या अबुद्धि पूर्वक बना लिये जाते हैं छऊ द्रव्यों में अनन्त सामर्थ्य विद्यमान है। सूर्य, चन्द्रमा, को भी भूमि पर उतार लेना, घोड़े के सींग उपजा देना, जड़ में ज्ञान धर देना आदि असम्भव कार्यों को न तो ईश्वर ही कर सकता है और न कोई जीवात्मा ही या पुद्गल कर सकता है ईश्वर को सर्वशक्तिमान् कहना अलीक है अनन्त शक्तिमान् सभी द्रव्य हैं असंख्याती कषाय जातियों अनुसार हुये कर्मों के आस्रवों करके यह संसारी जीव चित्र विचित्र कार्यों का सम्पादन कर देता है इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

जीव एव हि तथा परिणामविशेषकर्मणामास्रवतां तत्कारणानां च हिंसादिपरिणामानामधिकरणतां प्रतिपद्यते न पुनः पुद्गलादिस्तस्य तथापरिणामाभावात्। संरंभादीनां वा क्रोधाद्याविष्टपुरुषकर्तृकाणां तदनुरंजनादधिकरणाभावो नीलपटादिवत्।

कारण कि यह संसारी जीव ही तिस प्रकार परिणाम विशेषों करके आगमन कर रहे कर्मों का और उन कर्मों के कारण हो रहे हिंसा, झूंठ, क्रोध, इन्द्रियलोलुपता आदि परिणामों के अधिकरणपन को को प्राप्त हो रहा है किन्तु फिर पुद्गल द्रव्य, काल द्रव्य आदि तो उन आस्रवित कर्मों के और उनके कारण हिंसा आदि परिणामों के अधिकरण नहीं हैं क्योंकि उन पुद्गल आदिकों के तिस प्रकार आस्रव के अनुकूल परिणाम हो जाने का अभाव है। बात यह है कि क्रोध, असत्यभाषण, आदिक से आलीढ होरहे स्वतंत्र कर्ता जीवों करके किये गये संरम्भ आदि आस्रवों का उस आत्मा के साथ अनुरंजन हो जाने से जीवों के अधिकरणपना बन जाता है जैसे कि नीलपट, लवणमिश्रितव्यंजन आदि हैं अर्थात्-नील रंग से रंजित कर देने पर जैसे पट नीला हो जाता है आकाश नीला नहीं होता है नोंन का अनुराग हो जाने से दाल या साग तो नोंन का अधिकरण हो जाते हैं कसेंड़ी, थाली नहीं। तिसी प्रकर संरंभ या क्रोध आदि का अनुरंजन जीव में हो रहा है।

न चैषां जीवविवर्तानामास्रवादिभावे जीवस्य तद्व्याघातः सर्वथा तेषां तद्भेदाभावात्। नहि नीलगुणस्य नीलिद्रव्यमेवाधिकरणं तत्रैव नीलप्रत्ययप्रसंगात्। नीलः पट इति संप्रत्ययात्तु पटस्यापि तदधिकरणभावः सिद्धस्तस्य नीलिद्रव्यानुरंजनान्नीलद्रव्यस्वपरिणामात्तद्भावोपपत्तेः कथंचिदभेदसिद्धेः।

यहाँ कोई शंका करता है कि जीव के परिणाम हो रहे इन संरम्भ आदिकों को यदि आस्रव या उनका कारण आदि होना माना जायेगा तब तो जीव के आस्रव आदि होने का उनको व्याघात प्राप्त होगा। अर्थात्—जीव के परिणामों के जो आस्रव हैं वे जीव के आस्रव नहीं कहे जा सकते हैं। आचार्य कहते हैं कि यह नहीं समझ बैठना क्योंकि सभी प्रकारों से उन जीव विवर्तों के उनको भेद नहीं कह दिया है वे जीव के भी भेद हो सकते हैं देखिये नील गुण का अधिकरण केवल नील द्रव्य ही नहीं है जो कि दुकानों पर दश रुपया सेर बिकता है यदि नील द्रव्य में ही नील गुण रहता तो उस नील रंग के डेल (ढील) में ही नीलज्ञान के होने का प्रसंग होता अन्यत्र नील का ज्ञान नहीं होसकता था किन्तु नील से रंगे हुये वस्त्र में भी "यह नील है" ऐसा ज्ञान होता है तिस कारण "कपड़ा नील" ऐसी समीचीन प्रतीति होजाने के कारण कपड़े को भी तो उस नील का अधिकरणपना सिद्ध है नीलगुण वाले नीलद्रव्य का पीछे रंग देना हो जाने से उस पट के भी नील द्रव्यपन का परिणाम हो जाता है अतः पट में उस नीलपन के परिणाम की उत्पत्ति हो गई है कारण कि नील और नीलवान् में कथंचित् अभेद सम्बन्ध की सिद्धि की जा चुकी है।

सर्वथा तद्भेदेऽपि पटे संयुक्तनीलीसमवायान्नीलगुणस्य नीलः पट इति प्रत्ययो घटत एवेति चेन्न, आत्माकाशादिष्वपि प्रसंगात्। तैर्नीलद्रव्यसंयोगविशेषाभावान्न तत्प्रसंग इति चेत्, स कोऽन्यो विशेषः संयोगस्य तथापरिणामात्। तथाहि, परिणामित्वं हि तंतुषु तत्संयुक्तमन्यत्रोपचारात्। न च नीलः पट इत्युपचरितः प्रत्ययोऽस्खलद्रूपत्वाच्छुक्लः पट इति प्रत्ययवत् तद्बाधकाभावा-विशेषात्। तत्सूक्तं यथा नील्या नीलगुणः पटे नील इति च तस्य तदधिकरणभावस्तथा संरंभा-दिष्वास्रवो जीवेष्वास्रव इति वास्रवस्य तेऽधिकरणं जीवपरिणामानां जीवग्रहणेन ग्रहणादधिकरणं जीवा इत्युपपत्तेः अन्यथा तत्परिणामाग्रहणप्रसंगादिति।

यहाँ गुण और गुणी के भेद को मान रहा वैशेषिक आक्षेप करता है कि उन नील और नील-वान् का सर्वथा भेद मानने पर भी नील रंग से घुले हुये पानी में डोब दिये गये वस्त्र में संयुक्त हो गये नीली द्रव्य में नील गुण का समवाय होरहा है अतः कपड़ा नीला ही है यह प्रत्यय संयुक्त समवाय सम्बन्ध से सुघटित हो जाता ही है नील गुण नील में रहा और वस्त्र में नील संयुक्त होरहा है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों तो आत्मा, आकाश आदि में भी नीलपने के ज्ञान हो जाने का प्रसंग आजावेगा नील द्रव्य उन आकाश आदि के साथ संयुक्त होरहा है अतः संयुक्त समवाय सम्बन्ध से वस्त्र के समान आत्मा आदिक भी नीले हो जायेंगे जो कि इष्ट नहीं है। यदि वैशेषिक यों कहें कि उन आत्मा, आकाश, आदि के साथ नील द्रव्य का विशेषजाति का संयोग नहीं है केवल प्राप्ति हो जाना मात्र सामान्य संयोग है पट के साथ नील द्रव्य का विशेष संयोग है जो कि हर्र, फिटकिरी, पानी और पट की स्वच्छता आकर्षकता आदि कारणों से विशेष जाति का होजाता है अतः आत्मा नील है यह प्रसंग नहीं आने पाता है यों काणादों के कहने पर तो हम जैन कहेंगे कि वह संयोग की विशेषता भला तिस प्रकार परिणमन हो जाने के अतिरिक्त दूसरी क्या हो सकती है? अर्थात् पट की नील स्वरूप परिणति है और आत्मा या आकाश की नील परिणति नहीं है। इसी को स्पष्ट कर और भी यों कह दिया जाता है कि कपड़े के तन्तु-तन्तुओं में वह नीली द्रव्य उपचार के सिवाय मुख्य रूप से संयुक्त हो

रहा है आत्मा आदि में नील द्रव्य उपचार से संयुक्त है किन्तु पट में संयुक्त होकर वह बंध गया है पट नीला है यह ज्ञान उपचरित (गौण) नहीं है क्योंकि यह प्रतीति स्खलित नहीं होती है जैसे कि धौला पट है इस प्रतीति को स्खलित नहीं होने के कारण अनुपचरित माना जाता है बाधक प्रमाणों का अभाव जैसे धौला कपड़ा इस प्रतीति में है वैसा ही नीला कपड़ा इस प्रतीति में भी है कोई अन्तर नहीं है। अर्थात्—वैशेषिकोंने नील रंग से रंगे हुये कपड़े में नील को उपचरित माना है नील कमल में या नील मणि में जैसे नील रूप का समवाय है वैसा रंगे हुये नील वस्त्र में नहीं है "सिंहो माणवकः" "गौर्वाहीकः" "अन्नं वै प्राणाः" के समान "नीलः पटः" भी उपचरित है किन्तु आचार्य समझाते हैं कि संयोग होजाने पर पुनः बंध परिणति अनुसार पट में भी नील का समवाय होजाता है किन्तु आत्मा के साथ नील द्रव्य की बंध परिणति नहीं होपाती है तिस कारण यह सिद्धान्त बहुत अच्छा कहा जा चुका है कि जिस प्रकार नील द्रव्य का नील गुण उस पट में भी नील बुद्धि को करता हुआ नीला बना देता है इस कारण उस पट को उस नील का अधिकरणपना प्राप्त है तिसी प्रकार संरम्भ आदिकों में जो आस्रव होरहा है वह जीवों में ही आस्रव है इस कारण जीव के परिणाम वे संरम्भ आदिक ही आस्रव के अधिकरण हैं यों कहने पर भी वे जीव आस्रव के अधिकरण हो जाते हैं "अधिकरणं जीवाजीवाः" इस सूत्र में जीव पद का ग्रहण करने से जीव के परिणामों का ग्रहण हो जाता है जीव और जीव परिणामों में कथंचित् अभेद है अतः जीव भी आस्रवों के अधिकरण हैं यह युक्तियों से सिद्ध हो जाता है अन्यथा यानी सूत्र अनुसार जीवों को ही पकड़ा जायेगा तो जीवों के उन संरम्भ आदि परिणामों का ग्रहण नहीं हो सकने का प्रसंग आजावेगा जो कि इष्ट नहीं है यहां तक जीवाधिकरण आस्रव का प्रतिपादन कर दिया गया है।

ततः परमधिकरणमाह ।

आदि के जीवाधिकरण आस्रव का निरूपण हो चुका है उससे परले द्वितीय अजीवाधिकरण का स्पष्ट प्रतिपादन करने के लिये सूत्रकार इस अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

निर्वर्तनानिक्षेपसंयोगनिसर्गा द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः परम् ॥९॥

दो भेद वाली निर्वर्तना और चार भेद वाला निक्षेप तथा दो भेद वाला संयोग एवं तीन भेद वाला निसर्ग यों ग्यारह प्रकार का परला अजीवाधिकरण आस्रव है। अर्थात्-जो बनाई जाय वह निर्वर्तना है। निक्षेप का अर्थ स्थापन किया जाना है। जो मिला दिया जाय वह संयोग है और जो प्रवृत्ति में आवे वह निसर्ग है। इस प्रकार इन अजीव अधिकरणों का अवलम्ब पाकर आत्मा के आस्रव उपजता है तिस कारण यह अजीवाधिकरण आस्रव कहा जाता है। भाव में भी उक्त शब्दों की सिद्धि है।

अधिकरणमित्यनुवर्तते । निर्वर्तनादीनां कर्मसाधनं भावो वा सामानाधिकरण्येन वैयाधिकरण्येन वाधिकरणसंबंधः कथंचिद्भेदाभेदोपपत्तेः। द्विचतुर्द्वित्रिभेदा इति द्वन्द्वपूर्वोऽन्यपदार्थनिर्देशः ।

"अधिकरणं जीवाजीवाः" इस सूत्र से अधिकरण इस पद की अनुवृत्ति कर ली जाती है जिससे कि परला अजीवाधिकरण मूलगुण निर्वर्तना आदि ग्यारह भेदों को धार रहा प्रतीत हो जाता है। इस सूत्र में पड़े हुये निर्वर्तना आदि शब्दों की कर्म में प्रत्यय कर सिद्धि कर ली जाय अथवा भाव में युट्,

घञ्, घञ्, घञ्, प्रत्यय कर निर्वर्तना आदि शब्दों का साधन कर लिया जाय। समानाधिकरणपने करके अथवा व्यधिकरणपने करके उद्देश्यदल का विधेयदल होरहे अधिकरण के साथ सम्बन्ध कर लिया जाये क्योंकि स्याद्वाद सिद्धान्त अनुसार उद्देश्य विधेयदलों का कथंचित् भेद अभेद आत्मक सम्बन्ध बन रहा है। अर्थात्-ये निर्वर्तना आदि शब्द जब कर्म में प्रत्यय कर साधे गये हैं तब तो निर्वर्तना और अजीवाधिकरण का समानाधिकरणपने से अन्वय किया जाता है जो निर्वर्तना बनाई जा चुकी है वही तो अधिकरण होरहा आस्रव का अवलम्ब है किन्तु जब निर्वर्तना आदि शब्द भाव में साधे गये सन्ते शुद्ध धातु अर्थ को कह रहे हैं तब व्यधिकरणपने से सम्बन्ध होगा अधिकरण में निर्वर्तना आदि रहते हैं यानी इन भावों से अधिकरण विशिष्ट होरहा है "द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः" इस पद का विग्रह यों किया जाय, पहिले "द्वौ च चत्वारश्च द्वौ च त्रयश्च" यों इतरेतर द्वन्द्व समास कर "द्विचतुर्द्वित्रयः" यह पद बना लिया जाय पुनः द्विचतुर्द्वित्रयः भेदाः एषां ते "द्विचतुर्द्वित्रिभेदाः" यों अन्य पदार्थ को प्रधान करने वाली बहुव्रीहिसमासवृत्ति करते हुये निर्देश हुआ जान लेना चाहिये।

कश्चिदाह—परवचनमनर्थकं पूर्वत्राद्यवचनात्, पूर्वत्राद्यवचनमनर्थकमिह सूत्रे परवचनात्तयोरेकतरवचनाद्द्वितीयस्यार्थापत्तिसिद्धेः [illegible] चेयमर्थापत्तिरनैकांतिकी क्वचिद्व्यभिचारचोदनात् सर्वत्र व्यभिचारचोदनायाः प्रयासमात्रत्वात् परस्परापेक्षयोर व्यभिचारात्।

यहाँ कोई पण्डित लम्बा चौड़ा पूर्वपक्ष उठाकर कह रहा है कि इस सूत्र में पर शब्द का कथन करना व्यर्थ है क्योंकि पूर्ववर्ती "संरम्भ आदि" सूत्र में आद्य शब्द को कण्ठोक्त किया गया है जब संरम्भ आदिक आदि के जीवाधिकरण हैं तो बिना कहे ही अर्थापत्ति से या परिशेष न्याय से सिद्ध होजाता है कि निर्वर्तना आदिक दूसरे अजीवाधिकरण हैं संक्षिप्त सूत्र में ऐसी छोटी छोटी बातें कहां तक कहते फिरोगे। अथवा इस सूत्र में यदि पर शब्द का कथन करते हो तो पहिले के "आद्यं संरम्भ" आदि सूत्र में आद्य शब्द का निरूपण व्यर्थ है क्योंकि उन पर या आद्य दोनों में से किसी एक का कथन कर देने से परिशिष्ट द्वितीय की अर्थापत्ति से ही सिद्धि होजाती है कारण कि पूर्व और पर दोनों का परस्पर में अविनाभावसहितपना है किसी भी एक को कह देने से दूसरे अविनाभावी का बिना कहे ही परिज्ञान हो जाता है। कश्चित् के ऊपर यदि कोई यों कहे कि यह अर्थापत्ति तो व्यभिचार दोष वाली है देखिये बादलों के गर्जने से कदाचित् मेघ बरस जाता है और कभी नहीं भी बरसता है इसी प्रकार काली घटा वाले मेघों के घिर जाने पर भी कभी कभी वृष्टि नहीं होपाती है अज्ञात की ज्ञप्ति कराने वाले या सूचना देरहे स्वर, ताराकंप, स्वप्नदर्शन, शकुन होना, आंख लहकना, शनि, राहु, दशायें आदि ज्ञापक सूचक हेतुओं के व्यभिचार होरहे देखे जाते हैं भरे घड़ों के मिल जाने पर भी कार्य बिगड़ जाते हैं डेरी सूधी आंख लहकने पर भी विपरीत फल मिलता है हथेली के खुजाने पर भी रुपया नहीं मिलता है अतः कोरा-अनुमान (अन्दाज) लगाते फिरना उचित नहीं है। इस कटाक्ष के उत्तर में कश्चित् की ओर से यह समाधान है कि अर्थापत्ति प्रमाण यह व्यभिचार दोष वाला नहीं है किसी किसी अर्थापत्त्याभास में व्यभिचार का प्रश्न उठा देने से सभी निर्दोष अर्थापत्तियों में भी व्यभिचार आजाने का कुचोद्य उठाना केवल व्यर्थ परिश्रम करते रहना है वृष्टि उत्पादक घन घटाओं से अवश्य वृष्टि होवेगी यदि कोई नहीं वृष्टि बरसाने वाली या आंधी आदि प्रतिबन्धकों वाली मेघ मालाओं को नहीं पहिचान सके तो इस अपनी भूल को

अर्थापत्ति के माथे नहीं मढ़ देना चाहिये जो पदार्थ अविनाभाव अनुसार परस्पर की अपेक्षा को लिये हुए अन्यथानुपपन्न हैं उनमें कभी व्यभिचार नहीं आता है अतः इस सूत्र का पर शब्द या पूर्व सूत्र का आद्य शब्द व्यर्थ है यह कश्चित् का आक्षेप खड़ा रहता है।

पूर्वपरयोरंतराले मध्यमस्यापि संभवान्नाविनाभाव इत्यप्ययुक्तं, मध्यमस्य पूर्वपरोभयापेक्षत्वात् पूर्वमात्रापेक्षया तस्य परत्वोपपत्तेः परमात्रापेक्षया पूर्वत्वघटनादव्यवहितयोः पूर्वपरयोरविनाभावसिद्धिः।

यहाँ आद्य और पर के अविनाभाव को बिगाड़ता हुआ कोई पण्डित यदि कश्चित् के ऊपर यह कटाक्ष करे कि पूर्व और पर के अन्तराल में मध्यम पदार्थ की भी सम्भावना है अतः पूर्व और पर का अविनाभाव नहीं ठहरा। कश्चित् कहते हैं कि यह कटाक्ष करना भी अयुक्त है क्योंकि मध्यम तो पूर्व, पर, इन दोनों की अपेक्षा रखता है अतः पूर्व पर दोनों के साथ भले ही मध्यम का अविनाभाव समझ लिया जाय एतावता पूर्व और पर के अविनाभाव में कोई क्षति नहीं पड़ती है। एक बात यह भी है कि मध्यम भी पूर्व और पर दोनों में अन्तःप्रविष्ट हो जाता है जैसे कि भूत भविष्य कालों में वर्तमान काल गर्भित होजाता है केवल पूर्व की अपेक्षा से उस मध्यम को परपना है और केवल पर की अपेक्षा से मध्यम को पूर्वपना घटित होरहा है यों अव्यवहित होरहे पूर्व पर दोनों का ही अविनाभाव सिद्ध हुआ अभीतक कश्चित् ही कहे जा रहे हैं।

परशब्दस्य संबंधार्थत्वान्नानर्थक्यमित्यपि न साधीयो निवर्त्याभवात्। परसंबंधमधिकरणमिति वचनं हि स्वसंबंधमधिकरणं निवर्तयति न चेह तदस्ति, तथावचनाभावात्। एतेन प्रकृष्टवाचित्वं परशब्दस्य प्रत्युक्तं तन्निवर्त्यस्याप्रकृष्टस्यावचनात्। इष्टवाचित्वमपि तादृशमेवानिष्टस्य निवर्त्यस्याभावात्। न च प्रकारांतरमस्ति यतोऽत्र परवचनमर्थवत्स्यादिति।

सूत्रकार द्वारा पर शब्द का व्यर्थ ही निरूपण होजाने पर यदि कोई यों लीपा पोती करे कि यह पर शब्द का प्रयोग तो सम्बन्ध के लिये है बिना सम्बन्ध के मारा मारा फिरता। अतः व्यर्थ नहीं है। अर्थात्-पर शब्द नहीं होता तो इस सूत्र का सम्बन्ध नहीं होसकता था "वाक्यं तु संबन्धाभिधेयवद्भवति"। अथवा सूत्रकार को निर्वर्तना आदि का अजीवाधिकरण से सम्बन्ध करना है अतः सम्बन्ध करने के लिये यहाँ पर शब्द कहा गया है। कश्चित् कहते हैं कि पर शब्द की सार्थकता के लिये किया गया यह समाधान भी अधिक श्रेष्ठ नहीं है क्योंकि कोई निवृत्ति करने योग्य या व्यवच्छेद्य होता तब तो किसी पद का प्रयोग करना सार्थक है। जब यहाँ कोई निर्वर्तनीय नहीं है तो बिना प्रयत्न के ही निर्वर्तना आदि का अजीवाधिकरण के साथ सम्बन्ध जुड़ जायेगा। संरम्भ आदि जीवाधिकरण के साथ इन निर्वर्तना आदि के सम्बन्ध होजाने का भय तो रहा नहीं क्योंकि पूर्व सूत्र में संरम्भ आदि के साथ आद्य शब्द पहिले से ही लग बैठा है तिस कारण परिशेष से यहाँ अजीवाधिकरण ही लागू होगा पर शब्द व्यर्थ पड़ा। बात यह है कि पर शब्द का प्रयोग करने पर पर सम्बन्धी अधिकरण यह कथन करना नियमसे स्व के साथ सम्बन्ध कर रहे अधिकरण की तो निवृत्ति कर सकता है अन्य की नहीं किन्तु यहाँ वह स्व अधिकरण का प्रकरण ही नहीं है क्योंकि तिस प्रकार स्व अधिकरण का कथन नहीं किया गया है। कश्चित्

ही कहे जा रहे हैं कि इस उक्त कथन करके यदि पर शब्दको प्रकृष्ट अर्थ का वाचक भी मान लिया जाय तो भी उस पर शब्द की सार्थकता का निराकरण हो जाता है क्योंकि उस प्रकृष्ट से निराला निवर्तनीय अपकृष्ट का तो यहाँ कोई निरूपण नहीं किया गया है अतः प्रकृष्ट अर्थ की अपेक्षा भी पर शब्द सार्थक नहीं होसका। यदि पर शब्द को इष्ट अर्थ का वाची माना जाय तो भी वह वैसा का वैसा ही निराकृत होजाता है क्योंकि यहाँ कोई निवर्तनीय अनिष्ट नहीं है। यदि यहाँ कोई अनिष्ट होता तो उस अनिष्ट की निवृत्ति करने के लिये इष्टवाची पर शब्द का कथन सार्थक होता भले ही "परं धाम गतः" के पर का अर्थ इष्ट कर लिया जाय किन्तु फल कुछ नहीं निकला। इनके अतिरिक्त अब कोई पर शब्द की सार्थकता को पुष्ट करने वाला अन्य प्रकार शेष नहीं रहा है जिससे कि यह पर शब्द का प्रयोग करना सफल होजाता। यहाँ तक कश्चित् पण्डित सूत्रकार के पर शब्द की व्यर्थता को पुष्ट कर चुका है।

सोऽप्ययुक्तवादी, परवचनस्यान्यार्थत्वात्। परं जीवाधिकरणादजीवाधिकरणमित्यर्थः तेनाद्याज्जीवाधिकरणादिदमपरं जीवाधिकरणमिति निवर्तितं स्यात्। जीवाजीवप्रकरणात्तत्सिद्धिरिति चेत्, ततोऽन्यस्याजीवस्यासंभवात्। इष्टवाचित्वाद्वा परशब्दस्य नानर्थक्यमनिष्टस्य निवर्तनादनिष्टजीवाधिकरणत्वस्य निवर्त्यत्वात्। एतदेवाह।

अब ग्रन्थकार समाधान करते हैं कि वह बड़ी देर से पर शब्द को अनर्थक कह रहा कश्चित् पण्डित भी युक्तिपूर्वक कहने की टेव रखने वाला नहीं है क्योंकि पर शब्द का कथन करना यहां "अन्य" इस अर्थ के लिये है जिसका तात्पर्य अर्थ यह निकलता है कि जीवाधिकरण से अजीवाधिकरण आस्रव निराला है तिस अन्य अर्थ को कहने वाले पर शब्द करके आदि के जीवाधिकरण से यह अजीवाधिकरण भिन्न है। इस प्रकार यहां "पर" शब्द का प्रयोग कर देने से जीवाधिकरण आस्रव की निवृत्ति कर दी जावेगी, उन संरम्भ, आदि से ये निर्वर्तना आदि न्यारे हैं यह भी पर शब्द करके समझ लिया जाय। यदि यहां कोई यों कहे कि "अधिकरणं जीवाजीवाः" इस सूत्र अनुसार जीव और अजीव का प्रकरण होने से ही उस जीवाधिकरण से अजीवाधिकरण के भिन्न पने की सिद्धि होजावेगी यों कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि उस प्रकरण से तो अजीव को अन्य हो जाने का असम्भव है जीवमें भी निर्वर्तना आदिक घटित होजाते हैं। इस समाधान में कुछ अस्वरस होने से वा शब्द करके दूसरा समाधान करते हैं कि अथवा इष्ट का वाचक होने से पर शब्द का व्यर्थपना नहीं है पहिले जो कश्चित् ने इस समाधान पर आपेक्ष किया था कि यहां कोई निवर्तनीय नहीं है उस पर हमारा यह कहना है कि इष्ट वाची पर शब्द करके अनिष्ट की निवृत्ति होरही है। निर्वर्तना आदि में अनिष्ट होरहे जीवाधिकरणपन की पर करके निवृत्ति कर दी जाती है। इसी बात को ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक द्वारा यों स्पष्ट कर कहते हैं। एक बात यहां यह भी समझ लेनी चाहिये कि पूर्व और पर के अन्तराल में पाया जारहा मध्यम पदार्थ भी वस्तुभूत है लोक या पूर्ण आकाश के मध्यप्रदेश आठ यथार्थ हैं। भूत और भविष्य काल के बीच में एक समय वर्तमान काल भी सत्यार्थ है; कोरा आपेक्षिक नहीं है। जगत् के छोटे से छोटे कार्य की पूर्ण उत्पत्ति होने में एक समय अवश्य लगजाता है अतः तीव्र गति से चौदह राजू तक या मन्द गति से निकटवर्ती दूसरे प्रदेश तक परमाणु की जाने की क्रिया से परिच्छिन्न हुआ व्यवहार काल का सब से छोटा अखण्ड अंश एक समय वर्तमान काल वास्तविक है। कल्पित नहीं।

ततोऽधिकरणं प्रोक्तं परं निर्वर्तनादयः ।
द्व्यादिभेदास्तदस्य स्यादजीवात्मकमेव हि ॥१॥

उन पूर्व सूत्रोक्त संरम्भ आदि जीवाधिकरण से भिन्न होरहे ये निर्वर्तना आदिक अधिकरण सूत्रकार महाराज करके बहुत अच्छे कहे जा चुके हैं जिस कारण इस अजीवाधिकरण के दो, चार आदि भेद वाले निर्वर्तना, निक्षेप, आदि नियम से अजीवस्वरूप ही हैं।

निर्वर्तना द्विधा, मूलोत्तरभेदात् । निक्षेपश्चतुर्धा, अप्रत्यवेक्षणदुःप्रमार्जनसहसानाभोगभेदात् । त एते निर्वर्तनादयो द्व्यादिभेदाः परमाद्यजीवाधिकरणादिष्टमधिकरणमस्याजीवात्मकत्वात् ।

मूलगुण निर्वर्तना अधिकरण और उत्तरगुण निर्वर्तनाधिकरण इन भेदों से निर्वर्तना दो प्रकार की है। मूलगुणनिर्वर्तना अधिकरण के शरीर, वचन, मन, प्राण, और अपान ये पांचभेद हैं तथा काष्ठ, पाषाण की मूर्तियां बनाना या स्त्री, पशु, पक्षी, मनुष्यों आदि के चित्र निर्माण करना यों उत्तरगुण निर्वर्तना अधिकरण आस्रव अनेक प्रकार है तथा अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण, दुःप्रमार्जननिक्षेपाधिकरण, सहसानिक्षेपाधिकरण, अनाभोगनिक्षेपाधिकरण इन भेदों से निक्षेप चार प्रकारका है। जन्तु हैं या नहीं हैं इस प्रकार चक्षु से नहीं देख कर निक्षेप और कोमल उपकरण की नहीं अपेक्षा रखते हुये खोटे प्रमार्जन अनुसार निक्षेप कर देना तथा बिना विचारे सहसा मल, मूत्र, पात्र आदि का निक्षेप कर देना तथैव बिना देखे उपकरण आदि का स्थापन कर देना ये निक्षेप अधिकरण हैं। खाने पीने की वस्तुओं के संयोग का अधिकरण और अन्य उपकरणों के संयोग का अधिकरण यों दो प्रकार संयोग है। काय, वचन, मन इन तीन का निसर्ग यानी मनचाहा कहीं भी मन-चलाना या कुछ भी वचन बोल देना या चाहे जहाँ शरीर का निसर्ग कर देना यों तीन प्रकार निसर्गाधिकरण है। ये सब दो आदि भेद वाले वे निर्वर्तना आदि तो आदि के जीवाधिकरण से न्यारे या इष्ट होरहे अधिकरण हैं इनको अजीव आत्मक होने से अजीवाधिकरणपना इष्ट किया गया है।

नन्वेवं जीवाजीवाधिकरणद्वैविध्याद् द्वावेवास्रवौ स्यातां न पुनरिंद्रियादयो बहुप्रकाराः कथंचिदास्रवाः स्युः सर्वांश्च कषायानपेक्षानपि वा जीवाजीवानाश्रित्य ते प्रवर्तेरन्नित्यारेकायामिदमाह ।

यहाँ कोई शंका उठाता है कि इस प्रकार जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण यों दो प्रकार अधिकरणों के होजाने से आस्रव भी दो ही होंगे फिर इन्द्रिय, कषाय, आदिक बहुत प्रकार के आस्रव तो कैसे भी नहीं होसकते हैं अथवा यों छोटे-छोटे कारणों से आस्रवों के भेद कर दिये जायेंगे तो कषायों की नहीं अपेक्षा रखने वाले भी जीवों और अजीवों का आश्रय पाकर वे आस्रव प्रवर्त जावेंगे, इस प्रकार आशंका के प्रवर्तने पर ग्रन्थकार समाधानार्थ इस अग्रिम वार्तिक को कहते हैं।

जीवाजीवान्समाश्रित्य कषायानुमहान्वितान् ।
आस्रवा बहुधा भिन्नाः स्युर्नॄणामिंद्रियादयः ॥२॥

कषायों की सहकारिता से सहित होरहे जीव और अजीवों का अच्छा आश्रय लेकर संसारी जीवों के इन्द्रिय, कषाय, आदिक हो रहे आस्रव बहुत प्रकार के भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। अर्थात्-अन्त-

रंग बहिरंग कारणों अनुसार हुये आस्रवों के अनेक भेद हैं। कषाय रहित जीवों के साम्परायिक आस्रव नहीं होने पाता है।

बहुविधक्रोधादिकषायानुग्रहीतात्मनां जीवाजीवाधिकरणानां बहुप्रकारत्वोपपत्तेस्तदाश्रितानामिंद्रियाद्यास्रवाणां बहुप्रकारत्वसिद्धिः। तत एव मुक्तात्मनोऽकषायवतो वा न तदास्रवप्रसंगः।

बहुत प्रकार यहां तक कि असंख्याते प्रकार के क्रोध आदि कषायों से अनुग्रह को प्राप्त होरहे जीवों के आस्रव के अवलम्बकारण जीवाधिकरण और अजीवाधिकरण बहुत प्रकार बन रहे हैं अथवा अनेक प्रकार के क्रोधादि कषायों से अनुग्रहीत स्वरूप जीवाधिकरणों और अजीवाधिकरणों का बहुत प्रकार सहितपना उचित है। जीवाधिकरणों पर जैसे कषायों का अनुग्रह है उसी प्रकार भक्त, पान, उपकरण, शरीर आदि पर भी कषायों की सहकारिता है। तभी ये अजीव अधिकरण अनेक आस्रव हो जाते हैं। हाँ, जिन अजीवों पर कषायों का अनुग्रह नहीं है वे अजीव कथमपि आस्रव नहीं हैं। कषाय रहित जीवों के कोई भी जीव या अजीव अधिकरण आस्रव नहीं है। इस कारण उन अधिकरणों के आश्रित होरहे इन्द्रिय आदि आस्रवों के बहुत प्रकारपन की सिद्धि होजाती है। तिस ही कारण से यानी कषायों की सहकारिता मिलने पर इन्द्रिय आदि आस्रवों के होने का नियम होने से मुक्त जीव सिद्ध परमेष्ठियों के अथवा कषायोदय से रहित होरहे ग्यारहमे, तेरहमे, चौदहमे गुणस्थान वाले अकषाय जीवों के उस साम्परायिक आस्रव हो जाने का प्रसंग नहीं आता है।

कुतस्ते तथा सिद्धा एवेत्याह।

किस कारण से वे साम्परायिक आस्रव के भेद मान लिये गये इन्द्रिय आदिक तिस प्रकार यानी आस्रवभेदपने करके सिद्ध ही हैं ? बताओ। ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार समाधानार्थ इस अगली वार्तिक को कहते हैं।

बाधकाभावनिर्णीतेस्तथा सर्वत्र सर्वदा।
सर्वेषां स्वेष्टवत्सिद्धास्तीव्रत्वादिविशिष्टवत् ॥२॥

सभी देशों में, सभी कालों में और सभी जीवों के तिस प्रकार इन्द्रिय आदि को आस्रवपन की सिद्धि के बाधक प्रमाणों के अभाव का निर्णय होरहा है जैसे कि तीव्रत्व, मन्दत्व, आदि धर्मों से विशिष्ट होरहे साम्परायिक आस्रव के भेदों का निर्णय होरहा है सभी वादी प्रतिवादियों के यहाँ अपने-अपने अभीष्ट पदार्थों की सिद्धि तिसी प्रकार यानी "असम्भवद्बाधकत्वात्" होती है। विशेषतया परोक्ष पदार्थों की सिद्धि तो बाधकों का असम्भव होजाने से ही होती है। कोई करोड़पति सेठ अपने सभी रुपयों को सबके सम्मुख उछालता या गिनाता नहीं फिरता है, मानसिक आधियों या पीड़ाओं को कोई हाथों पर धर कर नहीं दिखला देता है, सभी पापाचार या पुण्याचार सब के प्रत्यक्ष गोचर नहीं होरहे हैं, द्रव्यों के उदर में अनेक स्वभाव, अविभाग प्रतिच्छेद, परिणमन, छिपे हुये पड़े हैं बाधकों का असम्भव होजाने से ही उनका सद्भाव मान लिया जाता है।

यथैव हि तीव्रमंदत्वादिविशिष्टाः सांपरायिकास्रवस्य भेदाः सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात्सिद्धास्तथा जीवाजीवाधिकरणाः सर्वस्य तत एवेष्टसिद्धेः।

कारण की जिस प्रकार तीव्रत्व, मंदत्व, आदि विशेषणों से सहित होरहे साम्परायिक आस्रव के अनेक भेद उस बाधक प्रमाणों के असम्भवपने का अच्छा निर्णय होजाने से सिद्ध हैं उसी प्रकार जीवाधिकरण अजीवाधिकरण ये भेद भी असम्भवद्बाधक होजाने से सिद्ध होजाते हैं। सभी विद्वानों के यहाँ उस बाधक प्रमाणों का असम्भव होजाने से ही अपने अभीष्ट पदार्थों की सिद्धि कर ली जाती है। अर्थात्—कचित्, कदाचित्, किसी, एक व्यक्ति को बाधकप्रमाणों का असम्भव तो भ्रान्ति ज्ञानों में भी होजाता है सीप में चांदी का ज्ञान करने वाले पुरुष के उस समय वहां कोई बाधक प्रमाण नहीं उपजता है। बहुत से व्यक्तियों के कई भ्रान्ति ज्ञानों में तो उस पूरे जन्म में भी बाधा खड़ी नहीं होती है। रेल गाड़ी में जा रहे किसी मनुष्य को कासों में जल का ज्ञान हो गया फिर उस मार्ग से कभी लौटना हुआ ही नहीं जिससे कि निर्णय किया जाता। कई भोली स्त्रियां पीतल की अंगूठी को सोने की ही जन्म भर समझती रहीं बेचने या परखाने का अवसर भी नहीं मिला। अतः सभी कालों में, सभी देशों में, और सभी व्यक्तियों के, बाधकाभाव को प्रमाणता का प्रयोजक कहा गया है। यहां भी सब स्थानों पर सभी कालों में सभी जीवों के बाधक प्रमाणों का असम्भव हो जाने से साम्परायिक आस्रव के भेदों की सिद्धि कर दी गई है।

एवं भूमा कर्मणामास्रवो यं सामान्येन ख्यापितः सांपरायी।

तत्सामर्थ्यादन्यमीर्यापथस्य प्राहुर्ध्वस्ताशेषदोषाश्रयस्य ॥४॥

यों उक्त प्रकार सामान्य रूप से व्याख्या कर प्रसिद्ध कर दिया गया यह कर्मों का साम्परायिक आस्रव बहुत प्रकार का है। उस साम्परायिक आस्रव के कथन की सामर्थ्य से ही बिना कहे यह जान लिया जाता है कि जिसने अनेक दोषों का आस्रवपना नष्ट कर दिया है ऐसे ईर्यापथ के आस्रव को सूत्रकार महाराज बहुत अच्छा भिन्न कह रहे हैं। अर्थात्—यदि कोई यों कहे कि "इन्द्रियकषायाः" आदि इस सूत्र से प्रारम्भ कर पांच सूत्रों में श्री उमास्वामी महाराज ने साम्परायिक आस्रव का ही विस्तृत निरूपण किया है दूसरे ईर्यापथ आस्रव के भेदों का कोई व्याख्यान नहीं किया है, इस पर ग्रन्थकार का कहना है कि अनेक कारण या विशेषणों से जितने साम्परायिक के भेद हो जाते हैं उतने ईर्यापथ के नहीं। ग्यारहमे, बारहमे, तेरहमे, गुणस्थानों में केवल सातावेदनीय कर्म का एक समय स्थिति वाला आस्रव होता है जो कि राग, द्वेष, मोह, अज्ञान, अदान, नीचाचरण, भवधारण करना, शरीर रचना करना आदि दोषों से रहित है अतः परिशेष न्याय से ही जान लिया जाता है कि सूत्रकार साम्परायिक से ईर्यापथ को भिन्न कह रहे हैं जो प्रमेय अर्थापत्ति से लब्ध हो जाता है उसको थोड़े शब्दों द्वारा अपरिमित अर्थ को कहने वाले सूत्रों करके कण्ठोक्त करना समुचित नहीं है। ग्रन्थकार ने इसी रहस्य को इस शालिनी वृत्त द्वारा ध्वनित कर दिया है।

यथोक्तप्रकारेण सकषायस्यात्मनः सामान्यतोऽस्यास्रवस्य ख्यापने सामर्थ्यादकषायस्य तैरीर्यापथास्रवसिद्धिरिति न तत्र सूत्रकाराः सूत्रितवंतः, सामर्थ्यसिद्धस्य सूत्रणे फलाभावादतिप्रसक्तेश्च। विशेषः पुनरीर्यापथास्रवस्याकषाययोगविशेषाद्बोद्धव्यः।

कषाय सहित जीवों के होरहे सामान्य रूप से आम्नाय अनुसार पूर्व कथित प्रकारों करके साम्परायिक आस्रव का विज्ञापन कर चुकने पर बिना कहे ही सामर्थ्य से उन्हीं सूत्रों करके कषाय रहित जीव के ईर्यापथ आस्रव की सिद्धि होजाती है इस कारण सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज वहां सूत्रों

द्वारा ईर्यापथ का निरूपण नहीं कर चुके हैं। अर्थात्-ईर्यापथ का व्याख्यान करने के लिये न्यारे सूत्रों के बनाने की आवश्यकता नहीं है। शब्दों की सामर्थ्य से ही जो पदार्थ अर्थापत्ति या परिशेष द्वारा सिद्ध हो जाता है उसको सूत्रों करके सूचन करने में कोई फल विशेष नहीं है। दूसरा दोष यों भी है यों बड़ा भारी अतिप्रसंग भी होजायेगा अर्थात्-छोटे-छोटे प्रमेयों को भी यदि सूत्रों करके कहा जावेगा तो क्रिया, कारक सभी पदों का प्रयोग करना अनिवार्य होगा अनुवृत्ति, आकर्षण, अध्याहार, अधिकार, उपस्कार, इनके द्वारा प्राप्त होचुके अर्थोंको कहने के लिये भी सूत्र में अनेक पदों का प्रयोग करना पड़ेगा यों सूत्र क्या वह विस्तृत टीकाग्रन्थ बन जायेगा, पुनरुक्त दोषों की भरमार आपड़ेगी अतः सामर्थ्य से सिद्ध होरहे पदार्थ के लिये मुनि का कर्म मौनव्रत ही श्रेष्ठ है। श्री माणिक्यनन्दि आचार्य ने बहुत अच्छा लिखा है "तत्परमभिधीयमानं साध्यसाधने संदेहयति" व्यर्थ अधिक बोलना अच्छा नहीं है, गम्भीर अल्प उच्चारण करने से ही वचनों की शक्तियाँ रक्षित रहती हैं उदात्त अर्थ वाले पद की विशद व्याख्या कर चेंथरा कर देनेसे श्रोताओं की ऊहापोह शालिनी बुद्धि का विकास नहीं होने पाता है अन्न का कुटकर, पिस कर, मड़ कर, सिककर, झुरकुट होचुका है फिर भी रोटी, पूड़ी, पुआ, गुझा, आदि को पुनः शिला लोढ़ी करके बट कर या खल्लड़ से कूट कर खाने वालों को वह आनन्द नहीं आ पाता है जो कि स्वकीय दाँतों से चबाकर, लार मिलाते हुये भोक्ता को आस्वादन का सुख मिलता है हाँ दन्तरहित बुड्ढों की बात न्यारी है। अतः ईर्यापथ को विशेष रूप से कहने की सूत्रकार ने आवश्यकता नहीं समझी है। ईर्यापथ आस्रव के विशेषों को पुनः कषायरहित मन और योगों की विशेषताओं से समझ लेना चाहिये। बड़ी अवगाहना वाले या प्रकृष्ट परिस्पन्दवाले मुनि के अधिक सातावेदनीय कर्म प्रदेशों का आस्रव होगा, मन्द योग होने पर अल्प ईर्यापथ आस्रव होगा। कषायों की उपशान्ति और क्षीणता से भी सम्भवतः ईर्यापथ में अन्तर पड़ जाय जैसे कि ग्यारहमे या बारहमे गुणस्थान वाले मुनि की निर्जरा में अन्तर है।

इति षष्ठाध्यायस्य प्रथममाह्निकम्

इस प्रकार छठमे अध्याय का प्रकरणों का समुदाय स्वरूप प्रथम आह्निक यहाँ तक परिपूर्ण हुआ।

बीजांकुरवदनादी भावद्रव्यास्रवौ मिथो हेतू।
संक्लेशविशुद्धयङ्गौ भ्रमति भवे जीव आत्मसात्कुर्वन् ॥१॥

सामान्य रूप से कर्मों के आस्रवों के भेदों को सूत्रकार कह चुके हैं। अब कोई जिज्ञासु पूँछता है कि सम्पूर्ण साम्परायिक आस्रवों को आत्मा क्या एक ही प्रकार के प्रणिधान करके उपार्जन कर लेता है? अथवा क्या अनेक कर्मों के आस्रवणार्थ आत्मा के विशेष व्यापार होते हैं? बताओ ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर कर्मों के विशेष आस्रवभेदों के हेतुभूत आत्मपरिणामों की विवेचना करते हुये सूत्रकार प्रथम ही आदि के ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों के आस्रव भेदों की प्रतिपत्ति कराने के लिये इस सूत्र को कहते हैं।

तत्प्रदोषनिन्हवमात्सर्यांतरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयोः ॥१०॥

उन ज्ञान और दर्शनों में किये गये प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन, और उपघात ये ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों के आस्रव हैं। अर्थात्—अपने या दूसरों के ज्ञान और दर्शनों में अथवा ज्ञानवान्, दर्शनवान्, जीवों में एवं ज्ञान या दर्शन के कारणों में जो प्रदोष आदि किये जायेंगे उनसे ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों का आस्रव होगा यानी ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों में अनुभाग रस अधिक पड़ेगा, दूषितआत्मा की पिशुनता (चुगली करना) परिणति तो प्रदोष है जैसे कि कोई पुरुष ज्ञानवान्, दर्शनवान् पुरुषों की या सज्जनों के ज्ञान दर्शन गुणों की प्रशंसा कर रहा है उसको सुन कर अन्य कोई खोटा पुरुष पिशुनता दोष अनुसार उन सद्गुणों की प्रशंसा नहीं करता है यह पिशुनतापूर्ण बड़ा भारी दोष प्रदोष है। ज्ञान दर्शन अथवा इनके साधन पुस्तक, विद्यालय, चश्मा, अञ्जन आदि के विद्यमान होने पर भी "नहीं जानता हूँ नहीं हैं" इत्यादि कथन कर देना निह्नव है। देने योग्य भी अभ्यस्त विज्ञान को किसी निन्द्यकारणवश दूसरे को जो नहीं देना है वह मात्सर्य है। ज्ञान का व्यवच्छेद करना अन्तराय है। प्रशस्त ज्ञान का वचन, कायों करके विनय गुण कीर्तन प्रकाशन नहीं करना आसादन है। प्रशस्त ज्ञान में दूषण लगा देना उपघात है। ये छः दोष यदि ज्ञान में होंगे तो ज्ञानावरण के और सत्तालोचन आत्मक दर्शन में होंगे तो दर्शनावरण कर्म का आस्रव कराने वाले समझे जायेंगे।

आस्रवा इति संबंधः। के पुनः प्रदोषादयो ज्ञानदर्शनयोरित्युच्यते—कस्यचित्सत्कीर्तनानंतरमनभिव्याहरतोंऽतःपैशुन्यं प्रदोषः, परातिसंधानतो व्यपलापो निह्नवः, यावद्याथावद्देयस्याप्रदानं मात्सर्यं विच्छेदकरणमंतरायः, कायवाग्भ्यामननुवर्तनमासादनं, प्रशस्तस्यापि दूषणमुपघातः। न चासादनमेव स्याद्दूषणं सतो विनयाद्यनुष्ठानलक्षणत्वात्।

"आस्रवाः" इस शब्द का यहाँ "तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यांतरायासादनोपघाताः" के साथ सम्बन्ध कर लेना चाहिये "सोपस्काराणि वाक्यानि" वाक्य अपने छः कारक या यथायोग्य न्यून कारकों के अर्थ की प्रतिपत्ति कराने के लिये अश्रूयमाण, उपयोगी, शब्दों का यहां वहां से आकर्षण कर लेते हैं चाहे तो "स आस्रवः" इस सूत्र से भी आस्रव शब्द का मण्डूकप्लुति न्याय अनुसार सम्बन्ध किया जा सकता है अतः उन ज्ञान और दर्शनों के विषय में हुये प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन, और उपघात ये ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण कर्मों के आस्रव हैं यह इस सूत्र का अर्थ होजाता है। कोई जिज्ञासु पूँछता है कि वे ज्ञान और दर्शन में होने वाले प्रदोष आदि फिर कौन से हैं ? जो कि ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रवक हैं ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार यों समाधान कहते हैं। साक्षात् या परम्परया मोक्ष प्राप्ति के कारण होरहे उन ज्ञानों या दर्शनों का कीर्तन करने पर पश्चात् किसी एक असहिष्णु कषायवान्, पिशुनता की टेव रखने वाले, जीवका अन्तरंग में पिशुनतास्वरूप परिणाम प्रदोष है। दूसरे के किसी छोटे से निमित्त का अभिप्राय कर ज्ञान का अपलाप (होते हुये मुकर जाना) करना निह्नव है। जो कुछ भी जिस भी किसी प्रकार से देने योग्य ज्ञान या दर्शन का अच्छा दान नहीं करना मात्सर्य है। अर्थात्—स्वयं ज्ञान का अच्छा अभ्यास कर लिया है वह ज्ञान दूसरों को देने योग्य भी है कोई गोप्य या गर्हणीय नहीं है विनीत अभिलाषुक पात्र भी ज्ञानदान योग्य उपस्थित हैं ऐसी दशा में जो ज्ञान को नहीं दिया जाता है वह मात्सर्य (ईर्षा डाह) है। अपनी कलुषता से समीचीन ज्ञानों के विच्छेद का कर देना अन्तराय है। प्रशस्त ज्ञान का काय या वचन कर के वर्जन करना आसादन है। प्रशंसाप्राप्त भी ज्ञान को दूषण लगा देना उपघात है। यदि यहां कोई यों शंका उठावे कि ऐसा लक्षण करने पर तो

उपघात विचारा आसादन दूषण ही हुआ, आचार्य कहते हैं कि यह नहीं कह सकते हो क्योंकि ज्ञान गुण को प्रशस्त जानते हुये भी विनय प्रकाश, प्रशंसावचन आदि नहीं करना आसादन का लक्षण है और उपघात तो ज्ञान इसका "अज्ञान या कुज्ञान ही है" इस प्रकार सम्यग्ज्ञान के नाश कर देने का अभिप्राय रखना है। यों प्रदोष आदि के निर्दोष लक्षण हैं।

तदिति ज्ञानदर्शनयोः प्रतिनिर्देशः सामर्थ्यादन्यस्याश्रुतेः। ज्ञानदर्शनावरणयोरास्रवास्तत्प्रदोषादयो ज्ञानदर्शनप्रदोषादय इत्यभिसंबंधात्। समासे गुणीभूतयोरपि ज्ञानदर्शनयोरार्थेन न्यायेन प्रधानत्वात् तच्छब्देन परामर्शोपपत्तिः।

सूत्र में पड़े हुये पूर्व परामर्शक तत् शब्द करके ज्ञान और दर्शन का स्मृति पूर्वक कथन हो जाता है। कण्ठोक्त विधेयदल में पड़े हुये "ज्ञानदर्शनावरणयोः" इस शब्द की सामर्थ्य से उद्देश्य दल के तत् शब्द द्वारा ज्ञान दर्शनों का प्रतिनिर्देश हो जाता है। पूर्व सूत्र में कहे गये निर्वर्तना आदि का नहीं। क्योंकि श्रौत [illegible] किसी शब्द का प्रकरणोपयोगी श्रुतज्ञान के अनुकूल श्रवण नहीं हो रहा है। उनके प्रदोष आदि अर्थात्—ज्ञान और दर्शन के प्रदोष आदिक तो ज्ञानावरण और दर्शनावरण के आस्रव हैं। इस प्रकार पदों का उद्देश्य विधेय दलों अनुसार सम्बन्ध हो जाने से बिना कहे सामर्थ्य करके तत् पद के निर्दिष्ट अर्थ ज्ञान और दर्शन समझ लिये जाते हैं। यद्यपि "ज्ञानदर्शनावरणयोः" इस समासघटित पद में ज्ञान और दर्शन गौण हो चुके हैं क्योंकि "ज्ञानं च दर्शनं च ज्ञानदर्शने,ज्ञानदर्शनयोः आवरणे इति ज्ञानदर्शनावरणे" यों द्वन्द्व समास करते हुये पुनः तत्पुरुषसमास में उत्तर पदार्थ प्रधान हो जाता है और पूर्व पदार्थ गौण हो जाते हैं तथापि प्रकरण प्राप्त अर्थ सम्बन्धी न्याय करके ज्ञान और दर्शन की प्रधानता है। न्याय शास्त्र में शब्द सम्बन्धी न्याय करके तत्पुरुष समास के उत्तरपद की ही प्रधानता विवक्षित नहीं है अतः तत् शब्द करके ज्ञान और दर्शन का परामर्श होना बन जाता है जो ज्ञान या ज्ञानवान् अथवा ज्ञान साधन का अवलम्ब लेकर प्रदोष आदि किये गये हैं वे ज्ञानावरण कर्मों के आगमन हेतु हैं और सामान्य सत्ता आलोचनस्वरूप दर्शन या दर्शनवाले जीव अथवा दर्शन के साधनों का अवलम्ब लेकर प्रदोष आदि किये जायेंगे वे दर्शनावरण कर्मों का आस्रव करावेंगे। ये प्रदोष आदि उपलक्षण हैं अन्य भी आचार्य, उपाध्याय, पाठक, गुरुओं के साथ शत्रु भाव, अकाल में अध्ययन करना, अरुचि पूर्वक पढ़ना, पढ़ते हुये भी आलस्य करना, आदर नहीं रखते हुये तत्त्वार्थ सुनना, अपने कुत्सित पक्ष को पकड़े रहना, सत्पक्ष को छोड़ देना, कपट से ज्ञानाभ्यास करना, पाण्डित्य का कोरा अभिमान करना, आदिक भी ज्ञानावरण के आस्रव हैं इसी प्रकार देव या गुरु के दर्शन में मात्सर्य करना, किसी के दर्शन में अन्तराय डालना, आंखों को हानि पहुंचाना, दीर्घ निद्रा, आलस्य, सम्यग्दृष्टि को दूषण लगाना, आदि दर्शनावरण के आस्रव माने जाते हैं।

सामान्यतः सर्वकर्मास्रवस्येंद्रियाव्रतादिरूपस्य वचनादिह भूयोऽपि तत्कथनं पुनरुक्तमेवेत्यारेकायामिदमुच्यते।

यहाँ कोई आशंका उठाता है कि सामान्य रूप से सम्पूर्ण कर्म एकसौ बीसों के आस्रव इन्द्रिय, अव्रत, आदि स्वरूप का कथन पहिले ही "इन्द्रियकषाया" आदि सूत्र करके कर दिया है फिर भी इस सूत्र

करके उन आस्रवों का कथन करना तो पुनरुक्त दोष ही है इस प्रकार आशंका प्रवर्तने पर ग्रन्थकार श्री विद्यानन्द स्वामी करके यह समाधान कहा जाता है।

विशेषेण पुनर्ज्ञानदृष्ट्यावरणयोर्मताः।
तत्प्रदोषादयः पुंसामास्रवास्तेऽनुभागगाः ॥१॥

विशेष करके सूत्रकार द्वारा जीवों के फिर ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों के आस्रव होरहे जो तत्प्रदोष, तन्निन्हव, आदिक माने जा चुके हैं वे सब आस्रव अनुभाग को प्राप्त होरहे सन्ते समझ लेने चाहिये। भावार्थ—तत्प्रदोष आदि करके ज्ञानावरण आदि का आस्रव होरहे अवसर पर अन्य भी वेदनीय आदि कर्म आते रहते हैं किन्तु प्रदोष आदि के होने पर ज्ञानावरण कर्मों में अनुभाग अधिक पड़ेगा शेष कर्मों में न्यून अनुभाग बंध होगा अतः प्रदोष आदि करके ज्ञानावरण कर्मों के प्रकृतिबंध और प्रदेश बंध होजाने का नियम नहीं है फिर भी अनुभाग बंध का नियम कर देने से तत्प्रदोष आदि और ज्ञानावरण आदि कर्मों के आस्रव का कार्य कारण भाव विचार लिया जाता है।

सामान्यतोऽभिहितानामप्यास्रवाणां पुनरभिधानं विशेषतः प्रत्येकं ज्ञानावरणादीनामष्टानामप्यास्रवप्रतिपत्त्यर्थम्। एते वास्रवाः सर्वेऽनुभागगाः प्रतिपत्तव्याः कषायास्रवत्वात्। पुंसामिति वचनात् प्रधानादिव्युदासः।

यद्यपि सामान्य से आस्रवों को कहा जा चुका है फिर भी उनका इस छठे अध्याय में दशमे सूत्र से प्रारम्भ कर सत्ताईसमे सूत्र तक विशेष रूप से कथन करना तो प्रत्येक ज्ञानावरण आदि आठों कर्मों के भी आस्रव होने की प्रतिपत्ति कराने के लिये है। ये विशेष रूप से कहे जा रहे सभी आस्रव अनुभाग बंध के अनुकूल शक्ति को प्राप्त कर रहे समझ लेने चाहिये क्योंकि "ठिदि अणुभागा कसाअदो होंति" प्रदोष, शोक, माया, आदि कषायों अनुसार हुये ये आस्रव हैं। कषायों का प्रभाव कर्मों की अनुभाग शक्ति पर पड़ता है अतः व्यभिचार या अतिप्रसंग दोष को स्थान नहीं मिल पाता है। इस वार्त्तिक में "पुंसां" यानी जीवों के आस्रव होना माना गया है अतः "पुंसां" इस कथन से प्रधान प्रकृति या अवस्तुभूत संतान आदि के आस्रव होने का निराकरण कर दिया है। अर्थात्—कपिल मतानुयायी आत्मा को सर्वदा शुद्धनिरंजन स्वीकार करते हैं। सत्त्वगुण, रजो गुण, तमोगुण, स्वरूप प्रकृति के ही आस्रव के बंध, संसार, मोक्ष, ये व्यवस्थायें स्वीकर करते हैं। बौद्ध सन्तान के आस्रव होना कहते हैं। यहाँ जीवों के कर्मों का आस्रव कह देने से इनका निराकरण होजाता है।

कथं पुनस्ते तथावरणकर्मास्रवहेतव इत्युपपत्तिमाह।

अब यहाँ कोई तर्की पूछता है कि वे प्रदोष आदि फिर उन आवरण कर्मों के आगमन हेतु भला किस प्रकार समझे जा सकते हैं? या किस प्रमाण से उनका हेतुहेतुमद्भाव निर्णीत कर लिया जाय? बताओ। इस प्रकार तर्कणा उपस्थित होने पर ग्रन्थकार उसकी युक्ति पूर्वक सिद्धि करे देते हैं।

यत्प्रदोषादयो ये ते तदावरणपुद्गलान्।
नराम्रयंति बीभत्सुप्रदोषाद्या यथा करान् ॥२॥

जिस विषय के जो प्रदोष आदि होंगे वे उस विषय का आवरण करने वाले पुद्गलों को कषायवान् आत्मा के निकट प्राप्त करा देते हैं जिस प्रकार कि हिंसक या जुगुप्सित पदार्थ में हुये प्रदोष आदिक इन हाथों को वहाँ ले जाते हैं। अर्थात्—"जीवस्य ज्ञानविषयकप्रदोषादयः (पक्षः) ज्ञानावरणादि-पुद्गलान् जीवान्नयन्ति (साध्यं) ज्ञानादिप्रदोषत्वात् (हेतुः) ये यत्प्रदोषादयः ने तदावरणपुद्गलान् जीवा-न्नयन्ति (द्विकर्मक णिञ् प्रापणे धातु) यथा बीभत्सुप्रदोषाद्याः करान् नयन्ति (व्याप्तिपूर्वकमुदाहरणम्) जीव के ज्ञानादि विषयों में होरहे प्रदोष, निह्नव, आदिक (पक्ष) संसारी आत्मा में ज्ञानावरण आदि पुद्गलों को प्राप्त करा देते हैं (साध्य) क्योंकि ज्ञान आदि में हुये ये प्रदोष आदि हैं (हेतु) जो जिसमें प्रदोष आदि हुये हैं वे उस उस गुण का आवरण करने वाले [illegible] (व्याप्ति) जैसे कि ग्लानियुक्त पदार्थ में हुये प्रदोष आदि अपनी नाक या आँख के निकट हाथों को प्राप्त करा देते हैं (अन्वय दृष्टान्त)। लज्जायुक्त स्त्री लज्जा कराने वाले पुरुष को देख कर झट हाथ उठा कर अपना घूंघट खींच लेती है। ग्लानि कारक, भयकारक, हिंसक या अतीव अग्राह्यपदार्थ में प्रदोष, निह्नव, आदि होजाते हैं तब कषायवान् आत्मा शीघ्र अपने हाथों को अपने पास खींच लेता है या हाथों से उन घृणित पदार्थों को ढंक देता है यों अनुमान प्रमाण से इस सूत्रोक्त सिद्धान्त की उपपत्ति कर दी गई है।

ये यत्प्रदोषादयस्ते तदावरणपुद्गलानात्मनो ढौकयंति यथा बीभत्सुस्वशरीरप्रदेशप्रदोषादयः करादीन्। ज्ञानदर्शनविषयाश्च कस्यचित्प्रदोषादय इत्यत्र न तावदसिद्धो हेतुः क्वचित्कदाचित्प्र-दोषादीनां प्रतीतिसिद्धत्वात्। नाप्यनैकांतिको विपक्षवृत्त्यभावात्। अशुद्ध्यादिपूतिगंधिविषयैः प्रदो-षादिभिस्तदन्यप्राणिविषयकराद्यावरणाढौकनहेतुभिर्व्यभिचारीति चेन्न, घ्राणसंबंधदुर्गंधपुद्गल-प्रदोषादिहेतुकत्वात् तत्पिधायककराद्यावरणढौकनस्य, दोषाद्यभावे तदधिष्ठानसंभूतवाह्याशुच्या-दिगंधप्रदोषानुपपत्तेः। तद्विषयत्वपरिज्ञानायोगात् तदन्यविषयवत्।

जो जिस विषय में प्रदोष आदि हुये हैं वे उस विषय का आवरण करने वाले पुद्गलों को जीवों के पास ले जाते हैं जिस प्रकार कि जुगुप्सित अपने शरीर के प्रदेशों में हुयीं प्रदोष, निह्नव, आदि परि-णतियां अपने हाथ, पांव, आदि को उस स्थान पर ले जाती हैं ज्ञान और दर्शन विषय में हुये किसी जीव के प्रदोष आदि हैं इस कारण उस जीव के निकट ज्ञानावरण, दर्शनावरण पुद्गलों का आस्रव करा देते हैं इस प्रकार पांच अवयवों वाला यह अनुमान है। इस अनुमान में कहा गया हेतु असिद्धहेत्वाभास तो नहीं है क्योंकि किसी न किसी कषायवान् आत्मा में कभी न कभी पिशुनता आदि दोषों की प्रतीति हो जाना सिद्ध है अतः प्रदोष आदिकों का सद्भाव पाया जाना हेतु प्रदुष्ट आत्मा में रहता है अतः स्व-रूपासिद्ध नहीं है। यद्विषय प्रदोषादित्व यह हेतु व्यभिचारी भी नहीं है क्योंकि विपक्ष में वृत्ति होजाने का अभाव है जो कषाय रहित जीव आवरण पुद्गलों का आस्रव नहीं करते हैं उन में प्रदोष आदि नहीं पाये जाते हैं। यदि यहां कोई यों कहे कि अशुद्धि ग्रस्त, घृणित आदि दुर्गन्ध विषयों में हुये प्रदोष आदिक तो उनसे अन्य प्राणियों के विषयभूत हाथ आदि आवरणों के प्राप्त कराने के कारण हो रहे हैं अतः इन अनिष्ट गंध वाले पदार्थों में हुये प्रदोष आदिकों करके जैनों का हेतु व्यभिचारी हुआ। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि घ्राण इन्द्रिय में सम्बन्धी होगये दुर्गन्धी पुद्गल विषय में हुये प्रदोष आदिक ही उस घ्राण को ढकने वाले हाथ, वस्त्र, आदि आवरणों की गति प्रेरणा कराने के हेतु हैं दोष आदिकों के नहीं होने पर उनके आश्रय से उत्पन्न हुये बहिरंग अशुद्ध आदि गंधों में प्रदोष हो जाना नहीं

बन सकता है कारण कि उन प्रदेशों की अधिकरणभूत विषयता के परिज्ञान का अयोग है जैसे कि उससे भिन्न पड़े हुये दूरवर्ती उदासीन विषयों में प्रदोष आदि नहीं उपजते हैं। भावार्थ—किसी आक्षेपक ने यहाँ उक्त हेतु का उन प्रदोष आदि से व्यभिचार उठाया था जो कि अशुद्ध दुर्गन्ध, घृणित, मलमूत्र, आदि पुद्गलों में प्रदोष आदि हुये हैं क्योंकि वे प्रदोष आदि तो हैं किन्तु दुर्गन्ध मल मूत्र आदि में कोई पुद्गलों का आस्रव नहीं होता है और न हाथ, पांव, आवरण ही उन पुद्गलों में आस्रवित होजाते हैं प्रत्युत उन दुर्गन्ध पदार्थों से भिन्न होरहे प्राणियों के हाथ, पांव, आदि में गतियां उन से होजाती हैं। कोई व्यक्ति तो दुर्गन्ध पदार्थों से घृणा कर भाग जाता है, कोई हाथ को नाक से लगा लेता है। इस व्यभिचार का निवारण करने के लिये ग्रन्थकार ने यों कहा है कि दुर्गन्ध पदार्थ के अंश नाक में आये हैं तभी अन्य प्राणियों के हाथ, पांव, आदि में क्रिया होकर अपनी नाक को उन से ढक लिया गया है अपने घृणा आदि दोषों के बिना बाह्य पदार्थ में प्रदोष आदि नहीं होपाते हैं, घृणा नहीं करनेवाले या दुर्गन्ध में निवास करने वाले जीवों को उस पदार्थ के अनिष्ट गन्धपन का परिज्ञान नहीं होने पाता है अतः यह बात सिद्ध होजाती है कि जिस आत्मा के जिस विषय में प्रदोष आदि होंगे उस आत्मा को उस विषय के आवारक पुद्गलों का समागम करा ही देवेंगे, मात्सर्य करने से शरीर के अवयवों में क्रिया होजाती है जैसे कि समझाने वाले वक्ता को अंगुलियों या समग्र अंग को आवेश के अनुसार चेष्टायें करनी पड़ती हैं। आसादन और उपघात करने पर टेढ़े मेढ़े हाथ, पांव, नसें, हृदय की धड़कन आदि क्रियायें करते हुये पौद्गलिक अवयवों में प्रेरणा होजाती हैं। क्रोध करने वाला जीव झट, लाठी, बेंत आदि को पकड़ता है या क्रोध पात्र पर थप्पड़ या घूंसा मार देता है। गुणी पुरुषों को देख कर विनीत पुरुष शीघ्र हाथ जोड़ता है, मस्तक नवाता है कई बार किसी किसी जीव को ऐसा विचार होजाता है कि मैं अमुक पुरुष को नमस्कार या उसकी विनय क्रिया नहीं करूंगा किन्तु वह प्रभावशाली, उत्तमर्ण, गुणगरिष्ठ, उपकारी पुरुष को जब सन्मुख पाजाता है तो बिना चाहे भी उसको विनीत और नतमस्तक होना पड़ता है। मनोज्ञ या गुप्त अंगों के प्रकट होजाने की सम्भावना होजाने पर झट अपना हाथ उनको ढक लेता है, मनुष्य के पेट में साजी मक्खी के चले जाने पर उदराशय उसको अपनी क्रिया करके फेंक देता है वमन होजाती है हाँ चिरैया, छपकली को कै नहीं होती है। छींक या जंभाई आने पर कई मनुष्य नाक, मुंह से हाथ लगा लेते हैं। अधिक प्यास लगने पर ओठों पर जीभ फेर ली जाती है। तीव्र भूख और प्यास में यह लोलुपी जीव अन्न, पान, पदार्थों को शीघ्र खींच लेता है। भगवान् के सम्मुख भक्तिवश प्राणी नृत्य करने लग जाता है। मुख पर मक्खी के बैठते ही उसके उड़ाने का प्रयत्न किया जाता है। गीले खेत में पड़े हुये बीज में जन्म ले गया जीव यहां वहां से अपने वनस्पतिकाय शरीर उपभोगी पदार्थों को खींच लेता है, सोने चांदी की खानों के पृथिवीकायिक जीव अपने शरीर उपयोगी पदार्थों या हजारों-कोस दूरवर्ती चांदी, सोने की घिस कर गिरगयी चूर का आकर्षण कर लेते हैं, सोता हुआ युवा पुरुष जाड़ा लगने पर निकट रक्खे हुये वस्त्र को खींच कर ओढ़ लेता है, भूंखा बालक माता के स्तनों की ओर मुंह कर दूध को चूस कर खींच लेता है, माता प्रेमवश बच्चे को चुपटा लेती है। जगत् में कषायें चित्र विचित्र कार्यों को कर रही हैं। प्रकरण में यही कहना है कि प्रदोष आदिक उस जीव के ज्ञानावरण आदि का आस्रव करा देवेंगे, उक्त हेतु में कोई व्यभिचार दोष नहीं है।

तत एव न विरुद्धं सर्वथा विपक्षाद्वृत्तेरविरुद्धोपपत्तेः। विपक्षे बाधकप्रमाणाभावात्संदिग्ध-विपक्षव्यावृत्तिकोऽयं हेतुरिति चेन्न, साध्याभावे साधनाभावप्रतिपादनात्।

तिस ही कारण से यानी विपक्ष में वृत्ति नहीं होने से यह हेतु विरुद्ध हेत्वाभास भी नहीं है क्यों कि एक देशत्वेन या सर्वदेशत्वेन सभी प्रकारों से विपक्ष में हेतु का वर्तना नहीं होने के कारण अविरुद्ध होना बन जाता है। यहाँ उक्त हेतु को संदिग्ध व्यभिचारी बनाता हुआ कोई चोद्य उठाता है कि विपक्ष में वर्त जाने के बाधक अभाव हो जाने से यह हेतु संदिग्धविपक्षव्यावृत्तिक है "संदिग्धा विपक्षे व्यावृत्तिर्यस्य" जिस हेतु का विपक्ष से व्यावृत्ति होना संदेह प्राप्त है लोक में किसी पुरुष या स्त्री के विषय में व्यभिचार का संदेह हो जाना भी एक दोष माना गया है उसीप्रकार शास्त्र में हेतु का संदिग्धव्यभिचार दोष है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि साध्य का अभाव होने पर विपक्ष में साधन के अभाव बने रहने का प्रतिपादन किया जा चुका है। अर्थात्—जिस आत्मा में जिन गुणों के आवरण करने वाले पुद्गलों का समागम नहीं होरहा है उस आत्मा में उन गुणों के दूषक प्रदोष आदिकों का अभाव है यों व्यतिरेक व्याप्ति अनुसार हेतु का विपक्ष में नहीं वर्तना स्वरूप ब्रह्मचर्य गुण निर्णीत हो चुका है।

यस्य यद्विषयाः प्रदोषादयस्तस्य तद्विषयास्तदविद्यैव न पुनस्तदावरणपुद्गलः सिद्ध्येत् ततो न तत्प्रदोषादिभ्यो ज्ञानदर्शनयोरावरणपुद्गलप्रसिद्धिरिति न शंकनीयं, तदावरणस्य कर्मणः पौद्गलिकत्वसाधनात्। कथं मूर्तं कर्मामूर्तस्य ज्ञानादेरावरणमिति चोद्ये तदविद्यायाममूर्तं कथमिति समः पर्यनुयोगः। यथैव मूर्तस्यावारकत्वे ज्ञानादीनां शरीरमावारकं विप्रसज्यं तथैवामूर्तस्य सद्भावे तेषां गगनमावारकमासज्येत। तदविरुद्धत्वान्न तत्तदावारकमिति चेत्, तत एव शरीरमपि तद्विरुद्धस्यैव तदावारकत्वसिद्धेः।

यहाँ ब्रह्माद्वैतवादी अपने स्वपक्ष का अवधारण करते हैं कि जिस जीव के जिस विषय में हो रहे प्रदोष, निन्हव, आदि दोष हैं उसके उन विषयों का आवरण कर रही तो अविद्या ही है किन्तु फिर उन गुणों का आवरण करने वाला कोई कार्मणस्कन्ध स्वरूप पुद्गल सिद्ध नहीं हो पायेगा तिस कारण उन ज्ञान या दर्शन में हुये प्रदोष आदिकों से ज्ञान और दर्शन का आवरण करने वाले ज्ञानावरण पुद्गलों की प्रसिद्धि नहीं हो सकती है। आचार्य कहते हैं कि अद्वैतवादियों को हृदय में ऐसी शंका नहीं रखनी चाहिये क्योंकि उन ज्ञान आदि का आवरण करने वाले कर्मों का पुद्गल द्रव्य से निर्मितपना साधा जा चुका है। "अप्रतीघाते" सूत्र के विवरण में "कर्मपुद्गलपर्यायो जीवस्य प्रतिपद्यते परतंत्र्यनिमित्तत्वात्कारागारदिबंधवत्" यों कर्म को पौद्गलिक सिद्ध कर दिया है और भी कई स्थलों पर कर्मों का पुद्गलात्मकपना निर्णीत कर दिया है। आगे भी "सकषायत्वाज्जीवः" आदि सूत्र के अलंकार में "पुद्गलाः कर्मणो योग्यः केचित् मूर्तार्थयोगतः, पच्यमानत्वतः शालिबीजादिवदितीरितं" आदि कहा जावेगा। यदि अद्वैतवादी यों कहें कि अमूर्त हो रहे ज्ञान, दर्शन, आदि का आवरण करने वाला भला मूर्त कर्म किस प्रकार हो सकता है ? मूर्त सूर्य के ही मूर्त बादल आवारक हो सकते हैं घर की भीते या छते बिचारी मूर्तशरीर, भूषणों, वस्त्रों को छिपा लेती हैं आकाश को नहीं। यों वेदान्तियों के कहने पर तो हम जैन भी चोद्य उठावेंगे कि आपके यहाँ वे अविद्या, भेदविज्ञान, मोह, आदिक भला अमूर्त हो रहे किस प्रकार एकत्वज्ञान

प्रतिभासाद्वैत, आदि का आवरण कर देते हैं ? बताओ। यों आप अद्वैतवादियों के ऊपर भी हम जैनों की ओर से वैसा का वैसा ही समान पर्यनुयोग उठा दिया जा सकता है कोई अन्तर नहीं है जिस ही प्रकार तुम अद्वैतवादी यह अभियोग उठाओगे कि मूर्त को यदि ज्ञान आदिकों का आवारक होना माना जायेगा तो जीव सम्बन्धी शरीर को भी ज्ञान आदिकों के आवारकपने का विशेषतया प्रसंग आजावेगा "शरीरं पुस्तकादिकं वा ज्ञानादेरावारकं स्यात् मूर्तत्वात्कार्मणस्कंधवत्" अतः अमूर्त का आवरण करनेवाला मूर्त नहीं हो सकता है यह सिद्धान्त मान लो, तिस ही प्रकार हम जैन भी तुम्हारे ऊपर यह प्रसंग उठा सकते हैं कि अमूर्त अविद्या आदि का सद्भाव होने पर ज्ञान आदिकों का आवरण होना मानोगे तो अमूर्त आकाश को भी उन ज्ञान आदिकों के आवारकपन का चारों ओर से प्रसंग आजावेगा अथवा अमूर्त ज्ञान का दूसरा अमूर्त ज्ञान आवारक बन बैठेगा "गगनादिकं ज्ञानान्तरं च ज्ञानादेरावारकं स्यात् अमूर्तत्वात् अविद्यावत्" जो कि तुमने इष्ट नहीं किया है। यदि आप अद्वैतवादी यों कहें कि गगन आदिक तो उन ज्ञान आदिकों के विरुद्ध नहीं हैं अतः वे उनके आवरण नहीं हो सकते हैं यों कहने पर तो हम जैन भी कह देंगे कि तिस ही कारण से यानी ज्ञानादिक का विरोधी नहीं होने से मूर्त शरीर भी ज्ञान आदि का आवारक नहीं है जो उन ज्ञान आदि से विरुद्ध पदार्थ होगा उसी को उन ज्ञान आदिकों के आवारकपना [illegible] प्रासाद में भीतें, किवाड़, सींकचे, सांकलें और सिपाही हैं तथा कारागृह में भी वैसे ही भीतें आदि हैं किन्तु वे अपने विरुद्ध हैं और अपने घर के सींकचे आदि अविरुद्ध हैं मित्र या स्नेही सम्बन्धी भी अपने बंधु को रोक लेता है। राजकर्मचारी भी अपराधी को रोके रहते हैं किन्तु इन दोनों में महान् अन्तर है। वस्तुतः देखा जाय तो शरीर भी एक छोटे प्रकार का आवारक है। हिंसक क्रूर जीवों के शरीरों अनुसार संयमपालन नहीं हो सकता है। अपने शरीर के बन्धन अनुसार स्त्रियों की आत्मा भी सर्वोच्च पद को नहीं पा सकती है। भावना होते हुये भी देव-देवियों के शरीर संयम नहीं पलने देते हैं। रोग ग्रस्त शरीर अनेक अड़चनें उपजाता है। अनेक प्राणियों के आत्माओं की समानता होने पर भी उनके न्यारे न्यारे शरीरों की परवशता से भिन्न-भिन्न प्रकार जघन्यविचार उपजते रहते हैं। वैज्ञानिक पण्डित भी शरीर आकृति के अनुसार तादृश भावों का उपजना आवश्यक मानते हैं वे वीर क्रूर, विशेष ज्ञानी, पुरुषों के मस्तक, हृदय, के अवयवों को देखते हैं मोल लेलेते हैं। आयुष्य कर्म द्वारा शरीर में कैद कर दिया गया आत्मा स्वतंत्र या चाहे जहाँ नहीं जा पाता है। हमें सर्वत्र शरीर को लाद कर जाना पड़ता है। अतीव स्थूल पुरुष सम्मेद शिखर जी की बन्दना पांवों चल कर नहीं कर पाता है। भोजन या शयन के लिये भले ही शरीर को साथ ले लिया जाय किन्तु ज्ञानाभ्यास सामायिक, संयमपालन आदि क्रियाओं के लिये यह भारी शरीर हमें खींचना, ढोना, पड़ता है हाँ समितिपालन, शास्त्रश्रवण, तीर्थगमन, आहारदान, दीक्षाधारण, तपश्चरण आदि कर्तव्यों में शरीर उपयोगी पड़ता है इस कारण यह ज्ञानादिकों का आवारक नहीं माना गया है। अन्यदृष्ट कारणों में अन्वयव्यभिचार और व्यतिरेकव्यभिचार आजाने से अन्यथानुपपत्ति के बल पर पौद्गलिक कर्मों को ही ज्ञान आदि का आवारकपना सिद्ध हो जाता है।

स्यान्मतं ज्ञानादेर्वर्तमानस्य सतोऽप्यविद्याद्युदये तिरोधानात्तदेव तद्विरुद्धं तदावरणं युक्तं न पुनः पौद्गलिकं कर्म तस्य तद्विरुद्धत्वासिद्धेरिति। तदसत् तस्यापि तद्विरुद्धत्वप्रतीतेः सुरादिद्रव्यवद्।

सम्भवतः अद्वैतवादियों का यह भी मन्तव्य होवे कि आत्मा में सत्ता रूप से विद्यमान होरहे

भी ज्ञान आदिकों का अविद्या आदि का उदय हो जाने पर तिरोभाव होजाता है। जैसे कि डिब्बी में रत्न

का तिरोधान हो गया है। सांख्य भी आविर्भाव, तिरोभाव, को स्वीकार करते हैं उत्पाद, विनाश, को नहीं। "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः" आत्मा में सत् हो रहे ज्ञान का ही अविद्या, अहंकार, ममता, तवता, विवेकाख्याति आदि से आवरण हो गया है अतः वे अविद्या आदिक ही उन ज्ञान आदिकों के विरुद्ध होरहे सन्ते उनके आवरण समुचित कहे जा सकते हैं किन्तु फिर जैनों के यहां माने गये पौद्गलिक कर्मों को आवरण कहना युक्त नहीं क्योंकि उन पौद्गलिक कर्मों को उन ज्ञान आदिकों का विरोधीपना सिद्ध नहीं है जैसे कि शरीर, पुस्तक, उपनेत्र (चश्मा), विद्यालय, भोजन, ब्राह्मी, बादाम, आदि पौद्गलिक पदार्थ ज्ञान के विरोधी नहीं हैं। यों कह चुकने पर आचार्य बोलते हैं कि अद्वैतवादियों का वह मन्तव्य प्रशंसनीय नहीं है कारण कि मदिरा, भांग, आदि द्रव्यों के समान उन पौद्गलिक कर्मों को भी उन ज्ञान आदिकों के विरोधीपन की प्रतीति होरही है सभी पुद्गल न तो ज्ञान के सहायक हैं और विरोधी भी नहीं हैं। हां, नियत पुद्गल ज्ञान के सहायक भी हैं और कोई कोई ज्ञान के विरोधी भी हैं। अनेक पुद्गलों से सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रों को सहायता प्राप्त होती है और कितने ही पौद्गलिकपदार्थों से मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्रों को सहकारिता मिलती है। कोई एकान्त नहीं है। ज्ञानावरण आदि पौद्गलिक कर्म अवश्य ही ज्ञानादि गुणों के आवारक हैं यह निर्णीत विषय है।

ननु मदिरादिद्रव्यमविद्यादिविकारस्य मदस्य ज्ञानादिविरोधिनो जनकत्वात् परंपरया तद्विरुद्धं न साक्षादिति चेत्, पौद्गलिकं कर्म तथैव तद्विरुद्धमस्तु तस्यापि विज्ञानविरुद्धाज्ञानादि-हेतुत्वात् तस्य भावावरणत्वात्। न च द्रव्यावरणापाये भावावरणसंभवेऽतिप्रसंगात्। मुक्तस्यात-त्प्राप्तेरपि वारणात्। तस्य सम्यग्ज्ञानसात्मीभावे मिथ्याज्ञानादेरत्यंतमुच्छेदात्तस्योदये तदात्मनो भावावरणस्य सद्भावात्।

वे ही पण्डित पुनः अपने पक्ष का अवधारण करते हैं कि मदिरा, भांग, गांजा, आदि द्रव्य तो ज्ञान स्वस्थता, विचारशालिता, आदि के विरोधी होरहे और अविद्या, नशा, आदि विकारों के भारी मद के जनक होने के कारण परम्परा करके उन ज्ञानादि के विरोधी हैं। मदिरा आदि द्रव्य अव्यवहित रूप से ज्ञानादि के विरोधी नहीं हैं। अर्थात्—मदिरा आदिक द्रव्य पहिले अविद्या आदि विकार स्वरूप मद को उपजाते हैं और वह मद पुनः ज्ञान आदि की उत्पत्ति में विरोध ठानता है अतः अविद्या आदि को ही आवरण मानो, पौद्गलिक कर्म को नहीं। यों स्वपक्ष को पुष्ट कर रहे अन्यवादियों के कह चुकने पर ग्रन्थकार कहते हैं कि तब तो पुद्गल द्रव्य से उपादेय हुआ कर्म भी तिस ही कारण यानी ज्ञान आदि के साथ विरोध ठान देने से उन ज्ञान आदिकों का विरोधी सिद्ध हो जाओ क्योंकि उन कर्मों को भी विज्ञान के विरुद्ध होरहे अज्ञान आदि का हेतुपना प्राप्त है। भाव आवरण स्वरूप ही वह अज्ञान है द्रव्य आवरण होरहे पौद्गलिक कर्मों का अभाव मानने पर अज्ञान, राग, द्वेष, आदि भाव आवरणों का होना नहीं सम्भवता है अति प्रसंग हो जायेगा। मुक्त जीव के भी उन अज्ञानादिकों की अप्राप्ति का निवारण हो जायेगा अर्थात्—द्रव्य आवरणों के बिना भी यदि भाव आवरण होने लगें तो कर्म विनिर्मुक्त सिद्ध पर-मेष्ठी के भी अज्ञान, राग, द्वेषविकार बन बैठेंगे। वैशेषिकों ने योगज प्रत्यक्ष के दो भेद किये हैं "योगजो द्विविधः प्रोक्तः युक्तयुञ्जानभेदतः। युक्तस्य सर्वदाभानं चिन्तासहकृतोऽपरः" युक्त के कोई अविद्या या

अज्ञान का सम्बन्ध नहीं माना है अतः युक्त ऐसा पाठ भी हो तो कोई क्षति नहीं है क्योंकि उस मुक्त या युक्त जीव के सम्यग्ज्ञान के साथ तदात्मकपना हो जाने पर मिथ्याज्ञान, राग आदि का अत्यन्त उच्छेद हो गया है। वर्तमानकाल में किंचित् भी मिथ्याज्ञान नहीं है, भविष्य में भी मिथ्याज्ञान कथमपि नहीं उपज सकेगा यही मिथ्याज्ञान आदि का अत्यन्त उच्छेद है। उन द्रव्यावरणों का उदय होने पर उस समय आत्मा के अज्ञान, क्रोध, आदि भावावरण का सद्भाव पाया जाता है अतः सिद्ध होता है कि प्रवाह से प्रवर्त रहे ज्ञान आदि का अविद्या के उदय होने पर निरोध हो जाने से जैसे उस अविद्या को ज्ञान आदि का विरोधी मान लिया जाता है उसी प्रकार पौद्गलिक कर्म को भी ज्ञान आदि से विरुद्ध मान लिया जाय। मदिरा, अपथ्य भोजन, आदि पुद्गल इसके दृष्टान्त हैं। आत्मा के द्रव्य स्वरूप आवरण लग रहे हैं तभी भाव आत्मक आवरणों का सद्भाव पाया जाता है। अज्ञान आदि दोष और ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों का हेतुहेतुमद्भाव अनादिकाल से बीजांकुरवत् चला आ रहा है "दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषास्त्यतिशायनात्" इस देवागमस्तोत्र की कारिका का विवरण करते हुये ग्रन्थकार ने अष्टसहस्री में इस "कार्यकारण भाव" को अच्छा समझा दिया है।

कुतो द्रव्यावरणसिद्धिरिति चेत्, नात्मनो मिथ्याज्ञानादिः पुद्गलविशेषसंबंधनिबंधनस्तत्स्वभावान्यथाभावस्वभावत्वादुन्मत्तकादिहेतुकोन्मादादिवदित्यनुमानात्। मिथ्याज्ञानादिहेतुकापरमिथ्याज्ञानादिभिर्व्यभिचारादनुमानमसमीचीनमिति चेन्न, तस्यापि परापरपौद्गलिककर्मोदये सत्येव भावात् तदभावे तदनुपपत्तेः। परापरोन्मत्तकादिरससद्भावे तत्कृतोन्मादादिसंतानवत्। कामिन्यादिभावेनोद्भूतैरुन्मादादिभिरनेकांत इति चेन्न, तेषामपि परंपरया तन्वीमनोहरांगनिरीक्षणादिनिबंधनत्वात् तदभावे तदनुपपत्तेः, ततो युक्तमेव तद् ज्ञानदर्शनप्रदोषादीनां तदावरणकर्मास्रवत्ववचनं युक्तिसद्भावाद्बाधकाभावाच्च तादृशान्यवचनवत्।

यहाँ कोई आक्षेपकर्ता पण्डित पूंछता है कि जैनों के यहां द्रव्य आवरणों की सिद्धि भला किस प्रमाण से की जावेगी? बताओ यों प्रश्न होने पर हम उत्तर करते हैं कि संसारी आत्मा के हो रहे मिथ्याज्ञान, अहंकार, दुःख, भय, आदिक तो (पक्ष) विशेष जाति के पुद्गलों के सम्बन्ध को कारण मानकर उपजे हैं (साध्य) आत्मा के उन सम्यग्ज्ञान, मार्दव, अतीन्द्रिय, सुख आदि स्वभावों से अन्यप्रकार के वैभाविक भावों स्वरूप होने से (हेतु) उन्मत्त कराने वाले धतूरा, चण्डू, मद्य, आदिक हेतुओं से उपजे उन्मत्तता, चक्कर आना, तमारा, मद, आदि के समान (अन्वयदृष्टान्त)। इस अनुमान से द्रव्य आवरणों की सिद्धि कर दी जाती है। यदि यहाँ कोई इस अनुमान में यों दोष लगावे कि मिथ्याज्ञान, राग, द्वेष, आदि हेतुओं करके उपजे दूसरे मिथ्याज्ञानों से व्यभिचार हो जायेगा अर्थात्—दूसरे मिथ्याज्ञानों में हेतु तो रह गया किन्तु पुद्गल विशेषों से उपजता स्वरूप साध्य नहीं रहा वहां पहिले के मिथ्याज्ञानों से (भावावरणों से) दूसरे मिथ्याज्ञान उपजे हैं। कभी द्वेष से द्वेष, दुःख से दुःख, क्रोध से क्रोध, अज्ञान से अज्ञान की धारायें चलती जाती हैं। इनमें पौद्गलिक कर्म कारण नहीं पड़ते हैं अतः व्यभिचार दोष हो जाने के कारण यह जैनों का अनुमान समीचीन नहीं है। श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि वे दूसरे, तीसरे मिथ्याज्ञान भी उत्तरोत्तर पौद्गलिक कर्मों का उदय होते रहते सन्ते ही उपजे हैं यदि आत्मा में धारा प्रवाह रूप से उदय प्राप्त हो रहे वे पौद्गलिक कर्म नहीं होते तो उन मिथ्याज्ञानों की उत्पत्ति होना नहीं बन सकता था जैसे कि उत्तरोत्तर परिपाक प्राप्त हो रहे उन्मादक

धतूरे आदि के रस की लहरों का सद्भाव होने पर ही उन द्रव्यों से किये गये उन्माद आदि की सन्तान बड़ी देरतक बनी रहती है। एक रोग से और भी कई रोग उत्पन्न हो जाते हैं अतः यहां भी पौद्गलिक वात, पित्त, कफ, दोषों से ही उन रोगों की उत्पत्ति हुई मानी जाती है। भूंख से भूंख और उससे भी अधिक भूंख अथवा प्यास के ऊपर प्यास जो लगती है इनमें भी उत्तरोत्तर पौद्गलिक पित्ताग्नि का संधुक्षण होते रहना अन्तरंग कारण है। पुनरपि कोई व्यभिचार दोष उठाता है कि कामिनी, सम्पत्ति, सिंह, आदि भावों में हुये राग, द्वेष, परिणामों करके उत्पन्न हुये उन्माद ईर्षा, भय, आदि करके व्यभिचार हुआ। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि वे उन्माद आदिक भी परम्परा करके सुन्दरी, तन्वी, स्त्री के मनोहर अंगों का समोह निरीक्षण करना आदि को कारण मान कर उपजे हैं। उन मनोहर अंगों के सकषाय निरीक्षण आदि का अभाव होने पर उन उन्माद आदि की उत्पत्ति होना नहीं बन पाता है। मुनियों या बालकों के स्त्री, सर्प, धन, आदि से वे भाव नहीं उपजते हैं अतः उन्मत्तक पुरुष को भले ही हृदय हारिणी कामिनी में हुई अभिलाषा से साक्षात् उन्माद, चिन्ता, गुण कथन, उद्वेग, सम्प्रलाप, आदिक होवें किन्तु उनका परम्परया कारण पौद्गलिक कामिनीपिण्ड ही है। जैन सिद्धान्त तो यहाँ इस प्रकार है कि अनेक कार्यों को चलाकर आत्मा अपने प्रमादों अनुसार करता है उससे कर्मबन्ध होता है। कामिनी को देखने पर कामुक के पूर्वोपार्जित कर्मों का उदय आजाने से उन्माद आदि कामचेष्टायें होने लग जाती हैं। संसारी जीव के प्रतिक्षण पूर्वोपार्जित शुभ अशुभ कर्मों का उदय बना रहता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, इन निमित्तों को पाकर पौद्गलिक कर्मों की वैसी वैसी रस देने योग्य परिणतियां होजाती हैं जैसे कि भोजन, पान, पदार्थों का पित्ताग्नि, स्वच्छवायु वाला प्रदेश, नीरोग शरीर, व्यायाम, पाचनचूर्ण, अथवा दूषित जल, वात, पित्त, कफ, के दोष, निकृष्टवायु, रुग्ण शरीर, विषमकाल, रोगस्थान, चिन्ता, आदि निमित्तों अनुसार नाना प्रकार के विपाकों को धार रहा परिणमन होजाता है। अतः ज्ञान आदि के विरोधी पौद्गलिक द्रव्य ही आवरण मानने पड़ते हैं अविद्या नहीं। नैयायिक या वैशेषिक के यहां माने गये धर्म, अधर्म संज्ञक गुण भी आत्मा को परतंत्र नहीं कर सकते हैं जो जिसका गुण है वह उसको परतंत्र नहीं कर सकते हैं। तिस कारण उक्त सूत्र द्वारा श्रीउमास्वामी महाराज का यह निरूपण करना युक्त ही है कि उन ज्ञान या दर्शन में हुये प्रदोष, निह्नव आदिक उन उन ज्ञान दर्शनों का आवरण करने वाले कर्मों के आस्रव हैं क्योंकि सूत्रकार के इस सिद्धान्तवचन में युक्तियों का सद्भाव है तथा बाधक प्रमाणों का अभाव है जैसे कि तिस प्रकार के युक्त और निर्बाध अन्य वचनों का कहना समुचित है। ग्रन्थकार ने अपनी विद्वत्ता से यह भी एक अनुमान बना दिया है कि सूत्रकार के अन्य वचनों समान (दृष्टान्त) इस सूत्र का निरूपण भी (पक्ष) युक्ति पूर्ण और निर्बाध होने के कारण (हेतु) समुचित ही है (साध्य)॥

अथासद्वेद्यास्रवसूचनार्थमाह।

ज्ञानावरण और दर्शनावरण के पश्चात् वेदनीय कर्म का नाम निर्देश है। वेदनीय कर्म के सद्वेद्य और असद्वेद्य दो भेद हैं। अनुकूलवेदनीय होरहे लौकिक सुख का कारण सद्वेद्य है और असद्वेद्य का उदय होने पर जीवों के प्रतिकूल वेदनीय दुःख उपजते हैं अब असद्वेद्य कर्म के आस्रव की सूचना देने के लिये श्रीउमास्वामी महाराज इस अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

दुःखशोकतापाक्रंदनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसद्वेद्यस्य ॥११॥

स्वयं अपने में या पर में अथवा दोनों में स्थित हो रहे दुःख, शोक, ताप, आक्रंदन, बध, परिदेवन, ये परिणतियाँ असातावेदनीय कर्म के आस्रव हैं। संसारी जीव का पीड़ा स्वरूप परिणाम दुःख है। अनुग्रह करने वाले चेतन अचेतन पदार्थों के सम्बन्ध का विच्छेद होने पर दीनता परिणाम शोक है। तिरस्कार आदि को निमित्त पाकर हुये कलुषित परिणाम वाले जीव का मानसिक पश्चात्ताप करना ताप कहा जाता है। परिताप से उत्पन्न हुये बहुत रोना, आंसू डालना, विलाप करना, अंग विकार आदि करके प्रकट क्रन्दन करना आक्रन्दन है। आयुःप्राण, इन्द्रियप्राण, बलप्राण और श्वासोच्छ्वास प्राण का वियोग कर देना वध है, संक्लेश परिणामों का अवलम्ब कर गुणस्मरण पूर्वक बखानते हुये जो स्वयं और दूसरों को अनुग्रह करने की अभिलाषा कराने वाला दयनीय रोना है वह परिदेवन है। ये स्व में होंय या क्रोध आदि के आवेश से दूसरे में उपजा दिये जांय अथवा कषाय वश दोनों में उपज जांय तब असद्वेद्य कर्म का प्रकृत जीव के आस्रव हो जाता है।

पीड़ालक्षणः परिणामो दुःखं, तच्चासद्वेद्योदये सति विरोधि द्रव्याद्युपनिपातात्। अनुग्राहकबांधवादिविच्छेदे मोहकर्मविशेषोदयादसद्वेद्ये च वैक्लव्यविशेषः शोकः, स च बांधवादिगताशयस्य जीवस्य चित्तखेदलक्षणः प्रसिद्ध एव। परिवादादिनिमित्तादाविलांतःकरणस्य तीव्रानुशयस्तापः, स चासद्वेद्योदये क्रोधादिविशेषोदये च सत्युपपद्यते। परितापजाश्रुपातप्रचुरविलापांगविकाराभिव्यक्तं क्रंदनं, तच्चासद्वेद्योदये कषायविशेषोदये च प्रजायते। आयुरिंद्रियबलप्राणवियोगकरणं वधः, सोऽप्यसद्वेद्योदये च सति प्रत्येतव्यः। संक्लेशप्रवणं स्वपरानुग्रहणं हा नाथ नाथेत्यनुकंपाप्रायं परिदेवनं, तच्चासद्वेद्योदये मोहोदये च सति बोद्धव्यं।

पीड़ा स्वरूप परिणति दुःख कहा जाता है। वह दुःख तो असद्वेद्य कर्म का उदय होते सन्ते विरोधी द्रव्य आदि का प्रसंग मिल जाने से उपज जाता है। अनुग्रह करने वाले बन्धुजन, इष्ट पदार्थ आदि का वियोग हो जाने पर मोहनीय कर्म का विशेष होरहे शोक का उदय होने से और पूर्व संचित असातावेदनीय का उदय होते सन्ते हुआ विक्लव परिणाम शोक है। बांधव आदि में जिस जीव का अभिप्राय संसक्त होरहा है उस बन्धुजन का वियोग हो जाने पर जीव के चित्त को खेद होजाना स्वरूप वह शोक प्रसिद्ध ही है। निंदा, तिरस्कार, पराभव आदि निमित्तों से हुये कलुषित अन्तःकरण के धारी जीव का तीव्र पश्चात्ताप करना ताप है तथा उस ताप का होना अन्तरंग में असद्वेद्य कर्म का उदय होने पर और चारित्रमोहनीय को क्रोध आदि विशेष प्रकृतियों का उदय हो जाने पर बन जाता है। परिताप से उपजे प्रचुर अश्रुपात वाले विलाप, अंग विकार आदि करके प्रकट चिल्लाना आक्रन्दन है। वह आक्रन्दन अन्तरंग में पूर्व संचित असद्वेद्य का उदय होने पर और कषाय विशेष का उदय होते सन्ते ठीक उपज जाता है। आयुः, इन्द्रिय, बल, श्वासोच्छ्वास, इन प्राणों का वियोग करना वध है। वह बध भी असद्वेदनीय कर्म का उदय होते सन्ते हो जाना समझ लेना चाहिये। तथा संक्लेश परिणामों में तत्पर होरहा और अपने या दूसरों को अनुग्रह कराने वाला एवं हाय नाथ कहाँ गये, हाय नाथ कहां हो, इस प्रकार बहुभाग अनुकम्पा को लिये हुये प्रलाप करना परिदेवन कहा गया है। और तैसे ही वह परिदेवन भी आत्मा में असद्वेदनीय कर्म का उदय होने पर और मोहनीय कर्म का उदय होते उपज रहा समझ लेना चाहिये।

तदेवं शोकादीनामसद्वेद्योदयापेक्षत्वाद्दुःखजातीयत्वेऽपि दुःखात्पृथग्वचनं मोहविशेषोदयापेक्षत्वात् तद्विशेषप्रतिपादनार्थत्वात् पर्यायार्थादेशाद्भेदोपपत्तेश्च नानर्थकमुत्प्रेक्षणीयं । तथैवाक्षेपसमाधानवचनात् वार्तिककारैर्दुःखजातीयत्वात्सर्वेषां पृथगवचनमिति चेन्न कतिपयविशेषसंबंधेन जात्याख्यानात् कथंचिदन्यत्वोपपत्तेश्चेति ।

तिस कारण इस प्रकार यद्यपि संचित असद्वेदनीय कर्म के उदय की अपेक्षा रखने वाले होने से ये शोक, ताप, आदिक सभी दुःख की ही विशेष जातियां हैं अतः सूत्र में दुःख का ग्रहण कर देने से ही सभी दुःख जातियों का संग्रह हो जाता है इन शोक आदिक का पृथक् ग्रहण करना व्यर्थ पड़ता है तथापि विशेष-विशेष मोहनीय कर्म के उदय की अपेक्षा रखने से और उन दुःखों के कतिपय विशेष भेदों के प्रतिपादन स्वरूप प्रयोजन होने से तथा पर्यायार्थिक नय अनुसार निरूपण कर देने की अपेक्षा भेद बन गया होने से सूत्रकार ने शोक आदि का दुःख से पृथक् प्ररूपण कर दिया है। अतः शोक आदि का उच्चारण व्यर्थ है यह बैठेठाले उत्प्रेक्षा नहीं कर लेनी चाहिये, राजवार्त्तिक ग्रन्थ को बनाने वाले श्री अकलंकदेव महाराज ने तिस ही प्रकार आक्षेप का समाधान किया है। राजवार्त्तिक ग्रन्थ की इस प्रकार वार्त्तिक है "दुःखजातीयत्वात् सर्वेषां पृथगवचनमिति चेन्न कतिपयविशेषसम्बन्धेन तज्जात्याख्यानात्" दुःखों की जाति के विशेष होने से सम्पूर्ण शोक आदिकों का पृथक् निरूपण करना व्यर्थ है। श्री अकलंकदेव महाराज कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि दुःख की कितनी ही एक विशेष व्यक्तियों का सम्बन्ध करके उस दुःख जाति का सूत्र में सूचन कर दिया गया है जैसे कि "गौः" कह देने पर यदि कोई भोला पुरुष उन विशेष व्यक्तियों को नहीं समझता है तो उसको समझाने के लिये खण्ड गाय, मुण्ड गाय, धौली गाय आदि कह दिया जाता है। इसी सम्बन्ध में राजवार्त्तिककार की दूसरी वार्त्तिक यह है कि "कथंचिदन्यत्वोपपत्तेश्च" सामान्य से विशेषों का कथंचित् अन्यपना बन रहा है जैसे कि रूपवान् द्रव्य या मूर्त द्रव्य की अपेक्षा मृत्तिका से घट, कपाल आदि विशेष अभिन्न हैं और नियत आकृति और नियत अर्थक्रिया, न्यारी संज्ञा, स्वलक्षण प्रयोजन आदि की अपेक्षा सामान्य मृत्तिका से घट, कपाल, आदि भिन्न हैं तिसी प्रकार सामान्य की अपेक्षा दुःख से आदि अभिन्न हैं तथा प्रतिनियत कारण, नियत विषय, विशेष प्रतिकूलतायें आदि की अपेक्षा साधारण दुःख से असाधारण शोक आदि भिन्न भी हैं अतः सूत्रकार करके शोक आदि का न्यारा प्रतिपादन करना समुचित है।

दुःखादीनां कर्त्रादिसाधनभावः पर्यायिपर्याययोर्भेदोपपत्तेः । तयोरभेदे तावदात्मैव दुःखपरिणामात्मको दुःखयतीति दुःखं, भेदे तु दुःखयत्यनेनास्मिन्वा दुःखमिति, सन्मात्रकथने दुःखनं दुःखमिति ।

यह भी श्री अकलंक देव महाराज का वार्त्तिक है "दुःखादीनां कर्त्रादिसाधनभावः पर्यायिपर्याययोर्भेदाभेदविवक्षोपपत्तेः" दुःख, शोक, आदि शब्दों की कर्ता, कर्म, करण, अधिकरण और भाव में सिद्धि करते हुये उनके वाच्य का सद्भाव जान लेना चाहिये क्योंकि पर्यायवान् और पर्याय के भेद और अभेद की विवक्षा बन रही है। जिस समय पर्यायवान् और पर्याय का अभेद मानना विवक्षित होगा तब तो दुःख परिणति स्वरूप हो रहा आत्मा ही दुःख है। कारण कि चुरादि गण की "दुःखं तत्क्रियायां" धातु से कर्ता में अच् प्रत्यय कर दुःख शब्द को बना लिया गया है। दुःखयति इति दुःखं

जो स्वतंत्रतया तदात्मक होकर दुःख परिणत है वह आत्मा ही दुःख है। हाँ जिस समय पर्यायवान् और पर्याय के भेद की विवक्षा है तब तो दुःख क्रिया जिस करके की जा रही है अथवा दुःख क्रिया जहाँ हो रही है वह दुःख है इस प्रकार करण अथवा अधिकरण में भी अच् प्रत्यय कर दुःख शब्द की सिद्धि कर ली जाती है। "विवक्षातः कारकप्रवृत्तेः" विवक्षा से कारक प्रवर्त्त जाते हैं सुन्दर पुस्तक स्वयं पढ़ती है, पुस्तक को पढ़ता है, पुस्तक करके पढ़ता है, पुस्तक से पढ़ता है, पुस्तक में पढ़ता है। यों विवक्षा अनुसार कारकों की प्रवृत्ति है। विवक्षा भी कारण बिना यों ही अंटसंट नहीं बन बैठती है। नियत प्राणियों में ही अपने पुत्र, पिता, पत्नी, पति, जामाता, गुरु आदि विवक्षा की जा सकती है। मन चाहे जिस किसी में नहीं। विवक्षा के अवलम्ब भिन्न-भिन्न परिणमन हैं। इसी प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से विचारने पर पुस्तक और अध्येता के विशिष्ट परिणमन हैं जिनमें न्यारे-न्यारे कारकों की विवक्षा का योग करा देते हैं दुःख पर्याय और दुःख पर्याय वाले की अभेद विवक्षा और भेद विवक्षा अनुसार कर्तृवाच्य, करणवाच्य, आदिक अर्थों में प्रसिद्ध होरहा दुःख शब्द व्याकरण द्वारा व्युत्पन्न कर लिया जाता है। तथा शुद्ध क्रिया स्वरूप अर्थ के सत्तामात्र का कथन करने पर दुःखनं दुःखं यों भाव में निरुक्ति करते हुये दुःख शब्द को साध लिया जाता है एवं भूत नय जैसे गौ, शुक्ल, जीव, आदि शब्दों के भी अर्थों को गमनात्, शुचिभवनात्, जीवनात्, यों क्रियाओं की ओर ढुलका ले जाती है उसी प्रकार "सन्मात्रं भावलिंगं स्यादसंपृक्तं तु कारकैः, धात्वर्थः केवलः शुद्धो भाव इत्यभिधीयते" यह भाव वाच्य प्रत्यय भी सन्मात्र कहने में शब्द को खींच ले जाती हैं सब की अन्तरंग भित्तियां पदार्थों की सूक्ष्म परिणतियां हैं। किसी अकर्मक धातु से भी कृदन्त में कर्म वाच्य प्रत्यय हो सकते हैं।

शोकादिष्वपि कर्तृकरणाधिकरणभावसाधनत्वं प्रत्येयं।

दुःख शब्द के समान शोक, ताप, आक्रंदन, वध, परिदेवन, आदि शब्दों में भी कर्ता, करण, अधिकरण, और भाव में प्रत्यय कर सिद्धि हो जाना जान लिया जा, अर्थात्—भ्वादिगण की "शुचि शोके" इस धातु से कर्ता में घञ् प्रत्यय कर शोक शब्द को बना लिया जाय। इष्ट वियोग जन्य दुःख विशेष परिणति का स्वतंत्र कर्ता आत्मा शोक है। शोचति इति शोकः एवं शुच्यते अनेन अस्मिन् वा इति शोकः, शोचनमात्रं वा शोकः, यों निरुक्ति भी की जा सकती है। यद्यपि भाव और कर्म का व्याकरण में विरोध सा दिखलाया गया है सकर्मक धातुओं से कर्म में प्रत्यय हो सकते हैं और अकर्मक धातुओं से भाव में प्रत्यय हो सकते हैं "लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः" (पाणिनीय व्याकरणं) तथापि पचनं, गमनं, पठनं, दोहनं, नयनं आदि सकर्मक धातुओं से भी भाव में युट् प्रत्यय लाये गये हैं। इसी प्रकार अकर्मक धातुओं से भी कर्म की विवक्षा होने पर कर्म वाच्य प्रत्यय लाये जा सकते हैं। जब यह नियम कर दिया गया है कि विवक्षाओं अनुसार कर्ता, कर्म, भाव, अधिकरणपन का आरोप होसकता है तो स्याद्वाद सिद्धान्त में कोई दोष ही नहीं आपाता है। ये सब आरोप पदार्थों के अनेक बहिरंग, अन्तरंग, निमित्तों अनुसार हुये सूक्ष्म परिणमनों पर अवलम्बित हैं "यावन्ति पररूपाणि तावन्त्येव प्रत्यात्मं स्वभावान्तराणि तथा परिणामात्"। इसी प्रकार "तप दाहे" या "तप उपतापे" धातु से कर्ता, करण, आदि में घञ् प्रत्यय कर ताप शब्द को साध लिया जाय तथा "क्रदि आह्वाने रोदने च" या "क्रदि वैकलव्ये" धातु से कर्ता आदि अर्थों का द्योतक युट् प्रत्यय कर आक्रन्दन शब्द का निर्वचन कर लिया जाय, एवं भ्वादि गण की "वध" धातु या अदादि गण की "हन हिंसागत्योः" धातु से वध आदेश करते हुये कर्त्ता आदि में वध शब्द को

बना लिया जाय, परि उपसर्ग पूर्वक दिव धातु से कर्त्ता आदि में ल्युट् प्रत्यय कर परिदेवन शब्द साधु सिद्ध कर लिया जाय।

तदेकांतावधारणोऽनुपपन्नमन्यतरैकांतसंग्रहात्। पर्यायैकांते हि दुःखादिचित्तस्य कर्तृत्वसंग्रहः करणादित्वसंग्रहो वा स्यान्न पुनस्तदुभयसंग्रहः। तत्र कर्तृत्वसंग्रहस्तावदयुक्तः करणाद्यभावे तदसंभवात्। मनः करणं संतानोऽधिकरणमित्युभयसंग्रहोऽपि श्रेयान्, कर्तृकाले स्वयमसतः पूर्वविज्ञानलक्षणस्य मनसः करणत्वायोगात् षण्णामनंतरातीतं विज्ञाने यद्धि तन्मन इति वचनात्। संतानो न वस्तु ततोऽधिकरणत्वानुपपत्तेः खरविषाणवत्।

यदि दुःख आदिकों की कर्ता ही या कर्म ही में निरुक्ति कर सिद्धि कर देने के एकान्त का अवधारण किया जावेगा तो अभिप्रेत अर्थ की उपपत्ति नहीं हो सकती है क्यों कि एकान्तवादियों ने पर्याय और द्रव्य आत्मक वस्तु के दोनों अंशों में से एक ही एकान्त का समीचीनतया ग्रहण कर रक्खा है। देखिये केवल पर्याय का ही एकान्त[illegible] दुःख आदि[illegible] चित्त को कर्त्तापने का संग्रह हो सकेगा अथवा दुःख आदि चित्त को करण, अधिकरण, आदिपने का संग्रह हो सकेगा किन्तु फिर उन दोनों का संग्रह तो नहीं हो सकेगा। अब यह विचारना है कि उनमें पहिला कर्तापने का संग्रह करना तो अयुक्त है क्योंकि पर्याय एकान्त में आत्म द्रव्य के विना कर्तापने का संग्रह नहीं हो सकता है। करण आदि का अभाव होने पर उस कर्त्तापने का असम्भव है। बौद्धों के यहाँ क्षणिक पक्ष अनुसार क्षणभंगी पर्यायों में कर्तापन, करणपन आदि अवस्थायें नहीं बन पाती हैं। यदि बौद्ध यों कहें कि मन इन्द्रिय को करण और विज्ञान की सन्तान को अधिकरण मानते हुये यों दोनों का संग्रह हो जायगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह उपपत्ति करना भी श्रेष्ठ नहीं है क्योंकि कर्त्ता कारक के काल में स्वयं अविद्यमान होरहे पूर्वकालीन विज्ञान स्वरूप मन के करणपन का अयोग है। आपने जैनों के भाव मन समान विज्ञान को ही मन माना है। बौद्ध ग्रन्थों में इस प्रकार कथन किया गया है कि छह आयतन या छह विज्ञानों के अव्यवहित पूर्ववर्त्ती जो विज्ञान हैं वह मन है। वैशेषिकों के मनोद्रव्य समान या जैनों के द्रव्यमन समान कोई स्वतंत्र मन पदार्थ बौद्धों के यहाँ नहीं माना गया है अतः मन तो करण हो नहीं सकता है जब कि कर्त्ता के समय में पूर्व क्षणवर्त्ती विज्ञान स्वरूप मन का ध्वंस हो चुका है। दूसरा विज्ञान की सन्तान को जो अधिकरण कहा गया है वह भी ठीक नहीं पड़ता है। क्योंकि सन्तान कोई वस्तुभूत पदार्थ नहीं माना गया है पहिले पीछे मरे हुये मुर्दों की पंक्ति जैसे कोई परमार्थ स्वरूप मनुष्यों की धारा नहीं है तिस कारण खरविषाण के समान अवस्तुभूत सन्तान को अधिकरणपना नहीं बन पाता है।

चक्षुरादिकरणं शरीरमधिकरणमित्यपि न श्रेयस्तस्यापि तत्काले स्थित्यभावात्। यदि पुनर्दुःखादि चित्तं कर्तृ स्वकार्योत्पादने तत्समानसमयवर्ति चक्षुरादिकरणं शरीरमधिकरणं व्यवहारमात्रात्। परमार्थतस्तु न किंचित्कर्तृ करणादि वा भूतिमात्रव्यतिरेकेण भावानां क्रियाकारकत्वायोगात्। भूतिर्येषां क्रिया सैव चोद्यते इति वचनात्। सर्वस्याकर्तृत्वादिव्यावृत्तेरेव कर्तृत्वा-

दिव्यवहारणादिति मतं, तदपि न दुःखादिचित्तस्य कश्चक्षुरादिर्न कर्तुरणाधिकरणे तस्य बहिर्भूत-रूपादिज्ञानोत्पत्तौ करणत्ववचनात् । नापि मनस्तस्य दुःखादिचित्तसमानकालासंभवात् ।

यदि बौद्ध यों कहें कि चक्षु आदिक तो करण हैं दुःख आदि चित्त का अधिकरण शरीर है। आचार्य कहते हैं कि यह कारकों की उपपत्ति करना भी श्रेष्ठ मार्ग नहीं है क्योंकि उन चक्षु आदि या शरीर की भी उस दुःख आदि के काल में स्थिति नहीं है। घट की उत्पत्ति करने में कुछ काल तक ठहरने वाले दण्ड, चक्र, मूसल, ही करण या अधिकरण होते हैं क्षणिक पदार्थ कुछ कार्यकारी नहीं हैं। यदि फिर बौद्धों का यह मन्तव्य होय कि दुःख आदि चित्त ही अपने कार्य उत्पादन करने में कर्त्ता है और उस कर्त्ता के उसी समान समय में वर्त रहे चक्षुआदि करण हैं तथा तत्कालीन क्षणिक शरीर अधिकरण होजाता है। केवल व्यवहार से यों कर्त्ता, करण, अधिकरण भाव हैं पारमार्थिक रूप से विचारा जाय तब तो न कोई कर्त्ता है और न कोई करण, अधिकरण आदि हैं। जैनों के यहाँ भी निश्चय अनुसार कोई भिन्न-भिन्न कारकों की व्यवस्था नहीं मानी गयी है। केवल क्षण-क्षण में होते रहने के सिवाय पदार्थों को क्रिया के कारकपन का अयोग है। हम बौद्धों के यहां ग्रन्थों में ऐसा कथन पाया जाता है कि जिन पदार्थों की क्षण-क्षण में उत्पत्ति होना ही क्रिया है और वही कारक है तथा वह ही उपजना मात्र व्यवहार में अनेक व्यपदेशों से कहा जाता है। नैरात्म्यवादी या अन्यापोहमती बौद्धों के यहाँ अकर्त्तापन, अकरणपन, आदि की व्यावृत्ति का ही कर्त्तापन, करणपन, आदि निर्देशों से व्यवहार किया जाता है। यहां तक कि सभी विद्वानों के यहां अतद्व्यावृत्ति को ही तत् कहा गया है। धनाढ्य का अर्थ "निर्धन नहीं" इतना ही है। नीरोग का अर्थ "अधिक रोगी नहीं" एतावन् मात्र है। घट का कर्त्ता कुलाल है इसका तात्पर्य यही समझा जाय कि कुम्हार घट का अकर्त्ता नहीं है, यों बौद्धों का मन्तव्य होने पर आचार्य कहते हैं कि वह मत भी ठीक नहीं है क्योंकि दुःख आदि चित्त स्वरूप कर्त्ता के चक्षु आदिक तो करण और अधिकरण नहीं हो सकते हैं कारण कि बौद्धों के यहाँ विज्ञान से बाहर होरहे रूप आदि के ज्ञान की उत्पत्ति में उन चक्षु आदि के करणपन का कथन किया गया है। तथा मन भी करण नहीं हो सकता है क्योंकि दुःख आदि चित्त के उसी समान काल में उस अनन्तर अतीत विज्ञान स्वरूप मन का असम्भव है अतः पर्याय का एकान्त करने पर दुःख, शोक, आदि की कर्त्ता करण आदि में निरुक्ति नहीं हो सकती है। पहिले अनुभूत किये गये अर्थ के नष्ट हो चुकने को चिन्त रहे अन्वयी पुरुष के शोक आदिक होते हैं किन्तु क्षणिकवाद में स्मरण होना नहीं सम्भवता है स्मरण नहीं होने से शोक आदिक नहीं हो सकते हैं।

ननु रूपादिस्कंधपंचकस्य युगपद्भावाद्दुःखाद्यनुभवात्मकस्य वेदनास्कंधस्य पूर्वस्य कर्तृत्वमुत्तरदुःखाद्युत्पत्तौ तस्यैव चाधिकरणत्वं सर्वस्य स्वाधिकरणत्वात् । दुःखादिहेतोर्बहिरर्थ विज्ञप्तिलक्षणस्य वेदनास्कन्धस्य चोत्तरात्कार्यात्पूर्वस्य मनोव्यपदेशमर्हतः करणत्वं युक्तमेवेति चेन्न, निरन्वयनष्टस्य कर्तृकरणत्वविरोधात् । स्वकार्यकाले तदनाशे वा क्षणभंगविघातः ।

पुनः बौद्ध अपने पक्ष का अवधारण करते हुये कहते हैं कि रूपस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, विज्ञानस्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, संस्कारस्कन्ध, इन रूप आदि पांचों स्कन्धों की युगपत् उत्पत्ति होती रहती है जब कि

पांच विज्ञानों की धारायें चल रही हैं तो दुःख, शोक, आदि के अनुभव स्वरूप पूर्व समयवर्त्ती वेदना-स्कन्ध को उत्तर समयवर्त्ती दुःख आदि की उत्पत्ति में कर्त्तापन है और उसी वेदनास्कन्ध को दुःख आदि की उत्पत्ति में अधिकरणपना है। सब को स्व में अपना-अपना अधिकरणपना प्राप्त है साथ ही दुःख आदि के हेतु होरहे बहिरंग अर्थ विज्ञान स्वरूप वेदनास्कन्ध को करणपना समुचित ही है जो कि वेदनास्कन्ध उत्तर समयवर्त्ती उस कार्य से पूर्व समय में बर्त रहा संता मन इस नाम निर्देश के योग्य

होरहा है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि अन्वय रहित होकर नष्ट हो चुके वेदना-स्कन्ध के कर्त्तापन और करणपन का विरोध है। उत्तर समयवर्त्ती अपने कार्य के काल में पूर्व समयवर्त्ती उस वेदनास्कन्ध स्वरूप कर्त्ता या करण का नाश नहीं माना जावेगा तब तो बौद्धों के यहां पदार्थों के क्षण में नष्ट हो जाने स्वभाव का भंग होजावेगा जिसको कि बौद्ध कथमपि सहन नहीं कर सकते हैं।

तथैव स्वभावस्य भावस्य स्वात्मैवाधिकरणमित्यप्यसंभाव्यं, शक्तिवैचित्र्ये सति तस्य तदुपपत्तेः तस्याधेयत्वशक्त्याधेयता व्यवस्थितेरधिकरणशक्त्या पुनरधिकरणत्वस्थितिः संवृत्या तदुपपत्तौ परमार्थतो न कर्त्रादिसिद्धिरिति न दुःखादीनां कर्तादिसाधनत्वं।

तिस ही प्रकार स्वभाव या भाव का अधिकरण स्वकीय आत्मा ही है। यह भी बनना बौद्धों के यहाँ असम्भव है। हां भावों की शक्तियों का चित्र विचित्रपना होने पर तो उस भाव का स्वयं अधिक-रणपना बन जाता है क्योंकि अपनी आधेयता रूप शक्ति करके उस भाव का आधेयपना व्यवस्थित होरहा है और अधिकरणपन शक्ति करके फिर अधिकरणपना स्व में व्यवस्थित है। तभी तो कांच पानी को धार लेता है घाम को नहीं। वस्त्र घाम को रोक लेता है; जल को नहीं। स्त्री गर्भ धारण कर लेती है पुरुष नहीं; यों गांठ की वास्तविक परिणति अनुसार आकाश में निज की आधेयत्व और अधिकरणत्व शक्ति करके ही स्व प्रतिष्ठा बन रही है। यदि बौद्ध वस्तु शून्य कोरी कल्पना करके उस आधेयपने या अधिकरणपन की प्रसिद्धि करेंगे तब तो परमार्थ रूप से कर्त्ता आदि की सिद्धि नहीं हो सकी। इस प्रकार बौद्धों के क्षणिकपक्ष में दुःख, शोक, आदि शब्दों की कर्त्ता, करण, आदि में सिद्धि नहीं होसकती है। यहाँ तक अनित्य एकान्त पक्ष में या पर्याय का एकान्त स्वीकार करने पर दुःख आदि शब्दों की निरुक्ति नहीं बन सकी कह दी गयी है। अब नित्यपन के एकान्त का अवधारण करने में दोष उठाते हैं।

नित्यत्वैकांतेऽपि न तत्संगच्छते निरतिशयात्मनः कर्तृत्वानभ्युपगमात्। केनचित्सहकारिणा-ततो भिन्नस्यातिशयस्य करणे तस्य पूर्वाकर्तृत्वावस्थातोऽप्रच्युतेः कर्तृत्वविरोधात्। प्रच्युतौ वा नित्यत्वविघातात् तदभिन्नस्यातिशयस्य करणे तस्यैव कृतेरनित्यतैव स्यात्। कथंचित्तस्य नित्य-तायां परमताश्रयणं दुर्निवारं।

सांख्यमतियों के यहाँ नित्यपन के एकान्त पक्ष में भी वह दुःख, शोक, आदि में कर्त्तापन करण-पन नहीं संगत हो पाता है। क्योंकि शक्तियाँ, स्वभाव, परिणतियाँ स्वरूप अतिशयों से रहित होरहे आत्मा का कर्तापन स्वीकार नहीं किया गया है। क्रिया में स्वतंत्र होकर व्यापार कर रहा पदार्थ कर्त्ता कहा जाता है। अतिशयों से रीता कूटस्थ पदार्थ कथमपि कर्त्ता नहीं हो सकता है। किसी एक सहकारी कारण से उस कर्त्ता में अतिशय किया माना जावेगा, तो प्रश्न उठता है। कि वह अतिशय कर्ता से भिन्न-

किया गया है ? या कर्ता से अभिन्न किया गया है ? प्रथम पक्ष अनुसार सहकारी कारण करके यदि कर्त्ता से भिन्न अतिशय का किया जाना माना जायेगा तो उस कर्त्ता की पूर्ववर्तिनी अकर्त्तापन अवस्था से प्रच्युति नहीं होने के कारण कर्त्तापन का विरोध है। जैसे तटस्थ असंख्य पदार्थ उस कर्त्ता से भिन्न पड़े हुये हैं उसी प्रकार वह नया उपजा अतिशय भी निराला पड़ा रहेगा। पहिले का कूटस्थ अकर्तृपन हट नहीं सकता है। यदि गाँठ के अकर्तृपन की प्रच्युति मानोगे तो उस कूटस्थ आत्मा के नित्यपन का विघात हुआ जाता है। हाँ द्वितीय पक्ष अनुसार सहकारी कारणों करके उस आत्मा से अभिन्न अतिशय का किया जाना माना जायेगा तब तो उस कर्त्ता आत्मा का ही किया जाना होने से आत्मा का अनित्यपना ही हो जावेगा। इन उक्त दोनों दोषों के निवारणार्थ उस आत्मा का कथंचित् नित्यपना इष्ट करोगे तब तो दूसरे स्याद्वादियों के मत का आश्रय पकड़ना कथमपि दुःख से भी निवारणीय नहीं हुआ "अंध सर्पबिल प्रवेश" न्याय से स्याद्वाद की शरण लेना आवश्यक हो जाता है तभी तो कहा गया है "दुःखादीनां कर्त्रादिसाधनभावः पर्यायिपर्याययोर्भेदाभेदोपपत्तेः"।

एतेन प्रधानपरिणामस्य महदादेः करणत्वं प्रत्युक्तं, स्याद्वादानाश्रयणे कस्यचित्परिणामानुपपत्तेः प्रसाधनात् महदादेरधिकरणत्वं कर्मत्वं वा तस्येति विचिंतितं।

इस उक्त कथन करके सांख्यों के यहाँ माने गये प्रधान के परिणाम हो रहे महत्, अहंकार, तन्मात्रायें, आदि का करणपना खण्डित कर दिया गया है कारण कि स्याद्वाद सिद्धान्त का आश्रय नहीं लेने पर किसी भी पदार्थ का परिणाम होना नहीं बनता है। इस को हम कई स्थलों पर भले प्रकार साध-चुके हैं। पूर्व आकार का त्याग और उत्तर आकार का ग्रहण तथा ध्रुवत्व स्वरूप परिणामों की उत्पत्ति होना नित्यानित्यात्मक पदार्थ में बनता है। तिस ही कारण से अर्थात्—अनेकान्त का तिरस्कार कर एकान्त पक्ष पकड़ लेने से सांख्यों के यहाँ उन महत्तत्त्व आदि का अधिकरणपना अथवा कर्मपना नहीं सध सकता है इस बात का भी विशेष रूप से चिंतन कर दिया जा चुका है।

एतेन स्वतो भिन्नानेकगुणस्यात्मनः कर्तृत्वं व्यवच्छिन्नं, नित्यस्यानाधेयाप्रहेयातिशयत्वात्। तत एव न मनसः करणत्वं दुःखाद्युत्पत्तौ सर्वथाप्यनित्यत्वप्रसंगात्। दुःखाधिकरणत्वमप्यात्मनोऽनुपपन्नं पूर्वं तदनधिकरणस्वभावस्यात्यागे तद्विरोधात्, त्यागे नित्यत्वक्षतेः सर्वथापत्तेः। ततोऽनेकात्मन्येवात्मनि दुःखादीनि संसृतौ संभाव्यते नेतरत्र।

इस उपर्युक्त निर्णय करके अपने से सर्वथा भिन्न हो रहे अनेक गुणों वाले आत्मा का भी कर्तापन निरस्त कर दिया गया है क्योंकि कूटस्थ नित्य पदार्थ के (में) नवीन अतिशयों का आधान नहीं होसकता है और पूर्व अतिशयों का परित्याग भी नहीं हो सकता है। अर्थात्—वैशेषिकों के यहाँ सर्वथा नित्य आत्मा के बुद्धि आदि चौदह गुण सर्वथा भिन्न माने गये हैं जब तक आत्मा पूर्व अतिशयों का त्याग कर उत्तर स्वभावों को ग्रहण नहीं करेगा तब तक उसके कर्तापन, करणपन, नहीं बन सकते हैं। परिणामी जल में तो अग्नि का सन्निधान हो जाने पर शीत अतिशय की निवृत्ति और उष्ण अतिशय का प्रादुर्भाव होजाता है। नैयायिक या वैशेषिक के यहाँ आत्मा को परिणामी नहीं माना गया है। तिस ही कारण से दुःख, शोक, आदि की उत्पत्ति में मन भी करण नहीं हो सकता है क्योंकि करण मानने पर

मन को सभी प्रकारों से अनित्यपन का प्रसंग आता है। अनित्य पदार्थ ही पहिली अकरण अवस्था को त्याग कर क्रिया के साधकतमपन अवस्था को ले सकता है तथा कर्तापन या करणपन के समान आत्मा को दुःखों का अधिकरणपना भी नहीं बन पाता है क्योंकि जब तक पहिले के उस दुःख के अधिकरणपन स्वभाव का त्याग नहीं किया जायगा तब तक उस दुःख के अधिकरणपन स्वभाव हो जाने का विरोध है। हां पहिले के अकर्तापन, अकरणपन, अनधिकरणपन, स्वभावों का त्याग माना जायेगा तब तो वैशेषिकों के यहां सर्वथा नित्यपन के नष्ट हो जाने की आपत्ति आजावेगी तिस कारण सिद्ध होजाता है कि नित्यत्व, अनित्यत्व आदि अनेक धर्म आत्मक आत्मा में दुःख आदिक परणतियां संसार अवस्था में सम्भव रही हैं प्रकृति, बुद्धि, या अपरिणामी आत्मा, नित्यात्मा अथवा अन्य जड़ पदार्थों में दुःख, शोक, आदिक परिणाम नहीं सम्भवते हैं।

तान्यात्मपरोभयस्थानि क्रोधाद्यावेशवशाद्भवंति स्वघातनवत् स्वदास्यादिताडनवत् स्वाधमर्णनिरोधकोत्तमर्णवच्च ।

क्रोध, अभिमान आदि के आवेश के वश से स्वयं अपने में, पर में और दोनों में वे दुःख आदिक परिणाम स्थित हो जाते हैं जैसे कि आत्महत्या करने वाले जीव के स्वयं को तीव्र क्रोध हो जाने से अपना घात करना हो जाता है यह स्व में स्थित हो रहे क्रोध का उदाहरण है। क्रोध के आवेश से अपने दासी, भृत्य, आदि का ताड़न कर जैसे दूसरों में दुःख आदि उपजाये जाते हैं वैसे ही अन्य भी परस्थ दुःख आदि हैं यह परस्थ दुःख आदि का उदाहरण है तीसरे उभयस्थ दुःख आदि को यों समझिये कि जैसे अपने अधमर्ण (कर्जदार) को रोक रखने वाला उत्तमर्ण होता है यानी कर्ज देने वाला सेठ कर्ज नहीं चुकाने वाले को देर तक चारक बन्धन (बंदीखाने) में रोक देता है ऐसी क्रिया करने में दोनों को दुःख उपजता है। पाठ को नहीं अभ्यस्त करने वाले उद्दण्ड छात्र को पीटने पर शान्त प्रकृतिक गुरु और शिष्य दोनों को दुःख उपजता है यों "आत्मपरोभयस्थानि" का विवरण कर लेना चाहिये।

असद्वेद्यस्येत्यत्र विद्यादीनामवगमनाद्यर्थत्वादनर्थको निर्देश इति चेन्न, विदेश्चेतनार्थस्य ग्रहणात् विदेश्चेतनार्थे चुरादिस्थात्तस्येदं वेद्यते इति वेद्यं न पुनरवगमनलाभविचारणसद्भावार्थानां वेत्ति-विंदति-विनत्ति-विद्यतीनामन्यतमग्रहणं येनानर्थको निर्देशः स्यात् ।

यहाँ कोई आक्षेप करता है कि असच्च तद्वेद्यं इति असद्वेद्यं यों यहाँ असद्वेद्य शब्द में विदि, विद्लृ आदिक धातुओं के अर्थ अवगमन, लाभ, आदिक हैं इन में से किसी भी अर्थ का संग्रह करनेपर अभीष्ट अर्थ की संगति नहीं मिल सकती है। इस कारण सूत्रकार द्वारा वेद्य शब्द का निर्देश करना निरर्थक है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि चेतन अर्थ में वर्त रही विद धातु का यहां ग्रहण है (इकश्तिपौ धातुनिर्देशे) चेतन अर्थ में वर्त रही विद धातु चुरादि गण की है। उस धातु से ण्यन्त करते हुये कर्म में निरुक्ति कर पुनः कृदन्त में वेद्य शब्द बना लिया जाता है। सातवेदनीय या असातवेदनीय कर्मों का जीवों को संचेतन होता रहता है इस कारण यह वेद्य कर्म है। किन्तु यहाँ फिर विद् अवगमने, विद्लृ लाभे, विद विचारणे, विद् सत्तायां, इन ज्ञान, लाभ, विचारना, सद्भाव अर्थों वाली वेत्ति (अदादिगण) और विन्दति तुदादिगण) विदन्ति या विन्ते रुधादिगण) विद्यते (दिवादिगण) की धातुओं में से किसी एक का भी ग्रहण नहीं है जिससे कि सूत्रकार का निर्देश कर देना व्यर्थ होजाता।

तदसद्वेद्यमप्रशस्तत्वादनिष्टफलप्रादुर्भावकारणत्वाच्च विशेष्यते । असच्च तद्वेद्यं च तदिति ।

जगत् में अनेक प्रकार के दुःखों को देने वाले अप्रशंसनीय पदार्थ से अनिष्ट फलों को उपजाने वाले बहुत प्रकार के कारण हैं। तदनुसार अप्रशस्त होने से और अनिष्ट फलों की उत्पत्ति के कारण होने से वह असात वेदनीय कर्म विशेष-विशेष प्रकार का होजाता है जो असत् यानी अप्रशस्त होरहा सन्ता चेतना करने योग्य है इस कारण वह तो असद्वेद्य है। यों कर्मधारय समास वृत्ति कर लेनी चाहिये।

अत्र सूत्रे दुःखाभिधानमादौ प्रधानत्वात् । तस्य प्राधान्यं तद्विकल्पत्वादितरेषां शोकादीनां । शोकादिग्रहणस्यान्यविकल्पोपलक्षणार्थत्वादन्यसंग्रहः । के पुनस्तेऽन्ये ? अशुभप्रयोगपैशुन्यपरपरिवादाः कृपाविहीनत्वं अंगोपांगछेदनतर्जनसंत्रासनानि । तथा भर्त्सनतक्षणविशसनबंधनसंरोधननिरोधाश्चमर्दनभेदनवाहनसंघर्षणानि तथा विग्रहे रौक्ष्यविधानं परात्मनिंदाप्रशंसने चैव संक्लेशजननमायुर्बहुमानत्वं च सुखलोभात् बह्वारम्भपरिग्रहविश्रंभविघातनैकशीलत्वं पापक्रियोपजीवननिःशेषानर्थदण्डकरणानि तद्दानं च परेषां पापचारिजनैश्च सह मैत्री तत्सेवासंभाषणसंव्यवहाराश्च संलक्ष्याः ।

इस सूत्र में सब के प्रथम दुःख पद का निर्देश करना तो प्रधान होने के कारण हुआ है क्योंकि उस दुःख से न्यारे कहे गये शोक आदिक तो उसी दुःख के भेद प्रभेद हैं। अतः दुःख ही आदि में प्रधान बोला जाता है। हाँ शोक आदि का ग्रहण करना तो दुःख के अन्य संग्रहीत विकल्पों का उपलक्षण या ग्रहण करने के लिए है। इस कारण अनुपातों का भी संग्रह होजाता है। दुःख के वे अन्य भेद प्रभेद फिर कौन से हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यों समझिये कि अशुभ क्रियाओं का प्रयोग करना, पैशुन्य (चुगली) करना, दूसरों की निन्दा तिरस्कार करना, कृपा से रहितपना, अंग या उपांगों का छेदना, ताड़ना, अधिक त्रास देना तथा डरावना, कुत्सित प्रभाव डालना, छीलना, काटना, बांधना, खूब रोक देना, जाने आने में विघ्न डालना, आदि करके मर्दन करना, भेदना, लादना, मार घसीटना, आदि हैं यथा शरीर में रूखापन लाना या लड़ाई करते हुये प्रकृति में रूखापन ले आना परायी निन्दा और अपनी प्रशंसा ही किये जाना एवं संक्लेश उपजावना, आयु को बहुत मानना तथैव सुख के लोभ से बहुत आरम्भपरिग्रह रखना विश्वास को विघात करने की एक टेव रखना, पाप क्रियाओं से आजीविका चलाना, सम्पूर्ण अनर्थदण्डों को किये जाना तथा उन पापोपदेश आदि को दूसरों के लिये अर्पण करना, उन पापाचारियों की सेवा करना, पापियों के साथ सम्भाषण करना, और अधिक व्यवहार से भले प्रकार पहिचानने योग्य क्रियाओं का सेवन करना इत्यादि बहुत सी कुत्सित क्रियाओं का शोक आदि पदों द्वारा उपलक्षण हो जाता है।

ते एते दुःखादयः परिणामाः स्वपरोभयस्थाः असद्वेद्यस्य कर्मण आस्रवाः प्रत्येतव्याः । प्रपंचतोऽन्यत्र तदभिधानात् ।

वे सब ये दुःख शोक आदिक परिणाम यदि स्व में दूसरे में अथवा दोनों में स्थित हो जाते

हैं तो असातवेदनीय कर्म के आस्रव होते हैं ऐसा विश्वास कर लेना चाहिये। इस प्रकरण का विस्तार से निरूपण अन्य ग्रन्थों में यहाँ वहाँ कह दिया है।

अथ दुःखादीनामसद्वेद्यास्रवत्वं किमागममात्रसिद्धमाहोस्विदनुमानसिद्धमपीत्याशंकायामस्यानुमानसिद्धत्वमादर्शयति।

इस के अनन्तर अब यहाँ किसी की आशंका उठती है कि दुःख शोक आदिक ये असद्वेदनीय कर्मके आस्रव हैं, क्या यह मन्तव्य केवल जैनों के आगम प्रमाण से ही सिद्ध है? अथवा क्या अनुमान प्रमाण से भी सिद्ध है? बताओ। इस प्रकार आशंका होने पर ग्रन्थकार इस मत की अनुमान से सिद्धि होजाने को दिखलाते हैं।

दुःखादीनि यथोक्तानि स्वपरोभयगानि तु।
आस्रावयंति सर्वस्याप्यसातफलपुद्गलान् ॥१॥
तज्जातीयात्मसंक्लेशविशेषत्वाद्यथानले।
प्रवेशादिविधायीनि स्वसंवेद्यानि कानिचित् ॥२॥

सर्वज्ञ आम्नाय अनुसार यथा उक्त चले आये सूत्र में कहे गये एवं स्वयं पर और उभय में प्राप्त होरहे दुःख शोक आदिक तो (पक्ष) असाता फल वाले पुद्गलों का आस्रव कराते हैं (साध्य) उस-उस दुःख आदि जाति वाले आत्मसंक्लेश विशेष के होने से (हेतु) हम आदि के स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा जाने गये कोई-कोई दुःख आदिक जिस प्रकार अग्नि में प्रवेश करना, मुरस जाना, जल मरना आदि क्रियाओं को करा देते हैं (अन्वयदृष्टान्त) यह बात सभी दार्शनिकों या लौकिक जनों के यहाँ प्रसिद्ध है यों अनुमान प्रमाण से साध दिया गया है।

दुःखमात्मस्थमसातफलपुद्गलास्रावि दुःखजातीयात्मसंक्लेशविशेषत्वात् पावकप्रवेशकारिप्रसिद्धदुःखवत्। तथा परत्र दुःखमसातफलपुद्गलास्रावि तत एव तद्वत्, तथोभयस्थं दुःखं विवादापन्नमसातफलपुद्गलास्रावि तत एव तद्वत्। एवं शोकतापाक्रंदनवधपरिदेवनान्यात्मपरोभयस्थान्यसातफलपुद्गलास्रावीण्युत्पादयितुर्जीवस्य दुःखजातीयात्मसंक्लेशविशेषत्वाद्विषभक्षणादिविधायिशोकतापाक्रंदनवधपरिदेवनवत् इत्यष्टादशानुमानानि प्रतिपत्तव्यानि।

उक्त कारिकाओं की टीका इस प्रकार है कि अपने में स्थित होरहा दुःख (पक्ष) असात फल वाले पुद्गलों का आस्रव कर्ता है (साध्यदल) दुःख की जाति वाला विशेष आत्म संक्लेश होने से (हेतु) अग्नि में प्रवेश कराने वाले प्रसिद्ध होरहे स्वकीय दुःख के समान (अन्वयदृष्टान्त)। भावार्थ—स्व तीव्र दुःख हो जाने पर जैसे कोई आत्मघाती पुरुष अग्नि में प्रवेश कर चारों ओर से अग्नि का आस्रव कर लेता है उसी प्रकार स्वयं को दुःख उपजा कर आत्मा संक्लेश विशेष होने के कारण असातवेदनीय कर्म का आस्रव कर्त्ता है यह आत्मस्थ दुःख करके असातवेदनीय के आस्रव को साधने वाला पहिला अनुमान

हुआ है। तिस ही प्रकार दूसरों में किया गया दुःख (पक्ष) प्रतिकूलवेदना स्वरूप फल को धारने वाले पुद्गलों का आस्रव कराता है (साध्य) तिस ही कारण से यानी पर को दुःख उपजाने की जाति वाले विशेष आत्मसंक्लेश के होने से (हेतु) उसी के समान अर्थात्—दूसरों को आग में प्रवेश कराने वाले लोक प्रसिद्ध हो रहे दुःख के समान (अन्वय दृष्टान्त) यह दूसरा अनुमान हुआ। तथा उभय यानी स्व और पर दोनों में तिष्ठ रहा दुःख (पक्ष) विवाद में प्राप्त होरहे असात फल वाले पुद्गलों का आस्रावक है (साध्य) तत एव अर्थात्—स्व पर दुःख को उपजाने की जाति वाले विशेष आत्मीय संक्लेश होने से (हेतु) उसी के समान भावार्थ—स्व, पर, दोनों के अग्नि में प्रवेश कराने वाले प्रसिद्ध दुःख के समान (अन्वयदृष्टान्त)। यह तीसरा अनुमान हुआ। यों उक्त तीन अनुमानों से स्वस्थ, परस्थ, और उभयस्थ दुःखों में प्र[illegible] स्वस्थ, परस्थ, और उभयस्थ होरहे शोक, ताप, आक्रन्दन, वध, परिदेवन (पक्ष) शोक आदि को उपजाने वाले जीव के असातफल वाले पुद्गलों का आस्रव कराते हैं (साध्य) दुःख की शोक आदि जातिवाले विशेष आत्म संक्लेश होने से (हेतु) विष खा लेना, शस्त्र मार लेना, आग लगा देना आदि क्रियाओं को कराने वाले शोक, ताप, आक्रन्दन, वध, परिदेवन के समान (अन्वयदृष्टान्त) इस प्रकार अठारह अनुमान समझ लेने चाहिये। अर्थात्—तीन अनुमान तो पूर्व में प्रकट कर दिये गये हैं—१स्वस्थ शोक २ परस्थ शोक ३ उभयस्थशोक ४ स्वस्थ ताप ५ परस्थताप ६ उभयस्थ ताप ७ स्वस्थ आक्रन्दन ८ परस्थ आक्रन्दन ९ उभयस्थ आक्रन्दन १० स्वस्थवध ११ परस्थवध १२ उभयस्थ वध १३ स्वस्थ परिदेवन १४ परस्थ परिदेवन १५ उभयस्थपरिदेवन इन पन्द्रहों को पक्ष कर उक्त साध्य, हेतु, दृष्टान्त, देते हुये पन्द्रह अनुमान बना कर आगम सिद्ध प्रमेय की प्रतिवादियों के सन्मुख अनुमानों से सिद्धि कर दी गयी है। अब भले ही वे व्यभिचार, आदि दोष उठावें उनको अवसर दिया जाता है किन्तु निर्दोष अनुमानों में कोई क्या दोष लगायेगा ? नहीं। प्रत्युत प्रसन्न होगा।

न तावदत्र दुःखजातीयात्मसंक्लेशविशेषत्वं साधनमसिद्धं । क्रोधादुपनीतदुःखादीनां विशुद्धिरिति विरोधिनां दुःखजातीयात्मसंक्लेशविशेषत्वप्रसिद्धेः । नाप्यनैकांतिकं तीर्थकराद्युत्पादितकायक्लेशादिदुःखेन स्वपरोभयस्थेनाप्यसातफलपुद्गलानास्रवणादिति न मंतव्यं, तस्य तज्जातीयत्वादात्मसंक्लेशविशेषत्वासिद्धेः । तत एव न तीर्थकरोपदेशविरोधात् दुःखादीनामसद्वेद्यास्रवत्वायुक्तिः, सर्वेषां स्वर्गापवर्गसाधनानां दुःखजातीनां पापास्रवत्वप्रसंगात् । तपश्चरणाद्यनुष्ठायिनो द्वेषाद्यभावाच्च ।

इस अनुमान में कहा गया दुःख जाति वाला आत्म संक्लेश विशेष हो जाना हेतु असिद्धहेत्वाभास तो नहीं है क्योंकि क्रोध से चला कर प्राप्त कराये गये दुःख आदिकों को दुःखजातीय आत्म संक्लेश विशेषपना प्रसिद्ध है जो कि विशुद्धि इस आत्मीय स्वभाव के विरोधी हो रहे दुःख, शोक, आदि हैं। भावार्थ—कषाय प्रयुक्त हुये दुःख, आदिक सब आत्मा की विशुद्धि के विरोधी हैं अतः वे संक्लेश विशेष हैं यों पक्ष में हेतु ठहर गया। तथा उक्त हेतु व्यभिचारी भी नहीं है कारण कि विपक्ष में हेतु के ठहर जाने का निश्चय नहीं है संदेह भी नहीं है। यदि यहाँ कोई यों मान बैठे कि तीर्थंकर भगवान् स्वयं तपश्चरण करते हुये अपने में दुःख उपजाते हैं अन्य दीक्षा लेने वालों को नग्नता, केश उपाटना, उपवास आदि के उपदेश देकर दुःख उपजाते हैं, आचार्य महाराज या पण्डित जी आदि स्वयं

यम, नियम, कायक्लेश करते हुये दूसरों को भी उन क्रियाओं में प्रवर्ताते हैं अतः स्व पर और उभय में स्थित होरहे भी इन तीर्थंकर, आचार्य, आदि द्वारा उपजाये गये कायक्लेश, केशलुंच, आदि दुःखों करके असातफल वाले पुद्‌गलों का आस्रव नहीं होपाता है यों हेतु के रहते हुये भी साध्य का नहीं ठहरना होने से व्यभिचार प्राप्त हुआ। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं मान बैठना चाहिये क्योंकि कायक्लेश, दीक्षा आदि के उस दुःख की वह जाति ही नहीं है जो कषाय प्रयुक्त दुःखों की है अतः वे दुःख आत्मा के संक्लेश विशेष ही सिद्ध नहीं हैं। वस्तुतः विचार किया जाय तो कायक्लेश, इन्द्रियदमन, आदि ये दुःख ही नहीं हैं तिस ही कारण से उन क्रियाओं द्वारा पाप कर्म का आस्रव नहीं होपाता है अन्यथा तीर्थंकर महाराज के उपदेश देने के विरोध होजाने का प्रसंग आजावेगा। सभी दार्शनिकों के यहाँ दीक्षा, ब्रह्मचर्य, दान, उपवास, आदि का [illegible] केशलुंचन, कायक्लेश, आदि में कोई द्वेष नहीं है अतः ऐसे दुःख आदिकों के द्वारा असातवेदनीय के आस्रव होने का अयोग है। रोगी को वैद्य अन्न नहीं खाने देता है, डाक्टर फोड़ा को चीरता है, शिष्य को गुरु ताड़ता है इन अनुष्ठानों में संक्लेश विशेष नहीं है। समाधिमरण कराने वालों को पाप नहीं लगता है। अन्यथा सभी वादी प्रतिवादियों के यहां माने गये स्वर्ग या मोक्ष के साधनों को पाप के आस्रव होजाने का प्रसंग आजावेगा, देवपूजा, अकामनिर्जरा, संयमासंयम, दीक्षा, गुप्तिपालन आदि साधन एक प्रकार से दुःख की जाति वाले भास रहे हैं किन्तु हैं नहीं। दूसरी बात यह है कि तपश्चरण, कायक्लेश, उपवास आदि का अनुष्ठान करने वाले जीव के द्वेष, क्रोध, आदि संक्लेशों का अभाव है। वस्तुतः तप आदि तो अनुकूल वेदनीय हैं। चिरकाल से पुत्र की अभिलाषा रखने वाली स्त्री को गर्भ वेदना बुरी नहीं लगती है इसी प्रकार भव्य को मुक्ति की लिप्सा लग रही है।

आहितप्रसादत्वाच्च दुष्टा प्रसन्नमनसामेव स्वपरोभयदुःखाद्युत्पादने पापास्रवत्वसिद्धेः। "ग्रामे पुरे वा विजने जने वा प्रासादशृंगे द्रुमकोटरे वा। प्रियांगनांकेऽथ शिलातले वा मनोरतिं सौख्यमुदाहरंति॥" इति। न च मनोरत्यभावे बुद्धिपूर्वः स्वतंत्रः कश्चित्तपःक्लेशमारभते, विरोधात्। ततो न प्रकृतहेतोः तपश्चरणादिभिर्व्यभिचारः सर्वसंप्रतिपत्तेः। परेषामसद्वेद्यादीनामनिराकरणाच्च निरवद्यं दुःखादीनामसद्वेद्यास्रवत्वसाधनं।

एक बात यह भी है कि तपश्चरण आदि में मुनि को संक्लेश नहीं होकर प्रत्युत आत्मा के स्वाभाविक प्रसाद की प्राप्ति होती है अतः पापों का आस्रव नहीं होता है हां दुष्ट और अप्रसन्नमन वाले जीवों के ही स्व पर और उभय को दुःख, शोक आदि के उपजाने में पापों का आस्रव होना सिद्ध है। लोक में भी यह बात प्रसिद्ध है कि चाहे गांव में रहे चाहे नगर में, अथवा निर्जन एकान्त में रहे, या जनाकीर्ण स्थान में रहे एवं महलों की शिखरों पर बनी हुयी अट्टालिकाओं में रहे चाहे वृक्ष के पोले कोटर में रहे तथा भले ही कोई प्रियस्त्रियों की गोद में ठहरे अथवा शिलातल पर आसन जमावे जहां कहीं मानसिक रति है वहां ही सुख बखाना जाता है। इस पद्य में शृंगार और वैराग्य के बहिर्भूत साधनों की उपेक्षा कर मानसिक लगन को ही सुख माना गया है। वस्तुतः विचारा जाय तो राग या प्रेम अवस्था में सुख की कल्पना कर वैराग्य सम्बन्धी सुख के साथ उसकी तुलना करना युक्त नहीं है। प्रकरण में केवल इतना ही कहना है कि जिस प्रकार दुःखों से पीडित होरहे संसारी जीवों की जहां मानसिक

प्रीति है वहां ही सुख है उसी प्रकार उपवास, केशलौंच आदि क्रियाओं को कर रहे मुनि के मानसिक आनन्द का सन्निधान है अतः दुःखादि नहीं हैं। तभी तो कभी-कभी उक्त शुभ क्रियाओं में यदि क्रोध आदि प्रमाद हो जाये तो प्रायश्चित्त का विधान करना पड़ता है अतः तपश्चरण आदि करने में साधुओं के विशुद्ध मानसिक अनुराग है। मानसिक रति के बिना कोई भी स्वतंत्र जीव बुद्धि पूर्वक क्रियाओं को कर रहा सन्ता कहीं भी कायक्लेश का आरम्भ नहीं करता है क्योंकि विरोध है। जहां मानसिक प्रेम नहीं है वहां स्वतंत्र पुरुष को बुद्धि पूर्वक कोई क्रिया ही नहीं है और जहां बुद्धि पूर्वक क्रिया है वहां मानसिक अनुराग अवश्य है अतः मनोरत्यभाव का तपःक्लेश आदि क्रियाओं के साथ विरोध है। तिस कारण प्रकरण प्राप्त आत्म संक्लेश विशेषत्व हेतु का तपश्चरण कायक्लेश आदिकों करके व्यभिचार नहीं आता है। सभी लौकिक या दार्शनिक विद्वानों के यहां उक्त सिद्धान्त की समीचीन प्रतिपत्ति होरही है। दूसरों के यहां भी दुःख, शोक, आदि क्रियाओं से असद्वेद्य आदि कुफल वाले पुद्गलों के आस्रव होने का निराकरण नहीं किया गया है अतः इस अन्वयदृष्टान्त द्वारा भी दुःख, शोक, आदिकों के द्वारा असद्वेद्य के आस्रव होने को साधना निर्दोष है।

असातवेदनीय कर्म का आस्रव कराने वाले हेतुओं को कहा अब सद्वेद्य के आस्रावक कौन हैं ? ऐसी जिज्ञासा होने पर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

भूतव्रत्यनुकंपादानसरागसंयमादियोगः क्षांतिः शौचमिति सद्वेद्यस्य ॥१२॥

भूत यानी प्राणीमात्र और विशेष रूप से व्रती जीवों में अनुकम्पा करना तथा अनुकम्पा पूर्वक दान करना एवं राग सहित संयम पालना आदि यानी संयमासंयम धारण करना, अकाम निर्जरा करना, बाल तप करना इन तीन का आदि पद से ग्रहण करना और योग धारना, क्षमा पालना, निर्लोभ होकर शौच धर्म सेवना, इस प्रकार की शुभ क्रियायें तो सातवेदनीय कर्म का आस्रव कराती हैं।

आयुर्नामकर्मोदयवशाद्भवनाद्भूतानि सर्वप्राणिन इत्यर्थः। व्रताभिसंबंधिनो व्रतिनः सागारानगारभेदाद्वक्ष्यमाणाः। अनुकंपनमनुकंपा। भूतानि च व्रतिनश्च भूतव्रतिनः तेषामनुकम्पा भूतव्रत्यनुकंपा। 'साधनं कृता बहुल'मिति वृत्तिः गले चोपकवत् मयूरव्यंसकादित्वाद्वा।

आयुःकर्म और नाम कर्म के उदय की अधीनता से जो उन-उन गतियों में उपजते रहते हैं वे भूत हैं इसका अर्थ सम्पूर्ण संसारी प्राणी हैं। अणुव्रतों का और महाव्रतों का सब ओर से सम्बन्ध रखने वाले प्राणी व्रती हैं जो कि सागार-अनगार के भेद से "अगार्यनगारश्च" इस सूत्र द्वारा दो प्रकार के कहे जाने वाले हैं। पराई पीड़ा को मानू अपने में ही कर रहे दयालु पुरुष की अनुकम्पा को यहाँ अनुकम्पा समझा जाय। भूतों और व्रतियों यों इतरेतर द्वन्द्व समास कर "भूतव्रतिनः" पद बना लेना चाहिये, उन भूतव्रतियों के ऊपर जो अनुकम्पा भाव है वह भूतव्रत्यनुकम्पा है यहाँ "साधनं कृता बहुलं" इस सूत्र द्वारा तत्पुरुष समास किया गया है। जिस प्रकार कि गले में चोपक (रोग विशेष) ऐसा विग्रह कर तत्पुरुष समास कर लिया जाता है। राजवार्तिक या सर्वार्थसिद्धि में यहाँ सप्तमी तत्पुरुष किया गया है।

किन्तु इस ग्रन्थ में षष्ठी तत्पुरुष है फिर भी "साधनं कृता बहुलं" इस सूत्र द्वारा वृत्ति करने में गलने वोषक दृष्टान्त प्रतिकूल नहीं पड़ता है। अथवा "मयूरव्यंसकादयश्च" इस सूत्र द्वारा समास कर लिया जाय मयूरव्यंसक आदि में आकृति गण होने से "भूतव्रत्यनुकंपा" भी पढ़ दिया गया है।

स्वस्य परानुग्रहबुद्ध्यातिसर्जनं दानं वक्ष्यमाणं, सांपरायनिवारणप्रवणो अक्षीणाशयः सरागः, प्राणींद्रियेष्वशुभप्रवृत्तेर्विरतिः संयमः सरागो वा संयमः स आदिर्येषां ते सरागसंयमादयः। संयमासंयमाकामनिर्जराबालतपसां वक्ष्यमाणानामादिग्रहणादवरोधतः। निरवद्यक्रियाविशेषानुष्ठानं योगः समाधिरित्यर्थः। तस्य ग्रहणं कायादिदंडभावनिवृत्त्यर्थं। भूतव्रत्यनुकंपा च दानं च सरागसंयमादयश्चेति द्वंद्वः तेषां योगः। धर्मप्रणिधानात्क्रोधादिनिवृत्तिः क्षांतिः क्षमू सहने इत्यस्य दिवादिकस्य रूपं। लोभप्रकाराणामुपरमः शौचं, स्वद्रव्यात्यागपरद्रव्यापहरणसांन्यासिकनिह्नवादयो लोभप्रकाराः तेषामुपरमः शौचमिति प्रतीताः। इतिकरणः प्रकारार्थः।

दूसरों के ऊपर अनुग्रह बुद्धि करके अपनी निज वस्तु का त्याग करना दान है जो कि आगे विस्तार से कह दिया जायगा। दसमें गुणस्थान तक यद्यपि कषाय नष्ट नहीं हुये हैं अतः वह क्षीणकषाय नहीं है फिर भी साम्पराय कषायों का निवारण करने में उद्युक्त होरहा है वह पुरुष सराग है। प्राण संयम और इन्द्रिय संयम को पालते हुये जीव की प्राणी और इन्द्रियों में जो अशुभ प्रवृत्ति का विराम है वह संयम है। सराग जीव का संयम अथवा सराग स्वरूप जो संयम है वह सराग संयम है। वह सराग संयम जिनके आदि में है वे अनुष्ठान सरागसंयम आदिक हैं यहाँ। आदि पद के ग्रहण से भविष्य में कहे जाने वाले संयमासंयम अकामनिर्जरा बालतपस्या का अवरोध है यानी धर लिये जाते हैं। जिस सम्यग्दृष्टि के त्रस वध का त्याग है और स्थावर वध का त्याग नहीं है वह उसका संयमासंयम है। अपने अभिप्रायों से विषयों का त्याग नहीं करने वाले जीव के परवश होकर भोगों का निरोध होना या साम्य भावों से क्लेशों को सहना अकामनिर्जरा है। अज्ञानी यानी मिथ्यादृष्टी जीवों का अग्नितप, ऊंचा हाथ उठाये रखना आदिक बालतप हैं, निर्दोष क्रिया विशेषों का अनुष्ठान करना योग है। इसका अर्थ समाधि है जो कि भले प्रकार चित्त की एकाग्रतास्वरूप है। काय, वचन आदि के उद्दण्ड भावों की निवृत्ति के लिये उस योग का ग्रहण है। भूतव्रतियों पर अनुकम्पा और दान तथा सरागसंयम आदिक यों इतरेतरद्वन्द्व कर उनका योग यों षष्ठी तत्पुरुष वृत्ति कर ली जाय। धर्म अनुष्ठानों में चित्त की एकाग्रता हो जाने से क्रोध आदि की निवृत्ति हो जाना क्षांति है यह भ्वादिगण में पढ़ी हुई क्षमूष सहने धातु से नहीं बना है किन्तु दिवादिगण में पढ़ी गयी क्षमू सहने इस धातु का बना हुआ क्षांति यह रूप है, नहीं तो ष इत् हो जाने के कारण अङ् प्रत्यय हो जाने से क्षमा पद बन जाता। लोभ के भेद प्रभेदों का परित्याग करना शौच है। मोह के वश होकर अपने द्रव्य को नहीं त्यागना और पराये द्रव्य को हड़पना तथा दूसरों के संन्यास ले जाने पर उनकी धरोहर को पा लेना, न्यासापहार करना आदिक लोभ के प्रकार हैं। उन लोभ के प्रकारों की विरक्ति हो जाना शौच है। इस प्रकार ये सब को प्रतीत हो रहे हैं। प्रकार, हेतु, सम्पूर्णता आदि कितने ही अर्थों में इतिशब्द का प्रयोग आता है। किन्तु यहाँ इति शब्द का प्रयोग करना प्रकार अर्थ में अभिप्रेत है। इस प्रकार के अन्य भी शुभ अनुष्ठान सद्वेदनीय कर्म का आस्रव कराते हैं।

वृत्तिप्रयोगप्रसंगो लघुत्वादिति चेन्न, अन्योपसंग्रहार्थत्वात् तदकरणस्य। इति करणानर्थक्यमिति चेन्न, उभयग्रहणस्य व्यक्त्यर्थत्वात्।

यहाँ कोई शंका उठाता है कि संयमादि योग और क्षान्ति तथा शौच यों द्वन्द्व वृत्ति करते हुये "भूत[illegible] ऐसे प्रयोग का प्रसंग होना चाहिये। इसमें लाघव गुण है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि उस समासवृत्ति का नहीं करना तो अन्य प्रकारों का संग्रह करने के लिये है। जैसे कि किसीने अपने भृत्य को आज्ञा दी कि जल ले आना, फल ले आना, भोजन लाना यों पृथक्-पृथक् कहने से सुपारी, इलायची आदि लाने का संग्रह हो जाता है। यदि जल, फल, भोजन, ले आवो यों मिलाकर कह दिया जाता तो इलायची, ताम्बूल आदि का संग्रह नहीं हो पाता। ऐसी दशा में पुनः शंका उठती है कि तब तो इति पद का प्रयोग करना व्यर्थ पड़ा क्योंकि समास नहीं करने से ही अन्य प्रकारों का संग्रह हो गया जो कि प्रयोजन इति पद द्वारा साधा गया था, आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि अभिप्रेत अर्थ को और भी अभिव्यक्त करने के लिये दोनों का ग्रहण किया गया है "द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति"। स्वतंत्र आचार्य महाराज किसी विषय की अधिक पुष्टि करते हुये उसको दो बार कहते हैं। आचार्य महाराज के चरण कमलों में भक्ति रखने वाले मुझ भाषाटीकाकार ने भी कितने ही स्थलों पर दो दो, तीन तीन बार उसी प्रमेय को कहा है। भले ही विद्वानों को उसमें वैयर्थ्य जचते हुये अरुचि होय फिर भी स्थूल बुद्धि वाले श्रोताओं के हितलाभ का विचार रखते हुये उसी प्रमेय को दो बार, तीन बार लिखना पड़ा है।

के पुनस्ते गृह्यमाणा इत्युपदर्शयामः। "अर्हत्पूजापरता वैयावृत्त्योद्यमो विनीतत्वं। आर्जवमार्दवधार्मिकजनसेवामित्रभावाद्याः"। भूतग्रहणादेव सर्वप्राणिसंप्रतिपत्तेर्व्रतिग्रहणमनर्थकमिति चेन्न,प्रधानख्यापनार्थत्वाद्व्रतिग्रहणस्य नित्यानित्यात्मकत्वेऽनुकम्पादिसिद्धिर्नान्यथा। सोऽयमशेषभूतव्रत्यनुकंपादिः सद्वेद्यस्यास्रवः। कुतो निश्चीयत इति युक्तिमाह—

असमास और इति पद करके ग्रहण किये गये वे अन्य प्रकार फिर कौन से हैं? इस प्रश्न के उत्तर में हम यों उन प्रकारों को पद्य द्वारा दिखलाते हैं-"श्री अरहंत देव भगवान् की पूजा करने में तत्पर रहना, बाल, वृद्ध, तपस्वियों की वैयावृत्य करने में उद्यत रहना, विनय सम्पत्ति रखना, मायाचार का त्याग करते हुये परिणामों में सरलता रखना, अभिमान नहीं करना, धार्मिक जनों की सेवा करना, सब जीवों से मित्रभाव रखना, परोपकार करना, आदि का परिग्रहण हो जाता है। यहाँ कोई शंका पुनः उठाता है कि भूतका अर्थ जगत् के यावत् प्राणी हैं अतः भूत शब्द का ग्रहण करने से ही सम्पूर्ण प्राणियों की अच्छी प्रतिपत्ति हो जाती है। फिर सूत्र में व्रती शब्द का ग्रहण करना व्यर्थ पड़ता है। सामान्य तो सभी विशेषों में व्यापता है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना कारण कि भूतों में व्रतियों की प्रधानता को प्रसिद्ध कराने के लिये सूत्र में पृथक् रूप से व्रती का कथन किया है। भूतों में जो अनुकम्पा है उसमें व्रतियों के ऊपर अनुकम्पा करना प्रधान है। सामान्य रूप से सिद्ध होते हुये भी प्रधानता प्रकट करने के लिये विशेष का पुनः प्रयोग कर दिया जाता है। जैन सिद्धान्त अनुसार पदार्थों के कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य आत्मक होने पर अनुकम्पा, दान, आदि अनुष्ठानों की सिद्धि हो सकती है अन्यथा नहीं। अर्थात्—दया करने वाला या दयापात्र एवं दाता या दानपात्र ये दोनों युगल अथवा सरागसंयम

आदि करने वाले जीव ये स्यात् नित्य अनित्य आत्मक होते हुये परिणामी हैं अदाता अवस्थाको छोड़कर दाता परिणाम को ले रहा अन्वित आत्मा ही दाता हो सकता है। यही प्रक्रम पात्र और संयमी आदि में लगा लेना। कूटस्थ नित्य अथवा क्षणिकैकान्त पक्ष में अनुकम्पा आदिक नहीं सम्भवते हैं। आत्मा को सर्वथा नित्य माना जाय तो विक्रिया नहीं होने के कारण परिणति नहीं हो सकती है, कोई दाता भी नहीं बन सकता है। इसी प्रकार आत्मा को क्षणिक मानने पर अन्वितपना नहीं होने के कारण अनुकम्पा, दान, स्वर्ग प्रापण, आदि नहीं घटित होते हैं किन्तु द्रव्यरूप से नित्यत्व को ग्रहण कर रहे और पर्यायरूप से अनित्यता को प्राप्त हो रहे जीव के अनुकम्पा आदि परिणतियां घटित हो जाती हैं यों ये प्रसिद्ध हो रहे भूतव्रत्यनुकम्पा आदिक सभी सद्वेद्य कर्म के आस्रव हैं। यहाँ कोई पूंछता है कि इस सूत्रोक्त सिद्धान्त का किस प्रमाण से निश्चय कर लिया जाता है ? बताओ। यों ही कथन मात्र से तो चाहे जिस किसी भी प्रमेय की सिद्धि नहीं हो सकती है इस प्रकार तार्किकों की जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिकों द्वारा समीचीन युक्ति को स्पष्ट कह रहे हैं।

भूतव्रत्यनुकम्पादि सातकारणपुद्गलान्।
जीवस्य ढौकयत्येवं विशुद्धयङ्गत्वतो यथा ॥१॥

पथ्यौषधावबोधादिः प्रसिद्धः कस्यचिद्द्वयोः।
सदसद्वेद्यकर्माणि तादृशान् पुद्गलानयं ॥२॥

भूत या व्रतियों में जीव के द्वारा किये गये अनुकम्पा, दान, आदिक (पक्ष) सात सुख के कारण हो रहे पुद्गलों का जीव के निकट गमन करा देते हैं (साध्यदल) इस प्रकार पुण्यास्रव का कारण हो रही विशुद्धि का अङ्ग हो जाने से (हेतु) जिस प्रकार कि प्रसिद्ध हो रहे पथ्य भोजन, औषधि, परिज्ञान, आदिक पदार्थ किसी-किसी जीव के कल्याण कारक पुद्गलों का आस्रव करा देते हैं। यह सिद्धान्त लौकिक परीक्षक, या वादी प्रतिवादी दोनों के यहाँ प्रसिद्ध है। यह जीव भी तिस प्रकार के सुख, दुःख फलवाले सातवेदनीय और असातावेदनीय कर्म स्वरूप पुद्गलों का आस्रव करता रहता है।

यथा दुःखादीनि स्वपरोभयस्थानि संक्लेशविशेषत्वाद् दुःखफलानास्रावयन्ति जीवस्य तथा भूतव्रत्यनुकम्पादयः सुखफलान् विशुद्धयंगत्वादुभयवादिप्रसिद्धपथ्यौषधावबोधादिवत्। ये ते तादृशा दुःख-सुखफलास्ते असद्वेद्यकर्मप्रकृतिविशेषाः सद्वेद्यकर्मप्रकृतिविशेषाश्चास्माकं सिद्धाः कार्यविशेषस्य कारणविशेषाविनाभावित्वात् ॥

स्व, पर, और उभय, में स्थित हो रहे दुःख आदिक जिस प्रकार संक्लेश विशेष होने से जीव के दुःख फल देने वाले पुद्गलों का आस्रव कराते हैं ठीक उसी प्रकार भूतव्रतियों के ऊपर की गयी दया, दान, आदिक शुभ क्रियायें विशुद्धि का अंग होने के कारण सुख फल वाले पुद्गलों का जीव के निकट आस्रव करा देते हैं जैसे कि दोनों वादी, प्रतिवादियों के यहाँ प्रसिद्ध होरहे पथ्य आहार, औषधिसेवन, यथार्थज्ञान, प्रसन्नता, निश्चिन्तता, परमित हास्य,स्वच्छ वायु में टहलना आदिक शुभ क्रियायें सुख उत्पादक पुद्गलों का आगमन कराती हैं जो वे तिस प्रकार के दुःख सुख फल वाले पुद्गल हैं वे ही

हम जैनों के यहाँ पाप स्वरूप असद्वेदनीय कर्म की विशेष प्रकृतियाँ और पुण्य रूप सद्वेद्य कर्म की विशेष प्रकृतियाँ सिद्ध हैं क्योंकि विशेष विशेष कार्यों की उत्पत्ति तो विशेष कारणों के बिना नहीं हो सकती है। जिस जिस जाति के अनेक दुःख सुख जाने जा रहे हैं उतनी असंख्य जातियों के असद्वेद्य और सद्वेद्य कर्म हैं। दोनों प्रकार के वेदनीय कर्म के आस्रावक कारणों को कहकर अब अनन्त संसार के कारण हो रहे दर्शन मोहनीय कर्म के आस्रव हेतु का प्रदर्शन कराने के लिये सूत्रकार इस अगले सूत्र को कहते हैं।

केवलिश्रुतसंघधर्मदेववर्णवादो दर्शनमोहस्य ॥१३॥

केवली भगवान्, शास्त्र, चतुर्विधसंघ, जिनोक्तधर्म, चतुर्णिकायदेव, इनमें अवर्णवाद यानी असद्भूत दोषों को लगाना तो दर्शन मोहनीय कर्म का आस्रव है।

करणक्रमव्यवधानातिवर्तिज्ञानोपेताः केवलिनः प्रतिपादिताः तदुपदिष्टं बुद्ध्यतिशयगणधरावधारितं श्रुतं व्याख्यातं, रत्नत्रयोपेतः श्रमणगणः संघः। एकस्यासंघत्वमिति चेन्न, अनेकव्रतगुणसंहननादेकस्यापि संघत्वसिद्धेः। "संघो गुण संघादो कम्माणविमोक्खदो हवदि संघो। दंसणणाणचरित्ते संघादितो हवदि संघो॥" इति वचनात्। अहिंसालक्षणो धर्मः। देवशब्दो व्याख्यातार्थः।

उपयोग लगाने अनुसार चक्षु आदि इन्द्रियों की प्रवृत्ति के क्रम से होने वाले और व्यवधान का उल्लंघन करने वाले केवलज्ञान से सहित हो रहे केवली भगवान् की पूर्वग्रन्थ में प्रतिपत्ति करा दी गयी है। उन केवली भगवान् करके उपदेश किये जा चुके और बुद्धि का अतिशय धारने वाले गणधर महाराज करके निर्णीत कर गूंथे गये श्रुत का भी व्याख्यान हो चुका है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनों रत्नों से सहित हो रहा साधुओं का समुदाय तो संघ है। यदि यहां कोई यों कटाक्ष करे कि जब समुदाय को संघ कहा गया है तो एक मुनि को संघपना प्राप्त नहीं हुआ। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि एक मुनि की आत्मा में भी अनेक गुण या व्रतों का समुदाय है अतः अनेक व्रत या गुणों का संघात होने से एक व्यक्ति का भी संघपना सिद्ध है। शास्त्रों में ऐसा वचन मिलता है कि गुणों का संघात संघ है, कर्मों का विमोक्ष हो जाने से संघ होता है, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, इनके समुदाय से भी संघ होता है। धर्म का लक्षण अहिंसा सुप्रसिद्ध ही है "देवाश्चतुर्णिकायाः" इस सूत्र में देव शब्द के अर्थ का व्याख्यान किया जा चुका है।

अन्तःकलुषदोषादसद्भूतमलोद्भावनमवर्णवादः। पिंडाभ्यवहारजीवनादिवचनं केवलिषु, मांसभक्षणानवद्याभिधानं श्रुते, शूद्रत्वाशुचित्वाद्याविर्भावनं संघे, निर्गुणत्वाद्यभिधानं धर्मे, सुरामांसोपसेवाद्याघोषणं देवेष्ववर्णवादो बोद्धव्यः। दर्शनमोहकर्मण आस्रवः। दर्शनं मोहयति मोहनमात्रं वा दर्शनमोहः कर्म तस्यागमनहेतुरित्यर्थः॥ कथमित्याह—

अन्तरंग की कलुषता के दोष से असद्भूत मल या दोषों को प्रकट करना (झूंठी बुराई करना) अवर्णवाद है। मुनियों के समान केवलज्ञानी भगवान् भी कौर पिंड बनाकर डटकर आहार कर ही

जीवित रहते हैं, द्रव्य स्त्री के भी केवलज्ञान हो जाता है, केवली भगवान् तूंबी रखते हैं, केवली के दर्शन, ज्ञान और चरित्र का भिन्न-भिन्न समय है, इत्यादि कथन करना केवलियों में अवर्णवाद है। शास्त्र में लिखा दिखाकर मांस के भक्षण को निर्दोष कहना, देवी पर चढ़ा हुआ मद्य पवित्र हो जाता है, तीव्र काम-पीड़ित जीवों का मैथुन कर लेना दोषाधायक नहीं है, रात्रि में भोजन करना वैध है, आपत्तिकाल में चोरी की जा सकती है, वध किया जा सकता है, इत्यादिक पापमय चेष्टाओं को निर्दोष पुष्ट करना श्रुत में अवर्णवाद है। शूद्रपन, अपवित्रपन आदि कथन करना संघ में असद्भूत दोष प्रकट करना है। गुणरहित-पना, पराधीन कारकत्व, निर्बलता सम्पादकत्व, आदि कहते हुए धर्म के सेवन करने वालों को असुर हो जाना कहना यह धर्म का अवर्णवाद है। देवता मांस खाते हैं, चन्द्र देव अहिल्या पर आसक्त हुये थे, देवी मनुष्यों या स्त्री देवों का परस्पर मैथुन वर्णन करना, असुरों के सींग, लम्बे दान्त, आदि विकृत संस्थान बखानना इत्यादिक निरूपण देवों में अवर्णवाद हुआ समझना चाहिये। यों उक्त माननीय वस्तुओं में अवर्णवाद करना दर्शन मोहनीय कर्म का आस्रव है। सम्यग्दर्शन को मोहित करा रहा अथवा केवल मोह कर देना यह दर्शन मोहनीय कर्म है। उस कर्म के आगमन का हेतु केवली आदिक का अवर्णवाद है। यह इस सूत्र अनुसार आस्रव का अर्थ है। यहाँ कोई पूंछता है कि उक्त सूत्र का अर्थ किस प्रकार युक्तियों से सिद्ध हुआ ? बताओ। ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार उत्तर वार्तिकों को कहते हैं।

केवल्यादिषु यो वर्णवादः स्यादाश्रये (स्रवो) नृणां।
स स्याद्दर्शनमोहस्य तत्त्वाश्रद्धानकारिणः ॥१॥
आस्रवो यो हि यत्र स्याद्यदाधारे यदास्थितौ।
यत्प्रणेतरि चावर्णवादः श्रद्धानघात्यसौ ॥२॥
श्रोत्रियस्य यथा मद्ये तदाधारादिकेषु च।
प्रतीतोऽसौ तथा तत्त्वे ततो दर्शनमोहकृत् ॥३॥

केवल ज्ञानी, शास्त्र आदि में अवलंब लेकर जो अवर्णवाद है (पक्ष) वह जीवों के तत्त्वों में अश्रद्धान कराने वाले दर्शन मोहनीय कर्म का आस्रवहेतु है (साध्य) जिस कारण कि जो-जो जिसमें और जिस का आधार या आश्रय लेकर उपजे हुये पदार्थ में तथा जिस शास्त्र अनुसार श्रद्धा कर प्रतिज्ञा करने वाले जीवों में एवं जिसके बनाये हुये पदार्थ में अवर्णवाद लगाया जाता है वह उस विषय के श्रद्धान का घात कर देता है। (अन्वयव्याप्ति) जिस प्रकार कर्मकाण्डी श्रोत्रिय ब्राह्मण के मद्य में और उसके आधार भाजन में, उस मद्य के बनाने वाले आदि में वह श्रद्धान का घातक प्रतीत हो रहा है। (अन्वयदृष्टान्त)। तिसी प्रकार जीव आदि तत्त्व या तत्त्वों के प्रणेता आदि में अवर्णवाद किया गया (उपनय) तिस कारण दर्शन मोहनीय कर्म का आस्रव करने वाले केवली आदिका अवर्णवाद है। (निगमन)। यों पाँच अवयव वाले अनुमान प्रमाण करके उक्त सूत्र का अर्थ युक्ति सहित पुष्ट कर दिया गया है।

यो यत्र यदाश्रये यत्प्रतिज्ञाने यत्प्रणेतरि चावर्णवादः स तत्र तदाश्रये तत्प्रतिज्ञाने तत्प्र-

णेतरि च श्रद्धानघातहेतून् पुद्गलानास्रावयति, यथा श्रोत्रियस्य मद्ये तद्भाण्डे तत्प्रतिज्ञाने तत्प्रणेतरि श्रद्धानघातहेतून्नासिकादिपिधायककरादीन्, तथा च कस्यचिज्जीवादितत्त्वप्रणेतरि केवलिनि तदाश्रये च श्रुते तत्प्रतिज्ञापिनि च संघे तत्प्रतिपादिते च धर्मे देवेषु चावर्णवादस्तस्मात्तथेति प्रत्येतव्यम् ।

जो जिसमें और जिसके आश्रय में तथा जिसके अनुसार प्रतिज्ञा करने वालों में एवं जिस प्रणेता के समझाये गये पदार्थ में अवर्णवाद है वह अवर्णवाद उस प्रणेता में और उसके आश्रय में अथवा उसका आश्रय धारने वाले में तथा उसके अनुसार प्रतिज्ञा करने वाले में एवं उसके प्रणयन प्राप्त में श्रद्धान होने के घातक हेतु होरहे पुद्गलों का आस्रव कराता है। जैसे कि श्रोत्रिय ब्राह्मण के हुये मद्य (शराब) में, उसके बर्तन में, उसको अंगीकार करने वाले में और उसके प्रणेता में श्रद्धान घात के हेतु होरहे नासिका आदि को ढंकने वाले हाथ, आँख आदि का आस्रव कराते हैं (व्याप्तिपूर्वकदृष्टान्त) यों तिसी प्रकार किसी-किसी जीव आदि तत्त्वों के प्रणेता केवली भगवान् में और उनके आश्रय होरहे श्रुत में तथा उनके अंगीकृत संघ में एवं च उन केवली के द्वारा समझाये गये धर्म और देवों में अवर्णवाद है (उपनय)। तिस कारण से उक्त प्रतिज्ञावाक्य ठीक तिसी प्रकार है अर्थात् केवली आदि में किया गया अवर्णवाद अवश्य ही उस दोषी जीव के दर्शन मोह का आस्रव करा देता है। यों प्रतीति कर लेनी चाहिये।

दर्शन मोहनीय और चारित्रमोहनीय ये मोहनीय कर्म के दो भेद हैं। तिनमें दर्शन मोहनीय कर्म के आस्रव का कारण कहा जा चुका है। अब चारित्र मोहनीय कर्म के आस्रवहेतु का प्रतिपादन करने के लिये श्री उमास्वामि महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

कषायोदयात्तीव्रपरिणामश्चारित्रमोहस्य ॥१४॥

कषाय के उदय से आत्मा की तीव्र परिणति हो जाना तो चारित्र मोहनीय कर्म का आस्रव हेतु है।

द्रव्यादिनिमित्तवशात्कर्मपरिपाक उदयः, तीव्रकषायशब्दावुक्तार्थौ, चरित्रं मोहयति मोहनमात्रं वा मोहः। कषायस्योदयात्तीव्रः परिणामश्चारित्रमोहस्य कर्मण आस्रव इति सूत्रार्थः। कथमित्याह—

द्रव्य, क्षेत्र आदि निमित्तों के वश से कर्म का परिपाक होना उदय कहा जाता है। तीव्र शब्द और कषाय शब्द के अर्थ को हम पहिले कह चुके हैं। कषायाकषाययोः साम्परायिकेर्यापथयोः" इस सूत्र के विवरण में कषाय शब्द का और "तीव्रमंदज्ञाताज्ञातभावाधिकरणवीर्यविशेषेभ्यस्तद्विशेषः" इस सूत्र के भाष्य में तीव्र शब्द का अर्थ कहा जा चुका है। "मुह वैचित्त्ये" इस धातु से मोह शब्द बनाया गया है। चारित्र गुण को मोहित कर रहा अथवा चारित्र का मोह कर देना मात्र चारित्र मोह है। कषाय आत्मक पूर्व संचित कर्मों के उदय से क्रोधादि रूप तीव्र परिणति हो जाना चारित्र मोहनीय कर्म का आस्रव है यों इस सूत्र का अर्थ समझा जाय। कोई यहाँ पूँछता है कि उक्त सिद्धान्त केवल

आगम के आश्रित है ? अथवा क्या उक्त सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिये कोई युक्ति भी है ? यदि है। तो वह किस प्रकार है ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिकों को प्रस्तुत करते हैं।

तथा चारित्रमोहस्य कषायोदयतो नृणां ।
स्यात्तीव्रपरिणामो यः ससमागमकारणं ॥१॥
यः कषायोदयात्तीव्रः परिणामः स ढौकयेत् ।
चारित्रघातिनं भावं कामोद्रेको यथा यतेः ॥२॥
कस्यचित्तादृशस्यायं विवादापन्नविग्रहः ।
तस्मात्तथेति निर्बाधमनुमानं प्रवर्तते ॥३॥

जिस प्रकार जीव के केवलि आदि का अवर्णवाद कर देने से दर्शन मोह का आस्रव होता है तिसी प्रकार कषायों के उदय से हुआ जो तीव्रता को लिये हुये अभिमान, मायाचार आदि परिणाम हैं वह जीवों के चारित्र मोहनीय कर्म के समागम का कारण है। (प्रतिज्ञावाक्य) जो-जो कषायों के उदय से तीव्र परिणाम होगा वह चारित्र गुण का घात करने वाले पदार्थ का आगमन करावेगा जिस प्रकार कि पहिले संयमी पुनः हो गये भ्रष्ट किसी-किसी असंयमी पुरुष के कामवेदना का तीव्र उदय हो जाना चारित्रघातक स्त्री, बाल आदि के साथ रमण करने के भाव का आस्रावक है (अन्वयव्याप्ति पूर्वक दृष्टान्त)। तिस प्रकार के कषायोदय हेतुक तीव्र परिणाम का धारी यह संसारी जीव विवाद में प्राप्त हो चुके शरीर को धार रहा है (उपनय)। तिस कारण वह कषायवान् आत्मा तिस प्रकार चारित्रघातक कर्म का आस्रव हेतु हो जाता है (निगमन)। इस प्रकार बाधा रहित यह अनुमान प्रवर्त रहा है जो कि सूत्रोक्त आगम वाक्य का समर्थक है।

कषायोदयात्तीव्रपरिणामो विवादापन्नश्चारित्रमोहहेतुपुद्गलसमागमकारणं जीवस्य कषायोदयहेतुकतीव्रपरिणामत्वात् कस्यचिद्यतेः कामोद्रेकवत् । न साध्यसाधनविकलो दृष्टान्तः, कामोद्रेके चारित्रमोहहेतुयोषिदादिपुद्गलसमागमकारणत्वेन व्याप्तस्य कषायोदयहेतुकतीव्रपरिणामत्वस्य सुप्रसिद्धत्वात् ॥

उक्त अनुमान को यों स्पष्ट कर लीजिये कि वादी प्रतिवादियों के विवाद में प्राप्त हो चुका जो कषाय के उदय से तीव्र परिणाम होना है। (पक्ष) वह जीव के चारित्र गुण के मोहने में हेतु होरहे पुद्गलों के समागम का कारण है। (साध्यदल) पूर्व में संचित किये गये कषाय आत्मक द्रव्य कर्मों के के उदय को हेतु मान कर हुये भावकर्म स्वरूप तीव्रपरिणाम होने से (हेतु) चारित्र भ्रष्ट होगये किसी यति के काम वासना के प्रबल उद्वेग समान (अन्वय दृष्टान्त)। यह रति क्रिया के तीव्र उद्रेक का दृष्टान्त जो इस अनुमान में अन्वयदृष्टान्त दिया गया है। वह साध्य और साधन से रीता नहीं है क्योंकि काम का तीव्र उद्वेग होने पर चारित्रगुण के मोहने में हेतु हो रहे स्त्री, मद्यपान, आदि पुद्गलों के समागम के कारणपने करके व्याप्त हो रहे कषायोदय हेतुक, तीव्रपरिणामोंपने की लोक में अच्छी प्रसिद्धि होरही है। समीचीन व्याप्ति से हुआ अनुमान ठीक उतरेगा।

मोहनीय कर्म के आस्रावक हेतुओं का निरूपण हो चुका। अब उसके पीछे कहे गये आयुष्य कर्म के आस्रव का हेतु कथन करने योग्य है। उनमें आदि में पड़े हुये नरकआयु 'दुर्जनं प्रथमं सत्कुर्यात्, के आस्रव कारणों का प्रदर्शन करने के लिये यह अगिला सूत्र कहा जाता है।

बह्वारंभपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः ॥१५॥

बहुत सा प्राणियों के पीड़ा हेतु होरहा व्यापार स्वरूप आरंभ करना और बहुत सा परिग्रह इकट्ठा करना ये नरक आयु के आस्रव हैं। अर्थात् किसी-किसी जीव का बहुत आरंभ से सहितपना और बहुत परिग्रह से सहितपना नरक सम्बन्धी आयु का आस्रव हेतु है। यद्यपि आयुः कर्म का आस्रव सदा नहीं होता रहता है। त्रिभाग में होरहे आठ अपकर्ष कालों में या अंतिम असंक्षेपाद्धा में आयु कर्म का आस्रव होता है तथापि जब कभी बन्ध होगा तभी उसके आस्रावक हेतुओं के अनुसार ही होगा यह सिद्धान्त कथन करना उपयोगी पड़ता है।

संख्यावैपुल्यवाचिनो बहुशब्दस्य ग्रहणमविशेषात्। आरंभो हैंस्रं कर्म, ममेदमिति संकल्पः परिग्रहः, बह्वारंभः परिग्रहो यस्य स तथा तस्य भावस्तत्त्वं, तन्नारकस्यायुषः आस्रवः प्रत्येयः, एतदेव सोपपत्तिकमाह—

संख्या और विपुलता इन दोनों भी अर्थों के वाचक होरहे बहुशब्द का यहाँ सूत्र में ग्रहण है। क्योंकि कोई विशेषता नहीं है। बहुत संख्या वाला आरंभ या परिग्रह अथवा प्रचुर आरंभ या परिग्रह दोनों एक सारिखे संक्लेश परिणाम स्वरूप हैं। जहां कहीं एक शब्द के दो विरोधी अर्थ आपड़ते हैं वहां प्रकरण अनुसार एक ही अर्थ को पकड़ा जाता है किन्तु यहां दोनों अर्थों का ग्रहण संभव जाता है। हिंसा करने वाले की टेव रखने वाले जीवों का कर्म आरंभ कहा जाता है। ये क्षेत्र, धन, धान्य आदिक मेरे हैं। इस प्रकार संकल्प करना परिग्रह है। बहुत आरंभ और बहुत परिग्रह जिस जीव के हैं वह जीव तिस प्रकार बह्वारंभपरिग्रह है। उसका भाव बह्वारंभ परिग्रहत्व है। यों द्वन्द्वगर्भित बहुव्रीहि समास कर पुनः तद्धित का त्व प्रत्यय करते हुये उद्देश्य पद को साध दिया है। वह बहुत आरंभ परिग्रहों से सहितपना नरक सम्बन्धी आयुः का आस्रव होरहा विश्वास कर लेने योग्य है। इस ही बात को उपपत्तियों से सहित साधते हुये ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक को कह रहे हैं।

नरकस्यायुषोऽभीष्टं बह्वारंभत्वमास्रवः।
भूयःपरिग्रहत्वं च रौद्रध्यानातिशायि यत् ॥१॥
निद्यं धाम नृणां तावत्पापाधाननिबन्धनं।
सिद्धं चाण्डालकादीनां धेनुघातविधायिनां ॥२॥

बहुत आरम्भ से सहितपना और पुष्कल परिग्रह से मूर्छितपना नरक आयु के आस्रव इष्ट किये गये हैं (प्रतिज्ञा) जो-जो अतिशय सहित रुद्रध्यान के धारने वाले निंद्नीय स्थान हैं वे-वे जीवों के पाप का आधान कराने के कारण होरहे तो प्रसिद्ध ही हैं। जैसे कि ब्याई हुई गायों के घात को करने

वाले चाण्डाल, यवन, कतिपय यूरोप वासी मनुष्य, सिंह, व्याघ्र, आदि जीवों के सिद्ध हैं। व्याप्तिपूर्वक दृष्टान्त।

तत्प्रकर्षात्पुनः सिद्ध्येद्धीनधामप्रकृष्टता।
तस्य प्रकर्षपर्यन्तात्तत्प्रकर्षव्यवस्थितिः ॥३॥
पापानुष्ठा क्वचिद्याति पर्यन्ततारताम्यतः।
परिमाणादिवत्ततो रौद्रध्यानमपश्चिमं ॥४॥
तस्यापकर्षतो हीनगतेरप्यपकृष्टता।
सिद्धेति बहुधाभिन्नं नारकायुरुपेयते ॥५॥

उस आरम्भ परिग्रह की प्रकर्षता से फिर तिर्यंच गति से हीन होरहे नरक स्थान की प्रकर्षता सिद्ध हो ही जावेगी क्योंकि उस आरम्भ परिग्रह की प्रकर्षपर्यन्तपन की प्राप्ति से उस हीन स्थान के प्रकर्ष की व्यवस्था हो रही है।

आरंभ, परिग्रह आदि पापों का अनुष्ठान (पक्ष) कहीं न कहीं अंतिम पर्यंत अवस्था को प्राप्त हो जाता है (साध्य) तर तम भावरूप से प्रकर्ष हो जाने से (हेतु) परिमाण, दोषहीनता, ज्ञान-वृद्धि आदि के समान (अन्वय दृष्टांत), तिस कारण एक प्रधान रौद्र ध्यान नरक आयु का आस्रव सिद्ध हो जाता है। उस रौद्र ध्यान के अपकर्ष से हीन गति का भी अपकर्ष सिद्ध हो जाता है जिससे कि पहिले, दूसरे आदि नरकों की एक, तीन, आदि सागर स्थिति वाले नरक आयुः कर्म का आस्रव होता है यों कारणों के अनेक प्रकार होजाने से बहुत प्रकारों से भिन्न होरही नरक आयु का ग्रहण कर लिया जाता है। परमाणु से लेकर आकाश पर्यन्त परिमाण का प्रकर्ष बढ़ रहा है। गुणस्थानों में दोष कमती-कमती होरहे हैं। ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ रहा है।

नरकआयु का आस्रव कह दिया गया अब क्रमप्राप्त तिर्यक् आयु के आस्रावक कारणों का प्रदर्शन कराने के लिये अग्रिम सूत्र कहा जाता है।

माया तैर्यग्योनस्य ॥१६॥

मायाचार, कुटिलता, या कपट करना ये तिर्यंच योनि के जीवों में संभवने वाली तिर्यंच आयु का आस्रव है।

चारित्रमोहोदयात् कुटिलभावो माया। सा कीदृशी ? तैर्यग्योनस्यायुष आस्रव इत्याह—

चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा के उपजा कुटिल परिणाम माया कहा जाता है। यहाँ किसी का प्रश्न है कि किस प्रकार की वह माया भला तिर्यंचयोनि जीवों के उपयोगी तिर्यक् आयु का आस्रव है ? ऐसी आशंका प्रवर्तने पर ग्रन्थकार उत्तर वार्तिकों को कहते हैं।

माया तैर्यग्योनस्येत्यायुषः कारणं मता।
आर्तध्यानाद्विना नात्र स्वाभ्युपायविरोधतः ॥१॥

जो माया तिर्यकयोनिसम्बन्धी जीवों की आयुः का आस्रावक कारण मानी गयी है। वह यहाँ प्रकरण में आर्तध्यान के बिना नहीं संभवती है। क्योंकि ऐसा नहीं मानने पर अपने स्वीकृत सिद्धान्त से विरोध आजावेगा। अर्थात् आर्तध्यान से विशिष्ट होरहा मायाचार तिर्यंच आयु का आस्रव करावेगा इससे लोक चातुर्य, सभादक्षता, धर्मप्रभावना के लिये किये गये मायाचार का विवेक हो जाता है। न्याय शास्त्र में खण्डन मण्डन करने के लिये कई प्रकार के उपाय रचे जाते हैं। अभद्र, क्रूर, अभिमानी, मायाचारी, दम्भी जीवों को अंगीकार या [illegible] समझने के लिये कितनी ही दक्षतायें करनी पड़ती हैं। चौथे, पाँचवें, छठे गुणस्थान वाले जीवों के कतिपय चातुर्य पाये जाते हैं। हाँ सातवें से लेकर ऊपरले गुणस्थानों में ध्यान निमग्न अवस्था में कोई बुद्धि पूर्वक दक्षता का उपयोग नहीं है। अतः आर्तध्यान पूर्वक हुआ मायाचार तिर्यक् आयु का आस्रव है। जो कि तीव्र मायाचार पहिले, दूसरे इन दो गुणस्थानों में पाया जा सकता है।

अपकृष्टं हि यत्पापध्यानमार्त्तं तदीरितं।
निंद्यं धाम तथैवाप्रकृष्टं तैर्यग्गतिस्ततः ॥२॥
प्रसिद्धमायुषो नैकप्रधानत्वं प्रमाणतः।
तैर्यग्योनस्य सिद्धान्ते दृष्टेष्टाभ्यामबाधितं ॥३॥

जो पापस्वरूप आर्तध्यान जिस कारण से अपकृष्ट कहा गया है उसी कारण से वह जीवों का निंद्यस्थान तिसही प्रकार समझा जाता है। उस आर्तध्यान से जीवों की तिर्यग्गति हो जाती है। सिद्धान्त में तिर्यग्योनिसम्बन्धी आयुः का प्रधान कारण माया कही है। यह बात प्रमाणों से प्रसिद्ध है। प्रत्यक्ष और अनुमान से यह सिद्धान्त अबाधित है।

अब क्रमप्राप्त मनुष्य सम्बन्धी आयुः के आस्रव हेतु का निरूपण करने के लिये अगिला सूत्र कहा जाता है।

अल्पारंभपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥१७॥

अल्प आरंभ से सहितपना और अल्प परिग्रह से सहितपना तो मनुष्यों की आयुः का आस्रवण हेतु है।

नारकायुरास्रवविपरीतो मानुषस्तस्येत्यर्थः। किं तदित्याह—

नरक आयु के आस्रव बहुत आरंभ और बहुत परिग्रह से सहितपना है। उस नरकआयु से विपरीत यह मनुष्य आयु है। उसका आस्रव अल्प आरंभ रखना और अल्प परिग्रह सहितपना है। यह इस सूत्र का अर्थ है। कोई पूँछता है कि वह अल्प आरंभ परिग्रह सहितपना क्या है? या कैसा है? यों प्रश्न उतरने पर ग्रन्थकार वार्तिकों द्वारा उत्तर कहते हैं।

मानुषस्यायुषो ज्ञेयमल्पारंभत्वमास्रवः ।
मिश्रध्यानान्वितमल्पपरिग्रहतया सह ॥१॥
धर्ममात्रेण संमिश्रं मानुषीं कुरुते गतिं ।
सातासातात्मतन्मिश्रफलसंवर्तिका हि सा ॥२॥
धर्माधिक्यात्सुखाधिक्यं पापाधिक्यात्पुनर्नृणां ।
दुःखाधिक्यमिति प्रोक्ता बहुधा मानुषी गतिः ॥३॥

अल्पपरिग्रह से युक्तपने करके सहित होरहा और केवल धर्म आचरण से भले प्रकार से मिले हुये अशुभ और शुभ इन मिश्र ध्यानों से अन्वित होरहा जो अल्पआरंभ सहितपना है वह मनुष्यों सम्बन्धी आयुः कर्म का आस्रावक है। दया, दान, परोपकार आदि धर्म मात्र करके मिल रहा वह अल्प आरंभ और अल्प परिग्रह जीव की मनुष्य सम्बन्धी गति को कर देता है। जिस कारण कि वह मनुष्य-गति साता स्वरूप और असातास्वरूप उस मिले हुये फल की संपादिका है। धर्म और अधर्म के मिश्रणों में यदि धर्म की अधिकता हो जाती है तो उससे राजा, सेठ, मल्ल, विद्वान्, न्यायाधीश, जमींदार आदि मनुष्यों के सुख की अधिकता हो जाती है और दुःख न्यून हो जाता है। हां उस मिश्रण में पाप की अधिकता हो जाने से तो फिर मजूर, दास, विधवा, रोगिणी, अधमर्ण आदि मनुष्यों के दुःख की अधिकता हो जाती है। सुख मंद हो जाता है। यों मनुष्य सम्बन्धी गति बहुत प्रकार की उत्तम, मध्यम, जघन्य श्रेणी के सुख दुःख वाली भले प्रकार कह दी गयी है। उछृङ्खल धनपति यदि तपस्या न करें तो उनकी अनर्गल पीडक वृत्ति से जन्य पाप का विनाश नहीं हो सकता है। देवों में सांसारिक सुख की प्रधानता है। इष्टवियोग, ईर्षा, अधीनता, आदि से जो देवों में स्वल्प दुःख उपजता है वह नगण्य है। मनुष्यों में सुख दुःख का मिश्रण है। राजा, रईसों को उपरिष्ठात् विशेष सुख दीखता है। किन्तु उनको रोग, अपमान, अपयश, सन्तानरहितपन आदिका कुछ न कुछ दुःख सताता रहता है। पापसेवन भी दुःखरूप ही है। अधिकृतों को ताप पहुंचाना भी परिशेष में दुःखरूप है। निर्धन ग्रामीण पुरुषों को त्यौहार के दिन या विवाह, सगाई, मेला आदिके अवसर पर छोटे-छोटे कारणों से ही महान् सुख उत्पन्न हो जाता है। पिसनहारी को पीतल के छला से जो आनंद आता है वह महाराणी के रत्न जड़ित अंगूठी के सुख से कहीं अधिक है। हाँ कोई-कोई विशेष पुण्यशाली पुरुष अथवा कतिपय अत्यन्त दरिद्र दुःखी पुरुष इसके अपवाद हो सकते हैं जो कि नगण्य हैं। तिर्यंच गति में बहुभाग दुःख और अल्प-भाग सुख है। राजा, महाराजों के कोई हाथी, घोड़े, बैल भले ही कुछ अधिक सुखी होंय या कोई-कोई भाड़ेतू घोड़ा या गधे, बैल आदि महान् दुःखी होंय किन्तु प्रायः सभी के लिये उपयोगी हो रही उत्सर्ग विधि कतिपय विशेष व्यक्तियों की अपेक्षा नहीं रखती है। नारकी जीवों में तो महान् दुःख ही है। वहाँ सुख का लेश मात्र नहीं है। यहां प्रकरण में धर्म से मिले हुये मन्द अशुभध्यानों से युक्त होरहा अल्प आरंभ और अल्प परिग्रह मनुष्य आयुः का आस्रव बखान दिया गया है।

कोई जिज्ञासु पूँछता है कि क्या इतना ही मनुष्य आयु का आस्रव है ? अथवा कुछ और भी कहना है ? इसके उत्तर में ही मानू सूत्रकार अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

स्वभावमार्दवं च ॥१८॥

स्वभाव से ही यानी प्रकृति से ही गुरु के उपदेश बिना ही जो मृदुता है अर्थात् मान नहीं करना है वह भी मनुष्य सम्बन्धी आयु का आस्रव है।

उपदेशानपेक्षं मार्दवं स्वभावमार्दवं। पृथग्योगकरणमिति चेत्, उत्तरदेवायुरपेक्षत्वात् पृथक्करणस्य। तेन देवस्यायुषोऽयमास्रवः प्रतिपादयिष्यते। कीदृशं तन्मानुषस्यायुष आस्रव इत्याह—

उपदेश के बिना ही जैसे व्याघ्र, भेड़िया आदि में स्वभाव से क्रूरता है उसी प्रकार उपदेश की नहीं अपेक्षा रखता हुआ कोमल परिणाम भी किन्हीं किन्हीं जीवों में पाया जाता है। उपदेश की नहीं अपेक्षा रखता हुआ मृदुपना स्वभावमार्दव है। यहाँ कोई आक्षेप करता है कि दो सूत्र बनाने की क्या आवश्यकता है? "अल्पारंभपरिग्रहत्वं स्वभावमार्दवं मानुषस्य" दो योग का इस प्रकार एक योग करना ही उपयोगी जचता है। यों आक्षेप करने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि उस मनुष्य आयु के आस्रव से अव्यवहित उत्तर काल में कहे जाने वाले देव आयु की अपेक्षा से इस सूत्र को पृथक् किया गया है। तिस कारण यह स्वभाव का मृदुपना देव संबंधी आयु का आस्रव हुआ समझा दिया जावेगा। पुनः कोई प्रश्न उठाता है कि वह स्वभाव का मृदुपना किस प्रकार का मनुष्य सम्बन्धी आयु का आस्रव हो सकेगा? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार उत्तर वार्तिक को कहते हैं।

स्वभावमार्दवं चेति हेत्वंतरसमुच्चयः।
मानुषस्यायुषस्तद्धि मिश्रध्यानोपपादिकम् ॥१॥

"स्वभावमार्दवं च" इस सूत्र में पड़े हुये च शब्द का अर्थ समुच्चय है। इस कारण मनुष्य सम्बन्धी आयु के आस्रावक होरहे दूसरे हेतु का भी समुच्चय हो जाता है। अथवा स्वभावमृदुता से मनुष्य आयु और देव आयु का आस्रव होना समझा दिया जाता है। साथ ही विनीतस्वभाव, प्रकृतिभद्रता, संतोष, अनसूया, अल्पसंक्लेश, गुरु देवता पूजा आदि कारणों का भी संग्रह हो जाता है। जब कि वह स्वभाव मृदुपना शुभ, अशुभ ध्यानों से मिश्रित होरहे ध्यान से अन्वित होकर उपज रहा हो तब मनुष्य आयु का आस्रावक हो जायगा अन्यथा नहीं।

क्या अल्प आरंभपरिग्रहसहितपना और स्वभाव मार्दव ये दो ही मनुष्य आयु के आस्रव हैं? अथवा क्या अन्य भी मनुष्य आयु का आस्रव है? जो कि उपलक्षण मार्ग से नहीं संग्रह किया जा सके ऐसी आशंका प्रवर्तने पर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं—

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषाम् ॥१९॥

दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण, अतिथिसंविभाग इन सात शीलों से और अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग इन पाँच व्रतों से रहितपना तो नरक आयु, तिर्यक् आयु, मनुष्य आयु और देव आयु इन सभी आयुओं का आस्रावक हेतु है।

चशब्दोऽधिकृतसमुच्चयार्थः। सर्वेषां ग्रहणं सकलास्रवप्रतिपत्त्यर्थं। देवायुषोऽपि प्रसंग

इति चेन्न, अतिक्रांतापेक्षत्वात् । पृथक्करणात् सिद्धे आनर्थक्यमिति चेन्न, भोगभूमिजार्थत्वात् । तेन भोगभूमिजानां निःशीलव्रतत्वं देवायुषः आस्रवः सिद्धो भवति । कुत एतदित्याह—

इस सूत्र में पढ़ा गया च शब्द तो अधिकार प्राप्त हो रहे अल्पारंभपरिग्रहत्व का समुच्चय करने के लिये उपात्त किया गया है। अल्पारंभ परिग्रह सहितपना मनुष्य आयु का आस्रव है। अथवा शील व्रतों से रहितपना भी मनुष्य आयु का आस्रावक है। तथा इस सूत्र में 'सर्वेषां' इस पद का ग्रहण करना तो सम्पूर्ण चारों आयुओं के आस्रव की प्रतिपत्ति कराने के लिये है। यहाँ कोई विनीत शिष्य पूँछता है कि सभी कह देने से तो निःशीलव्रतपने से देवायु के भी आस्रव हो जाने का प्रसंग आजायेगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि सूत्रकार ने अभीतक देव आयु का आस्रव कहा ही नहीं है। नरक आयु, तिर्यक् आयु और मनुष्य आयु इन तीन आयुओं का सूत्रों द्वारा निरूपण हो चुका है। अतः अभी तक अतिक्रान्त हो चुकी तीन आयुओं की अपेक्षा सर्वेषां पद कहा गया है। ऐसी दशा में देवायु का ग्रहण नहीं हो सकता है। पुनः कोई कटाक्ष करता है कि इस सूत्र का पृथक् निरूपण करदेने से ही अतिक्रांत हो चुकी तीन आयुओं की अपेक्षा यह सूत्र सिद्ध हो जायगा। पुनः सर्वेषां पद का ग्रहण व्यर्थ है। आचार्य कहते हैं यह तो नहीं कहना क्योंकि सर्वेषां पद से चारों आयुओं का ग्रहण है। भोगभूमियों में उपजे मनुष्य और तिर्यंचों के लिये देव आयु का आस्रव होना यह सूत्र समझा रहा है। तिस कारण यह सिद्ध हो जाता है कि भोगभूमि में उपजे हुये जीवों का शील व्रत रहितपना देवसम्बन्धी आयु का आस्रव हेतु है। भोगभूमियाँ जीव मरकर भवनत्रिक या सौधर्म, ईशान स्वर्गों में जन्म लेते हैं। कोई तर्की यहाँ आक्षेप करता है कि राजाज्ञा के समान सूत्रकार के कथनमात्र से उक्त सूत्र का रहस्य जान लिया जाय ? या किसी युक्ति से सिद्धान्त को पुष्ट किया जाता है ? बताओ ? यदि कोई युक्ति है तो किस युक्ति से यह सूत्रोक्त मंतव्य सिद्ध किया जाता है ? प्रमाण संप्लववादियों के यहाँ संवादीज्ञान प्रमाण माना जाता है। अतः आगमाश्रित विषय में युक्ति दे देने पर शोभनीय प्रामाण्य आजाता है। यों कटाक्ष प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक को कहते हैं।

निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषामायुषामिह ।
तत्र सर्वस्य संभूतेर्ध्यानस्यासुभृतां श्रितौ ॥१॥

इस सूत्र में कहा गया शीलव्रतों से रहितपना तो (पक्ष) सभी चारों आयुओं का आस्रव हेतु है (साध्यदल) क्यों कि जीवों के उस शील व्रतरहितपने में आश्रय करने पर सभी आर्त, रौद्र, धर्म्य तीनों ध्यानों की भले प्रकार उत्पत्ति हो जाती है। (हेतु) अर्थात् जैसे रोग रहितपन से मनुष्य कैसी भी भली बुरी टेवों में पड़ जाता है उसी प्रकार शीलव्रतरहितपना भी बहु आरंभ परिग्रह और मायाचार तथा अल्पारंभपरिग्रह एवं जलराजितुल्य रोष, सानुकंपहृदयता आदि से समन्वित हो रहा सन्ता चारों आयुओं का आस्रावक है। इस दशा में यथा योग्य तीनों ध्यानों में से कोई भी एक या दो अथवा शुभ, अशुभ से मिला हुआ ध्यान संभव जाता है। जो कि विशुद्धि या संक्लेश का अंग हो रहा तीन पुण्य आयुओं और एक पापस्वरूप नरक आयुः का आस्रव है।

ततो यथासंभवं सर्वस्यायुषो भवत्यास्रवः ॥

तिस कारण यथायोग्य संभव रहा निःशीलव्रतपना सभी आयुओं का आस्रव हेतु हो जाता है। कोई कुतर्क के लिये स्थान नहीं रहता है।

अब तक नरकआयु, तिर्यग् आयु, मनुष्यआयु इन तीन आयुष्य कर्मों के आस्रव की विधि कही जा चुकी है। अब चौथी देव आयुका आस्रव हेतु क्या है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर भगवान् सूत्रकार अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य ॥२०॥

संसार के कारणों की निवृत्ति प्रति उद्यत होरहा है किन्तु अभीतक कषाय जिसके क्षीण नहीं हुये हैं वह पुरुष सराग कहा जाता है। प्राणी और इन्द्रियों में अशुभ प्रवृत्ति का त्याग संयम है। सराग पुरुष का संयम सरागसंयम कहा जाता है। छठे गुणस्थान से प्रारंभ कर दशमे तक सराग संयमस्वरूप महाव्रत हैं किन्तु देव आयु का आस्रव तो निरतिशय अप्रमत्त सातवें गुणस्थान तक ही माना गया है। पांचवें गुणस्थान में संभव रहा संयमासंयम का अर्थ श्रावकों का व्रत है। अकामनिर्जरा का तात्पर्य यों है कि कारागृह या किसी बंधन विशेष में पड़ा हुआ जीव पराधीन होरहा यद्यपि दुःख सहना नहीं चाहता है तथापि भूंक रोके रहना, प्यास का दुःख, घोटक ब्रह्मचर्य धारण, भूमिशयन, मलधारण, संताप प्राप्ति, भोगनिरोध इनको सह रहा जो थोड़ी सी कर्मों की निर्जरा कर रहा है वह अकाम निर्जरा है। यथार्थ प्रतिपत्ति नहीं होने के कारण अज्ञानी मिथ्यादृष्टी जीव बाल कहे जाते हैं। इन बालों का अग्निप्रवेश, पंचाग्नितप, एक हाथ उठाये रखना, तिरस्कार सहना, एकदंड या तीन दंड लिये फिरना, कान फटवाना आदि प्रचुर काय क्लेश वाला व्रत धारना बालतप कहा जाता है। सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा, बालतप ये चारों क्रियायें चतुर्निकाय सम्बन्धी देवों की आयु के आस्रव हेतु हैं।

व्याख्याताः सरागसंयमादयः। कीदृशानि सरागसंयमादीनि दैवमायुः प्रतिपादयंतीत्याह—

सराग संयम आदि का व्याख्यान किया जा चुका है। यहाँ कोई तर्क उठाता है कि किस प्रकार हो रहे संते ये सराग संयम आदिक उस देव संबंधी आयु के आस्रव को इस सूत्र द्वारा प्रतिपादन कर रहे हैं ? बताओ ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार उत्तर वार्तिक को कहते हैं॥

तस्यैकस्यापि दैवस्यायुषः संप्रतिपत्तये।
धर्म्यध्यानान्वितत्वेन नान्यथातिप्रसंगतः ॥१॥

उस एक भी देव सम्बन्धी आयु के आस्रव की समीचीन प्रतिपत्ति कराने के लिए सूत्रकार द्वारा यह सूत्र रचा गया है। धर्म्य ध्यान से अन्वितपने करके सराग संयम आदिक उस देव आयु के आस्रव हैं अन्यथा नहीं क्योंकि अतिप्रसंग हो जायगा। अर्थात् चौथे से सातवें गुणस्थान तक पाये जा रहे मुख्य धर्म्यध्यान और मिथ्यादृष्टियों के भी पाये जारहे परोपकार, दयाभाव, अनशन, सद्धर्मश्रवण, असंक्लेश, धर्मबुद्धि पूर्वक कायक्लेश, रसत्याग, उदासीनता आदि व्यावहारिक धर्म्यध्यान युक्त सरागसंयमादिक तो देव आयु का आस्रव करायेंगे, हां रौद्र या आर्तध्यान से युक्त हो रहे बालतप आदि से देवायु

का आस्रव नहीं होगा। यही अतिप्रसंग है कि अन्यथा नरक आयु, तिर्यग् आयु का कारण भी देवायु का आस्रव हेतु बन बैठेगा जो कि इष्ट नहीं है। कोई पूंछता है कि क्या इतना ही देव संबंधी आयु का आस्रव हेतु है ? अथवा क्या अन्य भी कोई देवायु का आस्रावक है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

सम्यक्त्वं च ॥२१॥

तत्त्वार्थश्रद्धानस्वरूप सम्यग्दर्शन भी देव संबंधी आयु का आस्रव है।

अविशेषाभिधानेऽपि सौधर्मादिविशेषगतिः पृथक्करणात्सिद्धेः। किमर्थश्चशब्द इति चेदुच्यते—

इस सूत्र में सम्यक् देव आयु का आस्रव है यों विशेषता सहित सामान्यरूप से यद्यपि कथन किया गया है तो भी सौधर्म आदि वैमानिक संबंधी आयु के आस्रव की विशेषरूप से ज्ञप्ति हो जाती है। सूत्र का पृथक् निरूपण करने से उक्त मंतव्य की सिद्धि हो जाती है क्योंकि यदि सम्यक्त्व को सामान्य रूप से ही देव आयु का आस्रव बखानना इष्ट होता तो सूत्र का पृथक् कहना व्यर्थ पड़ता पहिले के "सरागसंयम आदि" सूत्रों में ही सम्यक्त्व को कह दिया जाता। अतः सिद्ध है कि पूर्व सूत्र करके सामान्यरूप से देव आयु के आस्रव का निरूपण किया गया है और इस सूत्र करके वैमानिक देवों की आयु का आस्रव कहा गया है। सराग संयम और संयमासंयम तो सम्यक्त्व के बिना होते ही नहीं हैं अतः सम्यक्त्व, सरागसंयम और संयमासंयम ये तीन तो वैमानिक देवों की आयु के आस्रव हैं तथा अकामनिर्जरा और बालतप ये दो तो भवनत्रिक या वैमानिक इन सभी चतुर्णिकाय देवों की आयु के आस्रव हैं। यहाँ कोई प्रश्न उठाता है कि सूत्र में च शब्द कहने का क्या प्रयोजन है ? यों प्रश्न करने पर तो ग्रन्थकार द्वारा यह वक्ष्यमाण उत्तर कहा जाता है।

सम्यक्त्वं चेति तद्धेतु समुच्चयवचोबलात्।
तस्यैकस्यापि देवायुःकारणत्वविनिश्चयः ॥१॥

"सम्यक्त्वं च" इस सूत्र में उस देव आयु के हेतुओं का समुच्चय करने वाले वचन के बल से उस एक सम्यक्त्व को भी देव आयु के कारणपन का विशेषतया निश्चय हो जाता है। अर्थात्—च शब्द करके सरागसंयम आदि का समुच्चय है। किंतु अकेला भी सम्यक्त्व देव सम्बन्धी आयुः का आस्रावक है। बात यह है कि कर्म भूमि के मनुष्य या तिर्यञ्च जीवों के सम्यक्त्व होगा वह वैमानिक देवों में ही उपजावेगा हां परभव सम्बन्धी मनुष्य आयु या तिर्यञ्च आयु को बांध चुके कर्म भूमिस्थ मनुष्य तिर्यञ्चों का सम्यग्दर्शन भोगभूमि में धर देवेगा इनके अणुव्रत या महाव्रत नहीं हो सकते हैं। हां देवों या नारकियों का सम्यक्त्व तो कर्मभूमि के मनुष्यों में उत्पादक समझा जाय।

सर्वापवादकं सूत्रं केचिद्व्याचक्षते सति।
सम्यक्त्वे न्यायुषां हेतोर्विफलस्य प्रसिद्धितः ॥२॥
तत्राप्रच्युतसम्यक्त्वा जायंते देवनारकाः।
मनुष्येष्विति नैवेदं तद्बाधकमितीतरे ॥३॥

तन्निःशीलव्रतत्वस्य न बाधकमिदं विदुः ।
स्यादशेषायुषां हेतुभावसिद्धेः कुतश्चन ॥४॥

कोई-कोई पण्डित इस सूत्र का यों व्याख्यान कर रहे हैं कि यह सूत्र पहिले कहे गये सभी आयुओं के आस्रव प्रतिपादक सूत्रों का अपवाद करने वाला है। क्योंकि सम्यक्त्व के होते सन्ते अन्य नरक आयु, तिर्यक् आयु, मनुष्य आयु के कारणों के विफल हो जाने की प्रसिद्धि है। इसके उत्तर में इतर विद्वान् कहते हैं कि वह केचित् का कहना ठीक नहीं है क्यों कि जिनका सम्यक्त्व भला च्युत नहीं होता है ऐसे देव नारकी जीव मरकर मनुष्यों में ही उत्पन्न होते हैं। इस कारण यह सूत्र उस मनुष्यायु के आस्रव का बाधक नहीं है। देवों के मनुष्य आयुके बंध की व्युच्छित्ति चौथे गुणस्थान में होती है। जब कि मनुष्यतिर्यंचों के मनुष्य आयु की बंध व्युच्छित्ति दूसरे गुणस्थान में हो जाती है। तिस कारण "निःशीलव्रतत्वं च सर्वेषां" सूत्र का यह बाधक नहीं है। यों इतर पंडित कह रहे हैं क्यों कि शीलव्रत रहितपन को किसी न किसी प्रकार से सम्पूर्ण आयुओं के हेतु हो जाने की सिद्धि हो चुकी है।

पृथक्सूत्रस्य निर्देशाद्धेतुर्वैमानिकायुषः ।
सम्यक्त्वमिति विज्ञेयं संयमासंयमादिवत् ॥५॥

इस सूत्र का पृथक् निरूपण करने से सम्यक्त्व वैमानिक देवों की आयु का हेतु है। यह समझ लेना चाहिये जैसे कि संयमासंयम आदिक वैमानिक देवों की आयु का आस्रव कराते हैं। यहाँ आदि पद से सराग संयम का ग्रहण है।

सम्यग्दृष्टेरनंतानुबंधिक्रोधाद्यभावतः ।
जीवेष्वजीवता श्रद्धापायान्मिथ्यात्वहानितः ॥६॥
हिंसायास्तत्स्वभावाया निवृत्तेः शुद्धिवृत्तितः ।
प्रकृष्टस्यायुषो दैवस्यास्रवो न विरुध्यते ॥७॥

सम्यग्दृष्टि जीव के अनन्तानुबंधी क्रोध, मान आदि के कषायों का उदय रूप से अभाव है तथा मिथ्यात्व कर्म के उदय की हानि हो जाने से जीवों में अजीवपन या तत्त्वों में अतत्त्वपन की श्रद्धा का विनाश हो गया है। अतः उस मिथ्याश्रद्धा की टेव अनुसार होने वाली हिंसा की निवृत्ति हो जाने से आत्मा की वृत्ति विशुद्ध हो गयी है। विशुद्ध वृत्ति अनुसार सभी आयुओं में प्रकृष्ट हो रही देव संबंधी आयु का आस्रव हो जाना विरुद्ध नहीं पड़ता है। यों युक्तिपूर्वक सूत्रार्थ समझा दिया है।

आयुः कर्म के अनंतर नामकर्म का निर्देश है। शुभ और अशुभ यों नामकर्म दो प्रकार का है। उनमें प्रथम अशुभ नामकर्म के आस्रव की प्रतिपत्ति कराने के लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्नः ॥२२॥

मनोयोग, वचन योग और काय योग की कुटिलता तथा अन्यथा प्रतिपादन करना स्वरूप विसंवादन ऐसे-ऐसे कारण अशुभ नाम कर्म के आस्रव हैं।

कायवाङ्मनसां कौटिल्येन वृत्तिर्योगवक्रता, विसंवादनमन्यथा प्रवर्तनं। योगवक्रतैवेति चेत्, सत्यं; किंत्वात्मांतरेऽपि तद्भावप्रयोजकत्वात्पृथग् वचनं विसंवादनस्य। चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः तेन तज्जातीयाशेषपरिणामपरिग्रहः। कुतोऽशुभस्य नाम्नोऽयमास्रव इत्याह—

काय, वचन, मनों की कुटिलपने करके वृत्ति होना योगवक्रता है यथार्थ मार्ग से दूसरे ही प्रकारों करके दूसरों को प्रवर्तावना विसंवादन है। यदि यहाँ कोई यों आक्षेप करे कि यह विसंवादन तो योगवक्रता ही है क्योंकि दूसरों को धोखा देने में स्व के योगों की कुटिलता हो ही जाती है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यों तुम्हारा कहना सत्य है। जब तक मैं उत्तर नहीं देता हूँ तब तक सत्य सारिखा वचन हैं। उत्तर करने पर आक्षेप की धज्जियां उड़ जायंगी, बात यह है कि विसंवादन में अवश्य योगवक्रता होती है किन्तु दूसरे जीवों में भी उस कौटिल्यभाव का, प्रयोजक होने से विसंवादन का पृथक् निरूपण किया गया है। कोई दूसरा जीव स्वर्ग मोक्ष की साधक क्रियाओं में प्रवर्त रहा है। उसको अपनी विपरीत कायिक, वाचिक, मानसिक चेष्टाओं से धोखा देता है कि तुम इस प्रकार मत करो यों मेरे कथनानुसार करो। ऐसी कुटिलतया प्रवृत्ति कराना विसंवादन है। अपनी आत्मा में हुयी कुटिलता योगवक्रता कही जाती है और दूसरों में करायी गयी कुटिलता विसंवादन है। यह इन दोनों का भेद है। इस सूत्र में पड़ा हुआ च शब्द तो नहीं कहे जा चुके कारणों का समुच्चय करने के लिये है तिस च शब्द करके उन योगवक्रता या विसंवादन की जाति वाले अशेषपरिणामों का परिग्रह हो जाता है अर्थात् च शब्द करके पिशुनता, डमाडोल स्वभाव, झूंठे बांट, नाप बनाना, कृत्रिम सोना, मणि, रत्न बनाना, झूंठी गवाही देना, यंत्र, पींजरा आदि का निर्माण करना, ईंट पकाना, कोयला बनाने का व्यापार करना, आदि का समुच्चय हो जाता है। यहाँ कोई तर्क करता है कि किस युक्ति से यह अशुभ नाम कर्म का आस्रव होरहा समझ लिया जाय इस प्रकार तर्क उपस्थित होने पर ग्रन्थकार श्री विद्यानन्द स्वामी उत्तर वार्तिक को कहते हैं।

नाम्नोऽशुभस्य हेतुः स्याद्योगानां वक्रता तथा।
विसंवादनमन्यस्य संक्लेशादात्मभेदतः ॥१॥

अन्य जीव को संक्लेश उपजाने से और अपने में संक्लेश होने से भेद को प्राप्त हो रहे ये योगों की वक्रता तथा विसंवादन तो अशुभ नाम कर्म के हेतु हो सकते हैं। संक्लेश हो जाने से पाप कर्म का बंध हो जाना साधा जा चुका है।

अशुभ नाम कर्म का आस्रव कहा जा चुका है। अब शुभ नाम कर्म का आस्रव क्या है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार भगवान् अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

तद्विपरीतं शुभस्य ॥२३॥

उन योगवक्रता से विपरीत अर्थात् काय, वचन, मनों का ऋजुकर्म तथा विसंवादन से विपरीत अविसंवादन ये शुभ नाम कर्म के आस्रव हैं। पूर्व सूत्र के च शब्द की अनुवृत्ति अनुसार उन समुच्चितों के विपरीत हो रहे साधर्मियों का दर्शन, संसारभीरुता, प्रमादवर्जन आदि का भी समुच्चय कर लिया जाता है।

ऋजुयोगताऽविसंवादनं च तद्विपरीतं। कुतस्तदखिलं शुभस्य नाम्नः कारणमित्याह—

मन, वचन, काय के योगों का ऋजुपना और अविसंवादन ये दोनों उस पूर्व सूत्रोक्त से विपरीत हैं जो कि शुभ नाम कर्म के आस्रव हैं। यहाँ कोई आक्षेप करता है कि किस कारण से वे योगऋजुता आदि सम्पूर्ण इस शुभ नाम कर्म के आस्रव हैं ? बताओ। यों तर्क उपस्थित होने पर ग्रन्थकार वार्तिक द्वारा उत्तर कहते हैं।

ततस्तद्विपरीतं यत्किंचित्तत्कारणं विदुः।
नाम्नः शुभस्य शुद्ध्यात्मविशेषत्वावसायतः ॥१॥

तिस कारण उन योगवक्रता आदि से जो कुछ भी विपरीत क्रियायें हैं वे सब शुभ नामकर्म के कारण हैं। ऐसा पण्डित समझ रहे हैं (प्रतिज्ञावाक्य) क्योंकि आत्मा की विशेष शुद्धि का निर्णय हो रहा है। अर्थात् विशुद्धि के अंग होने से योगों की सरलता आदि से पुण्य स्वरूप शुभ नाम कर्म का आस्रव हो जाना न्याय प्राप्त है।

अब कोई पूँछता है कि शुभनाम कर्म के आस्रव की विधि इतनी ही है ? अथवा कोई और विशेषता है ? ऐसी दशा में कहा जाता है कि जो अनंत अनुपम प्रभाव वाला, अचिन्त्य विशेष विभूतियों का कारण, तीनों लोक में विजय करने वाला, यह तीर्थंकर नाम कर्म है उसके आस्रव की विधि में विशेषता है। तिस पर जिज्ञासु पूंछता है कि यदि इस प्रकार है तो उस तीर्थंकर नाम कर्म के आस्रवों को शीघ्र कहिये। इस कारण सूत्रकार तीर्थंकर नाम कर्म के आस्रवों का प्ररूपण करने के लिये इस अगिले सूत्रको कहते हैं।

दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता शीलव्रतेष्वनतीचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगौ शक्तितस्त्यागतपसी साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्यकापरिहाणिर्मार्गप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थंकरत्वस्य ॥२४॥

भगवान् अर्हंत परमेष्ठी द्वारा उपदिष्ट किये गये मोक्षमार्ग में रुचि होना दर्शन विशुद्धि है। ज्ञान आदि अथवा ज्ञानवान् आदि में आदर करना विनयसम्पन्नता है। अहिंसा आदि व्रतों में और क्षमा आदि शीलों में निर्दोष प्रवृत्ति करना शीलव्रतेष्वनतीचार है। ज्ञान भावना में सदा उपयुक्त बने रहना अभीक्ष्णज्ञानोपयोग है। संसार के दुःखों से नित्य भयभीत रहना संवेग है। दूसरों को प्रीति करने वाले स्व का यथाशक्ति त्याग करना दान है। शक्ति को नहीं छिपाकर मोक्षमार्ग के अविरोधी

कायक्लेश का करना तप है। गुणवान् जीवों के ऊपर दुःख पड़ने पर निर्दोष विधि करके उस दुःख को परिहार करना वैयावृत्य है। अर्हंत, आचार्य, उपाध्याय और शास्त्र में भावविशुद्धि युक्त अनुराग करना भक्ति है। छह आवश्यक क्रियाओं में काल का अतिक्रमण नहीं कर प्रवर्तना आवश्यकापरिहाणि है। विलक्षण ज्ञान, उत्कृष्टतपश्चर्या, जिन पूजा आदि विधियों करके जैन धर्म का प्रकाश करना मार्गप्रभावना है। जैसे नयी ब्याई हुयी गाय का अपने बछड़े पर अनुपम स्नेह होता है उसी प्रकार अपने साधर्मी भाइयों को देख कर या प्रकृष्ट वचन वाले विद्वानों का प्रसंग मिलने पर स्नेहार्द्र चित्त हो जाना प्रवचन-वत्सलता है। ये सोलह कारण सम्पूर्ण होयं अथवा दर्शन विशुद्धि के साथ अकेले दुकेले भी होयं, समीचीन भावना किये गये संते तीर्थंकर नाम कर्म के आस्रव हेतु समझ लेने चाहिये।

के पुनर्दर्शनविशुद्ध्यादय इत्युच्यते;—

कोई शिष्य पूँछता है कि दर्शन विशुद्धि आदिक फिर कौन हैं ? ऐसा प्रश्न प्रवर्तने पर ग्रन्थकार द्वारा उत्तर वार्तिकों करके समाधान कहा जाता है।

जिनोपदिष्टे नैर्ग्रंथ्यमोक्षवर्त्मन्यशंकनं।
अनाकांक्षणमप्यत्रामुत्र चैतत्फलाप्तये ॥१॥
विचिकित्सान्यदृष्टीनां प्रशंसा संस्तवच्युतिः।
मौढ्यादिरहितत्वं च विशुद्धिः सा दृशो मता ॥२॥

श्री अर्हंत परमेष्ठी भगवान् करके उपदेशे गये निर्ग्रन्थपना स्वरूप मोक्षमार्ग में जो शंकादि रहित रुचि करना है वह सम्यग्दर्शन की विशुद्धि मानी गयी है। जिस दर्शनविशुद्धि में सातभय, अथवा यह जिनोपदिष्ट तत्त्व है या नहीं यों शंका का निराकरण कर दिया जाता है। इह लोक और परलोक में अमुक फल की प्राप्ति के लिये भोगोपभोगों की आकांक्षा भी हट जाती है। गुणों में प्रीति करते हुये ग्लानि की च्युति हो जाती है। अन्यमिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा और भली स्तुति की प्रच्युति हो जाती है। मूढ़ता आदि से रहितपना है। यों निःशंकितत्व, निःकांक्षता, विचिकित्साविरह, अमूढदृष्टिता, उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना ये आठ अंग पाये जाते हैं। वह दर्शन की विशुद्धि आम्नायधारा से मान्य चली आ रही है। ये असंख्य जीव जिनशासन के अवलम्ब बिना नरक, निगोद, गर्त में डूबते जारहे हैं। इनका उद्धार कैसे किया जाय ? इस प्रकार संसार समुद्र से उतारने की तीव्र भावना इसके बनी रहती है।

संज्ञानादिषु तद्वत्सु चादरोऽर्थानपेक्षया।
कषायविनिवृत्तिर्वा विनयैर्मुनिसंमतैः ॥३॥
सम्पन्नता समाख्याता मुमुक्षूणामशेषतः।
सद्दृष्ट्यादिगुणस्थानवर्तिनां स्वानुरूपतः ॥४॥

समीचीन ज्ञान, चारित्र, आदि गुणों में और उन गुणवाले पुरुषों में किसी प्रयोजन की नहीं अपेक्षा करके जो आदर करना है वह विनय है। मुनियों के द्वारा श्रेष्ठ मानी गयी विनयों करके जो सम्पत्तियुक्तता है वह विनयसम्पन्नता अच्छी बखानी गयी है। अथवा अभिमान आदि कषायों की

विशेषरूप से निवृत्ति होजाना विनय है। सम्यग्दृष्टि, विरताविरत, आदि गुणस्थानों में वर्त रहे सम्पूर्ण मोक्षाभिलाषी जीवों को अपने-अपने अनुरूप योग्यता करके विनय करना आवश्यक माना गया है। अर्थात् जैसे धनसम्पत्ति से युक्त होरहा अभिमानी धनाढ्य अपने को सम्पन्न समझता रहता है उसी प्रकार विनीत पुरुष भी अपनी विनय-सम्पत्ति से सदैव आत्मगौरव युक्त समझे। कदाचित् भी गुरु आदि में अविनय का प्रसंग नहीं आने देवे। उसकी दृष्टि, शरीर, क्रिया, मनोवृत्ति में सर्वदा विनय झलकता रहे।

सच्चारित्रविकल्पेषु व्रतशीलेष्वशेषतः।
निरवद्यानुवृत्तिर्यानतिचारः स तेषु वै ॥५॥
संज्ञानभावनायां तु या नित्यमुपयुक्तता।
ज्ञानोपयोग एवासौ तदाभीक्ष्णं प्रसिद्धितः ॥६॥

समीचीन चारित्र के भेद-प्रभेद होरहे अहिंसादि व्रतों में और उनके परिपालक क्रोधत्याग, भीरुत्वत्याग आदि शीलों में परिपूर्णरूप से जो निर्दोष शास्त्रानुकूल प्रवृत्ति करना है वह निश्चय कर उन शीलव्रतों में अनतीचार कहा जाता है। श्रावकों को दिग्विरति आदि सात शीलों में अतीचार नहीं लगने देना चाहिये। सम्यग्ज्ञान की भावना में जो नित्य ही उपयुक्त बने रहना है वही तो उस समय अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग प्रसिद्ध होरहा है।

संसाराद्भीरुताभीक्ष्णं संवेगः सद्धियां मतः।
न तु मिथ्यादृशां तेषां संसारस्याप्रसिद्धितः ॥७॥

श्रेष्ठ विचारवान् पुरुषों की जो संसार से सदा भयभीतता है वह सम्यग्ज्ञानियों के यहाँ संवेग माना गया है। मिथ्यादृष्टियों के यहाँ तो संवेग गुण बनता ही नहीं है क्योंकि उन एकान्तवादियों के यहाँ संसारतत्त्व की प्रसिद्धि नहीं है। पाप से तो वह डरेगा जो पाप को पाप समझेगा। मल का कीड़ा मल में ही आसक्त बना रहता है।

शक्तितस्त्याग उद्गीतः प्रीत्या स्वस्यातिसर्जनं।
नात्मपीडाकरं नापि सम्पत्त्यनतिसर्जनं ॥८॥

शक्ति से त्याग वह कह दिया जाता है जो कि प्रीति से अपने धन का परित्याग करना है। शक्ति से अधिक दान करने पर अपने को पीडा उपजती है और अत्यल्प देने से कृपणता आती है अतः वह दान अपने को पीडा करने वाला नहीं होना चाहिये। साथ ही सम्पत्ति का अत्याग करना भी नहीं होना चाहिये। यथायोग्य दान करना शक्तितस्त्याग है।

अनिगूहितवीर्यस्य सम्यग्मार्गाविरोधतः।
कायक्लेशः समाख्यातं विशुद्धं शक्तितस्तपः ॥९॥

अपने बल, वीर्य को नहीं छिपारहे पुरुष का समीचीन मोक्षमार्ग के अविरोध से जो कायक्लेश का अनुष्ठान करना है वह पूर्व आचार्यों द्वारा विशुद्ध होरहा शक्तितस्तप अच्छा बखाना जा चुका है।

भाण्डागाराग्निसंशांति समं मुनिगणस्य यत् ।
तपःसंरक्षणं साधुसमाधिः स उदीरितः ॥१०॥

जिस प्रकार सम्पत्ति के भण्डार घर में आग लग जाने पर शीघ्र ही उसका उपशम किया जाता है क्योंकि अन्य स्थानों की अपेक्षा वह भण्डारा बहुत उपकारक है। इसी के समान मुनि समुदाय के निर्द्वन्द्व तपश्चरण के ऊपर यदि किसी प्रकार से विघ्न उपस्थित हुआ होय तब उस तप का जो समीचीनतया रक्षण करना है वह साधुसमाधि कही गयी है।

गुणिदुःखनिपाते तु निरवद्यविधानतः ।
तस्यापहरणं प्रोक्तं वैयावृत्यमनिंदितं ॥११॥

गुणवाले साधु पुरुषों के ऊपर दुःख पड़ जाने पर निर्दोष विधि से जो उस दुःख का परिहार करना है वह तो निंदा रहित हो रहा वैयावृत्य अच्छा कहा गया है।

अर्हत्स्वाचार्यवर्येषु बहुश्रुतयतिष्वपि ।
जैने प्रवचने चापि भक्तिः प्रत्युपवर्णिता ॥१२॥
भावशुद्ध्यायुता शश्वदनुरागपरैरलं ।
विपर्यासितचित्तस्याप्यन्यथाभावहानितः ॥१३॥

श्री अर्हंत परमेष्ठियों में और श्रेष्ठ आचार्य महाराजों में तथा बहुत शास्त्रों के जानने वाले उपाध्याय यतियों में एवं जिनोक्त प्रवचन यानी शास्त्रों में भी जो सदा अनुराग में तत्पर होरहे भव्य जीवों करके भावशुद्धि से युक्त होरही अत्यर्थ भक्ति की जाती है वह अर्हंत आदि की भक्ति बखानी गयी चली आरही है। भक्ति की विशेषता यह है कि जिन पुरुषों के चित्त मिथ्याज्ञान करके विपर्यास को प्राप्त होरहे हैं उनके अन्य प्रकारों से होरहे मिथ्याभावों की हानि उस भक्ति करके हो जाती है।

आवश्यकक्रियाणां तु यथाकालं प्रवर्तना ।
आवश्यकापरिहाणिः षण्णामपि यथागमं ॥१४॥

सम्पूर्ण सावद्य क्रियाओं का त्याग कर चित्त का एक आत्मानुभव में लगाये रखना सामायिक है। चौबीस तीर्थंकरों के गुणों का श्रद्धापूर्वक विचार करना स्तव है। दो आसन वाली और बारह आवर्त वाली, तथा चार शिरोनति द्वारा नमस्कार वाली, शारीरिकक्रिया करते हुये मन,वचन, कायकी शुद्धता पूर्वक देव, शास्त्र, गुरु की वंदना करना वन्दना है। पहिले लगे हुये दोषों की निवृत्ति करना प्रतिक्रमण है। भविष्य में आनेवाले संभाव्यमान दोषों का प्रथम से ही त्याग कर देना प्रत्याख्यान है। काल की मर्यादा कर शरीर में ममत्व भाव की निवृत्ति कर देना कायोत्सर्ग है। इस प्रकार इन छैओं भी आवश्यक क्रियाओं का (में) यथायोग्य काल में आगम विधि अनुसार प्रवृत्ति करते रहना सो आवश्यकापरिहाणि है।

मार्गप्रभावना ज्ञानतपोऽर्हत्पूजनादिभिः ।
धर्मप्रकाशनं शुद्धबोद्धानां परमार्थतः ॥१५॥

उत्कट ज्ञान का अभ्यास करना, उग्र तपश्चरण करना, प्रतिष्ठान पूर्वक जिनपूजन करना, विशाल चैत्यालय निर्माण, उद्भट शास्त्रार्थ, प्रकृष्ट वक्तृता, आदि विधानों करके शुद्ध हृदय वाले बुद्धिशाली पुरुषों का जो जैन धर्म का प्रकाश करना है वह परमार्थ रूप से ठोस मार्ग प्रभावना नाम की भावना है ।

वत्सलत्वं पुनर्वत्से धेनुवत्संप्रकीर्तितं ।
जैने प्रवचने सम्यक्छ्रद्धानं ज्ञानवत्स्वपि ॥१६॥

जिस प्रकार सद्यःप्रसूता गाय अपने बछड़े में अकृत्रिम स्नेह करती है उसीप्रकार जिनमतानुयायी अच्छे वचन वाले विद्वानों में और समीचीन श्रद्धान ज्ञान वाले साधर्मी पुरुषों में भी जो पुनः-पुनः प्रमोदबहुलवत्सलता करना है वह प्रवचनवत्सलत्व भावना अच्छी कही गयी है ।

अथ किमेते दर्शनविशुद्ध्यादयः षोडशापि समुदितास्तीर्थकरत्वसंवर्तकस्य नामकर्मणः पुण्यास्रवः प्रत्येकं वेत्याशंकायामाह—

अब यहां कोई शंका उठाता है कि क्या ये दर्शन विशुद्धि, विनय सम्पन्नता, आदि सोलहों भी भावनायें समुदित होकर तीर्थकरत्व का सम्पादन करने वाले पुण्यस्वरूप नाम कर्म के आस्रव हैं ? अथवा क्या षोडश भावनाओं में प्रत्येक भी तीर्थंकरत्व पुण्यनाम कर्म का आस्रव है ? बताओ । इस प्रकार आशंका उपस्थित होने पर ग्रन्थकार उत्तर को कहते हैं ।

दृग्विशुद्ध्यादयो नाम्नस्तीर्थकृत्त्वस्य हेतवः ।
समस्ता व्यस्तरूपा वा दृग्विशुद्ध्या समन्विताः ॥१७॥
सर्वातिशायि तत्पुण्यं त्रैलोक्याधिपतित्वकृत् ।
प्रवृत्त्यातिशयादीनां निर्वर्तकमपीशितुः ॥१८॥

समस्त यानी पूरी सोलहों अथवा व्यस्त यानी प्रत्येक भी दर्शन विशुद्धि आदिक भावनायें तीर्थंकरत्व नामकर्म की हेतु हैं किन्तु वे दर्शन विशुद्धि से भले प्रकार अन्वित होना चाहिये । "सम्मेव तित्थबन्धो" वह तीर्थंकरत्व नाम कर्म का पुण्य, सम्पूर्ण दिव्यविभूतियों में सर्वोत्कृष्ट महान् अतिशय को धारने वाला है और तीनों लोकों को जीत कर तीर्थंकर भगवान् में त्रैलोक्य के अधिपतित्व को स्थापित करने वाला है । साथ ही अनन्त सामर्थ्य युक्त होरहे परमेश्वर जिनेन्द्र देव के प्रवृत्ति करके अतिशय आदिकों का सम्पादक भी वह तीर्थंकरत्व पुण्य है । अर्थात् तेरहमे, चौदहमे गुणस्थानों में तीर्थंकरत्व प्रकृति का उदय है । तीर्थंकरत्व के साथ अविनाभाव रखने वाली अन्य प्रशस्तप्रकृतियों का

उदय तो गर्भ, जन्म अवस्था से ही है जिनोंने पूर्व जन्म में ही तीर्थंकरत्व को बांध लिया है उनको पहिले जन्म से ही विशेषतायें होने लग जाती हैं तेरहवें गुणस्थान में तो शतयोजन सुभिक्ष, आकाशगमन चतुर्मुखदर्शन आदि कितने ही अतिशय उपज जाते हैं। तीर्थंकरत्व का सबसे बढ़िया कार्य तो असंख्य जीवों को तत्त्वोपदेश देकर मोक्षमार्ग में लगा देना है। तीर्थंकर महाराज से ही धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति होती है।

अत एव शुभनाम्नः सामान्येनास्रवप्रतिपादनादेव तीर्थकरत्वस्य शुभनामकर्मविशेषास्रवप्रतिपत्तावपि तत्प्रतिपत्तये सूत्रमिदमुक्तमाचार्यैः। सामान्येऽन्तर्भूतस्यापि विशेषार्थिना विशेषस्यानुप्रयोगः कर्तव्य इति न्यायसद्भावात् ॥

इस ही कारण से अर्थात् इन संसारी जीवों के लिये महान् उपकारक होने से सर्वोत्कृष्ट तीर्थंकरत्व का आस्रावक सबसे बड़ा सूत्र कहा है। यद्यपि "तद्विपरीतं शुभस्य" इस सूत्र द्वारा सामान्य करके शुभ नाम कर्म के आस्रव का प्रतिपादन कर देने से ही शुभ नाम कर्म के विशेष होरहे तीर्थकरत्व कर्म आस्रव की प्रतिपत्ति हो सकती थी तथापि उस सर्वातिशायि पुण्य की प्रतिपत्ति कराने के लिये इस सूत्र को आचार्यों ने पृथक् कह दिया है। सामान्य में अन्तर्भूत हो चुके विशेष का भी विशेष के अभिलाषी पुरुष करके स्वतंत्रतया उस विशेष का पुनः प्रयोग कर देना चाहिये इस प्रकार के न्याय का सद्भाव है। "ब्राह्मणवशिष्ठ न्याय" अथवा "जिनेन्द्रदेवमहावीर" न्याय प्रसिद्ध हैं। इन लौकिकन्यायों अनुसार जगदुपकारी और जड़ कर्मों की भी प्रशंसा करा देने वाली तीर्थंकरत्व प्रकृति का पृथक् सूत्र द्वारा निरूपण करना सहृदय सूत्रकार का समुचित प्रयास है।

नामकर्म के आस्रव का कथन कर चुकने पर गोत्र कर्म का आस्रव वक्तव्य हुआ तहां "दुर्जनं प्रथमं सत्कुर्यात्" इस न्याय अनुसार पहिले नीच गोत्र के आस्रव का निरूपण करने के लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

परात्मनिंदाप्रशंसे सदसद्गुणच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य ॥२५॥

पर की निंदा करना और अपनी प्रशंसा करना तथा विद्यमान होरहे गुणों को ढक देना और नहीं विद्यमान होरहे दोषों को प्रकट करना ये सब नीचैर्गोत्र कर्म के आस्रावक कारण हैं।

दोषोद्भावनेच्छा निंदा, गुणोद्भावनाभिप्रायः प्रशंसा, अनुद्भूतवृत्तिता छादनं, प्रतिबंधकाभावे प्रकाशितवृत्तितोद्भावनं, गूयते तदिति गोत्रं, नीचैरित्यधिकरणप्रधानशब्दः। तदेवं परात्मनोर्निंदाप्रशंसे सदसद्गुणयोश्छादनोद्भावने नीचैर्गोत्रस्यास्रव इति वाक्यार्थः प्रत्येयः। कुत एतदित्याह—

सत्य अथवा असत्य दोषों के प्रकट करने की इच्छा निंदा कही जाती है। सद्भूत या असद्भूत गुणों के प्रकट करने का अभिप्राय रखना प्रशंसा है। प्रसिद्ध नहीं होने देना यानी छिपाये रखने का

व्यवहार रखना आच्छादन है। प्रतिबंधक कारण का अभाव होने पर प्रकाशित हो जाने की प्रवृत्ति करना उद्भावन है। जो व्यवहारी पुरुषों करके बोला जारहा है इस कारण वह गोत्र है। नीचैः यह शब्द अधिकरण की प्रधानता रखने वाला है। तिस कारण इस सूत्र वाक्य का अर्थ इस प्रकार समझ लिया जाय कि पर की निंदा करना और अपनी प्रशंसा करना, दूसरों के सद्गुणों का तिरोभाव करना और असद्गुणों का आविर्भाव करना ये आत्मा को नीचे स्थान में करने वाले नीचैर्गोत्र कर्म के आस्रव हैं। यहाँ कोई तर्क उठाता है कि किस युक्ति से ये सूत्रोक्त उद्देश्यविधेयदल संगत होरहे हैं ? बताओ। ऐसा चोद्य उपस्थित होने पर ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्तिक को कहते हैं कि—

परनिंदादयो नीचैर्गोत्रस्यास्रवाः स्मृताः।
तेषां तदनुरूपत्वादन्यथानुपपत्तितः ॥१॥

परनिंदा आदिक तो (पक्ष) नीचैर्गोत्र कर्म का आस्रव कराने वाले माने गये हैं (साध्य) क्योंकि उन परनिंदा आदि को उस नीचगोत्र के आस्रव करने की अनुकूलता प्राप्त है। (हेतु) अन्यथा यानी नीचगोत्र के आस्रावक होने के बिना उस तदनुकूलता की असिद्धि है (अविनाभाव प्रदर्शन) यों अनुमान मुद्रा करके सूत्रोक्त सिद्धांत पुष्ट कर दिया है।

नीचगोत्र का आस्रव कहा जा चुका है। अब उच्च गोत्र के आस्रव की विधि क्या है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य ॥२६॥

उन नीचगोत्र के आस्रावक कारणों से विपरीत होरहे अर्थात् आत्मनिंदा, परप्रशंसा, सद्गुण उद्भावन, असद्गुणछादन, तथा गुणी पुरुषों से विनय करते हुये अवनत रहना और विज्ञान आदि का मद नहीं करना ये उत्तरवर्त्ती यानी उच्चगोत्र के आस्रावक हेतु हैं।

नीचैर्गोत्रस्यास्रवप्रतिनिर्देशार्थस्तच्छब्दः, विपर्ययोऽन्यथावृत्तिः, गुरुष्ववनतिर्नीचैर्वृत्तिः, अनहंकारतानुत्सेकः। त एते उच्चैर्गोत्रस्यास्रवा इति समुदायार्थः ॥ कथमित्याह—

तत् शब्द पूर्वपरामर्शक होता है। इस सूत्र में पूर्व सूत्रोक्त नीचैर्गोत्र के आस्रव कारणों का प्रतिनिर्देश करने के लिये तत् शब्द कहा गया है। अन्य प्रकार करके वृत्ति करना विपर्यय है। गुणों से उत्कृष्ट होरहे गुरुजनों में विनय करके अवनति यानी नम्र बने रहना नीचैर्वृत्ति है। विज्ञान, तपश्चर्या, चारित्र आदि गुणों करके उत्कृष्ट होरहे भी सत्पुरुष का जो विज्ञान आदि प्रयुक्त मद नहीं करना है वह अनुत्सेक कहा जाता है। ये सब लोक प्रसिद्ध होरहे कारण उच्चैर्गोत्र के आस्रव हैं। यह इस सूत्र के वाक्यों का समुदाय कर अर्थ कर दिया गया है। यहाँ कोई चोद्य उठता है कि आप जैनों की बात केवल आज्ञा सिद्ध मान ली जाय ? अथवा उक्त सूत्र के अभिमत सिद्धान्त में कोई युक्ति भी है ? यदि है तो वह किस प्रकार है ? ऐसी तर्कणा उपस्थित होने पर ग्रन्थकार इस वक्ष्यमाण वार्तिक को कहते हैं।

उत्तरस्यास्रवः सिद्धः सामर्थ्यात्तद्विपर्ययः ।
नीचैर्वृत्तिरनुत्सेकस्तथैवामलविग्रहः ॥

जिस ही प्रकार परनिंदा आदिक नीचगोत्र के अनुरूप होरहे नीचगोत्र के आस्रव हैं उस ही प्रकार उनसे विपरीत होरहे परप्रशंसा आदिक तो उत्तर गोत्र के आस्रव हैं। यह बात विशेष युक्ति का प्रतिपादन किये बिना सामर्थ्य से सिद्ध हो जाती है। तिस ही प्रकार नीचैर्वृत्ति और अनुत्सेक भी उच्चगोत्र के आस्रव हैं। उक्त सिद्धान्त का शरीर निर्मल है कोई दोष नहीं है अथवा निर्दोष साधनों करके मनःशुद्धि और आत्मशुद्धि का कारण शरीर की शुद्धि बनाये रखना यह भी उच्चगोत्र का आस्रव है।

यथैव हि नीचैर्गोत्रानुरूपो नीचैर्गोत्रस्यास्रवः परनिंदादिस्तथोच्चैर्गोत्रानुरूपः परप्रशंसादिरुच्चैर्गोत्रस्येति न कश्चिद्विरोधः ।

कारण कि जिस ही प्रकार नीचगोत्र के अनुकूल होरहे परनिंदा आदिक नीचगोत्र के आस्रव कह दिये हैं। तिस ही प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों में पाये जारहे ऊँचे गोत्रों के अनुरूप हुये परप्रशंसा, आत्मनिंदा आदिक तो उच्चगोत्र के आस्रव हैं। यों लौकिक और शास्त्रीय न्याय से इस सूत्रोक्त सिद्धांत का कोई विरोध नहीं आता है। उक्त वार्तिक में इस सूत्रोक्त का अनुमान बनाया जा सकता है। तर्क-रसिक विद्वानों को प्रत्यक्षित या आगमगम्य विषयों में भी अनुमान प्रयोग अभिरूप जचता है॥ गोत्र-कर्म के अनन्तर निर्दिष्ट किये गये आठवें अन्तराय कर्म का आस्रव क्या है ? ऐसी बुभुत्सा प्रवर्तने पर परोपकारी सूत्रकार इस अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

विघ्नकरणमन्तरायस्य ॥२७॥

दान आदि शुभ कार्यों में विघ्न कर देना अन्तराय कर्म का आस्रव है।

दानादिविहननं विघ्नः तस्य करणं दानाद्यंतरायस्यास्रवः प्रत्येयः । कुत इत्याह—

दान आदि अर्थात् दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य का विशेषतया हनन करना विघ्न है उस विघ्न का करना दानान्तराय, लाभान्तराय आदि अन्तराय कर्मों का आस्रव कारण होरहा समझ लेना चाहिये, किस कारण से या किस युक्ति से इस सूत्र का कहा हुआ विषय पर्यालोचित समझा जाय ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार उत्तरवर्ती दो वार्त्तिकों को कहते हैं॥

सर्वस्याप्यंतरायस्यास्रवः स्यात्प्राणिनामिह ।
विघ्नस्य कारणात्तस्य तथायोग्यत्वनिश्चयात् ॥१॥
प्रवर्तमानदानादि प्रतिषेधस्य भावना ।
आस्रावकोऽन्तरायस्य दृष्टतद्भावना यथा ॥२॥

इन दान, लाभ, आदि में विघ्न कर देने से प्राणियों के सभी अन्तराय कर्मों का आस्रव हो जायगा (प्रतिज्ञा) जिस प्रकार कार्यकारणभाव की योग्यता का निश्चय होने से : हेतु। जिस प्रकार कि दान आदि में प्रवृत्ति कर रहे पुरुष की क्रियाओं में उन दानादि के प्रतिषेध की भावना करना अन्तराय कर्म का आस्रावक है देखे जा रहे पदार्थ में उसकी भावना करना भी पौद्गलिकपदार्थ का आस्रावक है (दृष्टान्त) यों निर्दोष अनुमान से उक्त सूत्र का प्रमेय पुष्ट हो जाता है। विज्ञान की दृष्टि से पौद्-गलिक शक्तियों का विचार करो दीन, नार्दिदा पुरुष मीठे व्यञ्जन की ओर लालसा से देखता है, कामुक जन सुन्दरी कामिनी की ओर टकटकी लगा कर देखता है, सुन्दर बच्चे को दृष्टि लग जाती है इत्यादि रहस्यों का चिन्तन करो।

इति करणानुवृत्तेः सर्वत्रानुक्तसंग्रहः। तेन विघ्नकरणजातीयाः क्रियाविशेषाः। प्रभूतस्वं प्रयच्छति प्रभौ स्वल्पदानोपदेशादयोऽपि दानाद्यंतरायास्रवाः प्रसिद्धा भवन्ति।

"भूतवृत्यनुकम्पा" आदि सूत्र में इति शब्द उपात्त किया गया है। इति का अर्थ प्रकार है यानी इस प्रकार के अन्य भी कारण इन-इन कर्मों के आस्रव हो सकते हैं। "देहलीदीपक" न्याय से इति शब्द का "तत्प्रदोष" "दुःखशोक" "कषायोदयात्" "बह्वारंभ" "मायातैर्यग्योनस्य" आदिक सभी कर्मास्रव के प्रतिपादक सूत्रों में अन्वय हो जाता है। उन-उन सूत्रों में कहे गये कारण तो उपलक्षण हैं। प्रकार अर्थ वाले इति शब्द करके प्रदोष आदि के साथ आचार्य या उपाध्याय के प्रतिकूल हो जाना, अकाल में अध्ययन करना, श्रद्धा नहीं रखना, मिथ्या उपदेश देना, आदि का ग्रहण हो जाता है। दुःख, शोक, आदि के साथ अशुभ प्रयोग, अंगोपांगछेदन, तर्जन, विश्वासघात, विषमिश्रण, यंत्र, पींजरा बनाना, आदि का संग्रह हो जाता है। भूतानुकम्पा आदि के साथ अर्हत पूजा, विनयप्रधानता आदि गुण भी पकड़ लिये जाते हैं। केवलि अवर्णवाद के साथ जैनधर्म में अश्रद्धा, जिनोक्त सिद्धान्त में संशय रखना, समीचीन उपदेश से सर्वथा विपरीत ही प्रवृत्ति करना, एकान्त पक्ष का आग्रह किये जाना आदि का ग्रहण किया जा सकता है। चारित्रमोह के आस्रावक हेतुओं में तपस्वी जनों की निंदा करना, हास्य-शीलता, शोकप्रधानता, आदि भी गिन लिये जाते हैं। नरक आयु के कहे गये आस्रव कारण भी उपलक्षण हैं। इति शब्द द्वारा शैल भेद सदृश क्रोध करना, प्राणिघात, पर धन हरण, आदि भी ले लिये जाते हैं। तिर्यंच आयु का आस्रव माया के कह देने मात्र से, अधर्म का उपदेश, जातिकुलशीलदूषण आदि का संग्रह हो जाता है। अल्प आरंभ और अल्पपरिग्रह के साथ ही प्रकृतिभद्रता, मार्दव, आर्जव, वालुका राजि के सदृश क्रोध करना, अधिक बोलने की टेव नहीं रखना, उदासीनता आदि भी ग्रहण करने योग्य हैं। सराग संयम आदि के साथ सद्धर्म श्रमण, प्रोषधोपवास भी संग्रहणीय हैं। योग वक्रता आदि सूत्र में च शब्द या इति शब्द करके अस्थिरचित्तस्वभाव, झूंठे नाप-तोल रखना, झूंठ बोलने की टेव, अधिक बकवाद, उद्यान विनाश, आदि का समुच्चय समझ लिया जाय। "तद्विपरीतं शुभस्य" इस सूत्र में भी धार्मिक दर्शन, संसारभीरुता, प्रमादवर्जन आदि अनुक्त भी परणतियों का संग्रह कर लिया जाता है। दर्शन विशुद्धि आदि सोलह भावनायें तो नियत ही हैं। सदा जैनत्व के बढ़ते रहने की भावना रखना, परोपकार करना, प्रशस्त कार्यों में आत्मबल बढ़ाना, सम्पूर्ण संसारी जीवों के हित की भावना रखना ये परणतियां सोलह कारणों में ही गर्भित हो जाती हैं। परनिंदा आदि के साथ जाति अभिमान, कुलाभिमान, गुरु का तिरस्कार करना, आदि भी पकड़ लिये जाते हैं। उच्चगोत्र के आस्रावक हेतुओं में धर्मात्माओं की सेवा, उद्धतता नहीं करना आदि प्रकार भी ले लिये जाते हैं। इस "विघ्नकरणमंतरायस्य"

सूत्र में भी इति शब्द की अनुवृत्ति है अतः पंचेन्द्रियों के विषय में किसी को विघ्न डाल देना, धर्म का व्यवच्छेद करना, पात्र को आश्रय न देना, गुह्य अंग को छेदना, आदि अनुक्त पदार्थों का संग्रह हो जाता है। जब कि इति शब्द के करने की अनुवृत्ति हो जाने से सभी सूत्रों में अनुक्तों का संग्रह हो रहा है तिस कारण विघ्न करने की जातिवाले जितने भर क्रियाविशेष हैं उन सब का यहां संग्रह कर लिया जाता है। कोई राजा, महाराजा या सेठ किसी विद्वान् को या परोपकारी धार्मिक पुरुष को यदि बहुत सा धन दे रहा है ऐसी दशा में उस दाता को स्वल्प दान करने का उपदेश करना, भांजी मार देना, पात्र या धार्मिक स्थान के दोष दिखा देना, आदिक भी दानान्तराय, लाभान्तराय आदि कर्मों के आस्रव प्रसिद्ध हो जाते हैं। यह निर्णीत विषय है।

सोऽयं विचित्रः स्वोपात्तकर्मवशादात्मनो विकारः शौंडातुरवत् प्रत्येयः।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सो यह विचित्र प्रकार का अपने-अपने उपार्जित कर्मों के वश से आत्मा का विकार हो रहा है जो कि मदोन्मत्त पुरुष या रोगी पुरुष के समान समझ लिया जाता है। भावार्थ "कामादि प्रभवश्चित्रः कर्मबंधानुरूपतः। तच्च कर्म स्वहेतुभ्यो जीवास्ते शुद्धयशुद्धयतः" श्री समन्तभद्राचार्य ने धनी, निर्धन, मूर्ख, पण्डित, यशस्वी, अपयशवाला, उच्च-नीच, दुःखी-सुखी, कषायी-मन्दकषाय, क्रोधी, मिथ्यादृष्टी, मनुष्य, तिर्यंच आदि चित्र-विचित्र प्रकार का जीव का परिणाम हो रहा सभी पूर्वोपार्जित कर्मों अनुसार व्यवस्थित किया है। यह जीव अपने योग कषायों करके अनेक प्रकार के कर्मों का समय प्रबद्ध प्रतिक्षण बांधता रहता है। जब तक वास्तविक रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं होती है तब तक मोह या कषायों के वश यह जीव अनेक विभाव अवस्थाओं को धारता रहता है जिस प्रकार मत्त पुरुष अपनी मिथ्या रुचि से मद, मोह विभ्रमों को करने वाली मदिरा को पीकर उस मद्य के परिपाक की अधीनता से आत्मा, मन, वचन, काय संबंधी अनेक विकारों को धारता रहता है अथवा जैसे लोलुप रोगी, अपथ्य पदार्थों को खा-पीकर उनके खोटे परिपाक अनुसार वात, पित्त, कफ के विकारों को प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार यह संसारी जीव अपने प्रदोष आदि कारणों से अनुभाग रस को लेकर आये हुये कर्मों अनुसार नट के समान अनेक विभाग परणतियों को करता रहता है। यह कर्मसिद्धान्त प्रतीत कर लेने योग्य है।

अनुपदिष्टहेतुकत्वादास्रवानियम इति चेन्न, स्वभावाभिव्यंजकत्वाच्छास्त्रस्य। तत्सिद्धिरतिशयज्ञानदृष्टत्वात् सर्वाविसंवादाच्चोपालंभनिवृत्तिः। सर्वेषां प्रवादिनामविसंवाद एव शुभाशुभास्रवहेतुषु यथोपवर्णितेषु। कुत इत्याह—

यहाँ कोई आक्षेप उठाता है कि तत्प्रदोष, निह्नव, आदि करके ज्ञानावरण आदि कर्मों के आस्रव हो जाने का जो सूत्रकार ने उपदेश दिया है यह बन नहीं सकता है क्योंकि इस कार्यकारणभाव में कोई हेतु का निर्देश नहीं है अतः सूत्रों अनुसार किया गया नियम नहीं बन सकेगा, ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि शास्त्र तो पदार्थ के स्वभावों का मात्र प्रकट कर देने वाला है। अग्नि उष्ण है, वायु बह रही है, सूर्य प्रकाश रहा है बिना हेतु दिये भी इन वाक्यों से वस्तु के स्वभावों की अभिव्यक्ति हो जाती है। सच बात तो यह है कि "स्वभावो तर्कगोचरः" "अचिन्त्यः कार्यकारणभावः" "वस्तु निर्विकल्पकं" यों कार्यकारणभाव में कोई तर्क का अवसर नहीं है। सिद्धान्तशास्त्र केवल स्वभावों का निरूपण कर देते हैं जिस प्रकार प्रदीप ज्ञापक घट, वस्त्र आदि के स्वभाव को प्रकट कर देता है उसी

प्रकार शास्त्र भी विद्यमान हो रहे ही अर्थों का प्रकाशक है पश्चात् बैठा ठाला कोई छोटी बुद्धिवाला पुरुष भी उनके हेतुओं की विचारणा कर सकता है। अग्नि क्यों जलाती है? कि उसमें दाहकत्व शक्ति है अन्य में वह शक्ति नहीं है। शास्त्र के उस मत् पदार्थों के अभिव्यंजकपने की सिद्धि तो यों हो जाती है कि युगपत् सम्पूर्ण अर्थों के प्रकाशने में समर्थ हो रहे और सातिशय ज्ञान को धार रहे श्री अर्हंत परमेष्ठी ने उस विषय को देख कर शास्त्र के अर्थ का उपदेश दिया है अतः वक्ता के प्रामाण्य से शास्त्र का प्रमाणपना सिद्ध है। एक बात यह भी है कि इन स्वभावों के निरूपण में सभी प्रवादियों का विसंवाद नहीं है। देखिये वैशेषिक या नैयायिक पण्डित पृथ्वी, जल, तेज, वायु, द्रव्यों के स्वभाव कठिनपना, बहना, उष्णता, चलन मानते हैं। रूप का स्वभाव चक्षु से देखा जाना इष्ट किया है। संयोग और विभाग में किसी की नहीं अपेक्षा कर कारण हो जाना कर्म का स्वभाव इष्ट किया है। सांख्य पण्डितों ने सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण के स्थिति, उत्पाद, विनाश या प्रसाद, प्रवृत्ति, मोह, ये स्वभाव माने हैं "अविद्या प्रत्ययाः संस्काराः" आदि बौद्धों को भी स्वभाव मानने पड़ते हैं। अतः सभी पण्डितों का अविसंवाद हो जाने से भी उपालंभों (उलाहनों) की निवृत्ति हो जाती है। आम्नायानुसार सूत्रों में जैसा-जैसा शुभ अशुभ कर्मों के आस्रावक हेतुओं का ठीक-ठीक वर्णन किया जा चुका है उनमें सभी मीमांसक, नैयायिक आदि प्रवादियों के यहाँ भी कोई विसंवाद ही नहीं है। यहां कोई तर्क उठाता है कि उक्त कर्मों के आस्रावक हेतुओं का "कार्यकारणभाव" किस प्रमाण से नियत कर लिया जाय? ऐसा आग्रह प्रवर्तने पर ग्रन्थकार इस वार्त्तिक को भी युक्तिसंतोषी जनों के प्रति कहे देते हैं।

इति प्रत्येकमाख्यातः कर्मणामास्रवः शुभः।
पुण्यानामशुभः पापरूपाणां शुद्ध्यशुद्धितः॥२॥

इस प्रकार इन अठारह सूत्रों द्वारा आठ कर्मों में से प्रत्येक-प्रत्येक के आस्रवों को कह रहे सूत्रकार महाराज ने जीवों की शुद्धि से पुण्यकर्मों का शुभ आस्रव और आत्मा की अशुद्धि से पापस्वरूप कर्मों का अशुभ आस्रव होरहा बहुत अच्छा कह दिया है "शुद्ध्यशुद्धी पुनः शक्ती ते पाक्यापाक्यशक्तिवत्। साद्यनादी तयोर्व्यक्ती स्वभावोऽतर्कगोचरः" इस देवागम की कारिका पर ग्रन्थकार श्री विद्यानंद स्वामी ने अष्टसहस्री में इस विषय का अच्छा स्पष्टीकरण कर दिया है।

ज्ञानावरणादीनां कर्मणां तत्प्रदोषादयोऽशुभास्रवाः प्राणिनां संक्लेशांगत्वात् भूतव्रत्यनुकम्पादयः सद्वेद्यादीनां शुभास्रवा विशुद्ध्यंगत्वान्यथानुपपत्तेरिति प्रमाणसिद्धत्वात्।

प्राणियों के तत्प्रदोष, निह्नव, आदिक तो (पक्ष) पाप प्रकृति होरहे ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदिक कर्मों के अशुभ आस्रव हैं (साध्य) संक्लेश का अंग होने से (हेतु)। अर्थात् संक्लेश के कारण और संक्लेश के कार्य अथवा संक्लेश स्वरूप को यहां संक्लेशांग पकड़ा गया है। संक्लेशांग होरहे लौकिक सुख/या दुःख अथवा दोनों ही यदि स्व, पर और उभय में स्थित हो रहे हैं तो वे अवश्य पापों का आस्रव कराते हैं तथा भूत या व्रतियों में किये गये अनुकंपा, दान आदिक (पक्ष) सद्वेदनीय आदिक शुभ कर्मों के आस्रव हैं (साध्य) अन्यथा उनको विशुद्धि का अंगपना बन नहीं सकता है (हेतु) विशुद्धि के कारण और विशुद्धि के कार्य तथा विशुद्धि के स्वभाव ये सब विशुद्धि के अंग हैं जो परिणाम आत्मा का विशुद्धि का अंग होगा वह अविनाभावरूप से पुण्य कर्मों का आस्रावक है। इस प्रकार छठे

अध्याय के सूत्रोक्तसिद्धान्त की अनुमान प्रमाण से सिद्धि कर दी जाती है। श्री अकलंकदेव महाराज ने अष्टशती में "आर्तरौद्रध्यानपरिणामः संक्लेशस्तदभावो विशुद्धिरात्मनः स्वात्मन्यवस्थानम्" यों कहा है कि आर्तध्यान, या रौद्रध्यान, स्वरूप परिणाम संक्लेश है और धर्म्यध्यान, शुक्लध्यान, स्वभाव वाली विशुद्धि है। यद्यपि एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यंत जीवों के मन नहीं होने के कारण ध्यान नहीं है फिर भी तीव्र अनुभाव को लिये हुये कषायोदय स्थान हैं अतः वे भी संक्लेशांग समझे जांय। इसी प्रकार चौथे से सातवें गुणस्थान तक संभव रहा धर्म्यध्यान और ऊपर के गुणस्थानों में पाया जा रहा शुक्लध्यान उन मन्द कषाय वाले मिथ्यादृष्टियों के नहीं है जिनके कि आत्मविशुद्धि होने से अनेक पुण्य प्रकृतियों का आस्रव हो जाता है अतः संक्लेश या विशुद्धि का अर्थ ऐसा समझ लिया जाय जो कि अव्यभिचरित रूप से सभी पापपुण्य वाले जीवों में पाया जाय।

तत्स्वभावाभिव्यंजकशास्त्रस्य सर्वसंवादः सिद्ध एव।

शास्त्र तो उन पदार्थों के स्वभाव का प्रकाशक है अतः राग-द्वेष रहित होकर स्वभावों का व्याख्यान कर देने से समीचीन शास्त्रोक्त सिद्धान्त में सभी प्रवादियों का संवाद सिद्ध ही है। सफल प्रवृत्ति का जनकपना या निर्बाधपना अथवा अन्य प्रमाणों की प्रवृत्ति, ये सभी संवाद इस कर्मसिद्धान्त में [illegible] जाते हैं

ननु तत्प्रदोषादीनां सर्वास्रवत्वान्नियमाभाव इति चेन्न, अनुभागविशेषनियमोपपत्तेः प्रकृतिप्रदेशसंबंधनिबंधनो हि सर्वकर्मणां तत्प्रदोषादिभिः सकलोऽप्यास्रवो न प्रतिविधीयते। यस्त्वनुभागास्रवः स विशिष्टः प्रोक्तः। अतएव सकलास्रवाध्यायसूत्रितमत्र विशेषात्समुदायतोऽनुभागापेक्षयैवोपसंहृत्य दर्शयति।

यहाँ बड़ा अच्छा प्रश्न उठता है कि तत्प्रदोष, निह्नव, दुःख, शोक, आदिक तो सभी कर्मों के आस्रव हेतु हो रहे हैं अतः उक्त अठारह सूत्रों द्वारा किये गये नियम का अभाव हुआ। भावार्थ-तत्प्रदोष करके जब ज्ञानावरण का आस्रव होना कहा जाता है उसी समय दर्शन मोहनीय, चारित्रमोहनीय, सातवेदनीय कर्मों का भी आस्रव हो रहा है। आगम में आयु को छोड़ कर सातों कर्म प्रतिक्षण आते रहते कहे गये हैं। दशवें गुणस्थान तक ज्ञानावरण का आस्रव है। ज्ञानावरण का आस्रव होते सन्ते दूसरों का आस्रव नहीं होना चाहिये जो कि इष्ट नहीं है। इसी प्रकार भूतदया आदि कारणों द्वारा सद्वेद्य का आस्रव होने के समय, अन्य क्रोध, मान, माया, लोभ आदि पाप प्रकृतियों का भी आस्रव होता है अतः आस्रव का कोई नियम नहीं रहा। आस्रव के विशेष हेतुओं का निर्देश करना व्यर्थ पड़ता है जब कि सूत्रों के उद्देश्य विधेय दलों में एवकार लगा दिया जायगा जो कि बिना कहे ही प्रत्येक वाक्य में अनायास से लग बैठता है तब तो अनेक व्यभिचार दोष सपरिकर आ जावेंगे। ऐसी दशा में सूत्रोक्त सिद्धान्तों की अनुमानों से सिद्धि करना कठिन पड़ जावेगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि कर्म प्रकृतियों में फल देने की शक्ति स्वरूप अनुभाग विशेष की अपेक्षा नियम करना बन जाता है। यद्यपि तत्प्रदोष आदि करके ज्ञानावरण आदि सभी कर्म प्रकृतियों के प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, और स्थितिबंधपन का कोई नियम नहीं है तो भी अनुभागबंध के नियम का हेतु होने से तत्प्रदोष

आदिक विभक्त कर दिये जाते हैं भलें ही एवकार लगा दिया जाय अथवा हेतु साध्य बनाते हुये अनुमान प्रमाण स्वरूप सूत्र मान लिये जायें किंतु अनुभागबंध की अपेक्षा नियम कर देने से कोई अतिप्रसंग नहीं आता है जिस समय ज्ञान विषय में प्रदोष किया जा रहा है उस समय ज्ञानावरण कर्म में अनुभाग शक्ति अधिक पड़ेगी शेष आरहे कर्मों में अनुभाग मंद पड़ेगा। दया, क्षमा करते समय सातवेदनीय कर्म में अनुभाग रस बहुत अधिक बंधेगा, ज्ञानावरण में मन्द रस पड़ेगा, इस प्रकार तत्प्रदोष आदिकों करके सम्पूर्ण कर्मों का कर्मों की प्रकृति पड़ जाना स्वरूप प्रकृतिबंध और कर्मपरमाणुओं का गणना में न्यून अधिक होना स्वरूप प्रदेशबंध के कारण अनुसार हुये सकल भी आस्रव का कोई प्रत्येक-प्रत्येक रूप से विभेद नहीं किया जा रहा है किन्तु जो कर्मों के अनुभाग का आस्रव है वह सूत्रकार महाराज ने विशिष्ट विशिष्ट होरहा उक्त सूत्रों द्वारा अच्छा कह दिया है "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि संदेहादलक्षणं" जब कि सूत्रकार महाराज का ऐसा भाव है। आस्रवतत्त्व के प्रतिपादक इस छठे अध्याय के सम्पूर्ण सूत्रोक्त विषय का यहाँ विशेष रूप से अनुभागबंध की अपेक्षा करके निरूपण है समुदाय रूप से सभी सूत्रों में अनुभागबंध लागू कर लिया जाय। इसी कारण से ग्रन्थकार उक्त अभिप्राय का उपसंहार अग्रिम वार्तिक द्वारा अनुभागबंध के नियम को स्वागताछन्दः करके दिखलाते हैं।

यादृशाः स्वपरिणामविशेषा यस्य हेतुवशतोऽसुभृतः स्युः।
तादृशान्युपपतंति तमग्रे स्वानुभागकरकर्मरजांसि ॥४॥

जिस प्राणी के हेतुओं के वश से जैसे-जैसे अपने परिणाम विशेष होंगे तिस-तिस प्रकार की अपने जाति के अनुभाग को करने वाली कर्मस्वरूप धूलियां उस जीव के आगे आ पड़ेंगी। अर्थात् आत्मप्रदेश परिस्पन्दरूप योग से प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध होते हैं किन्तु कषायों से स्थिति और अनुभाग पड़ते हैं। दशवें गुणस्थान तक कर्मों का आस्रव है आगे तो केवल सातावेदनीय का नाममात्र आस्रव है। दशवें गुणस्थान तक कषायें पायी जाती हैं। तत्प्रदोष आदि भी कषायों की विशेष जातियों अनुसार हुये परिणाम विशेष हैं। कषायों में पाये जारहे अनुभागबंधाध्यवसाय स्थान इन प्रदोष आदि में अत्यधिक हैं। अतः अव्यभिचारी सूत्रोक्त कार्य कारण भाव बन जाता है।

इति षष्ठाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्।

इस प्रकार छठे अध्याय का श्री विद्यानंद स्वामी करके विरचित प्रकरणों का
समुदाय रूप दूसरा आह्निक समाप्त हो चुका है।

इति श्रीविद्यानन्दि-आचार्यविरचिते तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालंकारे षष्ठोऽध्यायः समाप्तः ॥६॥

यहां तक श्री विद्यानन्दी आचार्य महाराज करके विशेषतया रचे गये तत्त्वार्थश्लोक-
वार्त्तिकालंकार नाम के ग्रन्थ में छठवां अध्याय परिपूर्ण हो गया है।

इस अध्याय के प्रकरणों की सूची संक्षेप से यों है कि प्रथम ही योग का परिष्कृत लक्षण कर उसी को आस्रव कहा गया है। योग आत्मा का प्रयत्नविशेष है आत्मा के बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक अनेक प्रकार के पुरुषार्थ होते रहते हैं। कौर बनाना, लील लेना, ये सब पशु, पक्षी, मनुष्यों के बुद्धि पूर्वक

पुरुषार्थ हैं, पेट में जाकर उस खाद्य या पेय पदार्थ का रस, दूध, रुधिर, मांस, मेद, मज्जा, शुक्र, मल, मूत्र, पसीना बनना भी विशेष पुरुषार्थ द्वारा ही होता है भले ही उन पुरुषार्थों का जीव पूरा संवेदन नहीं कर सके। अथवा कितने ही पुरुषार्थ सर्वथा अबुद्धि पूर्वक भी होयं। बात यह है कि पढ़ना, चलना, सोना, विचारना, भोजन बनाना, पूजा करना, संयम पालना, हत्या करना, झूठ बोलना, चोरी करना, व्यभिचार, मांसभक्षण आदि भले-बुरे कार्य किये जाते हैं ये भी सब पुरुषार्थ पूर्वक हैं। पुरुषार्थ के धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये जो चार नाम गिना दिये हैं वे शुभ कार्यों में प्रवृत्ति कराने के लिये उपयोगी हैं। आर्त, रौद्र, धर्म्य, शुक्ल ये चारों ध्यान पुरुषार्थ हैं। कपड़े पहिनना, गाड़ी पर चढ़ना, खोदना, पानी खैंचना, नाचना, गाना, थप्पड़ मारना, जीना, नसैनी पर चढ़ना, उतरना, यहाँ तक कि हंगना, मूतना, थूकना, छींकना, जंम्हाई लेना ये सब क्रियायें आत्मा के यत्नविशेष से हुयीं पुरुषार्थ ही हैं। जीव का चला कर बुद्धि पूर्वक या अबुद्धि पूर्वक व्यापार करना, चाहे क्रियात्मक होय या अक्रियात्मक होय सब पुरुषार्थ ही समझा जायगा, जो गृहस्थ त्रिवर्ग का साधन नहीं कर कुकृत्यों में फंसा हुआ है उसको "त्रिवर्गसंसाधनमन्तरेण पशोरिवायुर्विफलं नरस्य" यों उपदेश देकर धर्म, अर्थ, काम, पुरुषार्थों की ओर झुका दिया जाता है। जो मुनि आवश्यकों या अपने चरित्र में प्रमाद करता है उसको मोक्ष पुरुषार्थ की साधना के लिये उद्युक्त कर दिया जाता है। कोई-कोई विद्वान् धर्म, अर्थ और काम को धर्म, यश और सुख कहते हुए गृहस्थ के यों तीन पुरुषार्थ स्वीकार करते हैं। उपदेश-प्रणाली भिन्न-भिन्न प्रकार की है। जो गृहस्थ आरंभ का त्यागी है या उदासीन है वह मोक्ष पुरुषार्थ के कारण होरहे संवर और निर्जरा के साधनों का अनुष्ठान करता हुआ एक प्रकार से मोक्ष पुरुषार्थ को पालता है। दान, पूजा, दया, स्वाध्याय, शुभ प्रवृत्तियां आदिक धर्म पुरुषार्थ हैं। तपः, संयम, उत्तमक्षमा, गुप्तियां, आकिंचन्य, शुक्लध्यान, ऊंची श्रेणी का धर्म्यध्यान, यथाख्यात चारित्र, सामायिक इत्यादि मोक्ष पुरुषार्थ हैं। मोक्ष को जाने वाला जीव क्षपकश्रेणी में जैसा बुद्धिपूर्वक उत्कृष्ट पुरुषार्थ शुक्लध्यान कर रहा है वैसा ही सातवें नरक जाने वाला तीव्र पापी जीव भी बुद्धिपूर्वक निकृष्ट रौद्रध्यानरूप पुरुषार्थ कर रहा है। शुभ क्रिया होने से शुक्लध्यान को मोक्ष पुरुषार्थ कह दिया जाता है और तीव्र रौद्रध्यान को त्याज्य होने के कारण पुरुषार्थ नहीं गिनाया जाता है। यहां तात्पर्य यह है कि काय, वचन, मन को बनाने वाली पौद्गलिक आहार वर्गणा, तेजो वर्गणा, कार्मण वर्गणा, भाषावर्गणा और मनोवर्गणाओं का आकर्षण करने वाला जीव के प्रदेशों का परिस्पन्द स्वरूप योग भी एक पुरुषार्थ विशेष है। आत्मा के सभी पुरुषार्थों का ज्ञान इस अल्प जीव को हो ही जाय ऐसा कोई नियम नहीं है। नसं बनाना, चमड़ा बनाना, वात, पित्त, कफ, लार, बाल आदि के उपयोगी पदार्थों को बनाना, शरीर में यहां-वहां भेजना, ये सब कार्य ईश्वर को नहीं मानने वाले जैनों ने आत्मा या पौद्गलिक कर्मों के ऊपर ही निर्भर हो रहे माने हैं। कारण बिना कोई कार्य हो नहीं सकता है। लाखों, करोड़ों पुरुषार्थों में से एक आध का ही हमको संवेदन हो पाता है रोने, हंसने, श्री आदि शब्द बोलने में आत्मा को भीतर क्या-क्या करना पड़ा था इस बात को समझाने के लिये बड़े-बड़े यन्त्रालय, कपड़ा बनाने वाले मिल सन्मुख लाने पड़ेंगे। अनेक जीव यों कार्य करते हैं अतः यह कोई असाधारण या अभिनन्दनपत्र प्राप्त करने योग्य कार्य नहीं समझा जाता है हां भोजन, सामायिक, अध्ययन आदि के कतिपय स्थूल पुरुषार्थों का संवेदन यह अल्पज्ञ जीव कर लेता है। यह बात लक्ष्य में रखनी चाहिये कि उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी में कर्म नोकर्म के आकर्षक पुरुषार्थ या रस, रुधिरादि बनाने के पुरुषार्थ भले ही अबुद्धि पूर्वक होवें किन्तु चारित्रमोहनीय की इक्कीस प्रकृतियों का उपशम या क्षय करने के लिये हुये अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय, मोह उपशान्ति, क्षीण कषायता स्वरूप परणतियां तो सभी पुरुषार्थ पूर्वक हैं। बारहवें गुण-

स्थान में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय कर्मों का समूलचूल क्षय करने के लिये बड़ा भारी एकत्व वितर्क अवीचार नाम का पुरुषार्थ हो रहा है। कोई-कोई भोले मनुष्य कह देते हैं कि श्रेणियों में अबुद्धिपूर्वक परिणाम हैं। यह उनकी अक्षम्य त्रुटि है। वस्तुतः देखा जाय तो अध्ययन, सामायिक, सूक्ष्मसांपराय, क्षीण कषाय अवस्थाओं में उत्तरोत्तर बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ बढ़ रहा माना जाता है। श्रेणियाँ कोई मूर्छित अवस्था या गाढ़शयन दशा सारिखी नहीं हैं अथवा कोई वैष्णव मतानुसार हठयोगनामक समाधि नहीं है जिसमें कि वायु चढ़ाकर महीने दो महीने तक अचेत (बेहोश) रहे आते हैं और नियत समय पर होश में आ जाते हैं। किन्तु श्रेणियों में आत्मा बुद्धिपूर्वक परिणाम करता सन्ता ही कर्मों का उपशम या क्षय कर देता है। उपशम सम्यक्त्व के प्रथम तीन करण होते हैं भले ही सातिशय मिथ्यादृष्टि जीव उन करणों के यथाक्रम से प्रवर्तने का या उनकी शक्तियों का वेदन नहीं करै तथापि पाँच या सात प्रकृतियों के उपशम कराने के उपयोगी पुरुषार्थों को वह बुद्धिपूर्वक ही करता है। आत्मा के सभी कृत्यों को कर्मोदय पर टाल देना भी ईश्वर कर्तृत्ववाद का छोटा भाई है। प्रकरण में यही कहना है कि [illegible] से आरम्भ होकर तेरहवें गुणस्थान तक धारा प्रवाहरूप से आत्मा का योग नाम पुरुषार्थ प्रवर्त रहा है जो कि छद्मस्थ जीवों के सर्वदा बुद्धिगम्य नहीं है। योग नामक आस्रव प्रणालिका से यह संसारी जीव कर्मों का आकर्षण करता रहता है। कषायों की सहायता से उन कर्मों में स्थिति और अनुभाग को डालता हुआ ज्ञानावरणादि का अन्योन्य प्रवेशानुप्रवेश कर लेता है। इसी प्रकार योग द्वारा नोकर्मों का आकर्षण करता हुआ पर्याप्ति नामक पुरुषार्थ करके शरीर, वचन आदि को बना लेता है। पर्याप्ति नामक कर्म तो पर्याप्ति पुरुषार्थ की सहायता मात्र कर देता है जैसे कि श्वास लेना, निकालना इस पुरुषार्थ की सहायता उच्छ्वास नाम कर्म करता रहता है "पुग्गल कम्मादीणां कत्ता ववहार दोदु णिच्छय दो चेदण कम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं" इस श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती की गाथा का ऐदम्पर्य विचार लेना चाहिये। चेतन की शक्ति (पुरुषार्थ) अनन्त हैं। चना, उरद का अंकुर चोकले को तोड़ कर बाहर निकलता है, आम्रवृक्ष का अंकुर कड़ी गुठली को फाड़ कर निकल आता है, अंकुर या वृक्ष अपनी जड़ों को कठोर मिट्टी में घुसेड़ देता है। मट्टी या पीतल के बर्तन में भरे हुये चनों के अंकुर तो बर्तन को भी फोड़ डालते हैं, बाँस का अंकुर भैंड़ा के चमड़े में घुस जाता है, बालक गर्भ से निकलता है, वृक्ष पानी को खींचता है यों तो जड़ भाप से लोहे का बौलर भी फट जाता है, पेट से मल, मूत्र भी निकलते हैं किन्तु जड़ की शक्ति को प्रयत्न या पुरुषार्थ नहीं कहा जाता है चेतन के व्यापार पुरुषार्थ है। मल, मूत्र के निकलने में तो चेतन का पुरुषार्थ भी कारण है। गेंडुआ या गुबरीला कीड़ा मिट्टी में अपना गहरा घर बना लेता है, मकड़ी जाला पूरती है। भीत या किवाड़ों के निरुपद्रव भीतरी कोनों को ढूंढ़ कर वहाँ अपने अण्डे-बच्चों का संमूर्छन शरीर सुरक्षित रखती है, रेशमी कपड़ा, लट्ठा सारिखा बढ़िया चिकना पाल उस पर तान देती है इसमें पुरुषार्थ ही तो कारण माना जायेगा कोई पौद्गलिक कर्म तो प्रेरक निर्माता नहीं है। जाला बनाने वाला या जड़ें घुसेड़ देने वाला कोई कर्म एकसौ अड़तालीस प्रकृतियों में गिनाया नहीं गया है, हाँ वृक्षों का जीवनोपयोगी आयुष्य या मकड़ी का स्नेह तो निमित्त मात्र पड़ सकता है। यदि उसको प्रेरक कारण भी मान लिया जाय तो उसी प्रकार समझा जायगा जैसे कि मुख्य जमादार कुलियों या मजूरों से काम लेता है काम करने में पुरुषार्थ तो मजूरों का ही है। एकसौ अड़तालीस प्रकृतियों या इन के उत्तरोत्तर भेदों के कार्य जातिरूप से परिगणित ही हैं चाहे जिस कार्य में आत्मा के पुरुषार्थ का अपलाप कर देना उचित नहीं है। संसारी जीव के सभी कार्यों में दैवकृत या पुरुषार्थकृत ये दो ही तो गतियां हो सकती

हैं "गत्यन्तराभावात्", किन्तु क्षपकश्रेणी के प्रयत्न, छेदोपस्थापना संयम, आजीविका के यत्न या कोड़े, पतंग, पशु, पक्षी, वृक्ष, अंकुरों के असंख्य कार्यों में कोई कर्म व्यापार दीखता नहीं है हां सिद्ध नहीं

हो सकना, पुरुष या स्त्री हो जाना, पशु-पक्षी बन जाना आदि कार्य कर्मकृत कहे जा सकते हैं वस्तुतः इन में भी पुरुषार्थ कुछ तो है ही। गत्यन्तर को जाना, अधिक क्रोध करना, तीव्र काम चेष्टायें, यथोचित शरीर बनाना, इन कार्यों को आत्मा और कर्म दोनों कर रहे हैं यों तो शरीर में औषधि, अन्न, जल भी अनेक कार्यों को कर देते हैं। उक्त निरूपण से मेरा लक्ष्य कोई नोकर्म या कर्मों की शक्ति का खण्डन कर देना नहीं है हां जीव के अनेक पुरुषार्थों पर पहुंच जाना चाहिये। स्वामी श्री समन्तभद्राचार्य ने जो "अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः। बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात्" कहा है इसका तात्पर्य भी यही निकलता है। दृष्टांत लीजिये कि देवदत्त ने मन लगाकर आंखें खोलकर श्री जिनेन्द्रप्रतिबिम्ब चाक्षुष का प्रत्यक्ष किया, या स्तोत्रों को सुना, यह जानने का पुरुषार्थ ही तो किया यदि यहाँ आत्मा को दैव की सहायता मिली कुछ मानी जा सकती है तो वह ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम ही होगा किन्तु कर्मनिष्ठ ध्वंसरूप क्षयोपशम आत्मा की एक विशुद्धिमात्र है जो कि प्रतिबंधकों का अभाव हो जाने से बढ़िया पुरुषार्थ करने में निदान है। जैनों के यहाँ तुच्छ अभाव माना नहीं गया है। हाँ औदयिक भावों में कुछ कर्मविपाक माना जा सकता है किंतु यहाँ भी कर्ता कारक और उपादान कारण, पुरुषार्थी आत्मा ही कहा जायगा। इन बातों को पहिले भी लिखा जा चुका है। फिर भी कर्मसिद्धान्त वाले पुंलिंग आत्मा को नपुंसक (क्रियाहीन) और नपुंसक कर्मों को पुंलिंग पुरुषार्थी नहीं समझ बैठें इस लिये द्विरुक्त, त्रिरुक्त प्रयत्न करना पड़ता है। जो अल्पबुद्धि श्रोता हैं वे पुरुषार्थ कर इस प्रकरण से लाभ उठायंगे ही विस्तृतबुद्धिशाली पंडित तो प्रथम से ही पूर्ण अभ्यास कर इस पुरुषार्थ के प्रमेय को समझे ही हुये हैं। जिन कर्मों को वे भोले जीव कर्ता या प्रेरक कारण मान बैठे हैं उन संचित कर्मों का उपार्जन भी यह जीव स्वयं अपने पुरुषार्थ से करता है, कर्म चेतना या कर्मफल-चेतना की अवस्था में भी पुरुषार्थ होते रहते हैं, मद्य पीकर भी आत्मा करके अंट-संट पागलों के काम तो किये जा सकते हैं। पागल पुरुष या स्त्रियों के लड़का लड़की होते हैं, पागल रोटी खाते हैं, चलते हैं, बोलते हैं ये सब उनके पुरुषार्थ हैं। कोई-कोई वकील या हाकिम तो मद्य पीकर बहुत ऊँचे दर्जे की बहस करते और फैसला लिखते सुने जाते हैं। हां मद्यपायी यथायोग्य धर्म्य कार्यों को नहीं कर पाते हैं। कर्म चेतना या कर्मफल चेतना, भले ही स्वानुभूति, संयम, अधःकरण आदि को रोक लेवें किन्तु लौकिक पुरुषार्थों को हो जाने देती हैं। पुरुषार्थ में पुरुष का अर्थ यदि मनुष्य ही किया जायगा तो देव, नारकी, पशु, पक्षियों के पुरुषार्थ नहीं संभव हो सकेगा "यज्ज्ञातं सत्स्ववृत्तितयेष्यते स पुरुषार्थः" "इतरेच्छानधीनेच्छा विषयत्वं फलितोऽर्थः" यह पुरुषार्थ का लक्षण निर्दोष नहीं है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों में ही घटित हो जाने वाला पुरुषार्थ का लक्षण भी किसी अपेक्षा विशेष से है अथवा काम और अर्थ का लक्षण बड़ा व्यापक करना पड़ेगा तभी आत्मा के सम्पूर्ण प्रयत्नों में सुघटित हो सकेगा। पुरुष यानी जीव का बुद्धि पूर्वक या अबुद्धि पूर्वक चला कर जो कुछ भी क्रियात्मक या अक्रियात्मक अर्थ यानी व्यापार होगा वह सब पुरुषार्थ ही तो है। तीर्थंकर भगवान भव्य जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं क्या वह सब तीर्थंकर प्रकृति का ही माहात्म्य है ? पौद्गलिक तीर्थंकर प्रकृति तो केवल बहिरंग परिकर को प्रभावशाली बना देती है। प्रश्नानुरूप उपदेश देना, विहार करना, ठहर जाना, अनंत सुख में विराजना, आदि सब केवल-ज्ञानी महाराज के अनिच्छबुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ हैं। तीर्थंकर या सामान्य केवली के अंतरंग अनंत चतुष्टय में कोई अंतर नहीं है। सबके केवलज्ञान या अनन्त सुख के अविभागप्रतिच्छेद समान हैं। कहा जा सकता है कि सिद्ध परमेष्ठी बड़े भारी सर्वोत्कृष्ट पुरुषार्थी हैं जो कि स्वकीय अनन्त वीर्य, चारित्र,

सम्यक्त्व, अनुपम सुख, केवलज्ञान आदि गुणों में तन्मय होकर सर्वदा विराजते हैं। "नमोऽस्तु तेभ्यः परमपुरुषार्थशालिभ्यः" जो कोई राजा या सेठ या भूमिपति अपनी सम्पत्ति को प्रतिष्ठा पूर्वक रखाये रहे, घटने नहीं देवे, ऋण नहीं बढ़ने देवे, यह भी उसका पूरा पुरुषार्थ है। सद्गृहस्थ अपनी प्रतिष्ठा, कुल गौरव, सम्पत्तिशालिता को बढ़ा लेवे यह तो महान् पुरुषार्थ है ही किन्तु उतनी की उतनी ही सम्पत्ति, मान-मर्यादा के साथ प्रतिष्ठा पूर्वक जीवन को तभी रक्षित रख सकता है जब तक कि तत्पर होकर उसके लिये सर्वदा प्रयत्न करता रहेगा क्षणमात्र भी आलस आ जाने पर दुष्ट, चोर, व्यभिचारी, अकारण शत्रु, उसकी प्रतिष्ठा को मिट्टी में मिला देंगे। पुनः कर्मबंध नहीं होने से मुक्त जीव आबद्ध नहीं होते हैं इसमें प्रधान कारण सिद्धपरमेष्ठी भगवान् का स्वरूप में सर्वदा निमग्न बने रहने का पुरुषार्थ ही है। अकम्प अडिग्ग मुनि दृढ़ आसन लगा कर जब इधर-उधर विचलित नहीं होते हैं इसका कारण उनका स्वांगों में ही दृढ़ बने रहने का या एकाग्र में मन को लगाये रहने का पुरुषार्थ है। मोटर दुर्घटना के अवसर पर ऊर्ध्वश्वास लेनेका पुरुषार्थ कर रहे मनुष्य को अल्प चोट लगती है। शरीर को ढीला छोड़ देने वाले को अधिक आघात पहुंचता है। बलवान् मल्ल दूसरे प्रतिमल्ल से नहीं गिराया जाता है। इसका निदान भी उसका स्व शरीर दृढ़ता को सर्वदा बनाये रखने का पुरुषार्थ किये जाना ही है। एक निमेष मात्र भी शरीर को ढीला कर देने पर प्रतिमल्ल झट उसको गिरा देता है। प्रतिमल्ल को कुछ दया भी आजाय किन्तु पौद्गलिक कर्मों को दया या लज्जा नहीं आती है। पुरुषार्थी जीव ही कर्म के आघातों से बचे रह सकते हैं। मोक्ष पुरुषार्थ में मोक्ष के साधन, दीक्षा, संयम, तपध्यान, पकड़े जाते हैं, वस्तुतः विचारा जाय तो उत्तम क्षमा, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अनंत वीर्य, चारित्र, मार्दव, आकिंचन्य इन परमब्रह्म स्वरूपों के साथ तदात्मक हो रहा मोक्ष तो सर्वोत्तम पुरुषार्थ है जिसकी उपमा ही नहीं मिलती है। यद्यपि पुद्गल में अनंत बल है और आत्मा भी अनंत बलशाली है। कर्मों का तीव्र उदय होने पर संसारी आत्मा का पुरुषार्थ व्यर्थ (फेल) हो जाता है अतः कर्म को भी प्रेरक कारण माना जा सकता है। दीपक जैसे मनुष्य को अँधेरे में प्रकाश करता हुआ ले जाता है और दीपक को मनुष्य हाथ में ले जाता है। अथवा श्री धनंजय महाराज के शब्दों में "कर्मस्थितिं जन्तुरनेकभूमिं नयत्यमुं सा च परस्परस्य। त्वं नेतृभावं हि तयोर्भवाब्धौ जिनेन्द्र नौनाविकयोरिवाख्यः" नाविक को नाव और नौका को नाविक ले जाते हैं यों दीपक या नाव के समान कर्म भले ही कह दिये जाँय किन्तु पुरुषार्थ जीव का ही कहा जायगा। इस प्रकरण की इतने ही कथन से पर्याप्ति होय इस अवसर पर यह कहना है कि खाने, पीने, छीलने, वायु खैंचने आदिमें यह जीव जैसा पुरुषार्थ करता है उसी प्रकार कर्मों को खींचने के लिये योग नाम का पुरुषार्थ जीव को करना पड़ता है, जो कि ग्रन्थों में योग या आस्रव शब्द से कहा गया है। आत्मा के साथ कर्मों के बंध होजाने का कारण आत्मा का ही परिणाम हो सकता है। तभी तो कर्मों से आकाश नहीं बंधता है काय, वचन, मन के उपयोगी वर्गणाओं का अवलंब लेकर हुआ आत्म प्रदेश परिस्पन्द योग कह दिया है। सिद्धों के योग नहीं है। इसके आगे योग द्वारा हुये पुण्य के आस्रव और पाप के अनुमान प्रमाण करके साधा है, योग के अपेक्षाकृत संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद समझाये गये हैं। कषाय शब्द की निरुक्ति करते हुये साम्परायिक आस्रव की सिद्धि में अनुमान प्रमाण दिया गया है। पद्म के मध्य में प्राप्त हुआ भौंरा का यह दृष्टान्त बड़ा अच्छा जँच गया है। साम्परायिक आस्रव के भेद करते हुए तीव्र भाव आदि की युक्तियों से सिद्धि की है। संरंभ आदिका अच्छा विचार है, पर शब्द की सार्थकता दिखलाते हुये सामान्य रूप से साम्परायिक आस्रव का निरूपण कर प्रथमाह्निक समाप्त किया गया है।

अनन्तर द्वितीय आह्निक में अकलंक देव महाराज के अनुसार प्रदोष आदि का विचार करते हुये षट्

सुन्दर अनुमानों करके सूत्रोक्त सिद्धान्त को पुष्ट किया गया है। द्रव्य और पर्याय के अनेकांत की पुष्टि करते हुये अनेकान्त में ही दुःख, शोक आदि की व्यवस्था बन जाती साधी गयी है। यहाँ बौद्धों के साथ अच्छा परामर्श किया गया है। अठारह अनुमान प्रमाणों करके असद्वेद्य के आस्रव की पुष्टि की गयी है। इसी प्रकार सद्वेद्य और दर्शन मोह तथा चारित्र मोह के आस्रावक कारणों को युक्तियों से साधा गया है। चारों आयुओं के आस्रव बोधक सूत्रों को भी अनुमानमूलक साधा गया है। च शब्द करके सर्वत्र सूत्रोक्तों को उपलक्षण मानकर अन्य उनके सजातीय परिणामों का संग्रह कर दिया गया समझाया है। देव, नारकियों का सम्यक्त्व तो मनुष्य आयु का आस्रावक है, हाँ मनुष्य, तिर्यंचों के सम्यक्त्व को वैमानिक देवों की आयु का आस्रावक हेतु समझा जाय। भुज्यमान आयु के आठ त्रिभागों में संभवने वाले आठ अपकर्ष कालों में या असंक्षेपाद्धा यानी भुज्यमान आयु का आवली का असंख्यातवां भाग काल शेष है। उसके पहिले अन्तर्मुहूर्त काल में आयु का आस्रव होगा। देव, नारकी और भोगभूमियों के अन्तिम छह महीने और नौ महीने काल में त्रिभाग पड़ेंगे। अशुभ नाम और शुभ नाम का आस्रव बखानते हुये तीर्थंकर प्रकृति के आस्रव हेतुओं का सलक्षण निरूपण किया है। नीच गोत्र और उच्च गोत्र तथा अन्तराय के आस्रावक सूत्रोक्त परिणामों का व्याख्यान कर इति शब्द की अनुवृत्ति से सर्वत्र अनुक्त कारणों का संग्रह किया गया समझाया है। आत्मा के परिणामों द्वारा हुआ चित्र-विचित्र आस्रव पुनः आत्मा के अनेक विकारों का हेतु हो जाता है। बीजांकुरवत् यह द्रव्यास्रव और भावास्रव का परस्पर "हेतुहेतुमद्भाव" अनादि काल से चला आ रहा है। पुरुषार्थ और कर्मपरिणतियों अनुसार हुये विशुद्धि और संक्लेशों से पुण्य कर्मों का शुभ और पाप कर्मों का अशुभ आस्रव बखाना गया है। जगत् में जीव और पुद्गलों का बड़ा विचित्र नृत्य हो रहा है। अंतरंग और बहिरंग अनेक कारणों के अनुसार हुये विचित्र परिणामों का प्रदर्शक शास्त्र है। शास्त्र ज्ञापक है, कारक नहीं। यदि शास्त्र या सर्वज्ञ विचारे नैयायिकों के ईश्वर समान कारक होते तो अनादि काल पूर्व ही ईश्वर से प्रार्थना कर इन पराधीन करने वाले कर्मों को जड़ मूल से उखाड़ फिंकवा देते। किन्तु जैनसिद्धान्त में पदार्थों के प्रभावों का मात्र अभिव्यंजक शास्त्र ठहराया गया है। तत्प्रदोष आदिक करके उन-उन कर्मों के अनुभाग बंध विशेष का नियम है। अल्प अनुभाग के लिये प्रकृतिबंध और प्रदेश बंध तो अन्य-अन्य कर्मों का भी हो जाता है। वस्तुतः चारों बंधों में अनुभागबंध ही बड़ा है। अतः इस छठे अध्याय में सामान्य रूप से और विशेष रूप से आस्रव का प्रतिपादन किया गया है। अध्याय का विवरण कर अन्त में दूसरा आह्निक भी समाप्त कर दिया है।

योगाकर्षितपंचसंख्यकतनुर्भाषामनोवर्गणा—
स्तत्तत्कर्मविपाकबंधनियमं चाख्यान् प्रदोषादिभिः।
दृक्शुद्ध्यन्वितभावनार्जित-शुभश्रीतीर्थकृल्लाभतो
भव्यानां हितपद्धतिं प्रकथयन् भूयाज्जिनः श्रेयसे ॥१॥

इति अनेकांतसिद्धान्तचक्रवर्त्ति श्रीविद्यानन्दिस्वामीविरचित तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालंकार नामक महान् ग्रन्थ की आगरा मण्डलान्तर्गत चावली ग्राम निवासी माणिकचन्द्र कौन्देय कृत तत्त्वार्थचिन्तामणि नामक देशभाषामय टीका में छठा अध्याय सम्पूर्ण हुआ।

अथ सप्तमोऽध्यायः ॥

स्याद्वाददीधितिसहस्रनिरस्तमिथ्या-
वादत्रिषष्टिसहितत्रिशतीतमिस्रः ॥
निर्दोषवृत्तमहितो जिनपस्य जीयाद्
विश्वज्ञबोधतरणिर्जगदेकमित्रम् ॥ १ ॥

श्री उमास्वामी महाराज ने तत्त्वार्थ सूत्र ग्रन्थ के छठे और सातवें अध्याय में आस्रव तत्त्व का प्ररूपण किया है। छठे अध्याय में आस्रव पदार्थ का व्याख्यान किया जा चुका है। स्थूलरूप से साम्परायिक आस्रव के पुण्यास्रव और पापास्रव भेद किये जा सकते हैं। "शुभः पुण्यस्य" इस सूत्र करके सामान्य रूप से ही शुभास्रव कहा गया है। संसारी जीवों के पुण्यास्रव प्रधान है। मोक्ष भी पुण्यास्रव पूर्वक होता है। अशुभ से शुभ और शुभ से शुद्ध परिणतियां होने का क्रम है। अतः विशेष रूप से शुभास्रव को कहने के लिये अग्रिम सूत्र कहा जाता है। अथवा सद्वेद्य का आस्रव बतलाते हुये भूत और व्रतियों के ऊपर अनुकम्पा करना कहा गया था वहां नहीं प्रतीत हो पाता है वे कौन से व्रत हैं ? जिनके कि सम्बन्ध से यह जीव व्रती कहलाता है। इस कारण उन व्रतों का निर्धारण करने के लिये श्री उमास्वामी महाराज करके यह अग्रिम सूत्र कहा जाता है।

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥१॥

हिंसा, अनृत, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रहों से जो विराम ले लेना है वह व्रत है। अर्थात् हिंसा, हिंस्य, हिंसक, हिंसाफल की आलोचना करते हुये द्रव्यहिंसा और भावहिंसा से स्वकीय परिणामों को हटा लेना हिंसाविरति नामक पहिला व्रत है। सत्य वचन और असत्य वचनों का विचार करते हुये अप्रशस्त कथन से विराम ले लेना दूसरा अनृतविरति व्रत है। दान, आदान व्यवहार के योग्य व्यापारों की आलोचना कर चोरी करने का परित्याग कर देना तीसरा स्तेयविरति व्रत है। मानुषी, दैवी, तिर्यंचिनी, या चित्र सम्बन्धी स्त्रियों या इसी प्रकार के पुरुषों की आलोचना कर कुशील का त्याग करते हुये ब्रह्मचर्य में स्थिर हो जाना चौथा अब्रह्मविरति व्रत है। चेतन, अचेतन, अंतरंग, बहिरंग, परिग्रहों की विवेचना कर उनमें मूर्छा का परित्याग करना पांचवां परिग्रहविरति व्रत है। स्वामीजी ने "अभिसंधिकृताविरतिर्योग्याद्विषयाद्व्रतं भवति" ऐसा कहा है। प्राप्ति योग्य स्वकीय विषयों से अभिप्रायकृत विरति करना व्रत माना गया है। क्वचित् सेव्य विषय में संकल्प पूर्वक नियम करना और अशुभकर्म से निवृत्ति करना तथा शुभ कर्म में प्रवृत्ति करना व्रत कहा गया है। "संकल्पपूर्वकः सेव्ये नियमोऽशुभकर्मणः। निवृत्तिर्वा व्रतं स्याद्वा प्रवृत्तिः शुभकर्मणि" इति श्री आशाधरः।

हिंसादयो निर्देक्ष्यमाणलक्षणाः, विरमणं विरतिः व्रतमभिसंधिकृतो नियमः। हिंसानृत-स्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्य इत्यपादाननिर्देशः। ध्रुवत्वाभावात्तदनुपपत्तिरिति चेन्न, बुद्ध्यपायाद्ध्रुवत्व-विवक्षोपपत्तेः।

हिंसा, अनृत, आदि के लक्षण आगे सूत्रों द्वारा निर्दिष्ट करा दिये जावेंगे। अर्थात् "प्रमत्त-योगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा" "असदभिधानमनृतं" इत्यादि सूत्रों द्वारा हिंसा आदि पाँच पापों का लक्षण कह दिया जावेगा। विरमण यानी परित्याग करना या विराम ले लेना ही विरति है। बुद्धिपूर्वक अभि-प्राय को अभिसन्धि कहते हैं। अभिसन्धि करके किया गया नियम व्रत माना जाता है। अतः किसी दरिद्र का हाथी पर चढ़ने का त्याग या रोगी के लंघन में हुआ उपवास व्रत नहीं कहा जा सकता है। "हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यः" यह बहुवचनांत पंचमी विभक्ति के रूप का कथन है। अपादान में पंचमी विभक्ति होती है। विरति की अपेक्षा यहाँ पंचमी विभक्ति से व्यक्त हुआ अपादान का निर्देश है "ध्रुव-मपायेऽपादानं" निश्चल पदार्थ से किसी का पृथग्भाव हो जाने पर वह स्थिरीभूत पदार्थ अपादान कहा जाता है। यहाँ कोई आक्षेप करता है कि ग्राम से देवदत्त आता है, वृक्ष से पत्ता गिरता है। यहां ग्राम या वृक्ष का ध्रुवपना प्रसिद्ध है किंतु प्रकरण में हिंसा आदि परिणाम तो ध्रुव नहीं हैं अतः अपादान नहीं हो सकेंगे। यदि हिंसा आदि परिणाम वाले आत्मा को हिंसा आदि पद से कहा जायगा एतावता आत्मा का ध्रुवपना तो बन जायगा किंतु उस नित्य आत्मा से विरति होना असंभव है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि बुद्धिकृत अपाय से ध्रुवपने की विवक्षा बन रही है। अर्थात् अस्थिर पदार्थ को भी बुद्धि में स्थिर मान कर उससे निवृत्ति होना बना लिया जाता है। धर्माद्विरमति, धावतोऽश्वात्पतति, आदि स्थलों में यही उपाय करना पड़ता है। व्याकरण के लक्षणों का पुनः परिष्कार कर नैयायिकों द्वारा पुनः अव्याप्ति, अति-व्याप्ति दोषों को टालते हुये निर्बाध लक्षण बनाये जाते हैं। यों व्रत का लक्षण निर्दोष कर दिया गया है।

अहिंसाप्रधानत्वादादौ तद्वचनं, इतरेषां तत्परिपालनार्थत्वात्। विषयभेदाद्विरतिभेदे तद्बहुत्वप्रसंग इति चेन्न वा, तद्विषयविरमणसामान्योपादात्। तदेव हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतमिति युक्तोऽयं सूत्रनिर्देशः।

सम्पूर्ण व्रतों में अहिंसा की प्रधानता है अतः सबके आदि में उस अहिंसा का कथन किया गया है। क्योंकि खेत की रक्षा करने वाले घेरे के समान अन्य सत्य, अचौर्य आदि व्रतों का उस अहिंसा का परिपालन करते रहना ही प्रयोजन है। विरति शब्द को हिंसा से, झूंठ से, चोरी से, अब्रह्म से, परिग्रह से यों प्रत्येक के साथ जोड़ दिया जाता है। यहाँ किसी की शंका है कि पंचम्यन्त विषयों का भेद हो जाने से उनके त्याग स्वरूप विरति का भी भेद हो जानेपर उस विरति के बहुवचन 'विरतयः' हो जाने का प्रसंग प्राप्त होता है। यों कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि यह दोष नहीं लगता है क्योंकि उन हिंसा आदि विषयों से विराम हो जाना इस सामान्य अपेक्षा से एकवचन विरति शब्द का ग्रहण किया गया है। जैसे कि गुड़, तिल, चावलों का पाक हो जाना। यों सामान्य की विवक्षा कर लेने पर पाक शब्द एकवचन कह दिया जाता है। तिस कारण इस प्रकार हिंसा, झूंठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह इन्हों से विरति हो जाना व्रत है। इस प्रकार सूत्रकार महाराज का यह सूत्र निर्देश करना समुचित ही है।

नन्विह हिंसादिनिवृत्तिवचनं निरर्थकं संवरान्तर्भावात्, धर्माभ्यन्तरत्वात् तत्प्रपंचार्थ उपन्यास इति चेन्न, तत्रैव करणात्। संवरप्रपंचो हि स संवराध्याये कर्तव्यो न पुनरिहास्रवाध्या-

येऽतिप्रसंगादिति कश्चित्। तं प्रत्युच्यते—न संवरो व्रतानि, परिस्पन्ददर्शनात् गुप्त्यादिसंवरपरिकर्मत्वाच्च।

यहां कोई आशंका उठाता है कि इस आस्रव के प्रकरण में हिंसा आदिक से निवृत्ति हो जाने को व्रत कहना व्यर्थ है क्योंकि निवृत्तियों का संवर में अन्तर्भाव हो जावेगा। जब कि दश प्रकार के धर्मों के भीतर संयम माना गया है उसमें अहिंसादिकों का सुलभतया अन्तर्भाव हो सकता है। यदि कोई यों समाधान करे कि उस संयम के प्रपंच का विस्तार करने के लिये यहां हिंसा निवृत्ति आदि का उपन्यास किया गया है। शंकाकार कहता है कि यह तो न कहना क्योंकि यदि उस संयम का ही प्रपंच दिखलाना था तो वहां ही नवमे अध्याय में संयम के प्रकरण पर यह उपन्यास करना चाहिये था। यहां व्यर्थका प्रकरण बढ़ाने से कोई प्रयोजन नहीं सधता है। संवर का यह प्रपंच तो संवर के प्रतिपादक नवमे अध्याय में करना चाहिये किन्तु फिर यहां आस्रव तत्त्व के प्ररूपक सातवें अध्याय में नहीं। यदि यहां वहां की अप्रकृत बातों को इस अध्याय में लिखा जायगा तो अतिप्रसंग हो जायगा यानी मोक्षतत्त्व के प्रपंच या मुक्त जीवों के चरित्र भी यहां लिख देने चाहिये जो कि इष्ट नहीं है। अतः इन व्रतों का निरूपण करना यहां व्यर्थ ही है। यहां तक कोई पण्डित अपनी शंका को पूरा कह चुका है। उस पण्डित के प्रति आचार्य महाराज करके यह उत्तर कहा जाता है कि अहिंसादिक व्रत तो संवर नहीं है संवर स्वरूप अपरिस्पन्दात्मक क्रियाओं से आस्रव होना रुक जाता है किन्तु यहां अहिंसादिकों में परिस्पन्द क्रिया होना देखा जाता है। सत्य बोलना, दिये हुये को लेना, ऐसी क्रिया करना स्वरूप व्रतों की प्रतीति हो रही है। एक बात यह है कि गुप्ति, समिति आदि [illegible] "आस्रवनिरोधः संवरः" "स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः" उस संवर के ये व्रत परिवार या सहायक हैं। व्रतों में साधु जो परिष्कृत हो जाता है तब संवर को सुखपूर्वक कर लेता है। संवर के अंगों का संस्कार ये व्रत कर देते हैं तिस कारण संवर के प्रकरण से इस शुभास्रव स्वरूप व्रत को पृथक् कहा गया है।

ननु पंचसु व्रतेष्वनन्तर्भावादिह रात्रिभोजनविरत्युपसंख्यानमिति चेन्न, भावनांतर्भावात्। तत्रानिर्देशादयुक्तोऽन्तर्भाव इति चेन्न, आलोकितपानभोजनस्य वचनात्। प्रदीपादिसंभवे सति रात्रावपि तत्प्रसंग इति चेन्न, अनेकारंभदोषात्। परकृतप्रदीपादिसंभवे तदभाव इति चेन्न, चंक्रमणाद्यसंभवात्। दिवानीतस्य रात्रौ भोजनप्रसंग इति चेन्न, उक्तोत्तरत्वात्।

यहाँ कोई पुनः प्रश्न उठाता है कि अहिंसादिक पांच व्रतों में अन्तर्भाव नहीं हो जाने के कारण यहां रात्रिभोजन त्याग नाम के छठे व्रत का उपसंख्यान करना चाहिये। सूत्र में कोई त्रुटि रह जाय तो वार्तिक बनाई जा सकती है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि पांच व्रतों की पचीस भावनायें आगे कही जावेंगी उन में रात्रिभोजनत्याग का अन्तर्भाव हो जाता है। यदि कोई यों आक्षेप करे कि उन वाग्गुप्ति, क्रोधप्रत्याख्यान आदि भावनाओं में कण्ठोक्त रात्रिभोजन त्याग का निर्देश नहीं किया गया है अतः बिना कहे ही चाहे जिसका चाहे जहां अन्तर्भाव कर देना युक्त नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यों तो न कहना। क्योंकि अहिंसाव्रत की भावनाओं में आलोकितपानभोजन का कंठोक्त निरूपण है। सूर्य का आलोक होता है अतः सूर्य के प्रकाश में ही खाने पीने का जब विधान किया गया है तो रात्रि के खान पान का त्याग अनायास प्राप्त हो जाता है। फिर भी कोई यों चोद्य उठावे कि

आलोक होने के कारण यदि दिन में भोजन का विधान किया गया है तब तो प्रदीप, अग्निशिखा, मणि, चमकनेवाली गिड़ार, जुगनू, बिजली, चन्द्रमा, सूर्य आदि प्रकाशकों के संभवते संते रात्रि में भी उस भोजन, पान करने का प्रसंग आ जावेगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि अग्नि, तेल, आदि के अनेक महान् आरंभ करने का दोष लग जावेगा, यदि आक्षेपकर्ता यों कहे कि स्वयं आरम्भ नहीं कर दूसरों के द्वारा किये गये प्रदीप आदि के संभव जाने पर तो आरम्भ का दोष नहीं लगता है। सड़क पर म्यूनिसपल्टी के प्रदीप जलते रहते हैं, चन्द्रमा, बिजली, आकाश में प्रकाशती रहती हैं; मंसूरी पर्वत पर रात के समय छेदों में से निकल कर कितनी ही गिड़ारें कीटभक्षणार्थ चमकती रहती हैं। इस में कोई आरम्भ नहीं करना पड़ता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि रात्रि में चंक्रमण करना, शुद्ध भोजन प्राप्त करना आदि का असंभव है। अर्थात् अन्तरंग में स्वकीय शास्त्रज्ञान तथा बहिरंग में आदित्य प्रकाश और इन्द्रियों द्वारा हुये परिज्ञान से परीक्षित किये मार्ग में चार हाथ भूमि को पहिले देख कर चल रहे यति[illegible] रात में नहीं हो सकती है अतः गमन करने, व्यर्थ यहां वहां घूमने-फिरने आदि का असंभव है। पुनरपि कोई विक्षेप उठावे कि आचार शास्त्र के उपदेश अनुसार दिन के समय ग्राम से जाकर किसी पात्र में भोजन या पेय को लाकर रात्रि में अपने स्थान पर उसको खा लेने का प्रसंग आजावेगा ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि इसका उत्तर कहा जा चुका है अर्थात् प्रदीप आदिका आरम्भ करना तदवस्थ है। संयम साधने की यह पद्धति नहीं है कि बाहर से लाकर घर पर खाना। यतियों के पास बर्तन भी नहीं हैं वे तो परिग्रहरहित हैं। अन्तराय और दोषों को टाल कर हाथ में ही दिये हुये आहार को ग्रहण करते हैं। एक स्थान से, दूसरे स्थानमें ले जाने पर और कुछ देर तक धरा रहने पर वह भोजन जीवों का योनिस्थान बन जाता है। संयमी मुनि ऐसे भोजन को ग्रहण नहीं करते हैं अतः दिन में लाये हुये को रात में खा लेने का प्रसंग नहीं लगता है।

स्फुटार्थाभिव्यक्तेश्च दिवाभोजनमेव युक्तं, तेनालोकितपानभोजनाख्या भावना रात्रिभोजनविरतिरेवेति नासावुपसंख्येया।

एक बात यह भी है कि सूर्य का प्रकाश ही स्फुटरूप से अर्थों की अभिव्यक्ति करता है। भूमि, देश, दाता, गमन करना, अन्न पान में कोई पदार्थ पड़ गया या नहीं इत्यादि बातें दिन में स्पष्ट दीख जाती हैं। दीपक, बिजली, चन्द्रमा आदि के प्रकाश में स्पष्ट पदार्थ नहीं दीखता है। रात्रि के समय क्षुद्र कीट अधिक उत्पन्न होते हैं; भोजन, पान, पदार्थों में वे छोटे जीव गिर जाते हैं; त्रसहिंसा अधिक होती है। रात के खाने वालों में लोलुपता बढ़ जाती है। उदर की ग्राहक शक्ति मंद पड़ जाती है। क्योंकि पाचनशक्ति रात्रि के अवसर पर पूर्वभुक्त के पचाने में अधिक उपयुक्त हो जाती है। मुनिजन एक बार ही भोजन करते हैं अतः दिन में भोजन करना उनको अनुकूल पड़ सकता है। सभी अर्थों का स्फुट प्रकाश होता है। सूर्यालोक में योनिस्थान अल्प उपजते हैं अतः दिन में ही भोजन करना समुचित है। तिस कारण आलोकितपानभोजन नाम की अहिंसाव्रत की पाँचवीं भावना तो रात्रिभोजन त्याग ही है। अतः उस रात्रिभोजनविरति नाम के व्रत का उपसंख्यान नहीं करना चाहिये।

किं पुनरनेन व्रतलक्षणेन व्युदस्तमित्याह।

सभी लक्षण इतरव्यावर्तक होते हैं। लक्ष्य की अलक्ष्य से व्यावृत्ति करते-रहते हैं। ऐसी दशा में यहाँ कोई प्रश्न करता है कि व्रत के इस लक्षण करके किसका व्युदास (निराकरण) किया गया है?

बताओ। इस प्रकार पूँछने पर ग्रन्थकार वार्तिक द्वारा यों उत्तर कहते हैं।

अथ पुण्यास्रवः प्रोक्तः प्राग्व्रतं विरतिश्च तत्।
हिंसादिभ्य इति ध्वस्तं गुणेभ्यो विरतिर्व्रतं ॥१॥

छठे अध्याय के प्रारंभ में "शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य" इस सूत्र द्वारा जो पहिले यों ठीक-ठीक कहा गया है कि शुभ योग पुण्य का आस्रव है वह शुभ योग ही तो हिंसा, झूंठ आदि पापों से विराम कर लेना स्वरूप व्रत है। इस प्रकार व्रत का लक्षण कर देने पर क्षमा, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सम्यक्त्व, चारित्र आदि गुणों से विरति हो जाना व्रत है इस मंतव्य का ध्वंस कर दिया गया है। अर्थात् खारपटिक मतानुयायी हिंसा को धर्म मानते हैं "सधनं हन्यात्" वेश्यायें व्यभिचार को धर्म मानती हैं। झूंठ बोलने, चोरी करने को भी कोई व्रत मानते होंगे अतः उनके मंतव्य की व्यावृत्ति के लिये गुणों से विरति को व्रत हो जाने का प्रत्याख्यान करते हुये सूत्रकार महाराज हिंसादिक से विरति होने को ही व्रत कह रहे हैं।

विरतिर्व्रतमित्युच्यमाने सम्यक्त्वादिगुणेभ्योऽपि विरतिर्व्रतमनुषक्तं तदत्र हिंसादिभ्य इति वचनात् प्रध्वस्तं बोद्धव्यं। ततो यः पुण्यास्रवः प्रागभिहितः शुभः पुण्यस्येति वचनात् संक्षेपत इति सर्वस्तमेव प्रदर्शनार्थोऽयमध्यायस्तत्प्रपंचस्यैवात्र सूत्रितत्वादिति प्रतिपत्तव्यं ॥

जो विरति है वह व्रत है। यदि इतना ही व्रत का लक्षण कह दिया जाय तो सम्यक्त्व, चारित्र आदि गुणों से भी विराम लेने को व्रत हो जाने का प्रसंग प्राप्त हुआ, तिस कारण यहाँ हिंसा, झूंठ आदि से विरति होना इस प्रकार कथन करने से गुणों से विराम ले लेने को व्रत कह देने का भले प्रकार ध्वंस हो चुका समझ लेना चाहिये, तिस कारण "शुभः पुण्यस्य" इस सूत्र वचन से जो पुण्यास्रव पहिले छठे अध्याय में संक्षेप से कहा था उस पुण्यास्रव का ही विस्तार से प्रदर्शन कराने के लिये यह सर्व सातवाँ अध्याय है। इस अध्याय में उनतालीस सूत्रों द्वारा उस शुभास्रव के प्रपंच का ही निरूपण किया गया है। यह विश्वासपूर्वक समझ लेना चाहिये।

व्रतिष्वनुकम्पा सद्वेद्यास्रव इति प्रागुक्तं, तत्र के व्रतिनो येषां व्रतेनाभिसंबन्धः ? किं तद्व्रतमिति प्रश्नेन प्रतिपादनार्थोऽयमारंभः प्रतीयताम्।

उक्त पहिले सूत्र का अवतरण हुआ यों समझ लिया जाय कि व्रतियों में अनुकंपा करना साता-वेदनीय कर्म का आस्रव है यों पूर्व में यानी छठे अध्याय में कहा जा चुका है। वहाँ ये प्रश्न हो सकते थे किन्तु प्रकरणान्तर हो जाने या प्रकरण बढ़ जाने के भय से प्रश्न नहीं उठाये गये थे अब छठा अध्याय सम्पूर्ण हो जाने पर प्रश्न किये जाते कि वे व्रती प्राणी कौन से हैं ? जिनके कि व्रत के साथ सब ओर से संबन्ध हो रहा है। वह व्रत भी क्या है ? जिनका कि संबन्ध हो जाने पर वे व्रती हो जाते हैं। इस प्रकार मूलभूत व्रत के प्रश्न करके उत्साहित किये जाने पर सूत्रकार द्वारा प्रश्न के उत्तर को प्रतिपादन करने के लिये इस सातवें अध्याय का प्रारंभ किया जाना प्रतीत कर लीजियेगा।

पाँच प्रकार के व्रतों के भेदों का परिज्ञान कराने के लिये यह अगिला सूत्र कहा जाता है।

देशसर्वतोऽणुमहती ॥२॥

हिंसादिकों से एकदेश से विरति हो जाना अणुव्रत है और सम्पूर्ण रूप से हिंसादि पापों से विराम ले लेना महाव्रत है। अर्थात् गृहस्थों का व्रत अणुव्रत है और मुनियों का व्रत महाव्रत है।

कुतश्चिद्दिश्यत इति देशः, सरत्यशेषानवयवानिति सर्वं, ततो देशसर्वतो हिंसादिभ्यो विरती अणुमहती व्रते भवत इति सूत्रार्थः कथं व्रते इति ? पूर्वसूत्रस्यानुवृत्तेरर्थवशाद्विभक्तिविपरिणामेनाभिसंबंधोपपत्तेः। तत इदमुच्यते—

किसी न किसी अवयव से जो प्रदेशित कर दिया जाता है इस कारण वह अवयवी का एक टुकड़ा देश कहा जाता है। यह देश शब्द की निरुक्ति है। सम्पूर्ण अवयवों को व्याप्त कर जो गमन करता है वह पूरा अवयवी इस कारण सर्व कहा जाता है। यों "दिश" धातु से देश और "सृ" गतौ धातु से सर्व शब्द की व्युत्पत्ति कर दी गयी है। उन देश और सर्वरूप से जो हिंसादि पापों से विरतियाँ हैं वे अणुव्रत और महाव्रत हो जाते हैं इस प्रकार उक्त सूत्र का सार्थक अणु और महत् की अनुवृत्ति की विग्रह कर द्विवचन के साथ अनुवृत्ति किये गये व्रत शब्द के द्विवचन "व्रते" लगा दिया जाता है। यहाँ कोई पूछता है कि पहिले सूत्र में तो "व्रतं" एकवचन है उसी की अनुवृत्ति आ सकती है यहाँ द्विवचन "व्रते" यह किस प्रकार अनुवृत्त कर लिया जाता है ? बताओ। आचार्य उत्तर कहते हैं कि पूर्व सूत्र के व्रत शब्द की अनुवृत्ति हुयी है अर्थ के वश से विभक्ति का विपरिणाम हो जाता है इस कारण "अणुमहती" इस द्विवचन के अनुसार व्रते इस द्विवचन का विधेयदल की ओर सम्बन्ध हो जाना बन जाता है। नपुंसक लिंग माने गये व्रत शब्द के अनुसार अणु महत् शब्दों को नपुंसक लिंग कहना पड़ा साथ ही अणुमहती इस द्विवचन अनुसार व्रते यह द्विवचन करना पड़ा तिस कारण लिंग और वचन के स्वांग को धार रहे सूत्र से यह अर्थ कहा कहा जाता है कि

देशतोऽणुव्रतं चेह सर्वतस्तु महद्व्रतं।
देशसर्वविशुद्धात्मभेदात् संज्ञानिनो मतं ॥१॥

सम्यग्ज्ञानी पुरुष के आत्मा की एकदेश विशुद्धि और आत्मा की सर्व देश विशुद्धि के भेद से हुये यहाँ एकदेश से विरति होना अणुव्रत माना गया है और हिंसादिक पापों की सर्व देश से विरक्ति हो जाना तो महान् व्रत अभीष्ट किया गया है यह सूत्र का तात्पर्य है।

न हि मिथ्यादृशो हिंसादिभ्यो विरतिर्व्रतं, तस्य बालतपोव्यपदेशात् सम्यग्ज्ञानवत एव नुस्तेभ्यो विरतिर्देशतोऽणुव्रतं सर्वतस्तेभ्यो विरतिर्महाव्रतमिति प्रत्येयं। देशसर्वविशुद्धिस्वभावभेदात्तदेकमपि व्रतं द्वेधा भिद्यते इत्यर्थः ॥

मिथ्यादृष्टि जीव की हिंसा, झूंठ आदि पापों से विरक्ति हो जाना व्रत नहीं है क्योंकि मिथ्यादृष्टियों की उस त्याग आखड़ी को बालतप शब्द करके कहा जाता है। अज्ञानी या मिथ्यादृष्टियों की तपस्या बालतप है। हां सम्यग्ज्ञान वाले ही जीव के उन हिंसादिकों से एकदेश से विरति होना अणुव्रत है और सम्पूर्णरूप से उन हिंसादिकों से विराम पा जाना महाव्रत है यों प्रतीति कर लेनी चाहिये। सम्यग्दृष्टि जीव के ही पांचवां और छठे आदि गुणस्थान होते हैं। आत्मा का एक स्वभाव तो एकदेश से विशुद्धि होना है और दूसरा स्वभाव सर्व ओर से विशुद्धि होना है। वह व्रत मूलरूप से या सामान्यरूप से एक होता हुआ भी आत्मा की एकदेशविशुद्धि और सर्वदेशविशुद्धि इन दो भिन्न-भिन्न स्वभावों से दो

प्रकार भेद को प्राप्त हो रहा है यह इस सूत्र का अर्थ है। श्रावकों की आत्मा में एकदेशविशुद्धि है और मुनियों की आत्मा तो सर्वांगविशुद्ध है अतः अन्तरंगकारण अनुसार व्रत के दो भेद किये गये हैं। अब जिस प्रकार उत्तम औषध में भावनायें दी जाकर वह रोग दुःख का विनाश कर देती है उसी प्रकार भावनाओं से भावित हुये व्रत भी कर्म रोगों के विनाशक हैं जो भावनाओं के भावने में असमर्थ है वह व्रतों का समीचीन पालन नहीं कर सकता है तिस कारण एक एक व्रत की संस्कारक भावनाओं का प्रयोजन और उनकी संख्या का प्रतिपादन करने के लिये सूत्रकार महाराज अगिला सूत्र कहते हैं।

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पंच पंच ॥३॥

उन पांचों व्रतों की स्थिरता करने के लिये एक एक व्रत की पांच-पांच भावनायें हैं। पांचों व्रतों की पच्चीस भावनायें हैं। देशान्तर को जाने वाले पुरुष को यदि कोई यों कह दे कि हमारे लिये वहाँ से सुपारी लेते आना तो वह प्रवासी पुरुष अपनी आत्मा में वैसा संस्कार जमा लेता है जिस भावना के वश हो कर वह बरस, छह महीने पीछे भी सुपारी लाने की स्मृति रखता है। दाल में जीरे की भावना दे दी जाती है। प्राणेश्वर रस में ताम्बूल के रस की भावना दी जाती है और सन्निपातसूर्यरस में भांग के पत्तों के रस की भावना दी जाती है।

भावनाशब्दः कर्मसाधनः, पंच पंचेत्यत्र वीप्सायां शसः प्रसंग इति चेन्न, कारकाधिकारात्। क्रियाध्यारोपात्कारकत्वमासामिति चेन्न, विकल्पाधिकारात्। तेनैकैकस्य व्रतस्य भावनाः पंच पंच कर्तव्यास्तत्स्थिरभावार्थमित्युक्तं भवति॥ तदेवाह—

"भाव्यन्ते यास्ताः भावनाः" जो भाई जावें वे भावनायें हैं यों भावना शब्द की कर्म में प्रत्यय कर सिद्धि कर ली जाय। यहां कोई शंका उठाता है कि इस सूत्र में पंच पंच ऐसी विवक्षा करने पर वीप्सा में शस् प्रत्यय हो जाने का प्रसंग आता है। शस् प्रत्यय कर देने से पंचशः प्रयोग हो जाने में लाघव भी है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि शस् के विधायक सूत्र में कारक का अधिकार चला आ रहा है यहाँ कारकपना नहीं है अतः शस् प्रत्यय नहीं हुआ। यदि पुनः कोई आक्षेप करे कि "पंच पंच भावयेत" यों भावयेत् क्रिया का अध्यारोप हो जाने से इन भावनाओं को कारकपना प्राप्त हो जायगा, "क्रियान्वितत्वं कारकत्वं"। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो ठीक नहीं क्योंकि वहाँ विकल्प का अधिकार चला आ रहा है। वा शब्द की अनुवृत्ति है। अतः शस् नहीं होता है। तिस कारण एक-एक व्रत की पाँच-पाँच भावनायें उन व्रतों के स्थिर हो जाने के लिये करनी चाहिये। यह अभिप्राय इस सूत्र का कहा जा चुका हो जाता है। उस ही बात को ग्रन्थकार वार्तिक द्वारा कहते हैं।

तत्स्थैर्यार्थं विधातव्या भावनाः पंच पंच तु।
तदस्थैर्ये यतीनां हि संभाव्यो नोत्तरो गुणः॥१॥

उन व्रतों की स्थिरता करने के लिये पाँच-पाँच भावनायें तो अवश्य करनी (भावनी) चाहिये। कारण कि उन व्रतों में स्थिरता नहीं होने पर मुनि महाराजों के उत्तर गुणों की प्राप्ति की संभावना नहीं हो सकती है। यह निश्चय समझियेगा।

अथाद्यस्य व्रतस्य पंच भावनाः कथ्यन्ते; —

अब सबसे प्रथम आदि में होने वाले अहिंसाव्रत की पाँच भावनायें सूत्रकार द्वारा कही जो रही है :

वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनानि पंच ॥४॥

वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदान निक्षेपण समिति और आलोकितपान भोजन ये पाँच अहिंसाव्रत की भावनायें हैं। अर्थात् वचन का गोपन करना, मन का गोपन करना, चार हाथ भूमि निरख कर संयम पालते हुये गमन करना, देख कर उठाना धरना, सूर्य प्रकाश में खान-पान करना, ये पाँच भावनायें यानी सद्विचार सर्वदा रहेंगे, तो अहिंसाव्रत स्थिर रहा आवेगा।

कथमित्याह—

कोई तर्क उठाता है कि ये पाँच किस प्रकार अहिंसाव्रत को स्थिर कर देते हैं। बताओ ! इस प्रकार जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार उत्तर कहते हैं।

स्यातां मे वाङ्मनोगुप्ती प्रथमव्रतशुद्धये।
तथेर्यादाननिक्षेपसमिती वीक्ष्य भोजनः ॥१॥

पहिले या प्रधान अहिंसा व्रत की शुद्धि के लिये मेरे वचनगुप्ति और मनोगुप्ति हो जावें तथा ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और दिन में निरखकर भोजन, पान करना ये क्रियायें होवें ऐसी भावनायें भावने से मेरे या किसी भी भावुक आत्मा के अहिंसाव्रत पुष्ट होता रहेगा।

इति मुहुर्मुहुश्चेतसि संचिंतनात्।

इस प्रकार चित्त में बार-बार अच्छा चिंतन करते रहने से भावित आत्मा व्रतों में दृढ़ हो जाता है।

काः पुनर्द्वितीयस्य व्रतस्य भावना इत्याह—

फिर दूसरे सत्यव्रत की भावनायें कौनसी हैं ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार इस अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचीभाषणं च पंच ॥५॥

क्रोध का त्याग, लोभ का त्याग, भयभीत हो जाने का त्याग, हास्य करने का त्याग और निर्दोष या आर्षशास्त्रानुसार भाषण करना ये पाँच भावनायें सत्य व्रत की जान लेनी चाहिये अर्थात् क्रोध के वश होकर जीव झूंठ बोल जाता है। लोभी मनुष्य भी धन आशा के वश असत्य बोल जाता है, डर में आकर झूंठ बोलना प्रसिद्ध ही है। हंसी (मजाक, नकल, दिल्लगी) करने में तो प्रायः असत्य ही बोला जाता है। अतः इनका परित्याग करना आवश्यक है। विचार कर अनुकूल बोलने की टेव रखने से सत्य व्रत

को पुष्टि मिलती है। प्रत्येक बात को बहुत विचार कर बोलना चाहिये। अत्यल्प, गंभीर, सारभूत, हित-वचन कहने चाहिये।

उक्त सूत्र के अभिमत को किस प्रकार निर्णीत कर लिया जाय ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार भावनाओं के अनुभव को कहते हैं।

क्रोधलोभभयं हास्यं प्रत्याख्यामनृतोद्भवं।
तत्त्वानुकूलमाभाषे द्वितीयव्रतशुद्धये ॥१॥

सत्यव्रती बार बार विचार करता है कि अनृत से उत्पन्न हुये या अनृत (झूंठ) को उत्पन्न करने वाले क्रोध, लोभ, भय और हास्य को मैं छोड़ देवूं तथा दूसरे सत्यव्रत की शुद्धि के लिये तत्त्व व्यवस्था अनुकूल चारों ओर भाषण करूं। यों भावना रखता हुआ सत्यवादी अपने व्रत को शुभभावनाओं अनुसार पुष्ट कर लेता है।

इत्येवं पौनःपुन्येन चिंतनात्।

यों इस प्रकार पुनः पुनः रूप से चिन्तन करने से उपात्त किया गया सत्यव्रत परिपूर्ण रूप से स्थिर हो जाता है।

तृतीयस्य व्रतस्य का भावना इत्याह;—

अब तीसरे अचौर्य व्रत की भावनायें पांच कौन-सी हैं इस प्रकार जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार भगवान् उत्तरसूत्र को कहते हैं।

शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसधर्माविसंवादाः पंच ॥६॥

सूने घरों में निवास करने का अभिप्राय रखना, दूसरों के द्वारा विशेषतया छोड़ दिये गये स्थानों में निवास करने की इच्छा रखना, दूसरों के प्रति हठ आदि द्वारा उपरोध नहीं करना, भिक्षा-समुदाय की शुद्धि रखना, साधर्मी भाइयों के साथ विसंवाद नहीं करना, ये पांच अस्तेय व्रत की भावनायें हैं। अर्थात् पशु, पक्षी, स्त्री, किसान आदि जीवों से अथवा भूषण, वस्त्र, भोजन, पान, रुपया पैसा आदि जड़ पदार्थों से रीते हो रहे ऐसे पर्वत की गुफा, वृक्षों के कोटर, सूनी वसतिका आदि स्थानों में निवास करना, दूसरों के छोड़े हुये स्थान में ठहरना, शिला, पुस्तक, काष्ठासन आदि को ग्रहण कर दूसरों का उपरोध नहीं करना, आचार शास्त्र अनुसार भिक्षाओं को शुद्ध लेना, यह तेरा शास्त्र है, यह मेरा स्थान है आदि टंटों को साधर्मियों के साथ नहीं करना ये पांच भावनायें अचौर्य व्रत को पुष्ट करती हैं। इनके विपरीत आचरण करने से साक्षात् या परम्परया अचौर्यव्रत का भंग हो जाता है।

कथमित्याह—

अचौर्य व्रत की उक्त पांच भावनाओं को किस प्रकार भाया जाय ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार दो वार्तिकों द्वारा उत्तर कहते हैं।

शून्यं मोचितमावासमधितिष्ठामि शुद्धिदं ।

परोपरोधं मुंचामि भैक्ष्यशुद्धिं करोम्यहं ॥१॥
सधर्माभिः समं शश्वदविसंवादमाद्रिये ।
अस्तेयातिक्रमध्वंसहेतुतद्व्रतवृद्धये ॥२॥

मैं आत्मा की विशुद्धि को देने वाले शून्य स्थान और छोड़े हुये स्थानों में अधिष्ठित होता हूँ, दूसरों के साथ उपरोध करने को छोड़ता हूँ, मैं भिक्षाओं के समूह की शुद्धि को कर रहा हूँ, समान धर्म वाले जीवों के साथ सदा ही अविसंवाद रखने का आदर करूँ, इस प्रकार अचौर्य व्रत का अतिक्रमण करने वाली पापक्रियाओं के ध्वंस का हेतु हो रहे उस अचौर्य व्रत की वृद्धि के लिये मैं उक्त पांच भावनाओं को यों भावता हूँ ॥

इत्येवं बहुशः समीहनात् ॥

यों इस प्रकार बहुत बार समीचीन विचार रखने से व्रती पुरुष का अचौर्य व्रत दृढ़ हो जाता है।

चतुर्थस्य व्रतस्य कास्ता भावना इत्याह—

चौथे ब्रह्मचर्य व्रत की वे पांच भावनायें कौन सी हैं ? इस प्रकार बुभुत्सा प्रवर्तने पर सूत्रकार अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहरांगनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पंच ॥७॥

स्त्रियों में राग को उपजाने वाली कथाओं को सुनने का त्याग करना, उन स्त्रियों के या पुरुषों के मनोहर अंगों के निरीक्षण का परित्याग करना, पूर्वकाल में भोगे जा चुके भोगों के अनुस्मरण का परित्याग कर देना, वृषीकरण, वाजीकरण आदि विधियों का त्याग कर उन्मादक वृष्यरस या इन्द्रियों द्वारा अनुराग बढ़ाने वाले इष्ट रस का त्याग कर देना, तथा अपने शरीर संस्कार का त्याग कर देना ये पांच भावनायें ब्रह्मचर्य व्रत को स्थिर करने के लिये हैं।

कथमित्युपदर्शयति;—

उक्त भावनायें किस प्रकार भावित हुयीं भला ब्रह्मचर्य व्रत को दृढ़ कर देतीं हैं ? इस का निर्णय करने के लिये ग्रन्थकार उपपत्ति को दिखलाते हैं।

स्त्रीणां रागकथां जह्यां मनोहार्यंगवीक्षणं ।
पूर्वरतस्मृतिं वृष्यमिष्टं रसमसंशयम् ॥१॥
तथा शरीरसंस्कारं रतिचेतोऽभिवृद्धिकं ।
चतुर्थव्रतरक्षार्थं सततं यतमानसः ॥२॥

चौथे ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये सर्वदा प्रयत्न करने वाली मानसिक प्रवृत्तियों को धार रहा मैं स्त्रियों की रागवर्द्धिनी विकथाओं को छोड़ दूँ, न कहूं, न सुनूं, रति करने में चित्त को चारों ओर से बढ़ाने वाले उन स्त्रियों के मनोहारी अंगों के देखने को छोड़ दूं। पहिले रमण किये गये भोगों के स्मरण को छोड़ दूं, तथा कामवर्द्धक और बल वीर्यवर्द्धक, वृष्य और इष्ट रसों का संशय रहित होकर त्याग कर दूँ, तथा रति क्रिया में चित्तवृत्ति को बढ़ाने वाले अंजन, मंजन, मर्दन, स्नान, उबटन, पोंछना, झाड़ना आदि शरीर संस्कारों का त्याग कर दूँ। यों ब्रह्मचारी को इन पांचों भावनाओं से युक्त सद्विचार रखने चाहिये।

इत्येवं भूरिशः समीक्षणात् ॥

यों इस प्रकार प्रति समय भूरि भूरि समीचीन विचार करते रहने से चौथा व्रत परिपुष्ट हो जाता है। बार बार विचारना ही तो भावना है।

पंचमस्य व्रतस्य का भावना इत्याह;—

पांचमे अपरिग्रह या आकिंचन्य व्रत की भावनायें कौन सी हैं? ऐसी सद्भावना प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्रको कहते हैं

मनोज्ञामनोज्ञेंद्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पंच ॥८॥

स्पर्शन इन्द्रिय के मनोज्ञ विषय में राग छोड़ देना और स्पर्शन इन्द्रिय के अमनोज्ञ विषय में द्वेष छोड़ देना १ रसना इन्द्रिय के मनोनुकूल हो रहे रस विषय में राग करने का त्याग और रसना इन्द्रिय के मनः प्रतिकूल विषय में द्वेष का त्याग २ घ्राण इन्द्रिय के अनुकूल गंध विषय में राग का त्याग और घ्राण इन्द्रिय के प्रतिकूल विषय में द्वेष का परित्याग ३ चक्षुःइन्द्रिय के मनोज्ञविषय में अनुराग धारने का परित्याग और चक्षुः इन्द्रिय के अमनोज्ञ विषयों में द्वेष करने का परित्याग ४ तथा कर्ण इन्द्रिय के मनोज्ञ शब्द विषयों में प्रीति करने का त्याग और श्रोत्र इन्द्रिय के अमनोज्ञ दुःस्वरों में द्वेष करने का त्याग ५ यों ये पांच भावनायें अपरिग्रह व्रत की हैं।

कथमिति निवेदयति ।

अपरिग्रहव्रती किस प्रकार भावनाओं को भावे? इसके उत्तर में ग्रन्थकार श्री विद्यानंदस्वामी निवेदन करे देते हैं।

सर्वाक्षविषयेष्विष्टानिष्टोपस्थितेष्विह ।
रागद्वेषौ त्यजाम्येव पंचमव्रतशुद्धये ॥१॥

इष्ट और अनिष्ट होकर उपस्थित हो रहे इन सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों में मैं पाँचमे आकिंचन्य व्रत की शुद्धि के लिये इस प्रकार सूत्रकार के कथनानुसार राग और द्वेषको छोड़ रहा हूँ। साथ ही छठी मन इन्द्रिय के पोषक या आविर्भावक मनोज्ञ, अमनोज्ञ, विषयों में राग द्वेषों को छोड़ रहा हूँ।

इत्यनेकधावधानात् ।

यों अनेक प्रकार अवधान यानी एकाग्र होकर सद्विचार करते रहने से आकिंचन्यव्रत दृढ़ हो जाता है।

प्रत्येकमिति पंचानां व्रतानां भावना मताः ।
पंच पंच सदा सन्तु निःश्रेयसफलप्रदाः ॥२॥

यों उक्त प्रकार पांचों व्रतों में से प्रत्येक प्रत्येक की पांच पांच भावनायें आम्नाय अनुसार मानी जा चुकी हैं जो कि भव्य जीवों के लिये सर्वदा मोक्षफल को अच्छा देने वाली हो जाओ। यों व्रतों की सद्भावनाओं से प्रसन्न होकर महाव्रती ग्रन्थकार एक प्रकार का आशीर्वाद वचन कहते हैं। यद्यपि ग्रन्थकार सर्वदा परानुग्रह करने में ही दत्तचित्त हैं तथापि प्रमोद भावना और कृपादृष्टि से प्रेरित होकर कदाचित् विशेषतया अनुग्रह करने में दत्तावधान हो जाते हैं।

किं पुनरत्र भाव्यं ? को वा भावकः ? कश्च भावनोपाय इत्याह—

यहाँ कोई तत्त्वान्वेषी प्रकरणानुसार प्रश्न उठाता है कि फिर यह बताओ कि यहां भावना करने योग्य भाव्य पदार्थ क्या है ? अथवा भावना करने वाला भावक कौन है ? तथा भावनायें भावना स्वरूप उपाय क्या है ? बताओ। इस प्रकार प्रश्नों के उतरने पर आचार्य महाराज अग्रिम वार्तिक द्वारा उत्तर कहते हैं।

भाव्यं निःश्रेयसं भव्यो भावको भावना पुनः ।
तदुपाय इति त्र्यंशपूर्णाः स्याद्वादिनां गिरः ॥३॥

आत्मा की कर्मरहित अवस्था मोक्ष तो यहां भावना करने के योग्य भाव्य अर्थ है और भव्य जीव उन भावनाओं का भावक है तथा भावना तो फिर उस मोक्ष का उपाय है। इस प्रकार स्याद्वाद सिद्धान्त को जानने वाले विद्वानों की भाव्य, भावक, भावना, इन तीन अंशों से परिपूर्ण हो रही वाणियें प्रवर्त रही हैं।

नहि सर्वथैकान्तवादिनां भावना भवति । नित्यस्यात्मनो भावकत्वे विरोधः, ततः प्रागभावकस्य शश्वद्भावकत्वानुषक्तेः, भावकस्य सर्वदा भावकत्वापत्तेः । तत एव प्रधानस्यापि न भावकत्वमनित्यत्वप्रसंगात् । नापि क्षणिकैकांते भावकोऽस्ति, निरन्वयविनाशिनः क्षणादूर्ध्वमवस्थानाभावात् पौनःपुन्येन चित्तसंतानानामसंभवात् सन्तानस्याप्यवस्तुत्वात् ।

सर्वथा नित्यत्व अनित्यत्व एकत्व आदि एकान्तों का पक्ष ले रहे एकान्तवादी पंडितों के यहाँ भावनायें या उनका चिन्तन करना ही नहीं संभवता है देखिये नित्य आत्मा को भावक मानने में विरोध है। जो पहिले भावक नहीं था वह भावना करते समय भावक बने तब तो भावनायें सिद्ध हो सकती हैं। कूटस्थ नित्य तो सर्वदा एकसा ही रहता है तिस कारण पूर्व अवस्था में नहीं भावना कर रहे नित्य आत्मा के सर्वदा ही अभावक होते रहने का प्रसंग आवेगा। हां वर्तमान अवस्था में भावना कर रहे भावक आत्मा को सर्वदा पहिले पीछे भावक बने रहने की आपत्ति आवेगी। कारण दशा में ही पड़े रहो, फलप्राप्ति की अवस्था नहीं आने की है। हाँ पूर्वाकार का त्याग, उत्तर आकार का ग्रहण और ध्रुवरूप यों त्रितय आत्मक परिणाम वाले नित्यानित्यस्वरूप आत्मा में भावना परिणति बन सकती है तिस ही कारण से यानी सदा अभावकत्व या भावकत्व का प्रसंग आजाने से ही सांख्यों के यहां प्रकृति का भी भावकपना नहीं सध पाता है। प्रधान को पहिले भावक नहीं मानकर पुनः भावना भावते समय भावक

माना जायगा तो अनित्य हो जाने का प्रसंग आजावेगा । बौद्धों के यहां क्षणिकपने के एकान्त का पक्ष लेने पर भी कोई भावक नहीं होता है क्योंकि वंश रहित होकर समूलचूल विनाश को प्राप्त हो रहे पदार्थ की एक समय से ऊपर अवस्थिति ही नहीं है अतः पुनः पुनः पने करके चैतन्य संतानों का असंभव है । सन्तान भी तो उनके यहां वस्तुभूत नहीं मानी गयी है अर्थात् कितनी ही देर तक बार-बार विचार करने को भावना कहते हैं । क्षणिक विज्ञान विचारा अनेक क्षण तक ठहरता ही नहीं है । हां, अनेक स्वलक्षणों की सन्तान तो भावना कर सकती थी किन्तु क्षणिकवादी के यहां सन्तान या समुदाय वस्तुभूत नहीं माने हैं यों एकान्त नित्य और एकान्त क्षणिक पक्षों में भावना नहीं संभवती है ।

ततोऽनेकान्तवादिनामेव भावना युक्ता भावकस्य भव्यस्यात्मनः सिद्धेः सर्वकर्मनिर्मोक्षलक्षणस्य च निःश्रेयसस्य भाव्यस्योपपत्तेः । तदुपायभूतायाः सम्यग्दर्शनादिस्वभावविशेषात्मिकायाः सत्यभावनायाः प्रसिद्धेः । स्याद्वादिनामेव त्र्यंशपूर्णा गिरो वेदितव्याः ॥

तिस कारण अनेकान्तवादी जैन विद्वानों के यहां ही भावना बनना समुचित है क्योंकि भावना करने वाले परिणामी भव्य आत्मा की सिद्धि हो रही है । और सम्पूर्ण कर्मों का आत्यन्तिक छूट जाना स्वरूप मोक्ष का भाव्यपना बन रहा है तथा उस मोक्ष के उपायभूत हो रही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान आदि विशेषस्वभावस्वरूप सत्यभावना यानी पारमार्थिक भावना की प्रसिद्धि हो रही है इस कारण स्याद्वादियों के यहां ही भावक, भाव्य, भावना इन तीन अंशों से परिपूर्ण हो रही वचन पद्धतियां समझ लेनी चाहिये । जिस प्रकार नित्यानित्यात्मक परिणामी आत्मा में दुःख, शोक, दान आदि परणतियां बनती हैं । उसी प्रकार कथंचित् नित्य भव्य आत्मा ही भावनीय मोक्ष की उपाय हो रही सम्यग्दर्शन आदि स्वरूप भावनाओं को भावता है ।

सकलव्रतस्थैर्यार्थमित्थं च भावना कर्तव्येत्याह—

व्रतों की विरोधी हो रही पापक्रियाओं में भी प्रतिकूल भावनायें भावते हुये सामान्य रूप से सम्पूर्ण व्रतों की स्थिरता के लिये और भी इस प्रकार भावनायें करनी चाहिये इस अभिप्राय से प्रेरित हुये सूत्रकार अग्रिम सूत्र को कहते हैं ।

हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनं ॥९॥

हिंसा आदि पापों में इस जन्म में अपाय दीखना यों भावना करनी चाहिये और भविष्य जन्मान्तरों में अवद्य देखा जाना भावने योग्य है । अर्थात् हिंसा करने वाला प्राणी इस लोक में जन समुदाय करके नित्य ही ताड़ने योग्य होता है यहां उससे वैर बांध लिया जाता है । अनेक प्रकार के वध, बन्ध क्लेशों को प्राप्त करता है, और मरकर नरकादि गतियों को पाता है, निन्दित होता है इस कारण हिंसा से विरति करना श्रेष्ठ है । तिस ही प्रकार झूंठ बोलने वाले व्यक्ति की कोई श्रद्धा या विश्वास नहीं रखता है वह जिह्वाछेदन, कारागृहवास, को प्राप्त करता है, झूंठ बोलने करके दुःखी हो गये प्राणियों से वैर बांधकर अनेक विपत्तियों को प्राप्त करता है, मरकर दुर्गति में वास करता है अतः झूंठ बोलने से विरक्ति रखना श्रेष्ठ है यह भावना रखनी चाहिये । तथा दूसरों के द्रव्य को चुराने वाला जीव सबके त्रास देने योग्य हो जाता है, यहां इस जन्म में बेंतों की मार, जेलखाना, हाथ-पांव छेदन, सर्वस्व हरण, आदि दुःखों को प्राप्त करता है, भयभीत रहता है और मरकर अशुभ गति को प्राप्त होता है, सर्वत्र उसकी

निन्दा होती है अतः चोरी करने से विराम ले लेना चाहिये। तथैव कुशील पुरुष यहाँ वध, बन्धन, मार-पीट, कुवचन सहना आदि दुःखों को प्राप्त करता है, सबसे वैर बांधकर लिंग छेदन, धनहरण आदि अपायों को प्राप्त करता है। और मरकर नरकादि कुगतियों में जाता है पुण्य कर्मों को नहीं कर सकता है, निंदित होता है अतः अब्रह्म पाप से विरति करना आत्मा का हित है। तथा परिग्रह प्रेमी जीव चोर, डाकू आदि कुशब्दों करके त्रास प्राप्त करने योग्य होता है। धन के अर्जन, रक्षण में अनेक दुःखों को उठाता है, सन्तोष नहीं करता है, लोभपीडित होकर मरता है, दुर्गति को प्राप्त होता है लोभी, कंजूस, मक्खी-चूस, आदि निन्दाओं का पात्र बनता है। अतः परिग्रह से विरति ही करना श्रेष्ठ है। ऐसी भावनायें भावने से सामान्यरूप से सभी व्रतों में जीव की स्थिरता होती है। शुभ भावनायें ही सच्चारित्र की प्राप्त हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अभ्युदयनिःश्रेयसार्थानां क्रियाणां विनाशकोपायः भयं वा अवद्यं च गर्ह्यं तयोर्दर्शनमवलोकनं प्रत्येकं हिंसादिषु भावयितव्यं। कथमित्याह—

जिन क्रियाओं से अनेक सांसारिक अभ्युदय और संसारातीत मोक्ष इन प्रयोजनों की सिद्धि हो सकती है उन श्रेष्ठ क्रियाओं का विनाश करने वाला जो प्रयोग है वह अपाय कहा जाता है अथवा इह लोक संबन्धी आदि सात भय भी अपाय हो सकते हैं और अवद्य का अर्थ निंदनीय है उन अवद्य और अपायों का दर्शन यानी अवलोकन या परामर्श करना प्रत्येक हिंसादि पापों में भावना करने योग्य है। कोई पूंछता है कि किस प्रकार उक्त सामान्य भावनाओं को भावना चाहिये? बताओ। ऐसा प्रश्न प्रवर्तने पर ग्रन्थकार उत्तर कहते हैं।

हिंसनादिष्विहापायदर्शनं भावना यथा।
मयामुत्र तथावद्यदर्शनं प्रविधीयते ॥१॥

जिस प्रकार हिंसा, झूंठ आदि पापों में इस जन्म में अनेक अपाय होना दीख रहा है उसी प्रकार परलोक में अनेक अवद्य होना देखे जा रहे हैं। यों मुझ करके भावना भले प्रकार की जा रही है।

हिंसादिसकलमव्रतं दुःखमेवेति च भावनां व्रतस्थैर्यार्थमाह—

हिंसा, झूंठ आदिक सम्पूर्ण अव्रत दुःख स्वरूप ही हैं इस निराली भावना को व्रतों की स्थिरता कराने के लिये सूत्रकार कंठोक्त कहते हैं।

दुखमेव वा ॥१०॥

हिंसा, आदिक पांचों पाप दुःख स्वरूप ही हैं यह भावना भी भावनी चाहिये तभी दुःखों से विरक्ति उपजेगी। भावार्थ—क्षमा या ब्रह्मचर्य से सुख उपजता है इस प्रयोग की अपेक्षा क्षमा या ब्रह्मचर्य निश्चयनयानुसार सुखस्वरूप हैं यह वचन मीठा और सत्यार्थ जंच रहा है। वस्तुतः विचारा जाय तो क्षमा से सुख होता है यों कार्यकारण भाव बनाना एक प्रकार से परमब्रह्मस्वरूप क्षमा की अवज्ञा करना है। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि दान, पूजा, संयम, तपश्चरण से सुख होता है इसकी अपेक्षा दान, पूजा आदि ही सुखस्वरूप हैं यह अभिप्राय सुन्दर है। तभी "समरसरसरंगोद्‌गम" होने पाता है। इसी प्रकार हिंसा करना, झूंठ बोलना आदि पापचेष्टायें भी दुःखस्वरूप हैं। उस समय आत्मा को महान् दुःख उपज रहा

है अतः हिंसादिकों से जो दुःख होगा वह तो उपजेगा ही साथ ही तादात्विक दुःख का संवेदन भी आत्मा को हो रहा है अतः सूत्रकार का हिंसादिकों को दुःखस्वरूप बताना बड़ा सुन्दर जच गया है। विद्वान् इसका परिशीलन करेंगे। धर्म से सुख होता है। इसकी अपेक्षा यों अच्छा जचता है कि ज्ञानदान, परोपकार, निश्छल व्यवहार, कषायमान्द्य, आदि धर्म सुखस्वरूप ही हैं। धर्मपालन तत्काल आनन्दस्वरूप है। आत्मा के गुणों में अभेद है।

दुखमेवेति कारणे कार्योपचारो अन्नप्राणवत् कारणकारणे वा धनप्राणवत्। दुःखस्य कारणं ह्यव्रतं हिंसादिकमपायहेतुत्वादिहैव दुःखमित्युपचर्यते, कारणे कारणं वा तदवद्यहेतुत्वात् तस्य च दुःखफलत्वात्। तत्परत्र भावनमात्मसाक्षिकं।

मार्गदर्शक :– [illegible] से किया गया खेदपरिणाम तो दुःख है और हिंसा करना, झूठ बोलना आदिक आत्मा के पुरुषार्थजन्य क्रिया विशेष हैं ऐसी दशा में वे हिंसादिक भला दुःखस्वरूप ही कैसे हो सकते हैं ? बताओ। ऐसा आक्षेप प्रवर्तने पर ग्रन्थकार समाधान करते हैं कि "दुखमेव" यों कथन तो कारण में कार्य का उपचार कर किया गया है। जैसे कि "अन्नं वै प्राणाः" अन्न ही निश्चय से प्राण हैं यहाँ प्राण के सहकारी कारण हो रहे अन्न में प्राणत्व का उपचार कर सामानाधिकरण्य हो रहा है। इसी प्रकार दुःख के कारण हो रहे हिंसा आदिक क्रियाओं में दुःख ही है यह उपचार किया गया समझ लेना चाहिये। जिस प्रकार कि "धनं प्राणाः" धन ही प्राण हैं यहाँ प्राण का कारण अन्न और अन्न प्राप्ति का उपाय धन है। अथवा अन्य भी अर्थ क्रियाओं के साधक अर्थों की प्राप्ति धन से ही होती है यों प्राण के कारण के कारण धन को प्राण कह दिया जाता है। तिसी प्रकार हिंसा आदिक पापक्रियायें तो असद्वेद्य के कारण आस्रावक कारण हैं और असद्वेद्यकर्म पुनः दुःख का कारण है यों दुःख के कारण हो रहे असद्वेद्य कर्म के कारण हिंसादिकों को दुःखस्वरूप ही उपचार से कह दिया है। दुःख के कारण हिंसा आदिक अव्रत हैं क्योंकि वे इस लोक में ही (परलोकमें तो अवश्य ही होवेंगे) अपाय के हेतु होने से दुःखस्वरूप यों उपचार को प्राप्त हो जाते हैं। कारण में जो कारण हो रहा है वह अवद्य के हेतु का हेतु होने से तद्रूपेण उपचार को प्राप्त हो जाता है और उसका फल दुःख होने से वहाँ तत्पना आरोपित कर दिया जाता है। भावार्थ—पूर्व सूत्र अनुसार इस जन्म में अपाय का कारण होने से हिंसादिकों को दुःख कहना कारण में कार्यपन का उपचार है। ये हिंसादिक दुःख स्वरूप ही हैं इस भावना को दूसरों में अपना साक्षी देते हुये भावना चाहिये अर्थात् मारना, पीड़ा देना जैसे मुझ को अप्रिय हैं तिसी प्रकार सर्व जीवों का अप्रिय है। मिथ्या-भाषण, बहुभाषण आदिक वचन सुनने से जैसे मेरे को अतितीव्र दुःख उपजता है इसी प्रकार सब जीवों को दुःख उपजेगा अतः हम किसी के प्रति मिथ्याभाषण न करें। मेरे इष्ट द्रव्य के वियोग में जैसे मुझको आपत्ति आजाती है उसी प्रकार सम्पूर्ण प्राणियों को अभीष्ट द्रव्य की चोरी करने से विपत्ति आती है। दूसरे के द्वारा मेरे स्त्रीजनों का तिरस्कार हो जाने पर जैसे मुझे तीव्र मानसिक पीडा उत्पन्न होती है उसी प्रकार दूसरे की स्त्रियों के साथ काम चेष्टा करने पर दूसरों को अतीव संक्लेश उपजता है। तथा मुझे परिग्रह की अप्राप्ति या प्राप्त के विनाश हो जाने पर जैसे आकांक्षा, रक्षा करना, शोक आदि से उपजे हुये दुःख होते हैं तिसी प्रकार सर्व प्राणियों को होते हैं। यों हिंसा आदिकों में दुःखस्वरूप की सामान्य भावना को भावते, भावते, जीव की उन पापों से पूर्ण विरक्ति हो जाती है।

ननु चाब्रह्मकर्मामुत्र दुःखमात्मसाक्षिकं तद्धि स्पर्शसुखमेवेति चेन्न, तत्र स्पर्शसुखवेदना-प्रतीकारत्वात् दुःखानुषक्तत्वाच्च दुःखत्वोपपत्तेः। एतदेवाह—

यहाँ कोई आमन्त्रण करता हुआ आक्षेप करता है कि परस्त्री सेवन, वेश्यागमन, परपुरुषरमण, अनंग क्रीड़ा आदि अब्रह्म पापस्वरूप क्रियायें परजन्मों में दुःखस्वरूप हैं। वे आत्मा को साक्षी लेकर दुःख स्वरूप भावनी चाहियें किंतु अब्रह्म तो इस जन्म में स्पर्शजन्य सुखस्वरूप ही प्रतिभासता है। सुन्दर अंगना के कोमल गात्र का संस्पर्श हो जाने से रतिसुख उपजता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि वहाँ स्पर्श सुख होना केवल वेदना प्रतीकार है जैसे कि खाज रोग से पीड़ित हुआ पुरुष नख, कंकड़ी, तृण आदि से खूब खुजाकर रुधिर से गीला हो गया भी उस महान् दुःख को भी सुख मान रहा है, तिसी प्रकार मैथुनसेवी पुरुष मोह से असुख को भी सुख मान बैठा है। ब्रह्मचारी या सदाचारी को ब्रह्मचर्य के अनुपम सुख का अनुभव है। एक बात यह भी है कि "तत्सुखं यत्र नासुखं" दुःख का जहाँ लेश मात्र भी नहीं है वही सुख है। कुशीलसेवी जीव के महान् दुखों का प्रसंग हो रहा है, अनेक भय सता रहे हैं अतः अब्रह्म को दुःखपना ही युक्तिसिद्ध है। इस ही सूत्रोक्त बात को ग्रन्थकार वार्तिक द्वारा कहते हैं।

भावना देहिनां तत्र कर्तव्या दुखमेव वा।
दुःखात्मकभवोद्भूतिहेतुत्वादव्रतं हि तत् ॥१॥

उन हिंसा आदि अव्रतों में "ये जीवों के दुःखस्वरूप ही हैं" ऐसी भावना भी प्राणियों को करनी चाहिये (प्रतिज्ञा) दुःख आत्मक संसार की उत्पत्ति के हेतु होने से (हेतु) इस कारण वह अब्रह्म नाम का अव्रत दुःख स्वरूप ही है, अन्य अव्रत भी दुःखस्वरूप ही हैं। जिस प्रकार उक्त भावनायें भावते भावते व्रतों की पूर्णता होती है उसी प्रकार इस लोक सम्बन्धी प्रयोजन की नहीं अपेक्षा कर ये मैत्री आदिक भावनायें भी यदि भावीं जावें तो व्रत सम्पत्ति स्थिर होती है अतः सूत्रकार सामान्य भावनाओं का निरूपण करते हुये मैत्री आदि भावनाओं का प्रतिपादन करने के लिये अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानाविनयेषु ॥११॥

जगत् के सम्पूर्ण प्राणियों में सद्भावपूर्ण मैत्रीभाव करना और गुणों से अधिक हो रहे सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी आदि भव्यात्माओं में प्रमोद किया जाय। दुःखी हो रहे क्लेश प्राप्त जीवों में करुणाभाव रखा जाय। तथा जिन धर्म से बाह्य हो रहे मिथ्यादृष्टि आदि निर्गुण-अविनीत प्राणियों में मध्यस्थता यानी उदासीनता रखी जाय। इस प्रकार भावना भा रहे भव्य के अहिंसादिकव्रत परिपूर्ण हो जाते हैं। जैसे कि पूर्व पठित ग्रन्थों की संस्कार स्वरूप भावना को दृढ़ कर रहे छात्र की व्युत्पत्ति दृढ़ हो जाती है।

हिंसादिविरतिस्थैर्यार्थं भावयितव्यानीति भावनाश्चतस्रोऽपि वेदितव्याः। परेषां दुःखानुत्पत्त्यभिलाषो मैत्री, वदनप्रसादादिभिरभिव्यज्यमानांतर्भक्तिरनुरागः प्रमोदः, दीनानुग्रहभावः कारुण्यं, रागद्वेषपूर्वकपक्षपाताभावो माध्यस्थ्यं, अनादिकर्मबंधवशात्सीदंतीति सत्त्वाः, सम्यग्ज्ञानादिभिः प्रकृष्टा गुणाधिकाः, असद्वेद्योदयापादितक्लेशाः क्लिश्यमानाः, तत्त्वार्थश्रवणग्रहणाभ्यामसंपादितगुणा अविनेयाः। सत्त्वादिषु मैत्र्यादयो यथासंख्यमभिसंबन्धनीयाः। ता एता भावनाः सत्यनेकांताश्रयणे संभवंति नान्यथेत्याह—

हिंसा से विरति, झूंठ से विरति, आदि व्रतों की स्थिरता करने के लिये मैत्री, प्रमोद, करुणा-भावना और माध्यस्थ्य [illegible] । यों व्रतों की चारों भावनायें भी जान लेनी चाहिये। कृत, कारित, अनुमोदना, और मन,वचन, काय कर के दूसरों के दुःख की अनुत्पत्ति में अभिलाषा रखना मैत्री है। मुख की प्रसन्नता, नेत्रों का आह्लाद, रोमांच उठना, बार-बार स्तुति करना, नाम लेना, उपाधियों का वर्णन करना, आदि कर के व्यक्त हो रहा अन्तरंगभक्ति स्वरूप अनुराग करना तो प्रमोद है। शारीरिक मानसिक व्याधियों से पीडित हो रहे दीन प्राणियों के ऊपर अनुग्रह स्वरूप परिणाम ही करुणाभाव है। किसी के विषय में राग द्वेष पूर्वक पक्षपात नहीं करना माध्यस्थ्यभाव है। यों विधेय दल का व्याख्यान कर अब उद्देश्य दल का निरूपण करते हैं। सन्तानरूपेण अनादि काल से लग रहे आठ प्रकार के कर्मों के बंध की अधीनता से चारों गतियों से जो आकुलित हो रहे हैं वे सत्त्व हैं। सम्यग्ज्ञान, तपस्या, विद्वत्ता, वक्तृता आदि गुणों करके प्रकर्ष प्राप्त हुये हैं वे जीव गुणाधिक हैं। तीव्र असातवेदनीय कर्म के उदय से क्लेश को प्राप्त हो रहे जीव क्लिश्यमान हैं तथा जिन्हों ने तत्त्वार्थ के उपदेश का श्रवण और तदनुसार ग्रहण के अभ्यास से कोई भी गुण प्राप्त नहीं कर पाया है ऐसे अविनीत या अपात्र तो अविनय कहे जाते हैं। सत्त्व आदि में मैत्री आदिक भावने योग्य हैं। यों चार उद्देश्यदलों का चार विधेय दलों के साथ संख्या का अतिक्रमण नहीं कर ठीक ठीक सम्बन्ध कर लिया जाय। ये सब प्रसिद्ध हो रही भावनायें अनेकान्तसिद्धान्त का आश्रय करने पर ही उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य आत्मक परिणाम वाले सत् पदार्थ में संभवती हैं अन्यथा नहीं। अर्थात् क्षणिकत्व पक्ष, नित्यत्व पक्ष, एकत्वपक्ष आदि एकान्तों का आग्रह करने पर भावनायें नहीं हो सकती हैं। विशेष विशेष अंशों को छोड़ कर उन्हीं विषयों को भावते रहना यह कालान्तरस्थायी परिणामी आत्मा के ही संभवता है जब कि खाना, पीना, हंगना, मूतना, विवाह होना, पुत्र होना, ये लौकिक क्रियायें अथवा हिंसा,झूंठ, चोरी आदि पाप क्रियायें एवं पूजा, दान, अध्यापन, जाप्य देना, धर्म्यध्यान ये पुण्यकर्म सब अनेकान्तवाद अनुसार ही रहे बनते हैं। तो ये विशेष भावनायें और सामान्य भावनायें भी स्याद्वाद सिद्धान्त अनुसार पदार्थ व्यवस्था मानने पर ही भायी जा सकतीं हैं। इस तत्त्व को और सूत्रोक्त को ग्रन्थकार वार्त्तिकों द्वारा कहे देते हैं।

मैत्र्याद्यो विशुद्धयंगाः सत्त्वादिषु यथागमं।
भावनाः संभवंत्यत्रनैकान्ताश्रयणे तु ताः ॥ १ ॥
मैत्री सत्त्वेषु कर्तव्या यथा तद्वद्गुणाधिके।
क्लिश्यमानेऽविनेये च सत्त्वरूपाविशेषतः ॥ २ ॥
कारुण्यं च समस्तेषु संसारक्लेशभागिषु।
माध्यस्थ्यं वीतरागाणां न क्वचिद्विनिधीयते ॥ ३ ॥
भव्यत्वं गुणमालोक्य प्रमोदोऽखिलदेहिषु।
कर्तव्य इति तत्रायं विभागो मुख्यरूपतः ॥ ४ ॥

यावत् प्राणी और गुणाधिक जीव आदि में ये विशुद्धि के अंग हो रही मैत्री, प्रमोद आदिक भावनाओं को शास्त्रोक्त पद्धति अनुसार भावना चाहिये। वे भावनायें अनेकान्त सिद्धान्त का आश्रय

करने पर तो संभवती हैं किन्तु एकान्त पक्ष का कदाग्रह करने पर नहीं सध पाती हैं। जिस प्रकार जग-

द्वर्त्ती सम्पूर्ण प्राणियों में मैत्रीभाव करना चाहिये उसी के समान जीवरूप से विशेषतायें नहीं होने के कारण गुणाधिक और क्लिश्यमान तथा अविनीत जीवों में भी मैत्री करनी चाहिये। साथ ही "ब्राह्मणवशिष्ट" न्याय अनुसार विशेषता की विवक्षा करने पर संसार संबन्धी क्लेशों के भागी हो रहे समस्त जीवों में करुणाभाव करना चाहिये। क्वचित् अविनीत पुरुषों में वीतराग पुरुषों को माध्यस्थपना रखना नहीं भूल जाना चाहिये। अथवा "क्वचित्स्यादविनीतके" यों पाठ कर लेने पर किन्हीं अविनीत प्राणियों में वीतराग व्रतियों को मध्यस्थपना भावनीय है। यह अर्थ कर लिया जाय। भव्यत्वगुण का विचार कर सम्पूर्ण प्राणियों में प्रमोदभाव करने चाहिये इस प्रकार वहाँ वहाँ मुख्यरूप से यह विभाग कर लिया जाय। ग्रन्थकार का अभिप्राय यह जचता है कि सम्पूर्ण प्राणियों में जिस प्रकार मैत्री भाव की भावना की जाती है उसी प्रकार अत्यल्प, जघन्ययुक्तानन्त, प्रमाण अभव्यों को छोड़ कर सम्पूर्ण अक्षय अनन्तानन्त जीवों में वर्त्त रहे भव्यत्व गुण का विचार कर उन सभी गुणाधिक अनन्तानन्त जीवों में प्रमोद भावना भी भायी जा सकती है, वीतरागमुनि तो अपने मारने वाले का भी उपकार ही चिंतन करते हैं कि प्राणों का ही वियोग करता है। धर्म से तो नहीं डिगाता है। ऋजु परिणामी और नीचैःवृत्ति, अनुत्सेकी को धार रहा प्राणी तो दूसरे जीवों को बड़ी सुलभता से गुणाधिक समझ लेता है। व्रती विचारता है कि इन सामान्य जीवों की अपेक्षा संभवतः मेरे ही पाप कर्म अधिक होवें इसका कोई ठिकाना नहीं है। भगवान् आदीश्वर महाराज ने हजार वर्ष तपस्या की थी और महावीर स्वामी ने १२ वर्षों में ही चार घातिया कर्मों का नाश कर दिया था। बाहुबली स्वामी ने मात्र एक वर्ष में और भरत चक्रवर्ती ने तो केवल कुछ अन्तर्मुहूर्तों में ही कैवल्य प्राप्त कर लिया था। कर्मों के जटिलबन्ध और आत्मविशुद्धि या तपस्या की शक्ति अचिन्त्य है। नरक से निकल कर तीर्थंकर हो जाना तो है नारायण बलभद्र नहीं हो सकता है अतः संचित कर्मोंका कोई ठिकाना नहीं। अभव्य मुनि तपस्यायें करते रहते हैं और निकट भव्य भोगों में लवलीन देखे जाते हैं इस अपेक्षा से अपकारी या क्लिश्यमान जीव भी गुणाधिक होंय यों सभी जीवों को गुणाधिक मानकर प्रमोदभावना भावने से कोई टोटा नहीं पड़ जाता है। संसार के सभी प्राणी नाना योनियों में आकुलताओं को भुगता रहे संसार क्लेश से पीड़ित हो रहे हैं अतः सम्पूर्ण क्लिश्यमान संसारी जीवों में करुणाभाव भाया जा सकता है। वीतरागमुनियों के मध्यस्थता तो अविनीतों में ही क्या सम्पूर्ण जीवों में वर्त्त रही है। रागद्वेष पूर्वक पक्षपात नहीं करना ही तो मध्यस्थता है। यह सभी जीवों के प्रति मध्यस्थता तो व्रतियों में सुलभता से घटित हो जाती है जब तक उत्तममार्दव स्वरूप परमब्रह्म सिद्ध अवस्था नहीं प्राप्त होती तब तक संसारी जीवों की अविनीतता तो कथंचित् बन ही जाती है। इस प्रकार सामान्यरूप या विशेष रूप से विचार करते हुये चारों भावनाओं से व्रती को अपना आत्मा सर्वदा संस्कारित रखना चाहिये।

नवीन पाप कर्मों के ग्रहण की निवृत्ति में तत्पर हो रहे महाव्रत धारी जीव करके क्या इतना ही क्रियाकलाप करना लक्ष्य में रखना चाहिये ? अथवा कुछ अन्य भी सद्विचार चित्त में विचारते रहना चाहिये ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज पुनरपि अन्य भावनाओं का प्रतिपादन करने के लिये इस अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥१२॥

जगत् का स्वभाव और काय का स्वभाव संवेग और वैराग्य के लिये है। अर्थात् पर्यायस्वरूप

आदिमान् जगत् है और द्रव्य स्वरूप अनादि अनन्त जगत् है। इस अनादि अनन्त संसार में अनन्तानन्त जीव नाना योनियों में दुःख भुगत रहे भटक रहे हैं। यहाँ कोई पदार्थ परिणामस्वरूप स्थिर नहीं है। जल के बबूला समान जीवित है, बिजली या मेघ के समान भोग सम्पत्तियाँ हैं। इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग की भरमार है, यह जगत् जन्म-जरामृत्युओं से आक्रान्त है। इस जगत् में जीव का इन्द्र, धरणेन्द्र कोई भी रक्षक नहीं है। इत्यादि प्रकार से जगत् के स्वभावों का चिन्तन करने से इस जीव को संवेग होता है। संसार से भय उपजता है, धर्म में प्रीति होती है। तथा काय अशुद्ध है, यावत् दुःखों का कारण है, रोगों से भरपूर है, आत्मा से भिन्न है, अनित्य है, कृपण या कृतघ्न सेवक के समान समय पर काम नहीं आता है, धोखा देता है, दुर्गन्ध है, मल मूत्रों का स्थान है, पाप के उपार्जन में दक्ष है, अत्यल्पकारण से रोगी होने या मरने को तैयार हो जाता है, यथायोग्य भाड़ा देते रहने पर भी दीन भिक्षुक के सदृश सदा भोगोपभोगों की याचना करता रहता है। इत्यादि शरीर के स्वरूपों का चिन्तन करते-करते विषय भोगों की निवृत्ति होजाने से वैराग्य उपजता है। तिस कारण जगत् और काय के स्वभावों की भावनायें भावनी चाहिये।

भावयितव्यौ व्रतस्थैर्यार्थमिति शेषः। संवेगवैराग्ये हि व्रतस्थैर्यस्य हेतू, जगत्कायस्वभावभावनं संवेगवैराग्यार्थमिति परंपरया तस्य तदर्थसिद्धिः। जगत्कायशब्दावुक्तार्थौ स्वेनात्मना भवनं स्वभावः, जगत्काययोः स्वभावाविति संवेगवैराग्यार्थं ग्राह्यं। संसाराद्भीरुता संवेगः। रागकारणाभावाद्विषयेभ्यो विरंजनं विरागः तस्य भावो वैराग्यं संवेगवैराग्याभ्यां संवेगवैराग्यार्थमिति द्वयोः प्रत्येकमुभयार्थत्वं प्रत्येतव्यं ॥

"सोपस्कारारिण वाक्यानि भवन्ति" इस नियम अनुसार व्रतों की स्थिरता के लिये भी इन दोनों की भावना करनी चाहिये इतना अंश शेष रह जाता है। पक्षान्तर का सूचक वा शब्द इस प्रयोजन को भी ध्वनित करता है। सूत्र के उपात्त शब्दों और शेष शब्दों को मिलाकर यों अर्थ कर देना चाहिये कि व्रतों की स्थिरता के लिये तथा संवेग और वैराग्य के लिये जगत् और काय के स्वभावों की भावनायें करते रहना चाहिये। संसार सम्बन्धी दुःखों से नित्य ही भयभीत रहना संवेग है और इन्द्रियों के विषयों से विरक्त हो जाना वैराग्य है। जब कि संवेग और वैराग्य दोनों ही व्रतों की स्थिरता के हेतु हैं अतः जगत् और काय के स्वभावों की भावना करना संवेग और वैराग्य के लिये है यों परंपरा से उस भावते रहने को उन संवेग और वैराग्य स्वरूप प्रयोजनों की सिद्धि का साधकत्व है। अर्थात् जगत् और काय के स्वभाव का चिन्तन करने से व्रती जीव की अहिंसादि व्रतों में स्थिरता होती है पुनः व्रतों में स्थिरता हो जाने से संवेग और वैराग्य ये प्रयोजन सधते हैं। जगत् शब्द और काय शब्द के अर्थों को कहा जा चुका है। गच्छति इति जगत्, चीयते इति कायः जो अपने परिणामों द्वारा अनादि से अनन्तकाल तक चलता जा रहा है वह जगत् है। शरीर नाम कर्म का उदय होने पर जीवों के निकट एकत्रित हो गया पुद्गल तो काय है। जगत् का अर्थ यदि लोक मान लिया जाय तो लोक का अर्थ या संसार का अर्थ पहिले सूत्रों में कहा जा चुका है। काय का अर्थ भी पहिले प्रकरणों में आ चुका है। अन्तरंग बहिरंग कारणों अनुसार स्वकीय आत्मस्वरूप से होते रहना स्वभाव है। जगत् और काय के जो दो स्वभाव हैं इस प्रकार द्वन्द्वगर्भित षष्ठीतत्पुरुष समास कर "जगत्कायस्वभावौ" यों शब्द साधु बना लिया जाता है। इस कारण जगत् और काय के स्वभाव यों संवेग और वैराग्य के लिये ग्रहण करने योग्य हैं। जन्म, जरा, मृत्यु क्षुधा, रोग आदि अनेक दुःखमय संसार से भयभीत होना संवेग है। राग के कारणों का अभाव हो

जाने से यानी चारित्रमोहनीय कर्म का उपशम, क्षय या क्षयोपशम हो जाने पर स्पर्श, रस, गंध, रूप, शब्द, सुख, संकल्प, विकल्प, इन ऐन्द्रियिक विषयों से विरक्ति हो जाना विराग है। उस विराग का जो भाव है सो वैराग्य है। संवेग और वैराग्य के लिये जो होय वह संवेगवैराग्यार्थ है। चतुर्थी का अर्थ तादर्थ्य है। इस प्रकार दोनों में से प्रत्येक का दोनों के लिये होना समझ लेना चाहिये, अर्थात् जगत् के स्वभाव का चिन्तन करना संवेग के लिये और वैराग्य के लिये भी है तथैव काय के स्वभाव का चिंतन करना भी संवेग और वैराग्य दोनों के लिये है। वस्तुतः यही बात सर्वांग सत्य है। थोड़ी भी विचार बुद्धि को धारने वाला पुरुष जब कभी जगत् के स्वभाव को विचारेगा तो उसे संवेग हुये विना नहीं रहेगा। जो आज धनी है वह कल निर्धन हो जाता है। बाबा बैठे रहते हैं नाती की मृत्यु हो जाती है। कहीं शोक, कहीं रोग, क्वचित् खेद की भरमार सुनाई दे रही है। जगत् में कहीं भी सुख नहीं है, केवलज्ञानी महाराज ही अठारह दोषों से रहित हैं। देव और भोगभूमियाँ जीव भी व्यक्त या अव्यक्त रूप से क्षुधा आदि अठारह दोषों करके आक्रान्त हैं। उनमें विचारशील सम्यग्दृष्टि यही भावना भावते रहते हैं कि कब कर्म भूमि की मनुष्य पर्याय को प्राप्त कर संयम धारते हुये चार आराधनाओं को प्राप्त करें। इसी प्रकार शरीर की अवस्थाओं का विचार करने पर वैराग्य ही उपजता है। जगत पद से तीन सौ तैंतालीस घनराजू प्रमाण तीनों लोक और उसमें अनित्य, अशरण होकर वर्त्त रहे सभी परिणामी पदार्थ पकड़ लिये जाते हैं। फिर भी संसारी जीव का काय से घनिष्ठ संबन्ध है। अतः भूत, व्रता, न्याय अनुसार या सामान्य विशेष नीति से काय का पृथक् उपादान करना पड़ा है। जगत् की अनेक परिणतियों से जितना कहीं संवेग उपजता है, उससे कितना ही गुना अधिक काय के स्वभाव का चिन्तन करने से वैराग्य उपजता है। सूत्रकार ने यह बहुत बढ़िया मोक्षमार्गोपयोगी अमूल्य सूत्र कहा है। इसमें अपरिमित प्रमेय भरा हुआ है "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इस सूत्र के पश्चात् यदि एक ही सूत्र बनाने का विचार किया जाय तो वह सौभाग्य इस "जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थं" सूत्र को ही प्राप्त होगा। इस सूत्र में शिक्षा, उपदेश, सिद्धान्त और साधु तत्त्वों का सार एकत्रित कर दिया गया है। मोक्ष के कारण संवर तत्त्व और निर्जरा तत्त्व को यहाँ ठूंस कर भर दिया गया है।

केषां पुनः संवेगवैराग्यार्थं जगत्कायस्वभावभावने कुतो वा भवत इत्याह—

यहाँ कोई प्रश्न उठाता है फिर यह बताओ कि जगत् के स्वभाव की भावना और काय के स्वभाव की भावना ये दोनों किन-किन जीवों के संवेग और वैराग्य के लिये उपयुक्त होती हैं? और यह भी बताओ कि किस कारण से ये भावनायें जीवों के होती हैं? इस प्रकार जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार उत्तर वार्त्तिक को कहते हैं।

जगत्कायस्वभावौ वा भावने भावितात्मनां।
संवेगाय विरक्त्यर्थं तत्त्वतस्तत्प्रबोधतः ॥१॥

जिन जीवों ने आत्मा के स्वरूप का भले प्रकार चिन्तन किया है। जगत् के स्वभाव और काय के स्वभाव अथवा उनकी भावनायें करना ये उन भावित आत्मक जीवों के संवेग गुण के लिये और वैराग्य के लिये उपयोगी हो रहे हैं यह पहिले प्रश्न का उत्तर हुआ। दूसरा प्रश्न जो यह था कि किस कारण से वे उक्त प्रयोजनों को पुष्ट कर देते हैं? इसका उत्तर यह है कि वास्तविक रूप से उन जगत् और काय का बढ़िया बोध हो जाने से यानी उनके वास्तविक स्वरूपों का चिन्तन करने से संवेग और वैराग्य हो ही जाते हैं। कलहकारिणी स्त्री से या अन्यायी राजा अथवा मलमूत्रों से अरुचि होने का

किंतु उन घृणित पदार्थों का ज्ञान ही है। जगत् और काय में कोई भी स्वभाव आसक्त हो जाने का नहीं है। अतः जगत् तत्त्व और काय तत्त्व का समीचीन बोध हो जाने से संवेग और वैराग्य का होना अनिवार्य है। हाँ जो आत्म ज्ञान से शून्य हैं वे भले ही उक्त गुणों को प्राप्त नहीं कर सकें क्योंकि उन्हें तत्त्वज्ञान ही नहीं है। बालक ही सांप या अग्नि से खेलना चाहता है विचारशील नहीं। अतः आत्मज्ञानी जीव के इस सूत्रोक्त अनुसार तत्त्व प्रबोध पूर्वक हुई भावनाओं से संवेग और वैराग्य हो जाने का अविनाभाव है। मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तत्त्वतो जगत्कायस्वभावाभावबोधवादिनां तु तद्भावनातो नाभिप्रेतार्थसिद्धिरित्याह—

वास्तविक रूप से जगत् और काय के स्वभावों का अभाव मान कर विज्ञान का अद्वैत मानने वाले बौद्धों के यहां तो उन जगत् और काय के स्वभावों की भावना से अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती है इसी बात को ग्रन्थकार वार्त्तिकों द्वारा कह रहे हैं।

भावना कल्पनामात्रं येषामर्थानपेक्षया।
तेषां नार्थस्ततोऽनिष्टकल्पनात इवेप्सितम् ॥२॥
अनन्तानन्ततत्त्वस्य कश्चिदर्थेषु भाव्यते।
सन्नेवेति यथार्थैव भावना नो व्यवस्थिता ॥३॥

जिन बौद्ध पण्डितों के यहां अनित्य, अशरण आदि भावनायें या पांच व्रतों की पच्चीस विशेष भावनायें अथवा अपाय, अवद्यदर्शन और दुःखस्वरूप तथा मैत्री आदि एवं जगत् काय स्वभाव चिन्तन ये सामान्य भावनायें केवल कल्पनास्वरूप ही मानी गयी हैं। बौद्ध समझाते हैं कि इनमें वस्तुभूत अर्थों की कोई अपेक्षा नहीं है। जैसे कहानी, किंवदन्तियां, उपन्यास, किस्सा यों ही गढ़ लिये जाते हैं इसी प्रकार जगत् के स्वभावों की भावना या काय स्वभाव का चिन्तन ये सब वस्तुस्पर्शी न होकर कोरी कल्पनायें हैं। दीन छोकरा अपने मन में राजापने की कल्पना कर लेवे या मूर्ख बालक अपने को पण्डित मान बैठे, इन्द्र नाम का बालक अपने को प्रथम स्वर्ग का अधिपति चिन्तता रहे, मिट्टी के बने हुये झोंपड़े में स्वर्णनिर्मित प्रासाद की भावना करता रहे; ऐसे निकम्मे मिथ्याज्ञानी को कोई अर्थ की सिद्धि नहीं होती है। अब आचार्य कहते हैं कि भावना को अवस्तु विषयिणी मानने वाले उन बौद्धों के यहां उस भावना से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। जैसे कि अनिष्ट की कल्पना से ईप्सित पदार्थ की प्राप्ति नहीं होती है अर्थात् मट्टी की बनी गाय से अभीष्ट दुग्ध प्राप्त नहीं होता है। यहाँ कहना यह है कि सर्वथा असत् कल्पनाओं से भले ही इष्ट प्रयोजन की प्राप्ति नहीं होय किंतु वास्तविक कल्पनाओं से इष्ट प्रयोजन सधता है जब कि उपचरित असद्भूत व्यवहार नय अनुसार मेरे पुत्र, दारा आदिक हैं, वस्त्र, अलंकार, सोना, चांदी मेरे हैं, देश, राज्य दुर्ग मेरे, हैं इत्यादिक कल्पनायें भी कथंचित् वस्तुपरिणतियों को छूकर हुयी हैं। बहुरूपिया, चित्र, नाटकप्रदर्शन, बनावटी सिंह, सर्प, भूत, प्रेत आदिक की झूंठी कल्पना, अपने में रोग या नशा आ जाने की भावना ये बहुभाग असत्य भावनायें भी अनेक परिणतियों को उपजा देती हैं। पांव के "हाथीपांव" रोग पर सिंह की प्रतिकृति लाभ देती है, भील मट्टी के कृत्रिम द्रोणाचार्य से धनुष विद्या पढ़ा था, "यथा कूर्मः स्वतनयान् ध्यानमात्रेण तोषयेत्" कछवी अपने बच्चों को शुभभावना मात्र से पुष्ट करती रहती है यह बात सर्वांग असत्य नहीं है। माता पिता गुरुजन अपने पुत्र या छात्रों को शुभभावनाओं से अलंकृत करते रहते हैं। तो वस्तुभूत परिणतियों की भित्ति पर हुई भावना तो कोरी कल्पना नहीं कही जा सकती है। प्रत्येक पदार्थ में अनन्तानन्त स्वभाव भरे हुये हैं न जाने किस नैमि-

त्तिक या स्वाभाविक स्वकीय परिणति की भावना भा कर यह जीव संसार कारण या मोक्ष कारण की आराधना किया करता है। कुकर्म या सत्कर्म का छोटा सा बीज ही फल काल में महान् वृक्ष हो जाता है। अनेक अर्थों में से कोई न कोई अनन्तानन्त स्वभाव वाले पदार्थ का सत्स्वरूप अर्थ भावना किया जाता है। इस कारण हम स्याद्वादियों के यहाँ वस्तुस्पर्शिनी भावना यथार्थ हो व्यवस्थित हो रही है। कुशिक्षा का स्वल्प कारण मिल जाने पर पापी जीव उस व्यसन की भावना भाते भाते एक दिन महाव्यसनी हो जाता है इसी प्रकार सत् शिक्षा का स्वल्प बीज पाकर भव्य जीव शुभ भावनाओं को भाकर एक दिन चारित्रवानों में अग्रणी बन जाता है। अविनीय भावने से विद्यार्थी पाठ को अभ्यस्त कर लेता है। भावना अनुसार वक्ता अच्छी वक्तृता देता है। रागवर्धक भावनाओं के वश माता अपने पुत्र पर स्नेह करती है। जगत् की और शरीर की परिणतियां बहुत सी प्रत्यक्षगोचर हैं। उनका अवलंब लेकर सत्यार्थभावना भावने से संवेग और वैराग्य परिणाम उपजेंगे ही। हां जो भावना को परमार्थ नहीं मानते हैं उनके यहां प्रतीतियों से विरोध आवेगा। भावना के विना स्मृति नहीं हो सकती है. बालक अपनी माता को नहीं पहिचान सकेगा, पक्षी लौट कर अपने घोंसले में नहीं आ सकेगा, परीक्षायें देना असंभव हो जायगा, मुख में कौर नहीं दे सकोगे, व्याप्तिस्मरण या संकेत स्मरण अनुसार होने वाले अनुमान और आगमप्रमाण उठ जायंगे, किसी का शुभ अशुभ चिन्तन कुछ कार्यकारी नहीं होगा अतः उक्त सामान्य भावनाओं और विशेष भावनाओं को वस्तुभूत यथार्थ मानना चाहिये वास्तविक अर्थ क्रियाओं को कर रही भावनाओं पर कुचोद्यों का अवकाश नहीं है।

ततो यथार्था अवितथसकलभावनाः प्रतिपन्नव्रतस्थैर्यहेतवस्तत्प्रतिपक्षस्वीकारनिराकरणहेतुत्वात्सम्यक् सूत्रिताः प्रतिपत्तव्याः।

तिस कारण सत्य अर्थों का अवलंब लेकर हुयी उक्त सम्पूर्ण भावनायें यथार्थ हैं। प्रतिज्ञात किये गये अहिंसा आदि व्रतों के स्थिरपन की कारण हैं उन व्रतों के प्रतिपक्ष हो रहे हिंसा, झूंठ आदि के स्वीकारों की निराकृत का हेतु होने से सूत्रकार महाराज करके भले प्रकार उक्त सूत्रों में वे भावनायें सूचित कर दी गयी हैं। यों भव्यों को विशेष भावनाओं और सामान्यभावनाओं की प्रतिपत्ति कर लेनी चाहिये अलं विस्तरेण।

अथ के हिंसादयो येभ्यो विरतिर्व्रतमिति शंकायां हिंसां तावदाह:—

अब यहाँ कोई प्रश्न उठाता है कि वे हिंसा आदिक कौन से हैं? जिनसे कि विरति होना व्रत है यों सातवें अध्याय के प्रथम सूत्र द्वारा कहा गया है। इस प्रकार शंका प्रवर्तने पर सबसे प्रथम आदि में कही गयी हिंसा को लक्षण सूत्र द्वारा श्री उमास्वामी महाराज कहते हैं।

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ॥१३॥

प्रमाद युक्त परिणति का योग हो जाने से स्व या पर के प्राणों का वियोग कर देना हिंसा है। अर्थात् प्रमादी जीव करके कायवाङ्मनःकर्म रूप योग से स्वकीय, परकीय, भावप्राण द्रव्यप्राणों का वियोग किया जाना हिंसा कही जाती है।

अनवगृहीतप्रचारविशेषः प्रमत्तः अभ्यंतरीभूतेवार्थो वा पंचदशप्रमादपरिणतो वा, योगशब्दः संबन्धपर्यायवचनः, कायवाङ्मनःकर्म वा; तेन प्रमत्तसंबंधात् प्रमत्तकायादिकर्मणो वा प्राणव्यपरोपणं हिंसेति सूत्रितं भवति।

पाँच इन्द्रिय और छठे मन के निरर्गल हुये प्रचार विषयों का नहीं अवधारण कर (को नहीं गिन कर) अयत्नाचार पूर्वक प्रवर्त्त रहा जीव प्रमत्त है। अथवा प्रमत्त का अर्थ यों कर लिया जाय कि प्रमत्त इव प्रमत्तः यों प्रमत्त शब्द में इव शब्द का अर्थ सदृशपना भीतर गर्भित हो रहा है। अर्थात् जैसे मद्य पीने वाला कार्य, अकार्य, वाच्य, अवाच्य, इष्ट, अनिष्ट आदि को नहीं जानता है उसी प्रकार जीवस्थान, योनिस्थान, स्वीय, परकीय, सुख, दुःख आदि [illegible] जीव मदोन्मत्त के समान प्रमत्त का तीसरा अर्थ पन्द्रह प्रमादों से युक्त हो कर परिणति कर रहा जो जीव है सो प्रमत्त है। स्त्रीकथा, भक्तकथा, राष्ट्र कथा, राजकथा, क्रोध, मान, माया, लोभ, स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षुः, श्रोत्र, निद्रा और स्नेह इन पन्द्रह प्रमादों के साथ रम रहा जीव प्रमादी कहा जाता है। सूत्र में पड़ा हुआ योग शब्द तो संबन्ध का पर्यायवाची है। युजि योगे धातु से बने हुये योग शब्द का अर्थ संबंध हो जाता है। अथवा काय, वचन, मन का अवलंब लेकर हुआ आत्मप्रदेशपरिस्पंद भी योग हो सकता है। तिस कारण इस सूत्र से यह सूचित हो जाता है कि प्रमत्त का संबन्ध हो जाने से अथवा प्रमत्त जीव के काय आदि परिस्पन्दों से हुआ स्वी संबन्धी या पर सम्बन्धी प्राणियों का वियोग करना हिंसा है।

किं पुनर्व्यपरोपणं ? वियोगकरणं प्राणानां व्यपरोपणं प्राणव्यपरोपणं। प्राणग्रहणं तत्पूर्वकत्वात् प्राणिव्यपरोपणस्य। सामर्थ्यतः सिद्धेः। प्राणस्य प्राणिभ्योऽन्यत्वादधर्माभाव इति चेन्न, तद्दुःखोत्पादकत्वात् प्राणव्यपरोपणस्य। प्राणानां व्यपरोपणे ततः शरीरिणोऽन्यत्वाद्दुःखाभाव इति चेन्न, इष्टपुत्रकलत्रादिवियोगे तापदर्शनात्, तेनान्यत्वस्य व्यभिचारात् प्राणप्राणिनोर्बंधं प्रत्येकत्वाच्च सर्वथान्यत्वमसिद्धमिति न दुःखाभावसंभवः शरीरिणः साधयतो यतो हिंसा न स्यात्।

यहाँ कोई पूँछता है कि प्रमत्त योग का अर्थ समझ लिया फिर यह बताओ कि यह व्यपरोपण क्या पदार्थ है ? उसके उत्तर में आचार्य कहते हैं कि व्यपरोपण का अर्थ वियोग करना है। पाँच इन्द्रिय प्राण, तीन बल प्राण, आयुः और श्वासोश्वास, इन प्राणों का वियोग कर देना प्राणव्यपरोपण है। यों षष्ठी तत्पुरुष समास है। प्राणों का ग्रहण इस लिये किया गया है कि प्राणी का व्यपरोपण उस प्राणव्यपरोपण होने को पूर्ववर्त्ती मान कर होता है। पहिले प्राणों का वियोग होता है पश्चात् प्राणी का वियोग हो जाता है यह बात विना कहे सामर्थ्य से सिद्ध हो जाती है। जीव के प्राणों का वियोग हो जाने से इष्ट बन्धुओं के साथ उस जीव का वियोग हो जाता है अथवा आस्रव पूर्वक बंध होता है। फिर भी आस्रव और बंध का जैसे एक समय है उसी प्रकार प्राण वियोग और प्राणी वियोग का समय भेद नहीं है। यहाँ कोई आक्षेप उठाता है कि प्राणियों से प्राणों का जब भेद है तो प्राणों का वियोग कर देने से आत्मा का कुछ बिगाड़ नहीं होता है। अतः हिंसक को अधर्म नहीं लग सकेगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि प्राणों का व्यपरोपण करना उस जीव के दुःखों का उत्पादक है प्राणों का वियोग कर देने पर प्राणी जीव को महान् दुःख उपजता है इस कारण दुःखोत्पादक हिंसक जीव के अधर्म हो जाने की सिद्धि हुई। पुनः कोई सर्वथा भेदवादी आक्षेप उठाता है कि शरीरधारी आत्मा जब प्राणों से सर्वथा भिन्न है तो प्राणों का व्यपरोपण होते हुये भी भिन्न हो जाने के कारण उससे आत्मा को दुःख नहीं होना चाहिये जैसे कि शरीर से मल मूत्र का वियोग हो जाने से किसी को दुःख नहीं होता है। अब आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि इष्ट हो रहे भिन्न-भिन्न पुत्र, स्त्री, धन, पशु, गृह, अधिकार, आजीविका आदि का वियोग हो जाने पर जीव के संताप हो रहा देखा जाता है अतः भिन्नत्व हेतु का तिस पुत्र आदि के वियोग करके व्यभिचार हुआ। अर्थात् प्राणव्यपरोपणं (पक्ष) जीवस्य न दुखहेतुः (साध्य)

तदन्यत्वात् (हेतु) शत्रु वियोगवत् (दृष्टान्त), इस आक्षेप कर्ता के अनुमान में पड़े हुये तदन्यत्व हेतु को इष्ट पुत्रादि वियोग करके व्यभिचार आता है। एक बात यह भी है कि प्राण और प्राणी आत्मा का बंध के प्रति एकपना है। दोनों बँध कर एकम एक रस हो रहे हैं अतः सर्वथा भेद असिद्ध है यों अन्यत्व हेतु स्वरूपासिद्ध भी हुआ (बंध पडि [illegible] एकपना हो जाने से प्राणों का वियोग हो जाने पर आत्मा के दुःख के अभाव का असंभव है। शरीर वाले आत्मा को साथ रहे सर्वथा भेदवादी वैशेषिक के यहाँ आत्मा के दुःखाभाव नहीं संभवता है। जिससे कि प्राणों का वियोग कर देने पर आत्मा की हिंसा न होती। अर्थात् प्राणों का व्यपरोपण हो जाने से प्राणी की हिंसा और प्राणी को दुःख उपजना तथा हिंसा से अधर्म होना सिद्ध हो जाते हैं।

एकान्तवादिनां तदनुपपत्तिः संबंधाभावात्। प्राणप्राणिनोः संयोगविशेषसंबन्ध इति चेत्, कुतस्तस्यांतरसंयोगाद्विशेषः ? तददृष्टविशेषादिति चेत्, तस्याप्यात्मनोऽन्यत्वे कुतः प्रतिनियतात्मना व्यपदेशः तत्र समवायादिति चेत्, सर्वात्मसु कस्मान्न तत्समवायः ? प्रतिनियतात्मनि धर्माधर्मयोः फलानुभवनात्तत्रैव समवायो न सर्वात्मस्विति चेत्, तदेव सर्वात्मसु किं न स्यात् ? सर्वात्मशरीरेष्वभावादिति चेन्न, शरीरस्यापि प्रतिनियतात्मस्वाभाविकत्वायोगात् सर्वात्मसाधारणत्वात्। यददृष्टविशेषेण कृतं यच्छरीरं तत्तस्यैवेति चेत्, तददृष्टस्यापि ततोऽन्यत्वैवेत्येकांते कुतः प्रतिनियतात्मना व्यपदेश इति स एव पर्यनुयोगश्चक्रकं च ॥

सर्वथा नित्यपन, सदा शुद्धता, सर्वगतपन, क्रियारहितपन आदि एकांतों का पक्ष ले रहे नैयायिक, सांख्य आदि पण्डितों के यहाँ उन दुःख, मरण, जीवन, आदि की सिद्धि नहीं हो सकती है। क्योंकि आत्मा का शरीर या प्राण अथवा दुःख आदि के साथ कोई संबन्ध नहीं बनता है। यदि नैयायिक यों कहें कि वायु द्रव्य प्राण और प्राण वाले आत्मा द्रव्य का सम्बन्ध संयोग विशेष है। जैनों के यहां भी कर्म, शरीर, स्वकीयपुत्र कलत्र आदि के साथ विशेष जाति का संयोग माना ही गया है। यों कहने पर तो आचार्य पूंछते हैं कि उस संयोग की अन्य अन्तर वाले भिन्न पदार्थों के हुये संयोग की अपेक्षा किस कारण से विशेषता हो रही है ? बताओ। अर्थात् आत्मा का घट से, पुस्तक से, लेखनी से, भी संयोग हो रहा है। ऐसी दशा में प्राण के साथ हुये संयोग में भला किस कारण से विशेषता आ गयी जिस से कि प्राण का व्यपरोपण हो जाने पर प्राणी आत्मा का व्यपरोपण हो सकेगा। इसके उत्तर में यदि नैयायिक यों कहें कि उस प्राण वाले आत्मा के पुण्य, पाप, नामक अदृष्ट विशेष से संयोग की अन्य बहिरंग संयोगों की अपेक्षा विशेषता हो गयी है। यों कहने पर तो जैन उलाहना देंगे कि उस अदृष्ट को भी आत्मा से भिन्न मानने पर किस कारण से प्रतिनियत आत्मा के सम्बन्धीपने करके व्यपदेश होगा अर्थात् नैयायिकों के यहां आत्मा से जैसे प्राण भिन्न पड़े हुये हैं उसी प्रकार अदृष्ट विशेष भी भिन्न पड़ा हुआ है। अनन्तानन्त व्यापक मानी गयी आत्माओं में से किसी एक आत्मा का वह अदृष्ट नियत नहीं कहा जा सकता है। यदि वैशेषिक या नैयायिक इसके उत्तर में यों कहें कि उस नियत आत्मा ही में अदृष्ट का समवाय सम्बन्ध हो गया है इस कारण नियत आत्मा का यह नियत अदृष्ट है यों स्वस्वामिसम्बन्ध का व्यपदेश हो जायगा। इस प्रकार कहने पर तो हम जैन कटाक्ष करेंगे कि जब समवाय व्यापक और एक माना गया है तो सम्पूर्ण ही आत्माओं में किस कारण से उस अदृष्ट का समवाय नहीं हो जाता है ? बताओ। इसके उत्तर में वैशेषिक यदि यों कहें कि प्रतिनियत हो रही एक आत्मा में ही धर्म और अधर्म

के सुख, दुःख [illegible] ही आत्मा में अदृष्ट का समवाय संबन्ध हो सकेगा। सम्पूर्ण आत्माओं में अदृष्ट नहीं समवेत होगा। यों वैशेषिकों के कहने पर तो पुनः हम जैन उपालंभ देंगे कि वह धर्म अधर्मों के फल का अनुभवन ही भला क्यों नहीं सम्पूर्ण आत्मा में हो जाता है ? फूल की फैली हुई सुगन्ध को सभी निकटवर्त्ती पुरुष सूंघ लेते हैं जब कि अनेक आत्मायें एक स्थान पर डट रही हैं। सभी आत्माओं से अदृष्ट और उसका फलानुभवन सर्वथा भिन्न पड़ा हुआ है तो एक ही आत्मा उस अदृष्ट सुख दुःख फल का अधिपति नहीं हो सकता है। इस पर वैशेषिक यदि यों समाधान करें कि सम्पूर्ण आत्माओं के शरीरों में अदृष्ट के फल का अनुभव नहीं हुआ है। एक ही आत्मा के शरीर में सुख दुःख अनुभवा गया है अतः एक ही नियत आत्मा में धर्माधर्म फलानुभव, एवं अनुभव नियामक समवाय, और समवाय के वश हो रहा नियत अदृष्ट तथा अदृष्ट हेतुक नियत प्राणों का संयोग बन जायगा। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कह सकते हो क्योंकि आधारभूत नींव हो रहे अन्तिम हेतु के बिगड़ जाने से आपका बना बनाया सम्पूर्ण प्रासाद गिर जाता है। शरीर भी सभी आत्माओं से भिन्न पड़ा हुआ है अतः प्रतिनियत एक ही आत्मा के स्वभावों से सम्पादित होनापन प्रकृत शरीर के भी नहीं बन पाता है। क्योंकि वह शरीर भी सम्पूर्ण आत्माओं का साधारण है। साधारण वस्तु पर सम्पूर्ण आत्माओं का समानरूप से अधिकार है अतः शरीर का नियतपना (प्रकृत आत्माधिकृतत्व) नहीं होने से सुख दुःखानुभवन नियत नहीं हो सका। फलानुभव के नियत हुये बिना उसी एक आत्मा में अदृष्ट का समवाय नियत नहीं हो सका और नियत समवाय नहीं होने से अदृष्ट विशेष नियमित नहीं हो सका जो कि प्राण और प्राणी के संयोग विशेष का नियामक होता। अन्तिम नींव को सुधारने के लिये वैशेषिक यदि यों कहें कि जिस आत्मा के अदृष्ट विशेष करके जो शरीर बनाया गया है वह शरीर उसी आत्मा का होगा अन्य पड़ोसी आत्मा का नहीं। यों कहने पर तो आचार्य उलाहना देते हैं कि तब तो भेदवादियों के ऊपर उपालंभमाला आपड़ती है। शरीर के नियामक अदृष्ट को भी उस आत्मा से भिन्न होने का ही एकांत मानने पर भला किस कारण से उस अदृष्ट का प्रतिनियत आत्मा के सम्बन्धीपने करके षष्ठी विभक्तिवाला व्यवहार होगा ? बताओ। यों वहका वही पर्यनुयोग यानी समाधान आक्षेपों का प्रवर्त्तन चालू रहेगा। वैशेषिक ने अन्तिम नियामक अदृष्ट माना है। प्रारम्भ में भी अदृष्ट विशेष से संयोग विशेष की व्यवस्था करी थी किंतु अदृष्ट भी आत्मा से भिन्न ही माना गया है अतः वह अदृष्ट इस आत्मा का है ऐसा नियम कौन करे ? तब समवाय से नियम करोगे तो उस भिन्न पड़े हुये समवाय का नियम कौन करे ? कि इसी आत्मा में उस अदृष्ट का यह समवाय है। यदि फलानुभवन से समवाय को नियत किया जायगा तो सम्पूर्ण आत्माओं को टालकर एक ही प्रकृत आत्मा में बस भिन्न पड़े हुये फलानुभवन के स्वामिसंबन्ध को प्रतिनियति कौन करे ? प्रतिनियत शरीर में फलानुभवन के होने से अनुभव का नियम किया जायगा तो आत्माओं से सर्वथा भिन्न पड़े शरीर का ही नियतपना कौन करे ? भेदवादियों के यहाँ बड़ी कठिनता आ पड़ती है। यदि जिस आत्मा के अदृष्ट से शरीर बनाया गया है वह शरीर उस आत्मा का यों प्रतिनियत व्यवस्था करोगे तो फिर अदृष्ट विशेष के ऊपर प्रश्न उठता है कि भिन्न पड़े हुये उस अदृष्ट को ही सभी आत्मायें क्यों नहीं हड़प लेंगीं। इसके लिये फिर वही समाधान और आक्षेप चलते रहेंगे कोई संतोषजनक उत्तर वैशेषिकों की ओर से नहीं हो सकता है। एक बात यह भी है कि यों करते करते वैशेषिकों के ऊपर चक्रक दोष आता है। प्राणों और प्राणी का संयोग विशेष हो जाने में सब से पहिले अदृष्ट विशेष को हेतु कहा, उसका नियामक समवाय कहा, समवाय का नियामक फलानुभवन कहा, फलानुभवन का नियामक प्रतिनियत शरीर में होना कहा, शरीर का नियामक पुनः अदृष्ट विशेष कहा, और अदृष्ट विशेष का नियामक समवाय कहा इत्यादि रूप से चक्कर बंध जाता है। कारक

पक्ष या ज्ञापक पक्ष का चक्रक गर्भित अनवस्था दोष किसी भी कार्य को नहीं होने देता है। पदार्थ समझने भी नहीं देता है। तदपेक्षापेक्ष्यपेक्षितत्वनिबंधनोऽनिष्टप्रसंगश्चक्रकम्।



ततः सुदूरमपि गत्वा यत्रात्मनि भावादृष्टं कथंचित्तादात्म्येन स्थितं तस्य तत्कृतं द्रव्यादृष्टं पौद्गलिकं कर्म व्यपदिश्यते। तत्कृतं च शरीरं प्राणात्मकं तद्व्यपदेशमर्हति पुत्रकलत्रादिवद्वेति स्याद्वादिनामेव प्राणव्यपरोपणे प्राणिनो व्यपरोपणं दुःखोत्पत्तेर्युक्तं न पुनरेकान्तवादिनां यौगानां सांख्यादिवत्।

तिस कारण अनेकांतवाद में ही प्राणों या उनके संयोगविशेष, अदृष्ट विशेष एवं शरीर आदि की सिद्धि समुचित बनती है। नैयायिकों को बहुत दूर भी जाकर कथंचित् तादात्म्य की ही शरण लेनी पड़ेगी। अन्यथा चक्रक ग्रह या अनवस्था पिशाची से नैयायिक अपना पिंड नहीं छुड़ा सकते हैं। जिस आत्मा में मिथ्यादर्शन, अविरति, क्रोध, प्रदोष आदिक आत्मपरिणति स्वरूप भाव, पुण्य, पाप कथंचित् तदात्मकपने करके स्थित हो रहे हैं उस आत्मा के उस भाव अदृष्ट से किये गये द्रव्य अदृष्ट स्वरूप, पुद्गलोपादेय अष्टविध कर्म का स्वस्वामी व्यवहार कर दिया जाता है। तथा उपादान कारण पुद्गल से बनाये गये उस अष्टविध कर्म स्वरूप द्रव्यादृष्ट करके प्राणस्वरूप शरीर किया जाता है। जो कि उसी नियत आत्मा का शरीर है इस प्रकार षष्ठी विभक्ति अनुसार व्यवहार करने के योग्य है जैसे कि अपने पुण्य पाप अनुसार प्राप्त हुये पुत्र, स्त्री, भ्राता आदिक उस उस आत्मा के कह दिये जाते हैं। भावार्थ-भेदवादी नैयायिकों के यहाँ चक्रक दोष आता है किंतु मिथ्यात्व, अविरति, कषाय आदि भाव अदृष्टों के साथ आत्मा का कथंचित् तादात्म्य संबंध मानने पर कोई दोष नहीं आता है जिस आत्मा का भाव अदृष्ट है उस अदृष्ट को निमित्त पाकर संचित हुआ ज्ञानावरण आदि पौद्गलिक द्रव्यादृष्ट भी उसी आत्मा का कहा जावेगा और उस द्रव्यादृष्ट के उदय अनुसार बन गया शरीर प्राण, भी उसी आत्मा का समझा जायगा, पुत्र, स्त्री, आदिक भी नियत आत्मा के तभी व्यवहृत होते हैं जब कि उन पुत्रादिकों के संपादक द्रव्यादृष्ट के भी संपादक हो रहे भावादृष्ट का उस नियत आत्मा के साथ कथंचित् तादात्म्य संबंध बन रहा है आत्मा के साथ संबंध रहे पौद्गलिक द्रव्यादृष्ट का भी कथंचित् तादात्म्य हो सकता है इस तत्त्व का निर्णय "प्रमेयकमलमार्तण्ड" में समझ लिया जाता है। इस प्रकार स्याद्वादियों के यहाँ ही प्राणों का वियोग कर देने पर प्राणी आत्मा का व्यपरोपण हो जाना आत्मा को दुःख की उत्पत्ति होने से समुचित बन जाता है किंतु फिर एकांतवादी हो रहे यौग यानी नैयायिकों के यहाँ शरीरधारी आत्मा का व्यपरोपण नहीं हो सकता है जैसे कि सांख्य, बौद्ध आदि पण्डितों के यहां शरीरी का व्यपरोपण नहीं हो सकता है। यद्यपि योग दर्शन पतंजलि का बनाया हुआ न्यारा है फिर भी क्वचित् नैयायिकों को यौग कह देते हैं। नैयायिक या वैशेषिकों के यहां शरीर, प्राणवायु, या दुःख को आत्मा से सर्वथा भिन्न मान रक्खा है। सांख्यों ने प्राकृतिक प्राणों को शुद्ध उदासीन आत्मा से भिन्न अभीष्ट किया है। बौद्धों के यहां तो आत्म-

सत्य ही नहीं बनता है ॥ पांच इन्द्रियें, मनोबल, वचनबल, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास इन दश द्रव्यप्राणों का आत्मा से विशेष नियत सम्बन्ध हो रहा है। चैतन्य, सुख, सत्ता इन भाव प्राणों का तो आत्मा के साथ तादात्म्य संबन्ध ही है अतः प्राणों का व्यपरोपण होने पर नियत प्राणी के दुःख उपजने से प्राणी का व्यपरोपण हुआ सिद्ध हो जाता है।

ननु प्रमत्तयोग एव हिंसा तदभावे संयतात्मनो यतेः प्राणव्यपरोपणेऽपि हिंसानिष्टेरिति कश्चित् । प्राणव्यपरोपणमेव हिंसा प्रमत्तयोगाभावे तद्विधाने प्रायश्चित्तोपदेशात्, ततस्तदुभयोपादानं सूत्रे किमर्थमित्यपरः । अत्रोच्यते ।

यहाँ कोई प्रश्न उठाता है कि "प्रमत्तयोगो हिंसा" प्रमत्त जीव का योग ही हिंसा है इतना ही हिंसा का लक्षण किया जाय संयमी आत्मा हो रहे मुनिराज के दूसरे क्षुद्र जीवों के प्राणों का व्यपरोपण होते हुये भी यदि उस प्रमत्त योग का अभाव है तो हिंसा होना इष्ट नहीं किया गया है "मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा। पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामित्तेण समिदस्स" यत्नाचारी, समिति-धारी मुनि के मात्र हिंसा हो जाने से ही पापबन्ध नहीं हो जाता है "उच्चालिदंमि पादे इरियासमि-
दस्स णिग्गमट्ठाणे। आवादेज्ज कुलिंगो मरेज्ज तज्जोगमासेज्ज" "णहि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमोपि देसिदो समये, मुच्छा परिग्गहोत्ति य अज्झप्पपमाणदो भणिदो" इस प्रकार कोई आक्षेपकर्ता कह रहा है। साथ ही एक दूसरा पण्डित भी यों अवधारण कर रहा है कि "प्राणव्यपरोपणं हिंसा" इतना ही लघुसूत्र बनाया जाय प्राणों का व्यपरोपण कर देना ही हिंसा है। प्रमत्तयोग का पुँछल्ला नहीं लगाया जाय क्योंकि प्रमत्तयोग का अभाव होते हुये भी उस प्राणव्यपरोपण के करने पर प्रायश्चित्त करने का उपदेश दिया गया है मुनि या श्रावक से बिना जाने या बिना प्रमाद योग के यदि जीवों का बध हो जाता है तो उन को प्रायश्चित्त करना पड़ता है। श्रावक ने किसी गृह का ताला लगा दिया और भूल से उसमें बिल्ली रह गयी तो बिल्ली को दुःख पहुंचाने की क्रिया का प्रायश्चित्त श्रावक को लेना चाहिये। बिना जाने बर्तन में पानी रक्खा रहा उसमें जीव जन्तु उत्पन्न हो गये, मर गये या अन्य जीव ऊपर से पड़ गये इसका प्रायश्चित्त करना पड़ेगा। शास्त्र का अध्ययन करने बैठे उसी समय शारीरिक बाधा या अन्य आवश्यक कारण उपस्थित हो जाने पर एक मिनट के लिये उठ गये पश्चात् वायु का झकोरा आजाने पर लिखित जिनागम के पत्र इधर उधर उड़ गये तो भी इस अविनय का रसत्याग, कायोत्सर्ग आदि यथायोग्य प्रायश्चित्त लेना पड़ता है अथवा नहीं भी उठे तो भी अन्यमनस्क अवस्था में पत्रों के अस्त व्यस्त हो जाने पर अवि-नय हेतुक प्रायश्चित्त करना पड़ता है तभी तो प्रतिक्रमण में ज्ञात, अज्ञात, प्रमाद, अप्रमाद अवस्था के लगे हुये सभी दोषों का प्रत्याख्यान या मिथ्यात्वापादन किया जाता है। "पडिक्कमामि भंते इरिया वहि-याये विराहणाये अणागुत्ते अइग्गमणे णिग्गमणे ठाणे गमणे चक्कमणे पाणुग्गमणे बीजुग्गमणे हरिदुग्ग-मणे उच्चारपस्सवणखेलसिंघाणयवियडियपिट्ठावणाये जे जीवा एइंदिया वा बेइन्दिया वा तेइन्दिया वा चउरिन्दिया वा पंचेन्दिया वा णोल्लिदा वा पिल्लिदा वा संघट्टिदा वा संघादिदा वा ओदाविदा वा परिदाविदा वा किरिच्छिदा वा लेस्सिदा वा छिंदिदा वा भिंदिदा वा ठाणदो वा ठाणचंकम्मणदो वा तस्स-उत्तरगुणं तस्स पायच्छित्तकरणं तस्स विसोहिकरणं जाव अरहंताणं भय मंताणं णमोकारं करेमि ताव-कायं पावकम्मे दुच्चरियं वोस्सरामि ॐ णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आइरियाणं णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्व साहूणं इच्छामि भंते ईरियावहमालोचेउं पुव्वुत्तरदक्खिण पच्छिम चउदिसु विदिसासु विहरमाणेण जुगुत्तरदिट्ठिणा दट्ठव्वा डवडवचरियाये पमाददोसेण पाणभूदजीवसत्ताणं एदेसिं उपघादो

कदो वा कारिदो वा किरंतो वा समणुमणदो वा तस्स मिच्छाये दुक्कडं" यहाँ ज्ञात, अज्ञात, प्रमाद, अप्रमाद सभी दोषों का प्रायश्चित्त किया है। अतः अकेला प्राणव्यपरोपण ही हिंसा कह दिया जाओ। तिस कारण हम चोद्य करते हैं कि सूत्रकार ने उन प्रमत्तयोग और प्राणव्यपरोपण दोनों का ग्रहण सूत्र में किसलिये किया है ? बताओ "सूत्रं हि तन्नाम यतो न लघीयः" यहां तक कोई दूसरा कह रहा है। ऐसा शास्त्रार्थ निर्णय का [illegible] व्याख्यान कहा जाता है कि—

उभयविशेषोपादानमन्यतराभावे हिंसा भावज्ञापनार्थं। हिंसा हि द्वेधा भावतो द्रव्यतश्च। तत्र भावतो हिंसा प्रमत्तयोगः सन् केवलस्तत्र भावप्राणव्यपरोपणस्यावश्यंभावित्वात्। ततः प्रमत्तस्यात्मनः स्वात्मघातित्वात् रागाद्युत्पत्तेरेव हिंसात्वेन समये प्रतिवर्णनात्। द्रव्यहिंसा तु परद्रव्यप्राणव्यपरोपणं स्वात्मनो वा तद्विधायिनः प्रायश्चित्तोपदेशो भावप्राणव्यपरोपणाभावात् प्रमत्तयोगः स्यात् तर्हि तत्पूर्वकस्य यतेरप्यवश्यंभावात्। ततः प्रमत्तयोगः प्राणव्यपरोपणं च हिंसेति ज्ञापनार्थं तदुभयोपादानं कृतं सूत्रे युक्तमेव।

प्रमत्तयोगात् और प्राणव्यपरोपण इन दोनों विशेषों का ग्रहण करना तो दोनों से एक का भी अभाव हो जाने पर हिंसा के अभाव का ज्ञापन करने के लिये है अर्थात् न केवल प्रमादयोग ही हिंसा है और इकल्ला प्राणव्यपरोपण भी हिंसा नहीं है किंतु जहाँ प्रमाद के योग से प्राणव्यपरोपण हुआ है वह हिंसा है इस तत्त्व को समझाने के लिये दोनों पद कहे गये हैं। देखिये हिंसा दो प्रकार की है एक तो स्वं या पर के क्षमा, वीतरागता आदि भावों की हत्या हो जाने से हिंसा होती है। दूसरी स्व या पर के द्रव्यप्राणों का वियोग कर देने पर जो होती है वह द्रव्य से हिंसा मानी गयी है। भावहिंसा और द्रव्य हिंसा ये भेद जैन सिद्धान्त में ही सुघटित हो रहे हैं। उनमें पहिली भाव से हिंसा तो केवल प्रमत्त जीव के योग का सद्भाव है क्यों कि उस प्रमाद योग में अपने भाव प्राणों का व्यपरोपण होना अवश्यंभावी है तिस कारण कि प्रमादी जीव अपनी आत्मा का घातक है। पन्द्रह प्रमादों में से किसी भी प्रमाद के उपजते ही आत्मा के चैतन्य, तत्त्वज्ञान, अहिंसा आदि भावों का घात हो जाता है कारण कि प्राचीन शास्त्र में राग, द्वेष आदि की उत्पत्ति को हिंसारूप से आम्नाय अनुसार वर्णन किया गया है। अर्थात् "स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्, पूर्वं प्राण्यंतराणां तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः" "अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ! तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।" हाँ द्रव्य हिंसा तो पराये द्रव्यप्राणों का वियोग करना अथवा अपनी आत्मा के द्रव्य प्राणों का वियोग करना है। उस भाव प्राण के व्यपरोपण का करने वाले जीव को प्रायश्चित्त ग्रहण करने का उपदेश दिया गया है। अपने अज्ञान से भी कभी-कभी किवाड़ों को लगाते खोलते, समय अथवा भूल से जल, मिष्टान्न, आदि में जीवों का वध हो जाता है वहाँ भी प्रमाद योग है। कभी ज्ञात भावों की अपेक्षा अज्ञात भावों से पापबंध अधिक हो जाता है अज्ञान भी विशेष अपराध है। एक प्रकार के अज्ञान को मिथ्यात्वों में गिनाया गया है। सम्यग्दृष्टि जीव वैषयिक सुखों को हेय जानता हुआ भी सेवता है। ज्ञातभाव होने पर भी इसके पापबंध अल्प होता है और मिथ्याज्ञानी तथा अज्ञानी जीव के विषय सेवन से तीव्र पापबंध होता है। किसी पक्ष का एकान्त पकड़े रहना ठीक नहीं कि ज्ञातभावों से ही पापों में तीव्र अनुभागबन्ध पड़ता है। प्रकरण में यों कहना है कि भावप्राणों का वियोगकरण नहीं होने से उस हिंसा का या प्रायश्चित्त लेने का असंभव है। यदि मुनि के प्रमत्तयोग होगा तब तो प्रमत्तपूर्वक यति के भी हिंसा अवश्य हो जायगी। तिस कारण

प्रमत्तयोग और प्राणव्यपरोपण ये दोनों होंयगे तभी हिंसा है इस बात को समझाने के लिये उक्त सूत्र में उन प्रमत्तयोग और प्राणव्यपरोपण दोनों पदों का ग्रहण किया गया समुचित ही है। कहीं-कहीं सम्यग्दृष्टि के भी बंध नहीं होना लिखा है वह भी तीव्र अनुभाव बंध की अपेक्षा से है। अविरति, प्रमाद, कषायों अनुसार सम्यग्दृष्टि के भी पाप प्रकृतियों का मन्द अनुभाग को लिये हुये बंध हो ही जाता है और पुण्य-प्रकृतियों के तो बन्ध होते ही हैं "सम्मेव तित्थबंधो प्रमादरहिदंसु" तीर्थंकर और आहारद्विक बंध तो सम्यग्दृष्टि के ही होता है। मुख लार, मसूड़े, दाँतों आदि में त्रसजीवों की संभावना है। किसी-किसी दाँतों में रक्त निकलता रहता है, बुरी दुर्गंध आती है, पाइरिया रोग हो जाता है, सूक्ष्मवीक्षकयंत्र द्वारा वे त्रस जीव देख लिये भी जाते हैं फिर भी अशक्यानुष्ठान होने से खाने पीने का त्याग नहीं करा दिया जाता है। छन्ने से छान लेने पर भी जल में यदि त्रस जीव रह जाते हैं तो यहाँ भी आचारशास्त्र की आज्ञा या अशक्यानुष्ठान का सहारा लिया जाता है। करणानुयोग, द्रव्यानुयोग के शास्त्रों अनुसार विचारने पर अशक्यानुष्ठान कोई कर्मबंध से छूट जाने का बहाना नहीं प्रतीत होता है। उन सावद्य क्रियाओं से पाप का बंध अवश्य होता है। तथा जिनागमानुकूल प्रवृत्ति करने वालों के कषायों की अतिमन्दता हो जाने से उसमें रस मंद पड़ेगा। दशमे गुणस्थान तक पापों का बंध होता रहता है। हाँ चरणानुयोग अनुसार अशक्यानुष्ठान विचारा मात्र इतना सहारा दे सकता है जिससे कि अशुद्ध अन्न, जल, के खाने पीने का परित्याग कर व्यर्थ की आत्महिंसा करने से जीव बचे रहें, बारहवें गुणस्थान तक इस मानुष शरीर में बादर निगोद और अनेक त्रस जीव उपजते, मरते, रहते हैं, मल, मूत्र, मांस, रक्त आदि में प्रति अन्तर्मुहूर्त जीवों के जन्म मरण की धारा लग रही है। चाहे मुनि होंय अथवा सामान्य मनुष्य हो उसके बैठते उठते, बात चीत करते, खाते, पीते, श्वास छोड़ते, शरीर की उष्णता निकालने आदि क्रियाओं में जीवों का वध हो जाना अनिवार्य है, थोड़ा भी शास्त्र को जानने वाले ज्ञानी से यह बात छिपी नहीं है अतः जैन सिद्धान्त अनुसार वास्तविक जो कोई भी हिंसा हो सकती है उसको ओर लक्ष्य रखते हुये ग्रन्थकार ने इस सूत्र का तात्पर्य कह दिया है।

येषां तु न कश्चिदात्मा विद्यते क्षणिकचित्तमात्रप्रतिज्ञानात् पृथिव्यादिभूतचतुष्टयप्रतिज्ञानाद्वा तेषां प्राण्यभावे प्राणाभावः कर्तुरभावात्, नहि चित्तलक्षणः प्राणानां कर्त्ता तस्य निरन्वयस्यार्थक्रियाहेतुत्वनिराकरणात्। नापि कायाकारपरिणतो भूतसंघातो मृतशरीरस्यापि तत्कर्तृत्वप्रसंगात्। ततो जीवच्छरीरस्यात्माधिष्ठितत्वमन्तरेण विशेषाव्यवस्थानसाधनात् जीवति प्राणिनि प्राणसंभवात् तद्व्यपरोपणं प्रमत्तयोगात् स्याद्वादिनामेव हिंसेत्यावेदयति—

जिन बौद्ध पण्डित या चार्वाक पण्डितों के यहाँ कोई आत्मतत्त्व विद्यमान ही नहीं क्योंकि बौद्ध तो क्षणमात्रस्थायी केवल विज्ञानात्मक चित्त को ही प्रतिज्ञापूर्वक मान रहे हैं और चार्वाकों ने पृथिवी, जल, आदि चारों भूतों के समुदाय की प्रतिज्ञा कर रक्खी है इन दोनों के मत में स्वतंत्र आत्मतत्त्व कोई नहीं माना गया है। इन बौद्ध या चार्वाकों के यहाँ तो प्राणी आत्मा का अभाव हो जाने पर प्राणों का अभाव है क्योंकि कोई कर्त्ता ही नहीं है न प्राणों का व्यपरोपण है और प्राणी का भी व्यपरोपण नहीं बनता है। देखिये बौद्धों के यहाँ माना गया चित्तस्वरूप विज्ञान तो प्राणों का कर्ता नहीं हो सकता है क्योंकि उस निरन्वय नष्ट हो रहे क्षणिक चित्त को अर्थ क्रिया के कारणपन का निराकरण कर दिया गया है जो पदार्थ कुछ देर तक ठहरें वे तो अर्थ क्रिया को कर सकते हैं। द्वितीय क्षण में ही मर गया क्षणिक पदार्थ किसी अर्थक्रिया को नहीं कर सकता है। प्रदीपकलिका, बबूला, बिजली, ये पदार्थ भी सैकड़ों क्षण

तक ठहर रहे संते स्थूल प्रकाशादि कार्यों को करते हैं। अतः बौद्धों के यहाँ माना गया चित्त प्राणों का अधिष्ठायक कर्ता प्राणी नहीं हो सकता है। तथा आकृति से परिणत हुआ भूत यानी पृथिवी, जल, तेज, वायुओं का संघात भी प्राणों का कर्ता नहीं है। क्योंकि यों तो मरे हुये शरीर को भी उन प्राणों के कर्तापन का प्रसंग आजावेगा जो कि चार्वाकों को इष्ट नहीं है तिस कारण स्याद्वादी विद्वानों के यहां ही हिंसा होना ठीक बनता है। जीवित शरीर की आत्मा करके अधिष्ठित हो रहेपन के सिवाय अन्य कोई विशेष व्यवस्था नहीं है इस बात को साधा जा चुका है। अर्थात् अधिष्ठायक कर्ता आत्मा कर के जीवित शरीर अधिष्ठित हो रहा है। जीवित हो रहे प्राणी में द्रव्यप्राण या भावप्राण संभवते हैं अतः उन प्राणों का प्रमादयोग से वियोग करना हिंसा है। यों परिणामी आत्मतत्त्व और उसके अधिष्ठित हो रहे शरीर आदि द्रव्य प्राणों तथा तत्त्वज्ञान आदि भाव प्राणों को मानने वाले स्याद्वादियों के यहाँ ही हिंसा होने की विवेचना ठीक हो सकती है। हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसाफल की आलोचना किये बिना हिंसा का परित्याग नहीं हो सकता है कारण कि अन्य दर्शनों में हिंसा तत्त्व ही सुघटित नहीं हो सका है, स्याद्वादियों का अभिप्रेत यह सूत्रोक्त हिंसा का लक्षण सुव्यवस्थित है इसी बात का ग्रन्थकार वार्तिक द्वारा निवेदन करे देते हैं।

हिंसात्र प्राणिनां प्राणव्यपरोपणमुदीरिता ।
प्रमत्तयोगतो नातो मुनेः संयतनात्मनः ॥१॥

प्रमाद के योग से प्राणी आत्माओं के प्राणों का वियोग कर देना इस सूत्र में हिंसा कही गयी है इस कारण संयम पालन करना जिनका आत्मस्वरूप हो रहा है ऐसे मुनि के वह हिंसा नहीं लग सकती है। मुनि महाराज के रागादिक भी नहीं हैं और प्राणों का व्यपरोपण भी नहीं है अतः हिंसा नहीं लग कर अहिंसा महाव्रत पलता रहता है।

रागादीनामनुत्पादान्न हिंसा स्वस्मिन् परत्र वास्तु न हिंसक इति सिद्धान्ते देशना, तस्य क्वचिदपि भावद्रव्यप्राणव्यपरोपणाभावात् तद्भाव एव हिंसकत्वव्यवस्थितेः रागादीनामुत्पत्तिर्हिंसेति वचनात् ॥

सिद्धान्त शास्त्रों में सर्वज्ञ आम्नाय अनुसार ऐसी देशना मिलती है कि स्वमें अथवा पर में रागादिकों का उत्पाद नहीं होने से हिंसा नहीं हो पाती है ऐसी व्यवस्था रही अतः वह हिंसक नहीं हो पाता है अथवा इस वाक्य का अर्थ यों कर लिया जाय कि समाधिमरण कर रहा जीव शरीर को त्यक्त करता है यहां अन्न जल निरोध, औषधि त्याग प्रक्रिया से भले ही स्वशरीर की हिंसा हो रही है। रत्नत्रय की रक्षा का लक्ष्य रखने वाले को अशुद्ध, अधर्म्य, उपायों से शरीर रक्षा करना अभिप्रेत नहीं है। रत्नों का पिटारा भले ही नष्ट हो जाय रत्न नहीं नष्ट होने चाहिये यों समाधिमरणार्थी जीव अपने में रागादिकों की उत्पत्ति नहीं करने से हिंसक नहीं माना जाता है; "न चात्मघातोऽस्ति वृषक्षतौ वपुरुपेक्षितुः। कषायावेशतः प्राणान् विषाद्यैर्हिंसतः स हि" तथा ईर्यासमिति पूर्वक गमन कर रहे मुनि के पाँवों के नीचे क्षुद्र जीव आ पड़े और मर जाय तो हिंसा नहीं है। कभी कभी वैद्य या डाक्टर के हाथों से औषधि प्रयोग या चीर, फाड़, करते हुये रोगी मर जाता है किंतु रागादिकों की उत्पत्ति न होने से वह हिंसक नहीं समझा जाता है। रागादिका उत्पाद नहीं होने से उस संयमी मुनि के द्वारा कहीं भी भावप्राण या द्रव्यप्राणों का व्यपरोपण नहीं हो सकता है। उस द्रव्य प्राण और भाव प्राण के व्यपरोपण का सद्भाव होने पर ही

हिंसकपना व्यवस्थित हो रहा है क्योंकि रागद्वेष आदिकों की उत्पत्ति ही हिंसा है ऐसा शास्त्रकारों का वचन है। "रागादीणमणुप्पा अहिंसगत्तेति भासिया समये, तेसिं चेदुप्पत्ती हिंसेदि जिणेहिं णिद्दिट्ठा।" यहाँ तक हिंसा के लक्षणघटकावयव पदों का साफल्य दिखाते हुये स्याद्वाद सिद्धान्त में ही प्राणप्राणियों का वियोग किया जाना साध दिया गया है।

किं पुनरनृतमित्याह—

हिंसा का लक्षण निर्णीत किया उसके अनन्तर कहे गये अनृत यानी झूँठ का लक्षण फिर क्या है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

असदभिधानमनृतम् ॥१४॥

सूत्र का अर्थ यह है कि असत् यानी अप्रशस्त वाच्यार्थों का निरूपण करना तो अनृत अर्थात् झूँठ है। भावार्थ–अशोभन या स्वपर पीड़ा को करने वाले अथवा काणे को चिढ़ाते हुये काणा कहना, दिवालिये को दुःखित करने के लिये दिवालिया घोषित करना ये सब झूँठ हैं। प्रमादयोग का सर्वत्र संबन्ध लगा हुआ है अतः हितशिक्षक, गुरु, माता, पिता, या राजा के अशोभन वचनों में यदि प्रमाद-योग नहीं है तो वे असत्यभाषी नहीं कहे जा सकते हैं।

असदिति निर्ज्ञातसत्प्रतिषेधेनार्थसंप्रत्ययप्रसंग इति कश्चित्। न वा सच्छब्दस्य प्रशंसार्थ-वाचित्वात् तत्प्रतिषेधे अप्रशस्तार्थगतिरित्यन्वयः। तदिह हिंसादिकमसदभिप्रेतं। अभिधानशब्दः करणाधिकरणसाधनः, ऋतं च तत्सत्यार्थे तत्प्रतिषेधादनृतं। तेनेदमुक्तं भवति प्रमत्तयोगाद-सदभिधानं यत्तदनृतमिति।

यहाँ कोई आक्षेप करता है कि इस सूत्र के उद्देश्यदल में असत्शब्द पड़ा हुआ है। प्रसज्य नञ् अनुसार नहीं जो सत् वह असत् है यों सम्पूर्ण ज्ञात हो रहे सत् पदार्थों का प्रतिषेध करने पर असत् शब्द करके खर विषाण आदि सर्वथा असत् हो रहे अनर्थों की प्रतीति हो जाने का अच्छा प्रसंग बन बैठेगा। ऐसी दशा में शून्यवाद का निरूपण यानी जगत् में कुछ नहीं है "सर्वशून्यं शून्यं" आदिक वचन ही झूंठ हो सकेंगे। यहां तक कोई कह रहा है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह अनर्थ प्रत्यय हो जाने के प्रसंग का दोष हमारे यहां नहीं आता है। क्योंकि इस सूत्र में प्रशंसा अर्थ के वाचक सत् शब्द को कहा गया है। उस प्रशस्त सत् का पर्युदास नञ् अनुसार प्रतिषेधक करने पर अप्रशस्त अर्थ की ज्ञप्ति हो जाती है इस कारण अप्रशस्त अर्थ का कथन करना अनृत है यों अन्वय कर दिया जाता है। तिस कारण यहां हिंसा, चोर, आदिक पदार्थ असत् हुये अभिप्रेत किये गये हैं। सूत्र में पड़े हुये अभिधान शब्द की करण और अधिकरण में सिद्धि कर ली जाय जिस करके कथन किया जाय अथवा जिस में निरूपण किया जाय वह अभिधान है। भाव में भी युट् किया जा सकता है। तथा ऋत जो पद है वह सत्य अर्थ में देखा गया है उस सत्यार्थ का प्रतिषेध करने से अनृत शब्द बना लिया जाय, तिस कारण उक्त सूत्र से यह तात्पर्य कह दिया जाता है कि प्रमत्तजीव के योग से जो अप्रशस्त कथन किया गया है वह अनृत है। यहाँ तक सूत्र का अर्थ कह दिया गया है॥

मिथ्यानृतमित्यस्तु लघुत्वादिति चेन्न, विपरीतार्थमात्रसंप्रत्ययप्रसंगात् । न च विपरीतार्थमात्रमनृतमिष्यते सर्वथैकांतविपरीतस्यानेकात्मनोऽर्थस्यानृतत्वप्रसंगात् । एतेन मिथ्याभिधानमनृतमित्यपि निराकृतमतिव्यापित्वात् । यदि पुनरसदेव मिथ्येति व्याख्यानमाश्रीयते तदा यथावस्थितमस्तु प्रतिपत्तिगौरवानवतरणात् ।। तदेवं—

यहां कोई कटाक्ष कर रहा है कि "मिथ्या अनृत" मिथ्याभाषण करना झूंठ नाम का पाप है इतना ही सूत्र बनाया जाओ क्योंकि इसमें अर्थकृत और परिमाणकृत लाघव गुण है। जहां तक होय सूत्र छोटा ही होना चाहिये, ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि यों तो केवल विपरीत अर्थ की ही समीचीन प्रतीति हो जाने का प्रसंग आजायेगा किन्तु केवल विपरीत अर्थ को ही झूंठ बोलना नहीं इष्ट किया गया है कारण कि अतिव्याप्ति दोष आजावेगा। देखिये सर्वथा एकांतों से विपरीत हो रहे अनेकांत आत्मक अर्थ को भी अनृतपने का प्रसंग आता है जो कि इष्ट नहीं है। अर्थात् क्वचित् परोपकार, हितोपदेश, अहिंसा, को पुष्ट कर रहा मिथ्यावाद भी सत्य समझा जाता है। कदाचित् नित्यैकांतवादी कदाग्रही वादी अनेकांत पर झुकाने के लिये अनित्यैकांत पक्ष को पुष्ट करना पड़ता है। सर्वदा पढ़ने में ही शारीरिक और मानसिक योगों का व्यय कर रहे विद्यार्थी के लिये खेलना, विश्राम लेना, विनोद करना आदि का विपरीत उपदेश भी दिया जाता है। अतः मिथ्या या विपरीत कथन सर्वथा झूंठ नहीं कहा जा सकता है। इस उक्त कथन करके मिथ्या भाषण करना अनृत है इस मन्तव्य का भी निराकरण कर दिया गया है क्योंकि इसमें अतिव्याप्ति दोष आता है। क्वचित् सत्य में भी मिथ्या कथन पाया जाता है, जनपदसत्य, सम्मतिसत्य आदि दस प्रकार के सत्यों में क्वचित् मिथ्याभिधान देखा जाता है अतः अलक्ष्य में लक्षण के चले जाने से "मिथ्याभिधानं" यह अनृत का लक्षण करना अतिव्याप्ति दोषग्रस्त है। यदि फिर मिथ्याशब्द का प्रसिद्ध अर्थ छोड़ते हुये पारिभाषिक अर्थ कर यों व्याख्यान करने का आश्रय लिया जायगा कि अप्रशस्त ही मिथ्या कहा जाता है। तब तो जिस प्रकार आम्नाय अनुसार सूत्रकार महाराज ने कहा है वही तदवस्थ रहा आओ ऐसा करने से प्रतिपत्ति में गौरव हो जाने का अवतार नहीं है अर्थात् मिथ्या कह कर उसका सांकेतिक अर्थ असत् यानी अप्रशस्त किया जाय इसकी अपेक्षा तो असत् शब्द का ही प्रथमतः उच्चारण करना बढ़िया है। तिस कारण इस प्रकार होने पर जो व्यवस्था हुई उसको वार्तिकों द्वारा सुनिये।

अप्रशस्तमसद्बोध्यमभिधानं यतस्य तत् ।
प्रमत्तस्यानृतं नान्यस्येत्याडः सत्यवादिनः ॥१॥
तेन स्वपरसंतापकारणं यद्वचोंगिनां ।
यथादृष्टार्थमप्यत्र तदसत्यं विभाव्यते ॥२॥
मिथ्यार्थमपि हिंसानिषेधे वचनं मतं ।
सत्यं तत्सत्सु साधुत्वादहिंसाव्रतशुद्धिदं ॥३॥

असत् शब्द का अर्थ अप्रशस्त समझना चाहिये, प्रमाद युक्त जीव के जो इस अप्रशस्त अर्थ का कथन करना है वह अनृत है अन्य जो प्रमाद रहित है उस अप्रमत्त जीव का अप्रशस्त कथन करना

झूंठ नहीं है। इस प्रकार सत्यवादी ऋषि महाराज कह रहे हैं तिस कारण यहाँ यों विचार कर लिया जाता है कि प्राणियों का अपने और दूसरों के संताप का कारण हो रहा जो वचन है भले ही वह यथार्थ देखे हुये पदार्थ का निरूपण भी कर रहा है तो भी वह यहाँ असत् विचार लिया जाता है (समझा जायगा ।) कोई शिकार खेलने वाला हिंसक यदि यथार्थद्रष्टा पुरुष को पूंछे कि हिरण या शशा किस ओर गया है भले ही उस द्रष्टा पुरुष ने अपनी आँखों से हिरण आदि का पश्चिम दिशा को जाना देख लिया होय तो भी वह सत्यवादी पुरुष यों कह देगा कि इधर पश्चिम दिशा को हिरण नहीं गया है। यहाँ प्रमाद योग नहीं होने से झूंठ बोलना ही सत्य है और सत्य बोलना प्रमाद योग हो जाने से असत्य समझा जायगा। भले ही कोई वचन मिथ्या अर्थ को भी विषय कर रहा होय किंतु हिंसा, चोरी, व्यभिचार आदि के निषेध करने में वह मिथ्या वचन प्रवर्त्त रहा है तो वह सत्य ही समझा जाता है। कारण कि 'सत्सु साधु सत्यं' यहाँ "तत्र साधुः" इस सूत्र से यत् प्रत्यय कर लिया जाकर सज्जन जीवों में जो साधु यानी हितस्वरूप कथन पड़े वह सत्य है ऐसा सत्य शब्द व्युत्पन्न किया गया है वही अहिंसा व्रत की शुद्धि को देने वाला है। वस्तुतः व्रत एक अहिंसा ही है उसके परिरक्षक सत्य, अचौर्य आदि हैं। जिस निस्सार सत्य से अहिंसा की हिंसा हो जाय वह असत्य ही है। प्रमादयोग की अनुवृत्ति से इस सूत्र का यह सब अर्थ निकल आता है। विशेष यह कहना है कि साधु अनुग्रह, दुर्जन दण्ड, स्वरूप न्याय की रक्षा के लिये दूसरी प्रतिमा तक यह व्रती निग्रह भी करता है, प्रमाद योग नहीं होने के कारण वे निग्रह कारक वचन सत्यव्रत में दूषण नहीं लगने देंगे, किंतु तीसरी प्रतिमा से ऊपर तो स्वपर संताप का कारण कोई भी वचन होगा वह असत्य ही समझा जायगा ऐसी ग्रन्थकार की आज्ञा है, हजारों लाखों में दो चार ही न्यायाधीश होते हैं, राजा की ओर से यह विभाग भी अहिंसा की ही रक्षा के लिये है किंतु जो संसार से उदासीन हैं अथवा महाव्रती मुनि हैं उनके लिये तो यह निरपवाद देशना है कि यथादृष्ट अर्थ को कह रहा भी वचन यदि स्व और पर के संताप का कारण है वह असत्य ही है और जो मिथ्या अर्थ को कह रहा भी यदि हिंसा आदि के निषेध में प्रवर्त्त रहा है वह वचन सर्वांग सत्य है, कारिका में कहे हुये स्वपद से स्वकीय कषायपुष्टि या इन्द्रिय संबन्धी भोगोपभोगों की अनुकूलता नहीं पकड़ना अन्यथा अत्याचारों की वृद्धि हो जायगी। जीवों को अत्याचारों से नहीं रोका जा सकेगा, सर्वत्र प्रमाद योग का रहस्य मनन करने योग्य है, अलं विचारशीलेभ्यः।

स्तेयं किमित्याह—

अब अनृत के अनंतर कहे गये स्तेय का लक्षण क्या है ? ऐसी तत्त्व जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

अदत्तादानं स्तेयं ॥१५॥

स्व के लिये नहीं दिये जा चुके पदार्थ का ग्रहण कर लेना स्तेय यानी चोरी है, यहां भी प्रमाद, योग की अनुवृत्ति हो रही है अतः देने लेने व्यवहार के योग्य पदार्थ को बिना दिये हुये ही प्रमाद योग से ग्रहण करना चोरी समझा जायगा ॥

सर्वमदत्तमादानस्य स्तेयत्वकल्पनायां कर्मादेयमात्मसात्कुर्वतः स्तेयित्वप्रसंग इति चेन्न, दानादानयोर्यत्रैव प्रवृत्तिनिवृत्ती तत्रैवोपपत्तेः, इच्छामात्रमिति चेन्न, अदत्तादानग्रहणात्। अदत्तस्यादानं स्तेयमित्युक्ते हि दानादानयोर्यत्र प्रवर्तनमस्ति तत्रैव स्तेयव्यवहार इत्यभिहितं भवति।

यहाँ कोई आक्षेप उठाता है कि नहीं दिये गये सभी पदार्थों के ग्रहण को यदि चोरी रूप से कल्पित किया जायगा तो दूसरों करके नहीं दिये गये आठ प्रकार के कर्मों या आहार वर्गणा, भाषा वर्गणा, मनोवर्गणा, तैजसवर्गणास्वरूप नोकर्मों को ग्रहण कर अपने अधीन कर रहे अव्रती, अणुव्रती, महाव्रती, सभी जीवों के चोरी कर लेने सहितपन का प्रसंग आ जावेगा, ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्यों कि जिन ही रुपया, पैसा, वस्त्र, मणि, अन्न आदि में दान और ग्रहण की प्रवृत्ति के व्यवहार संभव रहे हैं उन रुपया आदि में ही अदत्त का ग्रहण कर लेने पर चोरी करने की उपपत्ति मानी गयी है। कर्म या नोकर्मों में देने लेने का व्यवहार ही नहीं है अतः अपना कटाक्ष उठा लो, अदत्त और आदान शब्द की शक्तियों पर लक्ष्य रक्खो,रूखे आक्षेपों का फेंकना उचित नहीं है। पुनः कोई बिना समझे कुचोद्य उठाता है कि सूत्रकार ने तो यों कहा नहीं है कि जिसमें देना लेना संभव होय वहाँ चोरी है। यह आप टीकाकार केवल अपनी इच्छा से स्वतंत्र व्याख्यान कर रहे हैं कि किसी का नहीं दिया हुआ देने योग्य तृणमात्र भी नहीं लेना चाहिये। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि सूत्रकार ने अदत्तादान शब्द का ग्रहण किया है, अदत्त पदार्थ का ग्रहण कर लेना चोरी है, इस प्रकार कह चुकने पर जहाँ ही दान, आदान, की प्रवृत्ति होगी वहाँ ही चोरी का व्यवहार है यों उक्त सूत्र द्वारा तात्पर्य कह दिया गया हो जाता है। दाँत कुरेदने के लिये या पीठ के करप्राप्त्यशक्य स्थान को खुजाने के लिये किसी गृहस्थ को यदि तृण की आवश्यकता है तो वह उसी तृण को बिना दिये हुये ले सकता है जिसको कि सर्व साधारण अपने उपयोग में ला सकते हैं। अन्यथा प्रमाद योग हो जाने से तृण की चोरी समझी जायगी। मट्टी, जल, या वायु जहाँ [illegible] लेने के व्यवहार में आ रही हैं वहाँ अदत्त का आदान करने वाला अथवा नियत पुरुष के लिये चल रहे बिजली के पंखे की वायु को हड़पने वाला अपने अचौर्य व्रत की रक्षा नहीं कर सका है। प्रमादयोग ही पापों में डुबोता है।

तत्कर्मापि किमर्थं कस्मैचिन्न दीयते इति चेन्न, तस्य हस्तादिग्रहणविसर्गासंभवात्। स एव कुत इति चेत्, सूक्ष्मत्वात्। कथं धर्मो मयास्मै दत्त इति व्यवहार इति चेत्, धर्मकारणस्यायतनादेर्दानात् कारणे कार्योपचाराद्धर्मस्य दानसिद्धेः। धर्मानुष्ठानात् मनःकरणात् वा तथा व्यवहारोपपत्तेरनुपालंभः।

तब तो आक्षेप कर्ता पुनः कहता है कि कर्म किसी के लिये भी नहीं दिये जाते हैं यह बात भी क्यों ग्रहण कर ली जावेगी? लोक में प्रसिद्धि है कि वृक्षों के फल दूसरों के लिये जलसिंचन करके दिये जाते हैं। यह खिड़की हमको वायु दे रही है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यों तो न कहना क्योंकि हाथ, संकल्प, रजिस्टरी करके दे देना आदि व्यापारों से कर्मों का ग्रहण करना या दान करना असम्भव है। जैसे कि रुपया, वस्त्र, गाय, गृह, ग्राम आदि को हाथ आदि करणों करके दूसरों के लिये दे दिया जाता है तिस प्रकार हाथ आदि करके दूसरों के लिये कर्म नहीं दिये जाते हैं। यदि यहाँ कोई यों पूंछे कि हाथ आदि करके कर्म भी दिये लिये जांय। उन कर्मों के ग्रहण या विसर्ग का वह असंभव ही किस कारण से है? बताओ। यों कहने पर तो जैनों की ओर से यह उत्तर है कि वे कर्म सूक्ष्म हैं हाथ आदि करके लेने देने योग्य नहीं हैं। "पुढवी जलं च छाया चउरिंदिय विसयकम्म परमाणू" इनको "बादर बादरबादर बादरसुहमं च सुहमथूलं च। सुहमं च सुहमसुहमं धरादियं होदि छब्भेयं" माना गया है। कर्म सूक्ष्म होने से हाथों द्वारा पकड़े ही नहीं जाते हैं। यदि यहाँ कोई यों आपत्ति उठावे कि हाथ आदि करके जिसका ग्रहण या विसर्ग हो सकता है वही दान, आदान का व्यवहार माना जायगा तब तो मैंने इस

जीव के लिये धर्म दिया है यह व्यवहार किस प्रकार घटित किया जा सकेगा ? धर्म का तो वस्त्र आदि के समान देना, लेना, नहीं संभवता है। यों आपत्ति करने पर तो आचार्य उत्तर कहते हैं कि धर्म के कारण हो रहे मन्दिर, शास्त्र, पुस्तक, मंत्र उच्चारण, दीक्षा, आदि के देने से कारण में कार्य का उपचार हो जाने से धर्म का दान किया जाना सिद्ध हो जाता है। वस्तुतः धर्म तो उपकारी या उपकृत की आत्माओं में प्रविष्ट हो रहा है गुरु स्वयं अपने श्रुतज्ञान को या सर्वज्ञ अपने केवलज्ञान को दूसरों के लिये लव-मात्र भी नहीं दे सकते हैं। हाँ क्षयोपशम को बढ़ाने वाले प्रधान कारणों की योजना कर देते हैं। यहां धर्म के कारणों को धर्म कह दिया गया है यह कारण में कार्य का उपचार है। धर्म के उपयोगी अनुष्ठान करा देने से अथवा धर्म में मन के कर देने से भी तिस प्रकार धर्म के देने का व्यवहार बन जाता है। अतः हम जैनों के ऊपर कोई उलाहना नहीं आता है। जगत् में अनेक लाक्षणिक प्रयोग हो रहे देखे जाते हैं।

कथमेवं कर्मणा जीवस्य बंधस्तद्योग्यपुद्गलादानलक्षणः सूत्रित इति चेत्, शरीराहार-विषयपरिणामतस्तद्बंधः शरीरिणो न पुनः स्वहस्ताद्यादानतः तेषामात्मनि शुभाशुभपरिणामढौकनस्यै-वादानशब्देन व्यपदेशात् ।

पुनरपि कोई चोद्य उठाता है कि यदि इस प्रकार कर्मों का दान, आदान ही नहीं माना जायगा तो कर्मों के साथ जीव का बंध किस प्रकार होगा ? जो कि "सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गला-नादत्ते स बंधः" इस सूत्र द्वारा सूत्रकार ने सूचित किया है कि कर्म के योग्य पुद्गलों का ग्रहण करना स्वरूप वह बंध है। यों कहने पर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि यहां भी आदान का मुख्य अर्थ नहीं पकड़ा जाय; शरीरों में, आहारों में और शब्द आदि विषयों में राग द्वेषरूप परिणाम हो जाने से शरीरधारी आत्मा के साथ उन कर्मों का बंध हो जाता है किंतु फिर अपने हाथ, लिखित, आदि द्वारा आदान करने से उन कर्मों का आत्मा में ग्रहण नहीं हुआ है। आत्मा में प्रेरित होकर शुभ, अशुभ, परिणतियों के प्राप्त हो जाने को ही उन कर्मों का आदान इस शब्द करके व्यवहार कर दिया जाता है। अतः कर्मों का मुख्य आदान नहीं होता है, ऐसी दशा में कर्मों का प्राप्त कर लेना चोरी नहीं कहा जा सकता है। बात यह है कि जहां ही इस लोक सम्बन्धी उपकार विशेष हो जाने से दान का अभिप्राय है वहां ही अदत्तादान की व्यवस्था अनुसार चोरी समझी जायगी अन्यत्र नहीं।

तर्हि शब्दादिविषयाणां रथ्याद्वारादीनां चादत्तानामादानात् स्तेयप्रसंग इति चेन्न, तदा-दायिनो यतेरप्रमत्तत्वात् तेषां सामान्येन जनैर्दत्तत्वाच्च ॥

पुनः कोई आपत्ति उठाता है कि तब तो किसी करके नहीं दिये जा चुके शब्द, रूप, गंध, आदि विषयों अथवा गली के द्वार, जिन मन्दिर प्रवेश, वसतिका प्राप्ति आदि का आदान कर लेने से मुनि महाराज के चोरी करने का प्रसंग आ जावेगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि उन शब्द आदि को ग्रहण कर रहे मुनि के प्रमादयोग नहीं है। उन शब्द आदिकों को सामान्य रूप से जीव साधारण के लिये मनुष्यों करके दिया जा चुका है। जो वस्तु सब के लिये दी जा चुकी है उसके ले लेने में चोरी नहीं है हाँ जो रहस्य के वा टेलीफोन के शब्द नियत व्यक्ति के लिये प्रयुक्त किये गये हैं उनको चला कर सुन लेने में चोरी अवश्य है यही बात परदा वाली स्त्री के रूप देखने या गंधीगर विक्रेता करके नियत व्यक्ति को इत्र की गंध सुंघाने अथवा सेठ या राजा के नियत कोमल पलंग के छू लेने आदि में समझ लेनी चाहिये। यदि बिना प्रमादयोग के शब्द या रूप यों ही सुनने, देखने, में आजाय तो हम

क्या करें एतावता चोरी नहीं कही जा सकती है। सिनेमा, नाटक के दृश्य, गोप्यअंग इनके रूपों के देख लेने में भी प्रमादयोग हो जाने पर चोरी लग बैठेगी अन्यथा नहीं।

देववंदनादिनिमित्तधर्मादानात् स्तेयप्रसंग इति चेन्न, उक्तत्वात् तत्र दानादानव्यवहारासंभवाद्धर्मकारणानुष्ठानादिग्रहणाद्धर्मग्रहणोपचाराद्वा तथा व्यवहारसिद्धेरिति। प्रमत्ताधिकारत्वादन्यत्राप्रसंगः स्तेयस्य। देववंदनादौ प्रमादाभावात्तन्निमित्तकस्य धर्मस्य परेणादत्तस्याप्यादाने कुतः स्तेयप्रसंगः? एतदेवाह—

यदि पुनः कोई कटाक्ष करै कि देव वंदना, तीर्थ यात्रा, जिन पूजन, स्तोत्र श्रवण आदि निमित्तों करके धर्म का ग्रहण करने से तो चोरी कर लेने का प्रसंग आता है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि इसका उत्तर हम कह चुके हैं। वहाँ पुण्यप्राप्ति या धर्मलाभ में दान और आदान के व्यवहार का असम्भव है। धर्म के कारण हो रहे आयतन या धर्म के अनुष्ठान आदि का ग्रहण कर लेना होने से अथवा कारण में कार्य का उपचार कर धर्म ग्रहण के उपचार से तिस प्रकार धर्म के लेने के व्यवहार की सिद्धि हो जाती है। एक बात यह भी है कि "प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा" इस सूत्र से यहाँ प्रमत्त योग का अधिकार चला आ रहा है अतः अन्यत्र यानी जहाँ प्रमादयोग नहीं है वहाँ उसके ग्रहण कर लेने पर भी चोरी कर लेने का प्रसंग नहीं आता है। देव वंदना आदि में आत्मा का प्रमाद नहीं है अतः उन देववंदना आदि को निमित्त पाकर हुये धर्म को यद्यपि दूसरों ने दिया नहीं है तो भी उसके ग्रहण कर लेने में भला कैसे स्तेय का प्रसंग आ सकता है? अर्थात् नहीं। इस ही सिद्धान्त को ग्रन्थकार स्वयं वार्त्तिकों द्वारा स्फुट कह रहे हैं।

प्रमत्तयोगतो यत्स्याददत्तादानमात्मनः।
स्तेयं तत्सूत्रितं दानादानयोग्यार्थगोचरं ॥१॥
तेन सामान्यतो दत्तमाददानस्य सन्मुनेः।
सरिन्निर्झरणाद्यंभः शुष्कगोमयखंडकं ॥२॥
भस्मादि वा स्वयं मुक्तं पिच्छालाबूफलादिकं।
प्रासुकं न भवेत्स्तेयं प्रमत्तत्वस्य हानितः ॥३॥

देने और लेने योग्य अर्थों के विषय में हो रहा जो आत्मा के प्रमत्तयोग से अदत्त का आदान करना है वह सूत्रकार ने इस सूत्र में चौर्य कहा है। तिस कारण सामान्य रूप से सब के लिये दिये जा चुके नदी जल आदि को ग्रहण कर रहे श्रेष्ठ मुनि के चोरी का दोष नहीं लगेगा क्यों कि इनको लेने में प्रमाद की हानि है, यदि प्रमादयोग से नदी जल आदि को लिया जाता तो चोरी लग बैठती। नियत व्यक्तियों के स्वामित्व को पा रहे नदी जल, कुल्याजल, को ले लेने से चोरी हो ही जाती है। किसी अनुपाय विशेष अवस्था में मुनि के लिये नदी, झरना, बावड़ी आदि के जल को ले लेने का विधान होगा। इसी प्रकार बहिरंग शुद्धि के लिये सूखे अरणा गोबर के टुकड़े को ग्रहण करने का भी विधान क्वचित् होगा। भस्म, मट्टी आदि भी लिये जा सकते हैं अथवा मयूर या किसानों द्वारा स्वयमेव छोड़ दिये गये पिच्छ, तुम्बी फल, शिलापट्ट आदिक पदार्थ भी ले लिये जाँय तो चोरी नहीं है किन्तु ये सब प्रासुक यानी जीव रहित होने चाहिये। सचित्त हो रहे जल, गोबर, पिच्छ, तुम्बी, मट्टी, तृण आदि को मुनि नहीं ले सकते हैं।

विशेष यह कहना है कि कदाचित् कमण्डलु में प्रासुक जल न रहे या दूसरे मुनि की समाधिमरण क्रिया के लिये अथवा अपनी शारीरिक शुद्धि के लिये इन पदार्थों की आवश्यकता पड़े तो शून्य स्थान में पड़े हुये इस प्रासुक हो चुके पदार्थों को मुनि ले सकते हैं यह आचार शास्त्र का उपदेश कादाचित्क और क्वाचित्क है सार्वदिक नहीं। कंकड़, पत्थरों से आस्फालित हुआ या वायु, घाम, आदि से अनेक बार छूया गया बहुत जल केवल अंग शुद्धि के लिये क्वचित् प्रासुक मान लिया गया है, पीने के लिये नहीं। इसी प्रकार सूखा गोबर भी मात्र भू शुद्धि या उपाङ्गशुद्धि के लिये उपयोगी ले लिया गया है अन्य धार्मिक क्रियाओं में गोबर को शुद्ध नहीं मान लेना चाहिये। अनेक मनुष्य तो कंडों की सिकी बाटियों, रोटियों, को नहीं खाते हैं। गोबर पंचेन्द्रिय का मल ही तो है, अनेक सम्मूर्छन त्रस जीवों का योनिस्थान है। जैन शास्त्रों में प्रमादवश बहुत सा भ्रष्टसाहित्य घुस पड़ा है अतः कितने ही भोले पण्डित उन-उन ग्रन्थों का प्रमाण देकर गोमय को शुद्ध मानने का घोर प्रयत्न करते हैं। वैष्णवों का सहवास रहने से ईश्वरवाद की गंध या गोबर गोमूत्र की पवित्रता भी जैनों में बिना बुलाये घुस पड़ी है। बुंदेलखण्ड, राजपूताना, आगरा प्रान्त आदि के अनेक वैष्णव ब्राह्मण और वैश्य मांस का भक्षण नहीं करते हैं। पूर्वदेशीय शाक्त पंडित यदि वेदों का प्रमाण दे देकर उनको मांसभक्षण की ओर प्रेरित करें तो भी वे उनके उपदेश को अग्राह्य समझते हैं। इसी प्रकार दक्षिण देश के कतिपय पण्डित कई शास्त्रों का प्रमाण देकर उत्तर प्रांत वाले या मध्य प्रान्त वाले अनेक तेरह पंथी जैनों को गोमय की पवित्रता मनवाने के लिये झुकाते हैं किंतु पद्मावतीपुरवाल, परवार बहुभाग खण्डेलवाल, अग्रवाल आदि जातियों में सैकड़ों, हजारों, वर्षों से गोमय को धार्मिक क्रियाओं में नहीं लिया गया है। आम्नाय भी कोई शक्तिशाली पदार्थ है। आचार्यों ने भी सर्वज्ञ भाषित अर्थ को चली आई आम्नाय अनुसार ही शास्त्रों में लिखा है। अतः शास्त्र भी आम्नाय की भित्तिपर डटे हुये हैं। कुलों जातियों या मनुष्य समुदायों में जो क्रिया आम्नाय अनुसार चली आ रही है उन अच्छी क्रियाओं से जनता को च्युत कर भ्रष्ट चारित्र पर झुका देना जैन विद्वानों का कर्तव्य नहीं होना चाहिये। नय विवक्षाओं से जैन ग्रन्थों की कथनी को समझ कर उसके अन्तस्तल पर पहुंच रहा पंडित ही विचार-शाली कहा जायगा। राजाओं या लौकिक परिस्थितियों के वश कितने ही जैन मंदिरों में अजैन देवों की मूर्त्तियाँ प्रतिष्ठित हो गयी हैं। कहीं-कहीं तो वीतराग जिन मूर्त्तियों के सन्मुख जीव हिंसा तक निंद्य कर्म होते हैं। क्वचित् जिन मन्दिरों को छीन कर शैवमन्दिर या वैष्णव मन्दिर, मस्जिद भी बना डाला गया है। इस जैनों की निर्बलता का भी क्या कोई ठिकाना है। इतिहास प्रमाण और अनुमान प्रमाण बतलाते हैं कि जैनों के ऊपर बड़े-बड़े घोर संकट के अवसर आ चुके हैं। ग्रन्थों में निकृष्ट साहित्य का घुस जाना इन्हीं धार्मिक क्रांतियों का परिणाम है। "आदौ देवं परीक्षेत" इसी के समान ग्रन्थों की भी परीक्षा कर आगम प्रामाण्य मानना समुचित है। चाहे किसी भी आचार्य का नाम दे कर गढ़ लिये गये चाहे जिस ग्रन्थ को आँख मीच कर प्रमाण मान लेना परीक्षाप्रधानी का कर्तव्य नहीं है। इस ग्रन्थ के आदि भाग में तार्किक शिरोमणि श्री विद्यानंद स्वामी ने परीक्षाप्रधानिता को पुष्ट किया है। प्रकरण में यह कहना है कि प्रमाद योग नहीं होने से प्रासुक नदी जल आदि का ग्रहण करना चोरी नहीं है।

अथ किमब्रह्मेत्याह—

हिंसा, झूंठ, चोरी इन तीन पापों का लक्षण कहा जा चुका है। अब चौथे अब्रह्म नामक पाप का लक्षण क्या है? बताओ। ऐसी जिज्ञासा उपजने पर सूत्रकार इस अगले सूत्र का निरूपण करते हैं।

मैथुनमब्रह्म ॥१६॥

चारित्रमोहनीय कर्म का उदय होने पर राग परिणति में आसक्त हुये स्त्री और पुरुष की परस्पर स्पर्श करने के लिए इच्छा करना मिथुन है और मिथुन का कर्म मैथुन तो अब्रह्म कहा जाता है। स्त्री और पुरुष की इच्छा उपलक्षण है नपुंसक जीवों के भी माया, लोभ, रति, हास्य, वेद, इन चारित्र मोहनीय कर्मों का उदय या उदीरणा हो जाने पर मैथुनाभिलाषायें उपजती हैं जो कि इष्ट पाक की अग्नि के समान तीव्र वेदना को लिये हुये हैं। कोई कोई पण्डित नपुंसकों को स्त्री नपुंसक या पुरुष नपुंसक यों गिना कर पुरुषों या स्त्रियों में ही गर्भित कर लेते हैं। अतः प्रमादयोग से स्त्री, पुरुष, नपुंसक जीवों के रमण करने की अभिलाषा प्रयुक्त हुआ व्यापार मैथुन समझा जायगा। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जीवों के भी अपने अपने इन्द्रियजनित भोगों की अभिलाषा की अपेक्षा मैथुन मान लेना चाहिये अन्यथा पांचवें गुणस्थान तक सभी संसारी जीवों में पायी जाने वाली मैथुन संज्ञा के अभाव हो जाने का उन में प्रसंग आवेगा। एकेन्द्रिय, विकलत्रिय, असंज्ञी जीव या सम्मूर्छन पंचेन्द्रिय भी [illegible] मैथुन [illegible] आसक्त हो रहे हैं।

मिथुनस्य भावो मैथुनमिति चेन्न, द्रव्यद्वयभवनमात्रप्रसंगात्। मिथुनस्य कर्मेति चेन्न पुरुषद्वयनिर्वर्त्यक्रियाविशेषप्रसंगात्। स्त्रीपुंसयोः कर्मेति चेन्न, पच्यादिक्रियाप्रसंगात्। स्त्रीपुंसयोः परस्परगात्रश्लेषे रागपरिणामो मैथुनमिति चेन्न, एकस्मिन्नप्रसंगात्। उपचारादिति चेन्न, मुख्यफलाभावप्रसंगात्। ततो न मैथुनशब्दादिष्टार्थसंप्रत्यय इति कश्चित्॥

यहाँ कोई (कश्चित्) आचार्य महाराज से मैथुन शब्द का अर्थ कराने के लिये चोद्य उठा रहा है कि प्रथम ही यदि यहाँ कोई मैथुन का यों अर्थ करे कि—मिथुन यानी स्त्री पुरुष दोनों या अन्य कोई दोनों पदार्थों का जो भाव है वह मैथुन है। कश्चित् या आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों तो चाहे किन्हीं भी दोनों द्रव्यों के परिणाम होने मात्र का प्रसंग आ जावेगा। उदासीन अवस्था में बैठे हुये राग रहित दोनों स्त्री, पुरुषों की कन्याविवाह चिन्ता, भोजन, वस्त्रचिंता, मुनिदान विचार आदि को भी मैथुन हो जाने का प्रसंग आ जावेगा। जो कि इष्ट नहीं है। पुनः कोई चोद्य उठाता है कि मिथुन का कर्म मैथुन कह दिया जाय। कश्चित् या ग्रन्थकार कहते हैं कि यह मंतव्य भी तो ठीक नहीं पड़ेगा क्योंकि दो पुरुषों कर के बनाने योग्य किसी भी क्रिया विशेष को मैथुन हो जाने का प्रसंग आवेगा। क्वचित् दो विद्यार्थी मिल कर पाठ लगा रहे हैं, दो कहार डोली को ढो रहे हैं, दो मल्ल लड़ रहे हैं, स्त्री, पुरुष, दोनों धर्म चर्चा कर रहे हैं, ये क्रियायें तो मैथुन नहीं हैं। पुनः कोई सम्हल कर आक्षेप करता है कि स्त्री और पुरुष का जो कर्म है वह मैथुन है। कश्चित् या आचार्य समझाते हैं कि यह तो ठीक नहीं है क्योंकि स्त्री और पुरुष यदि मिलकर कदाचित् या यात्रा में रसोई बनाते हैं, दोनों देव वंदना करते हैं, तीर्थ यात्रा करते हैं, यों पाक करना आदि क्रियायें भी मैथुन हो जावेंगी जो कि मैथुन नहीं मानी गयी हैं। पुनरपि कोई अपनी पण्डिताई दिखलाता हुआ व्याकरण की निरुक्ति अनुसार मैथुन का लक्षण करता है कि स्त्री और पुरुषों का परस्पर में शरीर का गाढ आलिंगन होते संते जो राग परिणति हुई है वह मैथुन है। कश्चित् पंडित या ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो ठीक नहीं, कारण कि अव्याप्ति दोष है अकेले स्त्री या पुरुष में मैथुन परिणाम नहीं हो सकने का प्रसंग आजावेगा अर्थात् जब कि हाथ, पांव या अन्य पुद्गलों के संघट्ट आदि करके कुशील सेव रहे या खोटे भाव कर रहे अकेले पुरुष अथवा स्त्री में भी मैथुन परिणाम इष्ट किया गया है वह मैथुन सिद्ध नहीं हो सकेगा। यदि इस पर कोई यों समाधान करे कि जिस प्रकार चारित्र मोहनीय कर्म का उदय हो जाने पर कामवेदना से पीड़ित हो रहे

स्त्री पुरुष दोनों का कर्म मैथुन है तिस प्रकार अन्तरंग में चारित्र मोहनीय की उदीरणा होने पर और बहिरंग में हस्त आदि द्वारा संघर्षण करने पर अकेले पुरुष या स्त्री के भी उपचार से मैथुन होना बन जावेगा। कश्चित् या ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि अकेले अकेले में उपचार से मैथुन मान लेने पर मुख्यफल के अभाव का प्रसंग हो जावेगा। अर्थात् जैसे बालक में सिंह का उपचार करने पर मुख्य सिंह में पायी जा रही क्रूरता, शूरता, बलाढ्यता, चंचलता आदि की प्रवृत्ति नहीं है उसी प्रकार मुख्य रूप से दोनों में ही पाई जा रही रागपरिणति को यदि एक में भी उपचार से धरा जायगा तो अब्रह्म हेतुक आ रहे तीव्र कर्मों का बंध नहीं हो सकेगा। उपचार की राग परिणति कर्मबंध नहीं कराती है। तिस कारण अब तक किसी भी ढंग करके मैथुन शब्द से अभीष्ट अर्थ की समीचीन प्रतीति नहीं हो सकी है। यहाँ तक कोई आक्षेप पूर्वक चोद्य कर रहा है।

तत्प्रतिक्षेपार्थमुच्यते—न च स्पर्शवद्द्रव्यसंयोगस्याविशेषाभिधानादेकस्य द्वितीयत्वोपपत्तौ मिथुनत्वसिद्धेः, प्रसिद्धिवशाद्वार्थप्रतीतेः पूर्वोक्तानां चानवद्यत्वात् सिद्धो मैथुनशब्दार्थः।

उस कश्चित् के आक्षेप का निराकरण करने के [illegible] कहा जाता है कि उक्त आक्षेप उठाना ठीक नहीं है क्योंकि स्त्री और पुरुष का परस्पर शरीरालिंगन होने पर राग परिणति होना मैथुन है यह लक्षण अच्छा है। स्पर्शवान् द्रव्यों के संयोग को विशेषतारहित कहा गया है इस कारण अकेले को भी द्वितीयपन की सिद्धि हो जाने पर मिथुनपना सिद्ध है। वैशेषिक तो दो आदि में रहने वाले संयोग, विभाग, द्वित्व, त्रित्व, आदि पर्याप्त गुणों को एक ही मान लेते हैं। जैन सिद्धान्त अनुसार धर्म, अधर्म, काल, आकाश, आत्मा इन द्रव्यों के संयोग न्यारे न्यारे माने गये हैं जैसे दो पदार्थों में समवाय सम्बन्ध से वर्त रही न्यारी न्यारी दो द्वित्व संख्यायें हैं। आकाश और आत्मा इन विजातीयद्रव्यों का संयोग धर्म एक नहीं हो सकता है। परिशेष में जाकर वे दो ही संयोग सिद्ध होंगे किंतु उनमें कोई विशेषता नहीं है हाँ संसारी जीव और उसके साथ भिड़ गये पुद्गलों का अथवा अशुद्ध पुद्गल पुद्गलों का जब तक ,संयोग है तब तक वे अनेक ही संयोग मानने पड़ेंगे। बंध हो जाने पर एकत्व परिणति हो जाती है जो कि संयोग परिणाम से निराली है। प्रकरण में यह कहना है कि स्त्री पुरुष में से अकेले को भी स्पर्शजन्य आभिमानिक सुख तुल्य है। अतः अकेले में भी मैथुन शब्द की मुख्य रूप से ही प्रवृत्ति है और राग, द्वेष, मोह, परिणतियों अनुसार प्रत्येक को कर्मों का बंध हो जाता है। लोक और शास्त्र में जो प्रसिद्धि हो रही है उसके वश से मैथुन शब्द के अर्थ की प्रतीति हो जाती है इस कारण पहिले कहे जा चुके सभी मैथुन शब्द के अर्थ निर्दोष हैं। इस प्रकार मैथुन शब्द का अर्थ सिद्ध हो चुका है। अर्थात् लोक में तो बाल गोपाल आदि सभी जन स्त्री पुरुषों की रति क्रिया को मैथुन कह रहे हैं। व्याकरणशास्त्र में भी "अश्वस्यति वडवा, वृषस्यति गौः" इन प्रयोगों को" "अश्ववृषभयो-मैथुनेच्छायां" इस सूत्र से सिद्ध किया है। अन्य शास्त्रों में भी मैथुन का अर्थ स्त्री पुरुष विषयक रति ही पकड़ी जाती है। मिथुन का भाव मैथुन, मिथुन का कर्म मैथुन, स्त्री पुरुषों का कर्म मैथुन, स्त्री पुरुषों का परस्पर शरीर संसर्ग होने पर राग परिणाम मैथुन, ये सब लक्षण दोष रहित हैं। देखिये सबसे पहिले जो यह कहा था कि मिथुन का भाव मैथुन तो ठीक नहीं क्योंकि दो द्रव्यों के भवनमात्र का प्रसंग आ जावेगा यह कहना प्रशस्त नहीं है क्योंकि अंतरंग परिणाम नहीं होने पर बाह्य हेतु निष्फल हो जाते हैं। जैसे कि कंकड़ू चने, टोरा, उर्दटोरा मौंठ, कुदिचो आदि के अभ्यन्तर में पाकविक्लेदन शक्ति के न होने पर बहिरंग अग्नि, जल का संबन्ध व्यर्थ हो जाता है। तिसी प्रकार अभ्यन्तर चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले स्त्री के पुरुषरमण भाव और पुरुष के स्त्रीरमण में भाव यदि नहीं हैं तो बाह्य

दो द्रव्यों के होते हुये भी मैथुन नहीं कहा जा सकता है। अतः मिथुन का भाव मैथुन है यह लक्षण बुरा नहीं है दूसरा लक्षण जो मिथुन का कर्म मैथुन कहा था वह भी अच्छा है। दो पुरुषों की भार वहन, पानी खेंचना आदि क्रिया विशेष को मैथुन का प्रसंग नहीं आ सकता है क्योंकि वहां अन्तरंग कारण चारित्र मोह की उदीरणा नहीं है हां चारित्र मोह का प्रबल उदय होने पर दो पुरुष या दो लड़के अथवा दो पुरुष, पशु भी यदि कोई राग क्रिया करेंगे तो वह मैथुन समझा जायगा। तीसरा भी जो स्त्री पुरुषों का कर्म मैथुन कहा गया था वह लक्षण भी चोखा है। रसोई पाक आदि तो फिर अन्य करके भी किये जा सकते हैं अतः स्त्री पुरुषों की रति विषयक क्रिया मैथुन कही जा सकती है कोई बाधा नहीं है। सबसे बढ़िया बा[illegible]ी है अतः चारित्र मोह के उदय से प्रमत्त हो रहे केवल स्त्री का या पुरुष का अथवा दोनों का वहां तक कि एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जीवों का भी जो रति स्वरूप परिणाम है वह मैथुन है। यह सिद्ध हुआ ॥

अहिंसादिगुणबृंहणाद् ब्रह्म तद्विपरीतमब्रह्म तच्च मैथुनमिति प्रतिपत्तव्यं रूढिवशात्। ततो न प्राणव्यपरोपणादीनां ब्रह्मविपरीतत्वेऽप्यब्रह्मत्वप्रसिद्धिः। तदिदमब्रह्म प्रमत्तस्यैव संभवतीत्याह;—

"बृहि वृद्धौ" धातु से ब्रह्म शब्द बनाया है। अहिंसा, सत्य, आदिक गुणों की वृद्धि कर देने से ब्रह्म नाम का व्रत कहा जाता है। उस ब्रह्म से जो विपरीत है वह अब्रह्म है और यों रूढि के वश से वह मैथुन परिणाम हुआ इस प्रकार प्रतिपत्ति कर लेनी चाहिये। तिस कारण प्राणों का वियोग करना, असत्य बोलना, जुआ खेलना आदि पाप क्रियाओं को यद्यपि ब्रह्म से विपरीतपना है तो भी रूढि का आश्रय लेने से अब्रह्मपने की प्रसिद्धि नहीं है। अर्थात् 'गच्छति इति गौः' यों यौगिक अर्थ का अवलंब लेने पर मनुष्य, घोड़ा, रेलगाड़ी, वायु आदि भी गौ हो सकती है और नहीं चल रही गाय या पृथिवी तो गौ नहीं हो सकेगी किंतु "योगाद्रूढिर्बलीयसी" इस नियम अनुसार बलवती रूढि का आश्रय करने पर गौः शब्द पशु में ही प्रवर्त्तता है या वाणी, पृथ्वी, दिशा आदि दश अर्थों में भी प्रवर्त्त जाता है उसी प्रकार यहाँ पर भी अब्रह्म शब्द कुशील में रूढ है अतः हिंसा, झूंठ आदि की निवृत्ति हो जाती है। तिस कारण यों सिद्ध हो चुका यह अब्रह्म नाम का पाप तो प्रमादी जीव के ही संभवता है प्रमाद रहित जीव के नहीं इस सिद्धांत को पुष्ट करते हुये ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक को कह रहे हैं। इसको ध्यान लगा कर समझ लीजियेगा।

तथा मैथुनमब्रह्म प्रमत्तस्यैव तत्पुनः।
प्रमादरहितानां हि जातुचित्तदसंभवः ॥५॥

जिस प्रकार हिंसा, अनृत आदिक पाप क्रियायें प्रमत्त जीव के ही हो रही मानी गयी हैं तिसी प्रकार वह अब्रह्म यानी कुशील सेवन भी फिर प्रमादी जीव के ही संभवता है। कारण कि प्रमाद रहित जीवों के कदाचित् भी उस अब्रह्म के होने का असंभव है ॥

न हि यथा प्रमादाभावेपि कस्यचित् संयतात्मनः प्राणव्यपरोपणादिकं संभवति तथा मैथुनमपि, तस्य प्रमादसद्भाव एव भावात्। वरांगनालिंगनमात्रप्रमत्तस्यापि भवतीति चेन्न, तस्य मैथुनत्वाप्रसिद्धेः पुत्रस्य मात्रालिंगनवत्।

जिस प्रकार कषाय, इन्द्रियलोलुपता आदि प्रमादों का अभाव होते संते किसी भी संयमी जीव

के प्राणव्यपरोपणस्वरूप हिंसा, अनृत आदिक पाप नहीं संभवते हैं तिसी प्रकार मैथुन भी प्रमाद नहीं होने पर किसी के नहीं संभवता है क्यों कि उस मैथुन को प्रमाद का सद्भाव होने पर ही उत्पत्ति मानी गयी है। तीव्र अनुभाग वाली पाप क्रियाओं का प्रमाद के साथ अन्वयव्यतिरेक है "प्रमादाभावेऽपि" यहाँ अपि शब्द का कोई विशेष अर्थ नहीं है। अथवा यों अर्थ कर लिया जाय कि भले ही संयमी मुनि करके किसी जीव का प्राणवियोग भी कर दिया जाय तथापि प्रमाद नहीं होने पर मुनि को हिंसा नहीं लगती है यों अपि का प्राणव्यपरोपणादिक के साथ व्युत्क्रम से अन्वय किया जायगा। यहाँ कोई कुबोध उठाता है कि तीर्थ यात्रा, मेला, पंचकल्याणक आदि में भीड़ के अवसर पर सुन्दर स्त्रियों का केवल आलिंगन हो जाना तो प्रमाद रहित मुनियों के भी संभव जाता है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि चारित्र-मोह का उदय हुये बिना उस आलिंगन मात्र को मैथुनपने की जब लोक में भी प्रसिद्धि नहीं है तो शास्त्र में आत्म संक्लेश स्वरूप कुशील तो वह कैसे भी प्रसिद्ध नहीं हो सकता है। जैसे कि पुत्र का माता के साथ आलिंगन करना कुशील नहीं माना गया है "येनैवालिंग्यते कान्ता तेनैवालिंग्यते सुता, मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः" इस नीति का लक्ष्य रखना चाहिये अतः मात्र अंगना के अंग का आलिंगन हो जाने से अप्रमत्त मुनि के कुशील सेवन का प्रसंग नहीं आ सकता है।

स्पर्शनमैथुनदर्शनादि वा केषांचित् प्रसिद्धमिति चेन्न, तस्य रिंसापूर्वकस्योपगमात्। न च संयतस्यांगनालिंगितस्यापि रिंसास्ति, असंयतत्वप्रसंगात्। तदंगनाया रिंसास्तीति चेत् तस्या एव मैथुनमस्तु लेपमयपुरुषालिंगनवत्। प्रायश्चित्तोपदेशस्तत्र कथमिति चेत्, तस्यापि प्रसंगनिवृत्त्यर्थत्वात्। विस्रब्धालोकनादावपि तदुपदेशस्याविरोधात् ॥

यहाँ कोई आक्षेप उठाता है कि किन्हीं-किन्हीं संयमी जीवों के अंगना स्पर्शन करना या मैथुन-दर्शन करना आदि प्रसिद्ध हो रहे हैं। स्त्री परीषह को जीत रहे किसी मुनि के उपसर्ग के अवसर ऐसी समस्या हो सकती है। अर्थात् किन्हीं किन्हीं मतावलंबियों के यहाँ स्पर्शन करना, मैथुन क्रिया को देखना आदिक प्रसिद्ध है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि उन स्पर्श करना या मैथुन देखना अथवा हाव, नर्म, आदिक परिणतियों का रमण करने की अभिलाषापूर्वक ही होना स्वीकार किया गया है 'रंतुं' इच्छा रिरंसा, पहिले स्त्री या पुरुष के रमण करने के लिये अभिलाषा होती है पुनः रागपूर्ण स्पर्शन, मैथुन दर्शन, आदिक हो सकते हैं। कितने ही मनुष्य कबूतरों को पालते हैं उनकी कामचेष्टाओं को देखते हैं। अन्य पशु, पक्षियों की लीलाओं को देख कर प्रसन्न होते हैं। ये सब क्रियायें रिरंसापूर्वक हैं किंतु अंगनाओं करके गाढ़ आलिंगन किये जा चुके भी उपसर्ग प्राप्त संयमी मुनि के रमण अभिलाषा नहीं है। रमण अभिलाषा हो जाने पर मुनिव्रत रक्षित नहीं हो सकता है। असंयमीपने का प्रसंग आ जावेगा। अतः संयमियों के रिरंसापूर्वक स्पर्शन आदिक कभी नहीं संभवते हैं। कदाचित् स्त्रीपरीषह जय कर रहे मुनिको यदि अंगनायें आलिंगन भी कर लेवें तो भी मुनि महाराज के रमण अभिलाषा नहीं है। घोर उपसर्ग सहते हुये वे उस समय आत्मध्यान में एकाग्र रहे आते हैं। भले ही एक नहीं चार स्त्रियां उनको आलिंगन करती रहें संयमी के अणुमात्र रिरंसा नहीं उपजती है। यदि यहां कोई यों विक्षेप करे कि मुनि के साथ आलिंगन कर रही उस अंगना की तो रिरंसा है ही। अतः मैथुन समझ लिया जाय। यों कहने पर तो आचार्य कहते हैं कि तब तो उस रमणी के ही मैथुन पाप होवेगा। जैसे कि काष्ठ, पाषाण, गूदड़ा, रबड़ आदि के बने हुये जड़ पुरुष, मूर्ति या लेपमय पुरुष के साथ आलिंगन करने पर उस अंगना के ही कुशील करने का प्रसंग आता है। जड़, मूर्ति या चित्र के नहीं। उसी प्रकार उपल समझ कर मृगों करके स्वशरीर

की खाज मिटाने के अवलंब हो रहे संयमी साधु के शरीरको रति पूर्वक गाढ आलिंगन कर रही रमणी के ही मैथुन पाप होवेगा। सुदर्शन सेठ का मदोन्मत्त काममस्त रानी ने आलिंगन किया एतावता सेठ को रागी नहीं कहा जा सकता है वह रानी ही व्यभिचारिणी समझी गयी। अतः अंगना से आलिंगित हो रहे मुनि को अणुमात्र पाप नहीं लगता है। यदि यहां कोई यों आक्षेप करे कि पुनः उस दशा में मुनि महाराज के लिये प्रायश्चित्त करने का उपदेश क्यों [illegible] नहीं लगता तो अंगना के चुपट जाने पर उनको प्रायश्चित्त नहीं लेना चाहिये था। यों कहने पर तो तो ग्रन्थकार कहते हैं कि यह प्रायश्चित्त का उपदेश भी प्रसंग की निवृत्ति कराने के लिये है। प्रायश्चित्त को देने वाले आचार्य उन संयमी जितेन्द्रिय मुनि को उपदेश देते हैं कि तुम ऐसे प्रसंग को टाल दो जहां कि स्त्रियां आकर बाधा दे सकें। तुमको इसका प्रायश्चित्त देकर आगे के लिए सूचित किया जाता है कि स्त्री-पशु, पक्षी जहां उपद्रव मचावें ऐसे प्रसंगों का निवारण कर दिया करो। प्रायः देखा जाता है कि सुन्दर स्त्रियों को देखकर जैसे कामी पुरुष अनेक कुचेष्टायें करते हैं उसी प्रकार अभिरूप पुरुषों को देखकर कमनीय कामिनियां उनको उपद्रुत करती हैं। बलभद्र, कामदेव, चक्रवर्ती आदिक यदि मुनि भी हो जाते हैं तो भी वे अत्यधिक सुन्दर जचते हैं। वसुदेव की कथा का स्मरण कीजिये। ऐसी दशा में चलचित्त अंगनायें उनको अपनी मनःकामना पूर्ण करने के लिये डिगाती हैं किन्तु "किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित्" अडिग मुनि आत्मध्यान से अविभाग प्रतिच्छेदमात्र भी नहीं चलायमान होते हैं फिर भी ऐसे ऐसे प्रसंगों का निवारण करने के लिये मुनि को प्रायश्चित्त लेने का उपदेश है। विश्वास पूर्वक आलोकन हाव, विलास, शृंगार, प्रार्थना आदि में भी उस प्रायश्चित्त विधान के उपदेश करने का कोई विरोध नहीं है अर्थात् किसी संयमी को स्त्रियां, यदि विश्वस्त आलोकन करें या शृंगार प्रार्थना के लिये काम चेष्टा पूर्वक अवलोकन करें तो ऐसी दशा में भी मुनि को ऐसे प्रसंगों की निवृत्ति के लिये प्रायश्चित्त लेने का उपदेश है। यहां यह भी विशेष कह देना है कि वीर्य संसर्ग या अङ्गस्पर्श से स्त्रियों की आत्मा में नैमित्तिक कुत्सित परिणाम अवश्य उपज जाते हैं अतः बलात्कार दशा में स्त्रियों के रिरंसा नहीं होते हुये भी स्त्रियों के विषय में उक्त सिद्धान्त लागू नहीं किया जा सकता है॥

कः पुनः परिग्रह इत्याह;—

हिंसा आदिक चार पापों के विशेष लक्षण समझ लिये हैं। अब पांचवें परिग्रह का लक्षण फिर क्या है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्त्तने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

मूर्छा परिग्रहः ॥१७॥

चेतन, अचेतन बहिरंग परिग्रहों में और राग आदि अन्तरंग परिग्रहों में जो मूर्छा यानी गृद्धिविशेष है वह परिग्रह है॥

बाह्याभ्यन्तरोपधिसंरक्षणादिव्यापृतिर्मूर्छा। वातपित्तश्लेष्मविकारस्येति चेन्न, विशेषितत्त्वात्, तस्याः सकलसंगरहितेऽपि यतौ प्रसंगात्। बाह्यस्यापरिग्रहत्वप्रसंग इति चेन्न, आध्यात्मिकप्रधानत्वात् मूर्छाकारणत्वाद्बाह्यस्य मूर्छाव्यपदेशात्।

गाय, भैंस, घोड़ा आदि बहिरंग चेतन परिग्रह और वस्त्र, मोती, भूषण, गृह, आदि अचेतन बहिरंग परिग्रह तथा राग आदिक अन्तरंग परिग्रहों के समीचीन रक्षण, उपार्जन या राग आदि अनुसार

तीव्र इच्छाओं के संस्कार आदि व्यापार करना मूर्च्छा है जो कि एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यंत जीवों के परिग्रह संज्ञा पायी जाती है। यहाँ कोई वैद्यक विषय की छटा दिखा रहा आक्षेप करता है कि जिस जीव के वात, पित्त, और कफ का विकार हो गया है उसके मूर्छा पायी जाती है। उन्माद, मृगी, सन्निपात आदि रोगों में मूर्छा हो जाती है "क्षीणस्य बहुदोषस्य विरुद्धाहारसेविनः। वेगाघातादभिघाताद्धीनसत्त्वस्य वा पुनः॥ करणायतनेषूग्राः बाह्येष्वाभ्यंतरेषु च। निविशन्ते यदा दोषास्तदा मूर्छन्ति मानवाः॥ संज्ञावहासु नाडीषु पिहितास्वनिलादिभिः। तमोऽभ्युपैति सहसा सुखदुःखव्यपोहकृत्॥ सुखदुःखव्यपोहाच्च नरः पतति काष्ठवत्। मोहो मूर्छेति तामाहुः षड्विधा सा प्रकीर्तिता॥ वातादिभिः शोणितेन मद्येन च विषेण च। षट्स्वप्येतासु पित्तन्तु प्रभुत्वेनावतिष्ठते" ॥ इत्यादि। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि मूर्छा में विशेष कर दिया गया है "मूर्छा मोहसमुच्छ्राययोः"।इस धातु से बना मूर्छा शब्द सामान्य रूप से मोह में वर्त्त रहा है। किन्तु यहाँ प्रकरण अनुसार बाह्य अभ्यंतर परिग्रहों के रक्षण, वर्द्धन, आदि में हुये "ममेदंभाव" को मूर्छा कहा गया है। सामान्य वाचक शब्द अवसर अनुसार विशेष अर्थों में प्रयुक्त कर लिये जाते हैं। यदि मूर्छा पद से वात, पित्त, कफों के विकार से उपजी मूर्छा पकड़ी जायगी ऐसी मूर्छा का तो सम्पूर्ण परिग्रहों से रहित हो रहे मुनियों में भी प्रसंग है। पूर्व संचित कर्मों के अनुसार तीव्ररोग हो जाने पर मुनियों के भी वह वात, पित्त, कफ जन्य मूर्छा हो सकती है। किन्तु मुनि के अन्तरंग, बहिरंग परिग्रहों की अभिकांक्षा स्वरूप मूर्छा कदाचित् नहीं पायी जाती है। यदि यहाँ कोई यों आक्षेप करें कि यों अभिकांक्षा स्वरूप आत्मीय गृद्धि को यदि परिग्रह कहा जाय तो राग आदि अन्तरंग परिणाम तो परिग्रह हो जायेंगे किन्तु बहिरंग क्षेत्र, प्रासाद, आदिक चेतन अचेतन पदार्थों को परिग्रह-पना नहीं हो सकने का प्रसंग आ जावेगा। आचार्य कहते हैं कि यह तो प्रसंग नहीं उठाना क्योंकि मूर्छा पद करके आध्यात्मिक राग आदि परिग्रह पकड़े जाते हैं। अन्तरंग परिग्रह ही प्रधान हैं। मूर्छा के कारण होने से बाह्यक्षेत्र आदि को मूर्छा का व्यपदेश कर दिया गया है जैसे कि प्राण के कारण हो रहे अन्न को प्राण कह दिया जाता है। यदि अन्तरंग में मूर्छा नहीं है तो बहिरंग क्षेत्र, धन, वस्त्र, आदि के होते हुये भी परिग्रही नहीं है। किसी अज्ञानी जीव करके वस्त्र या कम्बल द्वारा उपसर्ग को प्राप्त हो रहे मुनि परिग्रही नहीं हैं। ध्यानारूढ मुनि महाराज के निकट कोई चोर यदि भूषणों का ढेर लगा दे एतावता मुनि परिग्रही नहीं बन जाते हैं। उदासीन चक्रवर्ती उतना मूर्छावान् नहीं हैं जितना कि अर्जन, रक्षण आदि की अभिकांक्षायें कर रहा स्मश्रुनवनीत परिग्रही है। अतः आध्यात्मिक यानी अन्तरंग परिग्रह के होने पर ही बहिरंग परिग्रहों को मूर्छापन का मात्र व्यवहार है।

ज्ञानदर्शनचारित्रेषु प्रसंगः परिग्रहस्येति चेन्न, प्रमत्तयोगाधिकारात्। ततः सूक्तं मूर्छा परिग्रहः प्रमत्तयोगादिति।

यहाँ आशंका और उत्पन्न होती है कि आत्मा में पाये जा रहे राग आदि परिणामों को यदि परिग्रह कहा जायगा तब तो ज्ञान, दर्शन, और चारित्रगुणों में भी परिग्रह हो जाने का प्रसंग आवेगा। ज्ञानादिक तो बहुत अच्छे प्रकारों से आध्यात्मिक हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि "प्रमत्त-योगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा" इस सूत्र से प्रमत्त योग का अधिकार चला आ रहा है। ज्ञान, दर्शन, चारित्रों को धार रहे जीवों के प्रमाद योग नहीं है तिस कारण मूर्छा नहीं होने से ज्ञान आदि के परिग्रहपना घटित नहीं होता है। एक बात यह भी है कि आत्मा के तदात्मक स्वभाव होने के कारण ज्ञानादिक त्यागने योग्य नहीं हैं। हाँ रागादिक तो कर्मोदय के अधीन हैं अतः आत्मीयस्वभाव नहीं होने के कारण उन रागादिकों में "मेरे ये" ऐसा संकल्प स्वरूप परिग्रहपना बन जाता है यों सूत्रकारने बहुत अच्छा कहा था कि प्रमादके

योग से मूर्छा परिणाम परिग्रह है।

तन्मूलाः सर्वदोषानुषंगाः। यथा चामी परिग्रहमूलास्तथा। हिंसादिमूला अपि हिंसादीनां पंचानामपि परस्परमविनाभावात्॥ तदेवाह;—

उस परिग्रह को मूल कारण मान कर ही सम्पूर्ण हिंसा, झूंठ, चोरी, कुशील, जुआ आदि दोषों का प्रसंग आ जाता है। परिग्रही जीव हिंसा करता है, झूंठ बोलता है, चोरी करता है, कुशील सेवता है, द्यूत क्रीड़ा में प्रवर्त्तता है। "लोभ पाप का बाप बखाना" ऐसी लोक प्रसिद्धि भी है। जिस प्रकार वे सम्पूर्ण दोष इस परिग्रह को मूल मान कर एकत्रित हो जाते हैं उसी प्रकार हिंसा आदि मूल मान कर भी अन्य सभी दोष समुदित हो जाते हैं। क्यों कि हिंसा आदिक पाँचों भी पापों का परस्पर में अविनाभाव हो रहा है। अर्थात् एक बढ़िया गुण के साथ जैसे दश गुण अन्य भी लगे रहते हैं। उत्तम क्षमा को धारने वाला उत्तम मार्दव, आर्जव, आदि को भी थोड़ा बहुत अवश्य पालता है। इसी प्रकार एक प्रधान दोष के साथ अन्य कतिपय दोष लग ही बैठते हैं। एक गुण्डे व्यसनी धनाढ्य के साथ चार गुण्डे अन्य भी लग जाते हैं। "गुणाः गुणज्ञेषु गुणीभवन्ति ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः, सुस्वादु तोयं प्रवहन्ति नद्यः समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः" "व्यालाश्रयापि विफलापि सकंटकापि वक्रापि पंकजभवापि दुरासदापि, एकेन बंधुरसि केतकि सर्वजन्मा एको गुणः खलु निहन्ति समस्तदोषं ॥२॥" "एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवांकः" इत्यादि नीति उक्तियाँ विचारणीय हैं। एक बड़ी आपत्ति में जैसे छोटी छोटी आपत्तियाँ लगी रहती हैं। एक महान् रोग के साथ क्षुद्र रोग पड़ जाते हैं उसी ढंग से हिंसा आदिक पापों में से किसी भी एक पाप का उद्रेक हो जाने पर उसके अविनाभावी अन्य पाप भी संग लग बैठते हैं। उस ही सिद्धान्त को ग्रंथकार स्पष्ट कर कह रहे हैं।

यस्य हिंसानृतादीनि तस्य संति परस्परं।
अविनाभावबद्भावादेषामिति विदुर्बुधाः ॥१॥
ततो हिंसाव्रतं यस्य तस्य सर्वव्रतक्षतिः।
तदेव पंचधा भिन्नं कांश्चित् प्रति महाव्रतं ॥२॥

जिस जीव के हिंसा पाप प्रवर्त्त रहा है उसके अनृत, चोरी आदिक अवश्य हैं (प्रतिज्ञा) क्यों कि इन हिंसा आदिकों का परस्पर में अविनाभाव है (हेतु) जिस प्रकार कि अहिंसा आदि गुणों का परस्पर में अविनाभाव है (दृष्टांत) हिंसा आदि पाप क्रियाओं का अविनाभाव को रखते हुये सद्भाव रहता है इस प्रकार विद्वान् पुरुष समझ रहे हैं। तिस कारण जिस पुरुष के हिंसा नाम का अव्रत है उसके सम्पूर्ण सत्य, अचौर्य, आदिक व्रतों की क्षति हो जाती है अथवा जिसके अहिंसा व्रत है उसके सम्पूर्ण सत्य आदि व्रतों की अक्षति है। कारण कि वह अकेला अहिंसा व्रत ही तो किन्हीं विस्तर रुचि या जड़-मति शिष्यों के प्रति पांच प्रकार भेदों को प्राप्त हुआ महाव्रत कह दिया जाता है। अर्थात् मध्य पिंडभूत शरीर के दो हाथ, दो पैर, और मध्यपिंड यों पाँच भेद मान लिये जाते हैं। इसी प्रकर मूलभूत अहिंसा के ही अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग, ये पाँच भेद कर दिये जाते हैं। साथ ही हिंसा के भी हिंसा, झूंठ, चोरी, कुशील, परिग्रहगृद्धि ये पांच भेद जड़ बुद्धि विनीतों की अपेक्षा कर दिये जाते हैं॥

यस्मादतिजड़ान् वक्रजड़ांश्च विनेयान् प्रति सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षणमहिंसाव्रतमेकमेव

सुमेधोभिरभिमन्यमानं पंचधा छिन्नं तस्माद्यस्य हिंसा तस्यानृतादीनि संत्येव तेषां परस्परमविनाभावादहिंसायाः सत्यादविनाभाववत् ॥

जिस कारण कि अतीव जड़ हो रहे और वक्रजड़ हो रहे शिष्यों के प्रति श्रेष्ठधारणा बुद्धिशाली विद्वानों करके ठीक ठीक मान लिये गये सम्पूर्ण सावद्यक्रियाओं की निवृत्ति कर देना स्वरूप एक ही अहिंसा व्रत को पांच प्रकार से छेद भेद डाला है तिस कारण जिसके हिंसा पायी जाती है उसके अनृत आदिक अविरतियां हैं ही, क्योंकि उन हिंसा, झूंठ, आदि का परस्पर में अविनाभाव है जैसे कि अहिंसा का सत्य से अविनाभाव हो रहा है। भावार्थ "आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्, अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय। (पुरुषार्थसिद्ध्युपाय) "झूंठ, चोरी आदि सभी पाप क्रियाओं में प्रमाद योग घुसा हुआ है और प्रमादयोग हिंसा है अतः सभी पाप हिंसामय हैं। इसी प्रकार सभी धर्म अहिंसा मय हैं जब कि "अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं" प्राणियों की अहिंसा ही जगत् में परमब्रह्म जानी गयी है परमब्रह्म शुद्ध आत्मा का स्वरूप है। केवलज्ञान, चारित्र, क्षायिक सम्यक्त्व, अनन्तवीर्य, ये सभी परिणाम अहिंसा मय हैं ? यदि केवलज्ञान, उत्तम क्षमा, आदि को अहिंसास्वरूप कह दिया जाता है तो सत्य, अचौर्य, आदिक बड़ी सुलभता से अहिंसा आत्मक हो जाते हैं। अतीव मंदबुद्धि, जड़शिष्यों को समझाने के लिये अहिंसा के पांच भेद कर दिये गये हैं। हिंसा के भी झूंठ, चोरी, आदि भेद भी तो मात्र समझाने के लिये हैं। आज कल के मिथ्यादृष्टि दार्शनिक या कुचोद्य करनेवाले पापी पुरुषों को यहां वक्र जड़ समझना चाहिये। इन को विनेय यानी विनय करने वाला शिष्य यों कह दिया गया है कि समझा देने पर हिंसा के साथ संभव रहे झूंठ, चोरी आदि पापों को वे शिरसा पाप रूपेण बुद्धिग्राह्य कर लेते हैं। एक पण्डित जी ने अमरूद बेचने वाले कूंजड़ा से कहा कि भाई चौमासे में अमरूदों में कीड़े पड़ जाते हैं अतः हम मोल नहीं लेते हैं। कूंजड़ा विनय पूर्वक कहता है कि महाराज पण्डित जी फलों के कीड़े कोई नुकसान नहीं करते हैं। एक क्रान्तिवादी हठी लड़का डांका डाल कर उस धन को देशहित के कार्य में लगाना चाहता है। तीसरा जड़ पुरुष कामासक्त स्त्रियों की इच्छा पूर्ण कर देने में पाप नहीं समझता है। वेश्यायें पुरुषों के चित्तविनोद को पुण्यकर्म समझ बैठी हैं। इस प्रकार अपनी अपनी ढपली और अपना अपना राग गा रहे विनीत अनेक अतिजड़ और वक्र जड़ जीवों के प्रति विचारशील विद्वानों ने हिंसा या अहिंसा के ही पांच भेद कर दिये हैं। अहिंसा या हिंसा के पांच भेद मानने में किसी को कुछ खटका भी होय तो भी इन पांचों का अविना भाव तो बड़ी प्रसन्नता के साथ सब को मान्य हो जावेगा ही।

ननु च सति परिग्रहे तत्संरक्षणानंदादवश्यंभाविनी हिंसानृते स्यातां स्तेयाब्रह्मणी तु कथमिति चेत् सर्वथा परिग्रहवतः परस्य स्वग्रहणात् स्त्रीग्रहणाच्च निवृत्तेरभावात्। तन्निवृत्तौ देशतो विरतिप्रसंगात् सर्वथाविरोधात्।

यहाँ कोई प्रश्न उठाता है कि आपने परिग्रह मूलक सम्पूर्ण दोषों का प्रसंग हो जाना बतलाया, परिग्रह के होते सन्ते अन्य झूँठ आदि चारों पापों का अविनाभाव कहा, किन्तु यहाँ यह पूँछना है कि परिग्रह के होते संते उस परिग्रह के संरक्षण अनुसार हुये आनंद से हिंसा और झूंठ तो अवश्य हो जावेंगे क्योंकि परिग्रही, रौद्रध्यानी अवश्य जीवों की हिंसा करता है। झूंठ भी बोलता है किन्तु परिग्रह होते संते चोरी और कुशील दोष किस प्रकार संभवेंगे बताओ जिससे कि पांचों पापों का अविनाभाव कह दिया जाय। यों प्रश्न करने पर ग्रन्थकार कहते हैं कि परिग्रहवाले जीव के दूसरे धन का परिग्रह कर लेने से

और स्त्री का ग्रहण कर लेने से सर्वथा निवृत्ति हो जाने का अभाव है। अर्थात् परिग्रह को इकट्ठा करने वाला पुरुष चोरी का त्याग नहीं कर सकता है। वेश्यायें या कतिपय व्यभिचारिणी स्त्रियां पुरुषों से धन के ग्रहण का उद्देश्य कर कुशील सेवन करती हैं। कतिपय पुरुष भी क्षेत्र, गृह, धन, खाद्य, पेय आदि परिग्रह की प्राप्ति का लक्ष्य कर मनचली धनाढ्य स्त्रियों के साथ गमन करते हैं। कतिपय परिग्रही जीव स्त्रियों, लड़कियों आदि का क्रय, विक्रय, कर धन उपार्जन करते हैं, कितने ही वृद्ध परिग्रही जीव चोरी या परस्त्रियों की अनुमोदना करते हैं। यों कृत, कारित, अनुमति से अनेक दोष लगते रहते हैं अतः परिग्रही के चोरी करने या स्त्रीग्रहण करने का परित्याग नहीं है। यदि उन चोरी और स्त्रीग्रहण की निवृत्ति मानी जायगी तो एक देश से हिंसादिक पापों से भी विरति हो जाने का प्रसंग आवेगा और ऐसी दशा में एक देशविरति और अविरत परिग्रहीपन का सर्वथा विरोध है जो एक देशविरति को धारण करता है वह परिग्रह संग्रह में आसक्त नहीं है किन्तु परिमितपरिग्रही होता संता अनेक परिग्रहों से विरक्त है।

एतेन सर्वथा हिंसायामनृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहाणामवश्यंभावः प्रतिपादितस्तत्रानृतादिभ्यो हिंसांगेभ्यो विरतेरसंभवात् संभवे वा सर्वथा हिंसानवस्थितेः ॥

पाँचों पापों का अविनाभाव होकर प्रवर्तन को कथन कर रहे इस प्रकरण करके यह सिद्धान्त भी समझा दिया गया है कि हिंसा नामक पाप क्रिया में अन्य झूंठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन चारों क्रियाओं का सभी प्रकारों से अवश्य हो जाना नियत है क्योंकि उस हिंसा आनन्दी जीव में हिंसा के अङ्ग हो रहे अनृत आदिकों से विरति हो जाने का असम्भव है। यदि विकल्प रख कर हिंसारत पुरुष में अनृत आदिकों से विरति हो जाने का सम्भव माना जायगा तो उस जीव की सभी प्रकारों से हिंसा में अवस्थिति नहीं हो सकती है। अर्थात् जो अनृत आदि से विरति कर रहा है वह जीव सर्वथा हिंसा में आसक्त नहीं है। सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत आदि के साथ उसके अहिंसाणुव्रत भी सम्भव रहा है। यों हिंसा के साथ चारों पापों का अविनाभाव दर्शा दिया गया है॥

तथैवानृते सर्वथा हिंसास्तेयाब्रह्मपरिग्रहाणामवश्यम्भावः प्रकाशितः हिंसांगत्वेनानृतस्य वचनात्तत्र तस्याः सामर्थ्यतः सिद्धेः। स्तेयाब्रह्मपरिग्रहाणामपि सिद्धेस्तदंगत्वान्यथानुपपत्तेः ॥

जिस प्रकार परिग्रह में या हिंसा में शेष चारों अव्रतों का अविनाभाव है तिस ही प्रकार अनृत नामक पाप में भी शेष हिंसा, झूंठ, चोरी, कुशील, परिग्रहों का सम्पूर्ण प्रकारों से अवश्यम्भाव प्रकाशित कर दिया गया है क्योंकि ग्रन्थों में अनृत का हिंसा के अंगपने कर के कथन किया गया है। अर्थात् "सर्वस्मिन्नप्यस्मिन् प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं यत्, अनृतवचनेऽपि तस्मान्नियतं हिंसा समवतरति" ॥ (पुरुषार्थसिद्ध्युपाय) स्वयं ग्रन्थकार ने असत्य का निरूपण करते समय कहा था "तेन स्वपरसंतापकारणं यद्वचोगिनां। यथा दृष्टार्थमप्यत्र तदसत्यं विभाव्यतं" ॥ अनृत भाषण करना हिंसा का अंग है, अतः अनृत में उस हिंसा की बिना ही सामर्थ्य से सिद्धि हो जाती है। साथ ही अनृत में चोरी, कुशील परिग्रहों की भी सिद्धि है कारण कि झूंठ को चोरी आदि का अंगपना अन्यथा बन नहीं सकता है। अथवा चोरी, कुशील परिग्रहों को झूंठ का अंग हो जाना अन्यथा यानी अवश्यम्भाव के बिना बन नहीं सकता है। जो जिसका अंग है उस अंग का अंगी भी वहाँ विद्यमान है, यों झूंठ बोलने वाले जीव के शेष चार अव्रतों की सत्ता भी पायी जाती है॥

तथास्तेये सर्वथा अवश्यंभाविनी हिंसा द्रविणहरणस्यैव हिंसात्वात् द्रविणस्य बाह्यप्राणात्मकत्वात्। तथाचोक्तं—"यावत्तद्द्रविणं नाम प्राणा एते बहिश्चराः। स तस्य हरते प्राणान्

भी यस्य हरते धनं ॥' इतिहिंसाप्रसिद्धौ चानृताब्रह्मपरिग्रहाणां सिद्धिस्तदंगत्वात् ॥

तिस ही प्रकार चोरी में भी सभी प्रकारों से हिंसा अवश्य हो जावेगी, क्यों कि धनका हरण करना ही हिंसा है। यद्यपि वास्तप्राण तो इन्द्रिय आदिक दश हैं तथापि धन को बाह्यप्राणस्वरूप माना गया है, और तिसी प्रकार अन्यग्रन्थों में कहा जा चुका है कि जो कुछ ये प्रसिद्ध हो रहे रुपया, भूमि, भूषण, प्रासाद आदिक धन नाम धारी हैं ये सब बढ़िया बाहरले प्राण हैं, जो चोर जिस जीव के धन को हर लेता है वह उसके प्राणों को ही हर लेता है—अर्थात् धन की चोरी हो जाने से हजारों जीवों की मृत्युयें हो जाती हैं। धन का वियोग हो जाने पर हाय करके अनेक जीव मर जाते हैं, असंख्य अधमरे हो जाते हैं, कितने ही चिन्ता, आधिव्याधियों से पीड़ित हो कर कुछ काल में मर जाते हैं। पुरुषार्थसिद्धयुपाय में भी कहा है। "अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत्। तत्प्रत्येयं स्तेयं सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात् ॥१॥ अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसां। हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान् ॥२॥" इस प्रकार चोरी करने में हिंसा की प्रसिद्धि हो जाने पर अनृत, कुशील, परिग्रह इन पाप कर्मों की भी सिद्धि हो जाती है, क्यों कि उन अनृत आदि अंगियों का यह चोरी अंग है अथवा अंगी चौर्य कर्म के ये अनृत आदिक सब अंग हैं। अंग और अंगी का अविनाभाव प्रसिद्ध है ॥

एवमब्रह्मणि सति हिंसायाः सिद्धिस्तस्या रागाद्युत्पत्तिलक्षणत्वात् स्वभोग्यस्त्रीसंरक्षणानंदाच्च हिंसायां च सिद्धायां स्तेयानृतपरिग्रहसिद्धिस्तदंगत्वात् तेषां तद्विरत्यभावाद्विरतौ वा सर्वथा तद्भावविरोधाद् देशविरतिप्रसंगात् ॥

परिग्रह, हिंसा, झूंठ और चोरी इन एक एक में शेष चारों अव्रतों का अविनाभाव जैसे कह दिया है इस ही प्रकार अब्रह्म के साथ भी शेष चारों पाप वर्त रहे हैं देखिये अब्रह्म यानी कुशील के होते सन्ते हिंसा की सिद्धि है ही क्योंकि राग आदि की उत्पत्ति होना उस हिंसा का लक्षण माना गया है— "अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति। तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥" यों रागादिक की उत्पत्ति होने से मैथुन में तीव्र भावहिंसा होती है। एक बात यह भी है कि स्वकीय भोगने योग्य स्त्रियों के संरक्षण में वैषयिक आनन्द मानने से भी भाव हिंसा बढ़ जाती है। द्रव्यहिंसा तो कुशील में जगत्प्रसिद्ध है। पुरुषार्थसिद्धयुपाय में लिखा है—"यद्वेदरागयोगान् मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म, अवतरति तत्र हिंसा वधस्य सर्वत्र सद्भावात् ॥१॥ हिंस्यंते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्, बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत् ॥२॥ यदपि क्रियते किंचिन्मदनोद्रेकादनंगरमणादि, तत्रापि भवति हिंसा रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात् ॥३॥ मैथुन में प्रवृत्ति कर रहा प्राणी थावर जंगम जीवों का विध्वंस कर रहा है। श्रुतसागरी में लिखा है—"तथाचोक्तं मैथुनाचरणे मूढ म्रियन्ते जन्तुकोटयः। योनिरन्ध्रसमुत्पन्ना लिंगसंघट्टपीडिताः। घाते घाते असंख्येया कोटयो जन्तवो म्रियन्ते इत्यर्थः तथा कक्षाद्वये, स्तनान्तरे, नाभौ, स्मरमन्दिरे च स्त्रीणां प्राणिन उत्पद्यन्ते तत्र करादिव्यापारे ते म्रियन्ते, मैथुनार्थं मृषावादं वक्ति अदत्तमप्याददते बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहं च ॥" यों मथुन क्रिया में तीव्रभावहिंसा और द्रव्यहिंसा प्रसिद्ध हो जाने पर चोरी, असत्य और परिग्रह की सिद्धि तो अनायास ही जाती है क्यों कि वे उसके अंग हैं। मैथुन करने से भी जीव के उन चोरी, झूंठ आदि से विरति हो जाने का अभाव है। अथवा कुशील वाले जीव के चोरी आदि से विरति मानी जायगी तब तो सर्वथा उस कुशील परिणाम के होने का विरोध हो जाने के कारण देशविरति ब्रह्मचर्य अणुव्रत हो जाने का प्रसंग आ जावेगा। ऐसी दशा में कुशील कथमपि नहीं हो सकता है। यों पाँचों में से प्रत्येक का इतर चारों अविरतियों के साथ अविनाभाव बन रहा बखान दिया गया है ॥

तदेवं वस्त्रपात्रदण्डाजिनादिपरिग्रहाणां न परिग्रहो मूर्छारहितत्वात् तत्त्वज्ञानादिस्वीकरणवदिति वदंतं प्रत्याह॥

यहाँ कोई कटाक्ष करता है कि सूत्रकार ने परिग्रह का लक्षण मूर्छा कहा सो ठीक है, जैनमुनि परिग्रहों का सर्वथा त्याग कर रहे आकिञ्चन्य धर्म में दृढ़ हैं। हां संयम का उपकरण होने से वे मुनि कमण्डलु, पिच्छिका, पुस्तकों को ग्रहण कर लेते बताये गये हैं। जब कि कमण्डलु आदि का परिग्रह मूर्च्छा का कारण न होने से परिग्रह नहीं माना जाता है, तब तो इसी प्रकार वस्त्र (कपड़ा) पात्र (पाथड़ा) दण्ड (त्रिदण्ड, एक दण्ड आदि) आजिन (मृग, व्याघ्र, सिंह का चमड़ा) आदि माला, चश्मा, घड़ी, जटा, कन्था, चीमटा, आदि परिग्रहों को भी परिग्रह पाप नहीं माना जाय (प्रतिज्ञा) मूर्च्छारहित होने से (हेतु) तत्त्वज्ञान, क्षमा, पिच्छिका आदि के अंगीकार करने समान (अन्वयदृष्टान्त) यह अनुमान ठीक है। अर्थात् लज्जा दूर करने के लिये वस्त्रका ग्रहण है जो कि कामुक स्त्री, पुरुषों, विकारों की निवृत्ति के लिये आवश्यक है। स्वयं की लज्जा का भी निवारण हो जाता है। साधु को जनता निर्लज्ज नहीं कहने पाती है। शुद्धभोजन या भैक्ष्यशुद्धि अनुसार अनेक भिक्षाओं को प्राप्त करने के लिये अथवा गुरु या रुग्ण-व्रती को भिक्षा का भाग देने के लिये पात्रकी आवश्यकता हो जाती है रुपया, पैसा धरने के लिये पात्र नहीं बांधा जाता है जिससे कि मूर्च्छा हो सके। इसी प्रकार कुत्ता, बिल्ली या सहचरियों को मारने के लिये दण्ड नहीं है केवल त्रिदण्डी या एक दण्डी साधु का अपना चिह्न दण्ड हाथ में उठाये रखना पड़ता है। अशुद्ध स्थल पर चमड़े को बिछाकर ध्यान लगा दिया जाता है। मयूरपिच्छिका के समान मृगचर्म, चमरीरुह, शंख आदि में सम्मूर्च्छन जीव नहीं उपजते हैं। जाप देने के लिये माला भी चाहिये। छोटे अक्षरों को देखने के लिये चक्षुरोगी साधु को उपनेत्र (चश्मा) धारना पड़ता है। सामायिक का समय देखने के लिये घड़ी की आवश्यकता है। जटायें तो अपने आप बढ़ जाती हैं। शरीर से उपजी उष्णता करके अनेक जीव मर जाते हैं। कन्था या वस्त्र से उन जीवों की रक्षा हो सकती है। इस प्रकार वावदूकता पूर्वक कह रहे कटाक्षकर्ता के प्रति आचार्य महाराज समाधान वचन को कहते हैं।

मूर्च्छा परिग्रहः सोपि नाप्रमत्तस्य युज्यते।
तथा विना न वस्त्रादिग्रहणं कस्यचित्ततः ॥२॥

मूर्च्छा करना परिग्रह है, यों इस सूत्र द्वारा परिग्रह का निर्दोष लक्षण किया गया है। वह परिग्रह भी अप्रमत्त जीव के नहीं पाया जाता है यह युक्ति पूर्ण सिद्धान्त है क्योंकि प्रमादरहित जीव के मूर्च्छा नहीं है तिस कारण उस मूर्च्छा के बिना किसी भी जीव के वस्त्र, पाथड़ा, आदि का ग्रहण करना नहीं सम्भवता है यों सिद्धान्त हो चुकने पर वस्त्र, आदि को ग्रहण करने वाले साधुवेशी या अन्य जीव सभी परिग्रहदोषवान् हैं। अर्थात् वस्त्र के रक्षण सीवन, धोवन, प्राप्ति, आदि में अनेक आरम्भ करने पड़ते हैं। प्रमेयकमलमार्तण्ड में लिखा है कि "ह्रीशीतार्तिनिवृत्त्यर्थं वस्त्रादि यदि गृह्यते। कामिन्यादिस्तथा किन्न कामपीडादिशान्तये॥ येन येन विना पीडा पुंसां समुपजायते। तत्तत्सर्वमुपादेयं लावकादि पलादिकम्॥" यों राग का कारण हो रहा वस्त्र तो परिग्रह ही है। भोजन या भिक्षा के लिये पात्र रखना भी परिग्रह है। मुनि एक ही स्थान पर श्रावक के घर जा कर पाणिपात्र द्वारा निर्दोष आहार लेते हैं। हाँ बहिरंग शुद्धि के लिये जलाधार कमण्डलु को रखना पड़ता है। साधु की ऊंची अवस्था में कमण्डलु और पिच्छी का त्याग हो जाता है। तीर्थंकर मुनि को कमण्डलु और परिहारविशुद्धिसंयमी को पिच्छिका की आवश्यकता नहीं है, चिह्नरूप से भले ही लिये रहें। इसी प्रकार दण्ड रखना तो परिग्रह ही है यह

कोई रत्नत्रय या आत्मशुद्धि का चिह्न नहीं है। चर्म तो साक्षात् त्रस जीवों का उत्पत्तिस्थान है। अपवित्र, अशुद्ध, अस्पृश्य ऐसे चर्म को देखने या छूने से जब गृहस्थ भी भोजन करना छोड़ देता है तो साधु ऐसे त्रस जीवों के घात से उपजे निकृष्ट पदार्थ को अपने पास कैसे रख सकते हैं ? अन्य चीमटा, घड़ी, आदिक भी संयम के उपकरण नहीं सम्भवते हैं। अतः मुनिजन मूर्छा के कारण हो रहे वस्त्र आदि उपधियों को परिग्रह मानकर उन से विरक्त रहते हैं।

लज्जापनयनार्थं कर्पटखण्डादिमात्रग्रहणं मूर्छाविरहेपि संभवतीति चेन्न, कामवेदनापनयनार्थं स्त्रीमात्रग्रहणेपि मूर्छाविरहप्रसंगात् तत्र योषिदभिष्वंग एव मूर्छेति चेत्, अन्यत्रापि वस्त्राभिलाषः सास्तु केवलमेकत्र तु कामवेदना योषिदभिलाषहेतु परत्र लज्जा कर्पटाभिलाषकारणमिति न तत्कारणनियमोस्ति, मोहोदयस्यैवान्तरंगकारणस्य नियतत्वात् ॥

कोई पर वादी कह रहा है कि लज्जा का निवारण करने के लिये केवल कपड़े का खण्ड, काठ की बनी हुई कौपीन, पीतल, मूंज का बना हुआ उपकरण आदि का ग्रहण करना मूर्छा से रहित होने पर भी सम्भव जाता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों तो कामजन्य वेदना का निराकरण करने के लिये स्त्रीमात्र का ग्रहण करने में भी मूर्छारहितपन का प्रसंग आ जायगा। अर्थात् जो कोई यों कहता है कि मूर्छा के न होने पर भी लज्जा के निवारणार्थं कपड़े आदि का ग्रहण है, वह यह भी कह सकता है कि मूर्छा के नहीं होने पर भी काम पीड़ा को दूर करने के लिये स्वल्पकाल पर्यन्त केवल स्त्री का ग्रहण है। वस्त्र से लज्जा दूर हो जाती है, स्त्री से कामपीड़ा निवृत्त हो कर आकुलता मिट जाती होगी, द्यूतक्रीड़ा की कण्डूया जुआ खेलने से अलग हो जायगी। इसी प्रकार अपमान, क्षुधा, निर्बलता, हास्य, कण्डूया, कारागृह वास, रिरंसा, दीनता, दरिद्रता आदि के निवारणार्थ हिंसा, झूंठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पाप क्रियाओं में निमग्न हो सकता है। अपमान आदि का निवारण करने वाला जीव मूंडा लगा देगा कि उक्त हिंसा आदि क्रियाओं में मेरे प्रमादयोग नहीं है जैसे कि लज्जा को दूर करने के लिये वस्त्रखण्ड आदि के ग्रहण में मूर्छा नहीं मानी जा रही है। इस पर यदि आक्षेपकार यों कहे कि वहां स्त्रीमात्र के ग्रहण में तो स्त्री का प्रेमालिंगन करना ही मूर्छा है अतः कोई भी साधु कामवेदना के प्रतीकारार्थ स्त्रीमात्र को ग्रहण करने में मूर्छा रहित नहीं कहा जा सकता है। यों कहने पर ग्रन्थकार कहते हैं कि तब तो अन्य स्थल पर भी मानों लज्जानिवारणार्थ वस्त्रखण्ड आदि के ग्रहण करने में भी वस्त्र की अभिलाषा करना ही वह मूर्छा समझी जाओ। केवल इतना ही अन्तर है कि एक स्थल पर तो स्त्री की अभिलाषा होने का कारण काम वेदना है और दूसरे स्थल पर कपड़े की अभिलाषा का कारण लज्जा हो रहा है। कहीं प्रतिहिंसा की अभिलाषा का कारण अपमान हो सकता है। सुवर्ण की अभिलाषा का कारण दरिद्रता हो सकती है। इस प्रकार उस मूर्छा के कारणों का कोई नियम नहीं है कि स्त्री प्रसंग करना, वस्त्राभिलाषा करना, कौत्कुच्य करना आदिक ही मूर्छा के नियत कारण होवें। मूर्छा के बहिरंग कारण असंख्यात हो सकते हैं। हां अन्तरंग कारण एक मोहनीयकर्म का उदय होना तो नियत है। वस्त्रखण्ड आदि के ग्रहण करने में अंतरंग कारण और बहिरंग कारण विद्यमान हैं अतः मूर्छा अवश्यंभाविनी है। तभी तो परिग्रह रहित साधु वस्त्र आदि का ग्रहण नहीं करते हैं ॥

एतेन लिंगदर्शनात् कामिनीजनदुरभिसंधिः स्यादिति तन्निवारणार्थं पटखण्डग्रहणमिति प्रत्युक्तं, तन्निवारणस्यैव तदभिलाषकारणत्वात्। नयनादिमनोहरांगानां दर्शनेपि वनिताजनदुरभिप्रायसंभवात् तत्प्रच्छादनकर्पटस्यापि ग्रहणप्रसक्तिश्च तत एव तद्वत्।

इस उक्त सयुक्तिक कथन से इस मन्तव्य का भी खण्डन हो चुका है कि लिंग के दर्शन से अलबेली कामिनी जनों के हृदय में कामवासना प्रयुक्त खोटे अभिप्राय उपजेंगे इस कारण उन कामिनियों के निकृष्ट अभिप्रायों की उत्पत्ति या लिंग देखने के निवारणार्थ साधु को वस्त्रखण्ड का ग्रहण करना उचित है। वस्त्रद्वारा गुह्य अंग का गोपन हो जाने से मनचली, अलबेली, नवेली, कामिनियों के दुरभिप्राय नहीं उपज सकेंगे। ग्रंथकार कहते हैं कि उसका निवारण करना ही वस्तुतः उनकी दूनी, चौगुनी अभिलाषाओं की उत्पत्ति का कारण है। अंगों को वह कामुक जीव गुप्त रखता है जिस के हृदय में कामवासना नागिन लहरें ले रही है। बालक अपने गुप्त अंगों को नहीं ढकता है, क्योंकि बालक के कषायभाव नहीं हैं। अनेक पुरुष, या स्त्रियां दूसरों के सुन्दर अंगों के निरीक्षणार्थ आनखशिख प्रयत्न करते हैं भले ही वे उस में सफल मनोरथ न हो सकें किन्तु मूर्छा या कुशील को हेतु मानकर पापास्रव तो हो ही जाता है। एक बात यह भी है कि कहां तक अंगों को ढका जायगा, नेत्र, दन्तावली, वक्षःस्थल, नाभि, हाथ, आदि मनोहर अंगों के देखने पर भी पुंश्चली वनिताजनों के कुत्सित अभिप्रायों का हो जाना सम्भवता है। ऐसा हो जाने उन नेत्र आदि को भले प्रकार ढक देने वाले कपड़े के भी ग्रहण करने का प्रसंग आ जावेगा कारण कि उस ही हेतु से यानी कामिनी जनों की निकृष्ट अभिलाषाओं का निवारण कर देने वाला होने से ही उस लिंग आच्छादक वस्त्र के समान नयन आदि का आच्छादक वस्त्र भी रखना पड़ेगा। ऐसी दशा में सुन्दर नेत्रवाले साधु की भला ईर्यासमिति कैसे पल सकेगी ? सुन्दर हाथ पांव वाले मुनि के एषणासमिति नहीं पल सकेगी। सुन्दरता की परिभाषा भी बड़ी विलक्षण है। किसी को कुरूपा का अंग ही देवांगना का सा स्वरूप जचता है, अन्य को अत्यन्त सुन्दर रूप भी विषवत् प्रतीत होता है। किस, किस की अपेक्षा साधु अपने अंग को छिपाते फिरेंगे। उलूक को सूर्य नहीं रुचता है, कमल को रात्रि नहीं रुचती है। कनैटा दूसरे की अच्छी आंख पर ईर्ष्या करता है। दरिद्रपुरुष मेला को बुरा समझता है। पण्डितों को मूर्खजन शत्रु समझते हैं। निर्धन पुरुषों की भावनाओं अनुसार बजाजखाना, सराफा, हलवाईहट्टा, नाजमण्डी, मेवाबाजार आदि सुन्दर वस्तुओं के क्रय विक्रय स्थान भले ही जन्म जन्मान्तरों के लिये भी मिट जाय उन्हें कोई आपत्ति नहीं होगी। वस्तुतः विचारा जाय तो अपनी पवित्र आत्मा में दुर्भावनाओं को नहीं उपजने देना ही स्वाधीन कर्तव्य है। जगत् की प्रक्रिया टाले नहीं टल सकती है। बालक के समान मुनि की निर्विकार चेष्टा होती है। दूसरों के अभिप्रायों को रोकने के लिये मुनि महाराज ने ठेका नहीं ले रखा है। दरिद्रों के खोटे अभिप्राय उत्पन्न होवेंगे एतावता बाजार या वस्त्र, आभूषणों का पहनना बन्द नहीं हो सकता है। तभी तो चारित्र मोह के उदय होने पर हुई मूर्छा को परिग्रह माना है। वस्त्रग्रहण में अवश्य मूर्छा है।

सोऽयं स्वहस्तेन बुद्धिपूर्वकपटखंडादिकमादाय परिदधानोपि तन्मूर्छारहित इति कोशपानं विधेयं, तन्वीमाश्लिष्यतोऽपि तन्मूर्छारहितत्वमेवं स्यात्। ततो न मूर्छामन्तरेण पटादिस्वीकरणं संभवति तस्य तद्धेतुकत्वात्। सा तु तदभावेपि संभाव्यते कार्यापायेपि कारणस्य दर्शनात्। धूमाभावेपि मुर्मुराद्यवस्थपावकवत्।

सो यह प्रसिद्ध हो रहा रक्तवस्त्रधारी संन्यासी या शुक्लवस्त्रधारी श्वेताम्बर साधु अपने हाथ करके बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न पूर्वक वस्त्रखण्ड, लंगोटी आदि को ग्रहण कर पुनः पहनता हुआ भी उसकी मूर्छा से रहित है यों कहते रहने में कोशपान कर लेना चाहिये। भावार्थ–सद्गृहस्थ यदि सामायिक करने बैठे उसका वस्त्र वायु आदिक से यहाँ वहाँ हट जाय पुनः वह यदि उस वस्त्र को वहाँ का वहीं अंग पर

सरका लेता है तो वह अवश्य मूर्छावान् है। आर्यिका भी यहाँ वहाँ खिसक गये वस्त्र को अपने हाथ करके लज्जावश बुद्धिपूर्वक पुनः पहन लेती है तो वह भी मूर्छायुक्त हो रही सामायिक भावों में स्थिर नहीं रह पाती है। किन्तु यहाँ वैष्णव सम्प्रदाय वाले या श्वेताम्बर जैन यों कहते हैं कि अपने हाथ द्वारा बुद्धिपूर्वक पटखण्ड आदि को ग्रहण कर पहिन रहा भी साधु मूर्छा रहित है ऐसे असत्यभाषण की उन वैष्णव या श्वेताम्बरों ने सौगन्ध ले रखी है अहिफेन खाने वाले या उद्भ्रान्त पुरुष उन्माद पूर्वक ऐसी रद्दी बातों को कहते हैं। यदि बुद्धिपूर्वक वस्त्रधारण कर रहा भी मूर्छा रहित है तो इसी प्रकार तन्वी (पतली तरुणी) का प्रेमालिंगन कर रहे साधु के भी उस तन्वी की मूर्छा से रहितपन का प्रसंग आ जावेगा। तिस कारण यह सिद्ध हो जाता है कि मूर्छा के बिना कपड़ा, दण्ड, पात्र आदिका स्वीकार करना कथमपि नहीं सम्भवता है क्योंकि उस मूर्छा को हेतु मान कर ही उस कपड़े आदिका स्वीकार करना कार्य उपजता है। हाँ वह मूर्छा तो उन पट आदि का ग्रहण के अभाव हो जाने पर भी सम्भावित हो रही है। अनेक पशु पक्षी या द्रव्यलिंगी साधुओं के प्रबल मूर्छा पायी जाती है। कार्य के न होने पर भी कारण देखा जाता है जैसे कि धूम के नहीं होने पर भी मुर्मुर आदि अवस्थाओं में अग्नि देखी जा रही है अर्थात् "न कारणानि अवश्यं कार्यवन्ति भवन्ति" कारणों से अवश्य कार्य हो जाने ही चाहिये ऐसा कोई नियम नहीं है। (मत्वर्थो जनकत्वं, हाँ "सामर्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरावैकल्ये" सामर्थ्य का प्रतिबन्ध नहीं होना और अन्यकारणों की परिपूर्णता हो जाने पर समर्थ कारण उत्तर क्षण में कार्य को अवश्य कर देता है। किन्तु "कार्याणि तु अवश्यं कारणवन्ति भवन्ति" कार्य तो अवश्य ही कारण वाले होते हैं। (जन्यत्वं मत्वर्थीयार्थः) कारणों के बिना कार्य का आत्मलाभ हो नहीं हो सकता है। अनन्तानन्त कारण अन्य सहकारी कारणों के नहीं मिलने पर कार्यों को किये बिना ही मर जाते हैं। सभी बीज अंकुरों को नहीं उपजा पाते हैं, लाखवां, करोड़वां भाग बीज अंकुर होकर उपजते हैं शेष बहुभाग खाने, घूड़े, खात, आदि में व्यय हो जाते हैं। गर्भोत्पादक शक्तियाँ बहुभाग नष्ट हो जाती हैं। सभी अंतरंग बहिरंग कारणों की यही दशा है। सभी कारण यदि कार्यों को कर बैठें तो स्थान ही नहीं मिले। यों "अर्थक्रियाकारित्वं वस्तुनो लक्षणम्" प्रत्येक कारण कुछ न कुछ तो कार्य करता ही रहता है, स्थान घेरना, भार रख देना, अपने ठलुआपन का ज्ञान करना, आदि साधारण कार्य होते रहते हैं जो कि अगण्य हैं। अतः कारण को कार्यवान् होने का नियम नहीं है। धानों के तुषों की अग्नि भीतर ही भीतर धधकती रहती है। बाहिर धुयें रूप कार्य को नहीं उपजाती है। अयोगोलक अंगार, मूभड़ की आग भी धुंयें को नहीं उत्पन्न करती है। इसी प्रकार प्रकरण में यह कहना है कि वस्त्र, पात्र आदि परिग्रहों का ग्रहण किये बिना भी अंतरंग कारण वश मूर्छा सम्भव जाती है। किन्तु जहाँ इच्छा प्रयत्न पूर्वक वस्त्र, दण्ड, चर्म, आदि का ग्रहण हो रहा है वहाँ तो मूर्छा अवश्य ही है।

नन्वेवं पिच्छादिग्रहणेपि मूर्छा स्यात् इति चेत्, तत एव परमनैर्ग्रन्थ्यसिद्धौ परिहारविशुद्धिसंयमभृतां तत्त्यागः सूक्ष्मसांपरायथाख्यातसंयमभृन्मुनिवत्। सामायिकछेदोपस्थापनसंयमभृतां तु यतीनां संयमोपकरणत्वात् प्रतिलेखनस्य ग्रहणं सूक्ष्ममूर्छासद्भावेपि युक्तमेव, मार्गाविरोधित्वाच्च।

अपने वस्त्र, आदिको ग्रहण करने के पक्ष का अवधारण कर रहा कोई पण्डित आक्षेप कर रहा है कि इस प्रकार तो जैनों के यहाँ पिच्छी, कमण्डलु, आदि के ग्रहण करने में भी साधु के मूर्छा हो जायगी। यों कहने पर तो ग्रन्थकार समाधान करते हैं कि तिस ही कारण से यानी पिच्छ आदि के ग्रहण में स्वल्प मूर्छा का अंश होने से ही जब परम उत्कृष्ट निर्ग्रन्थपन की सिद्धि हो जाती है तब परिविशुद्धि नाम के

संयम को धारने वाले मुनियों के उस पिच्छ आदिका त्याग हो जाता है। जैसे कि सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात संयम के धारी मुनियों के पिच्छ आदि का त्याग है। अर्थात्–"तीसं वासो जम्मे वासपुधत्तं खु तित्थयरमूले। पच्चक्खाणं पढिदो, संझूणा दुगाउपविहारो" जन्म से तीस वर्ष पर्यन्त पूर्ण आनन्द पूर्वक ठहरे पुनः दीक्षाग्रहण कर तीर्थंकर के सन्निकट सात, आठ वर्ष तक प्रत्याख्यान नामक पूर्व का अध्ययन करे उन मुनि के परिहारविशुद्धि संयम होता है। इनके वर्षाकाल में एक स्थान पर ही ठहरने का नियम नहीं है। परिहारविशुद्धि संयमवाले मुनि करके किसी जीव को बाधा नहीं पहुँचती है। प्रत्युत ये किसी जीव के ऊपर यदि बैठ भी जावें तो उस जीव को विशेष आनन्द मिलेगा। रोग, शोक दूर हो जावेंगे। अतः इनको पिच्छीग्रहण की आवश्यकता नहीं है "तित्थयरा तप्पयरा हलधर चक्की य वासुदेवा य। पडिवासुदेव भोमा आहारं णत्थि णीहारो॥" तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र, आदि के आहार है नीहार नहीं, ये मुनि हो जाते हैं तब भी इन मुनियों के मलमूत्र आदिका संसर्ग नहीं है अतः अंग शुद्धि के लिये राखे गये कमण्डलु की आवश्यकता नहीं [illegible] भले ही रख लिया जाय। विशेष ज्ञानी या अंग-वेत्ता मुनि महाराज शास्त्र भी नहीं रखते हैं। ज्ञान अल्प भी होय किन्तु कषायों का मन्द करना ही जिन का लक्ष्य होय वे भी शास्त्रों को रखने में उत्सुक नहीं रहते हैं। वीतरागभावों की वृद्धि हो जाने पर स्वयं श्रुतज्ञान बढ़ जाता है जो कि प्रकृष्टध्यान या श्रेणियों में उपयोगी है। लोक में भी देखा जाता है कि शास्त्र-ज्ञान थोड़े निमित्त से हो जाता है। छोटी आयु के पण्डित बड़े बूढ़े पचासों वर्ष स्वाध्याय करने वालों को पढ़ा देते हैं। मुनि अवस्था में घटाटोपों की आवश्यकता नहीं है। भेद विज्ञान हो गया बस बुद्धि पुरुषार्थ पूर्वक तेरह प्रकार चारित्र को पालते हुये कदाचित् उपाध्याय से अत्यल्प अध्ययन कर तत्त्ववेत्ता बन जाते हैं। उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी में भी पिच्छ, कमण्डलु नहीं हैं। हाँ छठवें गुणस्थान और निरतिशय अप्रमत्त सातमे गुणस्थान में मुनियों के पिच्छ आदि का ग्रहण है। यों सामायिक और छेदोपस्थापना नामक संयमों को धारने वाले मुनिमहाराजों के तो संयम साधने का उपकारी उपकरण होने से प्रमार्जन करने वाले प्रतिलेखन यानी पिच्छिका का ग्रहण करना समुचित ही है। भले ही पिच्छ या कमण्डलु के ग्रहण में सूक्ष्म मूर्छा का सद्भाव है तो भी प्राण संयम का विशेष उपकारी होने से पिच्छी का ग्रहण है। एक बात यह भी है कि संयम के उपकरण का ग्रहण करना मुनिमार्ग का विरोधक नहीं है प्रत्युत साधु-मार्ग के अनुकूल है। हाँ वस्त्र, पात्र, आदि का ग्रहण करना तो मोटी मूर्छा के अनुसार हुआ है और मुनिमार्ग निर्ग्रन्थता का विरोधी भी है॥

नन्वेवं सुवर्णादिग्रहणप्रसंगः तस्य नाग्न्यसंयमोपकरणत्वाभावात् तद्विरोधित्वात्। सकलोपभोगसम्यग्निबन्धनत्वाच्च। न च त्रिचतुरपिच्छमात्रमलाबूफलमात्रं वा किंचिन्मूल्यं लभते यतस्तदप्युपभोगसंपत्तिनिमित्तं स्यात्। न हि मूल्यदानक्रययोग्यस्य पिच्छादेरपि ग्रहणं न्याय्यं, सिद्धान्तविरोधात्॥

जिस प्रकार संयम का उपकरण हो रही पिच्छिका का ग्रहण है इस प्रकार सोना, चांदी, मोहर, नोट, गिन्नी, आदि के ग्रहण कर लेने का तो प्रसंग नहीं आता है। क्योंकि उस सुवर्ण आदि के ग्रहण को नग्नता या संयम के उपकरणपन का अभाव है प्रत्युत सुवर्ण आदि का ग्रहण करना उस संयम या नग्नता का विरोधी है। एक बात यह भी है कि सुवर्ण, रुपया आदि का ग्रहण करना तो सम्पूर्ण भोग उपभोगों का बहुत अच्छा कारण है। सोना, रुपया, आदि से अनेक उपभोग मोल लिये जा सकते हैं। आजकल सुवर्ण ही राष्ट्रकी अटूट सम्पत्ति मानी गयी है जिसके पास अधिक सोना है वही देश दूसरे देशों को

दर्शाकर सब के ऊपर प्रभाव जमाता है। किन्तु केवल तीन, चार, पिच्छों की बनी एक पिच्छिका अथवा मात्र शुष्क तूंबीफल (कमण्डलु) को यदि बेचा जाय तो कुछ भी मूल्य हाथ में नहीं प्राप्त होता है जिस से कि वह पिच्छिका या तूंबीफल भी उपभोग सम्पत्ति का निमित्त हो जाता। अर्थात् मयूर की तीन, चार, छह डंडीरें या तूंबीपात्र का कुछ भी मूल्य नहीं मिलता है। ऐसे संयमोपकरण रखने में मुनि के कोई मूर्छा नहीं है। हां मूल्य देकर क्रय विक्रय योग्य हो रहे अर्थात् जिन मूल्यवान् कमण्डलु, पिच्छिका को बेचकर भोग्य पदार्थ खरीदे जा सकते हैं ऐसे पिच्छी कमण्डलु आदि का भी ग्रहण करना न्यायोचित नहीं है। क्योंकि सिद्धान्त से विरोध हो जायगा। इस कथन से जो साधुवेशी मूल्यवान् उपकरण रखते हैं उनके रागपूर्ण मन्तव्यों का प्रत्याख्यान हो जाता है। मूल्यवान् उपकरणों में अवश्य मूर्छा हो जाती है। उन के संयोग वियोग में महान् राग-द्वेष उपजते हैं सुवर्ण आदि की तो बात ही क्या है॥

ननु मूर्च्छाविरहे क्षीणमोहानां शरीरपरिग्रहोपगमान्न तद्धेतुः सर्वः परिग्रह इति चेन्न, तेषां पूर्वभवमोहोदयापादितकर्मबंधनिबन्धनशरीरपरिग्रहाभ्युपगमात्। मोहक्षयात्तत्त्यागार्थं परमचारित्रस्य विधानादन्यथा तत्त्यागस्यात्यंतिकस्य करणायोगात्।

यहाँ कोई पण्डित अनुनयपूर्वक आपत्ति उठाता है कि मूर्छा के नहीं होने पर भी बारहवें गुणस्थान वाले क्षीणमोह मुनियों के औदारिक शरीर या कर्म शरीर रूपी परिग्रह स्वीकार किया गया है। इस कारण सभी परिग्रह उस मूर्छा को कारण मानकर होते हैं यह बात नहीं माननी चाहिये, सूक्ष्मराग का सद्भाव होने से दशमे गुणस्थान तक कथंचित् मूर्छा मानी जा सकती है। ग्यारहवें गुणस्थान में मूर्छा के कारण हो रहे चारित्र मोहनीय कर्म की सत्तामात्र है किन्तु बारहवें, तेरहवें, चौदहवें, गुणस्थानों में सर्वांगमूर्छा नहीं होते हुये भी शरीर का परिग्रह हो रहा देखा जाता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि मोह को क्षीण कर चुके उन जीवों के पूर्वभवों में मोह के उदय से अनचाहे आ गये कर्मबन्ध को कारण मानकर शरीर का परिग्रह हुआ स्वीकार किया जाता है। आठ कर्म शरीरों में से मोहनीय कर्म या चार घातिया कर्मों का क्षय हो जाने से शेष रहे उन चार अघाति कर्मों और नो कर्मों का परित्याग करने के लिये क्षीणमोह मुनि पुनः उत्कृष्ट चारित्र का पुरुषार्थ पूर्वक विधान करते हैं। अन्यथा यानी उस परम चारित्र के किये बिना उन कर्म नोकर्मों का अनन्तानन्त काल तक के लिये होने वाले त्याग का किया जाना नहीं हो सकेगा। अर्थात् बारहवें गुणस्थान के आदि में चारित्र मोहनीय का क्षय हो जाने पर यद्यपि चारित्र गुण प्रगट हो गया है तथापि आनुषंगिक दोषों के लग जाने पर वह परम चारित्र नहीं हो सका है। तेरहवें, चौदहवें में कुछ कर्मों का भोग करके और कतिपय कर्म बन्धों को तपश्चरण नामक पुरुषार्थ या केवलिसमुद्घात द्वारा समस्थिति अनुसार क्षय कर चौदहवें गुणस्थान के अन्त में परमचारित्र प्राप्त कर लिया जाता है उस से सम्पूर्ण परिग्रहों का त्याग कर दिया जाता है। सिद्ध अवस्था में अनन्त काल तक वह परमचारित्र नामक पुरुषार्थ सुदृढ़ बना रहता है अतः पुनः कर्मनोकर्म शरीरों का ग्रहण नहीं हो पाता है। प्रथम अध्याय में ग्रन्थकार ने इस परम चारित्र का अच्छा विवेचन कर दिया है॥

तर्हि तनुस्थित्यर्थमाहारग्रहणं यतेस्तनुमूर्छाकारणकमं युक्तमेवेति चेन्न, रत्नत्रयाराधननिबन्धनस्यैवोपगमात्। तद्विराधनहेतोरन्नस्याप्यग्रहणात्। न हि नवकोटिविशुद्धमाहारं भैक्ष्यशुद्ध्यनुसारितया गृह्णन् मुनिर्जातुचिद्रत्नत्रयविराधनविधायी, ततो न किंचित्पदार्थग्रहणं कस्यचिन्मूर्छाविरहे संभवतीति सर्वः परिग्रहः प्रमत्तस्यैवाब्रह्मवत्॥

जब कि पिच्छिका का ग्रहण सूक्ष्ममूर्छाकारण [illegible] हुआ। [illegible] है और [illegible] मोह या जीवन्मुक्तों के भी पूर्व भवसम्बन्धी मोह के उदय अनुसार हुये कर्मबन्ध करके शरीरों का परिग्रह स्वीकार किया गया है तब औदारिक शरीर की स्थिति के लिये षष्ठ गुणस्थानवर्ती मुनि का कवलाहार ग्रहण करना भला शरीर में हो रही मूर्छा को कारण मान कर हुआ यों यति के मोह सिद्ध करने में यह आहार ग्रहण समर्थ है यह बात समुचित ही मानी जायगी। अर्थात् मुनि जो आहार लेते हैं वह भी मूर्छा को कारण मान कर हुआ परिग्रह ही समझा जायगा। "मूर्छाकरणक्षमं" पाठ होने पर मुनि का आहार ग्रहण करना मूर्छा का कारण और कार्य हो जाने से अच्छा परिग्रह समझा जायगा। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीनों रत्नों की समीचीन आराधना के कारण हो रहे ही आहार ग्रहण को जिनागम में स्वीकार किया गया है हां उस रत्नत्रय की विराधना के हेतु हो रहे उस अनिष्ट, अनुपसेव्य, अभक्ष्य, आदि आहार का ग्रहण करना तो अभीष्ट नहीं किया गया है। मन, वचन, काय, सम्बन्धी प्रत्येक के कृत, कारित, अनुमोदना अनुसार हुई नौ कोटियों से विशुद्ध हो रहे आहार को भैक्ष्य शुद्धिज्ञापक आगम की अनुकूलता से ग्रहण कर रहा मुनि कदाचित् भी रत्नत्रय की विराधना को करने वाला नहीं है। स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग, के लिये शरीर उपयोगी है और शरीर में बल की प्राप्ति आहार पूर्वक है अतः दोषों और अन्तरायों को टालकर मुनि महाराज दिन में एक बार लघुभोजन करते हैं। अतः तत्त्वज्ञान के समान आहार का ग्रहण करना कोई मूर्छा का कार्य या मूर्छा का कारण नहीं है। अत्यल्प मूर्छा गणनीय नहीं है परमनिर्ग्रन्थपन की उपासना करने वाले तो आहार को भी छोड़ देते हैं। संन्यास मरण कर रहा श्रावक ही आहार और शरीर को परिग्रह मानकर छोड़ देता है। वस्त्र, पात्र आदि का ग्रहण करना पक्का परिग्रह है तिस कारण सिद्ध हुआ कि किसी भी मोही जीव या श्रावक या मुनि के किसी भी पदार्थ का ग्रहण करना मूर्छा के बिना नहीं सम्भवता है। इस प्रकार सम्पूर्ण परिग्रह प्रमादी जीव के ही सम्भवते हैं। जैसे कि अब्रह्म यानी कुशील क्रिया प्रमादी जीव के ही सम्भवती है। यों प्रमाद योग पूर्वक हुई मूर्छा परिग्रह है यह सूत्रकार का तात्पर्य निरवद्य है।

अथैतेभ्यो हिंसादिभ्यो विरतिर्व्रतमिति निश्चितं तदभिसंबंधात्तु यो व्रती स कीदृश इत्याह;—

हिंसा आदि के लक्षण अनन्तर इन हिंसा आदिकों से विरति हो जाना व्रत है। यों सातवें अध्याय के आदि सूत्र में कहे गये व्रत के लक्षण का निश्चय किया जा चुका है। अब आत्मा में उन व्रतों का चारों ओर सम्बन्ध हो जाने से जो व्रती हो जाता है वह व्रती जीव तो कैसा है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र को व्यक्त कर रहे हैं।

निःशल्यो व्रती ॥१८॥

मायाशल्य, मिथ्यादर्शन शल्य और निदान शल्य इन तीनों से रहित हो रहा जो व्रतों से युक्त है वह व्रती है। अर्थात् शल्यरहितपन और व्रतों के सम्बन्ध से व्रती होता है मात्र शल्यरहितपन व्रती नहीं है चौथे गुणस्थान वाला जीव कदाचित् निष्कपट, निर्निदान अवस्था प्राप्त हो जाने पर भी व्रती नहीं हो जाता है इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी केवल बाह्य व्रतों के धार लेने से व्रती नहीं समझ लिया जायगा॥

अनेकधा प्राणिगणशरणाच्छल्यं बाधाकरत्वादुपचारसिद्धिः। त्रिविधं माया, निदान,

मिथ्यादर्शनभेदात् ।

अनेक प्रकारकी शारीरिक मानसिक वेदना स्वरूप पैनी सलाइयों करके प्राणीसमुदाय की हिंसा करने से शल्य समझी जाती है। बाण का अग्रफलक जैसे शरीर में घुस कर अनेक बाधाओं को करता है उसी प्रकार माया आदिक शल्य भी शारीरिक, मानसिक, बाधाओं की कारण होने से शल्य के समान हो रहीं शल्यरूप से उपचरित हो जाती हैं यों माया आदिक में शल्यपने के उपचार की सिद्धि हो जाती है। "शल्यमिव शल्यं"। यह शल्य मायाशल्य, निदानशल्य, मिथ्यादर्शनशल्य, के भेद से तीन प्रकार है। छल करना, ठगना, धोखा देना इत्यादिक माया शल्य है, विषय भोगों की आकांक्षा करना निदान शल्य है। तत्त्वों का श्रद्धान नहीं कर अतत्त्वों का श्रद्धान किये बैठना मिथ्यादर्शन शल्य है। शरीर में या मसूड़ों में छोटी सी फांस लग जाती है वही खटकती रहती है सलाई शूल या बाण घुस जाय तब तो महान् दुःखपूर्ण खटका लगा रहता है। इसी प्रकार ये तीन शल्यें सदा अव्रती जीवों के चुभती रहती हैं। तीन शल्यों से रहित हो कर ही व्रतों को धारने वाला व्रती कहा जा सकता है।

कश्चिदाह—विरोधाद्विशेषणानुपपत्तिः; मिथ्यादर्शनादिनिवृत्तेर्व्रतित्वाभावात् सद्दर्शनादित्वसिद्धेर्व्रताभिसंबंधादेव व्रतित्वघटनात्। विरुद्धं व्रतित्वस्य निःशल्यत्वं विशेषणं दण्डित्वस्य चक्रित्वविशेषणवत्। तदविरुद्धेपि विशेषणस्यानर्थक्यं वान्यतरेण गतार्थत्वात्। निःशल्य इत्यनेनैव व्रतित्वसिद्धिर्व्रतिग्रहणस्यानर्थक्यं व्रतीति वचनादेव निःशल्यत्वसिद्धेस्तद्वचनानर्थक्यवत्। विकल्प इति चेन्न, फलविशेषाभावात् निःशल्य इति वा व्रतीति वा स्यादिति। विकल्पे हि न किंचित्फलमुपलभामहे। न च व्यपदेशद्वयमात्रमेव फलं। संशयनिवृत्तिः फलमित्यपि न सम्यक्, तदविनाभावादेव संशयनिवृत्तेर्विपर्ययानध्यवसायं निवृत्तिवदिति।

यहाँ कोई तर्कबुद्धि पण्डित लम्बा चौड़ा पूर्वपक्ष उठाकर कह रहा है कि शल्यरहितपना और व्रतसहितपना यों ये दोनों ही विरुद्ध हैं। शल्य रहित होने से कोई व्रती नहीं हो सकता है। जैसे कि पुस्तक रहित हो जाने से कोई विद्यावान नहीं हो सकता है या दण्ड रहित हो जाने से कोई छत्र सहित नहीं हो सकता है। इसी प्रकार मिथ्यादर्शन आदि तीनों शल्यों की निवृत्ति हो जाने से व्रती हो जाने का अभाव है। सम्यग्दर्शन अथवा समीचीनरीत्या प्रथम प्रतिमाधारी दार्शनिक आदिपन की सिद्धि हो जाने कारण व्रतों का आत्मनिष्ठ सम्बन्ध हो जाने से ही व्रतीपना घटित हो जाता है। एक बात यह भी है व्रती होने का निःशल्यपना विशेषण विरुद्ध है जैसे कि दण्डधारीपन का चक्रसहितपना विशेषण विरुद्ध यदि उन शल्यरहितपन और व्रतसहितपन विशेषणों को अविरुद्ध भी मान लिया जाय तथापि एक शेषण का व्यर्थपना है क्योंकि निश्शल्यपन और व्रतीपन दोनों में से एक करके ही अभीष्ट अर्थ प्राप्त हो वेगा। जैसे कि "उपयोगवान् आत्मा" यहां आत्मत्व या उपयोग दोनों में से एक ही करके इष्टसिद्धि जाती है दोनों एक ही तो हैं। जब कि निःशल्य यों इस कथन कर के ही व्रतीपन की सिद्धि हो जाती सी दशा होने पर सूत्र में व्रती का ग्रहण करना व्यर्थ है जैसे कि व्रती यों कथन करने से ही जब निश्शल्य सिद्ध हो जाता है अतः उस निःशल्यपन का वचन व्यर्थ पड़ता है। यदि यहां कोई यों कहे कि यहां रूप है शल्यरहित भी उत्तरवर्ती सूत्र करके अगारी या अनगार हो सकता है अथवा व्रती भी री वा अनगार हो सकता है यों विशेषणविशेष्यसम्बन्ध भी बन जाता है। उत्तर में कश्चित् कहता कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों विकल्प करने से विशेषफल का अभाव है। एक पक्ष में निश्शल्य

यों कह दिया जाय , अथवा द्वितीय पक्ष में व्रती यों हो जावे इस प्रकार विकल्प करने में जब कि हम किसी [illegible] शब्द बोल देना ही कोई फल नहीं हो जाता है। देवदत्त को दाल से या दही से अथवा घी से भोजन करा देना यहां विकल्पों का न्यारा फलविशेष है। किन्तु निश्शल्य अथवा व्रती यों नाममात्र दो के कथन करने का कुछ भी फल नहीं है। यदि कोई कहे कि संशय की निवृत्ति हो जाना फल है। कोई निश्शल्य को व्रती से भिन्न हो जाने का यदि संशय कर ले तो इस संशय की निवृत्ति "निश्शल्यो व्रती" कहने से हो जाती है। कश्चित् पण्डित कहते हैं कि यह समाधान करना भी समीचीन नहीं है। क्योंकि उन निश्शल्यपन और व्रतीपन का अविनाभावसम्बन्ध होने से ही संशय की निवृत्ति हो जाती है जैसे कि दोनों के अविनाभाव का निर्णय हो जाने से विपर्यय और अनध्यवसाय नाम के समारोपों की निवृत्ति हो जाती है। यहां तक कश्चित् पण्डित पूर्व पक्ष कर रहा है।

अत्राभिधीयते—न वांगांगिभावस्य विवक्षितत्वात्। निःशल्यव्रतित्वयोरत्रांगांगिभावो विवक्षितः। प्रधानानुविधानादप्रधानस्य प्रधानं हि व्रतित्वमंगि। तन्निःशल्यत्वमप्रधानमंगभूतमनुविधत्ते, यत्र व्रतित्वं तत्रावश्यं निःशल्यत्वं भवतीति न तस्य तेन विरोधो नापि विशेषणं तदनर्थकं। न विकल्पोपगमो। न च फलविशेषाभावोपि प्रधानगुणदर्शनेन मतांतरव्यवच्छेदस्य फलस्य सिद्धेः। तेन कृतनिदानस्यापि मायाविनो मिथ्यादृष्टेश्च हिंसादिभ्यो विरतावपि व्रतित्वाभावः सिद्धः। मायानिदानमिथ्यादर्शनरहितस्यापि चासंयतसम्यग्दृष्टेर्व्रतित्वाभावः प्रतिपादितः स्यात् ततः॥

अब यहाँ आचार्य महाराज करके समाधान वचन कहा जाता है, कि उक्त दोष देना ठीक नहीं, कारण कि यहाँ अंगभाव और अंगीभाव की विवक्षा की जा चुकी है। निश्शल्यपन और व्रतीपन का यहाँ निश्चय से अंग-अंगीभाव मानना विवक्षा प्राप्त हो रहा है। व्रतीपना अंगी है उसका अंग निश्शल्यपना है। शल्य छूटेंगी और व्रत आवेंगे तब व्रती कहा जायगा। जैसे कि बहुत दूध, घी वाले गोपाल को गोमान् कहा जाता है। अनेक ठल्ल गोओं के होने पर भी गायवाला कहना शोभा नहीं देता है। जो निश्शल्य हो कर व्रती है वही सच्चा व्रती है। अप्रधान पदार्थ अपने अंगी प्रधान का अनुविधान यानी अनुकूल आचरण किया करता है। जब कि व्रतीपना यहाँ प्रधान है अंगी है वह निश्शल्यपन, अप्रधान, अंग भी उस व्रतीपन का अनुविधान करता रहता है निश्शल्यत्व और व्रतित्व में अंग अंगीभाव सम्बन्ध है। कोई भी किसी का उपकार कर सकता है यहाँ विशेषतया व्रतीपन में निश्शल्यपना उपकार करता है। कश्चित् का निश्शल्यत्व और व्रतित्व में विरोध दोष उठाना ठीक नहीं। क्योंकि जहाँ व्रतीपना है वहाँ निश्शल्यपना अवश्य होता है। इस कारण उस व्रतित्व का उस निश्शल्यत्व के साथ विरोध नहीं है। कश्चित् ने, जो उस व्रतीपन का विशेषण हो रहे उस निश्शल्यपन को व्यर्थ कहा था वह भी ठीक नहीं है क्योंकि व्रती का शल्यरहितपना विशेषण सार्थक है। शल्यरहित होते हुये ही व्रती हो सकता है अन्यथा नहीं। निश्शल्य अथवा व्रती यों विकल्प का स्वीकार करना भी बुरा नहीं है। जैसा कश्चित् ने विकल्प का निषेध करते हुये विशेषफल का अभाव कहा था, जब कि यहां फलविशेष दीख रहा है तो फलविशेष का अभाव कहना भी समुचित नहीं है। व्रतीत्व और निश्शल्यत्व की प्रधानता और गौणता दिखलाने करके अन्य मतों का व्यवच्छेद हो जाना रूप फल की सिद्धि हो जाती है। तिस कारण निदान कर चुके भी मायावी और मिथ्यादृष्टि जीव के हिंसा आदिकों से विरति होने पर भी व्रतीपन का अभाव सिद्ध हो चुका

क्योंकि शल्यों के होते हुये व्रतों के सद्भाव से व्रती नहीं हो सकता है। बात यह है कि शल्यों के होते सन्ते वस्तुतः वे व्रत ही नहीं हैं व्रताभास हैं तभी तो निश्शल्यत्व और व्रतीत्व का सामानाधिकरण्य बन रहा है। दूसरी बात यह है कि माया, निदान, मिथ्यादर्शन इन तीनों शल्यों से रहित हो रहे भी किसी असंयत सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थानवाले जीव के व्रतों के नहीं होने पर व्रतीपन का अभाव है। अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण तथा संज्वलन कषायों के उदय अनुसार मायाचार यद्यपि चौथे गुणस्थान में पाया जाता है, निदान भी पांचवें गुणस्थान तक सम्भवता है किन्तु यहां शल्यों में तीव्रमायाचार और प्रव्यक्त निदान अभिप्रेत हैं यों "निश्शल्यो व्रती" इस प्रकार विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्ध अनुसार कहने पर विशेषफल समझा दिया गया हो जाता है तिस प्रकार विवरण करने से जो निष्कर्ष निकला उस को वार्तिक द्वारा यों समझिये कि:—

निःशल्योऽत्र व्रती ज्ञेयः शल्यानि त्रीणि तत्त्वतः।
मिथ्यात्वादीनि सद्भावे, व्रताशयविपर्ययः ॥१॥

प्रकरण अनुसार यहाँ सूत्र में कहा गया जो निश्शल्य जीव है वह व्रतधारी व्रती समझ लिया जाय। तात्त्विकरूप से मिथ्यात्व आदिक शल्य तीन मानी गयी हैं। जीवों के उन शल्यों का व्यस्त या

समस्तरूप से सद्भाव होने पर व्रतधारण के अभिप्रायों का विपर्यय हो जाता है। अर्थात् व्रती होने के लिये निश्शल्यपन रंगभूमि है। निश्शल्यता होना ही कठिन है पुनः व्रतों का धारण सुलभ साध्य है। व्रतीशब्द का योगविभाग कर "निश्शल्यो व्रती व्रती" यों वाक्य बनाते हुये शल्यरहित होकर व्रतधारी को व्रती कहना अक्षुण्ण बन जाता है।

स पुनर्व्रती सागार एवानगार एवेत्येकांतताया कृतये सूत्रकारः प्राह;—

वह व्रती फिर गृहस्थ ही है अथवा गृहरहित साधु ही व्रती है इस प्रकार के एकान्तों का निराकरण करने के लिये सूत्रकार महाराज बहुत बढ़िया निर्णय कह रहे हैं।

अगार्यनगारश्च ॥१९॥

वह व्रती आगारी, अनगार, यों दो भेदों में विभक्त है। भावरूप से पकड़ा गया घर जिसके समान है वह गृहस्थ अगारी नाम का व्रती है और जिस त्यागी मुनि के भावरूपेण घर नहीं है वह अन[illegible] व्रती है। यहाँ भी मात्र गृहसहितपन और गृहरहितपन से अगारी और अनगार की लक्षण व्यवस्था [illegible] है किन्तु भविष्य सूत्र अनुसार अणुव्रतों के धारण से अगारीपना निर्णीत समझा जाय और बिना कहे [illegible]सामर्थ्य से महाव्रतों के धारण अनुसार अनगारपना व्यवस्थित हो रहा मान लिया जाय।

प्रतिश्रयार्थिभिरंगनादगारं। अनियमप्रसंग इति चेन्न, भावागारस्य विवक्षितत्वात् तद[illegible]स्तीत्यगारी। व्रतीत्यभिसंबन्धः व्रतिकारणसाकल्याद्गृहस्थस्याव्रतित्वमिति चेन्न। नैग[illegible]व्यवहारव्यापारानगरवासवद्राजवद्वा। नैगमव्यापाराद्धि देशतो विरतः सर्वतो विरति[illegible]भिमुखसंकल्पो व्रती व्यपदिश्यते नगरवासत्वराजत्वाभिमुखस्य नगरवासराजव्यपदेशवत्।

प्रतिश्रय यानी ठहरने के लिये स्थान की लिप्सा को कर रहे जीव की अभिलाषा करके जो [illegible] किया जाता है वह अगार है यों अगार शब्द की निरुक्ति कर घर अर्थ निकाला गया है। ऐसा घर

जिस के विद्यमान है वह अगारी है। जिसके घर नहीं वह अनगार मुनि है। श्रावकाचारों में गृहस्थ की पहली छह प्रतिमाओं में गृह का अर्थ स्त्री किया गया है शेष पांच प्रतिमाओं में गृह का अर्थ घर या घरसरीखा उपवन है। गृह का अर्थ गृहिणी करते हुये भी घर को छोड़ा नहीं गया है। अतः यहाँ सामान्य-रूप से अगार का अर्थ घर लिया जाये यह शंका उठती है कि घर सहितपन या घर रहितपन से कोई गृहस्थ, व्रती या मुनिव्रती का नियम नहीं है अतः उक्त सूत्र अनुसार कोई नियम नहीं हो सकने का प्रसंग आया। देखिये सूने घर या देवस्थान आदि में कुछ देर तक निवास कर रहे मुनि को गृह सहितपना प्राप्त हुआ। गृहस्थों के घर में भी आहार करते समय मुनि ठहरते हैं। पश्चात् भी कुछ धर्मोपदेश देते हुये ठहर जाते हैं। तथा जिसकी विषयतृष्णायें दूर नहीं हुई हैं ऐसा गृहस्थ भी किसी कारण से घर को छोड़कर वन में निवास करता है। आजीविका के वश हजारों मनुष्य घर छोड़ कर बाहर वनों में, खेतों में, पहाड़ों में पड़े हुये हैं एतावता वे अगार रहित हो रहे हैं। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह शंका तो नहीं करना क्योंकि यहाँ हृदय में विचार लिये गये भाव-स्वरूप घर की विवक्षा की गयी है। अन्तरंग में चारित्र मोहनीय कर्म का उदय होते सन्ते घर के सम्बन्ध से जो तृष्णा का नहीं हटना है वह भावागार है इस श्रावक के वह भावागार है इस कारण अगारी कहा जाता है। भले ही वह वन में, पहाड़ में, समुद्र में, आकाश, पाताल, में निवास करे तो भी वह अगारी है और मुनि महाराज चाहे धन धान्य जन पूर्ण घर में ही कुछ समय तक ठहरे रहें वे भावागार नहीं होने से अनगार ही हैं। यहां सूत्र में पूर्व सूत्र से व्रती का दोनों ओर से सम्बन्ध कर लेना चाहिये। अगारी व्रती और अनगारी व्रती यों दो व्रती हैं। यहां कोई आशंका उठाता है कि व्रतों होने के कारणों की असंपूर्णता होने से गृहस्थ को व्रती नहीं कहना चाहिये। अर्थात् जब "हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतं" यों व्रतों का लक्षण माना है तो सकल व्रतों की पूर्णता नहीं होने से श्रावक को व्रती नहीं कहा जा सकता है। जैसे कि एक या दो हरी वनस्पति का त्याग कर देने से या दिन में चोरी का त्याग कर देने से कोई व्रती नहीं हो जाता है। पूरा लाख, पचास हजार रुपये होने से धनी कहा जा सकता है एक पैसा या एक रुपया के धन से कोई धनी नहीं हो जाता है। पूर्ण विद्यायें होने से विद्वान् कहना ठीक है किसी एक विद्या में मात्र चञ्चुप्रवेश हो जाने से विद्यावान् नहीं। आचार्य कहते हैं कि यह नहीं कहना क्योंकि नैगम, संग्रह, और व्यवहार, इन नयों के व्यापार से असकलव्रती गृहस्थ को भी व्रती कह दिया गया है। जैसे कि पूरे नगर में नहीं ठहर कर एक डेरे या घर के कोने में ठहरता हुआ कोई मनुष्य केवल नगर के एक देश में निवास करता है फिर भी वह कलकत्ता निवासी, आगरा वासी, सहारनपुर वासी कहा जाता है। इसी प्रकार व्रतों के एक देश में अधिष्ठित हो रहा गृहस्थ व्रती कहा जा सकता है। अथवा राजा होने योग्य राजपुत्र को जैसे राजा कह दिया जाता है इसी प्रकार मुनिधर्म में अनुराग करने वा[illegible] श्रावक होता है। कालान्तर में पूर्ण व्रतों को धारेगा अतः नैगम नयकी अपेक्षा वर्तमान में भी व्रती कहा [illegible] सकता है। और भी नैगम नय के व्यापार से विशेषतया यों समझिये कि एक देश से हिंसा आदि[illegible] परित्याग करता हुआ गृहस्थ अवश्य ही सम्पूर्ण रूप से हिंसा आदि की विरति के प्रति अभिमुख हो [illegible] संकल्प कर रहा सन्ता ही व्रती इस शब्द करके व्यवहृत होता है जैसे कि नगर के बहुभागों में नि[illegible] करने के अभिमुख हो रहा पुरुष नगरावास शब्द कर के कहा जाता है। और राजपने के अभिमुख [illegible] रहे राजपुत्र को राजापन का व्यपदेश कर दिया जाता है। अथवा बत्तीस हजार देशों के अधिप[illegible] सार्वभौम राजा कहते हैं। फिर भी एक देश का अधिपति भी राजा कहा जा सकता है। तिसी [illegible] अठारह हजार शील और चौरासी लाख उत्तर गुणों का धारी अनगार ही पूर्णव्रती है किन्तु अणु[illegible] का धारी श्रावक भी व्रती कहा जा सकता है। अन्यथा धनी, विद्यावान्, कलावान्, तपस्वी, कुलवा[illegible]

आरोग्यतावान् , रूपवान्, बलवान् आदि की कोई व्यवस्था नहीं बन सकेगी। जगत् में एक से एक बढ़ कर धनी आदि हो चुके हैं। पूर्ण धनी आदिक तो विरल हैं। अल्पज्ञान, अल्पधन आदि से भी ज्ञानवान् धनवान् की व्यवस्था करनी ही पड़ेगी ॥

संग्रहनयाद्धाणुव्रतमहाव्रतव्यक्तिवर्तिव्रतत्वसामन्यादेशादणुव्रतोऽपि व्रतीष्यते नगरैकदेशवासिनो नगरवासव्यपदेशवत् देशविषयराजस्यापि राजव्यपदेशवच्च ।

नैगम नय अनुसार श्रावक का व्रती हो जाना समझा दिया गया है क्योंकि नैगम नय संकल्प मात्र को ग्रहण करता है श्रावक के सकलव्रती होने का संकल्प हो रहा है। तथा सामान्य रूपसे कच्चे, पक्के, छोटे, अधूरे, हेठे, आदि सभी विशेषों का संग्रह करने वाली संग्रह नय से तो अणुव्रत और महाव्रत इन सम्पूर्ण व्रतव्यक्तियों में वर्त रहे व्रतत्व सामान्य का कथन कर देने की विवक्षा से तो छोटे व्रतों का धारी गृहस्थ भी व्रती कहा गया इष्ट किया जाता है जैसे कि नगर के एक देश में निवास कर रहे पुरुप का "नगरवासी" यों व्यवहार कर दिया जाता है। तथा जैसे मालवा, पंजाब, मेवाड़, ढूँढाड़, गुजरात, बंगाल, विहार, सिन्ध, काठियावाड़, आदि प्रान्त या सर्बिया, बलगेरिया, पैटोगोनिया, अजील, पैरू, स्कोटलेण्ड, मिश्र आदि द्वीप एवं ग्राम नगर समुदायस्वरूप एक प्रान्त या एक देश के राजा को भी राजापने का व्यवहार कर दिया जाता है। जबकि [illegible] राजा को राजा कहना चाहिये। भारतवर्ष में क्वचित् एक प्रान्त में कतिपय राजा विद्यमान हैं। अकेले बुन्देलखण्ड में पचास, चालीस राजा होंगे। मारवाड़ में ही दश, बीस राजा हैं। थोड़ी सी रियासत के अधिपति या जमींदार अथवा किसी किसी सेठ को भी राजा पदवी दे दी जाती है। यों सम्पूर्ण रूप से राजा नहीं होते हुये भी पचास, सौ गाँवों के अधिपति को जैसे राजापना व्यवहृत हो जाता है उसी प्रकार संग्रहनय से अणुव्रती का भी व्रतियों में संग्रह हो जाता है।

व्यवहारनयादेशतो व्रत्यप्यगारी व्रतीति प्रतिपाद्यते तद्वदेवेत्यविरोधः ।

तीसरे व्यवहार नय से संव्यवहार करने पर एक देशसे व्रती हो रहा भी गृहस्थ व्रती है यों व्यवहारियों में कह दिया जाता है। उस के ही समान अर्थात् जैसे एक देश या आधे विषय अथवा दश बीस ग्रामों के अधिपति को भी राजा कह दिया जाता है। यों नैगम संग्रह व्यवहारनयों अनुसार गृहस्थ को भी व्रती कह देने में कोई विरोध नहीं आता है। यहाँ तक अगारी शब्द की टीका हो चुकी है।

न विद्यते अगारमस्येत्यनगारः स च व्रती सकलव्रतकारणसद्भावात्। ततो अगृहस्थ एव व्रतीत्येकांतोऽप्यपास्तः ॥

अब अनगार का अर्थ कहा जाता है। जिस किसी इस जीव के अगार यानी घर नहीं विद्यमान है, इस कारण अनगार कहा जाता है। वह अनगार हो रहा सन्ता व्रतों का धारी है क्योंकि [illegible]यों के सम्पूर्ण व्रतों के कारणों का सद्भाव है। तिस कारण यानी गृहस्थ और अगृहस्थ दोनों को [illegible]त के कारणों का सद्भाव हो जाने से इस एकान्त आग्रह का भी निराकरण किया जा चुका है कि [illegible]थ भिन्न हो रहा मुनि ही व्रती होता है गृहस्थ व्रती नहीं होता है। अथवा दोनों के व्रतीपन का विधान [illegible]ाने से गृहस्थ ही व्रती होता है, मुनिजन व्रती नहीं इस कदाग्रह का प्रत्याख्यान कर दिया जाता है ॥ [illegible] अपरंपार लीला के धारी जगत् में ऐसे भी सम्प्रदाय हैं जो कि साधुओं को नहीं मानकर गृहस्थ [illegible]वस्था से ही निःश्रेयस प्राप्ति हो जाने को अभीष्ट करते हैं। और गृहस्थ को अल्प भी व्रती नहीं मानकर

केवल साधुओं को ही व्रती मानने वाली आम्नायों की भी कमी नहीं है। जैन सिद्धान्त अनुसार अगारी और अनगार दोनों भी व्रती समझे जाते हैं।

नन्वेवमनगारस्य पथिकादेः व्रतित्वं स्यादित्याशंकामपास्यन्नाह—

अनगार पनि का इस प्रकार गृहरहितपना लक्षण करने पर यहाँ आशंका उपजती है कि तब तो अगार रहित हो रहे पथिक (बटोही या रास्तागीर) कृषक, नाविक, प्रवासी, अनाथ, निर्वासित, (निकाल दिया गया) आदि जीवों के भी व्रती हो जाने का प्रसंग आ जावेगा। इस प्रकार हुई आशंका का निराकरण कर रहे ग्रन्थकार उत्तर वार्तिक को कह रहे हैं॥

सोऽप्यगार्यनगारश्च भावागारस्य भावतः।

अभावाच्चेति पांथादेर्नानगारत्वसंभवः ॥१॥

वह शल्य रहित हो रहा व्रतों का धारी व्रती भी गृहस्थ और अनगार इन दो भेदों से दो प्रकार है यह सूत्रकार द्वारा कह दिया है। अगार पद से यहां भाव घर यानी परिणामों में घर का अनुराग रखना लिया गया है। उस भावघर के सद्भाव से अगारी और भावघर के अभाव से अनगार व्रती हुआ समझना चाहिये। इस कारण पथिक आदि को अनगारपने की सम्भावना नहीं है। क्योंकि पथिक आदि के तत्कालीन गृहवास नहीं होते हुये भी अभ्यन्तर परिणामों में गृहवास का तीव्र अभिष्वंग हो रहा है। तथा घर में बैठकर आहार कर रहे या किंचित् काल उपदेश दे रहे मुनि महाराज के घर का सम्बन्ध होते हुये भी घर की भाव गृद्धि नहीं होने से उसी प्रकार गृहस्थपना नहीं है जैसे कि वस्त्रधारीपन को उपसर्ग सह रहे चेलोपसृष्ट मुनि के तन्तुमात्र भी परिग्रह नहीं माना जाता है।

कः पुनरगारीत्याह;—

यहाँ कोई प्रश्न उठाता है कि क्रम अनुसार व्रतों की दृढ़ता के उपासक होने से आदि में कहे गये अगारी का लक्षण फिर क्या है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्रको कह रहे हैं॥

अणुव्रतोऽगारी ॥२०॥

जिस के पाँचों व्रत अल्प हैं वह जीव अगारी यानी श्रावक कहा जाता है। अर्थात् हिंसा आदिक पाँचों पापों में से किसी एक या दो पापों की निवृत्ति हो जाने से ही अणुव्रती नहीं समझा जाय किन्तु पाँचों ही व्रतों की विकलता हो जाने से अणुव्रती बनने की विवक्षा है। अणु शब्द का अन्व विरति के साथ है।

अणुशब्दः सूक्ष्मवचनः सर्वसावद्यनिवृत्त्यसंभवात्। स हि द्वीन्द्रियादिव्यपरोपणे निवृत्त स्नेहद्वेषमोहावेशादसत्याभिधानवर्जनप्रवणः, अन्यपीडाकरात् पार्थिवभयाद्युत्पादितनिमित्तादप्र त्तात् प्रतिनिवृत्तः, उपात्तानुपात्तान्यांगनासंगाद्विरतिः; परिच्छिन्नधनधान्यक्षेत्राद्यवधिगृही प्र तव्यः॥ सामर्थ्यात् महाव्रतोऽनगार इत्याह—

सूत्र में पड़ा हुआ अणुशब्द सूक्ष्म अर्थ को कह रहा है। जिस जीव के पाँचों व्रत अणु य सूक्ष्म हैं वह अणुव्रत यानी अणुव्रती है। अणूनि व्रतानि यस्य स अणुव्रतः (बहुव्रीहि समास) सम्पूर्ण

पाप सहित क्रियाओं से निवृत्ति होने का असम्भव हो जाने इस गृहस्थ के व्रत छोटे कहे जाते हैं। वह अणुव्रती श्रावक नियम से द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि प्राणियों की संकल्प पूर्वक हिंसा करने में निवृत्त हो रहा है। इतना ही इसके अहिंसाणुव्रत है। अपने कार्य के लिये वह पृथिवी, जल, तेज, वायुकायिक जीवों की और अनन्तकायवर्जित वनस्पति जीवों की विराधना कर देता है तथा वह स्नेह, द्वेष और मोह का आवेश हो जाने से असत्य बोलने के परित्याग में प्रवीण रहता है। ह, अनेक स्थलों पर सूक्ष्मझूंठ बोल देता है, यह गृहस्थ का सत्याणुव्रत है। अन्य को पीड़ा करने वाले अदत्तादान से और राजभय, पंचभय से उपजाये गये निमित्त स्वरूप अदत्त से भी जो प्रतिनिवृत्त हो रहा है वह तीसरा अचौर्याणुव्रत है। अर्थात् जो धन अपना भी है किन्तु वह महान् संक्लेश से प्राप्त हो सकता है ऐसे परार्या पीड़ा को करने वाले धन को जो ग्रहण नहीं करता है। तथा जो धन राजा के डर या पञ्चों के भय अनुसार निश्चय करके छोड़ दिया गया है उस धन को भी ग्रहण करने में जिसका आदर नहीं है वह श्रावक अचौर्याणुव्रती है। अन्य सूक्ष्म चोरियों का इसके परित्याग नहीं है। घर में डाल कर स्वीकार कर ली गयी अथवा नहीं भी स्वीकार की गई ऐसी गृहीत और अगृहीत परस्त्रियों के प्रसंग से विरति करना चौथा ब्रह्मचर्याणुव्रत है। यह मात्र स्वकीय स्त्री में रति को करता है। यों यावत् स्त्रियों का परित्याग नहीं होने से ब्रह्मचर्य व्रत इसका अणु समझा गया। गाय, भैंस, अन्न, खेत, मकान, चाँदी, सोना आदि का अपनी इच्छा से परिमाण कर उस अवधि का नहीं अतिक्रमण कर रहा गृहस्थ परिग्रहपरिमाण व्रती समझ लेना चाहिये। परिमित [illegible] त्यागी नहीं है। अतः इसके पाँचवां अपरिग्रहव्रत अणु यानी छोटा समझा जाता है। यहाँ पाँचों स्थानों पर पुँल्लिंग पद उपलक्षण है। कर्म भूमि की तीनों लिङ्गवाले कतिपय मनुष्य स्त्रियां या नपुंसक अथवा तिर्यञ्च भी अणुव्रतों को धारण कर सकते हैं। यों अणु यानी सूक्ष्म व्रतों का धारी अगारी कहलाता है। सूत्र में कहे बिना ही केवल "अणुव्रतोऽगारी" इस सूत्र की सामर्थ्य से परिशेष न्याय अनुसार यह बात सिद्ध हो जाती है कि जिस पुल्लिंग पुरुष के वे पाँचों व्रत महान् हैं यानी परिपूर्ण रूप से हैं वह अनगार नाम का दूसरा व्रती है इस बात को ग्रन्थकार स्वयं अग्रिम वार्तिक द्वारा स्पष्ट रूप से कहे देते हैं।

तत्र चाणुव्रतोऽगारी सामर्थ्यात्स्यान्महाव्रतः।
अनगार इति ज्ञेयमत्र सूत्रांतराद्विना ॥१॥

वहाँ अगारी और अनगार दो व्रतियों का निरूपण करने के अवसर पर सूत्र द्वारा एक सूक्ष्म व्रतवाले को अगारी कह देने की सामर्थ्य से यहाँ अन्य सूत्र के बिना ही "महान् व्रतों का धारी पुरुष अनगार है" यों दूसरा व्रती समझ लेना चाहिये। अतिसंक्षेप से अमेय प्रमेय का कथन कर रहे सूत्रकार महाराज सामर्थ्यसिद्ध तत्त्व की प्रतिपत्ति कराने के लिये पुनः अन्य सूत्रों को नहीं रचते फिरते हैं। गम्भीर वक्ताओं को व्याख्याकारों के लिये भी बहुत सा सामर्थ्यसिद्ध प्रमेय स्पष्टोक्ति नहीं किये छोड़ना पड़ता है। उदात्त गृहस्थ परोसने योग्य सभी भोजनों को नहीं हड़प जाता है।

दिग्विरत्यादिसंपन्नः स्यादगारीत्याह;—

यहाँ प्रश्न उठता है कि अणुव्रती और महाव्रती में क्या इतना ही अन्तर है कि एक के घर होते हुये छोटे पाँच व्रत हैं और दूसरे के गृहपरित्याग के साथ पाँचों महान् व्रत हैं। अथवा क्या अन्य भी कोई विशेष है इस प्रकार प्रश्न उतरने पर दिग्विरति, देशविरति आदि सात शीलों से भी सम्पत्तियुक्त अगारी होगा। इस बात को सूत्रकार महाराज स्पष्टरीत्या कर रहे हैं ॥

दिग्देशानर्थदंडविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोग-परिमाणातिथिसंविभागव्रतसंपन्नश्च ॥२१॥

१ दिग्विरति नाम के व्रत से सम्पन्न, २ देशविरति नामक व्रत से युक्त, ३ अनर्थदण्ड विरति नामक व्रत से सहित ४, सामायिक व्रत से आलीढ, ५ प्रोषधोपवास से परिपूर्ण, ६ उपभोगपरिभोग परिमाणव्रत से उपचित, ७ और अतिथिसंविभागव्रत से आढ्य भी अगारी होना चाहिये। सूत्रोक्त समुच्चायक च शब्द करके आगे कही जाने वाली सल्लेखना से भी युक्तगृही होना चाहिये। अर्थात् चार दिशायें चार विदिशाएँ, ऊर्ध्व, अधः यों दश दिशाओं में प्रसिद्ध हो रहे हिमालय, विन्ध्यपर्वत महानदी आदि की मर्यादा करउससे बाहर मरण पर्यन्त जाने, मगाने आदि का नियम ग्रहण करना दिग्विरति व्रत कहा जाता है। नियत क्षेत्र से बाहर स्थित हो रहे त्रस और स्थावर सभी जीवों की विराधना का अभाव हो जाने से गृहस्थ भी महाव्रती के समान आचरण करता है। उस दिग्विरति के ही भीतर गाँव, नदी, खेत, घर आदि प्रदेशों की सीमा तक ही गमन, प्रेषण, व्यापार, आदि का परिमित काल तक नियम करना देशविरति व्रत है। इन व्रतों से परिणामों में सन्तोष होता है और लोभ का निराकरण होता है। उपकार न होते हुये पाँच प्रकारके अनर्थदण्डों का परित्याग करना अनर्थ दण्डविरति व्रत है। सम्पूर्ण जीवों में साम्यभाव रखते हुये शुभभावनाओं को बढ़ाकर आर्त्त, रौद्र, ध्यान का परित्याग करना अथवा बहिर्भावों का परित्याग कर रागद्वेष नहीं करते हुये पुरुषार्थ पूर्वक आत्मीय भावों में ध्यान युक्त बने रहना सामायिक व्रत है। सामायिक करते समय अणु और स्थूल हिंसा आदिक कदाचारों की निवृत्ति हो जाने से गृहस्थ भी उपचार से महाव्रती हो जाता है। प्रत्याख्यानावरण का उदय है अतः दिगम्बर दीक्षा ग्रहण, केशलोंच, सातमें गुणस्थान का ध्यान नहीं होने से मुख्य महाव्रत नहीं कहे जा सकते हैं। प्रत्येक महीने की दो अष्टमी, दो चौदश, को साम्यभावों की दृढ़ता के लिये अन्न पान खाद्य लेह्य स्वरूप चार प्रकार के आहार का परित्याग करना प्रोषधोपवास है। सम्पूर्ण पापक्रियायें आरम्भ, शरीर संस्कार पूजन प्रकरणातिरिक्तस्नान, गन्धमाल्य, भूषण, आदि का त्याग करता हुआ पवित्र प्रदेश, या मुनिवास, चैत्यालय के निकट स्थल, स्वकीय प्रोषधोपवास गृह, प्रभृति में ठहर रहा धर्मकथा को सुनकर आत्म चिन्तन कर रहा एकाग्र मन हो कर उपवास करने वाला श्रावक प्रोषधोपवास व्रती है। भोजन, पान, माला, आदिक उपभोग, और वस्त्र, गृह, वाहन, डेरा आदिक परिभोगों में परिमाण करना भोग परिभोग परिमाण है। जैन सिद्धान्त में त्रस घात, बहुवध, प्रमाद विषय, अनिष्ट, अनुपसेव्य इन विषयों के भेद से पाँच प्रकार भोग परिसंख्यान माना गया है। जिस का कि भोग्य अभोग्य में विचार करना पड़ता है। त्रस घात और बहुस्थावरघात तो जीव हिंसा की अपेक्षा अभोग्य है। शेष तीन शुद्ध होते हुये भी प्रमाद का कारण, प्रकृति को अनिष्ट और लोक में अनुपसेव्य होने से परित्यजनीय हैं। अतिथि के लिये भिक्षा, उपकरण, औषध, आश्रय, के भेद से निर्दोष द्रव्यों का प्रदान करना अतिथि संविभाग है। अपने लिये बनाये गये शुद्ध भोजन का देना अथवा धर्म के उपकरण पिच्छिका पुस्तक कमण्डलु, आर्यिका के लिये वस्त्र आदि रत्नत्रय वर्द्धक पदार्थों का देना परम धर्म की श्रद्धा कर के औषध और आवास का प्रदान करना अतिथि संविभाग व्रत है। इन सात शीलों से सम्पन्न भी गृही होना चाहिये। यहाँ सम्पन्न शब्द साभिप्राय है जैसे कोई बड़ा श्रीमान् (धनाढ्य) निज सम्पत्ति से अपने को भाग्यशाली मानता रहता है, मेरे कभी लक्ष्मी का वियोग नहीं होवे ऐसी सम्पन्न बने रहने की अनुक्षण भावना भावता रहता है। उसी प्रकार गृहस्थ इन व्रतोंसे अपने को महान् सम्पत्तिशाली बने रहने का अनुभव करता रहे।

आकाशप्रदेशश्रेणी दिक्, न पुनर्द्रव्यान्तरं तस्य निरस्तत्वात्। आदित्यादिगतिविभक्तस्तद्भेदः पूर्वादिर्दशधा। ग्रामादीनामवधृतपरिमाणप्रदेशो देशः। उपकाराभ्यये पापादाननिमित्तमनर्थदण्डः विरतिशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते। विरत्यग्रहणमधिकारादिति चेन्न। उपसर्जनानभिसंबंधत्वात्।

अखण्ड आकाश में परमाणु के नाप से न्यारे न्यारे विभक्त गढ़ लिये गये प्रदेशों की पंक्ति को दिशा कहते हैं। किन्तु फिर वैशेषिकों के मत समान कोई दिशा निराला द्रव्य नहीं है। उस दिशा के द्रव्यान्तरपने का निराकरण किया जा चुका है। अर्थात् वैशेषिकों ने संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग [illegible] द्रव्यों में गिनाया है। किन्तु सुदर्शन मेरु की जड़ से पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व, अधः की ओर कल्पित कर ली गयी सूधी आकाश प्रदेश श्रेणी के अतिरिक्त कोई दिशा द्रव्य नहीं ठहरता है। सहारनपुर से श्री सम्मेद शिखरजी तक की पूर्व दिशा ही कलकत्ता वालों के लिये पश्चिम दिशा बन जाती है। जम्बू द्वीप के सभी स्थानों से सुदर्शन मेरु पर्वत उत्तर में पड़ता है। इस ढंग से दिशाओं में आपेक्षिक परिवर्तन होता देखा जा रहा है। ऐसी आकाश द्रव्य में कल्पित कर ली गयी दिशायें या विदिशायें कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं हैं। सूर्य का उदय होना, सूर्य का अस्त हो जाना इस से नाप ली गयी सूर्य चन्द्र आदि की गति करके उस दिशा के भेद विभाग को प्राप्त हो रहे हैं। पूर्वा आदि यानी पूर्वदिशा, दक्षिणदिशा, पश्चिमदिशा, उत्तरदिशा, ऊर्ध्वदिशा, अधोदिशा, ईशानदिशा, आग्नेयदिशा, नैऋत्यदिशा, वायव्यदिशा यों दश प्रकार की वह दिशा है। ध्रुव तारे से भी उक्त दिशा का परिज्ञान कर पुनः चारों दिशाओं की परिच्छित्ति कर ली जाती है॥ नियत परिमाण वाले ग्राम, नगर, घर, नदी, आदिकों का प्रदेश तो देश कहा जाता है। कुछ भी उपकार नहीं करते हुये मात्र पापों को ग्रहण करने का निमित्त हो रहा पदार्थ अनर्थदण्ड है। दिशश्च, देशश्च, अनर्थदण्डाश्च यों द्वन्द्वसमास कर पुनः दिग्देशानर्थदण्डेभ्यो विरतिः। यह पञ्चमी तत्पुरुष समास कर लिया जाय, तीनों पदों में हुये द्वंद्व के अन्त में पड़े हुये विरति शब्द का प्रत्येक पद के साथ पिछली ओर सम्बन्ध कर लिया जाता है। यों पहिले के तीन व्रतों के नाम दिग्विरति, देशविरति और अनर्थदण्डविरति हो जाते हैं। यहाँ कोई शंका करता है कि उक्त सूत्र में विरति पद का ग्रहण नहीं करना चाहिये क्योंकि "हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्" इस सूत्र का अधिकार चला आ रहा होने से विरति शब्द की अनुवृत्ति हो जाती है यों विरति का ग्रहण करना व्यर्थ पड़ता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यों तो न कहना क्योंकि उपसर्जन हो रहे दिग्देश, और अनर्थपदों के साथ उस विरति शब्द का सम्बन्ध नहीं हो सकता है अर्थात् "दिग्देश" आदि सूत्र में सम्पन्नः पर्यन्त एक समसित पद है। पूरे पद के साथ तो विरति शब्द की अनुवृत्ति की जा सकती थी किन्तु गौण हो रहे केवल एक देश के साथ अधिकृत पद को बीच ही में नहीं जोड़ा जा सकता है। तिस कारण सूत्रकार को पुनः विरति शब्द का कण्ठोक्त ग्रहण करना पड़ता है।

एकत्वेन गमनं समयः, एकोऽहमात्मेति प्रतिपत्तिर्द्रव्यार्थादेशात् कायवाङ्मनःकर्म पर्यायार्थार्पणात्, सर्वसावद्ययोगनिवृत्त्येकनिश्चयनं वा व्रतभेदार्पणात्, समय एव सामयिकं समयः प्रयोजनमस्येति वा। उपेत्य स्वस्मिन् वसंतींद्रियाणीत्युपवासः। स्वविषयं प्रत्यव्यापृतत्वात् प्रोषधे पर्वण्युपवासः प्रोषधोपवासः।

तीन गुणव्रतों का विवरण कर दिया है अब आचार्य महाराज शिक्षाव्रतों में से पहिले सामा-

यिक का निरूपण करते हैं एकपने करके गमन होना समय है। सम् उपसर्ग पूर्वक "अय् गतौ" धातु से समय शब्द बनाया गया है। यहाँ सम् उपसर्ग एकीभाव अर्थ में प्रवर्तता है। जैसे कि चून में घी मिल गया दूध में बूरा एकम एक होकर संगत हो गया है। इन स्थलों पर पर सम् का अर्थ एकम एक मिल जाना है "अय्" धतु का अर्थ गमन यानी प्राप्ति हो जाना है। "समता सर्वभूतेषु, संयमे शुभभावना,—आर्त रौद्र परित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम्" स्वातिरिक्त परद्रव्य को भिन्न समझते हुये औपाधिक विभाव परिणतियों से हटा कर आत्मा को स्वयं में एकपने से प्राप्ति करलेना समय है। द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा से और शरीर वचन मनोंकी क्रियार्थे स्वरूप पर्यायों को जतानेवाली पर्यायार्थिक नयकी अविवक्षा से मैं अकेला ही आत्मा हूँ इस प्रकार एकपने से जानते रहना समय है। अथवा अहिंसा आदि व्रतों के भेद की अर्पणा करने से आत्मा का सम्पूर्ण सावद्य योगों से निवृत्ति स्वरूप एक निश्चय करना समय है। समय ही सामायिक है यह स्वार्थ में ठण् प्रत्यय कर लिया है। अथवा प्रयोजन अर्थ में भी ठण् प्रत्यय कर लिया जाय पूर्वोक्त समय होना व्रत का प्रयोजन है वह सामायिक है यों सामायिक शब्द साधु बन जाता है "अय्" से घञ् प्रत्यय कर समीचीन आय का समाय बना-लिया जाय पुनः ठण् प्रत्यय कर भी सामायिक शब्द बन जाता है। शब्द, गंध, आदि के ग्रहण में निरुत्सुक होकर जहाँ पाँचों इन्द्रियाँ स्व में ही निवास करने लग जाती हैं इस कारण यह उपवास है। खाद्य लेह्य, पेय इन चारों प्रकार के आहार का त्याग हो जाना इसका अर्थ है। क्यों कि इन्द्रियां अपने अपने स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द, विषयों के प्रति व्यापार नहीं कर रही हैं। प्रोषध यानी अष्टमी, चतुर्दशी इन दो पर्वों में उपवास करना प्रोषधोपवास है। जघन्य आठ प्रहर के उपवासों में भी दो रात्रि और बीच का पूर्ण दिन यों बारह प्रहर तक चार प्रकार के आहार का त्याग करना पड़ता है, चतुर्दशी या अष्टमी के प्रातः काल से नवमी या पन्द्रस के प्रातः काल तक उपवास की प्रतिज्ञा लेता है अतः वह उपवास आठ प्रहर का समझा जाता है यह उपवासी सम्भवतः सातें या तेरस की रात को कुछ गृहारम्भ कर लेवे इस कारण चौदस को प्रातः उपवास माड़ता है।

उपेत्य भुज्यत इत्युपभोगः अशनादिः, परित्यज्य इति परिभोगः पुनः पुनर्भुज्यत इत्यर्थः स वस्त्रादिः। परिमाणशब्दः प्रत्येकमुभाभ्यां संबंधनीयः। संयममविराधयन्नततीत्यतिथिः। न विद्यतेस्य तिथिरिति वा तस्मै संविभागः प्रतिश्रयादीनां यथायोगमतिथिसंविभागः।

उपेत्य यानी अपने अधीन कर जो एक बार में ही भोग लिया जाता है इस कारण भोजन, पान पुष्पमाला, चन्द्रनलेप आदिक उपभोग पदार्थ हैं। और एक बार भोग के छोड़ कर पुनः उसी को भोगा जाता है इस कारण भूषण आदि परिभोग हैं। पुनः पुनः पदार्थ भोगा जा रहा है यह इस परिभोग का अर्थ है। वे परिभोग वस्त्र, भूषण, पलंग, घोड़ा, गाड़ी, मोटरकार, घर, तम्बू आदिक हैं। एक धनाढ्य राजा एक बार जिस वस्त्र को पहन लेता था उसको दुबारा नहीं पहनता था ऐसी दशा में वस्त्र उसके उपभोग में गिना जायगा परिभोग में नहीं। परिमाण शब्द का दोनों के साथ प्रत्येक प्रत्येक में सम्बन्ध कर लेना चाहिये। उपभोग का परिमाण और परिभोग का परिमाण ये दोनों एक व्रत हैं। "अत सातत्यगमने" धातु से अतिथिशब्द बनाया गया है। व्रतधारण, समितिपालन, कषायनिग्रह, दण्डत्याग, इन्द्रियजय, स्वरूप संयम की नहीं विराधना करता हुआ जो सर्वदा प्रवर्तता है इस कारण वह अतिथि है, अथवा तिथि शब्द के साथ नञ् समास कर अतिथि शब्द बनाया जाय। जिस के कोई अष्टमी, चौदस, द्वितीया, पञ्चमी, एकादशी आदि तिथियों का विचार नहीं है अतः वह अतिथि है। उस अतिथि के लिये वसति-

को, शास्त्र, कमण्डलु आदिकों का जो यथायोग्य समीचीन विभाग यानी दान करना है वह अतिथि-संविभागव्रत है।

व्रतशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, सम्पन्नशब्दश्च तेन दिग्विरतिव्रतसम्पन्न इत्यादि योज्यम्। व्रतग्रहणमनर्थकमिति चेत्, उक्तमत्र चोपसर्जनानभिसंबन्धादिति। तत इदमुच्यते—

इस सूत्र में द्वन्द्वसमास के अन्त में पड़े हुये व्रत शब्द का प्रत्येक के साथ सात पदों के पीछे सम्बन्ध कर लिया जाता है तथा सम्पन्न शब्द का भी प्रत्येक के साथ योग लग रहा है, तिस कारण दिग्विरतिव्रतसम्पन्न, देशविरतिव्रतसम्पन्न इत्यादि योजना कर लेना योग्य है। आदि पद कर लिये गये अनर्थदण्डविरतिव्रतसम्पन्न, सामायिकव्रतसम्पन्न, प्रोषधोपवासव्रतसम्पन्न, उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत-सम्पन्न, अतिथिसंविभागव्रतसम्पन्न ऐसा उक्त सात व्रतोंवाला भी गृहस्थ होना चाहिये। यहाँ कोई आक्षेप करता है कि इस सूत्र में व्रत शब्द का ग्रहण करना व्यर्थ है। क्योंकि उपरिम सूत्रों से व्रत की अनुवृत्ति हो ही जायगी यों आक्षेप[illegible] विषय में हम उत्तर कह चुके हैं कि उपसर्जन यानी गौण हो चुके पद का पुनः काट छांट कर सम्बन्ध नहीं हो सकता है। "हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्" इस सूत्र का व्रत शब्द बहुत दूर पड़ चुका है। तथा व्रत-सम्पन्नः इस अर्थ को कहने के लिये वह लक्ष्यभूत स्वतन्त्र व्रत शब्द उपयोगी भी नहीं पड़ता है। "निश्शल्यो व्रती" इस सूत्र में यद्यपि व्रत शब्द है तथापि प्रधानभूत व्रती में वह गौण हो चुका है अतः व्रत शब्द यहां कण्ठोक्त किया गया है। अब तक सूत्रोक्त पदों का विवरण किया जा चुका है। तिस कारण इसको वार्तिकों द्वारा यों कहा जा रहा है कि—

दिग्देशानर्थदण्डेभ्यो विरतिर्या विशुद्धिकृत्।
सामायिकं त्रिधा शुद्धं त्रिकालं यदुदाहृतं ॥१॥
यः प्रोषधोपवासश्च यथाविधि निवेदितः।
परिमाणं च यस्तस्योपभोगपरिभोगयोः ॥२॥
आहारभेषजावासपुस्तवस्त्रादिगोचरः।
संविभागो व्रतं यस्स्याद्योग्यायातिथये स्वयं ॥३॥
तत्संपन्नश्च निश्चेयोऽगारीति द्वादशोदिताः।
दीक्षाभेदा गृहस्थस्य ते सम्यक्त्वपुरःसराः ॥४॥

दिशाओं, देशों, और अनर्थदण्डों से जो विरति है वह आत्मा की विशुद्धि को करने वाली है। और आत्मविशुद्धि को करने वाला तीनों कालों में शुद्ध किया गया तीन प्रकार जो सामायिक कहा गया है वह चौथा व्रत है। एवं शास्त्रोक्त विधिका अतिक्रमण नहीं कर जो प्रोषध में उपवास होता है वह प्रोषधोपवास समझा दिया गया है। तथा अपने उपभोग और परिभोग पदार्थों का जो परिमाण करना है वह उपभोगपरिभोगपरिमाण नाम का छठा शील है। सम्यग्दृष्टि, अणुव्रती, महाव्रती आदि योग्यतावाले अतिथि के लिये जो स्वयं अपने हाथों से आहार, औषधि, निवास स्थान, पुस्तक, वस्त्र, कमण्डलु आदि यथायोग्य विषयों में हो रहा समीचीन विभाग करना है वह अतिथिसंविभाग व्रत है। इन अहिंसादि पाँच व्रतों से और इन सात व्रतों (शीलों) से भी सम्पन्न हो रहे अगारी का निश्चय कर लेना चाहिये। इस प्रकार

गृहस्थ की दीक्षा के भेद बारह कहे गये हैं। इन बारह व्रतों को गृहस्थ के उत्तर गुण भी कहते हैं। वे सब बारहों व्रत सम्यक्त्व को पूर्ववर्ती मान कर होने चाहिये। अर्थात् सम्यक्त्व पूर्वक होंगे तभी वे व्रत या गृहस्थ दीक्षा के भेद कहे जा सकते हैं। मिथ्यादृष्टि के कदाचित् पाये जा रहे भी अहिंसा आदिक परिणाम कथमपि व्रत नहीं कहे जाते हैं।

कुतः कारणाद्दिग्विरतिः परिमिताच्च समाश्रीयते यतो विशुद्धिकारिणी स्यादिति चेत्, दुष्परिहारक्षुद्रजन्तुप्रायत्वाद्दिग्निवृत्तिस्तत्परिमाणं च योजनादिभिर्ज्ञातवद्भिः। ततो आगमनेऽपि प्राणिवधाद्यभ्यनुज्ञातमिति चेन्न, निवृत्त्यर्थत्वात्तद्वचनस्य कथंचित्प्राणिवधस्य परिहारेण गमनसम्भवात्। तृष्णाप्राकाम्यनिरोधनतन्त्रत्वाच्च तद्विरतेर्महालाभेऽपि परिमितदिशो बहिरगमनात्। ततो बहिर्महाव्रतसिद्धिरिति वचनात्।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि-किस कारण से परिमित स्थान से दिग्विरति व्रत का भले प्रकार आश्रय लिया जा रहा है ? जिस से कि वह दिग्विरति अणुव्रती के लिये आत्मविशुद्धि को करने वाली हो सके। यों प्रश्न करने पर तो ग्रन्थकार उत्तर कहते हैं कि जिन का बड़ी कठिनता से रक्षार्थ परिहार हो सकता है ऐसे छोटे-छोटे जन्तुओं करके ये दिशायें प्रायः भरपूर हो रही हैं इस कारण अहिंसा व्रतकी पुष्टि के लिये उन दिशाओं की विशेषतया निवृत्ति करनी चाहिये। अर्थात् छोटे छोटे जन्तु सर्वत्र भरे हुये हैं अतः अवधिभूत दिशाओं के बाहर गमनागमन नहीं करने से उन जन्तुओं की रक्षा हो जाती है। तथा लोक प्रसिद्धि अनुसार जाने जा चुके अथवा प्रसिद्ध हो रहे योजन, समुद्र, नदी, वन आदि चिन्हों करके उन दिशाओं का परिमाण कर लेना चाहिये। दिग्विरति करके सीमाके बाहर सम्पूर्ण पापों की निवृत्ति हो जाने से गृही मुनि के समान भासता है। यहाँ कोई आक्षेप करता है कि उस दिशा का परिमाण करने से भले ही व्रती सीमा के बाहर गमन नहीं करता है तो भी उन परिमित दिशाओं के भीतर स्थित हो रहे प्राणियों के वध आदि को उस व्रती ने अवश्य स्वीकार कर लिया है अन्यथा दिशाओं का परिमाण करना व्यर्थ पड़ता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि व्रती पुरुष के प्रति उस दिग्विरति का कथन करना निवृत्ति के लिये है। सीमा के भीतर भी यथा योग्य प्राणियों के वध का परिहार करते हुये उस व्रती का गमनागमन करना सम्भवता है। दिग्विरति की सीमा के बाहर जीव वध की निवृत्ति के लिये जो उद्यत हो रहा है और सीमा के भीतर भी पूर्णरूप से निवृत्ति करने के लिये अशक्य है वह बहुत प्रयोजन के होते हुये भी परिमित अवधि से बाहर कथमपि गमन नहीं करूँगा ऐसा प्रणिधान कर रहा है अतः कोई दोष नहीं आता है। जो महाव्रत धारण करने के लिये भावना कर रहा गृही आज दिग्विरतिव्रत को पाल रहा है तो कुछ दिनों पश्चात् वह सर्वत्र अहिंसा महाव्रत पालने के लिये समर्थ हो जायगा। क्रम क्रम से चढ़ने वाले अभ्यासी के लिये उतावलापन करना उचित नहीं। एक बात यह भी है कि उस दिग्व्रत का पालन यथेच्छ बढ़ी हुई तृष्णा के रोके जाने की अधीनता से हुआ है। मणि, रत्न, आदिका महान् लाभ होने पर भी परिमित दिशा के बाहर उस व्रती का गमन नहीं होता है। तिस कारण अहिंसाणुव्रत के धारी इस व्रती के परिमित अवधि के बाहर नवभंगों करके हिंसा आदि सर्व पापों की निवृत्ति हो जाने से महाव्रत की सिद्धि हो जाती है ऐसा आचार शास्त्रों में कथन किया गया है। अर्थात् दिग्विरत अणुव्रती भी महाव्रती के समान समझा जाता है "अवधेर्बहिरणुपापप्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयताम् पञ्चमहाव्रतपरिणतिमणुव्रतानि प्रपद्यन्ते; प्रत्याख्यानतनुत्वान्मन्दतराश्चरणमोहपरिणामाः सत्त्वेन दुरवधारा महाव्रताय प्रकल्पन्ते" (रत्नकरण्ड श्रावकाचार) "दिग्व-

तेद्रिक ब्रूसने कषायोदयमान्द्यतः महाव्रतायतेऽलक्ष्यमोहे गेहिन्यणुव्रतम्" (सागारधर्मामृत) अन्य ग्रन्थों का भी यही अभिप्राय है ॥

तथैव देशविरतिर्विशुद्धिकृत् । अनर्थदण्डः पञ्चधा अपध्यानपापोपदेशप्रमादचरितहिंसाप्रदानाशुभश्रुतिभेदात् । ततोऽपि विरतिर्विशुद्धिकारिणी । नरपतिजयपराजयादिसंचिंतनलक्षणादपध्यानात् क्लेशतिर्यग्वणिज्यादिवचनलक्षणात्पापोपदेशात् निःप्रयोजनवृक्षादिछेदनभूमिकुट्टनादिलक्षणात्प्रमादाचरितात् विषशस्त्रादिप्रदानलक्षणाच्च हिंसाप्रदानात् हिंसादिकथाश्रवणशिक्षणव्यापृतिलक्षणाच्चाशुभश्रुतेर्विरतेर्विशुद्धपरिणामोत्पत्तेः॥

जिस प्रकार दिग्विरति विशुद्धिकारिणी है उस ही प्रकार देशविरति भी विशुद्धि को करनेवाली है। मृत्युपर्यन्त की गई दिग्विरति के भीतर ही घर, पर्वत, ग्राम आदि देशों की अवधि कर प्रतिदिन, पक्ष, महीना, चार महीना, वर्ष आदि कुछ काल तक मर्यादा करता है वह देशव्रती है। इस के भी मर्यादा के बाहर सर्वसावद्य की निवृत्ति हो जाने से महाव्रतीपना उपचरित है। अपध्यान, पापोपदेश, प्रमादचर्या, हिंसाप्रदान, अशुभश्रुति, के भेद से अनर्थदण्ड पांच प्रकार का है। उन अनर्थदण्डों से भी विरति करना आत्मविशुद्धि को करने वाला है। तहाँ राजाओं का जय, पराजय, अंगच्छेदन, धनहरण आदि का बार बार चिन्तन करना स्वरूप आर्त, रौद्र अपध्यान से विरति हो जाने पर आत्मा के विशुद्धपरिणाम उपजते हैं। एवं क्लेशवणिज्या, तिर्यग्वणिज्या हिंसा, आरम्भ आदि का कथन करना स्वरूप पापोपदेश से विरति हो जाने के कारण विशुद्ध परिणामों की उत्पत्ति होती है। प्रयोजन के बिना ही वृक्ष आदि का छेदन करना, भूमि खोदना, आग बुझाना, पानी सींचना, वायु का आरम्भ करना, व्यर्थ यहां वहां डोलना, आदि स्वरूप प्रमादाचरित से विरक्ति हो जाने पर आत्मा में विशुद्ध परिणामों की उत्पत्ति होती है। तथा हिंसा के उपकरण हो रहे विष, शस्त्र, अग्नि, लट्ठ, चाबुक, लेज आदि का प्रदान करना स्वरूप हिंसा प्रदान से गृहस्थ की विरति हो जाने पर आत्मा में विशुद्ध परिणतियां उपजती हैं एवं चित्त में कलुपता को करने वाली हिंसा आदि की कथाओं को सुनना या उनको सीखने, सिखाने का व्यापार करना आदि स्वरूप अशुभ श्रुति नामक अनर्थदण्ड से विरति हो जाने से भी विशुद्ध परिणामों की उत्पत्ति होती है ॥

मध्येऽनर्थदण्डग्रहणं पूर्वोत्तरातिरेकानर्थक्यज्ञापनार्थं तेनानर्थदण्डात्पूर्वयोर्दिग्देशविरत्योरुत्तरयोश्चोपभोगपरिमाणयोरनर्थकं चंक्रमाणादिकं विषयोपसेवनं च न कर्तव्यमिति प्रकाशितं भवति ततो विशुद्धिविशेषोत्पत्तेः। सामायिकं कथं त्रिधा विशुद्धिदमिति चेत्, प्रतिपाद्यते। सामायिके नियतदेशकाले महाव्रतत्वं पूर्ववत् ततो विशुद्धिरणुस्थूलकृताहिंसादिनिवृत्तेः। संयमप्रसंगः संयतासंयतस्यापीति चेन्न, तस्य तद्घातिकर्मोदयात्। महाव्रतत्वाभाव इति चेन्न, उपचाराद्राजकुले सर्वगतचैत्रवत्।

पूर्ववर्ती दिग्व्रत और देशव्रत तथा उत्तरवर्ती उपभोगपरिमाण और परिभोग परिमाण के मध्य में अनर्थदण्ड का ग्रहण करना तो पूर्ववर्ती और उत्तरवर्तीव्रतों के अतिरेक का अनर्थकपना समझाने के लिये है तिस करके अनर्थदण्डविरतिके पूर्व में कहे गये नियत परिमाण वाले दिग्विरति और देश विरति तथा अनर्थदण्डव्रत से पीछे उत्तरवर्ती हो रहे नियत कर लिये गये उपभोगपरिमाण और परिभोगपरिमाण व्रतों में भी व्यर्थ का भ्रमण चंक्रमण आदि करना और निरर्थक विषयों का सेवन करना आदि कर्म नहीं करने चाहिये यह मध्य में अनर्थदण्कव्रत के डालने से प्रकाशित हो जाता है। उस अनर्थदण्डविरति से

आत्मा में विशुद्धि विशेष की उत्पत्ति होती है। यहाँ सामायिक व्रत में कोई प्रश्न उठाता है कि उक्त वार्तिकों में सामायिक को किस प्रकार तीन प्रकार शुद्ध या तीन भेद से विशुद्धि को देने वाला कहा गया है ? बताओ। यों कहने पर आचार्य महाराज समझाये देते हैं कि इतने देश और इतने काल में साम्यभाव करना इस प्रकार नियत कर लिये गये सामायिक में स्थित हो रहे व्रती पुरुष के पूर्व के समान महाव्रत सहितपना समझ लेना चाहिये अर्थात् दिग्व्रत देशव्रत में जैसे सीमा के बाहर महाव्रतपना है उसी प्रकार नियतदेश नियतकाल तक सामायिक में उद्युक्त हो रहे व्रती के उतने समय तक महाव्रतीपना है, उस सामायिक नामक मोक्षोपयोगी पुरुषार्थ से आत्मा में विशुद्धियाँ, निर्मलतायें, उपजती हैं क्योंकि सामायिक-व्रती के अणुरूप से किये गये और स्थूल रूप से किये गये हिंसा, झूठ आदि सम्पूर्ण पापों की निवृत्ति हो रही है। यहाँ कोई आक्षेप करता है कि तब तो त्रस वधत्याग की अपेक्षा संयत और स्थावर वध के नहीं त्याग की अपेक्षा असंयत हो रहे संयतासंयत गृहस्थ के भी महाव्रत हो जाने के कारण संयम धार लेने का प्रसंग आ जावेगा। आगम में छठे गुणस्थान से ऊपर संयम माना गया है, पांचवें गुणस्थान में संयम नहीं। ग्रंथकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि सर्वसावद्य निवृत्ति स्वरूप सामायिक में स्थित हो रहे उस व्रती के उस संयम का घात करने वाले प्रत्याख्यानावरण कर्म का उदय हो रहा है। इस कारण संयमभाव नहीं कहा जा सकता है। अन्तरंग में प्रत्याख्यानावरण कर्म का अनुदय होने पर और बहिरंग में दिगम्बरदीक्षा, केशलोंच आदि विधि के साथ जब आत्मास्वरूप चिन्तन किया जायगा तभी संयम बन सकता है अतः गृहस्थ के एक देश संयम माना गया है। इस पर कोई पुनः कटाक्ष करता है कि अन्तरंग में यदि प्रत्याख्यानावरण कर्म का उदय हो रहा है तब तो निवृत्ति रूप परिणाम नहीं हो सकते हैं अतः सामायिक में आरूढ़ हो रहे श्रावक के महाव्रतीपना नहीं बन सकता है, जो कि आपने अभी कहा था। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि अणुव्रती के उपचार से महाव्रतीपना कहा गया है जैसे कि राजा के कुल यानी परिवार में चैत्र यानी विद्यार्थी का सभी स्थानों पर चले जाना कह दिया जाता है। अर्थात् महाराज के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रख रहा कोई विनीत विद्यार्थी अनेक स्थानों पर पहुंच जाता है या लघुवयस्क उपनय ब्रह्मचारी भिक्षा के लिये अन्तःपुर में भी चला जाता है जहाँ कि साधारण पुरुष नहीं जा पाते हैं किन्तु स्नानगृह, शयनगृह, अन्तरंग भाण्डागार आदि गुप्तस्थानों पर नहीं जा पाता है। फिर भी बहिरंग लोक उस ब्रह्मचारी को "राजकुल में सर्वत्र इस की गति है" ऐसा व्यवहार कर देते हैं। उसी प्रकार यहां भी अणुव्रती श्रावक को उपचार से महाव्रत धारकपना व्यवहृत है।

कः पुनः प्रोषधोपवासो यथाविधीत्युच्यते—स्नानगन्धमाल्यादिविरहितोऽवकाशे शुचावुपवसेत् इत्युपवासविधिर्विशुद्धिकृत्, स्वशरीरसंस्कारकरणत्यागाद्धर्मश्रवणादिसमाहितान्तःकरणत्वात् तस्मिन् वसति निरारम्भत्वाच्च ।

यहाँ कोई फिर पूँछता है कि पाँचवां शील प्रोषधोपवास भला क्या है ? यों जिज्ञासा प्रवर्तने पर वार्तिक में कहे गये और निरुक्ति अनुसार प्राप्त हो चुके प्रोषधोपवास को शास्त्रोक्त विधि अनुसार यों बखाना जाता है, प्रोषधोपवास की विधि इस प्रकार है कि जितेन्द्रिय पुरुष रागवर्द्धक स्नान करना, गन्ध-माला पहिरना, भूषण-वस्त्र धारण करना आदि करके विरहित हो कर पवित्र अवकाश स्थल में उपवास मांडे, अथवा साधुओं के निवासस्थल या चैत्यालय एवं अपने घर में न्यारे बने हुये प्रोषधोपवास गृह में धर्म कथा को सुनता सुनाता हुआ या ध्यान करता सन्ता आरम्भ परिग्रह रहित हो रहा श्रावक उपवास करे। इस प्रकार उपवास की विधि है, जो कि परम विशुद्धि को करने वाली है क्यों कि अपने

शरीर सम्बन्धी संस्कारों के करने का त्याग हो रहा है और धर्म श्रवण, आत्मध्यान, स्वाध्याय, आदि मन एकाग्र हो कर लग रहा है। अतः "उपेत्य वसति तस्मिन्" इन्द्रियों की स्वतन्त्र वृत्ति का संकोच कर शुद्ध आत्मीय स्वरूप में यह जीव निवास करता है। एक बात यह भी है कि आरम्भ परिग्रहों से आकुलता या संक्लेश बढ़ते हैं। उपवास में आरम्भरहित हो जाने से भी आत्म विशुद्धि बढ़ती है ॥

भोगपरिभोगसंख्यानं पञ्चविधं, त्रसघातप्रमादबहुवधानिष्टानुपसेव्यविषयभेदात्। तत्र मधुमांसं त्रसघातजं तद्विषयं सर्वदा विरमणं विशुद्धिदं, मद्यं प्रमादनिमित्तं तद्विषयं च विरमणं संविधेयमन्यथा तदुपसेवनकृतः प्रमादात्सकलव्रतविलोपप्रसंगः। केतक्यर्जुनपुष्पादिमाल्यं जन्तुप्रायं शृंगवेरमूलकार्द्रहरिद्रानिम्बकुसुमादिकमुपदंशकमनन्तकायव्यपदेशं च बहुवधं तद्विषयं विरमणं नित्यं श्रेयः। श्रावकत्वविशुद्धिहेतुत्वात्। यानवाहनादिष्वस्यानिष्टं तद्विषयं परिभोगविरमणं यावज्जीवं विधेयं। चित्रवस्त्राद्यनुपसेव्यमसभ्यशिष्टसेव्यत्वात् तदिष्टमपि परित्याज्यं शश्वदेव। ततोऽन्यत्र यथाशक्ति स्वविभवानुरूपं नियतदेशकालतया भोक्तव्यं।

जैन सिद्धान्त में त्रसों के घात और प्रमादवर्द्धक विषय तथा बहुस्थावरवध एवं अनिष्ट तथैव अनुपसेव्य विषय इन पांच विषयों के भेद से भोगोपभोगों की परिसंख्या करना पाँच प्रकार है। बाईस अभक्ष्य केवल इन्हीं का विस्तार है। [illegible] नाम भी नहीं है तथा अनिष्ट अनुपसेव्य और मादक पदार्थों के त्याग का भी यथेष्ट वर्णन नहीं है अतः प्राचीन आम्नाय अनुसार अभक्ष्य पाँच ही मानने चाहिये। पाँच उदुंबर, तीन मकार, ओला, विदल, रात्रिभोजन, बहुबीजा, बैंगन, कंद मूल, अज्ञातफल, अचार, विष, माटी, बरफ, तुच्छफल, चलितरस, मक्खन, इन में कुछ पुनरुक्त हैं और कितने ही अभक्ष्य इनमें गिनाये नहीं गये हैं। मांसत्यागव्रत, मधुत्यागव्रत और मद्यत्यागव्रत के अतीचारों में से या यहाँ वहाँ के अप्रासंगिक कुछ अभक्ष्यों का नाम ले देने से बाईस की संख्या भर ली गयी है जो कि अव्याप्ति और अतिप्रसंग दोषों से खाली नहीं है। किन्हीं का अनुकरण किया गया दीखता है, आस्तां। उन पाँच अभक्ष्यों में प्रथम मधु और मांस तो त्रस जीवों के घात से उपजते हैं अतः उन मधु मांस में सर्वदा विरति करना आत्मविशुद्धि को देने वाला है। मद्य यानी शराब तो प्रमाद का निमित्त है अतः उस मद्य के विषय में हो रहा परित्याग भी भले प्रकार करना चाहिये अन्यथा यानी मद्यको त्यागे बिना उस मद्य के उपसेवन से किये गये प्रमाद से अहिंसा, सत्य आदि सम्पूर्ण व्रतों के विलोप होने का प्रसंग आ जायगा। गुड़, जौ, धाय के फूल, अंगूर, धतूरा, आदि को सड़ा गलाकर बनाया गया मद्य तो असंख्य त्रस जीवों के घात का हेतु भी है। किन्तु प्रासुक निर्जीव बना लिया मद्य भी मादक होने से अभक्ष्य है। जैसे कि सूखी भांग, धतूरा, अहिफेन आदि अभक्ष्य हैं। केतकी (केवड़ा), अर्जुन के फूल आदि की मालायें प्रायः बहुत से त्रस जन्तुओं के अवलम्ब हैं। बहु स्थावर वध भी होता है। अतः केवड़ा आदि के उपभोग का विरमण करना श्रेष्ठ है। तथा सचित्त हो रहे शृंगवेर यानी सोंठ, मूलक यानी मूली, गाजर आदि मूल पदार्थ, अदरक, हल्दी, निम्बपुष्प आदिक और उपदंशक कन्द ये सब सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतियाँ अनन्तकाय नाम को धारती हैं। इनके खाने या बर्तने से बहुत से (अनन्तानन्त) स्थावर जीवों का वध होता है। अतः गृहस्थ को उनमें आखड़ी कर सर्वदा विरक्ति करना श्रेष्ठ मार्ग है। क्योंकि श्रावकपने की विशुद्धि का हेतु वह बहुवध का त्याग है। गाड़ी, मोटर, रेलगाड़ी आदिक यान पदार्थ और घोड़ा, हाथी, ऊँट आदि वाहन पदार्थ एवं गद्द, नदीजल, मिरच आदि जो जो पदार्थ जिसको अनिष्ट पड़ते हैं या प्रकृति को अनुकूल नहीं हैं उन उन विषयों के परिभोग का जीवन पर्यन्त

परित्याग करना चाहिये भले ही इन अनिष्ट पदार्थों में त्रस घात या बहुस्थावरघात नहीं है तथापि प्रकृति को अनुकूल नहीं पड़ने से [illegible] कारण होने से अनिष्ट पदार्थों का यावज्जीव त्याग कर देना चाहिये। भोजन में भी जो दही, दूध, मक्का, केला, आदिक यदि शरीर प्रकृति को अनिष्ट पड़ते हैं तो वे उस व्यक्ति के लिये अभक्ष्य हैं। जिन वस्त्रों पर नाना पशु पक्षियों के कढ़ाव हो रहे हैं अथवा चमक, दमक, जिनकी खटकने योग्य है, पंचरंगे पट्टी, सीताराम, आदि शब्दों से अङ्कित आदि विकृत हो रहे चित्रवस्त्र, विभिन्न प्रकार के निन्दनीय भूषण, शृंगार, विकृत वेश, लार, उगाल, मूत्र, आदि त्यागने योग्य हैं। क्योंकि उक्त निन्दनीय परिभोग शिष्ट पुरुषों द्वारा सेवनीय नहीं हैं। गुण्डे, शृंगारी, नट, बहुरूपिया आदि अशिष्ट पुरुष ही ऐसे खटकने योग्य परिभोगों को सेवते हैं अतः वे चित्र-वस्त्र आदि भले ही जीव वध पूर्वक नहीं होते हुये इष्ट भी होंय तो भी आत्म विशुद्धि में क्षति पहुंचाने वाले होने से सर्वदा ही सब ओर से त्यागने योग्य हैं। यदि यावज्जीव त्यागने की शक्ति नहीं है तो उसके सिवाय शक्ति का अतिक्रमण नहीं कर अपने विभव या परिस्थिति के अनुकूल हो कर नियत देश की मर्यादा और नियत काल की मर्यादा करके भोगना चाहिये, त्यागने की ओर लक्ष्य रखना चाहिये। स्त्रियों के वस्त्र, आभूषण, तो पुरुषों के लिये अनुपसेव्य पड़ जाते हैं और पुरुषों के वस्त्र, गायन, परिधावन, प्रकाण्ड अर्थोपार्जन आदि कार्य स्त्रियों के लिये अनुपसेव्य हो जाते हैं। इन कृतियों से आत्मा में उपहास, रागद्वेष परिणतियां, निर्बलतायें, स्वकर्तव्यक्षति, आदि संक्लेश हो जाते हैं। अतः इन का परित्याग करना आवश्यक बताया है। "स्वविभवानुरूपं" पद से यह भी ध्वनित हो जाता है कि श्रावक या संक्लेश को बढ़ाने वाले सट्टा, लाटरी, वायदा आदि वाणिज्यों को त्याग करते हुये आत्मविशुद्धिको करने वाला भोगोपभोग संख्यान करना चाहिये। भगवान् श्री समन्तभद्राचार्य ने श्रावकाचार में भोगोपभोग संख्यान को पाँच प्रकार गिनाया है। "त्रसहतिपरिहरणार्थं क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये, मद्यं च वर्जनीयं जिन-चरणौ शरणमुपयातैः ॥ १ ॥ अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृंगवेराणि। नवनीतनिम्बकुसुमं कैतक-मित्येवमवहेयम् ॥ २ ॥ यदनिष्टं तद्व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्, अभिसन्धिकृताविरतिर्योग्याद्वि-षयाद्व्रतं भवति ॥३॥ राजवार्तिक में भी ऐसा ही निरूपण है॥

अतिथिसंविभागश्चतुर्विधो भिक्षोपकरणौषधप्रतिश्रयभेदात्। तत्र भिक्षा निरवद्याहारः रत्नत्रयोपबृंहणमुपकरणं पुस्तकादि, तथौषधं रोगनिवृत्त्यर्थमनवद्यद्रव्यं, प्रतिश्रयो वसतिः। स्त्री-पश्वादिकृतसम्बन्धरहिता योग्या विज्ञेया। एवंविधोदितव्रतसंपन्नोऽणुव्रती गृहस्थशुद्धात्मा प्रति-पत्तव्यः। चशब्दः सूत्रेऽनुक्तसमुच्चयार्थः प्रागुक्तसमुच्चयार्थात्। तेन गृहस्थस्य पञ्चाणुव्रतानि सप्त शीलानि गुणव्रतशिक्षाव्रतभाजीति द्वादशदीक्षाभेदाः सम्यक्त्वपूर्वकाः सल्लेखनान्ताश्च महाव्रत-तच्छीलवत्।

सातवां शील अतिथिसंविभाग व्रत तो भिक्षा, उपकरण, औषध और प्रतिश्रय इन भेदों से चार प्रकार का है। उन चार भेदों में पहिली भिक्षा तो संयम में तत्पर हो रहे अतिथि के लिये शुद्ध चित्त से निर्दोष आहार देना है। रत्नत्रय धर्म की वृद्धि के कारण हो रहे पुस्तक, कमण्डलु आदि उपकरण देने चाहिये। आर्यिका के लिये शाटिका वस्त्र देना उचित है। तथा रोग की निवृत्ति के लिये निर्दोष द्रव्य वाला औषध देना चाहिये। प्रतिश्रय का अर्थ यहां वसतिका है। मुनि, आर्यिका या साधुजनों के योग्य निवास स्थान का धर्म की श्रद्धा से दान दिया जाय। स्त्री, पशु, पक्षी, चोर, आदि जीवों द्वारा किये गये सम्बन्ध से रहित हो रही योग्य वसतिका समझ लेनी चाहिये। इस प्रकार कहे गये सात व्रतों से सम्पन्न

हो रहा और पांच अहिंसा आदि अणुव्रतों से भूषित हो रहा गृहस्थ शुद्धात्मा है ऐसी प्रतिपत्ति कर लेनी चाहिये। इस सूत्र में च शब्द पड़ा हुआ है जो कि अनुक्त का समुच्चय करने के लिये है। आठ मूल गुणों का धारण और सप्त व्यसनों के त्याग का भी ग्रहण कर लिया जाता है। एवं पूर्व में कहे जा चुके पांच अणुव्रतों का समुच्चय करना इसका प्रयोजन है। भविष्य में कही जाने वाली सल्लेखना का भी आकर्षण कर लिया जाता है। तिस कारण सिद्ध हो जाता है कि गृहस्थ के अहिंसादि पांच अणुव्रत हैं और गुणव्रत, शिक्षाव्रत, इन नामों को धार रहे सात शील हैं। इस प्रकार सम्यक्त्व पूर्वक और सल्लेखनान्त ये मध्यवर्ती बारह दीक्षा के भेद गृहस्थ के हैं। जैसे कि मुनियों के महाव्रत और उनके परिरक्षक शील पाये जाते हैं। भावार्थ--जैसे मुनियों के सम्यक्त्वपूर्वक अट्ठाईस मूल गुण और चौरासी लाख उत्तर गुण तथा अन्त में सल्लेखना यों व्रतों की व्यवस्था है। उसी प्रकार सम्यक्त्वपूर्वक बारहव्रत और अन्त में सल्लेखनामरण ये पूरा श्रावक धर्म है। माननीय पण्डित आशाधरजी ने कहा है कि "सम्यक्त्वममलममलान्यणुगुणशिक्षाव्रतानि मरणान्ते, सल्लेखना च विधिना पूर्णः सागारधर्मोऽयम् ॥"

कदा सल्लेखना कर्तव्येत्याह–

च शब्द करके समुच्चय करने योग्य सल्लेखना भला कब करनी चाहिये ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता ॥२२॥

तद्भवमरना स्वरूप अन्त है प्रयोजन जिसका ऐसी सल्लेखना की प्रीति को रखने वाला और समय आ जाने पर उसका सेवन करने वाला व्रती होता है। अर्थात् मरण के उपान्त्य में हो रही समीचीन रीत्या अन्न, ईहा, शरीरों की लेखना यानी पतला करना रूपी सल्लेखना में प्रीति करने वाला और सेवन करने वाला व्रती होना चाहिये ॥

व्रतीत्यभिसंबन्धः सामान्यात् । स्वायुरिंद्रियबलसंक्षयो मरणं, अन्तग्रहणं तद्भवमरणप्रतिपत्त्यर्थं ततः प्रतिसमयं स्वायुरादिसंक्षयोपलक्षणनित्यमरणव्युदासः। भवांतरप्राप्त्यजहद्वृत्तपूर्वभवनिवृत्तिरूपस्यैव तद्भवमरणस्य प्रतिपत्तेः मरणमेवान्तो मरणान्तः, मरणान्तः प्रयोजनमस्या इति मारणान्तिकी।

सामान्यरूप से प्रकरण में चले आ रहे "व्रती" शब्द का यहां विधेय दल की ओर सम्बन्ध कर लेना चाहिये। अजर, अमर नित्य, हो रहे आत्मद्रव्य का तो मरण होता नहीं है किन्तु अपने आत्मीय परिणामों से ग्रहण किये गये आयुःप्राण, इन्द्रियप्राण, श्वासोच्छ्वास, और बल प्राणों का कारण वश से संक्षय यानी वियोग हो जाना मरण है। इस सूत्र में अन्तशब्द का ग्रहण करना तो उस कालान्तरस्थायी पर्याय स्वरूप तद्भव के मरण की प्रतिपत्ति को कराने के लिये है। तिस कारण आद्य जीवन, मध्यजीवनों में भी प्रत्येकप्रत्येक समय में हो रहे स्वकीय आयुः, इन्द्रिय आदि का संक्षय करके उपलक्षित हो रहे नित्यमरण का निराकरण हो जाता है। अन्य भव की प्राप्ति हो जाना और अनेक भवों तक व्याप रहे ध्रौव्य स्वभावों को नहीं छोड़ कर वर्तना तथा ग्रहीत पूर्व भव सम्बन्धी स्वभावों की निवृत्ति हो जाना स्वरूप हो रहे ही तद्भवमरण की प्रतिपत्ति हो रही है। अर्थात् नित्यमरण और तद्भवमरण यों मरण दो प्रकार का है। सूक्ष्म ऋजुसूत्र नय अनुसार सम्पूर्ण पूर्व पर्यायों का उत्तर क्षण में विध्वंस होना जान लिया जाता है। यों बाल अवस्था से लेकर वृद्ध अवस्था पर्यंत असंख्याते नित्य मरण हो रहे हैं किन्तु

यहाँ तद्भवमरण का ग्रहण है अन्यथा यानी नित्यमरण की विवक्षा करने पर अन्त शब्द का ग्रहण करना व्यर्थ ही पड़ता क्योंकि नित्यमरण कोई अन्तस्वरूप नहीं है। आदि में, मध्य में सदा ही होते रहते हैं। यहाँ स्थूल ऋजुसूत्रनय अथवा व्यवहार नय अनुसार असंख्यात समयों की एक स्थूल पर्याय का पूरी भुज्यमान आयुः के अन्त में क्षय हो जाना स्वरूप तद्भवमरण लिया गया है। प्रत्येक सत् में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, तीनों धर्म घटित हो जाने चाहिये। पूर्वभव में असंख्यात समयों की स्थितिवाली बाँधी गयी आयु का वर्तमान भव में उदय आ जाने के समय से प्रारम्भ कर उदय या उदीरणाकरणों करके हुये भुज्यमान आयुः के सम्पूर्ण निषेकों की पूर्णता हो जाना तद्भवमरण है। यहाँ आयु का अन्त हो जाने पर भवान्तर की प्राप्ति स्वरूप उत्पाद है और पूर्व भव की निवृत्ति हो जाना व्यय है, और अनेक भवों तक व्याप रहे ज्ञान, संस्मरण, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि परिणतियों का स्थिर रहना ध्रौव्य है। यों जैन सिद्धान्त में मरण की परिभाषा युक्ति आगम अनुसार कर दी गयी है। वह तद्भव मरण स्वरूप ही जो अन्त है वह मरणान्त है। जिस सल्लेखना का प्रयोजन मरणान्त है इस कारण सल्लेखना मारणान्तिकी कही जाती है। यों समासवृत्ति और तद्धित वृत्ति अनुसार सूत्रोक्त "मारणान्तिकी" शब्द को व्युत्पन्न कर दिया गया है।

सम्यक्कायकषायलेखनाबाह्यस्य कायस्याभ्यंतराणां च कषायाणां यथाविधि मरणविभक्त्याराधनोदितक्रमेण तनूकरणमिति यावत्। तां मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता प्रीत्या सेवितेत्यर्थः॥ किं कर्तुमित्याह—

समीचीन रीति से काय और कषायों की लेखना यानी पतला करना सल्लेखना है। बहिरंग हो रही काय और अभ्यन्तर में वर्त रही क्रोधादि कषायों का यथाविधि मरणविभक्ति आराधना प्रकरणों में कहे गये क्रम करके तक्षण (पतला) करना यह सल्लेखना का फलितार्थ है। अर्थात् जो जीव शास्त्रोक्त विधि अनुसार समीचीन रीति से काय और कषायों की भी लेखना करता है वह सात, आठ, भवों में मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। समाधिमरण के प्रज्ञापक कतिपय ग्रन्थ हैं। गुरुपरिपाटी से चला आया श्रेष्ठ प्रक्रम विशेष हितकर है। "घादेण अघादेण व, पडिदं चागेण चत्तमिदि" कदलीघात सहित अथवा कदलीघात के बिना समाधिरूप परिणामों में शरीर का छोड़ देना त्यक्त कहा जाता है। भक्तप्रतिज्ञा, इंगिनी, और प्रायोग्य विधि से त्यक्त के तीनभेद हैं। सल्लेखना में शरीर आहार, और संकल्प विकल्पों के त्याग करते हुये ध्यानशुद्धि से आत्मा का शोधन किया जाता है। समाधिमरण के लिये दिगम्बर दीक्षा ले ली जाय तो बहुत ही अच्छा है। श्रावक भी समाधिमरण कर सकता है। समाधिमरण करते समय कदलीघात मरण भी हो जाय तो भी आत्मघात दोष नहीं लगता है क्योंकि कषायों के आवेश से विष, वेदना, आदि करके अपने प्राणों की हिंसा करनेवाले आत्मघाती हैं। किन्तु यहाँ अत्यन्तदुर्लभ धर्म की रक्षा के लिये अवश्यनाशी शरीर की रक्षा का लक्ष्य न भी रखा जाय इस में कोई प्रमाद दोष नहीं है। हाँ संयम या तप के साधने के लिये शरीर को बनाये रखना आवश्यक है किन्तु उपसर्ग, दुर्भिक्ष आदि की प्रतीकार रहित अवस्था मिल जाने पर काय को हेय समझकर धर्म ही संरक्षणीय हो जाता है। देह आदि की विकृति, उपसर्ग, निमित्तशास्त्र, ज्योतिष, शकुन, स्वप्न आदि करके शीघ्र क्षय हो जाने वाली आयु का निश्चय कर आराधनाओं में अपने विचार को मग्न करना चाहिये। उस समय इन शुभविचारों की भावना करे कि जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, रोग, ये सब शरीर के हैं आत्मा नित्य, अजरामर, रत्नत्रयस्वरूप उत्तमक्षमादि दशधर्म रूप है सल्लेखना करने वाला शरीर को इस प्रकार अलग छोड़ देता है जैसे कि कपड़े को उतार कर

अलग धर दिया जाता है, साँप काँचली को उतार कर पृथक् हो जाता है। सुना जाता है कि जयपुर में अमरचन्द्र जी दीवान ने जयपुर के जैन मन्दिरों की रक्षा और जयपुर को तोपों से उड़ाये जाने की आज्ञानुसार होने वाली लाखों जीवों की हिंसा का निवारण करनेके लिये स्वयं अपना मरण विचार लिया था तदनुसार प्राणदण्डप्राप्ति के प्रथम ही समाधिको भावते भावते अपने शरीर को त्यक्त कर दिया था। धन्य हैं ऐसे सज्जन जो कि जीवदया या प्रभावना का लक्ष्य रख अपने ऊपर आये हुये तीव्र उपसर्ग की अवस्था में समाधिमरण कर जाते हैं। इसीलिये तो समाधिमरण होने की प्रतिदिन भावना भाई जाती है कि हे भगवन् ! हमारा समाधिमरण होय। "दुःखक्खउकम्मक्खउसमाहिमरणं च बोहिलाभो य। मम होउ जगद्बान्धव, तव जिणवर चरणशरणेण" आज कल के वैज्ञानिक युगमें रेलगाड़ी, मोटरकार, बिजलियाँ, जहाज, खानों के धड़ाके, पुल बनाना आदि में सैकड़ों मनुष्य प्रतिदिन मरते हैं। मकान गिर जाना, प्लेग, अग्निदाह, विषूचिका आदि रोग, नदी प्रवाह, साँप, बिच्छू, व्याघ्र आदि के काटने से यों प्रतिदिन सैकड़ों मनुष्य मर जाते हैं। ऐसे मरणों में आर्त रौद्र ध्यान ही सम्भवते हैं। लाखों, करोड़ों में से संभवतः एक आध को ही धर्मध्यान होता होगा। अतः "दुःखक्खउ कम्मक्खउ समाहिमरण जिन गुण सम्पत्ति होउ मज्झं" ऐसी प्रतिदिन भावना भाई जाती है। चिरकाल से धर्म की आराधना की होय और मरण अवसर पर परिणाम बिगड़ जाँय तो यह बड़ा भारी टोटा है। योद्धा को युद्ध में स्खलित नहीं होना चाहिये। देखो जिसने पूर्व काल में आराधनाओं का अभ्यास किया है वह मरणकाल में अवश्य धर्मात्मा बना रहेगा। हाँ अत्यन्त तीव्र पाप कर्म का उदय आ जाने पर उसका भी समाधिमरण बिगड़ जाता है। किन्तु धर्मात्मा के प्रथम ही कर्म बन्धन ढीले पड़ जाते हैं। समाधिमरण के समय हुये विशुद्धपरिणाम या संक्लेश परिणाम भविष्य में अनेक वर्षों तक वैसी ही शुभ, अशुभ, वासनाओं को बनाते रहते हैं अतः मिथ्यात्व का त्याग कर अन्न, पान के त्यागक्रम से संयम पूर्वक शरीर का त्याग करने के लिये उद्युक्त बने रहना चाहिये, न जाने कब मरण का प्रकरण प्राप्त हो जाय, आजकल बहुभाग होने वाली अकाल मृत्युओं का किसे पता है ? अच्छा हो समाधिमरणार्थी किसी तीर्थस्थान या अतिशयक्षेत्र पर जाकर अपना समाधिमरण करे जहाँ कि समाधिमरण कराने वाले निर्यापकों का सत्संग होय। प्रथम ही देना (कर्ज) लेना, कुटुम्बीजन, आश्रित संस्थाओं आदि की व्यवस्था कर चुकने पर निश्शल्य हो जाय, अनन्तर समाधिमरण के साधक उपायों में लगे। समाधिमरण कराने वाले पुरुष भी अतीव सज्जन और देश, काल, व्यक्ति, परिणाम, शरीर, आदि की परीक्षा में निपुण होंय। समाधिमरणार्थी को आहार या पुद्गलों में अनुराग न हो जाय इस लिये मिष्ट उपदेशों से दृष्टान्तपूर्वक उसको समझा दिया जाय कि हे भाई ! ऐसा कोई भी पुद्गल नहीं है जो कि तुमने भोगकर न छोड़ दिया होय यदि किसी पुद्गल में आसक्त हो कर मर जाओगे तो निदानवश क्षुद्रकीट हो कर परजन्म में उसको खाओगे। हाँ यदि त्यागी बने रहोगे तो स्वर्ग के सुख भोग कर निर्वाण को प्राप्त करोगे। इत्यादिक रूप से समाधिमरण की प्रथम अवस्थाओं, मध्यम अवस्थाओं और अन्त्य अवस्थाओं का जैनग्रन्थों में वर्णन पाया जाता है। श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार, सागार धर्मामृत आदि में अच्छा स्पष्टीकरण है। समाधितंत्र में भी बहुत अच्छा सद्विचार है--अभिप्राय यह है कि शास्त्रोक्तरीति से काय और कषायों का समीचीनतया लेखन करना सल्लेखना है। उस मरणान्तस्वरूप प्रयोजन को रखने वाली सल्लेखना को "जोषिता" यानी प्रीति करके सेवन करने वाला व्रती है। यह इस सूत्र का अर्थ है। अब कोई पूंछता है कि क्या करने के लिये सूत्रकार ने उक्त सूत्र कहा है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर ग्रन्थकार श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम वार्त्तिकों द्वारा इसका समाधान कहते हैं ॥

सम्यक्कायकषायाणां रवचा सल्लेखनात्र तां।

जोषिता सेविता प्रीत्या स व्रती मारणांतिकीं ॥१॥
मृत्युकारणसंपातकालमास्थित्य सद्व्रतं ।
रक्षितुं शक्यभावेन नान्यथेत्यप्रमत्तगं ॥२॥

सल्लेखना शब्द में सत् शब्द का अर्थ समीचीन है और लेखना का अर्थ तक्षा यानी तनूकरण (पतला करना) है। यहाँ प्रकरण में समीचीन रूप से काय और क्रोधादिकषायों को क्षीण करना ("त्वक्ष् तनूकरणे" धातु से त्वक्षा शब्द बना लिया जाय) सल्लेखना माना गया है। वह पूर्वोक्त व्रतों का धारी अणुव्रती या महाव्रती जीव उस मरण रूप अन्त नाम के प्रयोजन को धारने वाली सल्लेखना को जोषिता यानी प्रीति करके सेवन करने वाला होवे। स्वल्पकाल में ही मृत्युके कारणों का संपात होने वाला है ऐसे अवसर का समीचीन निमित्तों द्वारा निश्वास पूर्वक निश्चय कर सविचार प्रतिज्ञा पूर्वक गृहीत किये जा चुके अहिंसा, आदि श्रेष्ठ व्रतों की रक्षा करने के लिये पुरुषार्थ पूर्वक समाधिमरण कर सकने के अभिप्रायों से सल्लेखना की जाती है अन्यथा नहीं। अर्थात् समाधिमरण में जिसको प्रीति नहीं है या व्रतों की रक्षा का लक्ष्य नहीं है उसका समाधिमरण नहीं हो सकता है इस प्रकार सल्लेखना को अतिशय हो रहे अप्रमत्त जीव के यह सल्लेखना नाम का विरमण प्राप्त हो रहा है, भावार्थ— सल्लेखना करने वाले के आत्मवध दोष नहीं आता है क्योंकि प्रमादयोग से अपने प्राणों का वियोग करने वाला आत्महिंसक है किन्तु जिस व्रती के रत्नत्रय की रक्षा का उद्देश है उसके रागादि का अभाव हो जाने से प्रमादयोग नहीं होने के कारण स्वात्मघातीपन नहीं है॥

सेवितेति ग्रहणं स्पष्टार्थमिति चेन्न, अर्थविशेषोपपत्तेः। प्रतिसेवनार्थो हि विशिष्टो जोषितेति वचनात्प्रतिपद्यते।

कोई यहाँ आक्षेप करता है कि सूत्रकार को सरलपदों का प्रयोग करना चाहिये। क्लिष्टशब्दों द्वारा प्रतिपत्ति करने में बड़ी कठिनता पड़ती है। जोषिता के स्थान पर विशेषतया स्पष्ट कथन करने केलिए "सेविता" इस पद का ग्रहण करना अच्छा है। व्रती पुरुष मरणान्त प्रयोजन वाली सल्लेखना का सेवन करे यह अर्थ सेविता कह देने से स्पष्ट झलक जाता है, ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि सेविता को छोड़ कर जोषिता कहने में सूत्रकार को विशेष अर्थ की सिद्धि हो रही है चूंकि जोषिता ऐसा कथन करने से प्रीति पूर्वक कथन करना यह विशिष्ट अर्थ समझ लिया जाता है "जुषी प्रीतिसेवनयोः" प्रीति और सेवा करना दोनों ही जुषी धातु के अर्थ हैं। समाधिमरण में प्रीति के नहीं होने पर बलात्कार से सल्लेखना नहीं कराई जाती है रुचि होने पर व्रती स्वयमेव सल्लेखना को करता है अतः "जोषिता" पद ही यहाँ सुन्दर जचा।

विशेषयोगादिभिरात्मानं व्रत एव तद्भावात् तत्र स्वयमारोपितगुणक्षतेरपायात्प्रीत्युत्पत्तावपि मरणस्यानिष्टत्वात्, स्वरत्नाविघाते भाण्डागारविनाशेऽपि तदधिपतेः प्रीतिविनाशानिष्टवत्। उभयानभिसंधानाच्चाप्रमत्तस्य नात्मवधः। नह्यसौ तदा जीवनं मरणं वाभिसंधत्ते "नाभिनन्दामि मरणं नाभिकांक्षामि जीवितं। कालमेव प्रतीक्षेऽहं निदेशं भृतको यथा॥" इति संन्यासिनो भावनाविशुद्धिः। ततो न सल्लेखनायामात्मवध इति वचनं युक्तं॥

यदि यहाँ कोई कटाक्ष करे कि आहार, पान, औषधियों के निरोध से काय को क्षीण कर रहे

समाधिमरणार्थी जीव के स्वाभिप्रायपूर्वक आयुःकर्म के निषेकों की निवृत्ति हुई है अतः अपने को मार डालना रूप आत्मवध दोष प्राप्त होता है। इस पर आचार्य महाराज कहते हैं कि विष का उपयोग शस्त्राघात, श्वासनिरोध आदि करके अपनी हत्या कर रहे हो द्वेषो, प्रमादी जीव के उस आत्मवध दोष का सद्भाव है किन्तु उस सल्लेखना में तो स्वयं उत्साह पूर्वक धार लिये गये गुणों की क्षति का अभाव है अतः सल्लेखना में प्रीति की उत्पत्ति होने पर भी यों ही मर जाना इष्ट नहीं है। अर्थात्–अप्रमादी, रागद्वेषरहित जीव के अपने रत्नत्रय या व्रतों [illegible] है। उपसर्ग, दुर्भिक्ष, असाध्यरोग, शस्त्राघात आदि अवस्थाओं में गुणों की विराधना नहीं करता हुआ शरीर की अपेक्षा नहीं रखता है, मरण की भी अभिलाषा नहीं रखता है। जैसे कि अपने अमूल्य रत्नों का विघात नहीं होते सन्ते भले ही भण्डारे का विनाश हो जाय तो भी उनके प्रभु हो रहे सेठ को प्रीति होते हुये भी भण्डारे का विनाश इष्ट नहीं है। भावार्थ–सोना, चाँदी, रत्न, मोती, आदि अमूल्य या बहुमूल्य पदार्थों से भरपूर हो रहे सेठ या महाराजा को यद्यपि रत्नों और रत्नों के स्थान कोठार का विनाश होना इष्ट नहीं है किन्तु कारण वश उस कोठार के विनाश का कारण उपस्थित हो जाय तो वह धनपति उस विनाशक कारणों का यथाशक्ति परिहार करता है यदि भण्डारे की रक्षा करना असाध्य हो जाय तो अनर्घ्य बहुमूल्य वस्तुओं का नाश नहीं होय वैसा प्रयत्न करता है। इसी प्रकार गृहस्थ भी व्रत, शील, पुण्य संचय, ध्यान, कायोत्सर्ग में प्रवृत्ति कर रहा सन्ता व्रत आदिके अवलम्ब हो रहे शरीर का पात हो जाना कथमपि नहीं चाहता है। हाँ उस शरीर के अनेक कारण वश नाश की प्रस्तुति हो जाने पर अपने गुणों की विराधना नहीं करता हुआ उन नाशक उपायों का परिहार करता है। यदि शरीर का पात अनिवार्य हो जाय तो अपने गुणों का नाश नहीं होने देता है। अतः सल्लेखना करने वाले जीवके आत्मवध दोष नहीं है। एक बात यह भी है कि प्रमाद रहित जीव के जीवित रहने और मर जाने इन दोनों में कोई प्रमादपूर्वक अभिप्राय नहीं है। अभिप्राय रखते हुये जब सुख दुःखों में रागद्वेष हो जाता है तब प्रमादी जीव के कर्म बन्ध होता है किन्तु श्री जिनेन्द्र भगवान् करके उपदेशी गयी सल्लेखना को कर रहे जीव के जीवित या मरण का अभिप्राय नहीं है अतः आत्म वध दोष नहीं आता है। वह संन्यासमरण कर रहा जीव उस समय जीवन अथवा मरण का अभिप्राय नहीं रखता है वह तो यों विचार रहा है कि मैं मरण का प्रशंसापूर्वक स्वागत नहीं कर रहा हूँ। और मैं जीवित रहने की भी विशेष अभिलाषा नहीं रखता हूँ मैं तो केवल रत्नत्रय पूर्वक समाधिकाल की ही प्रतीक्षा कर रहा हूँ जिस प्रकार कि आजीविका करने वाला सेवक मात्र प्रभुके निदेश (हुक्म) की प्रतीक्षा किया करता है इस प्रकार संन्यास धारने वाले की भावनाओं में विशुद्धि हो रही है तिस कारण सल्लेखना करने में आत्मवध दोष नहीं है यह कथन करना युक्तिपूर्ण है॥

तथा वदतः स्वसमयविरोधात्। सोऽयं ना संचेतितं कर्म बध्यत इति स्वयं प्रतिज्ञाय वधकचित्तमन्तरेणापि संन्यासे स्ववधदोषमुद्भावयन् स्वसमयं बाधते स्ववचनविरोधाच्च सदा मौनव्रतिकोऽहमित्यभिधानवत्। मरणसंचेतनाभावे कथं सल्लेखनायां प्रवृत्त इति चेन्न, जरारोगेन्द्रियहानिभिरावश्यकपरिक्षयसंप्राप्तौ तस्य स्वगुणे रक्षणे प्रयत्नस्ततो न सल्लेखनात्मवधः प्रयत्नस्य विशुद्धयङ्गत्वात् तपश्चरणादिवत्।

एक बात यह भी है कि उस समय सल्लेखना करते तिस प्रकार आत्मवध दोष को कह रहे वादी के यहाँ अपने स्वीकृत सिद्धान्त से विरोध पड़ता है। प्रसिद्ध हो रहा यह बौद्ध प्रतिज्ञा करता है

कि संचेतना किये गये बिना कोई कर्म बंधता नहीं है ऐसी स्वयं प्रतिज्ञा कर वध करने वाले चित्त के बिना भी संन्यास में आत्मवध दोष को उठा रहा सौगत अपने अभीष्ट सिद्धान्त की बाधा कर रहा है। भावार्थ—क्षणिक वादी यदि सभी भावों को नित्य कह बैठे तो उस के ऊपर स्व समय विरोध दोष लग बैठता है तथा बौद्ध मानते हैं कि जब सत्त्व तथा सत्त्वसंज्ञा और वधक एवं मारने का चित्त यों इन चार प्रकार की चेतना को पाकर हिंसक जीव के हिंसा लगती है अन्यथा नहीं, किन्तु सल्लेखना करने वाले व्रती के अपनी हिंसा करने का चित्त नहीं है ऐसी दशा में आत्मवध का दोष उठाना अपने सिद्धान्त से च्युत होना है। दूसरी बात यह है कि कोई बड़े बल से चिल्लाकर यों पुकारे कि मैं सर्वदा मौन रहने के व्रत को धारे हुये हूं जैसे इस कथन में अपने वचनों से विरोध आता है। मौन व्रती कभी पुकार नहीं सकता है उसी प्रकार नैरात्म्य वादी बौद्ध आत्मतत्त्व को ही नहीं मानते हैं तो संन्यासी के ऊपर आत्मा के हिंसकपन का दोष नहीं उठा सकते हैं अन्यथा स्ववचन विरोध हो जावेगा। यदि यहां बौद्ध यों कहें कि मरण में भले प्रकार चित्तविचार हुये बिना वह संन्यासी किस प्रकार सल्लेखना करने में प्राप्त हो जायगा ? या सल्लेखना में प्रयत्न करने लग जायगा ? बताओ। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना, कारण कि बुढ़ापा, असाध्यरोग, नेत्र आदि इन्द्रियों की हानि, चर्या क्रिया की हानि, आदि करके आवश्यक रूप में शरीर के परिक्षय का निःप्रतीकार प्रकरण प्राप्त हो जाने पर उस व्रती का अपने गुणों की रक्षा करने में प्रयत्न है मरण में संचेतना नहीं है तिस कारण सल्लेखना में आत्मवध दोष नहीं लगता है। सल्लेखना कोई आत्महिंसा नहीं है किन्तु पुरुषार्थ पूर्वक उपात्त किये गये व्रतशीलों की रक्षा करना है। प्रयत्न कर रहे संन्यासी के विशुद्धि का अंग होने के कारण सल्लेखना एक बलवत्तर पुरुषार्थ है जैसे कि तपश्चरण, केशलुंचन, कायक्लेश आदि हैं अतः प्रासुक भोजन, पान, उपवास आदि विधि करके मरणपर्यन्त शुभभावनाओं का विचार कर रहा संन्यासी शास्त्रोक्त विधि करके सल्लेखना का प्रीतिपूर्वक सेवन करता है।

एकयोगकरणं न्याय्यं इति चेन्न क्वचित्कदाचित्कस्यचित्सां प्रत्याभिमुख्यप्रतिपादनार्थत्वात् वेश्मापरित्यागिनस्तदुपदेशात्। दिग्विरत्यादिसूत्रेण सहास्य सूत्रस्यैकयोगीकरणेऽपि यथा दिग्विरत्यादयो वेश्मापरित्यागिनः कार्यास्तथा सल्लेखनापि कार्या स्यात्। न चासौ तथा क्रियते क्वचिदेव समाध्यनुकूले क्षेत्रे कदाचिदेव संन्यासयोग्ये काले कस्यचिदेवासाध्यव्याध्यादेः सन्न्यासकारणसन्निपातादप्रमत्तस्य समाध्यर्थिनः सल्लेखनां प्रत्याभिमुख्यज्ञापनाच्च सागारानागारयोरविशेषविधिप्रतिपादनार्थत्वाच्च सल्लेखनायां पूर्वत्वादस्य तंत्रस्य पृथग्वचनं न्याय्यं ॥ एतदेवाह—

यहां कोई आक्षेप करता है कि पूर्व सूत्र के साथ इस सूत्र का एक योग कर देना न्यायोचित है "दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतमारणान्तिकीं सल्लेखनासंपन्नश्च" यों मिलाकर एक सूत्र कर देने में लाघव है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह आक्षेप ठीक नहीं कारण कि किसी एक पवित्र क्षेत्र में किसी नियत समय में किसी नियत व्यक्ति के ही उस सल्लेखना के प्रति अभिमुखपना है। इस का प्रतिपादन करने के लिये पृथक् योग किया गया है। एक बात यह भी है कि पूर्व सूत्र के साथ इस सूत्र को मिला देने से घर का नहीं परित्याग करने वाले श्रावक को ही कैस सल्लेखना करने का उपदेश समझा जाता। मुनि के सल्लेखना का कर्तव्य नहीं समझा जाता, किन्तु मुनिमहाराज को भी सल्लेखना करना सिद्धान्त में अभीष्ट किया गया है अतः दो सूत्रों को एक में जोड़ देना ठीक नहीं है "दिग्देशानर्थदण्डविरति" इत्यादि सूत्र के साथ इस "मारणान्तिकीं" आदि सूत्र का

अनेकों का एक योग कर देने पर भी जिस प्रकार दिग्विरति आदिक व्रत उस गृह के अपरित्यागी गृहस्थ

को करने योग्य मान लिये जाते हैं उसी प्रकार सल्लेखना भी गृहस्थ को ही करने योग्य होती। साथ ही जैसे सर्वत्र, सर्वदा सभी गृहस्थ दिग्विरति आदि व्रतों को पालते हैं उसी प्रकार सल्लेखना भी सभी स्थानों पर सभी कालों में सभी गृहस्थों के पालने योग्य हो जाती, किन्तु अहिंसा, दिग्विरति, आदि के समान वह सल्लेखना तो तिस प्रकार सर्वत्र सर्वदा सब करके नहीं की जाती है किन्तु समाधि के अनुकूल हो रहे तीर्थस्थान, धर्मशाला, वसतिका आदि किसी एक पावन क्षेत्र में ही और संन्यास के योग्य हो रहे किसी विशेष काल में ही तथा असाध्य व्याधि तीक्ष्ण अस्त्राघात आदि परिस्थितियों से उपद्रुत हो रहे किसी सप्तशीलधारी जीव के सल्लेखना होती है अतः संन्यासमरण के कारणों का सन्निपात हो जाने से सल्लेखना के लिये सदा अप्रमादी हो रहे उस समाधि के अभिलाषुक प्राणी के सल्लेखना के प्रति अभिमुखपन को ज्ञापन करना भी पृथक् योग की सार्थकता है। एक बात यह भी है कि अणुव्रती सागार और महाव्रती अनगार दोनों को विशेषता रहित यह सल्लेखना करने की विधि है। इस को समझाने के लिये सूत्रकार महाराज ने न्यारा सूत्र किया है। दिग्विरति आदि सूत्र में मात्र श्रावक की विधि है और इस सूत्र में सामान्य रूप से श्रावक और मुनि दोनों के लिये सल्लेखना का विधान किया गया है। यह अभिप्राय न्यारा सूत्र करने से ही झलक सकेगा। गृहस्थ भी तभी सल्लेखना करता है जब कि दिग्विरति आदि सातों शील उस सल्लेखना में पहिले पल जाते हैं अतः कारण कार्यभाव अनुसार भी इस सूत्र नामक तंत्र का पृथक् वचन करना न्याय मार्ग से अनपेत है। इस ही बात को आचार्य महाराज वार्तिक द्वारा कहते हैं।

पृथक्सूत्रस्य सामर्थ्याच्च सागारानगारयोः।
सल्लेखनस्य सेवेति प्रतिपत्तव्यमञ्जसा ॥१॥

सागार और अनगार दोनों व्रतियों के सल्लेखना का सेवन है। इस सिद्धान्त को इन दो सूत्रों के पृथक् करने की सामर्थ्य से बिना कहे ही निर्दोष रूप से समझ लेना चाहिये।

तदेवमयं साकल्येनैकदेशेन च निवृत्तिपरिणामो हिंसादिभ्योऽनेकप्रकारः क्रमाक्रमस्वभावविशेषात्मकस्यात्मनोऽनेकान्तवादिनां सिद्धो न पुनर्नित्याद्येकान्तवादिन इति ॥ तेषामेव बहुविधव्रतसम्पन्नं नान्यस्येत्युपसंहृत्य दर्शयन्नाह—

तिस कारण यह सकल रूप करके हिंसादिक से निवृत्ति होने का अनेक प्रकार मुनियों का परिणाम और हिंसादिकों से एक देश करके निवृत्ति हो जाना स्वरूप श्रावकों का अनेक प्रकार का परिणाम तो क्रमभावी और सहभावी स्वभाव विशेषों के साथ तदात्मक हो रहे आत्मा के ही हो सकता है अतः अनेकान्तसिद्धान्त का पक्ष ले रहे अनेकान्त वादी जैनों के यहाँ ही परिणामी आत्माका अनेक प्रकार परिणाम हो जाना सिद्ध है किन्तु फिर आत्मादि पदार्थों को सर्वथा नित्य मानने वाले या आत्मा को सर्वथा अनित्य (क्षणिक) मानने वाले आदि एकान्तवादियों के यहाँ हिंसादिक से निवृत्ति हो जाना आदि परिणतियाँ नहीं सिद्ध होने पाती हैं। और उन अनेकान्तवादियों के यहाँ ही बहुत प्रकार के अहिंसा, सामायिक, दान, आदि व्रत भी बन सकते हैं। अन्य एकान्तवादी के यहाँ व्रत करना ही नहीं बन सकता है। अर्थात् सहक्रमभाव से अनेक विवर्तों रूप करके परिणमन कर रहे आत्मा के पहिले हिंसापरिणति थी पुनः उसी परिणामी आत्मा के अंतरंग बहिरंग कारण वश अहिंसाणुव्रत या अहिंसामहाव्रत परिणाम

उपज जाते हैं। क्षणस्थायी और कालान्तरस्थायी स्वभावों के साथ तदात्मक हो रहा आत्मा उन हिंसा, अहिंसाणुव्रत, अहिंसामहाव्रत, परिणामों के फलस्वरूप नारकी, देव, मोक्ष, अवस्थाओं को भोगता है। यदि आत्मा को सर्वथा नित्य माना जायगा तो वह सदा एक सा ही रहेगा। हिंसक है तो सदा हिंसा ही करता रहेगा और अहिंसक आत्मा सदा अहिंसक ही रहेगा। इसी प्रकार क्षणिक पक्ष में हिंसक आत्माको नरक नहीं मिला दूसरे ने ही नारकीय दुःखों को भोगा आदि अनेक दोष आते हैं। हाँ अनेकान्त सिद्धान्त में कोई दोष नहीं है इसी बात को उपसंहार कर दिखलाते हुये ग्रन्थकार वसंततिलका छन्द में गूँथे हुये पद्य को कह रहे हैं।

नानानिवृत्तिपरिणामविशेषसिद्धे-
रेकस्य नुर्बहुविधव्रतमर्थभेदात्।
युक्तं क्रमाक्रमविवर्तिभिदात्मकस्य
नान्यस्य जातु नयबाधितविग्रहस्य ॥१॥

कथञ्चित् हो रहे क्रमभावी और अक्रमभावी विशेष पर्यायों के साथ तदात्मक हो रहे नित्यानित्यात्मक एक परिणामी आत्मा के तो अनेक प्रकार के निवृत्तिरूप परिणाम विशेषों की सिद्धि है अतः उसी आत्मा के सर्वरूप से या एक देश से हिंसादिकों की विरति करना रूप प्रयोजनों के भेद से बहुत प्रकार के व्रतों का धारण युक्ति सिद्ध हो जाता है। किन्तु अन्यवादियों के यहाँ नयों से बाधित हो रहे सर्वथा क्षणिकत्व, नित्यत्व, आदि कल्पित शरीरों को धारने वाले आत्मा के कदाचित् भी व्रतों का पालन नहीं हो सकता है। भावार्थ–सत्त्वं अर्थक्रियया व्याप्तं, अर्थक्रिया च क्रमयौगपद्याभ्यां व्याप्ता, क्षणिके नित्ये वा क्रमयौगपद्ये न स्तः। क्रम और युगपत्पने करके अर्थक्रियाओं को कर रहा पदार्थ ही जगत् में सत् है सर्वथा नित्य या क्षणिक पदार्थ तो आकाशपुष्पसमान असत् है। पहिले प्रवृत्ति परिणाम को हटाकर पुरुषार्थ पूर्वक निवृत्ति परिणाम करना ये सब अर्थक्रियायें अनेकान्तसिद्धान्ती स्याद्वादियों के यहाँ ही सुघटित होती हैं। इसका विस्तार अष्टसहस्री में विशेष आनन्द के साथ समझ लिया जाता है।

इति सप्तमाध्यायस्य प्रथममाह्निकम्।

इस प्रकार सातमें अध्याय का प्रकरणों का समुदाय स्वरूप पहिला आह्निक समाप्त हुआ।

चिद्रूपसिद्धपरमात्ममयान्यहिंसा,—
दीनि व्रतानि पुरुषार्थभरात्प्रपन्नः।
मैत्री-प्रमोद-करुणादिसुभावनाढ्यः,
स्वर्गापवर्गं सुखमेति गृही यतिश्च ॥

अथ सद्दर्शनादीनां सल्लेखनान्तानां चतुर्दशानामप्यतीचारप्रकरणे सम्यक्त्वातिचार-प्रतिपादनार्थं तावदाह;—

अब इस के अनन्तर सम्यग्दर्शन को आदि लेकर सल्लेखना पर्यंत चौदहों भी गुणों के अतिचारों के निरूपण का प्रकरण प्राप्त होने पर सबसे प्रथम सम्यक्त्व गुण के अतीचारों की प्रतिपत्ति कराने के लिये सूत्रकार अग्रिम सूत्र को कहते हैं। अर्थात्–सम्यक्त्वममलममलान्यणुगुणशिक्षाव्रतानि मरणान्ते। सल्लेखना च विधिना पूर्णः सागारधर्मोऽयम्। सम्यग्दर्शन, अहिंसाव्रत, सत्यव्रत, अचौर्यव्रत, शीलव्रत, परि-

भोगत्याग, दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्डविरति, सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोग परिभोग संख्यान, अतिथिसंविभाग, सल्लेखना, यों श्रावकों के पाये जा रहे सम्यक्त्व और पाँच अणुव्रत, तथा सात शील, एक सल्लेखना इन चौदहों गुणों के अतीचारों का वर्णन द्वितीय आह्निक में किया जायगा ॥

शंकाकांक्षाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवाः सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥२३॥

शंका करना, आकांक्षा करना, ग्लानि करना, अन्यमिथ्यादृष्टियों की मन से प्रशंसा करना और मिथ्यादृष्टियों के विद्यमान अविद्यमान गुणों का संस्तवन कहना ये पांच सम्यग्दर्शन के अतीचार हैं। अर्थात् निर्ग्रन्थों को मोक्ष होती है ? या सग्रन्थों की भी मुक्ति हो जाती है ? अथवा क्या गृहस्थ मनुष्य, पशु, स्त्री भी कैवल्य को प्राप्त कर लेते हैं ? इस प्रकार शंकायें करना अथवा अनेक शुभ कार्यों में भय करने की टेव रखना शंका है। इस लोक सम्बन्धी और परलोक सम्बन्धी भोगों की आकांक्षा करना कांक्षा नाम का दोष है। रत्नत्रययुक्त शरीरधारियों की घृणा करना, उनके स्नान नहीं करना, दन्तधावन नहीं करना आदि को दोष रूप से प्रकट करना विचिकित्सा है। जैन धर्म से बाह्य हो रहे पुरुषों के ज्ञान, चारित्र, गुणों की मन से प्रशंसा करना अन्यदृष्टि प्रशंसा है। अन्यमतावलम्बियों के सद्भूत असद्भूत गुणों को वचन से प्रकट करना संस्तव कहा जाता है। अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतीचार, और अनाचार, ये चार दोष माने गये हैं। "क्षतिं मनःशुद्धिविधेरतिक्रमं, व्यतिक्रमं शीलव्रतेर्विलंघनं, प्रभोतिचारं विषयेषु वर्तनं, वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम् ॥" मानसिक शुद्धि की हानि हो जाना अतिक्रम है। विषयों की अभिलाषा होना व्यतिक्रम है। व्रतों की एक देश रक्षा का अभिप्राय रखते हुये एक अंश की क्षति कर देना अतीचार है। विचार पूर्वक ग्रहण किये गये व्रतों की रक्षा का लक्ष्य नहीं रख कर पापक्रियाओं में उच्छृंखल प्रवृत्ति करना अनाचार है। दर्शन मोहनीय कर्म की देशघाती सम्यक्त्व प्रकृति का उदय हो जाने पर क्षयोपशम सम्यक्त्व में ये अतीचार संभवते हैं। शंका आदि करने वाले जीव के सम्यग्दर्शन गुण की रक्षा रही आती है और एक देश रूप से सम्यक्त्व का भंग भी हो जाता है ॥

जीवादितत्त्वार्थेषु रत्नत्रयमोक्षमार्गे तत्प्रतिपादके वागमे तत्प्रणेतरि च सर्वज्ञे सदसत्त्वाभ्यामन्यथा वा संशीतिः शंका, सद्दर्शनफलस्य विषयोपभोगस्येहामुत्र चाकांक्षणमाकांक्षा, आप्तागमपदार्थेषु संयमाधारे च जुगुप्सा विचिकित्सा, सुगतादिदर्शनान्यन्यदृष्टयस्तदाश्रिता वा पुमांसस्तेषां प्रशंसासंस्तवौ अन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवौ। त एते सम्यग्दृष्टेर्गुणस्य तद्वतो वातीचाराः पञ्च प्रतिपत्तव्याः।

जीव, अजीव आदिक तत्त्वार्थों में या रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग में अथवा उन जीवादि और रत्नत्रय के प्रतिपादक आगम में एवं उन तत्त्वों के प्रणेता सर्वज्ञभगवान् में विद्यमान अविद्यमान पने कर के अथवा अन्य प्रकारों से संशय करना शंका है। अर्थात्--साततत्त्व, रत्नत्रय, जिनागम, सर्वज्ञ देव, ये हैं या नहीं। अथवा इन के स्वरूप विपर्यास के विकल्पों अनुसार शंकायें करना शंका दोष है। सम्यग्दर्शन के फल हो रहे विषय भोगों के इहलोक और परलोक में हो जाने की आकांक्षा करना कांक्षा है। आप्त, आगम, और पदार्थों में तथा समय के आधार हो रहे साधुओं में जुगुप्सा यानी घृणा करना विचिकित्सा है। अन्याश्च या दृष्टयः अन्यदृष्टयः अथवा अन्या दृष्टिर्येषां ते अन्यदृष्टयः यों समास कर बुद्ध, कपिल,

कणाद आदि के दर्शनशास्त्र अथवा उन दर्शनों के आश्रित हो रहे बौद्ध, सांख्य, वैशेषिक मतावलम्बी पुरुष अन्य दृष्टि हैं। उन दर्शनों या मतावलम्बी पुरुषों की प्रशंसा और स्तुति करना तो अन्यदृष्टिप्रशंसासंस्तव है। ये प्रसिद्ध हो रहे शंकादिक दोष इस सम्यग्दर्शन गुण के अथवा सम्यग्दर्शनगुण वाले जीव के पाँच अतीचार समझने चाहिये, सूत्रोक्त अन्यदृष्टि में जैसे कर्मधारय और बहुव्रीहि समास किये गये हैं उसी प्रकार सम्यग्दृष्टिपद का भी सम्यक् (समीचीना) चासौ दृष्टिरिति सम्यग्दृष्टिः। अथवा समीची दृष्टिर्यस्य स सम्यग्दृष्टिस्तस्य सम्यग्दृष्टेः यों निरुक्ति कर सम्यग्दर्शन गुण अथवा सम्यग्दर्शन गुणवाले सम्यग्दृष्टि जीव के शंकादि पाँच अतीचार जान लिये जाते हैं।

कः पुनः प्रशंसासंस्तवयोः प्रतिविशेषः ? इत्युच्यते—वाङ्मानसविषयभेदात् प्रशंसासंस्तवयोर्भेदः। मनसा मिथ्यादृष्टिज्ञानादिषु गुणोद्भावनाभिप्रायः प्रशंसा, वचसा तद्भावनं संस्तव इति प्रत्येयम्।

यहाँ कोई प्रतिवादी कटाक्षपूर्वक प्रश्न उठाता है कि प्रशंसा और संस्तव में भला फिर क्या सूक्ष्म अन्तर है ? बताओ, यों कटाक्ष प्रवर्तने पर ग्रन्थकार करके समाधान कहा जाता है कि वचन और मन की विषयता अनुसार भेद से प्रशंसा और संस्तव में भेद है (विषयत्वं सप्तम्यर्थः) मन करके मिथ्यादृष्टि जीवों के ज्ञान, चारित्र, श्रद्धान, तपः, आदि में प्रकृष्ट गुणपना प्रकट करने का अभिप्राय तो प्रशंसा है और वचन से मिथ्यादृष्टियों के उन विद्यमान अविद्यमान गुणों का भावना करते हुये उच्चारण करना संस्तव है इस प्रकार दोनों में अन्तर निर्णय कर लेना चाहिये ॥

प्रकरणादगार्यवधारणमिति चेन्न, सम्यग्दृष्टिग्रहणस्योभयार्थत्वात्। सत्यप्यगारिप्रकरणे नागारिण एव सम्यग्दृष्टेरितीष्टमवधारणं। सामान्यतः सम्यग्दृष्ट्यधिकारेऽपि पुनरिह सम्यग्दृष्टिग्रहणस्यागार्यनगारसंबंधनार्थत्वात्। एतेनानगारस्यैवेत्यवधारणमपास्तं, उत्तरत्रागारिग्रहणानुवृत्तेः।

यहाँ किसी आक्षेपक का मंतव्य है कि गृहस्थ के व्रत और शीलों का यह प्रकरण है अतः उस गृहस्थ में पाये जा रहे सम्यग्दर्शन के ही ये पांच अतीचार हैं ऐसा अवधारण हो सकेगा, मुनियों के सम्यग्दर्शन में ये पांच अतीचार नहीं लग सकेंगे। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि सूत्रमें सम्यग्दृष्टि पद का ग्रहण है। अतः श्रावक और अनगार दोनों के सम्यग्दर्शनों के ये अतीचार माने जाते हैं। सम्यग्दृष्टि पद का ग्रहण करना सामान्यरूप से दोनों के लिये लागू है, यदि श्रावक संबंधी सम्यग्दर्शन के ही ये अतीचार इष्ट होते तो सम्यग्दृष्टि पद देने की कोई आवश्यकता न थी, अगारी का प्रकरण होने से ही अगारी के सम्यग्दर्शन की विना कहे ही प्रतिपत्ति हो जाती, यों सम्यग्दृष्टिपद व्यर्थ हो कर ज्ञापन करता है कि षष्ठ, सप्तम, गुणस्थानवर्ती मुनि और पञ्चम गुणस्थानवर्ती श्रावक दोनों के संभव रहे क्षयोपशम सम्यक्त्व के ये पांच अतीचार हैं। अतः अगारी यानी गृहस्थ का प्रकरण होते सन्ते भी ये अगारी ही सम्यग्दृष्टि के अतीचार हैं यह अवधारण इष्ट नहीं किया जा सकता है जब कि यहां सामान्यरूप से सम्यग्दृष्टि का अधिकार चला आ रहा है, क्योंकि अहिंसादि अणुव्रत और सात शील सम्यग्दृष्टि जीव के ही संभवते हैं। तो भी यहां फिर सम्यग्दृष्टिपद का ग्रहण करना तो अगारी, अनगार, दोनों का संबंध करने के लिये है। प्रत्युत चतुर्थ गुणस्थानवर्ती क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव के भी ये अतीचार लग जाते हैं। इस कथन करके इस अवधारण का भी प्रत्याख्यान किया जा चुका है कि ये अतीचार अनगार (मुनि) ही के सम्यग्दर्शन के हैं। क्योंकि व्रतशीलेषु, बन्ध, वध, मिथ्योपदेश,, आदि अग्रिम सूत्रों में भी "अणुव्रतोऽगारी" सूत्र के अगारी पद के ग्रहण की अनुवृत्ति चली आ रही है अतः अगारी पद का

अधिकार निवृत्त नहीं हुआ है अतः अगारी के ही या अनगार के ही ये दोनों अवधारण उचित नहीं हैं।

दर्शनमोहोदयादतिचरणमतीचारः तत्त्वार्थश्रद्धानातिक्रमणमित्यर्थः ।

दर्शन मोहनीय कर्म के मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व ये तीन भेद हैं "जंतेण कोद्दवं वा पढमुवसमसम्मभाव जंतेण, मिच्छं दव्वं तु तिधा असंखगुणहीणदव्वकमा" इन में से पहिला सर्वघाती है, दूसरा जात्यन्तर सर्वघाती है, तीसरी सम्यक्त्व प्रकृति देशघाती है। सम्यक्त्व नामक दर्शनमोह कर्म का उदय हो जाने से जो अतिचरण यानी अतिक्रमण करना है वह अतीचार है। तत्त्वार्थश्रद्धान का अतिक्रमण हो जाना इस का अर्थ है, चल, मल, अगाढ़ता ये तीन दोष क्षयोपशम सम्यक्त्व में कदाचित् पाये जाते हैं। उक्त सूत्र में मलों को दिखला दिया है।

ननु च न पंचातिचारवचनं युक्तमष्टांगत्वात् सम्यग्दर्शनस्यातिक्रमणानां तावत्त्वमिति-चेन्न, अत्रैवान्तर्भावात्, निःशंकितत्वाद्यष्टांगविपरीतातिचाराणामष्टविधत्वप्रसंगे त्रयाणां वात्स-ल्यादिविपरीतानामवात्सल्यादीनामन्यदृष्टिप्रशंसादिना सजातीयानां तत्रैवान्तर्भावात् । व्रताद्यती-चाराणां पंचसंख्याव्याख्यानप्रकाशाणामपि पंचसंख्याभिधानात् ।

यहाँ कोई शंका उठाता है कि सम्यग्दर्शन के निशंकितत्व १, निःकांक्षितत्व२, निर्विचिकित्सा ३, अमूढ़दृष्टि४, उपगूहन५, स्थितीकरण६, वात्सल्य७, प्रभावना८, ये आठअंग हैं तो सम्यग्दर्शन के अतिक्रमण भी उतने परिमाण वाले आठ ही होने चाहिये, केवल पाँच ही अतीचारों का कथन करना तो सूत्रकार को उचित नहीं है, युक्ति रहित है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्यों कि इन पाँचों में ही उन आठों का अन्तर्भाव हो जाता है। निःशंकित आदि आठों अंगों के विपरीत हो रहे अतीचारों को भी आठ प्रकारपने का प्रसंग होना चाहिये तो भी वात्सल्य आदिक से विपरीत हो रहे अवात्सल्य आदिक तीन का उन पांच में ही अन्तर्भाव हो जाता है। क्योंकि अवात्सल्य आदिक तीन तो अन्यदृष्टिप्रशंसा आदि की जाति के समान जाति को धारने वाले सजातीय हैं। अर्थात् आद्य तीन गुणों के प्रतिपक्ष हो रहे तीन शंका, कांक्षा, विचिकित्सा दोषों को तो कण्ठोक्त सूत्र में कह दिया ही है शेष रहे मूढ़दृष्टि, अनुप-गूहन, अस्थितीकरण, अवात्सल्य, अप्रभावना इन पाँच दोषों को अन्यदृष्टिप्रशंसा, संस्तव, इन दो दोषों में गर्भित कर लेना चाहिये. देखिये जो पुरुष मिथ्यादृष्टियों की मन से प्रशंसा करता है, और वचन से स्तुति करता है वह मूढ़दृष्टि दोष वाला है। वैसा मूढ़दृष्टि जीव उन रत्नत्रयमंडित पुरुषों के दोषों का उपगूहन नहीं करता है, दर्शन या चारित्र से डिगते हुओं का स्थितीकरण भी नहीं कर पाता है वात्सल्य-भाव तो उस के निकट आता ही नहीं है। जिनशासन की प्रभावना करना तो कथमपि उसको अभीष्ट नहीं है। तिसकारण ये पाँच दोष सूत्रोक्त चौथे, पाँचवें, दोषों के सजातीय होने से उन्हीं में गर्भित कर लिये जाते हैं। एक बात यह भी है कि व्रत आदि यानी पाँच व्रतों, सात शीलों और सल्लेखना के भी पांच संख्या वाले पाँच प्रकार अतीचारों का व्याख्यान किया जावेगा। अतः सभी के पाँच अतीचारों की विवक्षा रखने वाले सूत्रकार ने सम्यग्दर्शन के भी अतीचारों को पांच संख्या में कथन कर दिया है। विशेष यह है कि शंका आदि पांच सूत्रोक्तदोष बड़े बलवान् हैं। जो सर्वज्ञ या आगम में ही शंका कर रहा है अथवा वीतराग धर्म का श्रद्धालु होकर भी भोगोपभोगों की आकांक्षा कर रहा है, मुनियों के पवित्र शरीर में भी घृणा उपजाता है, जैनमतबाह्य दार्शनिकों के गुणाभासों की प्रशंसा स्तुतियों के पुल बांधता है वह दीन पुरुष, मूढ़दृष्टि या अनुपगूहन तथा अस्थितीकरण तथा अवात्सल्य और अप्रभावना को तो बड़ी सुलभता से आचरेगा इतना लक्ष्य रखना कि क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव इतनी

व्यक्त शंका आकांक्षायें आदि नहीं करता है कि सर्वज्ञ कोई है या नहीं, मुझे परभव में स्त्री, पुत्र, धन बहुत मिलें, मुनिशरीर बहुत घिनावना है, वाममार्गी, हिंसक, व्यभिचारी आदि बड़े अच्छे होते हैं, नदी, सागरस्नान से मुक्ति हो जाती है धर्मात्माओं की ग्लानता की जानी चाहिये, धर्मच्युत को और भी गिरा देना चाहिये, किसी से वत्सलता करने की आवश्यकता नहीं है, अज्ञान अन्धकार को क्यों हटाया जाय इत्यादि। सच बात तो यह है कि ये शंकादिक प्रकट दोष मिथ्यादृष्टियों के ही पाये जाते हैं। हां सम्यग्दृष्टि के तो अव्यक्त रूप से क्वचित् कदाचित् संभव जाते हैं। बड़े पुरुष का यत्किंचित् भी दोष

बहुत खटकता है, छोटा ही परिपाक में बड़ा हो जाता है अतः निर्दोष उपशमसम्यक्त्व या क्षायिक-सम्यक्त्व को धारने का लक्ष्य कराने के लिये अनुद्भूत शंकादिक छोटे दोषों का संभवना सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से क्षयोपशमसम्यक्त्व में कदाचित् हो जाता है। नाना प्रकार संकल्पविकल्पों में फंसे हुये प्राणियों के आजकल सम्यक्त्व होना अतीव दुर्लभ है हां असंभव तो नहीं है जब कि असंख्यात योजन चौड़े अन्तिम स्वयंभूरमण द्वीप की परली ओर के अर्धभाग में असंख्याते तिर्यञ्च देशव्रती पाये जाते हैं तो जिनालय, जिनागम, तीर्थस्थान, गुरुसंगति, संयमिसत्संग, आदि अनेक अनुकूलताओं के होते हुये यहां भरतक्षेत्रसंबंधी आर्यखण्डके मध्यप्रान्तों में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाना दुर्लभ नहीं है। सूक्ष्म-विचार के साथ पर्यवेक्षण किया जाय तो लाखों करोड़ों जीवों में से एक दो जीव के ही शंकायें करना नहीं मिलेगा शेष सभी जीव प्रायः हृदय में व्यक्त, अव्यक्त, रूप से शंका पिशाचियों से ग्रसित हो रहे परलोक है या नहीं ? बड़े बड़े स्नेही जीव भी मरकर पुनः अपने प्रेमपात्रों को आकर नहीं सम्हालते हैं। तीव्र-क्रोधी भी परलोक से आकर अपने शत्रुओं को त्रास देते नहीं सुने जाते हैं। क्वचित् भवस्मरण कर पूर्व भव की कुछ कुछ बातों को कहने वाले लड़का, लड़की, देखे सुने जाते हैं। किन्तु उन से भरपूर संतोष नहीं होता है। कई पुरुष अभिमान के साथ उपकार या अपकार करने की प्रतिज्ञा कर मरते हैं वे भी भूतकाल में लीन हो जाते हैं। यों अनेक जीव परलोक के विषय में या सर्वज्ञ, ज्योतिश्चक्र भूभ्रमण में शंकित रहना, चींटी मक्खी भौंरी मकड़ी आदि के मानसिक विचार पूर्वक किये गये चमत्कार कार्यों की आलोचना कर नैयायिकों के अभिमत समान चींटी आदि में मन इन्द्रिय के होने की शंका बनाये रखते हैं इसी प्रकार जैन धर्मात्माओं या तीर्थस्थानों अथवा जिनबिम्ब, जिनागम आदि के ऊपर कई प्रकार की विपत्तियाँ आ रही जानकर भी असंख्याते सम्यग्दृष्टि देव या जिन शासन रक्षक देवों के होते हुये भी कोई एक भी देव यहाँ आर्य खण्ड में आकर दिगम्बर जैन धर्म का प्रकाण्ड चमत्कार क्यों नहीं दिखाता है ? स्वर्ग, मोक्ष, असंख्यात द्वीप समुद्र भला कहाँ हैं ? कुछ समझ में नहीं आता है जब पुण्य पाप की व्यवस्था है तो अनेक पापी जीव सुखपूर्वक जीवन बिताते हुये और अनेक धर्मात्मापुरुष क्लेशमय जीवन को पूरा कर रहे क्यों देखे जाते हैं ? वेश्याओं की अपेक्षा कुलीन विधवायें महान् दुःख भोग रही हैं, शिकार खेलने वाले या धीवर, वधक, बहेलिया, शाकुनिक, मांसिक आदि को कोई भी जीव पुनः आकर नहीं सताता है। कतिपय बड़े बड़े धर्मात्मा मरते समय अनेक क्लेशों को भुगतते हैं जब कि अनेक पापी जीव सुख पूर्वक मर जाते हैं। धर्म का रहस्य अन्धकार में पड़ा हुआ है। इसी प्रकार बड़े बड़े धर्मात्माओं को भी आकांक्षायें हो जाती हैं। नीरोग शरीर, दृढ़ सुन्दर शरीर पुत्र स्त्री धन कुल प्राप्ति, प्रभुता, यश, लोकमान्यता का मिलना, प्रकृष्टज्ञान, बल राजप्रतिष्ठा की पूर्णता आदि में से जिस किसी भी महत्त्वाधायक पदार्थ की त्रुटि रह जाती है उसी की आकांक्षा आजकल के जीवों के क्वचित्कदाचित् हो ही जाती है, दिनरात कलह करने वाली स्त्री से भले मनुष्य का भी जी ऊब जाता है विचारा कहां तक संतोष करे। कुरूप, रोगी, क्रोधी, आजीविकाहीन, दरिद्र, मूर्ख, पति में सुन्दर युवती का चित्त कहाँ तक रमण कर सकता है उसको स्वानुकूल पति की आकांक्षा कदाचित् हो ही जाती है, चक्रवर्ती विद्याधर, देव, इन्द्र, अहमिन्द्रों के

सुखों को सुन कर अनेक भद्र पुरुषों के मुख में पानी आ जाता है। आतुर विद्यार्थी कदाचित् अच्छे व्याख्याता के व्याख्यान को सुन कर व्याख्याता बनने के लिये और अच्छे लेखक के लेखों को बांचकर प्रसिद्ध लेखक बनने के लिये एवं चित्रकार, अभिनेता, व्यापारी, शासक, आदि बनने के लिये जैसे लालायित हो जाता है उसी प्रकार कतिपय दानी पूजक पुरुषों का भी चित्त अन्य विभूतियों को देखकर अधीनता से बाहर हो जाता है॥ तीसरे विचिकित्सादोष पर भी यह कहना है कि कितने बहिरंग धर्मात्माओं में घृणा के भाव पाये जाते हैं। कितने पुरुष दुःखी जीवों पर करुणा करते हैं ? या बीमार धार्मिक पुरुषों के मलमूत्र धोकर उनकी परिचर्या में लग जाते हैं ? बताओ। घृणाओं के भय के मारे कितने जीव अन्य मनुष्यों की चिकित्सा या समाधिमरण कराने के लिये उद्युक्त रहते हैं ? हजारों लाखों में से कोई एक आध ही होगा। जैनेतर पुरुषों की प्रशंसा और स्तुति करना अनेकभद्र पुरुषों में भी पाया जाता है हां कोई उदासीन श्रावक या मुनि इस अतीचार से बच गया होय, बहुत से जीवों में यह दोष अधिकतया पाया जाता है। जैन पण्डित, ब्रह्मचारी, मुनियों की सन्मुख प्रशंसा करने वाले जैन सदस्य ही पीछे उन्हीं की निन्दा करते हुये देखे जाते हैं और वे ही मिथ्यादृष्टियों की उच्छ्वास लिये बिना प्रशंसा के गीत गाते रहते हैं। जैनों द्वारा व्यवहार में अनेक अजैन जन प्रतिष्ठा प्राप्त हो रहे हैं जैनों को उन अजैनों की टहल करनी पड़ती है। भले सम्यग्दृष्टि कहे जाने वालों के घर में भी एक मिथ्यादृष्टि पुरुष उच्चकोटि की प्रशंसा स्तुतियों को पा रहा है। अजैन राजवर्ग या प्रभुओं की प्रशंसा करते हुये लोक अघाते नहीं जब कि साधर्मी भाई से जयजिनेन्द्र या सहानुभूति सूचक दो एक शब्द कहने में ही ऊपर डलियों आलस्य चढ़ बैठता है। यही दुर्दशा अमूढदृष्टि गुण की है लोकमूढता, देवमूढता, गुरुमूढताओं के फन्दे में अनेक जैन स्त्री पुरुष फंस जाते हैं प्रकट अप्रकट रूप से वे उन कार्यों में आसक्ति कर बैठते हैं। रामलीला, रासक्रीड़ा, नाटक, सीनेमा, कहानियाँ, गंगास्नान, कुतपस्विदर्शन, देवताराधन, मंत्र तन्त्र क्रियायें, आदि उपायों द्वारा कितने ही श्रोता मूढदृष्टि क्रियाओं में सम्मति दे देते हैं।स्थितीकरण करना भी बड़ा कठिन हो रहा है। अजैनों को या राजवर्ग को या यशः संबन्धी कार्यों में धन लुटाने के लिये अनेक धनिक थैलियों के मुँह खोले हुये हैं किन्तु निर्धन धार्मिकों या दरिद्र विधवाओं अथवा दीन छात्रों के उदर पोषणार्थ स्वल्पव्यय करने की उनके आय व्यय के चिट्ठे (बजट) में सौकर्य (गुञ्जाइश) नहीं है। विद्वान् जन भी अपने स्वार्थ या यश की सिद्धि के स्थान पर तो व्याख्यानों को झाड़ते फिरते हैं किन्तु आवश्यक स्थलों पर दर्शनच्युत या चारित्रपतित जीवों को जिनमार्ग पर लाने के लिये उन को अवसर नहीं मिलता है। व्रतीपुरुष भी जैनत्वको बढ़ाने और स्थिरीकरण करने में उतने उद्योगी नहीं है जितने कि होने चाहिये। उपगूहन अंग की भी यही विकट स्थिति है साम्यवाद के युग में दोषों का छिपाना दोष समझा जाता है, खोटी टेवों को धार रहे अनेक ठलुआ पुरुष जब दूसरों के असद्भूत दोषों को प्रसिद्धि में ला रहे हैं तो सद्भूत दोषों को प्रकट करने में उनको क्यों लज्जा आने लगी। आजकल व्यर्थ के संकल्प विकल्पों और झूंठी निन्दा, प्रशंसा का व्यवहार बड़े वेग से बढ़ रहा है। साधर्मियों के अल्पीयान् दोषों का परोक्ष में या एकान्त में त्रियोग से छिपा लेना बड़ा भारी पुरुषार्थ पूर्वक किया गया गुरुतर कार्य हो गया है। निन्दा किये बिना चुपके बैठा नहीं जाता, परितोष देने पर भी जनता बुराई करने से नहीं चूकती है भले ही उलटा हम से ही कुछ ले लो किन्तु दूसरों के सद्भूत, असद्भूत, दोषों की निन्दा किये बिना हमारी कण्डूया मिट नहीं सकती है। तथा वात्सल्य परिणाम भी हीयमान हो रहा है। अपने साधर्मी भाइयों के साथ निष्कपट प्रतिपत्ति करने का व्यवहार क्वचित् ही पाया जाता है। भले से भला मनुष्य भी यदि किसी व्यक्ति से बात चीत करता है तो उस व्यक्ति को प्रथम यही भान होता है कि यह कोई स्वार्थ सिद्धि के लिये कपट व्यवहार कर मुझ को आर्थिक, मानसिक

क्षतियां पहुंचाने का प्रयत्न कर रहा है। विश्वास और वात्सल्यदृष्टियां न्यून होती जा रही हैं। ठोस प्रभा-वना अंग का पालना तो विरल पुरुषों में ही पाया जाता है। यश की प्राप्ति और कुछ धर्मलाभ का लक्ष्य रख कर यद्यपि कतिपय सभायें, प्रतिष्ठाएँ, तीर्थयात्रायें, जिनपूजा, तपश्चरण, आदि कार्य होते हैं फिर भी परम पवित्र, जिनशासन के माहात्म्य का प्रकाश करना अभी बहुत दूर है। यदि दशवर्ष तक भी ठोस प्रभावनायें हो जायें तो साढ़ेबारहलाख जैनों की संख्या बढ़ कर दोकरोड़ हो सकती है और ये साढ़े बारह लाख भी पक्के जैन बन जावें। तात्पर्य यह है कि अष्टांगसम्यग्दर्शन की प्राप्ति अतीव दुर्लभ है, उन्तीस अंक प्रमाण पर्याप्त मनुष्यों में मात्र सात सौ करोड़ असंयत सम्यग्दृष्टि, तेरह करोड़ देश संयमी और तीन कम नौ कोटि संयमी, यों सम्पूर्ण सात सौ इक्कीस करोड़, निन्यानवेलाख, निन्यानवे हजार, नौ सौ सतानवे मनुष्य ही सम्यग्दृष्टि हैं यानी बीस अंक प्रमाण सौसंख मनुष्यों में एक मनुष्य के सम्यग्दृष्टि होने का स्थूल परिगणन आता है। हां असंभव नहीं है क्षयोपशमसम्यक्त्व और उपशमसम्यक्त्व कभी कभी आधुनिक धर्मात्मा जैनों के हो जाते हैं। उस समय थोड़ी देर के लिये निःशंकितपन आदि गुण भी चमक जाते हैं। हाँ पुनः मिथ्यात्व का उदय आ जाने पर शंका आदि दोष स्थान पा जाते हैं। क्षयोपशम सम्यक्त्व में उक्त पाँच अतीचार मन्द या अव्यक्त हो कर संभव जाते हैं। रत्नस्थान दुर्लभ होंय इसमें आश्चर्य नहीं करना चाहिये किसी भी [illegible] जाँय तभी अच्छा है जीवों को पापप्रधान पुण्यरहित बहुभाग परणतियों का परित्याग कर रत्नत्रय पाने में उद्योगी होना चाहिये यह जिनशासन का उपदेश त्रिलोक, त्रिकाल, में अबाधित है।

कुतः पुनरमी दर्शनस्यातिचारा इत्याह—

सम्यग्दर्शन के वे शंका आदि पांच अतीचार फिर किस कारण से हो जाते हैं अथवा किस युक्ति से सिद्ध हो जाते हैं ? बताओ। ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार इस समाधान कारक अगले वार्तिक को कहते हैं। उसको सुनो।

सम्यग्दृष्टेरतीचाराः पञ्च शंकादयः स्मृताः।
तेषु सत्सु हि तत्त्वार्थश्रद्धानं न विशुद्धयति ॥१॥

क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव के शंका आदिक पांच अतीचार सर्वज्ञआम्नाय पूर्वक आचार्य परंपरा द्वारा स्मरण किये जा चुके माने गये हैं। कारण कि आत्मा में उन शंका आदि पांच अतीचारों के होते सन्ते तत्त्वार्थों का श्रद्धान करना रूप सम्यग्दर्शन गुण की विशुद्धि नहीं हो पाती है। अर्थात् देशघाती सम्यक्त्व प्रकृति का उदय हो जाने से आत्मा में चल, मल, अगाढ़ दोषों की उत्पत्ति होने के कारण तत्त्वार्थ श्रद्धान उतना विशुद्ध नहीं हो पाता है।

शंकादयः सद्दर्शनस्यातीचारा एव मालिन्यहेतुत्वात् ये तु न तस्यातीचारा न ते तन्मा-लिन्यहेतवो यथा तद्विशुद्धिहेतवस्तत्त्वार्थश्रवणाद्यर्थास्तद्विनाशहेतवो वा दर्शनमोहोदयादयस्तन्मा-लिन्यहेतवश्चैव ते तस्मात्तदतीचारा इति युक्तिवचनं प्रत्येयम् ॥

यहाँ अनुमान का प्रयोग यों समझिये कि शंका, आदिक पांच (पक्ष) सम्यग्दर्शन के अतीचार हैं (साध्यदल) मलिनता के कारण होने से (हेतु) जो परिणाम तो उस सम्यग्दर्शन के अतीचार नहीं हैं वे उस दर्शन की मलिनता के कारण भी नहीं हैं जैसे कि उस दर्शन की विशुद्धि के हेतु हो रहे तत्त्वार्थ

श्रवण, निस्तरण, आत्मध्यान, अमूढ़ता, स्वानुभूति आदि अर्थ हैं। अथवा उस सम्यग्दर्शन के विनाश के कारण हो रहे दर्शनमोहनीय कर्म, अनन्तानुबन्धी कर्मों का उदय, उदीरणा, कुदेवभक्ति, जिनदेवावर्णवाद आदि हैं ये तो सर्वथा अनाचार हैं। व्यतिरेक व्याप्तिप्रदर्शन पूर्वक व्यतिरेकदृष्टान्त। वे शंकादिक उस सम्यग्दर्शन की मलिनता के कारण हो रहे हैं। उपनय। तिस कारण उस दर्शन के अतीचार शंका आदिक पांच हैं (निगमन)। इस प्रकार पांच अवयवों वाले अनुमान प्रमाण स्वरूप युक्ति का वचन समझ लेना चाहिये। भावार्थ–इस सूत्र में कहे गये प्रमेय की अनुमान प्रमाण से सिद्धि कर दी गयी है, सम्यग्दर्शन का एक देश करके भंग हो जाना स्वरूप मलिनपन को साधने में सम्यग्दर्शन के विशोधक तत्त्वार्थश्रवण आदि और सम्यग्दर्शन के विघातक दर्शन मोहोदय आदि दोनों प्रकार के भले बुरे परि- [illegible] को शुद्ध करने वाले साबुन, सोडा, रेह, रीठा आदि पदार्थ और वस्त्र का नाश करने वाले अग्नि, कीड़े, तेजाब आदि पदार्थ ये दोनों ही उस कपड़े को मलिन नहीं करते हैं। मलिन अवस्था में पदार्थ की विशुद्धि नहीं रहती है, और सर्वाङ्ग नाश भी नहीं हो जाता है।

व्रतशीलेषु कियंतोऽतीचारा इत्याह;—

आदि में आत्मसात् किये गये सम्यग्दर्शन के अतीचारों को समझ लिया है अब व्रत और शीलों में कितने कितने अतीचार संभवते हैं? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

व्रतशीलेषु पंच पंच यथाक्रमम् ॥२४॥

गृहस्थ के अहिंसा आदि पांच अणुव्रतों में और दिग्विरति आदि सात शीलों में भी अग्रिम सूत्रों में अनुक्रम से कहे जाने वाले पांच पांच अतीचार यथाक्रम करके समझ लेने योग्य हैं। गृहस्थसम्बन्धी बारह व्रतों के साठ अतीचार हो जाते हैं। सम्यग्दर्शन और सल्लेखना के पांच पांच अतीचार तो श्रावक और संयमी दोनों व्रतियों के संभव जाते हैं।

अतीचारा इत्यनुवृत्तिः। व्रतग्रहणमेवास्त्विति चेन्न, शीलविशेषद्योतनार्थत्वात् शीलग्रहणस्य। दिग्विरत्यादीनां हि व्रतलक्षणस्याभिसंधिकृतनियमरूपस्य सद्भावाद् व्रतत्वेऽपि तथाभिधानेऽपि च शीलत्वं प्रकाश्यते, व्रतपरिरक्षणं शीलमिति शीललक्षणोपपत्तेः।

पूर्व सूत्र से अतीचार इस शब्द की अनुवृत्ति कर ली जाती है, यहाँ कोई शंका उठाता है कि सूत्र अत्यन्त लघु होना चाहिये अतः सूत्र में व्रत पद का ही ग्रहण किया जाय दिग्विरति आदिक सात शील भी व्रत ही हैं। तभी तो "व्रतसंपन्नश्च" सूत्रकार ने कहा था। ग्रन्थकार कहते हैं यह तो न कहना क्योंकि दिग्विरति आदि में शीलपन यानी व्रत परिरक्षकपन की विशेषता का द्योतन करने के लिये शील-पद का ग्रहण किया गया है क्योंकि दिग्विरति आदि शीलों के यद्यपि व्रत के "अभिसंधि अर्थात् विचार पूर्वक चलाकर अभिप्रायों से किये गये प्रतिज्ञात नियम स्वरूप" लक्षण का सद्भाव है अतः शीलों में व्रत-पना होते हुये भी सूत्रकार का तिस प्रकार शील रूप से कथन करने में भी कुछ रहस्य है जो कि दिग्विरति आदि में शीलपने का प्रकाश कर रहा है। व्रतों की चारो ओर से रक्षा करने वाला शील होता है। इस प्रकार सातों में शील का लक्षण सुघटित बन रहा है। बात यह है कि आरम्भी, परिग्रही होने से गृहस्थों के व्रतों की रक्षा के लिये शील पालना आवश्यक है मुनियों के नहीं। तभी तो तीर्थ यात्रा के लिये दिग्विरति या देश व्रत के नियमों की अपेक्षा नहीं की जाती है अथवा गृहस्थ के तीसरी, दूसरी प्रतिमाओं में

पाये जा रहे सामायिक व्रत और सामायिक शील में जैसे विशेषता है उसी प्रकार यहां गृहस्थ के सातों शील भी पांच व्रतों के रक्षक मात्र समझे जाते हैं। व्रतों की रक्षा करते हुये शीलों का परिपालन गौण भी हो जाय तो कोई विशेष क्षति (परवाह) नहीं है। हां व्रतों को भी गौण कर शीलों के ही नियम बनाये रखने का लक्ष्य नहीं रखना चाहिये।

सामर्थ्याद्गृहिसंप्रत्ययः, बन्धनादयो ह्यतीचारा वक्ष्यमाणा नानगारस्य संभवंतीति सामर्थ्याद्गृहिण एव व्रतेषु शीलेषु पंच पंचातीचाराः प्रतीयंते। पंच पंचेति वीप्सायां द्वित्वं व्रतशीलातीचाराणामनवयवेन पंचसंख्यया व्याप्यत्वात्। पंचश इति लघुनिर्देशे संभवत्यपि पंच पंचेति वचनमभिव्यक्त्यर्थं, यथाक्रमवचनं वक्ष्यमाणातीचारक्रमसंबंधनार्थं।

सूत्र में बिना कहे ही वक्ष्यमाण सूत्रों की सामर्थ्य से यहां गृहस्थ का समीचीन बोध हो रहा है, कारण कि बंध आदिक अतीचार जो भविष्य में कहे जाने वाले हैं वे गृहस्थ के ही संभवते हैं गृहत्यागी संयमी के नहीं संभवते हैं इस कारण प्रकरण सामर्थ्य से गृहस्थ के ही व्रतों और शीलों में पांच पांच अतीचार क्वचित् पाये जा रहे निर्णीत कर लिये जाते हैं। इस सूत्र में "पंच पंच" यों वीप्सा में द्विपना किया गया है क्योंकि व्रत और शीलों के अतीचारों को पूर्ण रूप से पांच संख्या करके व्याप लिया जाता है "अनवयवेन द्रव्याणां अभिधानमेव वीप्सार्थः" यद्यपि वीप्सा अर्थ में शस् प्रत्यय कर पंचशः इस प्रकार लघुरूप से निर्देश करना संभव था तो भी सूत्रकार का पंच पंच यों बड़े रूप से कथन करना तो अभिव्यक्ति के लिये है अर्थात् लघुबुद्धि शिष्यों को पंच पंच कहने से सुलभतया स्पष्ट अर्थ की प्रकटता हो जाती है। सूत्र में यथाक्रम शब्द का कथन करना तो भविष्य में कहे जाने वाले अतीचारों का क्रम अनुसार संबन्ध कराने के लिये है अर्थात् पूर्व सूत्रों में व्रत और शीलों का जिस क्रम से निरूपण किया गया है उस क्रम का उल्लंघन नहीं कर वक्ष्यमाण सूत्रों में उनके अतीचार कहे जायंगे।

अत एवाह ;—

इस ही कारण से उक्त सूत्र का अभिप्राय प्रकट करते हुये ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्तिक को कह रहे हैं।

पंच पंच व्रतेष्वेवं शीलेषु च यथाक्रमं।
वक्ष्यंतेऽतः परं शेष इति सूत्रेति दिश्यताम् ॥१॥

इस प्रकार व्रतों में और शीलों में क्वचित् पाये जा रहे पांच पांच अतीचार भविष्य में सूत्रों द्वारा यथाक्रम से कहे जायंगे ऐसी सूत्रकार प्रतिज्ञा करते हैं। इस सूत्र का वाक्यार्थ बनाने में "अतः परं वक्ष्यन्ते" यानी इस सूत्र से परली ओर सूत्रों में कहे जायेंगे इतना पद शेष रह गया आया ततः अन्वित हो रहा समझ लेना चाहिये। "सोपस्काराणि वाक्यानि भवंति" वाक्यों को यहां वहां से आवश्यक पदों को खींच लेनेका अधिकार प्राप्त है। आवश्यक हो रहे अनुपात्त पद का प्रयोजन वश अन्यत्र संबन्ध कर लेना अतिदेश है। "अतः परं व्रतशीलेषु पंच पंच यथाक्रमं वक्ष्यंते" यों सूत्र का वाक्य बना लिया जाय बड़ा सुन्दर जंचता है।

तत्राद्यस्याणुव्रतस्य केऽतीचारा इत्याह;—

उन व्रत और शीलों में सब के आदि में कहे गये या प्रधान हो रहे अहिंसाणुव्रत के अतीचार

कौन हैं ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं ।

बंधवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥२५॥

अभीष्ट देश में जाने के लिये उत्सुक हो रहे जीव के प्रतिबन्ध हेतु हो रहे हथकड़ी, लेज आदि से उस जीव को बांध देना बंध है। डंडा, चाबुक, छड़ी आदि करके प्राणियों का ताड़न करना वध है। कान, नाक, अण्डकोष आदि अवयवों को छेद देना छेद है। न्यायोचितभार से अधिक बोझ लादना अतिभारारोपण है। उचित समय पर या भूख, प्यास लगने पर गाय आदि के खाद्य, पेय पदार्थों का रोक लेना अन्नपान निरोध है। ये अहिंसाणुव्रत के प्रमादयोग से किये गये बन्ध आदि पांच अतीचार हैं। यदि प्रमादयोग नहीं है और हितैषिता है तो कुँआ, गड्ढा आदि में गिर जाने को रोकने के लिये पशु को लेज आदि से बांध देना, अथवा पागल स्त्री या पुरुष को स्वपरघात के निवारणार्थ सांकल आदि से बांध देना दोषाधायक नहीं है। कोई कोई पागल या भूतावेश की चिकित्सा तो थप्पड़ या बेंत से ताड़ना और कान, नाक, को दबाना आदि उपायों से की जाती है। उपद्रवी या अनभ्यासी छात्र का गुरु भी ताड़न करते हैं माता-पिता भी बच्चों को कदाचित् पीट देते हैं। शल्य चिकित्सा करने वाले डाक्टर या जर्राह फोड़ा को चीर देते हैं। आवश्यकता पड़ने पर अंगुली, टांग, आदि उपाङ्गों का छेद भी कर डालते हैं। वायु का रोग या अंगशून्यता की चिकित्सा के लिये शीशा का भारी कड़ा हाथ-पांव में डाल दिया जाता है। हितेच्छु वैद्य रोगी के खाने पीने को रोक देता है। उपवास करने का उपदेश देने वाले पण्डित भी दूसरों के अन्नपान [illegible] के अंग हो रहे बंध आदिक मल नहीं हैं और संक्लेशजनक हो रहे बंध आदिक उस अहिंसाविरति के अतीचार हैं। जीव के संपूर्ण प्राणों का वियोग नहीं करूंगा इतने मात्र अहिंसा व्रत को एक देश पाल रहा है फिर भी क्रोधवश बांधता, ताड़ता, छेदता, अतिभार लादता और खाना पीना रोकता हुआ प्रमादी जीव निर्दय होने के कारण व्रत, को सर्वाङ्ग नहीं पाल रहा संता अतीचार दोष का भागी हो जाता है।

अभिमतदेशे गतिनिरोधहेतुर्बंधः प्राणिपीडाहेतुर्वधः, कशाद्यभिघातमात्रं न तु प्राणव्यपरोपणं तस्य व्रतनाशरूपत्वात्, छेदोऽगापनयनं, न्याय्यभारातिरिक्तभारवाहनमतिभारारोपणं, क्षुत्पिपासाबाधनमन्नपाननिरोधः। कुतोऽमी पंचाहिंसाणुव्रतस्यातीचारा इत्याह—

जाने आने के लिये अभीष्ट हो रहे देश में स्वच्छन्द गमन के निरोध का हेतु हो रहा बन्ध है। ताड़न आदि द्वारा प्राणियों की पीड़ा का कारण हो रही वध क्रिया है जो कि चाबुक, लौदरी, बेंत आदि करके अभिघात कर देना मात्र है। किन्तु वध शब्द करके यहां सम्पूर्ण प्राणों का वियोग कर मार डालना अर्थ नहीं पकड़ना क्योंकि यह हत्या करना तो अहिंसाव्रत का ही नाश कर देना रूप है "सापेक्षस्य व्रते हि स्यादतिचारोंऽशभंजनम्" ॥ कान, नाक आदि अवयवों का छेद डालना छेद है। न्याय से अनपेत (समुचित) हो रहे बोझ से अधिक बोझ लादना अतिभारारोपण है। भूख, प्यास की बाधा उपजाना अन्नपान निरोध है। यों ये पांच अतीचार हुये। यहां कोई पूछता है कि अहिंसाणुव्रत के ये बन्ध आदि पांच अतीचार भला किस युक्ति से सिद्ध हो जाते हैं ? बताओ। ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक द्वारा उत्तर कहते हैं।

तत्राहिंसाव्रतस्यातीचारा बंधादयः श्रुताः।
तेषां क्रोधादिजन्मत्वात्क्रोधादेस्तन्मलत्वतः ॥१॥

उन व्रतों या अतीचारों में अहिंसाव्रत के बन्ध आदिक पाँच अतीचार आचार्य परंपरा द्वारा सुने जा रहे माने गये हैं (प्रतिज्ञा) क्योंकि वे बन्ध आदिक तो क्रोध, लोभ आदि कषाय भावों से उपजते हैं। और क्रोध आदि उस अहिंसाव्रत के मल हैं। अंतरंग मलों अनुसार हुई बहिरंग की बन्धन, वध आदि निन्द्यक्रियायें अतीचार मानी जाती हैं यों अनुमान प्रयोग बना दिया है।

पूर्ववदनुमानप्रयोगः प्रत्येतव्यः ॥

जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि के अतीचारों का निरूपण करते हुये "मालिन्यहेतुत्वात्" हेतु देकर पूर्व में अनुमान का प्रयोग रचा था उसी प्रकार यहां अहिंसाव्रत के अतीचारों में भी अनुमान का प्रयोग इस वार्तिक अनुसार समझ लेना चाहिये।

अथ द्वितीयस्याणुव्रतस्य केऽतीचाराः पंचेत्याह;—

अब दूसरे सत्य अणुव्रत के पांच अतीचार कौन से हैं ? ऐसी जिगिनीषा प्रकट होने पर महाविद्वान् सूत्रकार समाधान कारक अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

मिथ्योपदेशरहोभ्याख्यानकूटलेखक्रियान्यासापहारसाकारमन्त्रभेदाः ॥२६॥

इन्द्रपदवी या तीर्थंकरों के गर्भ अवतार, जन्म अभिषेक, साम्राज्य प्राप्ति, चक्रवर्तित्व, दीक्षा कल्याण अथवा मण्डलेश्वर आदि राज्य, सर्वार्थसिद्धिपर्यन्त अहमिन्द्र पद, ये सब सांसारिक सुख अभ्युदय कहे जाते हैं तथा तीर्थंकरों के कैवलज्ञान कल्याण, मोक्षकल्याणक अनन्तचतुष्टय या अन्य सामान्य केवलियों की निर्वाण प्राप्ति ये सब निःश्रेयस माने जाते हैं। अभ्युदय और निःश्रेयस को साधने वाले क्रियाविशेषों में अज्ञानादि के वश हो कर अन्य को अन्य प्रकारों से प्रवृत्त करा देना या ठग लेना मिथ्योपदेश है। स्त्री पुरुषों या मित्रों आदि कर के एकान्त में की गयी या कही गयी विशेषक्रिया को गुप्तरीति से ग्रहण कर दूसरों के प्रति प्रकट कर देना रहोभ्याख्यान है। अन्य के द्वारा नहीं कहे गये विषय को उसने यों कहा था या किया था इस प्रकार ठगने के लिये जो द्वेषवश लिख दिया जाता है वह कूटलेख किया है। सोना, चाँदी, रुपया, मोहरें किसी के यहाँ धरोहर रख दी गयीं उन कीपूरी संख्या को भूल कर पुनः ग्रहण करते समय अल्पसंख्यावाले द्रव्य को माँग कर ग्रहण कर रहे पुरुष के प्रति सोने आदि का अधिक परिमाण जान कर भी जो थोड़े द्रव्य की स्वीकारता दे देना है वह न्यासापहार है। अर्थ, प्रकरण, अंगविकार आदि करके दूसरों की चेष्टा को देखकर ईर्ष्या, लोभ, आदि के वश होकर जो अन्यपुरुषों के सन्मुख उस गुप्त मन्त्र का प्रकट कर देना है वह साकार मन्त्रभेद है। यों ये मिथ्योपदेश आदिक उस सत्यव्रत के पाँच अतीचार हैं। यहां भी सत्यव्रत का एक देश भंग और एक देश रक्षण होता रहने से अतीचारों की व्यवस्था है॥

मिथ्यान्यथाप्रवर्तनमतिसंधापनं वा मिथ्योपदेशः सर्वथैकान्तप्रवर्तनवत्, सच्छास्त्रान्यथाकथनवत् परातिसंधायकशास्त्रोपदेशवच्च, संवृतस्य प्रकाशनं रहोभ्याख्यानं, स्त्रीपुरुषानुष्ठितगुप्तक्रियाप्रकाशनवत्, परप्रयोगादन्यानुक्तपद्धतिकर्म कूटलेखक्रिया एवं तेनोक्तमनुष्ठितं चेति वंचनाभिप्रायलेखनवत्, हिरण्यादिनिक्षेपे अल्पसंख्यानुज्ञावचनं न्यासापहारः शतन्यासे नवत्यनु-

ष्ठीनवत्, अर्थादिभिः परगुह्यप्रकाशनं साकारमन्त्रभेदः अर्थप्रकरणादिभिरन्याकूतमुपलभ्यासूया-दिना तत्प्रकाशनवत् ॥ कथमेते अतीचारा इत्याह—

जिस प्रकार बौद्ध धर्म का पक्ष लेकर सर्वथा क्षणिक एकान्त में प्रवृत्ति करा दी जाती है एवं सर्व को नित्य मानने का पक्ष ले रहे एकान्तीपण्डित के अनुसार सर्वथा नित्यैकान्त में प्रवृत्ति करा दी जाती हैं। आदि, या समीचीन शास्त्र का अन्य प्रकारों से निरूपण करा दिया जाता है। तथा दूसरों को धन आदि के लिये वंचना कराने वाले शास्त्रों का उपदेश दे दिया जाता है उसी प्रकार मिथ्या यानी अन्यथा प्रवृत्ति करा देना, अथवा दूसरों के अभिप्राय को सुमार्ग से हटाकर कुमार्ग पर लगा देना मिथ्योपदेश है। ढके हुये यानी गुप्त हो रहे क्रिया विशेष का जो दूसरों की हानि करने के लिये प्रकाशित कर देना है वह रहोभ्याख्यान है, जैसे कि स्त्री पुरुषों करके एकान्त में की गई क्रियाविशेषको प्रकट कर दिया जाता है। दूसरों करके नहीं कहे गये किन्तु पर प्रयोग से इङ्गितों द्वारा समझ कर ठगने के लिये लेखन क्रिया के मार्ग को पकड़ना कूटलेखक्रिया है। जैसे कि उस मनुष्य ने मरते समय यों अमुक को भाग देने के लिये कहा था, इस प्रकार अंगचेष्टा करी थी इस प्रकार ठगने के अभिप्राय अनुसार लिख दिया जाता है। सोना, चांदी आदि की धरोहर किसी महाजन के यहां रख देने पर पुनः संख्या भूल गये स्वामी का अल्पसंख्यक द्रव्य मांगने पर थोड़ी संख्यावाले हीन द्रव्य के धरोहर की स्वीकारता को कह देना न्यासापहार है। जैसे कि किसी बोहरे के यहां सौ मोहरों की धरोहर जमा कर देने वाले भोले जीव का संख्या भूल कर अपनी कुल नब्बे मोहरों को ले रहे भोले जीव के प्रति तुम्हारी नब्बे ही मोहरें थीं यों कह कर अधिक जान कर भी नब्बे मोहरों के देने का उस बोहरे करके अनुष्ठान कर दिया जाता है। अर्थ, प्रकरण, अंगविकार, भ्रूविक्षेप आदि करके दूसरों के गुह्य इतिवृत्तों का प्रकाश कर देना साकार-मन्त्रभेद है। जैसे कि अर्थ, प्रकरण आदि करके दूसरों की चेष्टा को दक्षता पूर्वक जान कर ईर्ष्या, द्वेष आदि करके उस गुप्त क्रिया को प्रकाश में ला दिया जाता है॥ यहाँ कोई पूछता है कि सत्यव्रत के ये पांच अतीचार भला किस प्रकार हो जाते हैं इस में युक्ति भी क्या है ? बताओ ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार समाधान कारक अग्रिम वार्त्तिक को कहते हैं।

तथा मिथ्योपदेशाद्या द्वितीयस्य व्रतस्य ते।
तेषामनृतमूलत्वात्तद्वत्तेन विरोधतः ॥१॥

जिस प्रकार अहिंसाव्रत के संक्लेश वश पांच अतीचार दोष लग जाते हैं उसी प्रकार दूसरे सत्याणुव्रत के वे मिथ्योपदेश आदिक पांच का अतीचार संभव जाते हैं (प्रतिज्ञा) क्योंकि प्रमाद युक्त झूठ बोलने के मूल मानकर वे मिथ्योपदेश आदि उपजते हैं (हेतु) जैसे कि वंचक शास्त्रों का उपदेश या दम्पतियों की रहस्य क्रिया का प्रकाश करना आदि अनृतमूलक होने से सत्य का दोष है (पक्षान्त-र्व्याप्तिपूर्वक दृष्टान्त) उस सत्यव्रत या आत्मविशुद्धि के साथ मिथ्योपदेश आदि का उसी प्रकार विरोध है जैसे अहिंसा व्रत का बन्ध आदि के साथ विरोध ठन रहा है। अतः एकदेश भंग और एकदेश रक्षण हो जाने से उक्त अतीचार सम्भव जाते हैं। अर्थात् अतीचार वाला विचारता है कि जैसे जैन पण्डित अपनी आम्नाय अनुसार जैन शास्त्रों का उपदेश सुनाते हैं उसी प्रकार मैंने यजुर्वेद अनुसार हिंसा का या बौद्ध मत अनुसार क्षणिक एकान्त पक्ष का अथवा "वाराङ्गना राजसभा प्रवेशः" इस नीति शास्त्र के अनुसार वेश्या के यहां जाने का एवं डाकुओं के अभिप्राय अनुसार सभी पापों के मूलभूत धनिकों के धन को मार पीट कर के भी हड़प लेने का उपदेश दे दिया है कोई मनमानी बातें नहीं कह दी हैं। इसी

प्रकार दम्पतियों के रहस्य की भी सच्ची ही बातें कही हैं, झूँठी बात एक भी नहीं कही है इत्यादि, यों व्रत की रक्षा कर रहा भी व्रत का पूर्णपालन नहीं कर सका है।

यथाद्यव्रतस्य मालिन्यहेतुत्वाद्बंधादयोऽतीचारास्तथा द्वितीयस्य मिथ्योपदेशादयस्तद्‌विशेषात्। तन्मालिन्यहेतुत्वं पुनस्तेषां तच्छुद्धिविरोधित्वात्।

जिस प्रकार सत्र के आदि में कहे गये अहिंसा व्रत के मालिन्य का कारण हो जाने से बंध, वध आदिक पांच अतीचार हैं। उसी प्रकार दूसरे सत्याणुव्रत के मिथ्योपदेश आदिक पांच अतीचार हैं। क्योंकि उस मलिनता के कारण हो जाने का दोनों में कोई अन्तर नहीं है। हां उन मिथ्योपदेश आदिकों को व्रत की मलिनता का कारणपना तो उस सत्य करके हुई आत्मविशुद्धि का विरोधी हो जाने से नियत है।

अथ तृतीयस्य व्रतस्य केऽतीचारा इत्याह;—

पहिले और दूसरे व्रतों के अतीचार ज्ञात हो चुके हैं अब तीसरे अचौर्य व्रत के अतीचार कौन हैं ? ऐसी निर्णेतुं इच्छा प्रवर्तने पर सूत्रकार महोदय अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥२७॥

कोई पुरुष स्वयं तो चोरी नहीं करता है किन्तु दूसरे स्तेन यानी चोर को प्रेरणा कर देता है वह स्तेनप्रयोग है। उन चोरों करके चुराये गये बहुमूल्य द्रव्य को अल्पमूल्य द्वारा क्रय करने के अभिप्राय से ग्रहण कर लेना तदाहृतादान है। उचित न्याय से अन्य प्रकारों करके देना लेना अतिक्रम कहा जाता है, विरुद्ध राज्य के होते सन्ते अतिक्रम करना, राजा या स्वामी की घोषणा का उल्लंघन कर अन्य प्रकारों से लेना देना जैसे कि कर देने योग्य अपने पदार्थ को महसूल बिना दिये ही राज्य से बाहर कर देना, पूरी टिकट के स्थान पर आधी टिकट और आधी टिकट वाले की टिकट नहीं खरीदना, रेलगाड़ी में सामान अधिक ले जाना, इत्यादि विरुद्धराज्यातिक्रम है। नापने, तोलने, के लिये काष्ठ, पीतल आदि के बनाये हुये सेर, दग्या, पंसेरी आदि नाप या तखरी के पऊआ, दुसेरी, आदि बांट एवं गज, फुटा, आदि को न्यून या अधिक रखना हीनाधिकमानोन्मान है। न्यून हो रहे मान, उन्मानों से खोटा बनियां दूसरों के लिये देता है और अधिक हो रहे मान, उन्मानों, करके वह बनियां अपने लिये नापता, तोलता है कृत्रिम बनाये गये नकली सोने, चांदी, मोती, घृत, दूध, चून आदि करके ठगने के विचार अनुसार व्यवहार करना प्रतिरूपक व्यवहार है ये पांच अचौर्याणुव्रत के अतीचार हैं।

मोषकस्य त्रिधा प्रयोजनं स्तेनप्रयोगः। चोरानीतग्रहणं तदाहृतादानं, उचितादन्यथा दानग्रहणमतिक्रमः, विरुद्धराज्ये सत्यतिक्रमः विरुद्धराज्यातिक्रमः, कूटप्रस्थतुलादिभिः क्रयविक्रयप्रयोगो हीनाधिकमानोन्मानं, कृत्रिमहिरण्यादिकरणं प्रतिरूपकव्यवहारः। कुतोऽमी तृतीयस्य व्रतस्यातीचारा इत्याह;—

चोरी करने वाले जीव को तीन प्रकार यानी मन, वचन, या काय करके अथवा दूसरे पुरुष द्वारा प्रयुक्त कराता है, कृत, कारित, अनुमोदना अनुसार प्रेरणा करता है वह कृत्यतः स्तेनप्रयोग है।

चौर करके लाये गये द्रव्य का ग्रहण कर लेना तदाहृतादान है। उचित रीति से अन्य प्रकार अन्याय द्वारा दान या ग्रहण करना अतिक्रम बोला जाता है। विरुद्धराज्य के होते सन्ते जो अतिक्रम करना है वह विरुद्धराज्यातिक्रम है। झूंठे नाप, तोल, आदि करके क्रय विक्रय का प्रयोग करना हीनाधिकमानोन्मान है, यहाँ आदि पद से घोड़े की, मोतियों की जल की गर्मी की बिजली की वर्षा की भाप की पाण्डित्य आदिकी भिन्न-भिन्न प्रकारों से होने वाली नाना नाप तोलों का ग्रहण है। कृत्रिम (नकली) सोना, चाँदी आदिका बनाना या इन का दूसरों को ठगने के लिये व्यापार करना प्रतिरूपकव्यवहार है॥ यहाँ कोई पूंछता है कि तीसरे अचौर्य व्रत के स्तेन प्रयोग आदि पाँच अतीचार भला किस युक्ति से सिद्ध हुये मान लिये जाँय ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक को कह रहे हैं।

प्रोक्ताः स्तेनप्रयोगाद्याः पंचास्तेयव्रतस्य ते।
स्तेयहेतुत्वतस्तेषां भावे तन्मलिनत्वतः॥१॥

अचौर्य व्रत के वे चोर प्रयोग आदिक पांच अतीचार सूत्रकार महाराज ने बहुत अच्छे ढंग से कह दिये हैं क्योंकि वे स्तेनप्रयोग आदिक तो चोरी के परम्परा हेतु हो रहे हैं। उन चोर प्रयोग आदि के होते सन्ते उस अचौर्यव्रत प्रयुक्त हुई आत्मविशुद्धि को मलिनता हो जाती है। एक अंश अचौर्यव्रत की रक्षा बनी रहती है कि मैंने मात्र चोरी का नौ भंगों से प्रयोग करना बता दिया है चोरी तो नहीं की है इत्यादि विचार अनुसार इन स्तेन आदि प्रयोग को अतीचारपने की व्यवस्था है।

अथ चतुर्थस्याणुव्रतस्य केऽतीचारा इत्याह;—

अब चौथे स्वदारसंतोष या ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतीचार कौन कौन हैं ? ऐसी जिज्ञासा उपजने पर सूत्रकार महाशय इस अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानंगक्रीडा-कामतीव्राभिनिवेशाः ॥२८॥

अपनी संतान के अतिरिक्त अन्यदीय पुत्र या कन्याओं का विवाह करना पहिला अतीचार है। परपुरुषों के साथ गमन यानी क्रीड़ा करने की जिन स्त्रियों की टेव है वह खोटी स्त्री इत्वरिका कही जाती है वह सधवा हो या विधवा हो किसी पति के द्वारा गृहीत हो चुकी सन्ती इत्वरिका परिगृहीता मानी गई है। ऐसी परिगृहीत इत्वरिका के साथ जो गमन करना अर्थात् उसके जघन भाग, स्तन, मुख, उदर आदि का निरीक्षण करना, सराग भाषण करना, हाथ, भ्रकुटी, चक्षुः आदि करके संकेत करना इस प्रकार रागी होकर अनेक रमण कुचेष्टायें करना, द्वितीय अतीचार है। परपुरुषों के साथ गमन करने की टेव (आदत) को धार रही जो किसी पति कर के गृहीत नहीं हो चुकी है ऐसी गणिका या पुंश्चली स्त्री इत्वरिका अपरिगृहीता है। परपुरुषगामिनी अपरिगृहीत वेश्या या पुंश्चली (खानगी), स्त्रियों में स्तन निरीक्षण, हास्य, उपरिष्टात्क्रीडायें आदि कुक्रियायें करना तीसरा अतीचार है। स्व पुरुष या स्व स्त्री में भी अंग यानी जननेन्द्रिय के अतिरिक्त अंगों में क्रीड़ा करना चौथा अतीचार है। स्व स्त्री में भी काम रति का प्रवृद्ध परिणाम होना यानी संतुष्ट नहीं होकर कामक्रीड़ा में अविराम प्रवृत्ति करना कामतीव्राभिनिवेश नाम का पाँचवां अतीचार है। यों परविवाह करण १ इत्वरिकापरिगृहीतागमन २ इत्वरिका अपरिगृहीता गमन ३ अनंगक्रीडा ४ कामतीव्राभिनिवेश ५ ये स्वदारसंतोष या परदारनिवृत्तिव्रत के पांच अतीचार हैं।

सद्वेद्यचारित्रमोहोदयाद्विवहनं विवाहः परस्य विवाहस्तस्य करणं परविवाहकरणं, अयनशीलेत्वरी सैव कुत्सिता इत्वरिका तस्यां परिगृहीतायामपरिगृहीतायां च गमनमित्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनं, अनंगेषु क्रीडा अनंगक्रीडा, कामस्य प्रवृद्धः परिणामः कामतीव्राभिनिवेशः। दीक्षितातिबालातिर्यग्योन्यादीनामनुपसंग्रह इति चेन्न, कामतीव्राभिनिवेशग्रहणात् सिद्धेः। त एते चतुर्थाणुव्रतस्य कुतोऽतीचारा इत्याह—

सातावेदनीय कर्म और चारित्रमोह (माया, लोभ, रति, हास्य, वेद) कर्म का उदय हो जाने से विवाह क्रिया द्वारा बँध जाना विवाह है, पर का जो विवाह सो परविवाह है उस परविवाह का करना परविवाहकरण है यों परविवाह शब्द की निरुक्ति कर दी गई है। परपुरुष के निकट गमन करने की टेव को धारने वाली स्त्री इत्वरी है। इत्वरी शब्द से कुत्सिता इत्वरी यों खोटे अर्थ में क प्रत्यय कर देने पर वही कुत्सिता इत्वरी इत्वरिका कही जाती है। उस परिगृहीत हो रही इत्वरिका में और किसी नियत भर्ता करके नहीं परिगृहीत हो रही इत्वरिका में गमन करना इत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमन है। काम सेवन के अंगों से भिन्न अंगों में क्रीड़ा करना अनंगक्रीडा है। रति क्रिया का अतिशय करके बढ़ रहा परिणाम कामतीव्राभिनिवेश है। यहाँ कोई आक्षेप करता है कि दीक्षा ले जा चुकी स्त्री या छोटी अवस्था की अतिबाला लड़की अथवा छिरिया, हरिणी आदि तिर्यञ्चिनी एवं काष्ठ, चित्र, रबड़, रुई आदि की बनी हुई अनेक प्रकार की अचेतन स्त्रियां अथवा स्त्रियों की अपेक्षा से तिर्यञ्च पुरुष, दीक्षित, कृत्रिम पुरुष चिह्न आदि का इस सूत्र में उपलक्षण रूप से भी संग्रह नहीं हो सका है ऐसी दशा में दीक्षिता आदि आदि के साथ क्रीड़ा करने को किस दोष में गिना जायगा ? ग्रन्थकार कहते हैं यह तो न कहना क्योंकि पांचवें अतीचार कामतीव्राभिनिवेश का ग्रहण कर देने से उनके संग्रह की सिद्धि हो जाती है। काम की तीव्रता से ही अपनी दीक्षिता स्त्री अथवा अपने लिये कल्पित की गई अतिबाला कन्या एवं तिर्यञ्चिनी आदि त्यागने योग्य स्त्रियों में प्रवृत्ति होती है। यों ये पाँच अतीचार कुछ व्रत की रक्षा का अभिप्राय रखकर व्रत का भंग कर देने से गृहस्थ के संभव जाते हैं। यहां कोई तर्क कर रहा है कि प्रसिद्ध हो रहे ये पांच अतीचार भला चौथे अणुव्रत के किस युक्ति से सिद्ध कर लिये जांय ? ऐसी तर्कणा उपजने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक को कहते हैं।

चतुर्थस्य व्रतस्यान्यविवाहकरणादयः
पंचैतेऽतिक्रमा ब्रह्मविघातकरणक्षमाः ॥१॥

अन्यविवाहकरण आदिक ये पाँच (पक्ष) चौथे व्रत के अतीचार हैं (साध्य) क्योंकि ब्रह्मचर्याणुव्रत का बहुभाग विघात करने में समर्थ हो रहे हैं (हेतुदल)। यों अनुमान प्रयोग बना कर उक्त सूत्र के प्रमेय को प्रमाणसंप्लव द्वारा पुष्ट कर दिया है।

स्वदारसंतोषव्रतविहननयोग्या हि तदतीचारा न पुनस्तद्विघातिन एव पूर्ववत् ॥

पूर्व में जैसे अहिंसाणुव्रत, सम्यग्दर्शन आदि के अतीचार उन को माना गया है जो कि व्रतों की सर्वाङ्ग विशुद्धि होने के कारण नहीं हैं और व्रत का सर्वांग विनाश करने वाले भी नहीं हैं जो विशुद्धि के कारण हैं वे तो व्रतों के संरक्षक हैं जो व्रतों के विनाशक हैं वे अनाचार या अविरतिस्वरूप हैं हां व्रतों को मलिन कर देने वाले अतीचार कहे जाते हैं। उसी प्रकार स्वदारसंतोषव्रत में विघ्न करने

योग्य परिणाम ही उस चौथे व्रत के अतीचार हैं किन्तु फिर उस ब्रह्मव्रत का ही सर्वांग विघात करने वाले तो अतीचार नहीं हो सकते हैं यों इस कारिका में कहे गये अनुमान के व्यतिरेकदृष्टान्त तो ब्रह्मव्रत के विशोधक स्त्रीराग कथा श्रवण त्याग, नवधा ब्रह्मचर्यव्रतपालन आदि और ब्रह्मविघातक परस्त्रीरमण, वेश्यामैथुन आदि हैं तथा परविवाहकरण आदिक अन्वयदृष्टान्त हो सकते हैं। अन्तर्व्याप्ति को मानने वाले पण्डित पक्ष के भीतर भी व्याप्ति ग्रहण कर उसको अन्वयदृष्टान्त बना लेते हैं। अन्यथा सभी हेतु साध्य वालों को पक्ष कोटि में धर देने पर अन्वयदृष्टान्त का मिलना असंभव है।

अथ पंचमव्रतस्य केऽतीचारा इत्याह;—

व्रत और शीलों में पांच पांच अतीचार हैं इस प्रतिज्ञा अनुसार पहले चार व्रतों के अतिचार ज्ञात कर लिये इनके अनन्तर अब पांचवें परिग्रहपरिमाण व्रत के अतीचार कौन हैं ? ऐसी तत्त्व बुभुत्सा प्रवर्तने पर सूत्रकार अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमाः ॥२९॥

क्षेत्र-वास्तु, आदिक पांच परिग्रहपरिमाणव्रत के अतीचार हैं अर्थात् क्षेत्र और वास्तु का अतिक्रमण कर लेना पहिला अतीचार है। धान्यों की उत्पत्ति के स्थान को क्षेत्र कहते हैं। कुटिया, डेरा, कोठी, हवेली, घर, प्रासाद, ग्राम , नगर आदि ये वास्तु कहे जाते हैं। इनका लोभ के आवेश से अतिक्रम कर-लिया जाता है। सीमा करने वाली भीत या बाढ़ आदि को हटाकर दूसरे घर या खेत को मिला लेने से यह अतीचार संभव जाता है। मैंने घर आदि को बढ़ा लिया है उनकी परिमित संख्या का अतिक्रम नहीं किया है यों इस व्रती के व्रत की एकदेश रक्षा का अभिप्राय है। रूपा, चांदी, मोहर, गिन्नी, पैसा, सिक्का आदि व्यवहार में क्रय विक्रय उपयोगी यानी वस्तु के अदल बदल का विनिमय करने वाले पदार्थ हिरण्य हैं। और सोना तो प्रसिद्ध ही है। परिमित किये गये हिरण्य, सुवर्णों, का अतिक्रमण कर लेना दूसरा अतीचार है। अपने व्रत के समाप्त हो जाने पर तुम से इतना सिक्का या सोना ले लूंगा इस अभिप्राय कर के अधिक लब्ध को अन्य के लिये अर्पण करदेने से लोभवश यह अतीचार संभव जाता है। गाय, भैंस, हाथी, घोड़ा, ऊंट, छिरिया आदिक धन हैं। और गेहूं, चावल आदिक धान्य हैं। परिमित धन और धान्य का अतिक्रम करना तीसरा अतीचार है। यह अतीचारी विचारता है कि अपने घर में प्राप्त हो रहे धनधान्यों का विक्रय या व्यय कर देने पर पुनः तुम आसामियों से ले लूंगा इस भावना करके नियन्त्रण कर देने से यह दोष संभव जाता है। संख्या किये गये दासीदासों का अतिक्रम करना चौथा अतीचार है। गाय, घोड़ी, तोता, मैना, सिपाही, दासियां, चाकर, इनमें गर्भवाली की अपेक्षा अथवा कुछ काल पश्चात् अपने व्रत को यथावस्थित कर लूंगा। यों विचार कर नियत संख्या का अतिक्रम कर देने से यह अतीचार संभवता है। वस्त्र, भाण्ड, गाड़ी, पलंग, हल, आदिक सभी कुप्य में गर्भित हो जाते हैं। नियत काल के पश्चात् मैं तुम से ले लूंगा या अन्य को दिला दूंगा इस अभिप्राय से यह कुप्यों का अतिक्रमण संभव जाता है यों क्षेत्र वास्तुओं की सीमा को बढ़ाना १ हिरण्य सुवर्णों का अतिक्रम २ धनधान्यों की मर्यादा का उल्लंघन ३ दासीदासों की संख्या का अतिरेक ४ और कुप्यपदार्थों की मर्यादा का उल्लंघन ये पांच परिमित परिग्रहव्रत के अतीचार हैं।

क्षेत्रवास्त्वादीनां द्वयोर्द्वयोर्द्वन्द्वः प्राक् कुप्यात्, तीव्रलोभाभिनिवेशात् प्रमाणातिरे-

कास्तेषामतिक्रमाः । पंच कुतोऽतीचारा इत्याह;—

क्षेत्र वास्तु आदिक पदों के दो दो पदों का द्वंद्व समास हो गया है। कुप्य से पहिले आठ पदों के चार युगलों का न्यारा न्यारा समाहारद्वंद्व कर लिया जाय। "क्षेत्रं च वास्तु च क्षेत्रवास्तु" खेत और घर का समाहार कर एकवचन पद क्षेत्रवास्तु बना लिया गया है "हिरण्यं च सुवर्णं च" यों रुपया आदि और सोने का समाहार कर 'हिरण्यसुवर्णं' पद एकवचन कर दिया है (समाहारे एकवत् स्यात्)। "धनं च धान्यं च" यों का द्वंद्व कर गाय आदिक धन और धान गेहूं आदिक धान्यों को कह रहा "धनधान्यं" पद बना लिया जाता है। "दासी च दासश्च" यों (गवाश्वप्रभृतीनि च) सूत्र करके समास कर टहलुआ, टहलनी स्त्री पुरुषों को कह रहा "दासीदासं" पद साधु बन जाता है। पुनः "क्षेत्रवास्तु च हिरण्यसुवर्णं च धनधान्यं च दासीदासं च कुप्यं च" यों क्षेत्रवास्तु-हिरण्यसुवर्ण-धनधान्य-दासीदासकुप्यानि एतेषां प्रमाणानां अतिक्रमाः" यों निरुक्ति कर सूत्र वाक्य बन जाता है। तीव्रलोभ का चारों ओर आवेश हो जाने से इन के प्रतिज्ञात प्रमाणों का अतिरेक होना संभव जाता है। उन क्षेत्र आदिकों के पाँच अतिक्रम अतीचार हैं। यहाँ कोई आगमोक्त विषय का तर्क द्वारा निर्णय करने के लिये आरेका उठाता है कि परिग्रह परिमाण व्रत के ये सूत्रोक्त पाँच अतीचार भला किस युक्ति से सिद्ध हो जाते हैं ? बताओ। ऐसी निश्चिकीषा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक को स्पष्टीकरणार्थ कह रहे हैं।

क्षेत्रवास्त्वादिषूपात्तप्रमाणातिक्रमाः स्वयं ।
पंच संतोषनिर्घातहेतवोंत्यव्रतस्य ते ॥१॥

क्षेत्र, वास्तु, आदिक में (पक्ष) स्वयं प्रतिज्ञा पूर्वक ग्रहण किये प्रमाण के ये पाँच अतिक्रम हो जाते हैं (साध्य) क्यों कि ये पाँच अतिक्रम संतोष का एकदेश से घात करने में कारण हो रहे हैं (हेतु) अतः पाँच व्रतों के अन्त में पड़े हुये परिग्रहपरिमाणव्रत के वे क्षेत्रवास्तु अतिक्रम आदिक पाँच अतीचार हैं।

संतोषनिर्घातानुकूलकारणत्वाद्धि तदतीचाराः स्युर्न पुनः समर्थकारणत्वात् पूर्ववत् ।

पूरे संतोष के घातने में अनुकूल कारण हो जाने से उस परिग्रह परिमाणव्रत के ये पांच अतीचार नियम से संभव जायेंगे किन्तु फिर समूल चूल संतोष का घात करने में समर्थ कारण होने से ये अतीचार नहीं हैं जैसे कि पहिले सम्यग्दर्शन या अहिंसा आदि व्रतों में समझा दिया गया है अर्थात् एक देश व्रत की रक्षा और कुछ अंगों में व्रत का भंग हो जाने से पहिले अतीचार निर्णीत कर दिये गये हैं उसी प्रकार संतोष की भित्ति पर जो परिग्रहों का परिमाण किया था उस संतोष का जो परिपूर्णरूप से घात कर देते हैं ऐसी आसक्ति के साथ हो रही गृद्धियां या उच्छृंखल होकर मार परिग्रहोंको इकट्ठा करते रहना अतीचार नहीं है किन्तु अनाचार है। और संतोष का जो किंचित् भी घात नहीं करते हैं ऐसे दान, पूजन, आदि भी अतीचार नहीं प्रत्युत संतोषवर्धक और परिमाणव्रत के पोषक गुण हैं। ये क्षेत्र वास्तु अतिक्रम आदिक पांच तो संतोष को घातने में एकदेश अनुकूल हो रहे हैं अतः अतीचार मान लिये गये हैं।

अथ दिग्विरतेः केऽतिक्रमाः पञ्चेत्याह;—

पांच अणुव्रतों के अतीचार कहे सो जाने अब इस के अनन्तर सात शीलों में से पहिली दिग्विरति के पांच अतीचार कौन हैं ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यंतराधानानि ॥३०॥

व्यतिक्रम शब्द को पहिले तीन शब्दों में जोड़ दिया जाय यों ऊर्ध्व व्यतिक्रम १ अधोव्यतिक्रम २ तिर्यग्व्यतिक्रम ३ क्षेत्रवृद्धि ४ स्मृत्यन्तराधान ५ ये पांच अतीचार दिग्विरमणव्रत के हैं। पर्वत, वृक्ष, मीनार आदि पर ऊपर चढ़ जाना, नीचे कूँआ बावड़ी आदि में उतरना, और तिरछे बिल , गुहा, आदि में प्रवेश करना ये नियत प्रदेश से परली ओर किये जांय तो इनका उल्लंघन करना यों तीन अतीचार हो जाते हैं। प्रयोजन बिना या अज्ञानसे इनका अतिक्रम किया जायेगा तब तो अतीचार हैं अन्य प्रकारों से अतिक्रम करने पर तो अनाचार ही हैं। अज्ञानवश ये अतिक्रम हो जांय तो पुनः संभल कर व्रतों की रक्षा कर ली जाती है पीछे वहां अतिक्रान्त स्थल में जाने का सर्वथा त्याग कर दिया जाता है अन्य को भी नहीं भेजा जाता है वहां अतिक्रान्त स्थान से किसी वस्तु का लाभ किया जाय तो उसका त्याग कर दिया जाता है। क्षेत्र की वृद्धि कर लेना अथवा पूर्व देश की अवधि में से घटाकर उसको पश्चिम देश की अवधि में लाभवश जोड़ देना यह क्षेत्र वृद्धि है। नियत सीमा को भूल कर अन्य न्यूनाधिक स्मृतियों का अभिप्राय रखना स्मृत्यन्तराधान है। अज्ञान, अचातुर्य, सन्देह, अतिव्याकुलता, अन्यमनस्कता, अतिलोभ आदि करके स्मृति का भ्रंश हो जाता है। किसी ने पूर्व दिशा में सौ योजन का परिमाण किया था, गमन करते समय स्पष्टरूप से स्मरण नहीं रहा कि मैंने सौ योजन का परिमाण किया था, या पचास योजन का नियम किया था, उस व्रतापेक्षी का पचास योजन से आगे जाने पर तो अतीचार है और सौ योजन का अतिक्रम करने पर अनाचार हो जायेगा यों ये पांच दिग्विरति शील के अतीचार हैं॥

परिमितदिगवधिव्यतिलंघनमतिक्रमः, स त्रेधा ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्विषयभेदात्। तत्र पर्वताद्यारोहणादूर्ध्वातिक्रमः, कूपावतरणादेरधोऽतिवृत्तिः, बिलप्रवेशादेस्तिर्यगतीचारः, अभिगृहीताया दिशो लोभावेशादाधिक्याभिसंधिः क्षेत्रवृद्धिः। इच्छापरिमाणेऽन्तर्भावात्पौनरुक्त्यमिति चेन्न, तस्यान्याधिकरणत्वात्। तदतिक्रमः प्रमादमोहव्यासंगादिभिः। अननुस्मरणं स्मृत्यंतराधानं।

परिमाण की जा चुकी दिशा की अवधि का उल्लंघन कर देना अतिक्रम कहा जाता है। विशेषरूप से अतिक्रम करना व्यतिक्रम है। वह व्यतिक्रम ऊर्ध्वदिशा, अधोदिशा, और तिर्यग्दिशा के विषयों की भिन्नता से तीन प्रकार का है उन तीनों में पर्वत, स्तूप, टीला आदि के ऊपर चढ़ जाने से ऊर्ध्वातिक्रम संभव जाता है। कुँआ में उतर जाना, दरी में नीचे आ जाना आदि क्रियाओं से अधोअतिक्रम हो जाता है। बिल में घुस जाना, सुरंग में प्रवेश कर जाना आदिक से तिर्यक् अतिक्रम स्वरूप अतीचार हो जाता है। चारों ओर ग्रहण कर ली गई दिशा का लोभ के आवेश से अधिकपने का अभिप्राय रखना क्षेत्रवृद्धि है। यहाँ कोई शंका करता है कि "धनधान्यादिग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु।निस्पृहा, परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाणनामापि" इस प्रमाण अनुसार पांचवें अणुव्रत माने गये परिमित परिग्रह का दूसरा नाम इच्छापरिमाण भी है। फैली हुई इच्छाओं का संकोच कर नियत परिमाण कर लेना पांचमा अणुव्रत है। जब क्षेत्र के अतिक्रम को पांचवें व्रत के अतीचारों में गिन लिया है उस में क्षेत्रवृद्धि का अन्तर्भाव हो सकता है तिस कारण यहां उस को पुनः कथन करना तो पुनरुक्त दोष है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि वह इच्छा परिमाण तो अन्य क्षेत्र, वास्तु, आदिक अधिकरणों में हो रहा है और यह दिग्विरति अन्य के लिये है। वहाँ परिग्रहबुद्धि से क्षेत्र के प्रमाण का अतिक्रम कर दिया जाता है किन्तु यहां दिग्विरमण में मात्र दिशा के परिमाण का लक्ष्य है अतः उस क्षेत्र को बढ़ाकर अतिक्रम रूप से गमन कर लिया है यों अर्थ में अन्तर है। प्रमाद, मोह, अन्यगतचित्तपना, उद्भ्रान्ति, आदि करके ये

तीन अतिक्रम या क्षेत्रवृद्धि हो जाती हैं। गृहीत मर्यादा का पीछे स्मरण नहीं रहना या न्यून अधिक रूप स्मरणान्तर कर लेना स्मृत्यन्तराधान है।

कस्मात् पुनरमी प्रथमस्य शीलस्य पंचातीचारा इत्याह; —

किस कारण से फिर पहिले दिग्विरतिशील के वे ऊर्ध्वातिक्रम आदि पाँच अतीचार संभव जाते हैं ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार इस समाधान वचन को कहते हैं।

ऊर्ध्वातिक्रमणाद्याः स्युः शीलस्याद्यस्य पंच ते।
तद्विरत्युपघातित्वात्तेषां तद्धि मलत्वतः ॥१॥

आदि में हो रहे दिग्विरति शील के वे ऊर्ध्वदिशा अतिक्रमण आदिक पाँच अतीचार संभव जाते हैं (प्रतिज्ञा) क्योंकि वे उस दिग्विरति व्रत का ईषद्घात करने वाले हैं। तिसकारण नियम से वे उसके मल हैं। अतः व्रत का समूलचूल घात नहीं कर देने से और व्रत के पोषक भी नहीं होने से उन मलिनता के कारणों को व्रत का एकदेश भंग कर देने की अपेक्षा अतीचार कहा गया है।

अथ द्वितीयस्य केऽतीचारा इत्याह;—

अब दूसरे कहे गये देशविरति के अतीचार कौन कौन हैं ? ऐसी संगति अनुसार बुभुत्सा प्रवर्तने पर सूत्रकार इस अगले सूत्र को कह रहे हैं।

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपाः ॥३१॥

अपने संकल्पित देश में स्थित हो रहा भी श्रावक प्रतिषिद्ध देश में रक्खे हुये पदार्थों को प्रयोजनवश किसी से मंगा कर क्रय, विक्रय आदि करता है वह आनयन है। परिमित देश के बाहर स्वयं नहीं जाकर भृत्य आदि द्वारा इस प्रकार करो, यों प्रेष्यप्रयोग करके ही अभिप्रेत व्यापार की सिद्धि कर लेना प्रेष्यप्रयोग है। देशावकाशिक व्रत जब हिंसा से बचने के लिये लिया गया है तो स्वयं करना और दूसरे से कराना एक ही बात पड़ती है, प्रत्युत स्वयं गमन करने में कुछ विवेकपूर्वक ईर्यापथ शुद्धि भी हो सकती थी किन्तु दूसरे चाकरों से ईर्यासमिति नहीं पल सकेगी यों यह प्रेष्यप्रयोग अतीचार हो जाता है। सर्वत्र व्रत रक्षा की अपेक्षा रखते हुये पुरुष का व्रत में दोष लग जाने से अतीचारों की व्यवस्था मानी गई है। निषिद्ध देश में बैठे हुये कर्मचारी पुरुषों का उद्देशकर खांसना, खखारना, टेलीफोन भेजना शब्दानुपात है। अपने रूप को दिखला कर शीघ्र व्यापार साधने के अभिप्राय से रूपानुपात दोष हो जाता है। इसमें कपट का संसर्ग है। गृहीत देश से बाहर व्यापार करने वालों को प्रेरणा करने के लिये डेल, पत्थर आदि का फेंक देना, टेलीग्राफ करना पुद्गलक्षेप है। ये पाँच देशविरतिशील के अतीचार हैं।

तमानयेत्याज्ञापनमानयनं, एवं कुर्विति विनियोगः प्रेष्यप्रयोगः, अभ्युत्कासिकादिकरणं शब्दानुपातः, स्वविग्रहप्ररूपणं रूपानुपातः, लोष्ठादिपातः पुद्गलक्षेपः। कुतः पंचैते द्वितीयस्य शीलस्य व्यतिक्रमा इत्याह—

अपने संकल्प किये गये देश में स्थित हो रहे देशव्रती का प्रयोजन के वश से उस किसी विवक्षित पदार्थ को लाओ इस प्रकार मर्यादा के बाहर देश से मंगा लेने की आज्ञा देना आनयन दोष है। तुम इस प्रकार करो यों परिमित देश से बाहर स्वयं नहीं जाकर किंकर को भेज देने से प्रेष्य प्रयोग द्वारा

भिप्रेत पदार्थ को प्राप्त कर लेना प्रेष्य प्रयोग है। व्यापार करने वाले पुरुषों का उद्देश्य लेकर खांसना, मठारना, हस्तसंकेत आदि करना, जिससे कि मर्यादा के बाहर देश में से इष्टसिद्धि हो सके वह शब्दानुपात है। मेरे तत्परताशाली रूप को देख कर शीघ्र ही बाहर देश से व्यापार संपादन हो सकता है, यों विचार कर शरीर को दिखलाना, झण्डी, ध्वजा, आदि दिखलाना रूपानुपात है। कर्मचारी पुरुषों का उद्देश लेकर बाहिर देश में डेल, पत्थर, चिट्ठी, टेलीग्राम आदि को फेंकना पुद्गलक्षेप है। ये देशविरमणशील के पाँच अतीचार हैं। यहाँ कोई तर्क उठाता है कि दूसरे दिग्विरति शील के पाँच व्यतिक्रम भला किस युक्ति से सिद्ध हुये मान लिये जांय ? कोरे आगमवाक्य को मान लेने की तो इच्छा नहीं होती है इस प्रकार सविनय तर्क के उपस्थित होने पर ग्रन्थकार इस अग्रिम वार्त्तिक को कहते हैं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री **द्वितीयस्य तु शीलस्य ते पञ्चानयनादयः।**
स्वदेशविरतेर्बाधा तैः संक्लेशविधानतः ॥१॥

ये आनयन आदिक पांच तो (पक्ष) अपनी मर्यादा किये हुये देश के बाहर नहीं जाना स्वरूप दूसरे शील हो रहे देशविरतिव्रत को एकदेश बाधा पहुँचाते हैं (साध्यदल) क्योंकि नव ९ भंगों से देशविरतिजन्य विशुद्धि को धार रहे जीव के उन आनयन आदि क्रियाओं करके संक्लेश कर दिया जाता है (हेतु) । इस अनुमान करके पूर्व सूत्रोक्त आगमगम्य प्रमेय की सिद्धि कर दी जाती है। इस अनुमान में कहे गये साध्य के साथ हेतु की व्याप्ति तो स्वयं में या किसी सत्याणुव्रती में ग्रहण कर ली जाती है। जिनों करके शुद्ध हो रही आत्मा में स्वल्पसंक्लेश करने वाले परिणाम उस व्रत के अतीचार समझे जाते हैं यहां भी पूर्ववत् व्रतशोधक और व्रतसंघातक परिणामों से न्यारे थोड़ी मलिनता के कारण हो रहे दोष अतीचार समझ लिये जांय।

अथ तृतीयस्य शीलस्य केऽतीचारा इत्याह—

इसके अनन्तर अब तीसरे अनर्थदण्डविरति व्रत के अतीचार भला कौन हैं ? ऐसी निर्णेच्छा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस वक्ष्यमाण अग्रिम सूत्र को सुस्पष्ट कर रहे हैं।

कंदर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि ॥३२॥

राग की तीव्रता होने पर हँसी दिल्लगी के साथ मिला हुआ गुण्डे पुरुषों का सा अश्लील वचन प्रयोग करना कंदर्प है। तीव्र रागपरिणति और अशिष्ट वचन के साथ मिली हुई भौं मटकाना, कमर हिलाना, ओठ नचाना, हाथ पांव फड़काना, अंगहार, आदि कायक्रिया करना कौत्कुच्य है। ढीठता से भरपूर होकर जो कुछ भी यद्वा, तद्वा, अंट संट, व्यर्थ का बहुत बकवाद करना मौखर्य है। जिसको सुनते हुये दूसरे मनुष्य उकता जावें, प्रयोजन साधकत्व का नहीं विचार कर चाहे जिन मन वचन काय गत विषयों की अधिकता करना असमीक्ष्याधिकरण है। जितने अर्थ से भोग, उपभोग सब सध सकते हैं उनसे अतिरिक्त अनर्थक पदार्थों को अधिक मूल्य देकर भी ग्रहण कर लेने की टेव अनुसार संग्रह कर लेना उपभोग परिभोगानर्थक्य है। ये पांच अनर्थदण्डत्याग शील के अतीचार हैं।

रागोद्रेकात् प्रहासमिश्रोऽशिष्टवाक्प्रयोगः कंदर्पः, तदेवोभयं परत्र दुष्टकायकर्मयुक्तं कौत्कु-

च्यं, धार्ष्ट्यप्रायोऽसंबद्धबहुप्रलापित्वं मौखर्यं, असमीक्ष्य प्रयोजनाधिक्येन करणं असमीक्ष्याधि-करणं, तत्त्रेधा, कायवाङ्मनोविषयभेदात् । यावतार्थेनोपभोगपरिभोगस्यार्थस्ततोऽन्यस्याधिक्य-मानर्थक्यं, उपभोगपरिभोगव्रतेऽन्तर्भावात्पौनरुक्त्यप्रसंग इति चेन्न, तदर्थानवधारणात् ।

उदीरणा प्राप्त राग की अधिकता से प्रवृद्ध हंसी से मिला हुआ शिष्टबहिर्भूत वाक्यों का प्रयोग करना कंदर्प है। वे तीव्रराग प्रयुक्त हास्यवचन और अशिष्ट वचन यों दोनों ही दूसरे उपहासपात्र में यदि दुष्ट काय क्रिया से संयुक्त हो जांय तो हास्यवचन, अशिष्ट वचन और दूषित काय चेष्टायें इन तीनों का मिश्रण परिणाम कौ[illegible] करते हैं। जिसमें ढीठता बहुत पाई जाती है ऐसा पूर्वापर संबन्ध बिना अधिक बकबक करना मौखर्य है। विचारे बिना प्रयोजन नहीं होने पर भी अधिकता करके पदार्थों का निर्माण करा लेना असमीक्ष्याधिकरण है। काय गोचर, और वचन गोचर तथा मनोविषय, पदार्थों के भेद से वह असमीक्ष्याधिकरण तीन प्रकार है। मिथ्यादृष्टियों के काव्य, व्याकरण आदि का अनर्थक चिन्तन करना मनोगत है, और बिना प्रयोजन परपीड़ा को करने वाला कुछ भी बकते रहना वाग्विषय असमीक्ष्याधिकरण है। तथा बिना प्रयोजन चलते बैठते हुये सचित्त अचित्त फल, फूलों को छेदना भेदना, भूमि खोदना, अग्नि देना, विष देना, आदि आरंभ सभी काय गोचर असमीक्ष्याधिकरण हैं। जितने पदार्थों से उपभोग, परिभोग, प्रयोजन सध जाता है उतने पदार्थ का संग्रह करना अर्थ समझा जाता है उससे अतिरिक्त अन्यपदार्थों का अनर्थक आधिक्य रखना उप-भोग परिभोगानर्थक्य है। यहाँ कोई शंका उठाता है कि इस उपभोग परिभोग आनर्थक्य अतीचार के परिहार का लक्ष्य रख जब इसका उपभोग परिभोग परिमाण नाम के छठे शील में अंतर्भाव हो जाता है तो यहां अतीचारों में निरूपण कर देने से पुनरुक्तपन दोष का प्रसंग आता है, ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्यों कि उस छठे व्रत के अर्थ का आप निर्णय नहीं कर पाये हैं। बात यह है कि उस छठे शील में अपनी इच्छा के वश से उपभोग परिभोग पदार्थों का परिमाण कर मर्यादा कर ली जाती है - किन्तु यहां फिर मर्यादा लिये हुये ही पदार्थों में पूर्णरीत्या अधिक रख देने का अभिप्राय है जैसे कि चार गाड़ियों के रखने की मर्यादा की थी किन्तु एक या दो गाड़ी से प्रयोजन सध जाता है फिर भी चारों गाड़ियों को व्यर्थ रक्खे रहना आनर्थक्य समझा जायेगा। विशेष यह है कि इन पांच अतीचारों में पहिले दो तो प्रमादचर्याविरति के अतीचार हैं और पापोपदेश विरति का अतीचार मौखर्य है। असमी-क्ष्याधिकरण हिंसोपकारी पदार्थ दान विरति का दोष हो सकता है। प्रमादचर्यात्याग से भी यह दोष संभव जाता है। पांचवां भी प्रमादचर्या का ही अंग है। यों ये पांच अतीचार तीसरे अनर्थदण्ड विरति शील के हैं।

कस्मादिमे तृतीयशीलस्यातिचारा इत्याह;—

किस कारण से भला तीसरे अनर्थदण्डविरति शील के ये पांच अतीचार हो जाते हैं ? बताओ। "युक्त्यायन्नघटामुपैति तदहं दृष्ट्वापि न श्रद्दधे" जो युक्ति से घटित नहीं हो पाता है उसका प्रत्यक्ष देख कर भी मैं श्रद्धान नहीं करता हूं। संभवतः द्विचन्द्रदर्शन के समान वह प्रत्यक्ष भ्रान्त हो गया हो "प्रत्यक्ष-परिकलितमप्यर्थमनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिकाः, करिणि दृष्टेऽपि तं चीत्कारेणानुमिन्वतेऽनुमातारः" प्रत्यक्ष से भले प्रकार निर्णय किये जा चुके भी अर्थ को अनुमान प्रमाण करके जानने की अभिलाषा रखना तर्क रसिक प्रमाणसंप्लव वादियों की टेव है। अच्छा तो अब ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार युक्ति पूर्ण अनुमानप्रमाण को प्रस्तुत करते हैं।

कंदर्पाद्यास्तृतीयस्य शीलस्येहोपसूत्रिताः ।
तेषामनर्थदण्डेभ्यो विरतेर्बाधकत्वतः ॥१॥

उपसंहार कर इस सूत्र में सूचित कर दिये कंदर्प आदिक पांच (पक्ष) तीसरे अनर्थदण्डत्याग शील के अतीचार हैं (साध्यदल) क्योंकि उन कंदर्प आदि को अनर्थदण्डों से विरति हो जाने का बाधकपना है । (हेतु) यों अनुमान द्वारा व्रत को एकदेश रूप से दूषित करने वाले परिणामों को अतीचारपना व्यवस्थित कर दिया है ।

अथ चतुर्थस्य शीलस्य केऽतिक्रमा इत्याह;—

अब चौथे सामायिक शील के पांच अतीचार कौन से हैं ? ऐसी विनीत शिष्य की जिज्ञासा प्रवर्तने पर श्री उमास्वामी भगवान् इस अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं ।

योगदुःप्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥३३॥

काय, वचन, और मन का अवलम्ब लेकर जो आत्म प्रदेश परिस्पन्द होता है वह योग है । योग की दुष्प्रवृत्तियाँ करना अथवा सामायिक के अवसर पर योगों को दूसरे अनुपयोगी प्रकारों से एकाग्र करते रहना योगदुःप्रणिधान हैं । उन में शरीर के अवयव हाथ, पांव, सिर, आदि को निश्चल नहीं धारे रहना या शान्तिपरिणतियों के उपयोगी हो रहे नासिकाग्रनयन और खड़ी अवस्था में पांवों की दोनों एड़ियों को मिलाकर दोनों अंगूठों में चार अंगुल का अन्तर रखना, तथा पाठ पढ़ते हुये सिर हिलाना आदि ध्यानानुकूल आकृतियों का स्थिर नहीं रख सकना कायदुःप्रणिधान है । बीच-बीच में गाने लग जाना, संस्कार रहित होकर अर्थ को नहीं समझाने वाले वर्ण या पद का प्रयोग कर देना, अतिशीघ्र, अतिबिलम्ब, अशुद्ध, धृष्ट, स्खलित, अव्यक्त, पीडित, दीन, चपल, नासिकास्वरमिलित, शब्दों का प्रयोग करना वचनदुःप्रणिधान हैं । पुरुषार्थपूर्वक किये जाने योग्य विशुद्ध मानसिक विचारों के करने में उदासीनता धार कर क्रोधादि के अनुसार या अन्य सावद्य कार्यों में व्यासंग हो जाने से मन की अन्यप्रकारों करके प्रवृत्ति करना मनोदुःप्रणिधान है । सामायिक करने में उत्साह नहीं रखना प्रातः मध्याह्न, सायंकाल, नियत समयों में सामायिक नहीं करना अथवा जैसे-तैसे उद्वेगचित्त से सामायिक पूरा करना, अनादर है । करने के अनन्तर ही झट भोजन, व्यापार, क्रीडन, आदि में सोत्साह लग जाना, भी सामायिक का अनादर समझा जाता है । सामायिक करने में चित्त की एकाग्रता नहीं रखना स्मृत्यनुपस्थान है अथवा सामायिक मुझ को कर्तव्य है अथवा नहीं करूं, सामायिक मैंने किया अथवा नहीं किया, यों प्रबल प्रमादसे स्मरण नहीं रखना भी पांचवां अतीचार है । मंत्र या पदों का भूल जाना लोक का चिन्तन करते हुये उसकी ऊंचाई चौड़ाई आदि का भूल जाना भी अस्मरण कहा जा सकता है । मनोदुःप्रणिधान और स्मृत्यनुपस्थान में यही अन्तर है कि क्रोध आदि का आवेश हो जाने से सामायिक में देर तक चित्त को स्थिर नहीं रखना स्मृत्यनुपस्थान है और मानसिक चिन्ताओं का परिस्पन्द होने से एकाग्रता करके मन का अवधान नहीं करना मनोदुष्प्रणिधान है यों ये पांच सामायिक शील के अतीचार हैं ।

योगशब्दो व्याख्यातार्थः, दुष्प्रणिधानमन्यथा वा दुःप्रणिधानं, अनादरोऽनुत्साहः अनैकाग्र्यं स्मृत्यनुपस्थानं । मनोदुःप्रणिधानं तदिति चेन्न, तद्व्रतादन्याचिंतनात् । कुतश्चतुर्थस्य शीलस्यातिक्रमा इत्याह—

योग शब्द के अर्थ का व्याख्यान पहिले छठे अध्याय की आदि में "कायवाङ्मनःकर्म योगः"

इस सूत्र को बखानते हुये हो चुका है। दुःप्रणिधान शब्द में दुर् उपसर्ग का अर्थ दुष्टता अथवा अन्य सावद्य प्रकारों से परणतियां करना है। दुष्टक्रियाओं का प्रणिधान अथवा अन्य पापव्यापारों में चित्त को लगाना दुःप्रणिधान है। इतिकर्तव्य यानी अवश्य यों यह शुभ कर्म करना है इस शुभ प्रयत्न के प्रति पूर्णरूप से उत्साह नहीं करना अथवा ज्यों त्यों टाल कर अनुत्साह रखना अनादर है। एकाग्रपने से चित्त का समाधान नहीं रख सकना स्मृत्यनुपस्थान है। यदि यहां कोई यों शंका करे कि वह स्मृत्यनुपस्थान तो मनोदुःप्रणिधान ही ठहरा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि उस प्रकरणप्राप्त सामायिक व्रत से अन्य का चिन्तन कर देने से तो मनोदुःप्रणिधान है। और भूल जाना स्मृत्यनुपस्थान है। यहां कोई तर्क उठाता है कि चौथे सामायिक शील के ये सूत्रोक्त अतीचार भला किस युक्ति से सिद्ध हुये समझ लिये जांय ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अगली वार्तिक में समाधान वचन कहते हैं।

योगदुःप्रणिधानाद्याश्चतुर्थस्य व्यतिक्रमाः।
शीलस्य तद्विघातित्वात्तेषां तन्मलतास्थितेः ॥१॥

योगदुःप्रणिधान आदि पांच (पक्ष) चौथे सामायिक शील के व्यतिक्रम हैं (साध्य) क्योंकि एकदेश करके उस सामायिक के विघातक होने से उन पांचों को उस सामायिक व्रत का मलपना व्यवस्थित है (हेतु) इस अनुमान से उक्त सूत्र के विषय को पुष्टि दी गई है। अर्थात् सामायिक का एकदेश भंग होते हुये भी इनसे सामायिक व्रत का अभाव नहीं हो सका है। अतः व्रत के विशोधक या सर्वाङ्ग घातक भी नहीं होसकने से ये पांच सामायिक व्रत के मलमात्र हैं पोषक या विनाशक नहीं हैं।

पंचमस्य शीलस्य केऽतीचारा इत्याह—

पांचवें प्रोषधोपवास शील के अतीचार कौन कौन हैं ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥३४॥

अप्रत्यवेक्षिता प्रमार्जितोत्सर्ग १ अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान २ अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जित संस्तरोपक्रमण ३ अनादर ४ स्मृत्यनुपस्थान ५ ये पांच प्रोषधोपवास शील के अतीचार हैं। अर्थात् यहां प्राणी विद्यमान हैं ? या नहीं इस प्रकार विचार पूर्वक अपनी चक्षु से दया के पालने का उद्देश्य कर जो पुनः पुनः निरीक्षण करना है वह प्रत्यवेक्षण है। कोमल वस्त्र मयूरपिच्छ आदि करके जीवों को हटाकर प्रतिलेखन करना प्रमार्जन है। प्रत्यवेक्षण और प्रमार्जन नहीं कर चुकने पर प्रमादयोग से झट भूमि में मूत्र आदि छोड़ देना यानी मूतना, हंगना, नाक छिनक देना, आदि सावद्य व्यापार करना पहिला अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग नाम का अतीचार है। देखे बिना और आधार शुद्धि किये बिना ही जिन पूजा, आचार्यपूजा के उपकरण हो रहे जल, चंदन, आदि पदार्थ अथवा अपने पहिनने, ओढ़ने, वस्त्र, पात्र, मुद्रा, आदि को झट खींचकर ग्रहण कर लेना, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान है। बिना देखे और बिना शुद्ध किये हुये ही डुपट्टा, बिछौना, आदि का उपयोग करने के लिये स्वीकार कर लेना अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जित संस्तरोपक्रमण है। दूर की ओर देखते रहना अथवा निकृष्ट प्रतिलेखन से मार्जन करना भी अतीचार इन्हीं में गर्भित हो जाता है। नञ् का अर्थ खोटा भी है जैसे कि कुत्सित विद्यार्थी को अविद्यार्थी कह दिया जाता

है। भूख प्यास आदि से कुछ आकुलता उपजने पर ये तीन अतीचार संभव जाते हैं। भूख, प्यास, लगने के कारण अपने जिन पूजा आदि आवश्यक कर्मों में उत्साह नहीं रखना अनादर है। एकाग्रता नहीं रखना स्मृत्यनुपस्थान है।

प्रत्यवेक्षणं चक्षुषो व्यापारः, प्रमार्जनमुपकरणोपकारः तस्य प्रतिषेधविशिष्टस्योत्सर्गादिभिः संबंधस्तेनाप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितदेशे क्वचिदुत्सर्गस्तादृशस्य कस्यचिदुपकरणस्यादानं तादृशे च क्वचिच्छयनीयस्थाने संस्तरोपक्रमणमिति त्रीण्यभिहितानि भवंति, तथावश्यकेष्वनादरः स्मृत्यनुपस्थानं च क्षुदर्दितत्वात् प्रोषधोपवासानुष्ठायिनः स्यादिति तस्यैते पंचातीचाराः कुत इत्याह—

दयार्द्र पुरुष का, जन्तु है, अथवा नहीं है, इस प्रकार विचार पूर्वक देखना नेत्र इन्द्रिय का व्यापार है। कोमल उपकरण करके जो उपकार यानी प्रतिलेखन किया जाता है वह प्रमार्जन है। प्रतिषेध से विशिष्ट हो रहे उन प्रत्यवेक्षण और प्रमार्जन दोनों का उत्सर्ग आदि तीनों के साथ प्रत्येक में संबन्ध कर लिया जाय तिस कारण सूत्र द्वारा यों तीन अतीचार कह दिये गये हो जाते हैं कि नहीं देखे जा चुके और नहीं शुद्ध किये जा चुके क्वचित् देश में मल, मूत्र, पुस्तक, पात्र आदि का पटक देना और किसी भी उपकरण का तिस प्रकार के अदृष्ट और अमृष्ट स्थान में ग्रहण कर लेना तथा कहीं सोने, बैठने, योग्य स्थान में बिछौना, ओढ़ना आदि का झाड़े, पोंछे बिना उपक्रम कर देना यों तीन अतीचारों का द्योतक वाक्य बना कर कह दिया गया है। तथा स्वाध्याय, संयम, आदि आवश्यक कर्मों में आदर नहीं रखना अनादर है। प्रोषधोपवास शील का अनुष्ठान करने वाले जीव के भूख प्यास से पीड़ित होने के कारण स्मृतियों की स्थिति नहीं कर पाना हो सकता है। यों उस प्रोषधोपवास शील के पांच अतीचार संपूर्ण कह दिये गये हैं। यहाँ कोई पूंछता है कि उस प्रोषधोपवास के ये पांच अतीचार भला किस युक्ति से सिद्ध हुये समझे जांय ? बताओ। ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार युक्तिप्रदर्शक अग्रिम वार्तिक को कह रहे हैं।

अप्रत्यवेक्षितेत्याद्यास्तत्रोक्ताः पंचमस्य ते ।
शीलस्यातिक्रमाः पंच तद्विघातस्य हेतवः ॥१॥

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग, आदिक पांच अतीचार जो उस सूत्र में कहे गये हैं वे (पक्ष) पांचवें प्रोषधोपवास शील के अतिक्रम हैं (साध्य) क्योंकि वे उस प्रोषधोपवास व्रत का एक देश विघात करने का कारण हो रहे हैं (हेतु)। इस अनुमान से उक्त सूत्र का प्रतिपाद्य विषय पुष्ट हो जाता है।

यत इति शेषः।

कारिका में "यतः" पद शेष रह गया है। अर्थात् उक्त कारिका में हेतुदल प्रथमान्त पड़ा हुआ है अतः अनुमान प्रयोग बनाने के लिये "यतः" यानी जिस कारण से कि यह पद शेष रह गया समझ लिया जाय। भावार्थ "गुरवो राजमाषा न भक्षणीयाः" इस वाक्य का "राजमाषा न भक्षणीयाः गुरुत्वात्" राजमाष नहीं खाने चाहिये क्योंकि वे पचने में भारी होते हैं। यों प्रथमान्तपद को भी हेतु बना लिया जाता है। इसी प्रकार यहां भी "तद्विघातस्य हेतवः" इस प्रथमा विभक्ति वाले पद को चाहे "तद्विघातस्य हेतुत्वात्" यों हेतु में पंचमी विभक्तिवाला बना लिया जा सकता है अथवा इस हेतुदल को प्रथमान्त ही रहने दो इस के साथ यतः पद को जोड़ दो जोकि वार्तिक में नहीं कहा जा सका था अर्थ यों हुआ कि "यतः तद्विघातस्य हेतवस्ते सन्ति, अतः अप्रत्यवेक्षितादयः पंचमस्य शीलस्य अतिक्रमा भवन्ति" जिस कारण कि उस पांचवें शील के विघात के कारण वे हैं इस कारण अप्रत्यवेक्षित आदिक

ये पांचवें शील के अतीचार हैं। इस ग्रन्थ में यह बड़ा सौष्ठव है कि श्री विद्यानन्द स्वामी ने ही वार्तिक बनाये हैं और उन्होंने ही विवरण लिखा है अतः स्वोपज्ञ अलंकार स्वरूप विवरण में ही वे वार्तिक से कुछ शेष रह गये पद को जोड़ देने की ये प्रेरणा कर रहे हैं जो वे कहें वह हमको शिरसा मान्य है।

षष्ठस्य शीलस्य केऽतीचारा इत्याह;—

यहाँ कोई प्रश्न उठाता है कि सूत्रकार महाराज ने पांच व्रत और सात शीलों में पांच-पांच अतीचार कहने की प्रतिज्ञा की थी तदनुसार पांच व्रत और पांच शीलों के अतीचार कहे जा चुके हैं अब संगति अनुसार छठे उपभोगपरिभोगपरिमाण शील के अतीचार कौन से हैं ? बताओ। ऐसा विनीत शिष्य का जिज्ञासा पूर्वक प्रश्न उतरने पर तत्त्वनिर्णेता सूत्रकार महाराज उत्साहसहित इस अग्रिम सूत्र को स्पष्ट कह रहे हैं।

सचित्तसंबंधसंमिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः ॥३५॥

द्वंद्वसमास के अन्त में पड़े हुये आहार शब्द का पांचों में अन्वय कर देना चाहिये १ सचित्ताहार २ सचित्तसंबन्धाहार ३ सचित्तसंमिश्राहार ४ अभिषवाहार ५ दुःपक्वाहार ये पांच भोगोपभोगसंख्यान व्रत के अतीचार हैं अर्थात् "चिती संज्ञाने" धातु से चित्त शब्द बना कर उस चित्त के साथ जो वर्तता है वह सचित्त समझ लिया जाता है। व्रत की एकदेश रक्षा करते हुये किसी जीव का हरितकाय पदार्थ को खा लेना अतीचार है। यद्यपि सचित्त खाने का त्याग कर चुके व्रती का पुनः सचित्त का भक्षण कर लेने पर अनाचार हो जाना चाहिये तथापि अज्ञान या चित्त की अनैकाग्रता से सचित्तभक्षण हो जाने पर भी व्रतरक्षण की अपेक्षा है अतः सचित्ताहार को भी अतीचार में गिना दिया है। तथा सचेतन हो रहे बीज, फलखण्ड, पत्र, अंकुर, आदि करके संसर्ग मात्र किये जा रहे पदार्थ का भक्षण कर लेना सचित्तसंबन्धाहार है। स्वयं अचित्त हो रहा भी आहार दूसरे सचित्तद्रव्य का संघट्टमात्र हो जाने से दूषित हो गया है। एवं सचेतन पदार्थों से संमिलित हो रहे द्रव्य का आहार कर लेना सचित्तसम्मिश्राहार है जिस अचित्तका कि सचित्त द्रव्य के छोटे प्राणियों से पृथग्भाव नहीं किया जा सकता है। छोटे-छोटे वनस्पति कायिक जीवों की अवगाहना घनाङ्गुल के असंख्यातवें या संख्यातवें भाग मात्र है। छू जाने से ही खाद्य पदार्थ में अनेक जीव आ जाते हैं। बात यह है कि सचित्त संबन्ध में अचित्त के साथ सचित्त का केवल संसर्ग हो जाना विवक्षित है और यहां संमिश्र में अचित्त का सचित्त से अविभागस्वरूप मिल जाना अभिप्रेत है। किसी किसी त्यागी पुरुष के भी भूख, प्यास, की आकुलता हो जाने पर मोह या प्रमाद से सचित्त आदि द्रव्यों में भक्षण, पान, लेपन आदि की प्रवृत्ति हो जाती है। कुछ देर तक गलाकर जो सौवीर आदिक बना लिये जाते हैं वे द्रव पदार्थ कहे जाते हैं तथा इन्द्रियों के बल को बढ़ाने वाले उर्द के मोदक, रसायन, वशीकरण पदार्थ, पौष्टिकरस, ये वृष्य हैं। इन में से कोई पदार्थ भले ही अचित्त या शुद्ध भी होंय किन्तु इन्द्रियमदवृद्धि के कारण होने से व्रतियों को इनका त्याग करना चाहिये। अधकचा या अतिपक्व पदार्थ का आहार करना दुःपक्वाहार है उर्द की दाल या भात आदि को भीतर अधपका रहने देने पर अथवा अधिक गलाकर, जलाकर, खाने से और मोटे चावल, गेहूं की मोटी, गरिष्ठ रोटी, बाटी, भापला, एवं प्रकृति से भारी हो रहे कतिपय फल आदि का सेवन करने से शरीर में अनेक रोग या आलस्य उपजते हैं साथ ही आत्मसंक्लेश हो जाने के कारण धार्मिक क्रियाओं में क्षति पहुंचती है। इस प्रकार उपभोगपरिभोग संख्याव्रत के ये पांच अतीचार हैं।

सह चित्तेन वर्तत इति सचित्तं, तदुपश्लिष्टः संबन्धः, तद्व्यतिकीर्णस्तन्मिश्रः। पूर्वेणावि-

शिष्ठ इति चेन्न, तत्र संसर्गमात्रत्वात् । प्रमादसंमोहाभ्यां सचित्तादिषु वृत्तिर्देशविरतस्योपभोगपरिभोगविषयेषु परिमितेष्वपीत्यर्थः । द्रवो वृष्यं चाभिषवः, असम्यक् पक्वो दुःपक्वः । त एतेऽतिक्रमाः पंच कथमित्याह—

चित्त का अर्थ ज्ञान है। ज्ञान के साथ वर्तता है इस कारण जीवित हो रहा चेतना वाला पदार्थ सचित्त है १ उस सचित्त द्रव्य के साथ पृथक् कर्तुं योग्य संसर्ग को प्राप्त हो रहा पदार्थ सचित्त संबद्ध है २ तथा उस सचित्त द्रव्य करके एकरस हो कर मिश्रित हो रहा आहार्य पदार्थ सचित्तसंमिश्र है ३। यहाँ कोई शंका करता है कि यह सचित्तसंमिश्र तो पूर्ववर्ती सचित्त संबन्ध से कोई विशेषता नहीं रखता है संसर्ग हुये और मिल गये में कोई अन्तर नहीं है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना क्योंकि उस सचित्त संबन्ध में केवल स्पर्श कर लेना मात्र संसर्ग है और संमिश्र में दोनों का एकरस होकर मिल जाना है। सिद्ध भगवान का पुद्गल वर्गणाओं के साथ मात्र संसर्ग है, बंध या संमिश्रण नहीं है। बोतल में मद्य या विष का केवल उपश्लेष है हां पेट में खा पी लेने पर उनका शरीरावयवों के साथ संमिश्रण हो जाता है। प्रमाददोष और लोलुपता पूर्ण बढ़े हुये मोह कर के देश विरति वाले श्रावक की उपभोग और परिभोग के विषयों का परिमाण कर चुकने पर भी सचित्त आदि पदार्थों में प्रवृत्ति हो जाती है यह इसका तात्पर्य अर्थ निकलता है। विशेष यह कहना है कि अप्रतिष्ठित प्रत्येक माने गये आम्रवृक्ष के फल या पत्ता को कोई कोई मन्दबुद्धि पुरुष अचित्त कहते हैं क्योंकि वृक्ष का एक जीव वहां वृक्ष में ही रहा आया, टूटा हुआ फल या पत्ता तो उसके आत्मप्रदेश निकल जाने पर अचित्त ही हो गया। इस पर यह समझना चाहिये कि शुष्क, पक्व, तप्त हो जाने पर या आम्ल, तीक्ष्णरसवाले पदार्थ के साथ संमिश्रण हो जाने की दशा में अथवा शिल, चाकी आदि यन्त्रों करके चकनाचूर कर देने पर अचित्त हो जाने की व्यवस्था आगमोक्त है। अप्रतिष्ठित प्रत्येक होने पर भी आम, अमरूद, केला, आदि के फल, पत्ते, शाखा, आदि अवयवों में अन्य भी छोटे छोटे वनस्पति कायिक जीव पाये जाते हैं जैसे कि प्रत्येक कर्म का उदय होने पर भी कर्मभूमि के तिर्यञ्च, मनुष्यों, के शरीर में अनेक त्रसजीव आश्रित हो रहे हैं। श्री गोम्मटसार का परामर्श करने पर वनस्पति कायिक जीवों की छोटी छोटी अवगाहनाओं का निर्णय हो जाता है। एकेन्द्रिय जीवों में पृथिवीकाय, जलकाय, तेजस्काय, वायुकाय के जीवों में ही बादर निगोद का आश्रितपना टाला गया है वनस्पतिकाय में बादर निगोद पाया जाता है। अतः संघट्ट करने पर भी शिल या चाकी के छेदों में घुस गये वनस्पति के उर्द, मूंग, बराबर के टुकड़े भी जब सचित्त सम्भव सकते हैं तो गीले फल, पत्ते, आदिक अवश्य ही सचित्त होने चाहिये। अतः व्रती उन त्यागे हुये सचित्त पदार्थों के आर्द्र फल पत्ते आदि का भक्षण नहीं कर सकता है। द्रव पदार्थ और वृषीकरण, वाजीकरण के उपयोगी वृष्यपदार्थ अभिषव हैं। समीचीन रूप यानी अन्यूनानतिरिक्त रूप से नहीं पका हुआ पदार्थ दुःपक्व है। यहां कोई पूंछता है कि ये प्रसिद्ध हो रहे सचित्त आहार आदि ये पांच अतीचार भला किस प्रकार सिद्ध हुये समझ लिये जांय ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक को कह रहे हैं।

तथा सचित्तसंबंधाहाराद्याः पंच सूत्रिताः ।
तेऽत्र षष्ठस्य शीलस्य तद्विराधनहेतवः ॥१॥

तथा सचित्तसंबंधाहार आदिक पांच जो यहां सूत्र द्वारा कहे जा चुके हैं वे (पक्ष) छठे शील

माने गये भोगपरिभोगसंख्यान के अतीचार हैं (साध्य) क्योंकि उस छठे शील की विराधना करने के कारण हो रहे हैं (हेतु) तिसी प्रकार अर्थात् जैसे अहिंसादि व्रतों का एक देश रक्षण और एक देश भंग कर देने वाले दोष उन व्रतों के अतीचार हैं उसी प्रकार व्रत का एक अंशरूप से भंग कर देने वाले सचित्त संबन्धाहार आदिक पांच इस छठे शील के अतीचार हैं (दृष्टान्त)।

सप्तमस्य शीलस्य केऽतिक्रमा इत्याह—

अब सातमे अतिथि संविभाग शील के अतीचार कौन हैं ? ऐसी तीव्रनिर्णिनीषा प्रवर्तने पर सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ॥३६॥

सचित्तनिक्षेप १ सचित्तापिधान २ परव्यपदेश ३ मात्सर्य ४ और कालातिक्रम ५ ये पांच अतिथि-संविभाग शील के अतीचार हैं। अर्थात् सचित्त यानी सजीव हो रहे कमलपत्र, पलाशपत्र, कदलीपत्र आदि में खाद्य, पेय पदार्थ को धर देना अथवा गीली पृथिवी की बनी हुई चूलि पर भोज्य, पेय पदार्थों को रांधना, सचित्त जल से आर्द्र हो रहे बर्तनों में खाद्यपदार्थ रख देना आदि सचित्तनिक्षेप हैं। कोई तुच्छबुद्धि पुरुष विचारता है कि सचित्त पर धरे हुये पदार्थ को संयमीजन ग्रहण नहीं करते हैं यों दान नहीं देना पड़े इस अभिप्राय से वह देय पदार्थ को सचित्त पर धर देता है जैसे कि आजकल भी कतिपय धनपतियों के वैज्ञानिक रसोइया परोसने में कृपणता करते हैं। सचित्त पदार्थ करके ढक देना तो सचित्तापिधान है। संयमी ग्रहण नहीं करेंगे तो भी मुझे लाभ है ऐसा मान रहा यह तुच्छ पुरुष भोज्य पदार्थ को सचित्त से ढक देता है अथवा उस भोज्य पदार्थ को त्वरा वश मैंने सचित्त से ढक दिया है संयमी तो इस बात को जानते नहीं हैं यों विचार कर उस सचित्तपिहित वस्तु का संयमी के लिये दान कर देना भी सचित्तापिधान हो सकता है। दूसरे दाता के देय द्रव्य का अर्पण कर देना अर्थात् दूसरे के पदार्थ को लेकर स्वयं दे देना अथवा मुझे कुछ कार्य है तू दान कर देना यह परव्यपदेश है। अथवा यहाँ दूसरे दाता विद्यमान हैं मैं यहां दाता नहीं हूं यह कह देना भी परव्यपदेश हो सकता है। धनलाभ या किसी प्रयोजन सिद्धि की अपेक्षा से द्रव्यादिक के उपार्जन को नहीं त्यागता सन्ता योग्य हो रहा भी दूसरे के हाथ से दान दिलाता है इस कारण यह परव्यपदेश महान् अतीचार है जो कार्य स्वयं किया जा सकता है किसी रोग, सूतक, पातक आदि का प्रतिबंध नहीं होते हुये भी उस को दूसरों से कराते फिरना अनुचित है। दान को देता हुआ भी आदर नहीं करता है अथवा अन्य दाताओं के गुणों को नहीं सह सकता है वह उसका मात्सर्य दोष है। संयमियों के अयोग्यकाल में दान करने का अभिप्राय रखना कालातिक्रम है, ये पांच अतीचार अतिथि संविभाग शील के हैं।

सचित्ते निक्षेपः, प्रकरणात् सचित्तेनापिधानं, अन्यदातृदेयार्पणं परव्यपदेशः, प्रयच्छतोऽप्यादराभावो मात्सर्यं, अकाले भोजनं कालातिक्रमः ॥ कुत एतेऽतिचारा इत्याह;—

मुनिदान योग्य अचित्तपदार्थों का सचित्तपदार्थ पर धर देना सचित्तनिक्षेप है "सचित्ते निक्षेपः" यों विग्रह कर लिया जाय। प्रकरण के वश से सचित्त करके अपिधान यों विग्रह कर "सचित्तापिधान" शब्द बना लिया जाय "अर्थवशाद्विभक्तिविपरिणामः" इस परिभाषा अनुसार सप्तमी विभक्ति वाले सचित्ते शब्द का अपिधान पद के साथ अन्वय करने पर प्रकरणवश तृतीयान्त सचित्तेन पद के साथ विग्रह करना चाहिए, अन्यथा पहिले अधिकरणपने से कहे गये सचित्त का तृतीयान्त पद रूप से अनुवृत्ति

करना कठिन पड़ जाता है। अन्य दाता हैं ही मैं क्यों दान देने की चिन्ता करूं अथवा यह देने योग्य पदार्थ किसी दूसरे का है ऐसा अभिप्राय कर अर्पण कर देना परव्यपदेश है। बड़े समारोह से दान कर रहे सन्ते भी अन्तरंग में पात्र का आदर नहीं करना या देने में हर्ष नहीं मनाना मात्सर्य है। अकाल में भोजन करना कालातिक्रम है। यों ये दान के अतीचार हुये। यहाँ कोई पूंछता है कि ये अतीचार भला किस प्रमाण से सिद्ध किये जा सकते हैं ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक को कह रहे हैं।

स्मृताः सचित्तनिक्षेपप्रमुखास्ते व्यतिक्रमाः।
सप्तमस्येह शीलस्य तद्विघातविधायिनः ॥१॥

वे सचित्तनिक्षेप आदिक यहाँ कहे गये पाँच अतीचार (पक्ष) सातवें अतिथिसंविभाग शीलके माने गये हैं सर्वज्ञोक्त विषय का गुरुपरिपाटी अनुसार अबतक यों ही स्मरण होता चला आ रहा है (साध्य) क्योंकि ये दोष उस अतिथि संविभाग का एकदेश से विघात करने वाले हैं (हेतु)। इस अनुमान प्रमाण से सूत्रोक्त आगमगम्य विषय की पुष्टि हो जाती है।

अथ सल्लेखनायाः केऽतिचारा इत्याह;

अतीचारों का प्रकरण होने पर लगे हाथ अब सल्लेखना के अतीचार कौन से हैं ? ऐसी विनीत शिष्य की बुभुत्सा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं।

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबंधनिदानानि ॥३७।

जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबंध, और निदान; ये पाँच सल्लेखना के अतीचार हैं। अर्थात् यह प्रकृत शरीर में आत्मा का निवास करना स्वरूप जीवित नियम से अध्रुव है। यह बबूले के समान अनित्य शरीर अवश्य हेय है ऐसा जानकर भी मेरा जीवन बना रहे ऐसी लोलुपतापूर्ण सादर आकांक्षा करना जीविताशंसा है। रोग, टोटा, उपद्रव, अपमान आदि से आकुलित होकर मरण में संक्लेश पूर्वक अभिप्राय रखना मरणाशंसा है। बाल्य अवस्था में साथ खेले अथवा संपत्ति और विपत्ति में युगपत् साथ रहे मित्रों के साथ हुई क्रीड़ा आदि का स्मरण करना मित्रानुराग है। मैंने पहिले सुन्दर भोजन, पान, का बड़ा अच्छा भोग किया था, मनोहर, गुलगुदी, सजी हुई शय्याओं पर शयन किया था, अनेक इन्द्रियों के भोग भोगे थे, यों रागवर्धक सुखों का पुनः पुनः स्मरण करना सुखानुबंध कहा जाता है। भविष्य में भोगों की आकांक्षा के वश होकर वैषयिक सुखों की उत्कट प्राप्ति के लिये मनोवृत्ति करना निदान है यों पाँच अतीचार सल्लेखना के हैं।

आकांक्षणमाशंसा, अवश्यहेयत्वे शरीरस्यावस्थानादरो जीविताशंसा, जीवितसंक्लेशान्मरणं प्रति चित्तानुरोधो मरणाशंसा, पूर्वसुहृत्सहपांशुक्रीडनाद्यनुस्मरणं मित्रानुरागः, पूर्वानुभूतप्रीतिविशेषस्मृतिसमन्वाहारः सुखानुबंधः, भोगाकांक्षया नियतं दीयते चित्तं तस्मिंस्तेनेति वा निदानं। त एते संन्यासस्यातिक्रमाः कथमित्याह—

आकांक्षा यानी अभिलाषा करना आशंसा है, यह बिजली के समान क्षणिक शरीर अवश्य ही त्यागने योग्य है ऐसा जानते हुये भी शरीर की अवस्थिति बने रहने में आदर करना जीविताशंसा है।

रोगों के उपद्रव से आकुलित होने के कारण जीवित में महान् संक्लेश हो जाने से मरने के लिये एकाग्र हो कर मानसिक विचार करना मरणाशंसा है। पूर्व अवस्थाओं में किये गये मित्रों के साथ धूलि क्रीडा, उद्यान भोजन, नाटक प्रदर्शन, सहभोजन, सहविहार आदि का पुनः स्मरण करना मित्रानुराग है। पहिले अनुभवे गये प्रीतिविशेषों की स्मृतियों की बारबार अभ्यावृत्ति करना सुखानुबंध है। विद्याधर, चक्रवर्ती, देव, इन्द्र, अहमिन्द्र आदि के भोगों की आकांक्षा करके नियत हो रहा चित्त उस निदान में दिया जाता है अथवा उस भोगाभिप्राय करके चित्त की टकटकी लगी रहती है इस कारण वह निदान कहा जाता है। करण या अधिकरण में युट्प्रत्यय कर दिया गया है "करणाधिकरणयोश्च युट्"। ये पांच सिद्ध हो रहे संन्यास के अतीचार हैं। कोई समाधिमरण करने वाला यदि अभक्ष्य औषधियों का भक्षण, प्रत्याख्यात पदार्थों का निरर्गल सेवन, आकुलित होकर पुकारना, तीव्ररौद्रध्यान, इत्यादि परिणतियां करे तो अनाचार है। केवल अज्ञान या प्रमादवश होकर मन्दरूप से यह जीवित की आशा आदि करता है अतः ये पांच कुछ संक्लेश सम्पादन के हेतु होने से अतीचार माने गये हैं। यहां कोई पूंछता है कि किस प्रकार सिद्ध हुये ये पांच अतीचार मान लिये जाँय ? बताओ। ऐसी तर्क प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्तिक द्वारा समाधान वचन कहते हैं।

विज्ञेया जीविताशंसाप्रमुखाः पंच तत्त्वतः।
प्रोक्तसल्लेखनायास्ते विशुद्धिक्षतिहेतवः ॥१॥

लक्षण कर भले प्रकार कह दी गई सल्लेखना के जीविताकांक्षा प्रभृति पांच वास्तविक रूप से अतीचार समझने चाहिये (प्रतिज्ञा) कारण कि वे समाधिमरण के उपयोगी हो रही उत्कृष्ट आत्म विशुद्धि की क्षति के कारण हैं (हेतु) ये जीविताशंसा आदिक दोष न तो समाधिपूर्वक मरण का समूलचूल घात करते हैं और न उस समाधिमरण में कुछ विशुद्धि उत्पन्न करते हैं अतः समाधिमरण का एक देश घात और एक देश संरक्षण करने वाले होने से इन का अतीचार मान लिया है।

तदेवं शीलव्रतेष्वनतिचारस्तीर्थंकरत्वस्य परमशुभनाम्नः कर्मणो हेतुरित्येतस्य पुण्यास्रवस्य प्रपञ्चतो निश्चयार्थं व्रतशीलसम्यक्त्वभावनातदतिचारप्रपंचं व्याख्याय संप्रति शक्तितस्त्यागतपसी इत्यत्र प्रोक्तस्य व्याख्यानार्थमुपक्रम्यते;—

जिस कारण इस प्रकार यहां तक "शीलव्रतेष्वनतीचारः" यानी सात शील और पांच व्रतों के अतीचार नहीं लगने देना यह परमशुभ नाम कर्म हो रहे तीर्थकरत्व का तृतीय आस्रव हेतु है। यों इस पुण्यास्रव का विस्तार से निश्चय करने के लिये इस सातवें अध्याय में पांच व्रत, सात शील, सम्यक्त्व, सल्लेखना, पच्चीस भावनायें, और उन चौदहों के अतीचारों के प्रपंच का व्याख्यान किया जा चुका है। अब वर्तमान में उन्हीं षोडश कारण भावनाओं में जो शक्ति से त्याग और तपश्चरण करना सूत्रित किया है "शक्तितस्त्यागतपसी" इस प्रकार यहाँ भले प्रकार कहे जा चुके त्याग यानी दान का व्याख्यान करने के लिये सूत्रकार महाराज उपक्रम यानी जानकर प्रारंभ करते हैं। भावार्थ—तीर्थंकर नामकर्म के आस्रवों को कहते हुये सूत्रकार ने शील व्रतों में अतीचार नहीं लगने देना कहा था। तदनुसार व्रतों का लक्षण उन व्रतों की पोषक सामान्य विशेष भावनायें व्रतों के प्रतियोगियों के लक्षण व्रतधारियों के भेद तथा सात शील और सल्लेखना एवं व्रत और शीलों की नींव हो रहे सम्यक्त्व के अतीचार तथैव व्रत शीलों के अतीचार एवं व्रत प्रासाद के कलशस्वरूप सल्लेखना के अतीचारों का स्वयं सूत्रकार ने निरूपण कर दिया है। अब सोलह कारण भावनाओं में जो शक्ति अनुसार त्याग (दान) कहा गया था तथा

सात शीलों में भी अतिथिसंविभाग शब्द करके दान कहा गया है उस दान का व्याख्यान करने के लिये प्रक्रम का आरम्भ करते हैं।

अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥३८॥

स्व यानी अपना अनुग्रह और पर अर्थात् दूसरों का अनुग्रह करने के लिये धन का त्याग करना दान है। भावार्थ—दाता का अपना अनुग्रह तो आत्मीय आनन्द के साथ पुण्यसंचय करना है और पात्र के सम्यग्ज्ञान, चारित्र, आरोग्य, शरीर शक्ति, आदि की वृद्धि करना है। यों दोनों प्रयोजनों का लक्ष्य रख जो सर्वांश ममत्व को छोड़ते हुवे अपने धन का परित्याग कर देना है वह दान है।

स्वपरोपकारोऽनुग्रहः, स्वशब्दो धनपर्यायवचनः । किमर्थोऽयं निर्देश इत्याह—

यहाँ सूत्र में कहे गये अनुग्रह शब्द का अर्थ अपना और पर का उपकार करना है। दान देने से अपने को स्वकर्तव्यपालन, पुण्यसंचय और दानान्तराय के क्षयोपशम अनुसार हुए आध्यात्मिक आनन्द विशेष की प्राप्ति होती है तथा पात्र को आहार, औषधि, आदि देने से उनके ज्ञान, चारित्र, शरीर की पुष्टि होकर इन से ज्ञानाभ्यास करना, उपवास करना, तीर्थ यात्रा करना, भावपूर्ण धर्मोपदेश करना, कायक्लेश कर सकना आदि सत्कर्म प्रवर्तते हैं, औषधि, वसतिका, पुस्तक, कमण्डलु, पिच्छिका, दे देने पर अथवा गृहस्थ पात्र को अन्य पदार्थों का भी स्व हस्त से दान करने पर धार्मिक कृत्यों की वृद्धि होती है। स्व शब्द के आत्मा, आत्मीय, ज्ञाति और धन ये चार अर्थ हैं किन्तु सूत्र में कहे गये स्व शब्द का पर्याय वाची शब्द केवल स्वकीय धन ही लिया जाय, दान के प्रकरण में आत्मा या आत्मीय बन्धुजन अथवा अपने जातीय वर्ग के देने का तात्पर्य नहीं है। आहार, औषधि, पुस्तक, वसतिका, रुपया, गृह आदि धनों का ही मुनिमहाराज और गृहस्थ के लिये यथा योग्य दान दिया जाता है। पात्रदत्ति और करुणादत्ति में पुण्यवृद्धि के अर्थ अनेक धर्मोदनपेत पदार्थों का दान किया जाता है। हाँ समदत्ति और अन्वयदत्ति में पुण्यवृद्धि गौण होकर यशस्यता, स्व कर्तव्य और कुटुम्ब रक्षा धार्मिक लौकिक कार्यों का परिपालन करना प्रधान फल हो जाता है। यहाँ कोई प्रश्न करता है कि दान के लक्षण का यह कथन यहां किस लिये किया गया है ? बताओ। ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार वार्त्तिक द्वारा उत्तर को कहते हैं।

स्वं धनं स्यात्परित्यागोऽतिसर्गस्तस्य नुः स्फुटः ।
तद्दानमिति निर्देशोऽतिप्रसंगनिवृत्तये ॥१॥
अनुग्रहार्थमित्येतद्विशेषणमुदीरितं ।
तेन स्वमांसदानादि निषिद्धं परमापकृत् ॥२॥

स्व शब्द का अर्थ धन समझा जाय उस अपने धन का अतिसर्ग यानी स्फुट होकर जो परित्याग करना है वह दान है जो कि आत्मा का स्वकर्तव्य है। लक्षण के घटकावयव हो रहे पदों करके इतर व्यावृत्ति कर दी जाती है अतः अपने और पर के अपकार के लिये जो दिया जायेगा वह दान नहीं समझा जायेगा अथवा धन के अतिरिक्त जीवित रहने, शीर्ष आदि का त्याग करना कोई दान नहीं है। सूत्रकार महाराजने "अनुग्रहार्थं स्वस्य" यों यह विशेषण कहा है उस करके अपने मांस का देना, शिर चढ़ा देना, पशुबलि करना, इत्यादिक दान करना, निषेधे जा चुके समझे जांय, क्योंकि ये अपने और दूसरे के बड़े भारी अपकारों को करने वाले हैं यह धन का दान भी नहीं है।

नहि परकीयवित्तस्यातिसर्जनं दानं स्वस्यातिसर्गो इति सूत्रवचनात् । स्वकीयं हि धनं स्वमिति प्रसिद्धं धनपर्यायवाचिनः स्वशब्दस्य तथैव प्रसिद्धेः । न चैवं स्वदुःखकारणं परदुःखनिमित्तं वा सर्वमाहारादिकं धनं भवतीति तस्याप्यतिसर्गो दानमिति प्रसज्यते, सामान्यतोऽनुग्रहार्थमिति वचनात् । स्वानुग्रहार्थस्य परानुग्रहार्थस्य च धनस्यातिसर्गो दानमिति व्यवस्थितेः । तेन च विशेषणेन स्वमांसादिदानं स्वापायकारणं परस्यावद्यनिबंधनं च प्रतिक्षिप्तमालक्ष्यते तस्य स्वपरयोः परमापकारहेतुत्वात् ॥

दूसरे के धन को दे देना तो दान नहीं है क्योंकि श्री उमास्वामी महाराज दान के लक्षण में अपने धन का परित्याग करना ऐसा कण्ठोक्त निरूपण किया है जब कि अपना उपात्त किया गया धन ही स्व है ऐसा लोक में प्रसिद्ध हो रहा है । चार अर्थों में से यहां धन के पर्यायवाची हो रहे स्व शब्द की तिस ही प्रकार यानी अपने धन स्वरूप से प्रसिद्धि हो रही है, स्व का भी धन ही होना चाहिये मांस, रक्त, प्राण, आदि नहीं । यों स्व शब्द की सफलता हुई । इस प्रकार कहने पर भी प्रसंग उठाया जा सकता है कि अपने दुःख के कारण हो रहे अथवा दूसरों के दुःख के निमित्त हो रहे सभी आहार, औषधि, आदि कभी धन हो जाते हैं इस कारण उन का भी परित्याग करना दान हो जाओ, ग्रन्थकार कहते हैं कि यह प्रसंग नहीं उठाया जा सकता है क्योंकि सूत्रकार ने दान के लक्षण में सामान्यरूप से अनुग्रहार्थ ऐसा कथन किया है अतः अपना अनुग्रह करना स्वरूप प्रयोजन को धारने वाले अथवा दूसरों का अनुग्रह होना स्वरूप प्रयोजन को धार रहे धन का संविभाग करना दान है ऐसी सूत्रानुसार व्यवस्था हो रही है । तिस अनुग्रहार्थं विशेषण करके अपने अपाय का कारण हो रहा और पर के पापबंध का कारण हो रहा स्वकीय मांस आदि का दान करना तो निरस्त कर दिया गया समझ लिया जाता है । क्योंकि वह स्वकीय मांस आदि का देना तो अपने और दूसरों के परम अपकार करने का हेतु हो रहा है ।

कुतस्तस्य दानस्य विशेष इत्याह—

सूत्रकार महाराज के प्रति कोई जिज्ञासु प्रश्न उठाता है कि उस दान की या उस दान के फल की किन कारणों से विशेषता हो जाती है ? अथवा दान में कोइ विशेषता ही नहीं है ? ऐसी पृच्छा प्रवर्तने पर सूत्रकार महाराज इस अग्रिम सूत्र को कह रहे हैं ।

विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः ॥३९॥

विधिविशेष, द्रव्यविशेष, दाताविशेष और पात्रविशेष इन विशेषताओं से उस दान की विशेषता हो जाती है । दान के फल में भी अन्तर पड़ जाता है । अर्थात् श्रेष्ठ पात्र का प्रतिग्रह करना, ऊँचे आसन पर बैठाना, पाद प्रक्षालन करना, पूजन करना, नमस्कार करना अपने मन की शुद्धि करना, वचन शुद्धि, कायशुद्धि और भोजन, पान शुद्धि इत्यादि पुण्योपार्जन क्रिया विशेषों का ठीक ठीक क्रमविधान करना विधि कही जाती है । उस विधि की आदर अनादर अनुसार विशेषता हो जाती है । देय द्रव्य की विशेषता अनुसार द्रव्यविशेष व्यवस्थित है । जो द्रव्य मद्य, माँस, मधु, के संसर्ग से रहित है, चर्म से छुआ हुआ नहीं है, पात्र के तपः, स्वाध्याय, निराकुलता, शुद्ध परिणतियां आदि की वृद्धि का कारण है वह द्रव्य विशेष विशिष्ट पुण्य का संपादक है अन्य प्रकारों के द्रव्य से वैसा पुण्य प्राप्त नहीं होता है । दाता भी शुद्ध आचरण का होय, पात्र में ईर्ष्या नहीं करे, दान देने में उत्साह रखता हो, शुभपरिणामी होय, दृष्टफलों की अपेक्षा नहीं रखता हो, श्रद्धा, तुष्टि, भक्ति, विज्ञान, अलोलुपता, क्षमा और शक्ति इन सात गुणों को धार रहा हो ऐसा

दाता विशिष्ट पुण्य का भाजन है उक्त गुणों में जितनी कमी होगी वही दाता की त्रुटि है पात्र की विशेषता प्रसिद्ध ही है, मुनिमहाराज उत्तम पात्र हैं श्रावक मध्यम है और सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र है। मुनियों में भी तीर्थंकर, गणधर, ऋद्धिधारी, आचार्य, उपाध्याय, आदि भेद हो सकते हैं। इसी प्रकार श्रावक और सम्यग्दृष्टियों में भी अवान्तर भेद हैं। सम्यग्दर्शन आदि की शुद्धि, अशुद्धि, अपेक्षा पात्रों में विशेषता हो जाती है। यों विधि आदि की विशेषताओं से दान और उसके फल में तारतम्य अनुसार विशेषतायें हो जाती हैं।

प्रतिग्रहादिक्रमो विधिः विशेषो गुणकृतः तस्य प्रत्येकमभिसंबंधः। तपःस्वाध्यायपरिवृद्धिहेतुत्वादिर्द्रव्यविशेषः, अनसूयाऽविषादादिर्दातृविशेषः, मोक्षकारणगुणसंयोगः पात्रविशेषः। एतदेवाह—

अतिथि का प्रतिग्रह करना, अतिथि को ऊँचे देश में स्थापन करना आदि क्रिया विशेषों का नवधाभक्ति स्वरूप क्रम तो विधि है। गुणों की अपेक्षा की गई परस्पर में विशिष्टता का हो जाना विशेष है। द्वंद्व समास के अन्त में पड़े हुये विशेष का विधि, द्रव्य, दाता, और पात्र इन चारों में प्रत्येक के साथ पिछली ओर संबंध कर देना, जिससे कि विधिविशेष, द्रव्यविशेष, दातृविशेष, पात्रविशेष, यों सूत्रोक्त पद समझ लिये जाँय, पात्र के तपश्चरण करना, स्वाध्याय करना इन आवश्यक क्रियाओं की परिवृद्धि का हेतुपना, गमन, धर्मोपदेश में आलस्य नहीं करावना आदिक तो द्रव्य की विशेषतायें हैं। पात्र में ईर्ष्या, असूया नहीं करना, दान देने में विषाद नहीं करना, देते हुये प्रीति रखना, कुशल होने का अभिप्राय रखना, भोगों की आकांक्षा नहीं रखना, इत्यादिक तो दाता की विशेषतायें हैं। मोक्ष के कारण हो रहे सम्यग्दर्शन आदि गुणों के साथ संयोग विशेष होना तो पात्रों की विशेषता है इस ही मन्तव्य को ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिक द्वारा कह रहे हैं।

तद्विशेषः प्रपंचेन स्याद्विध्यादिविशेषतः।
दातुः शुद्धिविशेषाय सम्यग्बोधस्य विश्रुतः ॥१॥

विधि, द्रव्य, आदि की विशेषताओं से उस दान का विस्तार करके विशेष हो जाता है जो कि दाता के सम्यग्ज्ञान की विशेष शुद्धि के लिये हो रहा प्रसिद्ध है अर्थात् विधि आदि की विशेषताओं से दाता को दान के फल में बड़ा अन्तर पड़ जाता है। भूमि, जल, वायु, वृष्टि, आदि विशेष कारणों करके जैसे बीज फल की विशेषतायें हो जाती हैं।

कुतोऽयं विध्यादीनां यथोदितो विशेषः स्यादित्याह;—

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि आम्नाय अनुसार चला आया यह विधि आदिकों का सूत्रोक्त विशेष भला किस कारण से हो जाता है ? बताओ। ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार उत्तर वार्त्तिक को कह रहे हैं।

विध्यादीनां विशेषः स्यात् स्वकारणविशेषतः।
तत्कारणं पुनर्बाह्यमांतरं चाप्यनेकधा ॥२॥

विधि, द्रव्य आदिकों की विशेषता तो अपने अपने कारणों की विशेषता से हो जायेगी उन विधि आदिकों के कारण तो फिर बहिरंग और अंतरंग अनेक प्रकार के हैं। अर्थात् घट, पट, आदिक

अनेक कार्यों की विशेषतायें अपने अपने अंतरंग, बहिरंग कारणों अनुसार हो रही देखी जाती हैं लोक में भी ऐसी प्रसिद्धि है कि "पाग, भाग, वाणी, प्रकृति, सूरत (मूरत) अर्थ विवेक। अक्षर मिलें न एक से ढूंढो नगर अनेक" भूत, भविष्य, वर्त्तमान काल के या देशान्तरों के अनेकानेक मनुष्यों की सूरतें, मूरतें, एक सी नहीं मिलतीं हैं। एक मनुष्य की भी बाल्य, कुमार, युवा, अर्धवृद्ध और वृद्ध अवस्थाओं की आकृतियों में महान् अन्तर है सूक्ष्मदृष्टि से विचारने पर प्रत्येक वर्ष, मास, दिन, घंटाओं की सूरतें न्यारी जचेंगी। हर्ष, विषाद, क्रोध, क्षमा, भूख, तृप्ति, टोटा, लाभ, रोग, आरोग्य आदि अवस्थाओं में झट न्यारी न्यारी आकृतियां हो जाती हैं। ये ही दशायें पशु, पक्षी, मक्खियां, चींटे,चींटियां, वृक्ष, आदि में समझ लीं जांय। स्थूलदृष्टि से मक्खियाँ एक सी दीखती हैं किन्तु उनमें अंतरंग बहिरंग, कारण वश अनेक अन्तर पड़े हुये हैं। भले ही एक साँचे में ढले हुये, रुपये, पैसे, खिलौनों में अन्तर नहीं है किन्तु सदृश परिणाम स्वरूप सामान्यवाले मनुष्य, घोड़ा, आदि उक्त दृष्टान्तों से चना, गेहूँ, चावलों प्रभृति में भी व्यक्तिशः अन्तर मानने की इच्छा हो जाती है। इसी प्रकार द्रव्य आदि में बहिरंग, अन्तरंग कारणों अनुसार विशेषतायें हो जाती हैं। पूर्ण आदर उत्साह के साथ प्रतिग्रह आदि के करने में और मन्द उत्साह के साथ विधि करने में अन्तर पड़ जाता है। गरिष्ठ पदार्थ, अति उष्ण, औषधि, रूक्ष भोजन, आदि द्रव्यों की अपेक्षा, लघुपाच्य, अनुष्णाशीत द्रव्यों का दान करने में अन्तर है, शुद्धहृदय, निष्कपट, दाता में और ईर्ष्यालु, अनुत्साही, दाता में महान् अन्तर है। तीर्थंकर, मुनि, ऋद्धिधारी मुनि, सामान्य-द्रव्यलिंगी, उत्तम श्रावक, पाक्षिक श्रावक, आदि पात्रों के अन्तर अनुसार दान फल की विशेषतायें हो जातीं हैं।

विधिद्रव्यदातृपात्राणां हि विशेषः स्वकारणविशेषात्। तच्च कारणं बाह्यमनेकधा द्रव्य-क्षेत्रकालभावभेदात्। आन्तरं चानेकधा श्रद्धाविशेषादिपरिणामः। कः पुनरसौ विध्यादीनां विशेषः प्रख्यातो यतो दानस्य विशेषतः फलविशेषसंपादनः स्यादित्याह--

अपने अपने कारणों की विशेषताओं से विधि, द्रव्य, दाता और पात्रों का विशेष हो रहा नियमित है और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, इनके भेद से वे बहिरङ्ग कारण अनेक प्रकार के हैं। उन के अनुसार कार्यों में भेद पड़ जाता है। तथा श्रद्धाविशेष, उत्साहविशेष, क्षयोपशम, विशुद्धि, आदिक परिणाम स्वरूप अंतरंग कारण भी अनेक प्रकार हैं इन अंतरंग कारणों से भी कार्यों में अनेक अन्तर पड़ जाते हैं। जैसे कि विद्यालय, अध्यापक, भोजन, श्रेणी, पुस्तकों, समय, परिश्रम आदि के समान होने पर भी छात्रों की अन्तरंग कारण वश अनेक प्रकार व्युत्पत्तियां देखी जाती हैं। कारणों की बड़ी अचिन्तनीय शक्ति है। जिस से कि कार्यों में वस्तु भूत अनेक विशेषतायें उपज बैठती हैं। यहाँ कोई प्रश्न उठाता है कि वह विधि आदिकों की विशेषता फिर कौन सी प्रसिद्ध हो रही है ? जिस से कि सूत्रोक्त अनुसार दान की विशेषता से वह विधि आदिकों का विशेष भला फलविशेषों का सम्पादन करनेवाला हो सके ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर ग्रन्थकार अग्रिम वार्त्तिकों को कह रहे हैं।

पात्रप्रतिग्रहादिभ्यो विधिभ्यस्तावदास्रवः।
दातुः पुण्यस्य संक्लेशरहितेभ्योऽतिशायिनः ॥३॥
किंचित्संक्लेशयुक्तेभ्यो मध्यमस्योपवर्णितः।
बृहत्संक्लेशयुक्तेभ्यः स्वल्पस्येति विभिद्यते ॥४॥

निकृष्टमध्यमोत्कृष्टविशुद्धिभ्यो विपर्ययः ।
तेभ्यः स्यादिति संक्षेपादुक्तं सूरिभिरञ्जसा ॥५॥

पात्रों का प्रतिग्रह करना, ऊंचा स्थान देना, पादप्रक्षालन करना, पूजा रचना आदिक संक्लेश रहित हो रही नवधा विधियों से तो दाता को सातिशय पुण्य का आस्रव होता है तथा बहुभाग विशुद्धि और किंचित्संक्लेश करके युक्त हो रहे प्रतिग्रह आदि विधियों से दानकर्ता जीव को मध्यम श्रेणी के पुण्य का आस्रव होना कहा है एवं अत्यल्पविशुद्धि और बढ़े हुये संक्लेश करके युक्त हो रहे पात्र प्रतिग्रह, आदि विधियों से दाता को स्वल्प पुण्य का आस्रव होता है। इस प्रकार विधियों की विशेषता से यों उक्त प्रकार उत्तम, मध्यम, जघन्य जाति के पुण्यों का आस्रव होना कह दिया गया है। सूत्र में विधियों की विशेषता से जो उस दान का विशेष कहा था उसका अभिप्राय यही है कि यों विशेष रूप से दानजन्य पुण्यास्रव के भेद कर दिये जाते हैं। निकृष्ट विशुद्धि, मध्यम विशुद्धि और उत्कृष्ट विशुद्धियों से किये गये उन प्रतिग्रह आदि विधियों से दाता को विपर्यय होगा यानी स्वल्प पुण्य का आस्रव, मध्यम पुण्य का आस्रव और उत्कृष्ट अनुभागवाले पुण्यका आस्रव होगा। इस प्रकार आचार्य महाराज सूत्रकार ने संक्षेप से उक्त सूत्र में तात्त्विकरूप करके यों निरूपण कर दिया है। अर्थात् श्री समन्तभद्राचार्य ने "विशुद्धि संक्लेशाङ्गं चेत्स्वपरस्थं सुखासुखं, पुण्यपापास्रवो युक्तो न चेद्व्यर्थस्तवार्हतः" यों आप्तमीमांसा में विशुद्धि और संक्लेश के अङ्गों को पुण्य और पाप का आस्रव इष्ट किया है। दशवें गुणस्थान में भी ईषत्संक्लेश पाया जाने से ज्ञानावरण आदि पाप प्रकृतियों का आस्रव होता रहता है और पहिले गुणस्थान में भी स्वल्प विशुद्धि अनुसार कतिपय पुण्य प्रकृतियां आ जाती हैं। प्रथम गुणस्थान से प्रारम्भ कर तेरहवें गुणस्थान तक के जीव दान कर सकते हैं, जो जीव सर्वथा संक्लेश रहित हैं उनके उत्कृष्ट विशुद्धि है हां जो किंचित् संक्लेश युक्त हैं उनके मध्यमविशुद्धि पाई जाती है। बढ़े हुये संक्लेश से परिपूर्ण हो रहे जीवों के निकृष्ट विशुद्धि हो सकती है अथवा थोड़ी भी विशुद्धि पायी जा सकती है। इस प्रकार दान की विधि से हुये विशेष का ग्रन्थकार ने समर्थन कर दिया है।

गुणवृद्धिकरं द्रव्यं पात्रे पुण्यकृदर्पितं ।
दोषवृद्धिकरं पापकारि मिश्रं तु मिश्रकृत् ॥६॥

द्रव्य की विशेषता यों है कि पात्रों में गुणों की वृद्धि को करने वाला द्रव्य यदि अर्पित किया जायेगा तो वह दाता को पुण्य का आस्रव करने वाला है और शारीरिक दोषों या आत्मीय दोषों की वृद्धि को करने वाला द्रव्य यदि पात्रों के लिये समर्पित किया जावेगा तो दाता को वह द्रव्यपापास्रव का करानेवाला होगा, हाँ कुछ गुणों की और कुछ दोषों की यों मिश्रित हो रही वृद्धि को करने वाला द्रव्य तो दाता को पुण्यपाप में मिश्रण का आस्रावक है। यह द्रव्य की विशेषता से दानफल की विशेषता हुई।

दाता गुणान्वितः शुद्धः परं पुण्यमवाप्नुयात् ।
दोषान्वितस्त्वशुद्धात्मा परं पापमुपैति सः ॥७॥
गुणदोषान्वितः शुद्धाशुद्धभावो समश्नुते ।
बहुधा मध्यमं पुण्यं पापं चेति विनिश्चयः ॥८॥

दानकर्ता जीव जो श्रद्धा आदि गुणों से अन्वित हो रहा शुद्ध परिणामों वाला है वह दान-क्रिया से उत्कृष्ट पुण्य को प्राप्त कर लेता है जो ईर्षा, द्वेष, आदि दोषों से अन्वित हो रहा अशुद्धात्मा है वह दाता तो बड़े भारी पापास्रव को प्राप्त करता है हां जो गुण और दोष दोनों से अन्वित हो रहा है। वह दाता अशुद्ध परिणतियों के हो जाने पर बहुत प्रकार के मध्यम पुण्य और पापकर्मों के आस्रव को यथायोग्य प्राप्त कर लेता है यों दाता की विशेषता से दान फल की विशेषता का विशेषरूप से निर्णय कर दिया गया है।

दत्तमन्नं सुपात्राय स्वल्पमप्युरुपुण्यकृत्।
मध्यमाय तु पात्राय पुण्यं मध्यममानयेत् ॥९॥
कनिष्ठाय पुनः स्वल्पमपात्रायाफलं विदुः।
पापापापं फलं चेति सूरयः संप्रचक्षते ॥१०॥

पात्रों की विशेषता इस प्रकार है कि श्रेष्ठ पात्र के लिये दिया गया अन्न या औषधि, ज्ञान, आदिक थोड़े भी होंय परिपाक में विपुल पुण्य का आस्रव कराते हैं हां मध्यम पात्र के लिये दिये गये अन्न आदि तो मध्यम पुण्य को प्राप्त करावेंगे पुनः जघन्य पात्र के लिये दिये गये अन्न आदि तो दाता को स्वल्प पुण्य का आस्रव करायेंगे किन्तु व्रतहीन और दर्शनहीन अपात्र के लिये दिया गया द्रव्य निष्फल ही होता है ऐसा विद्वान् जान रहे हैं अथवा अपात्रदान का फल पाप और अपाप भी हो जाता है अर्थात् हिंसक या व्यसनी जीवों के लिये उनके अनुकूल हो रहे दूषित द्रव्यों के देने से महान् पाप का आस्रव होता है और उन व्यसनी या दुरभिमानी जीवों के लिये योग्य द्रव्य देने वाले को पाप नहीं लगता बस यही फल पर्याप्त है। सम्यग्दर्शन रहित होकर उपरिष्ठात् व्रती बन रहे कुपात्र में दान करने से कुभोगभूमि के सुख मिलना फल कहा है। इस प्रकार आचार्य महाराज उक्त सूत्र में दान का निर्दोष रूप से बढ़िया व्याख्यान कर रहे हैं। भावार्थ—गृहस्थ की कतिपय क्रियायें ऐसी हैं जिनके करने पर पुण्य नहीं लगता है किन्तु नहीं करने पर पाप लग बैठता है जैसे कि बाल-बच्चों, को पालने या शिक्षित करने से माता-पिता को कोई पुण्य नहीं लगता है हाँ उक्त कर्तव्य के नहीं पालने से संक्लेश, अपकीर्ति, कर्तव्यच्युति अनुसार पापबंध अवश्य होगा, तथा गृहस्थ के कतिपय कर्म ऐसे भी हैं जिनके करने पर पाप नहीं लगता है किन्तु नहीं करने पर पुण्य लग बैठता है जैसे कि व्यापार में एक रुपये पर चौअन्नी, दुअन्नी, का मोटा लाभ उठा रहे व्यापारी को कोई पाप नहीं लगता है बेचने वाले और खरीदने वाले को चाहे जो कुछ राजी होय किन्तु सन्तोषी व्यापारी यदि थोड़े लाभ से ही बेचे तो संतोष, परोपकार, मितव्यय, सत्कीर्ति, वात्सल्य, अनुसार हुई आत्मविशुद्धि से उसको पुण्य अवश्य हो जायेगा। यहाँ पुण्यपाप पद से तीव्र अनुभाग शक्ति वाले पुण्यपाप, लिये जाँय यों तो गृहस्थ की चाहे किसी भी क्रिया से पुण्य पाप यथा योग्य लगते ही रहते हैं। पहिले गुणस्थान से लेकर दशवें तक अनेक पुण्यपाप कर्मों का बन्ध होता रहता है। सनातनी पण्डितों के यहाँ भी "नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया" तथा "अकुर्वन्विहितं कर्म प्रत्यवायेन लिप्यते" यों नित्य नैमित्तिक कर्मों करके कोई पुण्य की प्राप्ति नहीं मानी गई है। हाँ संध्यावन्दन आदि कर्मों को नहीं करने वालों को पापबंध अवश्य हो जायेगा, प्रत्यवायाभाव भले ही फल समझ लिया जाय राजा करके नियत करी गई धाराओं (कानूनों) के पालने से प्रजाको कोई इनाम या सार्टीफिकिट नहीं मिलता है हाँ कानून नहीं पालने वालों को दण्ड अवश्य प्राप्त होता है। यवनों के यहाँ व्याज नहीं खाने वालों को कोई खुदा की ओर से पुण्य नहीं बटता है हाँ व्याज खाने वालों का नरक जाना उन्होंने माना

है। इत्यादि युक्तियों से अपात्र दान का फल पाप और अपाप समझ लिया जाय जैसे कि किसी कुपात्र दान से पुण्य और अपुण्य हो जाते हैं। वेश्याओं के सुख, रईसों के पशु पक्षियों के सुखों की प्राप्ति, पापमिश्रित पुण्य से हो जाती है इसी प्रकार कचिद्धार्मिकों को दुःख या सज्जनों को क्लेश की प्राप्ति भी पूर्वजन्मार्जित पुण्यमिश्रित पाप से हो जाती है। यह पुण्यास्रव या पापास्रव का अचिन्तनीय कार्य कारणभाव विशुद्धि संक्लेशाङ्गों पर अवलम्बित है जो कि परिशुद्ध प्रतिभावालों को स्वसंवेद्य भी है। शेष युक्ति, आगम, गम्य है। "पापापायं" ऐसा पाठ होने पर तो आचार्य महाराज दान का फल पाप के अपाय हो जाने को भी बखानते हैं। यों अर्थ कर सकते हैं।

सामग्रीभेदाद्धि दानविशेषः स्यात् कृष्यादिविशेषाद्बीजविशेषवत् ।

दान की सामग्री के भेद से दानक्रिया में अवश्य विशेषता हो जायेगी जैसे कि कृषी यानी जोतना अथवा पृथिवी, जल, घाम आदि कारणों की विशेषता से बीज के नाना प्रकार फलविशेष हो जाते हैं। नागपुर का संतरा, भुसावल का केला, बनारसी आम, काबुली अनार, सहारनपुर का गन्ना, छोटा खीरा आदि पदार्थ उन नियत स्थानों में ही सुस्वादु, कोमल फलित होते हैं अन्यस्थानों में बीज बो देने से वैसे फल की प्राप्ति नहीं होती है इसी प्रकार ऋतुओं, मेघ जल, सूर्यातप, द्वारा भी अनेक अन्तर पड़ जाते हैं। तद्वत् विधि आदि की सामग्री द्वारा हुई दान क्रिया के विशेषों अनुसार दानफल का तारतम्य है।

निरात्मकत्वे सर्वभावानां विध्यादिस्वरूपाभावः क्षणिकत्वाच्च विज्ञानस्य तदभिसंबंधाभावः ।

न्यायपूर्वक युक्तिपूर्ण जैन सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहे श्री विद्यानन्द स्वामी इस सातवें अध्याय के प्रमेय की स्याद्वाद सिद्धान्त अनुसार ही सिद्धि हो सकने का प्रतिपादन करते हैं कि हिंसा करना या उसका त्याग करना एवं विशेष सामान्य भावनायें भावते रहना तथा अतीचारों के प्रत्याख्यान का प्रयत्न करना और दान अथवा उसके विधि आदिक अनुसार हुये फलविशेषों की संपत्ति ये सब अनेकान्त का आश्रय कर स्याद्वादसिद्धान्त में ही सुघटित होते हैं। परिणामी हो रहे नित्यानित्यात्मक जीव के तो अनगार धर्म और उपासकाचार पल जाते हैं किन्तु बौद्ध, नैयायिक, सांख्यों के यहाँ एकान्त पक्ष अनुसार व्रत विधान नहीं आचरा जा सकता है। देखिये नैरात्म्यवादी बौद्धों ने प्रथम तो आत्मद्रव्य को ही स्वीकार नहीं किया है तथा स्वलक्षण या विज्ञान को उन्होंने स्वभाव, क्रिया, परिणतियों, से रहित स्वीकार किया है। ऐसी दशा में सम्पूर्ण पदार्थों को निरात्मक, निस्स्वरूप, मानने पर बौद्धों के यहां विधि द्रव्य आदि के स्वरूपों का ही अभाव हो जाता है। सात्मक, स्वभाववान्, पदार्थ तो प्रतिग्रह कर सकता है मुनि महाराज को ऊंचे आसन पर बैठा सकता है या प्रतिग्रहीत हो जाता है, ऊंचे आसन पर बैठ जाता है, स्वभावों से शून्य हो रहा क्या दान देवे ? और क्या लेवे ? दूसरी बात यह है कि बौद्धों ने विज्ञान को ही आत्मा स्वीकार किया है, एक क्षण ही ठहर कर दूसरे क्षण में नष्ट हो चुके विज्ञान के क्षणिक हो जाने के कारण उन दान ग्रहण, स्वर्गप्राप्ति आदि परिणतियों का चहुं ओर से सम्बन्ध नहीं हो पाता है कारण कि पूर्वक्षण और उत्तर क्षण में पाले जा रहे विषयों के संस्कार अनुसार अवग्रह करने में समर्थ हो रहे एक अन्वित ज्ञान का अभाव है। सत् का सर्वथा विनाश और असत् का ही उत्पाद मान रहे बौद्धों के यहां पूर्वोत्तर समीपवर्ती परिणामों का अन्वय नहीं माना गया है। अर्थात् क्षणिक विज्ञान का पक्ष लेने पर यह पात्र है, ऋषि है, तपःस्वाध्याय में तत्पर रहेंगे मेरे पहिले

दान करने की भावना थी अब वही मैं नवधा भक्ति से दान कर रहा हूं दान का फल मुझ कर्ता को ही प्राप्त होगा, इसी प्रकार यह द्रव्य वही शुद्ध है जिसको कि घन्टों पहिले से शोधन, पाचन, आदि क्रियाओं से संस्कृत किया गया है, इत्यादिक अन्वित संबन्ध नहीं हो सकते हैं। दान को प्रारंभ करने वाला न्यारा है, फलभोक्ता भिन्न है, शुद्ध खाद्य, पेय, तब न्यारे थे अब न जाने नये उत्पन्न हुये कैसे हैं ? यों तत्वों को क्षणिक मानने पर कोई नियम, आखड़ी, व्रत, दान, नहीं पाले जा सकते हैं। अष्टसहस्री में इसका विशेष स्पष्टीकरण है।

नित्यत्वाज्ज्ञत्वनिःक्रियत्वाच्च तदभावः। क्रिया गुणसमवायादुपपत्तिरिति चेन्न, तत्परिणामाभावात्। क्षेत्रस्य वा चेतनत्वात्। स्याद्वादिनस्तदुपपत्तिरनेकान्ताश्रयणात्। तथाहि —

दूसरे वैशेषिक या नैयायिकों के प्रति यह कहना कि उन्होंने है आत्मा को सर्वथा नित्य स्वीकार किया है "सदकारणवन्नित्यं" सत् होकर जो स्वकीय उत्पादक कारणों से रहित है वह नित्य है। वैशेषिकों ने आत्मा को मूलरूप से ज्ञानरहित भी इष्ट किया है। धन के योग से धनवान् के समान सर्वथा भिन्न हो रहे ज्ञान के समवाय से आत्मा को ज्ञानवान् माना गया है। मूल में आत्मा अज्ञ है तथा नैयायिकों ने आत्मा को सर्वव्यापक होने के कारण क्रिया शून्य अभीष्ट किया है। जो विचार सर्वत्र यहाँ वहाँ ठसाठस भरा हुआ है वह एक स्थान से दूसरे स्थान को कथमपि नहीं जा सकता है "सर्वमूर्तिमद्द्रव्यसंयोगित्वं विभुत्वं" यह वैशेषिकों के यहाँ विभुत्व का पारिभाषिक लक्षण है। यों जिस दर्शन में आत्मा का नित्यपन, अज्ञपन, क्रियारहितपन, इष्ट किये गये हैं उस दर्शन में नित्य, अज्ञ और निष्क्रिय होने के कारण उन विधि आदि के स्वरूप का अभाव है जो नित्य है वह पहिले यदि अदाता था तो सर्वदा अदाता आत्मा ही बना रहेगा तथा जो दाता है तो सदा दाता ही रहेगा। पात्र का गोचरी, भ्रामरी, गर्तपूरण, अक्षम्रक्षण वृत्तियों अनुसार दाता के घर पर आना, और दाता का प्रतिग्रह आदि करना ये सब बातें सर्वथा नित्य आत्मा में नहीं सुघटित होती हैं। जो ज्ञान गुण से सर्वथा भिन्न है वह अज्ञ आत्मा विचारा घट, पट आदि के समान क्या विधि, श्रद्धा, आदि को करेगा ? कथमपि नहीं। इसी प्रकार निष्क्रिय हो रहे व्यापक आत्मा में आहार, विहार, उच्चासन, अर्चन, भक्ति, आदि कुछ भी धार्मिक कृत्य नहीं बनते हैं। अतः क्षणिकवादी बौद्ध के समान आत्मा को नित्य मान रहे नैयायिकों के यहां भी विधि, श्रद्धा, अहिंसा, आदि कोई भी व्रत या शील नहीं सिद्ध हो सकते हैं। यदि यहां वैशेषिक यों कहे कि "अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहेदंप्रत्ययहेतुः संबंधः समवायः" यों सर्वथा भिन्न भी हो रहे क्रिया और गुणों का एकपन के समान समवाय संबन्ध हो जाने से आत्मा के विधि, श्रद्धा, अहिंसाव्रत, दिग्विरतिशील, आदि अनुष्ठान बन जायेंगे। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि सर्वथा भिन्न हो रहे ज्ञान, श्रद्धा, तुष्टि, प्रतिग्रह, आदिक उस आत्मा के परिणाम नहीं कहे जा सकते हैं। सह्याचल का परिणाम विन्ध्य पर्वत नहीं हो सकता है। बात यह है कि देवदत्त को वस्त्र का योग हो जाने से वस्त्रवान् कह सकते हो किन्तु आत्मा का स्वभावपरिणाम वस्त्र नहीं है तिसी प्रकार आत्मा को क्रिया गुणों के समवाय से औपाधिक क्रियावान्, गुणवान्, कहा जा सकता है किन्तु आत्मा की क्रिया या गुणों के साथ एकरसपरिणति नहीं होने के कारण इन प्रस्तावप्राप्त दान, ग्रहण, अहिंसा, मैत्री, आदि स्वरूप परिणतियां नहीं हो सकती हैं। अथवा सांख्यों के प्रति हमें यों कहना है कि उनके यहां प्राकृतिक क्षेत्र को अचेतन स्वीकार किया गया है "प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः। तस्मादपि षोडशकात्पंचभ्यः पंचभूतानि" सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणमय प्रकृति से महत्तत्त्व प्रकट होता है उस बुद्धि या महान् से अहंकार होता है अहंकार से पांच कर्मेन्द्रिय और पांच ज्ञानेन्द्रिय एक

मन तथा रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, शब्दतन्मात्रा यों ये सोलह विवर्त आविर्भूत होते हैं। पुनः पांच तन्मात्राओं से पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश ये पांच भूत अभिव्यक्त हो जाते हैं। यों एक प्रकृति और तेईस विकृतियां इस प्रकार चौबीस तत्त्वों को क्षेत्र कहते हैं। क्षेत्र की चेतना करने वाला पुरुष पच्चीसवां तत्त्व है यों पच्चीस तत्त्वों को इष्ट कर रहे सांख्यों के प्रति आचार्य कहते हैं कि आपने प्रकृति को ही कर्ता अभीष्ट किया है प्रकृति के ही व्रत, आवश्यकी, उपवास, दान, श्रद्धा, अहिंसा, सामायिक, आदि विकार माने हैं किन्तु जब चौबीसों प्रकार का क्षेत्र अचेतन है ऐसी दशा में घट, पट आदि के समान इस अचेतन क्षेत्र के विधि आदिक विवर्त कथमपि नहीं बन सकते हैं। प्रतिग्रह, व्रत, आदिक तो चेतन आत्मा के परिणाम हैं जो कि अचेतन के असंभव हैं। यदि क्षेत्र के विधि आदिक परिणतियां मानी जायेंगी तो वह अचेतन नहीं हो सकता है। नैयायिकों के समान सांख्यों ने भी आत्मा को नित्य, ज्ञानरहित, क्रियाशून्य, शुद्ध, स्वीकार किया है इस कारण आत्मा के भी विधि आदि के होने की उपपत्ति नहीं है। हाँ स्याद्वादियों के यहां तो उन विधि, दान, आदि का होना सिद्ध हो जाता है क्योंकि जैनों के यहां अनेकान्त पक्ष का आश्रय किया जा रहा है। आत्मा नित्य अनित्य आत्मक हो रहा परिणामी है कतिपय पूर्व परिणतियों को छोड़ता संता उत्तर विवर्तों को आत्मसात् कर ध्रुव बना रहता है अतः उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, स्वरूप आत्मा के सर्व पुण्य पाप क्रियायें या शुद्ध परिणतियें बन जाती हैं इसी स्याद्वाद सिद्धान्त को ग्रन्थकार शिखरिणी छन्द में वार्तिक द्वारा स्पष्टरूप से कह कर दिखलाते हैं।

अपात्रेभ्यो दत्तं भवति सफलं किंचिदपरं।
न पात्रेभ्यो वित्तं प्रचुरमुदितं जातुचिदिह।
अदत्तं पात्रेभ्यो जनयति शुभं भूरि गहनं
जनोऽयं स्याद्वादं कथमिव निरुक्तं प्रभवति ॥१॥

यहाँ लौकिक या शास्त्रीय व्यवस्थाओं में कोई कोई पदार्थ यदि अपात्रों के लिये भी दे दिया गया होता है तो वह सफल यानी दाता या पात्र के लिये श्रेष्ठ फल का देने वाला है तथा कोई दूसरा पदार्थ या धन यदि अत्यधिक भी पात्रों के लिये दिया जाय तो भी वह कदाचिदपि सफल नहीं हुआ कहा गया है तथा पात्रों के लिये नहीं दिया गया या दिया गया भी दान पश्चात् आपत्तिकाल में शुभ और बहुत तथा दुरधिगम्य फल को उत्पन्न करता है ऐसी अनेकान्तपूर्ण दशा में स्याद्वाद शब्द की निरुक्ति से लब्ध हुये कथंचित् पक्ष परिग्रह अर्थ की यह विचारशील मनुष्य भला किसी भी प्रकार आद्योत्पत्ति कर ही लेता है। अर्थात् अनेक स्थलों पर पात्र को देना व्यर्थ कहा गया है किन्तु स्याद्वाद मत अनुसार विशुद्ध परिणामों से अपात्र को भी दिया गया दान सफल है और संक्लेश परिणामों अनुसार पात्र के लिये भी अर्पित किया गया दान निष्फल है। इसी प्रकार कदाचित् रोग आदि अवस्थाओं में पात्रों के लिये नहीं भी देना पुण्य को उपजाता है, जब कि पात्र के लिये अशुद्ध पदार्थ का दान या क्लेशवर्द्धक खाद्य, पेय, का दान पाप को उपजाता है। स्याद्वाद का सर्वत्र साम्राज्य छा रहा है स्याद्वाद के प्रभुत्व की छाप सर्वत्र लग रही है।

किंचिद्धि वस्तु विशुद्धान्तरसपात्रेभ्योऽपि दत्तं सफलमेव, संक्लेशदुर्गतं तु पात्रेभ्यो दत्तं न प्रचुरमपि सफलं कदाचिदुपपद्यतेऽतिप्रसंगात्, तथा दत्तमदत्तमपि पात्रेभ्योऽपात्रेभ्यश्च शुभमेव फलं जनयति संक्लेशांगाप्रदानस्यैव श्रेयस्करत्वात्। ततः पात्रायापात्राय वा स्याद्दानं सफलं,

स्याददानं, स्यादुभयं, स्यादवक्तव्यं च स्याद्दानं चाऽवक्तव्यं चेति, स्याद्वादिनयप्रमाणमयज्योतिः प्रतानो अपसारितसकलकुनयतिमिरपटलः सम्यगनेकान्तवादिदिनकर एव विभागेन विभावयितुं प्रभवति न पुनरितरो जनः कूपमण्डूकवत्पारावारवारिविजृंभितमिति प्रायेणोक्तं पुरस्तात्प्रतिपत्तव्यं ॥

जिस वस्तु से दाता और पात्र का अंतरंग विशुद्ध हो जाय ऐसी कोई भी खाद्य, ज्ञान, पुस्तक, पेय वस्तु होय वह वस्तु अपात्र के लिये भी दे दी जाय तो परिपाक में नियम से सफल ही होगी। हाँ जो संक्लेशों द्वारा दाता या पात्र की दुर्गति कर देने वाली वस्तु है वह पात्रों के लिये अत्यधिक भी दे दी जाय तो भी कदाचित् सफल नहीं बन सकती है। क्योंकि अतिप्रसंग दोष लग जायगा, यानी क्रोधी राजा, या डाकू, वेश्या, अफीमची, मद्यपायी आदि को दिया गया अथवा दुष्ट लोभी दाता कर के दिया गया पदार्थ भी सफल हो जाना चाहिये, जो कि किसी को इष्ट नहीं है। तथा पात्रों के लिये और अपात्रों के लिये कोई भी पदार्थ दिया गया होय अथवा नहीं भी दिया गया होय विशुद्ध भावनाओं अनुसार परिपाक से शुभ ही फल को उत्पन्न कराता है कारण कि संक्लेशांगों करके नहीं प्रदान करना ही जैन सिद्धान्त में श्रेयस्कर यानी पुण्यवर्द्धक या परंपरया मुक्ति संपादक अभीष्ट किया है। आत्मा की यावत् परिणतियों में विशुद्धि और संक्लेश अनुसार शुभ अशुभ व्यवस्थायें नियमित की गई हैं तिसकारण उक्त छंदः में कहा गया स्याद्वादसिद्धान्त यों पुष्ट हो जाता है कि पात्र के लिये अथवा अपात्र के लिये अर्पित किया गया कथंचित् सफल हो रहा दान है (प्रथम भंग)। और पात्र,अथवा अपात्र के लिये संक्लेश पूर्वक दिया गया विफल हो रहा कथंचित् अदान है (द्वितीय भंग)। एवं क्वचित् दिया गया दान क्रम से अर्पणा करने पर दान, अदान, उभय स्वरूप है विशुद्धि और संक्लेश का मिश्रण हो जाने पर उभय धर्म सध जाता है (तृतीय भंग) तथा दानपन, अदानपन, इन दोनों धर्मों को युगपत् कहने की विवक्षा करने पर "स्यात् अवक्तव्य" धर्म सधता है। विरोधी सारिखे प्रतिभास रहे दो धर्मों को स्वाभाविक शब्दशक्ति अनुसार कोई भी एक शब्द युगपत् कह नहीं सकता है संकेत करने का साहस करना भी व्यर्थ पड़ता है (चतुर्थ भंग) विशुद्धि अंश का आश्रय करने पर और एक साथ दोनों विशुद्धि, संक्लेशों, की अर्पणा करने पर "स्यात् दानं अवक्तव्यं च" यह पांचवां भंग घटित हो जाता है (पाँचवां भंग) तथैव व्यस्तरूप से संक्लेश और समस्तरूप से विशुद्धि संक्लेशों का आश्रय करने पर "अदानं च अवक्तव्यं च" भंग सध जाता है (षष्ठ भंग)। न्यारे न्यारे क्रम से अर्पित किये गये विशुद्धि संक्लेशों और समस्तरूप से सह अर्पित किये गये विशुद्धि संक्लेशों का आश्रय कर सातवां भंग व्यवस्थित है (सप्तम भंग)। इस प्रकार यह समीचीन, अनेकान्तवादी, विद्वान् सूर्य के समान हो रहा ही अनेक सप्तभंगियों की विभाग करके विचारणा करने के लिये समर्थ हो जाता है। जिस अनेकान्तवादी सूर्योपम पण्डित का स्याद्वाद से परिपूर्ण हो रहे नय और प्रमाणों की प्रचुरता को लिये हुये प्रकाश मण्डल चारों ओर फैल रहा है और उस अनेकान्त वादी सूर्य ने संपूर्ण कुनयों स्वरूप अंधकार पटल को नष्ट कर दिया है। किन्तु फिर दूसरे कूपमण्डूक के समान बौद्ध, वैशेषिक, नैयायिक आदिक जन तो सिद्धान्त स्वरूप गम्भीर, विशाल, समुद्र के जल की विजृंभणाओं पर प्रभुता प्राप्त करने के लिये योग्य नहीं हैं इस बात को हम पूर्व प्रकरणों में बहुत स्थलों पर कह चुके हैं वहां से व्युत्पत्तिलाभ कर अनेकान्तसिद्धान्त की प्रतिपत्ति कर लेनी चाहिये।

भावार्थ—यहाँ दान के प्रकरण में आचार्यों ने स्याद्वाद सिद्धान्त की योजना करते हुये दानपन, अदानपन, इन दो मूल भंगों की अपेक्षा सप्तभंगी को लगाया है। अदान में पड़े हुये नञ् का अर्थ कुत्सित भी हो जाता है। यों कुदान से भी कुभोग के लौकिकसुखों की प्राप्ति हो जाती है तब तो कुदान करना भी

सफल रहा और कदाचित् संक्लेशों अनुसार किया गया पात्रदान भी अदान समझा गया। ये सर्व अंतरंग परिणामों के वश हुईं व्यवस्थायें अनेकान्तवादियों के यहां तो सुशृंखलित बन जाती हैं। यहाँ ग्रन्थकार ने अनेकान्तवादी पण्डित को धार्मिक क्रिया और लौकिक कर्तव्यों के प्रकृष्ट उपकारक सूर्य का रूपक दिया है। सूर्य का प्रकाशमण्डल हजारों योजन इधर उधर फैल रहा है उसी प्रकार स्याद्वादसिद्धान्त के अनेक नय और प्रमाणों की प्रचुरता विश्व में विस्तृत हो रही है। सूर्य जैसे अन्धकार को नष्ट कर देता है उसी प्रकार अनेकान्तवादी विद्वान् भी क्षणिकत्व, कूटस्थ नित्यत्व आदि एकान्तों का प्रतिपादन कर रहीं कुनयों को निराकुल कर देता है। जिन पुद्गल स्कन्धों का अन्धकारमय परिणमन हो रहा था सूर्य का सन्निधान मिलने पर उन्हीं पुद्गलस्कन्धों का प्रकाशमय ज्योतिःस्वरूप परिणाम होने लग जाता है। इस ही ढंग से क्षणिकत्ववादी बौद्ध या पच्चीस तत्त्वों को कह रहे कपिल मतानुयायी एवं षोडशपदार्थवादी नैयायिक तथा सात पदार्थों को मान रहे वैशेषिक आदि के कुनय गोचरों का कथंचित् अनेकान्त सूर्य करके सुनय गोचरपना प्राप्त हो जाता है तभी तो सिद्धचक्रविधान के मन्त्रों में कपिल, वैशेषिक, षोडश-पदार्थवादी, आदि को सिद्धस्वरूप मान कर नमस्कार किया है। भगवान् के सहस्रनामों में भी इस का आभास पाया जाता है। भूतप्रज्ञापननय अनुसार अथवा सुनययोजना से, पच्चीस, सोलह, सात, एक अद्वैतब्रह्म, शब्दाद्वैत, ज्ञानाद्वैत, आदि तत्त्वों की भी सुव्यवस्था हो जाती है। तभी तो देवागम स्तोत्र के अन्त में श्री समन्तभद्र आचार्य महाराज ने "जयति जगति क्लेशावेशप्रपंचहिमांशुमान् विहत विषमैकान्तध्वान्तप्रमाणनयांशुमान्। यतिपतिरजो यस्या धृष्यान्मताम्बुनिधेर्लवान्, स्वमतमतयस्तीर्थ्या नाना परे समुपासते", इस पद्य द्वारा जिनेन्द्रमतरूप समुद्र के ही छोटे छोटे अंशों को अपना मत मान कर उपासना कर रहे अनेक दार्शनिकों को बताया है। श्री अकलंक देव ने भी आठवें अध्याय में "सुनिश्चितं नः परतन्त्रयुक्तिषु" इत्यादि पद्य का उद्धरण कर एकान्तवादियों के तत्त्वों को जिनागम का ही अंश स्वीकार किया है। जिस प्रकार भांग पीनेवाला भांग पीने की यों पुष्टि कर देता है कि गधा ही भांग को नहीं पीता है यानी गधे से न्यारे जीव भांग को पीते ही हैं, उसी प्रकार भांग को नहीं पीने वाला उसी दृष्टान्त से यों अपने व्रत को पुष्ट करता है कि गधा भी भांग नहीं पीता है तो अन्य लोग भांग को कथंचित् भी नहीं पियेंगे। इत्यादि ढंगों से एवकार और अपिकार मात्र से एकान्त अनेकान्त का अन्तर है। वस्तुतः समीचीन एकान्तों का समुदाय ही तो अनेकान्त है। इस ग्रन्थ में अनेक बार अनेकान्त प्रक्रिया को कहा जा चुका है। अष्टसहस्री तो अनेकान्तसिद्धि का घर ही है। जगत्प्रसिद्ध निर्दोष स्याद्वादसिद्धान्त को समझाने के लिये थोड़ा संकेतमात्र कर देना पर्याप्त है। स्याद्वादसिद्धान्त से सम्पूर्ण तत्त्वों की यथायोग्य विभाग करके विचारणा कर ली जाती है। हां, कुनयों के गाढ़ अन्धकार में उद्भ्रान्त हो रहे एकान्तवादी मुग्ध जीव विचारा उसी प्रकार सिद्धान्त रहस्य का पता नहीं लगा सकता है जिस प्रकार कि दो तीन हाथ तक ही उछलने की शक्ति को धार रहा कुंये का दीन मेंढक अनेक योजनों लम्बे, चौड़े, गहरे समुद्र जल की सीमा को नहीं पा सकता है। अनेक भङ्गोंवाली प्रक्रिया को नय विशारद पुरुष शीघ्र समझ लेता है। श्री अमृतचंद्र स्वामी ने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में "एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण, अन्तेन जयति जैनी, नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी" इस पद्य द्वारा अनेकान्त सिद्धान्त पर प्रकाश डाला है। परिशुद्ध प्रतिभावालों को सुलभता से अनेकान्त की प्रतीति कर लेनी चाहिये।

इति सप्तमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्।

यहाँ तक तत्त्वार्थाधिगम मोक्षशास्त्र के सातवें अध्याय के प्रकरणों का
दूसरा आह्निक समाप्त हो चुका है।

इति श्री विद्यानन्दि-आचार्यविरचिते
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारे सप्तमोध्यायः
समाप्तः ॥७॥

●

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज
इस प्रकार अब तक अनेक गुणगरिष्ठ पूज्य श्री विद्यानन्द स्वामी आचार्य के द्वारा
विरचित तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिकालंकार नामक
महान् ग्रन्थ में सातवां अध्याय
पूर्ण हुआ।

●

सातवें अध्याय का सारांश

इस सातवें अध्याय के प्रकरणों की सूची इस प्रकार है कि छठे और सातवें में आस्रवतत्त्व के निरूपण करने की संगति अनुसार पुण्यास्रव का निरूपण करने के लिये प्रथम ही व्रत का सिद्धान्त लक्षण किया गया है। बुद्धिकृत अपाय से ध्रुवत्व की विवक्षा कर सूत्र में अपादान प्रयुक्त पंचमी विभक्ति का समर्थन कर संवर से पृथक् प्ररूपण का उद्देश्य बताते हुये रात्रि भोजनविरति का भावनाओं में अन्त-र्भाव बता दिया है। आत्मा की एक देश विशुद्धि और सर्वांग विशुद्धि नामक परिणतियों के अनुसार अणु-व्रतों महाव्रतों की व्यवस्था कर व्रतों की पच्चीस भावनाओं का युक्तिपूर्ण समर्थन किया है। भाव्य, भावक, भावनाओं, का दिग्दर्शन कराते हुये सामान्य भावनाओं में हिंसादि द्वारा अपाय और अवद्य देख-ने की पुष्टिकर हिंसादि में दुःखपन साध दिया है। मैत्री, प्रमोद आदि के व्यतिकीर्ण रूप से सामञ्जस्य को दिखलाते हुये संवेग वैराग्यार्थ भावना को सुन्दर हृदयग्राही शब्दों द्वारा निर्णीत किया है। भावना कोई कल्पना नहीं किन्तु वस्तुपरिणति अनुसार हुये आत्मीय परिणाम हैं पश्चात् व्रतों के प्रतियोगी हो रहे हिंसा आदि का लक्षण करते हुये प्राणव्यपरोपण को हिंसा बताकर प्राणी आत्मा के दुःख हो जाने प्रयुक्त पापबंध होना बखाना गया है। नैयायिक, सांख्य, आदि के यहाँ प्राणव्यपरोपण होने पर प्राणी का व्यपरोपण नहीं सधता है। सूत्र की मनीषा भावहिंसा और द्रव्यहिंसा दोनों का लक्षण करने में तत्पर है। बौद्ध या चार्वाकों के यहाँ हिंसा, या अहिंसा, नहीं बनती है "प्रमत्तयोग" पद से अनेक तात्पर्य पुष्ट होते हैं। झूँठ के लक्षण में भी प्रमादयोग लगाना अत्यावश्यक है। अप्रशस्त कहने को झूँठ माना गया है यह बहुत बढ़िया बात है। अपने या दूसरे के सन्ताप का कारण जो वचन है वह सब असत्य है और हिंसा आदि के निषेध करने में प्रवर्त रहा कैसा भी वचन हो सत्य ही है पाप का कार्य या कारण जो हिंसापूर्ण वचन है वह असत्य है। अतः अपराधी जीव अपने को बचाने के लिये या स्वार्थी मनुष्य अभक्ष्यभक्षण, परस्त्रीसेवन आदि के लिये यदि मनोहर भी वचन बोलेगा तो वह असत्य ही माना जावेगा, निकृष्ट स्वार्थों से भरा हुआ वचन झूँठ है जब कि परोपकारार्थ झूँठ भी एक प्रकार का सत्य है। न्यायवान् राजा या राजवर्ग मात्र भविष्य में अहिंसा की रक्षा के लिये दण्डविधान करते हैं जो कि अपराधी के अभ्यन्तर परिणामों और अपराधों की अपेक्षा से ताड़न, वध, बंधन, कारावास, जुरमाना, आदि करना पड़ता है। किसी किसी

फांसी के अपराधी को भी क्षमा कर दिया जाता है "अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं" जगत् में अहिंसा व्याप जाय इस का पूर्ण लक्ष्य है। इसी प्रकार चोरी, अब्रह्म और परिग्रह के लक्षणों में कतिपय सिद्धान्तरहस्य प्रकट किये गये हैं। व्रती के अगारी और अनगार भेदों को बखान कर दिग्विरति आदि का आत्मीय विशुद्धि पर अवलंबित रहना पुष्ट किया है। व्रतशीलों के अन्त में सल्लेखना का व्याख्यान कर प्रथम आह्निक को समाप्त कर दिया है। इसके अनन्तर सम्यग्दृष्टि के अतीचारों की व्याख्याकर आठ अंगके विपरीत दोषों को पांच अतीचारों में ही गतार्थ कर अनुमान प्रमाण द्वारा शंकादि अतीचारों को साध दिया है। आगे व्रतों और शीलों में पांच पांच अतीचारों के कहने की प्रतिज्ञा कर पांच व्रत और सात शील तथा सल्लेखना के अतीचारों को कह रहे सूत्रों का व्याख्यान किया है। सभी अतीचारों में व्रतों का एक देश भंग और एक देश रक्षण का लक्ष्य रक्खा गया है। व्रतों को सर्वथा नष्ट कर देने वाले या व्रतों के पोषक परिणामों को अतीचारपना नहीं है। दान के लक्षण सूत्र में पड़े हुये पदों की सार्थकता करते हुये विधि आदि की विशेषता से दान की हो रही विशेषता को युक्ति पूर्वक साध दिया है पश्चात् अनेकान्त सिद्धान्त की लगे हाथ "जयदुंदुभि" बजाई गई है जिस प्रकार अनेकान्त की पुष्टि करने के लिये सूर्य का पश्चिम में भी उदय होना या जल की उष्णता एवं अग्निकी शीतता आदि को पुष्ट कर दिया जाता है उसी प्रकार दान में स्याद्वादसिद्धान्त को जोड़ते हुये क्वचित् अपात्रों के लिये भी दिये गये किसी ज्ञान, पुस्तक, भक्ष्य, पेय औषधि आदि के दान को सफल बताया है जब कि कदाचित् पात्रों के लिये भी दिया गया किसी अनुपयोगी या संक्लेशकारक पदार्थ का दान निष्फल समझा गया है। यों दान, अदान के दो मूलभंगों अनुसार सप्तभंगी प्रक्रिया का अयोजन कर अनेकान्तवादी विद्वान् को सूर्य का प्रतिरूपक बनाते हुये एकान्ती पण्डितों को कूपमण्डूक के समान जताकर अनेकान्त सिद्धान्तसागर की प्रतिपत्ति कर लेने के लिये तत्त्वान्वेषी जिज्ञासुओं को उत्साहित किया गया है। एक दन्तकथा वृद्ध विद्वानों से सुनी जा रही है कि समुद्र तट का निवासी एक हंस किसी समय एक कुएँ के पास उड़ कर जा बैठा कुएँ के मेंढक ने प्रसंग पा कर हंस से पूछा कि आपका समुद्र कितना बड़ा है ? हंस ने हंसकर उत्तर दिया कि प्रिय भ्रात ! समुद्र बहुत बड़ा है। मेंढक हाथपांव पसार कर कहता है कि क्या सागर इतना बड़ा है ? राजहंस उत्तर देता है कि नहीं इस से कहीं बहुत बड़ा है। पुनः झुंझलाता हुआ मेंढक सविस्मय हो कर कुएं के एक तट से दूसरे तट पर उछल कर समझाता है कि क्या इस से भी बड़ा है ? हंसराज गम्भीर होकर वही कहता है कि भाई ! समुद्र इस से भी अत्यधिक लम्बा, चौड़ा है, तब मेंढक उस हंसोक्ति को असत्य समझ कर हंस की प्रतारणा करता है कि कोई भी जलाशय कुएँ से बड़ा नहीं हो सकता है। हंस उस मेंढक को हठी समझ कर स्वस्थान को चला जाता है और कदाचित् मेंढक को ले जाकर समुद्र का दर्शन कराता है तब कहीं मेंढक को अगाध पारावार का परिज्ञान होता है और उस का मिथ्या अभिनिवेश नष्ट हो जाता है। इसी दृष्टान्त अनुसार एकान्तवादियों को कूपमण्डूक की उपमा दी गई है। परमपूज्य श्री विद्यानन्दी आचार्य स्याद्वादसिद्धान्त के उद्भट प्रतिपादक हैं। श्री विद्यानन्द स्वामी के अष्टसहस्री ग्रन्थ का यह अतिशय विख्यात है कि "अष्टसहस्री को हृदयंगत करने वाला विद्वान् अवश्य ही स्याद्वादसिद्धान्त का अनुयायी हो जाता है। वस्तुओं के अंतरंग बहिरंग कारणवश अथवा स्वाभाविक हुये अनेक धर्मों की योजना अनुसार अनेकान्त की व्यवस्था है और शब्दों के वाच्यार्थ अनुसार कहे गये वस्तु के धर्मों में सप्तभंग नय की विवक्षा द्वारा स्याद्वादसिद्धान्त की प्रतिष्ठा है। यों अनेकान्त की भित्ति पर सध रही स्याद्वाद सिद्धान्त की जयपताका को फहराते हुए ग्रन्थकार ने सातवें अध्याय के द्वितीय आह्निक को समाप्त कर दिया है ॥

ख्यातुं तीर्थकरास्रवेषु पठितां शीलव्रतादुष्टतां,
सामान्येतरभावना अहितकृद्धिंसादिलक्ष्माणि च ।
सम्यक्त्वादिगुलेखनान्ततदतीचारान् जगौ यां श्रयन्
सानेकान्तसरस्वती विजयते स्याच्चिह्निता सूत्रकृत् ॥१॥

इति आचार्यवर्य श्री विद्यानन्द स्वामी विरचित तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारनामक महान् ग्रन्थ की आगरामण्डलान्तर्गत चावलीग्रामनिवासी न्यायाचार्य माणिकचन्द्रकृत हिन्दीदेशभाषामय तत्त्वार्थ-चिन्तामणि टीकामें सातवां अध्याय परिपूर्ण हुआ ।

॥ इति सप्तमोऽध्यायः ॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

